प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास

CENTRAL BOOK DEPOT PUBLICATIONS
IN HISTORY (Hindi)

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी—मुगल साम्राज्य का उत्थान और पतन

अवधबिहारी पाण्डेय—पूर्व मध्यकालीन भारत

अवधबिहारी पाण्डेय—उत्तर मध्यकालीन भारत

अवधबिहारी पाण्डेय—मध्यकालीन शासन और समाज

अवधबिहारी पाण्डेय—मध्ययुगीन भारत

जे० हालैण्ड रोज—फ्रान्स की राज्य क्रान्ति और नेपोलियन

प्राचीन भारत का राजनीतिक
तथा
सांस्कृतिक इतिहास
(पूर्व-ऐतिहासिक काल से ३२० ईसवी तक)

लेखक
डा० विमलचन्द्र पाण्डेय, एम० ए०, डी० फिल०
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र ।

प्रकाशक
सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद ।

प्रथम सस्करण १९५८
द्वितीय सस्करण १९६६
तृतीय सशोधित सस्करण १९६८

Reprinted 1972

मुद्रक —इण्डियन यूनिवर्सिटीज प्रेस इलाहाबाद।

द्वितीय संस्करण की भूमिका

यह हर्ष की बात है कि हिन्दी-भाषी राज्यो के विश्वविद्यालयो की उच्चतम कक्षाओ में अध्ययन-अध्यापन का कार्य हिन्दी माध्यम से होता जा रहा है। इस परिवर्तन को दृष्टि मे रखते हुए यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि सभी विषयो पर अधिकाधिक सख्या मे हिन्दी मे उच्च स्तर के ग्रन्थ लिखे जायें। इधर पिछले कुछ वर्षों मे प्राचीन भारत के इतिहास और सस्कृति पर हिन्दी में कुछ प्रामाणिक ग्रन्थ देखने में आये हैं। परन्तु आवश्यकता के अनुपात में इनकी सख्या अत्यन्त अपर्याप्त है। इस आवश्यकता की पूर्ति मे 'प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सास्कृतिक इतिहास' का सर्वधित एव सशोधित द्वितीय सस्करण एक लघु प्रयास है। प्रस्तुत सस्करण में नवीन शोधकार्यों एव उत्खननो से प्राप्त सामग्री का समावेश किया गया है। हम उन सभी विद्वानो के आभारी है जिनके ग्रन्थो, लेखो एव सम्मतियो का इस पुस्तक मे उपयोग हुआ है।

—विमल चन्द्र पाण्डेय

प्राक्कथन

राष्ट्रीय चेतना के उज्जीवन के साथ ही साथ हमारे देश के प्रत्येक क्षेत्र में निरन्तर जिज्ञासा और निशित गवेषणा की भी प्रबलता बढ़ती जा रही है। इतिहास के अध्ययन अध्यापन मे भी इस परिवर्तित मनोवृत्ति के प्रभाव दृष्टिगत हो रहे हैं। आज हम किसी भी ऐतिहासिक तथ्य को एकमात्र इस आधार पर मानने के लिए प्रस्तुत नही हैं कि वह पुरातन है, परम्परागत है अथवा बहुमत है। ग्राह्य वही है जो वैज्ञानिक गवेषणा से सिद्ध हो। गवेषक का सम्बन्ध सत्य से है, उसकी कटुता अथवा मधुरता से नही।

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास पर अनेकानेक पुस्तकें दिखाई देती हैं। परन्तु मातृभाषा हिन्दी मे आज भी ऐसी पुस्तको की बहुत कमी है जो वैज्ञानिक गवेषणा के

आधार पर सत्य और असत्य का निरूपण करती हुई इतिहास के अध्ययन-अध्यापन को स्वस्थ और रुचिकर बना सकें।

इधर हिन्दी में जो पुस्तकें निकली भी हैं उनमें से अधिकांश का दृष्टिकोण एकपक्षीय और विच्छिन्न है—वे भारतीय इतिहास की राजनीतिक घटनाओं और तिथिक्रमों पर ही अधिक जोर देती हैं। समग्र अध्ययन के लिये इतिहास-पुस्तक में राजनीतिक घटनाओं के साथ-साथ सांस्कृतिक मान्यताओं और परम्परागत राष्ट्रीय आस्थाओं का होना भी परम आवश्यक है। इनके बिना भारतीय इतिहास विच्छिन्न-मूल, निष्प्रयोजन और आकस्मिक लगेगा।

इन्हीं बातों को दृष्टिकोण में रख कर मैंने इस पुस्तक की रचना की है। यदि इससे विश्वविद्यालयों के अध्यापकों और छात्रों की वर्तमान आवश्यकताओं की लेशमात्र भी पूर्ति हो सकी तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

—विमल चन्द्र पाण्डेय

विषय सूची

१

भारतीय इतिहास के साधन

पाश्चात्य विद्वानो ने अपनी बद्धमूल धारणाओ के आधार पर भारतीय इतिहास को अध्ययन करते हुए अनेक भ्रामक मतो का प्रतिपादन किया है। इन भ्रामक मतों मे सर्वप्रथम उल्लेखनीय है उनका यह कथन कि प्राचीन भारतीयो में इतिहास-बुद्धि का पूर्णतया अभाव था। यही कारण है कि उन्होने कोई इतिहास-ग्रन्थ नही लिखा। परन्तु यह कथन अतिरंजित एव असगत है।

महाभारत, रामायण, पुराणो एव बहुसख्यक प्राचीन शिला-लेखो, ताम्र-पत्रों और राजमुद्राओ आदि में प्राप्त वश-वृक्षो तथा अनेकानेक ऐतिहासिक घटनाओ के उल्लेखो से स्पष्टतया प्रकट होता है कि भारतीयो में अपने इतिहास के प्रति उदासीनता न थी। अशोक के शिला-लेख एव स्तम्भ-लेख तो उसकी आत्म-कथा ही हैं। गुप्त-सम्राटो के अभिलेखो में तत्कालीन भारत की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनायें अकित हैं। ७वी शताब्दी मे परिभ्रमण करने वाले चीनी यात्री ह्वेनसाग का कथन है कि भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में ऐसे राजकीय पदाधिकारी थे जो अच्छी-बुरी समस्त महत्वपूर्ण घटनाओ का विवरण लिखते रहते थे। कल्हण का कथन है कि 'वही गुणवान् कवि प्रशसा का पात्र है जो राग-द्वेष से ऊपर उठ कर एकमात्र सत्य-निरूपण में ही अपनी भाषा का प्रयोग करता है' आधुनिक इतिहासकार के लिए भी उज्ज्वल निर्देश है। भारतीयो की इतिहास-बुद्धि का इससे सबल प्रमाण और क्या हो सकता है?

परन्तु फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इतिहास के महत्व को समझते हुए और इतिहास-बुद्धि रखते हुए भी भारतीयों ने किसी ऐसे इतिहास-ग्रन्थ की रचना नहीं की जो आधुनिक दृष्टिकोण से इतिहास-ग्रन्थ माना जा सके। इसके दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम, तत्कालीन भारतीय की 'इतिहास' की परिभाषा आधुनिक परिभाषा से भिन्न थी। उदाहरणार्थ, कौटिल्य ने 'इतिहास' के अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र एव अर्थशास्त्र को भी स्थान दिया है।[1] ऐसी दशा में भारतीय इतिहासकार उपदेशक, सुधारक, गल्पकार और व्यवस्थाकार इत्यादि भी था। परिणामत उसकी कृतियो में ऐतिहासिक वृत्तो के साथ-साथ कल्पित और अतिरंजित उल्लेखो का भी समावेश होना स्वाभाविक था। द्वितीय, भारतीय दृष्टिकोण सदैव से धर्मप्राण और आध्यात्मिकता-प्रधान रहा है। अत वे आत्म-कथाओ और आत्म-प्रशस्तियो की अपेक्षा अपने सत्कर्मों को ही आत्म-परिचय समझते थे। यही कारण है कि प्राचीन भारत की सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक, साहित्यिक

१ कौटिल्य १-५।

एवं कलाविषयक पद्धतियाँ, व्यवस्थायें एवं परम्परायें जीवित रहीं, परन्तु उनके निर्माताओं के व्यक्तिगत इतिहास विस्मृति के धूलि-पुंज में दब गए। अधिकांशतः प्राचीन भारत का इतिहास मौलिक तत्वों एवं सिद्धान्तों का इतिहास है, भौतिक घटनाओं का नहीं। यदि पाश्चात्य विद्वान् इन आधारभूत तथ्यों को समझने की चेष्टा करते तो कभी भी प्राचीन भारतीयों को इतिहास-बुद्धि-विहीन न कहते। डाक्टर विण्टर्निज का कथन है कि 'भारतीय पद्धति ने कभी भी इतिहास और पुराण तथा जनश्रुति में सुस्पष्ट विभेद स्थापित नहीं किया। अतः भारतवर्ष में इतिहास-ग्रन्थ-रचना कभी भी महाकाव्य-रचना की एक शाखा से अधिक न हो सकी।'[1] भारतीय विचारधारा का सम्यक् बोध न होने पर यह उद्धरण भ्रामक ही सकता है। यही बात ११वीं शताब्दी के प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान् अल्बरूनी के निम्नलिखित कथन के लिये भी उपयुक्त है—'हिन्दू घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम की ओर अधिक ध्यान नहीं देते। घटनाओं के कालक्रमानुसार वर्णन में वे बड़ी असावधानी दिखाते हैं। जब उनसे सूचना देने के लिए आग्रह किया जाता है और वे किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं तब प्रायः वे कहानियाँ सुनाने लगते है।'[2]

भिन्न दृष्टिकोण से रचित होने के कारण अधिकांश भारतीय ग्रन्थ आधुनिक परिभाषा के अन्तर्गत यद्यपि इतिहास-ग्रन्थ नहीं हैं तथापि उनमें बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री अन्तरित है। भारत के विशाल वाङमय में चतुर्दिक जो कण बिखरे पड़े हैं उनके सग्रह, परिशोधन और सगठन से भारतीय इतिहास-कलेवर के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिली है।

भारतवर्ष के इतिहास-निर्माण के लिए उपलब्ध समस्त साधनों को हम ४ कोटियों में विभक्त कर सकते हैं —

(१) धर्म-ग्रथ, (२) ऐतिहासिक एवं समसामयिक ग्रथ, (३) विदेशियों के विवरण और (४) पुरातत्व सम्बन्धी।

(१) **धर्म-ग्रन्थ**—भारतवर्ष प्रारम्भ से ही धर्मप्रधान देश रहा है। यहाँ की समस्त व्यवस्थायें—सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि—धर्म को ही केन्द्रबिन्दु मान कर आगे बढ़ी थी। भारतीय जीवन के समस्त मूल्यों का निर्धारण धर्म के आधार पर ही हुआ था। धर्म की विशद एवं व्यापक परिभाषा के अन्तर्गत धर्म और जीवन अन्योन्याश्रित बन गए थे, उनके बीच की विभेद-रेखा तिरोहित हो गई थी। भारतीय के लिए धर्म जीवन का आदर्श बन गया था और जीवन धर्म का व्यवहार।

धर्म के इस सर्वव्यापी महत्व के कारण यह नितान्त स्वाभाविक था कि भारतवर्ष में बहुसख्यक धार्मिक ग्रन्थों की रचना होती। धर्म की व्यापक व्याख्या के अनुकूल

१ 'As it has never been the Indian way to make a clearly defined distinction between myth, legend and history, historiography in India was never more than a branch of epic poetry'—A History of Indian Literature Vol. II p. 208.

२. 'The Hindus do not pay much attention to the historical order of things, they are very careless in relating the chronological succession of things: and when they are pressed for information and are at a loss not knowing what to say, they invariably take to tale-telling' —'Sachau, Alberuni's India Vol. II p. 10.

इन धार्मिक ग्रन्थों ने न केवल धर्म वरन् जीवन के समस्त विषयों पर न्यूनाधिक मात्रा में विचार किया है। यही कारण है कि ये धार्मिक इतिहास के साथ-साथ राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के लिए भी अति महत्वपूर्ण हैं।

भारतवर्ष के धार्मिक साहित्य की एक अन्य विशेषता भी है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि संप्रदायों ने अपने-अपने ग्रन्थों का पृथक् और स्वतन्त्र रूप मे निर्माण किया था। अतः उनके धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों में बहुधा आधारभूत मतभेद है। परंतु जहाँ तक उनके धर्म-ग्रन्थो में उपलब्ध सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक झाँकी का सम्बन्ध है वह प्राय एक-सी है। यदि कहीं अन्तर है भी तो एकमात्र दृष्टिकोण का। उदाहरणार्थ, भारतीय वर्ण-व्यवस्था को लीजिए। ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में समान रूप से चतुर्वर्णों एव अनेकानेक जातियों और उपजातियो के उल्लेख मिलते है। सभी में समानरूपा वस्तुस्थिति का चित्रण है। अन्तर एकमात्र यही है कि जहाँ ब्राह्मण-ग्रन्थ वर्ण-व्यवस्था को आवश्यक समझ कर उसे अक्षय रखने के लिए प्रयत्नशील है, वहाँ बौद्ध और जैन ग्रन्थ उसे गर्हित एव हानिकर समझ कर नष्ट करने का प्रयास करते हैं। ऐसी अवस्था में इन धर्मग्रन्थो का सापेक्ष महत्व है। किसी एक धर्म-ग्रन्थ मे उल्लिखित वस्तु अप्रामाणिक हो सकती है, परन्तु जब उसकी पुष्टि अन्य स्वतन्त्र धर्मग्रन्थो से होती है तो वह प्रामाणिक समझी जाती हैं।

धर्म-ग्रन्थों मे ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थ, बौद्ध धर्म-ग्रन्थ और जैन धर्म-ग्रन्थ प्रमुख है। ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थो का वर्णन हम पहले करेंगे।

(१) ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थ

वेद—ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थो मे सर्वप्रमुख स्थान वेदो का है। विश्व के प्राचीन इतिहास मे इनका विशेष महत्व हैं।[१] वेद का शाब्दिक अर्थ ज्ञान है। वस्तुतः आर्य ऋषियों का प्राचीनतम ज्ञान इन्ही वेदो में सरक्षित है। उनका समस्त परवर्ती ज्ञान इन्ही वेदो पर आधारित है। ज्ञान किसी एक जाति, काल अथवा देश से सम्बन्ध नही रखता। इसी से वेद सार्वभौम, अनन्त, अपौरुषेय, शाश्वत और दैवी कहे गए हैं। ये वेद चार है—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद।

ऋग्वेद—चतुर्वेदो मे ऋग्वेद प्राचीनतम है। ऋक् का अर्थ होता है छन्दो और चरणो से युक्त मन्त्र। ऐसा ज्ञान (वेद) जो ऋचाओ (ऋक् का बहुवचन) में बद्ध हो ऋग्वेद कहलाया। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष मे प्रवेश करने के पूर्व ही आर्य ऋग्वेद की अनेक ऋचाओ की रचना कर चुके थे। भारतवर्ष में आने पर भी यह रचना जारी रही। शनैः शनैः ऋचाओ की संख्या बढ़ती गई। परन्तु अभी तक वे अस्त-व्यस्त रूप में ही थी। उनका सगठन न हुआ था। भारतवर्ष में अनार्यों के सम्पर्क में आने से सम्पूर्ण परिस्थिति बदल गई। अनार्यों की धार्मिक एव सास्कृतिक परम्परायें आर्यों से भिन्न थी। अत आर्यों को भय हुआ कि कहीं अनार्य सम्पर्क उनके धर्म और उनकी सस्कृति को विकृत रूप न कर दे। इसी से उन्होंने अब अपनी समस्त ऋचाओं को सग्रहीत करके सुरक्षित कर दिया। इसी से ऋग्वेद ऋग्वेद-सहिता के नाम से भी प्रख्यात है। संहिता का अर्थ होता है संग्रह अथवा संकलन।

ऋग्वेद मे १० मण्डल है। इनमे कुल मिला कर १०२८ सूक्त है। प्रत्येक सूक्त

१ '. . . the vedas give us abundant information respecting all that is most interesting in the contemplation of antiquity'—Radhakrishnan, Indian Phil., Vol. I. p. 64.

की कतिपय विशेषतायें होती हैं—

(१) उसमें उस ऋषि का नाम अथवा गोत्र होता है जिसने उसकी रचना की थी।

(२) उसमें उस देवता का नाम होता है जिसकी उसमें स्तुति की गई है।

(३) छन्द २१ माने गए हैं। अमुक सूक्त का जो छन्द होता है वह भी उसमें लिखा रहता है।

(४) जिस विशेष कार्य के लिए सूक्त का प्रयोग किया जाता है उसे विनियोग कहते हैं। अत प्रत्येक सूत्र में विनियोग भी रहता है।

ऋग्वेद की कुछ हस्तलिखित प्रतियो में परिशिष्ट भी जुड़े हुए मिलते हैं। इन परिशिष्टो को 'खिल' कहते है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के आठवें मण्डल के अन्त में एक परिशिष्ट मिलता है। इसे बालखिल्य सूक्त करते हैं।

सामवेद—साम का अर्थ होता है गान। अत सामवेद ऐसा वेद है जिसके मंत्र यज्ञों में देवताओं की स्तुति करते हुए गाये जाते थे। इस प्रकार यह वेद गानप्रधान है। इसमें कुल ७५ मन्त्र मौलिक है। शेष सभी मन्त्र ऋग्वेद के है। परन्तु स्वर-भेद के कारण ये ऋग्वेद के मन्त्रो से भिन्न हो गए हैं। सामवेद को गाने की यह विशेष विधि थी। इसके लिए विशेषता की आवश्यकता थी। प्राचीन भारत में जो विशेषज्ञ सामवेद गाते थे उन्हे 'उद्गाता' कहते थे।

यजुर्वेद—यजु का अर्थ है यज्ञ। इस वेद मे अनेक प्रकार की यज्ञ-विधियों का प्रतिपादन किया गया है। इसी से यह यजुर्वेद कहलाया। इसे अध्वर्युवेद भी कहते हैं। अध्वर्यु भी यज्ञ का पर्यायवाची है।

यजुर्वेद ५ शाखाओं में विभक्त है—(१)काठक, (२) कपिष्ठल, (३)मैत्रायणी, (४) तैत्तरीय और (५) वाजसनेयी। प्रथम चार शाखाओ में कोई विशेष अन्तर नहीं है। ये शाखायें कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत परिगणित होती है। पाँचवीं शाखा वाजसनेयी को शुक्ल यजुर्वेद के अन्तर्गत रखा जाता है।

यजुर्वेद के मन्त्रो से यज्ञ करते हुए देवताओं का आह्वान करने वाले व्यक्ति को 'होता' कहते थे। इस प्रकार यजुर्वेद कर्मकाण्ड-प्रधान है।

अथर्ववेद—इस वेद की रचना अथर्वा ऋषि ने की थी। इसी से इसे अथर्ववेद कहते हैं। इसमें ४० अध्याय हैं। इसका वर्ण्य विषय भी विविध है। इसमें ब्रह्मज्ञान, धर्म, समाज-निष्ठा, औषधि-प्रयोग, शत्रु-दमन, रोग-निवारण, जन्त्र-मन्त्र, टोना-टोटका आदि अनेक विषय अन्तर्निहित हैं। विषय-विवेचन से स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि अथर्ववेद में आर्य और अनार्य विचार धाराओ का समन्वय मिलता है। कदाचित् अथर्ववेद की अन्तिम रूप में रचना तक आर्यों और अनार्यों का पारस्परिक सघर्ष समाप्त हो चुका था और दोनो एक-दूसरे में हिल-मिल रहे थे। विचारो के इस पारस्परिक आदान-प्रदान ने अनार्यों के अनेकानेक निम्न-सिद्धान्तो को उच्चता प्रदान करके आर्य-जीवन में प्रतिष्ठित किया। परन्तु उसने स्वयं आर्य-जीवन की उदात्तता, उच्चता और विशुद्धता पर भारी आघात पहुँचाया। आर्यों ने अनार्यों को अपने भीतर आत्मसात् तो कर लिया परन्तु ऐसा करने में उन्हें भारी सांस्कृतिक क्षति उठानी पडी।[1]

१ While the Rg-Veda describes the period of conflict between the fair-skinned Aryans and the dark Dasyus, which the

ब्राह्मण—जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे ही वैसे समाज में यज्ञों एवं कर्मकाण्डों की प्रतिष्ठा बढ़ती गई। ये यज्ञ और कर्मकाण्ड अत्यन्त जटिल हो गए। इनके विधान तथा इनकी क्रियाओं को समझाने के लिए एक नए साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ जो ब्राह्म-साहित्य के नाम से प्रख्यात है। ब्रह्म का अर्थ है यज्ञ। अतः यज्ञ के विषयो का प्रतिपादन करनेवाले ग्रथ 'ब्राह्मण' कहलाये। ये वेदों पर ही आधारित हैं। वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करते हुए ही ये अपने यज्ञों को प्रतिपादित करते हैं। अधिकांशतः ब्राह्मण गद्य में लिखे मिलते हैं, परन्तु कहीं-कहीं पद्य भी मिलता है।

याज्ञिक विधियो की पृथक-पृथक व्याख्या करने के कारण ब्राह्मण अनेक हैं। इस प्रकार प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण हैं। यहाँ उदाहरण दे देना आवश्यक है—

(१) ऋग्वेद का ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकि ब्राह्मण।
(२) यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण। इसे वाजसनेय ब्राह्मण भी कहते हैं।
(३) सामवेद का पञ्चविंश ब्राह्मण। इसे ताण्डय ब्राह्मण भी कहते हैं।
(४) अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण।

आरण्यक—ब्राह्मणो के पश्चात आरण्यकों का स्थान आता है। आरण्यक अरण्य (वन) से बना है अर्थात आरण्यक ऐसे ग्रन्थ हैं जो वन में पढ़े जा सकें। निश्चित है कि आरण्यको ने कोरे यज्ञवाद के स्थान पर चिन्तनशील ज्ञान के पक्ष को अधिक महत्त्व दिया है। इस प्रकार आरण्यको मे उस ज्ञानमार्गी विचार-धारा का बीजारोपण होता है जिसका विकास हम उपनिषदो मे देखते हैं। इस दृष्टि से भी आरण्यक ब्राह्मणो और उपनिषदों के बीच में आते हैं।

इस समय सात आरण्यक उपलब्ध होते हैं—(१) ऐतरेय आरण्यक (२) शाखायन आरण्यक (३) तैत्तरीय आरण्यक (४) मैत्रायणी आरण्यक (५) याध्यन्दिन बृहदारण्यक (६) तलवकार आरण्यक।

उपनिषद—'उप' का अर्थ है 'समीप' और 'निषद' का अर्थ है 'बैठना'। इनसे कुछ विद्वानों ने यह आशय निकाला है कि जिस रहस्य-विद्या का ज्ञान गुरु के समीप बैठ कर प्राप्त किया जाता था उसे उपनिषद कहते थे। अन्य विद्वानों का मत है कि उपनिषद का अर्थ उस विद्या से है जो मनुष्य को ब्रह्म के समीप बैठा देती है अथवा उसे आत्मज्ञान करा देती है।

जो भी हो, इसमें सन्देह नही कि उपनिषदों में विशुद्ध ज्ञान की सर्वत्र जिज्ञासा है। ये यान्त्रिक यज्ञो के स्थान पर ज्ञान-यज्ञ का प्रतिपादन करते हैं, ससार के नानात्व के ऊपर एकत्व का आरोप करते हैं और बहुदेववाद के स्थान पर परब्रह्म की प्रतिष्ठा करते हैं। ब्रह्मविषयक होने के कारण ही उपनिषदो को ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग होने के कारण ये वेदाग भी कहे जाते हैं। भारतवासियो की आदितम चिन्तनशील कृति होते हुए भी हम उपनिषदों में काफी विचार-प्रौढ़ता पाते हैं। यद्यपि उनमें अनेक स्थलों पर परस्पर-विरोधी और अवैज्ञानिक कथन भी मिलते

Indian mythology makes into a strife of Devas and Rākṣasas, the Atharvaveda speaks to us of the period when the conflict is settled and the two are trying to live in harmony by mutual give and take. The spirit of accommodation naturally elevated the religion of the primitive tribes but degraded the vedic religion by introducing into it sorcery and witchcraft. Radhakrishnan, Indian Phil., Vol. I p. 118

हैं तथापि उनकी सूक्ष्मता, तर्कशीलता और उदात्त प्रयोजनशीलता प्रशंसनीय है। परवर्ती हिन्दू-धर्म की प्रत्येक विचार-प्रणाली किसी न किसी रूप में अपने को उपनिषदों से ही उद्भूत बताती है।[१]

प्रमुख उपनिषदों में ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय,श्वेताश्वतर, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और कौषीतिकी, ये १२ उपनिषद् उल्लेखनीय हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि ये उपनिषद न एक व्यक्ति की और न एक काल की रचनायें है। इनके विकास में दीर्घ काल तक ब्राह्मणो, क्षत्रियों और वैश्यों के मनीषी व्यक्तियों ने बौद्धिक योग दिया है। इनके विकास में गार्गी और मैत्रेयी जैसी विदुषी नारियों का भी योग कुछ कम नहीं रहा है।

वेदांग—इसके पश्चात् वेदाग आते हैं। ये ६ है—(१) शिक्षा, (२) कल्प (३) व्याकरण (४) निरुक्त (५) छद और (६) ज्योतिष। ये सब वेदो के अग समझे जाते थे। इनसे वेदों को समझना सरल हो गया था।

शिक्षा—वैदिक स्वरो का विशुद्ध रूप में उच्चारण करने के लिए शिक्षा का निर्माण हुआ था। कालान्तर में प्रत्येक वेद की पृथक्-पृथक शिक्षा हो गई।

कल्प—कल्प का अर्थ है विधि-नियम। ऐसे सूत्र (कल्प) जिनमे विधि-नियम का प्रतिपादन किया गया ह कल्पसूत्र कहलाते हैं। कल्पसूत्रो के ३ भाग हैं—(१) जो सूत्र यज्ञसम्बन्धी विधि-नियमों को बताते है वे श्रौतसूत्र कहलाते हैं। यज्ञों में बहुधा वेदियाँ और मण्डप बनाए जाते थे। इन्हें बनाने के लिए नाप-जोख की आवश्यकता पड़ती थी। इस कार्य के लिए भी अनेक विधि-नियम बनाए गए जो सुल्व सूत्र के अन्तर्गत रखे गए हैं। सुल्व का अर्थ नापना होता है। ये सुल्वसूत्र श्रौतसूत्र के ही भाग हैं। इनमें हम सर्वप्रथम रेखागणित के बीज देखते हैं। (२) जो सूत्र मनुष्य के समस्त लौकिक और पारलौकिक कर्तव्यों का वर्णन करते हैं वे गृह्यसूत्र कहलाते हैं और (३) जो सूत्र मनुष्य के विभिन्न धार्मिक, सामाजिक एव राजनीतिक अधिकारो, और कर्तव्यों का वर्णन करते हैं वे धर्मसूत्र कहलाते है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों के अनेकानेक विषय समान हैं।

व्याकरण—इसमें नामों और धातुओं की रचना, उपसर्ग और प्रत्यय के प्रयोग, समासो और सन्धियों आदि के नियम बनाए गए। इनसे भाषा का रूप सुस्थिर हो गया। इस समय पाणिनि का सर्वविदित व्याकरण-ग्रन्थ अष्टाध्यायी मिलता है। परन्तु स्वय पाणिनि ने ही अपने ग्रन्थ में व्याकरण के १० पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है। इससे प्रकट होता है कि पाणिनि के पूर्व भी कुछ व्याकरण-ग्रन्थ थे।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में १८ अध्याय हैं। इन सब अध्यायों में समस्त सूत्रों की संख्या ३८६३ है।

कालान्तर में यह अनुभव हुआ कि पाणिनि के सूत्रों में कहीं-कहीं पर कुछ कमी है। उस कमी को पूरा करने के लिए कात्यायन ने वार्तिक बनाए। कालान्तर में पतंजलि ने पाणिनि के सूत्रों और कात्यायन के वार्तिकों को समझाते हुए अपना व्याख्या-ग्रन्थ लिखा जो महाभाष्य के नाम से प्रख्यात है। इस प्रकार संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि का प्रमुख स्थान है।

१ 'There is no important form not rooted in the upanishads' of Hindu thought, heterodox —Bloomfield : The Religion of Buddhism included, which is the Veda, Ch. 51.

निरुक्त—जो शास्त्र यह बताता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ क्यों होता है उसे निरुक्त-शास्त्र कहते हैं। यास्क ने निरुक्त की रचना की थी। इसमें वैदिक शब्दों की निरुक्ति बताई गई है।

यास्क ने अपने निरुक्त में १२ पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है। इससे विदित होता है कि यास्क के पूर्व भी निरुक्त लिखे गए होंगे, परन्तु अभाग्य से वे विलुप्त हो गए हैं।

यास्क के निरुक्त में १२ अध्याय हैं। यदि उनमें दो परिशिष्ट भी गिन लिये जायँ तो कुल अध्यायों की सख्या १४ हो जायेगी।

छन्द—वैदिक साहित्य मे गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, वृहती आदि छन्दों का प्रयोग मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक-काल में भी कोई छन्दःशास्त्र रहा होगा। परन्तु आज वह प्राप्य नही है। आज तो आचार्य पिंगल द्वारा रचित प्राचीन छन्दः-शास्त्र ही प्राप्त होता है।

ज्योतिष—इस शास्त्र के प्राचीन आचार्यों में लगध मुनि का नाम प्रमुख है। इनके अतिरिक्त नारद सहिता ज्योतिष के १८ आचार्यों का उल्लेख करती है। इनके नाम हैं ब्रह्मा, सूर्य, वसिष्ठ, अत्रि, मनु, सोम, लोमश, मरीचि, अंगिरा, व्यास, नारद, शौनक, भृगु, च्यवन, गर्ग, कश्यप और पराशर। कालान्तर में आर्यभट्ट, लल, वराह-मिहिर, ब्रह्मगुप्त, मुंजाल और भास्कराचार्य ने ज्योतिष-शास्त्र की विशेष उन्नति की।

स्मृतियाँ—सूत्र-साहित्य के पश्चात् भारतवर्ष में स्मृति-शास्त्र का उदय हुआ। सूत्रों की भाँति स्मृतियाँ भी मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन के विविध कार्य-कलापों के विषय में अगणित विधि निषेधों का प्रतिपादन करती हैं। प्रारभिक स्मृतियो में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति प्रमुख हैं।

महाकाव्य—भारतवर्ष के दो प्राचीन महाकाव्य हैं—रामायण और महाभारत। इन पर आगे विचार किया जायेगा।

पुराण—'पुराण' का शाब्दिक अर्थ 'प्राचीन' है। अतः पुराण-साहित्य के अन्तर्गत वह समस्त प्राचीन साहित्य आ जाता है जिसमें प्राचीन भारत के धर्म, इतिहास, आख्यान, विज्ञान आदि का वर्णन हो। हमारे पुराणों में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री भरी पडी है। वस्तुतः कौटिल्य ने इतिहास के अन्तर्गत पुराण और इतिवृत्त दोनों को रक्खा है।

पुराण १८ हैं :—

(१) ब्रह्मपुराण (२) पद्मपुराण (३) विष्णु-पुराण, (४) शिव पुराण (५) भागवत पुराण (६) नारदीय पुराण (७) मार्कण्डेय पुराण (८) अग्निपुराण (९) भविष्य पुराण (१०) ब्रह्मवैवर्त पुराण (११) लिंगपुराण (१२) वराहपुराण (१३) स्कन्द पुराण (१४) वामन पुराण (१५) कूर्मपुराण (१६) मत्स्य पुराण (१७) गरुड पुराण और (१८) ब्रह्माण्डपुराण।

साधारणतया पुराणों का विषय (१) सर्ग सृष्टि (२) प्रति सर्ग (प्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि) (३) वंश, (देवताओं और ऋषियों के वंश) (४) मन्वन्तर (अनेक मनु) और (५) वंशानुचरित (राजवंश) है।

(२) बौद्ध धर्म-ग्रन्थ

ब्राह्मण साहित्य की भाँति बौद्ध साहित्य भी इतिहास-निर्माण में कुछ कम महत्व-

पूर्ण नही है। बौद्धो के धार्मिक सिद्धान्त प्रमुखतया त्रिपिटक—विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्म पिटक—में संग्रहीत हैं। ब्युलर महोदय के मतानुसार 'पिटक' का अर्थ 'टोकरी' है। उनका कथन है कि प्राचीन भारत में हस्तलिपियाँ टोकरियो में संरक्षित की जाती थी। रीज डेविडज महोदय भी 'पिटक' का अर्थ 'टोकरी' ही ग्रहण करते हैं जो कालान्तर में 'परपरा' अथवा संप्रदाय के रूप में भी ग्रहीत होने लगा। बात यह थी की उत्खनन के समय श्रमजीवी एक पक्ति में खडे हो जाते थे। उत्खनन में निकली हुई मिट्टी टोकरी में भर कर प्रथम श्रमजीवी को दे दी जाती थी और वह उसे द्वितीय श्रमजीवी को दे देता था। इसी प्रकार टोकरी क्रम से आगे वाले श्रमजीवी के हाथों से गुजरती हुई अन्त मे यथेष्ट स्थान पर पहुँच जाती थी। धार्मिक परंपरा भी टोकरी की भाँति ही पीढी दर पीढी गुजरती रहती है। इसी से यह 'पिटक' के रूप में समझी जाने लगी। जो भी हो, बौद्धों का मत है कि उनके पिटको का सकलन और सगठन विभिन्न बौद्ध सगीतियों में हुआ था।

प्राय समस्त बौद्ध ग्रन्थ इस बात पर एकमत है कि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् ही प्रथम बौद्ध सगीति आयोजित हुई थी। चुल्लवग्ग इस सगीति के अधिवेशन की आवश्यकता बताते हुए उल्लेख करता है कि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के अवसर पर जब समस्त भिक्षु शोकमग्न थे, उसी समय सुभद्रनामक एक भिक्षु ने यह कह कर तथागत की मृत्यु पर सन्तोष प्रकट किया कि अब हम सब महात्मा बुद्ध द्वारा निर्मित एव प्रतिपादित अनेकानेक दु.सह विधि-निषेधो से मुक्त हो गए। अब हम सब स्वेच्छानुसार आचरण कर सकेंगे। इस भिक्षु के इस प्रकार के उत्तरदायित्वहीन कथन ने सघ-भेद की शका उत्पन्न कर दी थी। इस भय-निवारण का एकमात्र उपाय यही था कि महात्मा बुद्ध के समस्त उपदेशों को सग्रहीत कर धम्म और विनय को निश्चित रूप दे दिया जाय जिससे कोई भी भिक्षु धर्म के नाम पर अधर्म का प्रतिपादन न कर सके। बस, इसी ध्येय से महाकस्सप ने राजगृह में ५०० भिक्षुओं की एक सगीति आयोजित की थी।

ओल्डेनबर्ग महोदय इस सगीति की ऐतिहासिकता में विश्वास नही करते। इस अविश्वास के पक्ष मे उनका प्रमुख तर्क यह है कि यद्यपि चुल्लवग्ग और महापरिनिब्बान सुत्त दोनो मे ही सुभद्र की धृष्ट घोषणा का उल्लेख है तथापि प्रथम बौद्ध सगीति के अधिवेशन के विषय मे महापरिनिब्बान सुत्त नितान्त मौन है। अत. निश्चित है कि वह प्रथम सगीति के अधिवेशन से अवगत न था और चुल्लवग्ग में उल्लिखित इस सगीति का वर्णन कालान्तर की कपोल-कल्पना है। फ्रैन्क ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है, परन्तु यह मत ग्राह्य प्रतीत नही होता। जैकोबी ने इन विद्वानो के मत का खण्डन किया है। वे प्रथम सगीति की ऐतिहासिकता पर विश्वास करते है। उनका कथन है कि महापरिनिब्बान सुत्त का प्रमुख ध्येय बौद्ध सगीति का वर्णन करना न था। अत. अप्रासगिकता-दोष से बचने के लिए ही यह सुत्त इस संगीति के अधिवेशन के विषय मे मौन है।[१] पुन:, इस सगीति के विषय में महापरिनिब्बान सुत्त का मौन आकस्मिक (accidental) भी हो सकता है। उदाहरणार्थ तिब्बती दुल्व में सुभद्र की धृष्टता का तो उल्लेख है, परन्तु इसका निष्कर्ष यह नहीं हो सकता कि तिब्बती दुल्व को भी प्रथम बौद्ध सगीति का ज्ञान न था। इसके अतिरिक्त मूल सर्वास्तिवादियो के विनय सयुक्तवस्तु मे महापरिनिब्बान के साथ-साथ इस सगीति का वर्णन भी प्राप्त होता है। इससे ओल्डेनबर्ग और फ्रैंक के तर्क का मूलाधार ही नष्ट हो जाता है। जब समस्त बौद्ध सम्प्रदायों की अनुश्रुतियाँ इस संगीति के अधिवेशन के

१ Z. D. M. G. 1880 p. 184.

पक्ष में हैं तो हमें इसकी ऐतिहासिकता को अस्वीकार करने का कोई सबल कारण नहीं दिखाई पड़ता। हाँ, यह बहुत सम्भव है कि वर्तमान-रूप में प्राप्त धम्म और विनय की विशालकाय नियमावली का पाठ उस सगीति में न हुआ हो; उसके स्थान पर उनके आधारभूत सिद्धान्तो का ही निर्धारण हुआ हो। त्रिपिटकों का विकास उन्हीं आधारभूत सिद्धान्तो के चतुर्दिक कालान्तर में हुआ।

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के लगभग १०० वर्ष पश्चात् वैशाली में द्वितीय बौद्ध सगीति का अधिवेशन हुआ। इस सगीति के अधिवेशन का कारण बौद्ध भिक्षुकों का सैद्धान्तिक मतभेद बताया जाता है। वैशाली के भिक्षु 'दस सिद्धान्तों' (Ten Points) मे विश्वास करते थे। परन्तु यस नामक भिक्षु ने उन्हें धर्म-विरुद्ध घोषित किया। दीर्घकालीन पारस्परिक वाद-विवाद के पश्चात् दोनों पक्षो के मतभेद पर निर्णय देने के हेतु ही इस सगीति का आयोजन हुआ था। यद्यपि प्रत्येक बौद्ध ग्रन्थ में उपर्युक्त सिद्धान्तो की सख्या दस दी गई है, तथापि उनके नाम और अर्थ भिन्न-भिन्न मिलते है। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध अनुश्रुति मे एकमात्र सिद्धान्तो की संख्या ही सुरक्षित रही। परन्तु वास्तव मे वे सिद्धान्त क्या थे, उनका अर्थ क्या था, यह ब्योरा वैशाली सगीति के कुछ समय पश्चात् विस्मृत हो गया। अत· उनकी सख्या के आधार पर भिन्न-भिन्न बौद्ध सम्प्रदायो के भिन्न भिन्न प्रकार से दस सिद्धान्तों की कल्पना कर ली।

चुल्लवग्ग मे द्वितीय बौद्ध सगीति मे भाग लेने वाले अर्हतो की सख्या ८ बताई जाती है। परन्तु कालान्तर मे यह सख्या बढते बढते ७०० हो गई। इन अर्हतों के नाम, स्थान और काल मे भी बडी विषमता है। यही नही दीपवश का तो कथन है कि वैशाली की सगीति मे पराजित होने के पश्चात् यस के पक्षपातियो ने एक पृथक् महासगीनि की जिसमें १०००० भिक्षुओ ने भाग लिया और अपने नवीन धम्म और विनय की स्थापना की। परन्तु ये समस्त कथन पूर्णरूपेण विश्वसनीय नही हैं। चुल्लवग्ग का वर्णन सबसे अधिक प्राचीन एव ऐतिहासिक है। इसके पश्चात् जैसा कि प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना के साथ होता है, इस वर्णन मे समय-समय पर अनेक आश्चर्यजनक बाते जुडती रही। परिणामत अनेक बौद्ध ग्रन्थो मे इस सगीति की रूपरेखा अविश्वसनीय हो गई है। परन्तु एकमात्र प्रक्षिप्त एव अतिरजित अशो के आधार पर हम सगीति की ऐतिहासिकता को अस्वीकृत नही कर सकते। इस सम्बन्ध में एक और बात अति महत्वपूर्ण है। विनय का जो आधुनिक रूप है उससे विवादग्रस्त दसों सिद्धान्तो के उत्तर बडी सुगमता से प्राप्त हो जाते है। परन्तु द्वितीय बौद्ध सगीति को इनके उत्तरों का निर्णय करने के हेतु अत्यधिक आयास और विवाद करना पडा था। इससे कतिपय विद्वानो का निष्कर्ष है कि कदाचित् द्वितीय बौद्ध सगीति तक विनय का पूर्ण विकास न हुआ था।[1]

तृतीय बौद्ध संगीति का वर्णन एकमात्र दीपवश, महावश और समन्तपासादिका मे ही उपलब्ध होता है। उत्तरी भारत, चीन और तिब्बत के बौद्ध ग्रन्थ एव अनुश्रुतियाँ इस सगीति से अपरिचित है। ह्वेनसाग ने अपने लेखों में इसका कोई उल्लेख नही किया है। अशोक के, जिसके शासन-काल में इसका अधिवेशन बताया जाता है, अभिलेखों मे भी इसका कोई वर्णन नही है। अत अनेक विद्वान् इसकी ऐतिहासिकता मे अविश्वास करते हैं। यह अविश्वास दीपवश और महावश के सगीति-सम्बन्धी वर्णन से और भी बढ जाता है। इस वर्णन के अनुसार अशोक के शासनकाल में प्राय· प्रत्येक सघ में बौद्धो के रूप में बौद्धेतर भिक्षु प्रविष्ट हो गए थे। इनके प्रवेश

१ Buddhistic Studies p. 64.

से संघ की धार्मिक व्यवस्था शिथिल हो गई और वास्तविक बौद्ध भिक्षुओं ने उपोसथ और पवारणा करना भी स्थगित कर दिया। अशोक ने जब यह समाचार सुना तो उसे बड़ा खेद हुआ। उसने वास्तविक और कृत्रिम बौद्ध भिक्षुओं के अभिज्ञान के निमित्त पाटलिपुत्र में तिस्स मोग्गलिपुत्त की अध्यक्षता में भारतवर्ष के समस्त भिक्षुओं की एक संगीति की। इसमें तिस्स ने समस्त बौद्धेतर भिक्षुओं के सिद्धान्तों की निस्सारता प्रदर्शित की। एकमात्र विभज्जवादी ही ऐसे थे जिनके सिद्धान्त सत्य प्रमाणित हुए। इसके पश्चात् तिस्स ने कथावत्थु की रचना की। इस प्रकार के वर्णन में जो विस्तृत ब्योरा है वह बड़ा ही सन्दिग्ध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, संघ में सहस्रों बौद्धेतर भिक्षुकों का प्रवेश, स्वयं अशोक की राजधानी के आराम में ७ वर्ष तक उपोसथ का बन्द रहना और फिर भी अशोक को उसका पता न चलना, तिस्स मोग्गलिपुत्त में दैवी शक्तियों का होना और फिर भी राज्य के ऐसे असाधारण मनुष्य से अशोक का १८ वर्ष तक अपरिचित रहना आदि कुछ ऐसे विषय हैं जो अविश्वास की भावना उत्पन्न करते है। इसी से डाक्टर आर० सी० मजूमदार इस संगीति की ऐतिहासिकता में शंका करते हैं। उनका मत यह है कि यदि अशोक के काल में बौद्ध संगीति हुई भी तो वह समस्त बौद्ध भिक्षुकों की नहीं वरन् विभज्जवादी बौद्ध भिक्षुकों की साम्प्रदायिक संगीति ही रही होगी। अतः इससे समस्त देश के बौद्धों के हेतु धर्म की व्यवस्था की आशा करना असंगत प्रतीत होता है।

चतुर्थ बौद्ध संगीति का अधिवेशन कनिष्क के काल में बताया जाता है। यद्यपि अधिकांश बौद्ध ग्रन्थों में इसका उल्लेख है तथापि दीपवंश और महावंश इसके विषय में मौन हैं। समस्त साक्ष्यों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि यह संगीति धार्मिक मतभेदों का निराकरण करने के हेतु हुई थी। परन्तु फिर भी इसके विषय में अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलते हैं। ह्वेनसांग के कथनानुसार यह संगीति काश्मीर में हुई थी। इसके विरुद्ध तारानाथ का कथन है कि यह जालन्धर में हुई थी। ह्वेनसांग के वर्णनानुसार इस संगीति ने सूत्र, विनय एवं अभिधम्म के ऊपर टीकायें लिखी थीं। तारानाथ का कथन है कि इस समय देश में बौद्धों के १८ सम्प्रदाय थे। संगीति ने सब के सिद्धान्तों की मान्यता स्वीकार कर ली और सूत्र, विनय तथा धम्म के जो भाग अभी तक अलिखित थे उन्हें लेखबद्ध कर दिया। इसके विरुद्ध तिब्बती बुद्ध-चरित (Life of the Buddha) का उल्लेख है कि इस संगीति ने समस्त बौद्ध ग्रन्थों के संग्रह करने का कार्य किया था। इन मतों में से तारानाथ का मत ग्रहण करना कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि उसका अर्थ तो यह होगा कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक सूत्र, विनय और अभिधर्म का पूर्ण लिखित रूप न हुआ था। जहाँ तक दो अन्य मतों का सम्बन्ध है, उनमें कोई परस्पर-विरोध नहीं है, क्योंकि सम्भव है कि संगीति ने बौद्ध ग्रन्थों का संग्रह किया हो और उस पर टीकायें भी लिखी हों। इस प्रकार विभिन्न संगीतियों ने त्रिपिटकों का विकास करने में महत्वपूर्ण योग दिया।

विनयपिटक—इसमें भिक्षु और भिक्षुणियों के संघ एवं दैनिक जीवन-सम्बन्धी आचार-विचार, विधि-निषेध और यम-नियम इत्यादि संग्रहीत हैं। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि त्रिपिटकों में अभिधम्म पिटक सब से बाद का है। परन्तु यह कहना कठिन है कि शेष दो पिटकों में अधिक प्राचीन कौन है। विनयपिटक और सुत्तपिटक के अनेक अंश उभयनिष्ठ हैं। इनसे अनुमान किया जा सकता है कि दोनों का अन्तिम संगठन प्रायः एक ही समय हुआ होगा। कर्न महोदय का मत है कि विनयपिटक सुत्तपिटक से अधिक प्राचीन है।[1] परन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है। बहुत

१ Kern, Manual, p. 2.

सम्भव है कि विनयपिटक के कुछ अंश सुत्तपिटक के कुछ अंशों के बाद के हों। उदाहरणार्थ, विनयपिटक के महावग्ग और चुल्लवग्ग सुत्तपिटक के दीघनिकाय के बाद के प्रतीत होते हैं।[1] जो भी हो, बौद्ध परम्परा के अनुसार विनयपिटक त्रिपिटकों में अग्रगण्य माना जाता है। यह पिटक निम्नलिखित भागो में विभक्त किया जाता है:—

(१) सुत्तविभंग—इसके दो उपभाग हैं—महाविभग और भिक्षुणीविभंग
(२) खन्धका—इसके दो उपभाग हैं—महावग्ग और चुल्लवग्ग
(३) परिवार अथवा परिवार पाठ

(१) सुत्तविभंग का अर्थ है 'सूत्रो पर टीका'। वास्तव में यह पाटिमोक्ख के २२७ नियमों पर टीका है। पाटिमोक्ख कदाचित् 'प्रतिमोक्ष्य' का रूपान्तर है जो बन्धन के अर्थ मे व्यवहृत होता था। इसमें बौद्धो के हेतु पाप-कर्मों एव उनके प्रायश्चितों का संगठन है। इस प्रकार अनुशासन-सम्बन्धी विधि-निषेधों और दण्ड-विधान ने बौद्ध सम्प्रदाय को एक संगठन के सूत्र मे बाँध दिया। यही कारण है कि पाटिमोक्ख का बौद्ध समाज में विशेष महत्व रहा है और मास में दो बार उसके नियमित पाठ की व्यवस्था की गई थी। सुत्तविभग में इसी पाटिमोक्ख के सरल सूत्रों की व्याख्या करके उसका विस्तार कर दिया गया था। महाविभग मे बौद्ध भिक्षुको के लिए पाटिमोक्ख है। इसमें ८ पापो पर क्रमश. एक-एक अध्याय है। कालान्तर में बौद्ध भिक्षुणियों के लिए भी पाटिमोक्ख की आवश्यकता समझी गई। भिक्खुनी विभग इसी भिक्खुनी-पाटिमोक्ख पर टीका है।

(२) खन्धकाओ मे सघीय जीवन के सम्बन्ध में सविस्तार विधि-निषेध हैं। सुत्तविभग की अपेक्षा खन्धकाओ मे चित्रित बौद्ध समुदाय का संगठन और जीवन-यापन अधिक विकसित और नियमबद्ध प्रतीत होता है। इनमें विधि-निषेधों का प्रतिपादन स्वय महात्मा बुद्ध के मुख से कहानियो के रूप में कराया गया है। इन विधि-निषेधो का विकास एक समय में न हो कर शनै शनै. भिन्न-भिन्न समयो में हुआ होगा। इनमे से कुछ महात्मा बुद्ध के पूर्व के परिव्राजक-समुदाय के होगे, कुछ स्वय उनके समय के और अधिकाश का विकास उनकी मृत्यु के पश्चात् हुआ होगा।

महावग्ग और चुल्लवग्ग दोनो मे ही भिक्षुको के सघीय एव दैनिक जीवन के सम्बन्ध में नाना प्रकार के विधि-निषेध एव यम-नियम है। अन्तर एकमात्र इतना ही है कि महावग्ग में प्रमुख एव अधिक महत्वपूर्ण विषयों का समावेश है जबकि चुल्लवग्ग मे गौण और अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण विषयो का। महावग्ग में ८ अध्याय हैं और चुल्लवग्ग में १२। इन १२ अध्यायों में दसवां अध्याय भिक्षुणियों के आचार के सम्बन्ध मे है। ग्यारहवे और बारहवे अध्यायों में प्रथम और द्वितीय बौद्ध सगीतियों का वर्णन है। परन्तु निश्चितरूप से ये कालान्तर के प्रक्षिप्तांश है।

(३) परिवार अथवा परिवारपाठ—यह प्रश्नोत्तरी के रूप मे है। विनयपिटक के अन्य भागो की अपेक्षा यह भाग कालान्तर की रचना है। इसके १९ उपभाग हैं।

सुत्तपिटक—बौद्ध साहित्य में सुत्त का अर्थ धर्मोपदेश अथवा धर्माख्यान होता है। सुत्तपिटक इन्ही धर्मोपदेशों का समुच्चय है। न्यूमन महोदय के मतानुसार सुत्तपिटक के आधार पर ही विनयपिटक और अभिधम्मपिटक का विकास हुआ था। परन्तु सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक के कतिपय अंशों की समतामात्र से ही हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। सुत्तपिटक से बौद्ध धर्म की रूप-

१ R. Otto Franke, J. P. T. S. 1908, pp. 8, 68, ff, 74.

रेखा यथेष्ट स्पष्ट हो जाती है। इस पिटक में ५ निकाय (सग्रह) हैं :—

(१) दीघनिकाय—इसके सुत्त ग्रन्थ निकायों के सुत्तों की अपेक्षा अधिक बड़े हैं। इसमें कुछ गद्य में है और कुछ गद्यपद्यमिश्रित गाथा में। अधिकांश सुत्तों में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो एव सदाचारिता का प्रतिपादन किया गया है और अन्य धर्मों के मतमतान्तरो का खण्डन। इस निकाय का सबसे अधिक प्रसिद्ध सुत्त है महा-परिनिब्बान सुत्त। वास्तव में यह महात्मा बुद्ध के जीवन के अंतिम चरण की कथा है। विषय, भाषा और शैली को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दीघनिकाय किसी एक लेखक अथवा एक काल की रचना नही है।

(२) मज्झिमनिकाय—इसके सुत्त न अधिक दीर्घ हैं और न अधिक लघु। वे मध्याकार हैं। इसमें भी बौद्ध धर्म के विविध सिद्धान्तो के ऊपर व्याख्यान, वार्तालाप और कथानक है। कुछ स्थलों पर महात्मा बुद्ध को मानवरूप में चित्रित किया गया है, परन्तु अन्य स्थलो पर वे अद्‌भुत शक्तियो से समन्वित दैवी रूप में प्रतिष्ठित किए गए है। इससे स्पष्ट है कि मज्झिम निकाय के विभिन्न अश भी भिन्न-भिन्न लेखकों और कालो की रचना है।

(३) सयुक्त निकाय—यह सुत्तों के सयुक्तो (वर्गों) का समुच्चय है। एक-एक विषय के ऊपर अनेक सुत्त है। इन्ही समानविषयक सुत्तों का प्रत्येक सग्रह 'सयुक्त' के नाम से प्रख्यात हैं। अत. सयुक्तनिकाय को ऐसे ही अनेक 'सयुक्तों' का सकलन समझना चाहिए। प्रत्येक सयुक्त मे या तो एक ही विषय के सुत्त हैं, या एक ही देवता अथवा एक ही चरित्रनायक के। इस निकाय में भी गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनो ही शैलियो का प्रयोग किया गया है। इसका विषय भी विविध है। कहीं महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओ का वर्णन है तो कहीं देवी-देवताओ और अन्य लोकों का। कहीं बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो का मण्डन है तो कही विरोधी धर्मों के सिद्धान्तों का खण्डन।

(४) अगुत्तरनिकाय—इसके सुत्त ११ निपातों में संगठित हैं। यह संगठन सख्या के आधार पर किया गया है। ११ निपातो मे क्रमश १ से लेकर ११ सख्या-वाली वस्तुओं का उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ, तृतीय निपात मे सर्वत्र तीन सख्यावाली वस्तुओ के सम्बन्ध में प्रवचन हैं। एक स्थान पर महात्मा बुद्ध भिक्षुकों को उपदेश देते हैं कि तीन वस्तुएँ गुप्त रूप से कार्य करती हैं—नारी, ब्राह्मणों के मन्त्र और मिथ्या सिद्धान्त। इसी प्रकार इसी निपात में आगे कहा गया है कि तीन वस्तुएँ प्रत्यक्षरूप से प्रकाश करती हैं—चन्द्रमा, सूर्य और बौद्ध धर्म।

(५) खुद्दकनिकाय—यह लघु ग्रन्थों का संग्रह है। ये ग्रन्थ स्वतः स्वतन्त्र और पूर्ण हैं। ये विषय, भाषा और शैली में भी नितान्त भिन्न हैं। इससे प्रतीत होता है कि खुद्दकनिकाय अपने पूर्णरूप में कालान्तर की रचना है। इसके अन्तर्गत निम्न ग्रन्थ आते हैं :—

(१) खुद्दकपाठ—यह बौद्ध प्रार्थनाओ, मन्त्रों, सूत्रों अथवा मंगलपाठ का एक लघु-ग्रथ है। कदाचित् बौद्ध इसका पाठ अथवा पारायण करते थे।

(२) धम्मपद—इसमें धर्म, शील और सदाचार के ऊपर बहुसख्यक सुन्दर सिद्धान्त-वाक्य हैं। व्यावहारिक और सार्वभौम होने के कारण इनमें से अनेक सिद्धान्त-वाक्य अन्य धर्मों के ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। पद्यबद्ध होने के कारण बौद्ध इन्हें बड़ी सुगमता से कण्ठस्थ कर लेते थे।

(३) उदान—इसमें छोटे-छोटे कथानक हैं। प्रत्येक कथानक का अन्त किसी

न किसी शिक्षाप्रद पद्यबद्ध कथन से होता है।

(४) इतिवुत्तक—इसमें बुद्धवाक्यों का संग्रह है। इसमें लगभग ११२ कथानक हैं जो गद्य और पद्य दोनों से लिखित है।

(५) सुत्तनिपात—यह विविध धर्मोपदेशों और धर्माख्यानों का सग्रह है। इस ग्रंथ का महत्व इसी से प्रकट हो जाता है कि अशोक ने भाब्रू शिलालेख में जिन धर्म-ग्रंथों का उल्लेख किया है उनमें कदाचित् सुत्तनिपात के कुछ अंश भी हैं।

(६) विमानवत्थु—इसमें विमानो (दिव्य प्रासादों) की कथायें हैं। प्रत्येक कथा में कोई न कोई दिव्य पुरुष यह बताता है कि उसने अमुक विमान कैसे प्राप्त किया।

(७) पेतवत्थु—इसमें प्रेतो अथवा भूतों की कहानियाँ है। प्रत्येक मे कोई न कोई प्रेत यह बताता है कि किन कुकर्मों के फलस्वरूप उसकी यह अधोगति हुई। इन कहानियो का मुख्य ध्येय कर्मवाद का प्रतिपादन था।

(८) थेरगाथा—यह स्थविरो के गीतों का सग्रह है। इसमें १०७ कवितायें हैं जो भिन्न-भिन्न स्थविरों की रचनायें हैं।

(९) थेरीगाथा—यह स्थविराओ (भिक्षुणियो) के गीतो का सग्रह है। इसमें ७३ कवितायें हैं। इन्हें भी भिन्न-भिन्न भिक्षुणियों ने निर्मित किया था।

दोनो गाथाओ मे समानरूप से बौद्धो की निवृत्ति, सयम, शान्ति और निर्द्वन्द्वता का विशुद्ध चित्रण है।

(१०) जातक—ये महात्मा बुद्ध के पूर्व जन्मों की कहानियाँ हैं। मौलिक जातक-संग्रह तो विलुप्त हो गया है, परन्तु जातको का ज्ञान हमें उस ग्रथ पर लिखित एक टीका 'जातक ट्ठवण्णना' से होता है। इसे किसी सिंहली भिक्षु ने लिखा था। जातको मे गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनो प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया गया है। भरहुत और साँची के स्तूपो पर अनेक जातक-दृश्य अकित है। भरहुत स्तूप पर कुछ जातको के शीर्षक भी उल्लिखित है। इससे स्पष्ट है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक जातको का निर्माण हो चुका था। यही नहीं, जातको मे उल्लिखित आर्थिक एवं सामाजिक अवस्था से प्रकट होता है कि वह ईसा पूर्व सातवी और छठी शताब्दियों तक की है। जो भी हो, इतना निश्चित है कि जातको के पद्यांश गद्यांशों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, क्योकि गद्याशो में जितनी सरलतापूर्वक परिवर्तन किये जा सकते है उतनी सरलतापूर्वक पद्याशो मे नही।

खुद्दकनिकाय के अन्य ग्रथो मे निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवश और चरियापिटक हैं।

(३) अभिधम्मपिटक—'अभि' का अर्थ होता है 'उच्चतर'। अत. अभिधम्म-पिटक का विषय धर्म तो है, परन्तु उसका विवेचन उच्चतर व्याख्या और दर्शन के रूप में किया गया है।

अभिधम्मपिटक में धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्जत्ति और कथा-वत्थु परिगणित होते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है कथावत्थु। बौद्ध परम्परा के अनुसार मोग्गलिपुत्त तिस्स ने तृतीय बौद्ध सगीति के अवसर पर इसका सकलन किया था। परन्तु इस ग्रंथ के वर्तमान रूप को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि समय-समय पर इसमें प्रक्षिप्तांशों का समावेश होता रहा। कथावत्थु में मत-पुष्टि के निमित्त अनेक स्थानों पर विनयपिटक और सुत्त पिटक के उद्धरण दिए गए हैं जिनसे

सिद्ध होता है कि कथावत्थु की रचना इन दोनो पिटकों के पश्चात् ही हुई होगी।

अन्य पाली बौद्ध ग्रन्थ—उपर्युक्त ग्रथो के अतिरिक्त कुछ ऐसे पाली बौद्ध ग्रथ भी हैं जो त्रिपिटक के अन्तर्गत न होने पर भी भारतीय इतिहास-निर्माण के लिए कम महत्वपूर्ण नही हैं। इनमे विशेष उल्लेखनीय हैं **मिलिन्दपन्हों दीपवंश तथा महावंश।**

मिलिन्दपन्हो में यूनानी नरेश मिलिन्द (मीनेण्डर) और बौद्ध भिक्षु नागसेन का वार्तालाप है। मिलिन्द धार्मिक प्रवृत्ति का मनुष्य था। वह अपने सशयों एव शकाओ के निवारणार्थ किसी विद्वान् से वाद-विवाद करना चाहता था। अन्त में वह स्थविर नागसेन के सम्पर्क में आया। मिलिन्दपन्हो में दोनो के ऐतिहासिक मिलन और वार्ता का वर्णन है।

मिलिन्दपन्हों की रचना मीनेण्डर के देहान्त के अधिक काल पश्चात् की नही हो सकती। यह उसी समय हुई होगी जब कि मीनेण्डर की स्मृति भारत में अक्षय होगी। मीनेण्डर के पश्चात् भारत में यूनानी साम्राज्य का विनाश हो गया और कुछ समय पश्चात् भारतीय जनता यूनानी साम्राज्य एव मीनेण्डर के साम्राज्य को भी भूल गई होगी। इस प्रकार मीनेण्डर की स्मृति भारतवर्ष मे ईसा की पहली शताब्दी तक ही अवशिष्ट रही होगी और यही काल साधारणतया मिलिन्दपन्हों का रचना-काल हो सकता है। प्रसिद्ध पाली विद्वान् रीज डेविड्ज के मतानुसार मिलिन्दपन्हो और कथावत्थु मे पर्याप्त विषय-साम्य है। इस आधार पर भी यह ग्रथ बहुत बाद का नहीं प्रतीत होता।

वेबर महोदय का मत है कि मिलिन्दपन्हो के वार्तालाप प्लेटो के वार्तालापो से मिलते-जुलते हैं। अत इस ग्रथ का निर्माण यूनानी प्रभाव के अन्तर्गत हुआ था। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रथम शताब्दी मे वार्ता-शैली भारतवर्ष के लिए कोई नवीन शैली न थी। वह उपनिषदो के समान प्राचीन थी। उपनिषदो के अतिरिक्त महाभारत और त्रिपिटक मे उसके बहुसख्यक उदाहरण भरे पडे है। पुन., स्वय मिलिन्दपन्हो मे भी यूनानी भाषा अथवा विचार-पद्धति के परिचय एव प्रभाव का कोई साक्ष्य नही मिलता।

डाक्टर काशी प्रसाद जायसवाल का कथन है कि मिलिन्दपन्हो के लेखक ने किसी यूनानी मूल-कृति के आधार पर अपनी रचना की थी। यह कथन भी नितान्त काल्पनिक ही प्रतीत होता है। मिलिन्दपन्हो से तो कोई भी ऐसा सबल प्रमाण नही मिलता जिससे यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सके कि उसके लेखक को यूनानी भाषा का ज्ञान था।

मिलिन्दपन्हों के वर्तमान रूप की भारतीय प्रतिलिपि मे ७ सर्ग उपलब्ध होते हैं। परन्तु ३ सर्ग के पश्चात् ही मिलिन्द के प्रश्न समाप्त हो जाते हैं। पुन चौथे सर्ग से भाषा और शैली में भी अन्तर दृष्टिगत होने लगता है। अत. ऐसा प्रतीत होता है कि अपने आदि-रूप मे इस ग्रन्थ में केवल ३ सर्ग ही थे। अगले ४ सर्ग कालान्तर के प्रक्षेप है। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से होती है कि चीनी मिलिन्दपन्हों में एक-मात्र ३ सर्ग ही है।[1]

दीपवंश में सिहलद्वीप के इतिहास का वर्णन है। इसकी रचना विलुप्त अट्ठ-

१ रीज डेविड्ज का कथन है कि चीनी मिलिन्दपन्हों भारतीय मिलिन्दपन्हों का अनुवाद है। अनुवादकर्ता ने जान बूझ कर अन्तिम ४ सर्गों का अनुवाद नहीं किया। परन्तु यह मत न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

कथाओं के आधार पर हुई थी। आधुनिक परिभाषा के अनुसार यह ग्रंथ ऐतिहासिक-ग्रन्थ नहीं माना जा सकता, क्योकि ऐतिहासिक तथ्यों के साथ-साथ इसमें कपोल-कल्पित एवं अतिरंजित उल्लेखों की भी भरमार है। शैली से प्रकट होता है कि सिंहली लेखक (जो अज्ञात है) इतिहास लिखने के साथ-साथ महाकाव्य लिखने का भी प्रयास कर रहा है। इसकी रचना लगभग चौथी अथवा पाँचवीं शताब्दी मे हुई थी।

सिंहल का द्वितीय ग्रन्थ **महावंश** है। इसकी रचना कदाचित् महानाम नामक कवि ने लगभग पाँचवीं शताब्दी में की थी। काव्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ दीपवंश की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट है। इसका वर्णित विषय भी दीपवंश की अपेक्षा अधिक विशद और विस्तृत है। परन्तु कपोल-कल्पित और अतिरंजित सामग्री दोनों ही ग्रन्थों में समान रूप से पायी जाती है। परन्तु इतना होते हुए भी दोनो ही ग्रन्थ इतिहास निर्माण में पर्याप्त रूप से सहायक हुए हैं। उदाहरणार्थ, चन्द्रगुप्त मौर्य का विशेष ज्ञान हमें सर्वप्रथम इन्ही सिंहली ग्रन्थो से हुआ।

इनके अतिरिक्त कतिपय टीकाओं-सुमंगल-विलासिनी, समन्त-पासादिका, महा-वंश-टीका आदि—ने भी भारतीय इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

संस्कृत बौद्ध ग्रन्थ—बौद्धो ने पाली के अतिरिक्त संस्कृत में भी अनेक महत्व-पूर्ण ग्रन्थ लिखे। इनमें कुछ हीनयान सम्प्रदाय के हैं और अधिकांश महायान के।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय है महावस्तु। ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ हीनयान और महायान के बीच की संक्रान्ति-काल मे लिखा गया था। इसी से यद्यपि यह हीन-यान सम्प्रदाय का है तथापि इसमे महायान सम्प्रदाय की विशेषतायें दृष्टिगत होती है। उदाहरणार्थ, इसमे महात्मा बुद्ध को अद्भुत-शक्ति-समन्वित-स्वरूप में दिखाया गया है, अर्हत पद के स्थान पर बोधिसत्व पद की प्रतिष्ठा की गई है और निर्वाण को न केवल भिक्षुओं के लिए वरन् जनसाधारण के लिए भी प्राप्य बताया गया है।

महावस्तु विशेषतया महात्मा बुद्ध का जीवन-वृत्त है। इसमें अनेक जातक कथायें और तथागत के लोकोत्तर कर्म भी वर्णित है। यह ग्रन्थ महायान ग्रन्थों की भाँति विशुद्ध संस्कृत में लिखित नहीं है। इसकी भाषा मिश्रित संस्कृत है। इससे प्रकट होता है कि इसका रचना-काल काफी प्राचीन है। कदाचित् इसका मूल रूप ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी का है, यद्यपि अन्य महायान-साम्प्रदायिक अंश ईसा की चौथी शताब्दी तक के हैं।

विशुद्ध महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे सर्वप्रथम उल्लेखनीय है **ललितविस्तार** जिसका शाब्दिक अर्थ है '(महात्मा बुद्ध के) ललित का सविस्तार वर्णन' इस प्रकार इस ग्रन्थ में महात्मा बुद्ध के ऐहिक जीवन को क्रीड़ा-स्वरूप ग्रहण किया गया है। स्पष्ट है कि लेखक ने महात्मा बुद्ध को दैवी शक्ति के रूप में ग्रहण किया है और अद्भुत कर्मों से समन्वित उनके जीवन-वृत्त को अंकित किया है। बहुत सम्भव है कि ललित-विस्तार में जिस महायान-परम्परा का विकास किया गया है उसने गान्धार-कला के कलाकारों को विषय-दान किया हो। जावा के बोरो-बुदुर के मन्दिर की अनेक स्थापत्य-कृतियाँ ललितविस्तार में वर्णित स्वरूपों और घटनाओं के अनुरूप हैं। भाषा, विषय और शैली की भिन्नता को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ किसी एक लेखक अथवा एक काल की रचना नहीं है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त महाकवि **अश्वघोष** की कृतियों में भी कुछ कम इति-हास-सामग्री नहीं है। अनुश्रुतियों के अनुसार अश्वघोष सम्राट् कनिष्ट का सम-कालीन बताया जाता है। इसकी समस्त कृतियों में **बुद्धचरित्र** और **सौन्दरानन्द-काव्य**

सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। बुद्धचरित एक महाकाव्य है। साहित्यिक दृष्टि से महत्व-पूर्ण होने के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसमें महात्मा बुद्ध का जीवन-वृत्त एवं उनकी शिक्षाओं का समावेश है। सौन्दरानन्द में भी कवि ने महात्मा बुद्ध के जीवन तथा बौद्ध सिद्धान्तों का चित्रण किया है।

बौद्ध साहित्य में अवदान-साहित्य का भी कुछ कम महत्व नहीं है। अवदान का अर्थ होता है 'सत्कर्म' अथवा 'वीरोचित कर्म'। इस कोटि की कृतियों में **दिव्यावदान** उल्लेखनीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके कथानक अनेक भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से लिए गए हैं। भाषा, विषय और शैली को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यह भी एक लेखक अथवा एक काल की रचना नहीं है। समय-समय पर इसमें प्रक्षेपों का समावेश होता रहा है। अशोक के उत्तराधिकारियों का उल्लेख करते हुए यह पुष्यमित्र शुंग तक का वर्णन करता है। यही नहीं, यह दीनार मुद्रा तक से परिचित है। इन सब बातों से यह काफी बाद की रचना प्रतीत होती है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि इसमें अनेक अंश ईसा की चौथी शताब्दी तक के है।

उपर्युक्त प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्धों के विभिन्न सम्प्रदायों ने भी स्वतन्त्र रूप से अपने पृथक्-पृथक् ग्रन्थों का निर्माण किया। मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया, तिब्बत, चीन, जापान, ब्रह्मा, लंका आदि विदेशों में भी अनेक पाली और संस्कृत में लिखित भारतीय बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया गया। अनेक विदेशी बौद्ध यात्रियों ने अपनी भाषाओं में भी भारत-सम्बन्धी विवरण लिखे। इन सब में प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री अन्तर्निहित है। इनके तुलनात्मक अध्ययन से नित-नूतन महत्वपूर्ण तथ्य प्रकट हो रहे हैं और अभी दीर्घकाल तक होते रहेंगे।

जैन धर्म-ग्रंथ

बौद्ध साहित्य के समान जैन साहित्य भी हमारे इतिहास-निर्माण के लिए अति उपयोगी है। इसमें जैन-आगम सर्वोपरि है। इसमें साधारणतया १२ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्ण, ६ छेद सूत्र, नन्दि सूत्र, अनुयोगद्वार और मूलसूत्र परिगणित होते हैं। इनकी रचना अथवा संकलन किसी एक व्यक्ति अथवा एक काल का कार्य नहीं। वास्तव में इनकी रचना ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से चल कर ईसा की छठी शताब्दी तक के दीर्घकाल में भिन्न-भिन्न धार्मिक संगीतियों और व्यक्तियों के दीर्घप्रयास से हुआ था।

जैन अनुश्रुति के अनुसार महावीर स्वामी की आदि शिक्षायें १४ पूर्वों में संकलित थी, परन्तु शीघ्र ही वे विस्तृत हो गए। महावीर स्वामी की मृत्यु के लगभग १६० वर्ष पश्चात् (ई० पू० ३० के लगभग) अपनी विच्छृंखल धर्म-परम्पराओं को संग्रहीत और संगठित करने के हेतु जैन भिक्षुओं ने पाटलिपुत्र में अपनी प्रथम धर्म संगति का अधिवेशन किया। पुनः महावीर स्वामी की मृत्यु के पश्चात् ८२७ और ८४० वर्षों के बीच देश में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा जिसके परिणामस्वरूप या तो अनेकानेक विद्वान् जैन भिक्षु काल-कवलित हो गए या अध्ययनाभाव से उनके धर्म-ग्रन्थ आंशिक रूप से विलुप्त हो गए। अतः अपने धार्मिक ग्रंथों को पुनः संगठित करने के हेतु जैन भिक्षुओं ने एक दूसरी संगीति के अधिवेशन का आयोजन किया। यह संगीति एक ही समय २ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अध्यक्षता में दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर हुई[1]—आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में और नागार्जुन सूरि की अध्यक्षता में बलभी में। इनमें धर्म-ग्रन्थों का पुनः संगठन किया गया। परन्तु पृथक्-पृथक् दो स्थानों पर

१ नन्दिचूर्णि ८, ज्योतिष्करण्डक टीका ४१

स्वतन्त्ररूप से आयोजित होने के कारण इन संगीतियों द्वारा संगठित धर्म-ग्रन्थों में विभेद होना स्वभाविक था। यह विभेद बहुत दिनों तक चलता रहा। अन्त में इसके निवारणार्थ महावीर स्वामी की मृत्यु के ९८० अथवा ९९३ वर्ष पश्चात् (५१३ ई० अथवा ५२६ ई०) देवर्धि के नेतृत्व में बलभी में एक अन्य संगीति का आयोजन हुआ। इसके परिणामस्वरूप समस्त जैन धर्म-ग्रन्थो को लिखित रूप दिया गया। महत्व की बात है कि विवादग्रस्त प्रश्नो पर एकमत के अभाव में संगठन-कर्ताओ ने इस बार भिन्न-भिन्न मतान्तरों एव पाठान्तरों का भी उल्लेख कर दिया।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-धर्म-ग्रन्थ किसी एक काल की रचना नहीं हैं। उनका सगठन भिन्न-भिन्न कालों में हुआ। बहुत सम्भव है कि उनका आंशिक रूप महावीर स्वामी के शिष्यो ने ही सगठित किया हो। कालान्तर में उनका संशोधन एव परवर्धन भिन्न-भिन्न सगीतियों मे होता रहा। आज जैन आगम का जो आकार-प्रकार है वह प्रारम्भिक आकार-प्रकार से बहुत-कुछ भिन्न है। नन्दि के अनुसार न्यायाधम्म-कहा में साढे तीन करोड पद होने चाहिए, परन्तु आज उसमें पदों की सख्या इससे कहीं कम है। पुनः, शीलाक, मलयगिरि, आदि टीकाकारो का स्पष्ट कथन है कि अमुक सूत्र 'गलित' और 'दुर्लभ' है। इसी प्रकार टीकाकार अभयदेव का कथन है कि अनेक स्थलो पर आगमों के पाठ अशुद्ध और दुर्बोध हैं। यही नहीं, आगम के अनेक प्राचीन भाग सदैव के लिए विलुप्त हो गए हैं। उदाहरणार्थ, दिट्ठिवाय का विलोप तो स्थूलभद्र के समय से ही हो चुका था। इसी प्रकार आज पचकप्प उपलब्ध नही है। आचाराग सूत्र के एक अश—महापरिण्ण—की भी यही दशा है। पुन, अनेकानेक स्थलो पर जैन ग्रन्थों की सामग्री अनैतिहासिक है। उदाहरणार्थ, श्रेणिक, अजातशत्रु, उदयन और प्रद्योत ऐसे कतिपय राजाओं को छोड कर महावीर स्वामी के अधिकाश तथाकथित समकालीन नरेश काल्पनिक हैं। यही बात अनेक तिथियो के लिए भी सत्य है। परन्तु इन त्रुटियो एवं अभावों के होते हुए भी जैन-ग्रन्थ पूर्णरूपेण अप्रामाणिक एव अनैतिहासिक नही हैं। अन्य धार्मिक ग्रन्थों की भाँति उनमे भी कल्पित, अतरजित एव प्रक्षिप्त अशो की धूमिल राशि के भीतर ऐतिहासिक कण दबे पड़े है। हमारे अतीत के इतिहास-निर्माण मे ये कण-पुंज अति सहायक हुए हैं।

जैन आगम में प्रमुख स्थान १२ अंगो का है। आचारग सुत्त के दोनो स्कन्धो में जैन भिक्षु के आचार-नियमों का उल्लेख है। सूयगदग सुत्त विरोधी मतों का खंडन तथा जैन भिक्षुओं की जीवन-प्रणाली का मण्डन है। ठाणंग में बौद्ध अगुत्तरनिकाय की भाँति १ से १० तक की संख्याओ के आधार पर विविध प्रवचन है। समवायग सुत्त में भी बहुसंख्यक सख्याओं के आधार पर अनेक प्रकार के उपदेश हैं। भगवती सुत्त महावीर स्वामी के जीवन एव कार्य-कलाप के ऊपर प्रचुर प्रकाश डालता है। नाया-धम्मकहा सुत्त में महावीर स्वामी की शिक्षायें सग्रहीत हैं। उवासगदसाओं सुत्त में उपासक-जीवन के विधि-निषेधों और आचार-विचारों का संग्रह है। अन्तगडदसाओ सुत्त और अणुत्तरो ववाइयदसाओं सुत्त में प्रख्यात भिक्षुओ की निर्वाण-प्राप्ति का वर्णन है। पण्हा-वागरणाइम सुत्त में जैन यम-नियमों का उल्लेख किया गया है। विवागसुयम् सुत्त में कर्म-फल का प्रदर्शन है। अन्तिम सुत्त दिट्ठिवाय विलुप्त हो गया है। दूसरे ग्रन्थों में यत्र-तत्र इसके उद्धरण ही मिलते हैं।

प्रत्येक अंग का एक उपांग है। इनके नाम हैं उपवाइय रायपसेणैज्ज, जीवा-जीवाभिगम, पन्नवणा, सूरपन्नत्ति, जम्बुद्दीवपन्नति, चन्दपन्नत्ति, निर्यावलि, कप्पवड-

1 वीर निर्वाण ११२-११८

सिग्राम्रो, पुप्फिग्राग्रो, पुप्फचलिग्राग्रो और वण्हिदसाग्रो।

जैसे कि पीछे कहा गया है, इनके अतिरिक्त जैन धर्म-ग्रथो मे १० प्रकीर्ण, ६ छेद-सूत्र, १ नन्दिसूत्र, १ अनुयोगद्वार और ४ मूल सूत्र भी परिगणित होते है। इन सब ग्रथों के विविध विषयो का उल्लेख करना यहाँ सम्भव नही है।

कालान्तर मे प्राचीन जैन धर्म-ग्रथो के ऊपर समय-समय पर अनेक व्याख्या-ग्रथ लिखे गए। ये व्याख्या-ग्रन्थ ५ प्रकार के हैं—

(१) निर्युक्ति—आगम के विभिन्न विधि-निषेधो को समझाने के लिए छोटी-छोटी पद्यमयी व्याख्याये की गईं। इन्हे निर्युक्ति कहते है। इन निर्युक्तियो की सख्या १० है। ये प्राकृत भाषा मे है।

(२) भाषा—ये भी पद्य मे लिखे गए। कदाचित् भाष्यो की सख्या ११ थी। ये भी प्राकृत भाषा में है।

(३) चूर्ण—इनकी भाषा प्राकृत और सस्कृत का सम्मिश्रण है। इससे प्रकट होता है कि जैन धर्माचार्य प्राकृत का परित्याग कर धीरे-धीरे सस्कृत को अपनाने लगे थे।

(४) टीका—ये अधिकाशत सस्कृत मे लिखी गईं। इस प्रकार ब्राह्मण व्यवस्थाकारो की भाँति जैन व्यवस्थाकारो ने भी सस्कृत को अपने धर्म-ग्रथों का माध्यम बना लिया। जैन धर्म-ग्रन्थो के टीकाकारो मे हरिभद्र सूरि (७०५-७७ ई०), शीलाक (८६२ ई० के लगभग), नेमिचन्द्र सूरि (११वी शताब्दी), अभयदेव सूरि (११वी शताब्दी) और मलयगिरि (१३वी शताब्दी) अधिक प्राचीन हैं।

२. ऐतिहासिक एवं समसामयिक ग्रन्थ

धर्म-ग्रन्थो के अतिरिक्त भारतीयो ने अनेकानेक ऐसे ग्रन्थो की रचना की थी जिनके विषय धर्मेतर थे। इस प्रकार के ग्रन्थो मे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक सामग्री भरी पडी है। इनसे राजनीतिक इतिहास पर तो प्रकाश पडता ही है, साथ मे सास्कृतिक इतिहास की रूपरेखा निर्धारित करने मे भी महत्वपूर्ण सहायता मिलती है। अब हम ऐसे ही ग्रन्थो का उल्लेख करेंगे।

(१) **कौटलीय अर्थशास्त्र**—इसकी रचना चौथी शताब्दी ई० पू० चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान-मन्त्री कौटिल्य ने की थी। इसमें तत्कालीन भारत का स्पष्ट चित्रण मिलता है। परन्तु निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि इस अर्थ शास्त्र मे वर्णित व्यवस्था कहाँ तक व्यावहारिक थी और कहाँ तक आदर्श-रूप-मात्र।

(२) **गार्गी संहिता**—इसमें यवन-आक्रमण का उल्लेख है। अत इसकी रचना प्रथम शताब्दी के लगभग ही हुई होगी।

(३) **मालविकाग्निमित्र**—यह कालिदास का नाटक है। अतः इसकी रचना चौथी शताब्दी के अन्त में अथवा पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई होगी। इस नाटक में पुष्यमित्र और यवन-युद्ध का भी उल्लेख है।

(४) **मुद्राराक्षस**—इस राजनीतिक नाटक की रचना विशाखदत्त ने की थी। विशाखदत्त का काल ६००—७०० ई० के लगभग रहा होगा। यह नाटक चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त द्वारा नन्द वश के विनाश पर प्रकाश डालता है।

(५) **हर्षचरित्र**—इसकी रचना बाणभट्ट ने सातवी शताब्दी मे की थी। इससे हर्ष के जीवन एवं हर्ष-काल की भारतवर्ष की अवस्था पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

(६) **कामन्दकीय नीतिशास्त्र**—इस नीतिशास्त्र की रचना कामन्दक ने की थी। इसका रचना काल ७००—८०० ई० के लगभग रहा होगा। इससे तत्कालीन आचार-व्यवहार पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

(७) **बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र**—कौटिल्य की भाँति वृहस्पति ने भी एक अर्थशास्त्र की रचना की थी। इसकी रचना ९००-१००० ई० के० लगभग हुई होगी। इसमें राजकीय कर्तव्यों का अच्छा विवरण मिलता है।

(८) **राजतरंगिणी**—इसकी रचना काश्मीर के लेखक कल्हण ने १२वीं शताब्दी में की थी। इसमें काश्मीर का इतिहास है।

(९) **गौड़वहो**—इसकी रचना वाक् पतिराज ने प्राकृतभाषा में की। इसमें कन्नौज नरेश यशोवर्मा की दिग्विजय का वर्णन है।

(१०) **नवसाहसांकचरित**—इसे परिमल गुप्त ने लिखा था। यह ग्रन्थ परमार-वश पर प्रकाश डालता है।

(११) **विक्रमांकदेवचरित**—यह बिल्हण द्वारा लिखा गया था। इससे कल्याणी के चालुक्य-वंश पर प्रकाश पड़ता है।

३—विदेशियों के विवरण

समय-समय पर अनेक विदेशियों ने जनश्रुतियो अथवा आत्मगत अनुभवो के आधार पर भारतवर्ष के विषय में अपने विवरण, लेख अथवा ग्रन्थ लिखे थे। उनमे से बहुत से खो गए है, बहुत से किंवदन्तियो अथवा अप्रामाणिक बातो के मिल जाने से सन्दिग्ध दिखाई पडते है, परन्तु बहुत से आज तक अपनी प्रामाणिकता को न्यूनाधिक मात्रा में सरक्षित रखते हुए विद्यमान है। इनके स्वतन्त्र तथा तुलनात्मक अध्ययन से हमारे इतिहास-निर्माण में बडी सहायता मिली है। हम समस्त विदेशीय लेखो पर निम्नलिखित रूप मे विचार कर सकते हैं—

यूनानी लेख—यूनानी लेखको के लेखो ने भारतीय इतिहास-निर्माण मे बड़ी महत्वपूर्ण सहायता दी है। ये लेखक तीन कोटियो में विभक्त किए जा सकते हैं—(१) सिकन्दर के पूर्व के यूनानी लेखक, (२) सिकन्दर के समकालीन लेखक, और (३) सिकन्दर के बाद के लेखक।

(१) **सिकन्दर के पूर्व के यूनानी लेखक**—इनमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय है **स्काइलैक्स**। यह पारसीक नरेश दारा का यूनानी सैनिक था। हेरोडोटस का साक्ष्य है कि दारा ने इसे सिन्धु-प्रदेश की जानकारी प्राप्त करने के लिए भेजा था। भारतवर्ष के विषय मे इसकी थोडी-बहुत जानकारी एक मात्र सिन्धु-घाटी तक ही सीमित थी।

दूसरा यूनानी लेखक **हिकेटिअस मिलेटस** (ई० पू० ५४९-ई० पू० ४९६) था। उसका 'भूगोल' स्काईलैक्स के विवरण तथा पारसीकों की सूचनाओं पर आधारित था। उसका ज्ञान भी सिन्धु-घाटी तक ही सीमित था।

उपर्युक्त दोनो यूनानी लेखको से भारतीय इतिहास का कोई विशेष ज्ञान नही होता। परन्तु उनसे कही अधिक महत्वपूर्ण था **हेरोडोटस** (ई० पू० ४८४-ई० पू० ४३१)। इसे 'इतिहास का जन्मदाता' कहा जाता है। इसके लिखे ग्रन्थ का नाम 'हिस्टोरिका' है जिसमें इसने अनेक देशों के विषय मे विवरण दिए हैं। इसमें भारतवर्ष के विषय मे भी उल्लेख हैं। परन्तु यहाँ पर यह समझ लेना चाहिए कि हेरोडोटस ने भी भारतवर्ष की उत्तर-पश्चिमीय जातियो का ही न्यूनाधिक परिचय

पाया था और वह भी दूसरे लोगों के माध्यम के द्वारा। इसलिए उसका भारतीय विवरण भी पूर्ण अथवा नितान्त प्रामाणिक नही है।

केसिअस नामक अन्य यूनानी पारसीक नरेश अर्टाजरक्जीज की राजसभा में रहता था। यह राजवैद्य था (ई० पू० ४१६-ई० पू० ३९८) परन्तु साथ-ही-साथ इतिहास का भी पण्डित था। इसने भारत और ईरान दोनों देशों के इतिहास लिखे जो क्रमशः 'इण्डिका' और 'पार्शिका' के नाम से प्रख्यात हुए। परन्तु अभाग्य से परवर्ती लेखों में इसके उद्धरण ही मिलते हैं।

पारसीक नरेश की सभा में रहने के कारण यह व्यक्तिगत रूप से उन भारतीयों के सम्पर्क में आया था जो भारत से व्यापारी अथवा कारवाँवाहक के रूप में फारस आते थे। भारतवर्ष से लौटे हुए अनेक पारसीक पदाधिकारियों ने भी इसे महत्वपूर्ण सूचनायें दी थीं। अत भारतवर्ष के विषय में इसे बहुत-कुछ बातें विदित हो गई हैं। फिर भी इसके लेखों में अविश्वसनीय एव अतिरंजित बातें मिलती है। इसका कारण है कि इसने भी भारतवर्ष के विषय में प्रचलित अनेक किस्से-कहानियों को अपने इतिहास में स्थान दिया था।

(२) **सिकन्दर के समकालीन लेखक**—भारतवर्ष पर आक्रमण करने के लिए आया हुआ सिकन्दर अपने साथ सैनिको और सेनापतियो के अतिरिक्त लेखक और विद्वान् भी लाया था। इन लेखको और विद्वानो ने प्रयाण-मार्ग तथा युद्धो के अनुभवो को लेखबद्ध किया। यदि इन लेखको ने ससार को अपने लेख न दिए होते तो हमें भारतवर्ष पर सिकन्दर के अनुभव की अति महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का ज्ञान भी न होता, क्योकि किसी भी भारतीय ग्रन्थ अथवा अन्यान्य साक्ष्यो मे इस आक्रमण का उल्लेख नही है। अभाग्य से सिकन्दर के साथ आए हुए इन समस्त लेखको और विद्वानो के मूल लेख विलुप्त हो गए हैं। इनके उद्धरण ही स्ट्रैबो, प्लिनी और एरियन आदि परकालीन लेखको के लेखो में मिलते हैं। परन्तु उन उद्धरणो के आधार पर ही यह अनुमान किया जा सकता है कि सिकन्दर के समकालीन लेखको के मूल विवरण कितने महत्वपूर्ण रहें होगे।

सिकन्दर के साथ आए हुए लेखको और विद्वानो में निम्नलिखित अधिक महत्वपूर्ण हैं—

(१) **निआकस**—यह जहाजी बेड़े का ऐड्मिरल था। इसके लेखो के अवशेष स्ट्रैबो और एरियन के लेखो मे सरक्षित हैं।

(२) **एरिस्टोब्यूलस**—इसने अपने अनुभवो को 'युद्ध का इतिहास' (History of the War) नामक ग्रन्थ में लेखबद्ध किया था। एरियन और प्लूटार्क ने अपने ग्रन्थो को लिखने में इनसे काफी सहायता ली थी।

(३) **ओनेसिक्रिटस**—यह जहाजी बेड़े का पाइलट था। इसने 'सिकन्दर की जीवनी' लिखी थी। यद्यपि इसमें किम्वदन्तियो और गल्पों का समावेश अधिक हुआ था तथापि अनेक स्थलो पर इसके वर्णन महत्वपूर्ण थे।

३. **सिकन्दर के पश्चात् के लेखक**—इस प्रकार सिकन्दर के पश्चात् के लेखकों के लिए काफी पृष्ठ-भूमि बन गई थी। अब वे पूर्वोल्लिखित सामग्री एव आत्मगत अनुभवो के आधार पर वास्तविक इतिहास का निर्माण कर सकते थे। इन परगामी लेखको में निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) **मेगास्थनीज**—यह चन्द्रगुप्त मौर्य की राजसभा में यूनानी सम्राट् सेल्यूकस का राजदूत था। अतः भारतवर्ष के विषय में इसका विवरण प्रत्यक्षरूप से देखी-सुनी

बातों पर आधारित था। इसने भारतवर्ष पर 'इण्डिका' नामक ग्रन्थ लिखा था, परन्तु अभाग्यवश वह ग्रन्थ विलुप्त हो गया। फिर भी परवर्ती लेखकों में इसके उद्धरण पाए गए। उन्हीं को डा० स्वानवेक ने एक स्थान पर सगृहीत कर १८४६ में प्रकाशित किया। १८९१ में मैक क्रिण्डल महोदय ने इस संग्रह को अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। इस अनुवाद को पढ़ कर हम समझ सकते हैं कि मेगास्थानीज का विवरण पूर्वगामी लेखकों की अपेक्षा कितना अधिक सांगोपांग, स्पष्ट और शुद्ध था।

चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चात् उसके पुत्र बिन्दुसार की राज-सभा में यूनानी सम्राट् ने अपने राजदूत डीमेकस को भेजा। इसका लिखा हुआ भी मूल विवरण उपलब्ध नहीं होता। स्ट्रबो ने अपने लेखों में एक-दो बार डीमेकस के कथनों के उद्धरण दिए हैं।

स्ट्रैबो ने मेगास्थनीज और डीमेकस का उल्लेख करते हुए कहा है कि ये दोनों लेखक झूठे हैं और इनके लेख नितान्त अविश्वसनीय हैं।[१]

इसमें कोई सदेह नही कि इन लेखकों के अनेक कथन अशुद्ध अथवा अतिरंजित हैं। इसका कारण यह है कि या तो ये कुछ भारतीय विशेषताओं को समझ नहीं सके हैं या इन्हें असत्य सूचनायें मिली थीं। परन्तु मेगास्थनीज की पुस्तक भी मूलरूप में अप्राप्य है।

ईसा की प्रथम शताब्दी का अत्यन्त प्रसिद्ध लेखक स्ट्रैबो था। इसने देश-विदेश में भ्रमण करके भारी अनुभव प्राप्त किया था। इसका ग्रन्थ 'भूगोल' इतिहास में अपना बड़ा महत्व रखता है। भौगोलिक अवस्थाओं के अतिरिक्त इसमें सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक अवस्थाओं का भी उल्लेख है। भारतवर्ष के विषय में भी इसमें विविध ज्ञातव्य बातें हैं।

प्लिनी, दि एल्डर ने 'प्राकृतिक इतिहास' नामक एक विशाल ग्रन्थ लिखा जो ७७ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें ३७ अध्याय हैं। छठे अध्याय में भारतवर्ष का वर्णन है। यह मेगास्थनीज की इण्डिका पर अवलम्बित है।

ईसा की दूसरी शताब्दी में एरियन ने 'इण्डिका' और 'सिकन्दर का आक्रमण' नामक दो ग्रन्थ लिखे। ये दोनों ग्रन्थ सिकन्दर के समकालीन लेखकों और मेगास्थनीज के विवरणो पर आश्रित थे। सम्पूर्ण विवरण को देखते हुए मानना पड़ेगा कि उसकी अधिकांश बातें सत्य हैं। इसका सविस्तार विवेचन आगे किया जाएगा।

डीमेकस की भाँति डायोनीसिअस भी मौर्य नरेश बिन्दुसार की राजसभा में यूनानी राजदूत के रूप में रहा था। इसका मूल ग्रन्थ भी अप्राप्य है।

इन यूनानी लेखकों के पश्चात् पैट्रोक्लीज का नाम आता है। यह यूनानी नरेश सेल्यूकस और ऐण्टिआकस प्रथम (ई० पू० २८१-ई० पू० २६१) के किसी पूर्वी प्रांत-का एक पदाधिकारी था। इसने पूर्वी देशों का भूगोल-ग्रन्थ लिखा था। इसमें भारत-वर्ष का भी वर्णन था। स्ट्रैबो ने पैट्रोक्लीज के लेख की प्रसंसा करते हुए इसे नितान्त विश्वसनीय माना है। सिकन्दरिया के विशाल पुस्तकालय के प्रधानाध्यक्ष एरैस्थोनीज (ई० पू० २७६-ई० पू० १९४) ने, जो स्वयं भूगोल का विशेषज्ञ था, पैट्रोक्लीज

१ 'Generally speaking the men who have written on the affairs of India were a set of liars. Deimachus holds the first place in the list, Megasthenes comes next,. . . . No faith whatever can be placed in Deimachus and Megasthenes.'

के लेखों की प्रशंसा की है।

१४४ ई० पू० के लगभग **पालीबिअस** ने एक इतिहास ग्रन्थ लिखा, परन्तु अभाग्य से यह विलुप्त हो गया है।

१०० ई० पू० के लगभग एक यूनानी यात्री ने '**पेरीप्लस**' नामक पुस्तक लिखी। दूसरी शताब्दी में ही **एलियन** नामक एक अन्य यूनानी लेखक ने A Collection of miscellaneous History और On the peculiarities of Animals नामक दो ग्रन्थ लिखे। प्रथम से भारतवर्ष के इतिहास तथा द्वितीय से भारतवर्ष के पशु-वर्ग की बहुत सी बातें ज्ञात होती हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी यूनानी लेखकों के लेख और उद्धरण मिलते हैं जिनके उल्लेख यथास्थान किए जायेंगे।

यहाँ पर उपर्युक्त यूनानी लेखको के साथ-साथ रोमन लेखक **टालमी** का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। यह ईसा की दूसरी शताब्दी का प्रसिद्ध विद्वान् था। इसने 'भूगोल' नामक एक ग्रथ लिखा जो उसकी विद्वत्ता की सूचना देता है। परन्तु अभाग्य से टालमी को भारतवर्ष की प्राकृतिक सीमाओं का विशुद्ध ज्ञान न था। इसी से उसने भारतवर्ष का जो मानचित्र प्रस्तुत किया है, वह अशुद्ध है।

चीनी लेख—यूनानी लेखो की भाँति चीनी लेखको के लेख भी भारतवर्ष के इतिहास पर प्रचुर प्रकाश डालते है। अनेक चीनी यात्री समय-समय पर भारतीय सस्कृति एव धर्म का अध्ययन करने अथवा परिभ्रमण की अभिरुचि से भारतवर्ष आए थे। इनमें से कुछ तो स्वय बौद्ध थे। अत उनका महात्मा बुद्ध की पुण्य जन्म-भूमि का दर्शन करने के हेतु भारतवर्ष मे आना नितान्त स्वाभाविक था। यही नही, चीन में रहते हुए भी कुछ चीनी लेखको ने भारतवर्ष की सुविकसित सभ्यता, सस्कृति और धर्म के विषय में महत्वपूर्ण उल्लेख किए हैं। ये सब हमारे इतिहास-निर्माण में विशेष रूप से सहायक हुए है।

सुमाचीन—यह चीन का सर्वप्रथम इतिहासकार था। चीनी इसे अपने इतिहास का जन्मदाता मानते हैं। इसने ई० पू० प्रथम शताब्दी में जो इतिहास-ग्रथ लिखा उसमें भारतवर्ष के सम्बन्ध में भी उल्लेख मिलते हैं।

फाह्यान—परन्तु विशेष महत्व के लेख थे फाह्यान के। यह चीनी यात्री चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मे ३९९ ई० मे भारत आया था। इसका उद्देश्य बौद्ध धर्म-ग्रथो का अध्ययन और अनुशीलन था। इस प्रयोजन से यह भारतवर्ष मे १५-१६ वर्ष तक रहा। धार्मिक मनोवृत्ति का व्यक्ति होने के कारण फाह्यान ने भारतवर्ष की धार्मिक अवस्था, विशेषतया बौद्ध धर्म की अवस्था पर प्रचुर प्रकाश डाला है। परन्तु अन्य विषयों के विवरण शिथिल हैं, यहाँ तक कि उसने भारतीय सम्राट् का नामोल्लेख तक नहीं किया। उसके स्थान पर यदि कोई इतिहास-प्रवीण व्यक्ति होता तो वह १५-१६ वर्ष के दीर्घ काल का उपयोग अधिक विस्तृत एव प्रामाणिक विवरण लिखने मे करता। फिर भी फाह्यान का भारत-वर्णन कम महत्वपूर्ण नही है।

ह्वेन सांग— यह भी बौद्ध चीनी यात्री था और हर्ष के शासन-काल मे ६२९ ई० के लगभग भारतवर्ष आया था। यह भी इस देश मे लगभग १३ वर्षों तक रहा था। इस बीच दक्षिण भारत को छोड कर इसने प्रायः सम्पूर्ण भारत का परिभ्रमण किया, भिन्न-भिन्न राज्यो में गया, देश में स्थान-स्थान पर स्थित तीर्थों, विहारो, मठों आदि में गया। यह बहुत दिनों तक हर्ष की राज्य-सभा में भी रहा। इसने प्रयाग और कन्नौज के धार्मिक अधिवेशनों मे भी भाग लिया। सम्राट् हर्ष एवं उसकी बहन

राज्यश्री इस अतिथि का विशेष आदर करते थे। ह्वेनसांग ने अपने अनुभवों को लेखबद्ध किया जो भारतीय इतिहास के लिए बड़े महत्वपूर्ण हैं।

ह्वूली—यह ह्वेनसाँग का मित्र था और इसने उसकी (ह्वेन साँग की) जीवनी लिखी थी जो भारतवर्ष पर भी प्रकाश डालती है।

इत्सिंग—यह यात्री ६१३ ई०—६९५ ई० के लगभग भारतवर्ष आया था। इसने भी तत्कालीन अवस्था का वर्णन किया है। परन्तु इसका वर्णन ह्वेनसाँग के समान विस्तारपूर्ण और विशद नहीं है।

तिब्बती लेख—तिब्बती लेखों में बारहवीं शताब्दी के लेखक लामा तारानाथ के ग्रंथ 'कग्युर' और 'तग्युर' विशेष प्रसिद्ध है। परन्तु बौद्ध होने के कारण इसके लेख भी स्थान-स्थान पर साम्प्रदायिक और पक्षपातपूर्ण लगते हैं। पुनः उनमें अविश्वसनीय किंवदन्तियों की भी भरमार है। अतः तारानाथ के लेखों का प्रयोग बड़ी सतर्कता के साथ करना चाहिए।

४ पुरातत्व सम्बन्धी

पुरातत्व-सम्बन्धी सामग्री हमारे इतिहास-निर्माण में बड़ी सहायक हुई है। इससे भारतवर्ष के अनेक तथाकथित अन्ध-युगों पर प्रकाश पड़ा है, अनेकानेक सन्दिग्ध ऐतिहासिक मतों का निश्चित रूप से खण्डन-मण्डन हुआ है। पुरातत्व का महत्व इसी बात से समझा जा सकता है कि यह आज एकमात्र इतिहास ही नहीं रहा वरन् वह एक स्वतन्त्र विषय बन गया है। इतिहास-निर्माण में यह शास्त्र हमारे समक्ष दो रूपों में आता है—(१) प्रतिपादक के रूप में और (२) समर्थक के रूप में। प्रथम रूप में, यह उन ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत करता है जो हमें अन्य साधनों से विदित नहीं होते। उदाहरणार्थ, समुद्रगुप्त की दिग्विजय का वर्णन एवं विस्तार हमें एकमात्र उसके प्रयाग स्तम्भलेख से ही विदित होता है। यदि यह स्तम्भ-लेख न होता जो हम भारतीय इतिहास के एक अति महत्वपूर्ण विषय से अनभिज्ञ रहते। इसी प्रकार यदि हाथीगुम्फा अभिलेख न मिलता तो हमें भारतवर्ष के एक प्रतिभाशाली नरेश खारवेल का कुछ पता ही न चलता। दूसरे रूप में, पुरातत्व हमें किसी नयी वस्तु का ज्ञान नहीं कराता वरन् यह अन्य साधनों से ज्ञात किसी न किसी वस्तु का समर्थन करता है। इतिहास का निर्माण आकस्मिक रूप से प्राप्त किसी एक उल्लेख से नहीं हो सकता। एक साधन पर अवलम्बित हमारा ज्ञान बहुधा सन्दिग्ध रहता है। इतिहास को असन्दिग्ध पीठिका पर स्थापित करने के लिये अनेक साधनों की आवश्यकता होती है। इतिहास-निर्माण का यह प्रारम्भिक नियम है कि निश्चित सत्य के रूप में प्रतिपादित करने के पूर्व हमें अपने कथन की पुष्टि विविध साधनों से करनी चाहिए। यह गुरु कार्य पुरातत्व के द्वारा भली भाँति सम्पादित हुआ है। उसने अनेक प्रचलित धारणाओं का खण्डन-मण्डन किया है। उदाहरणार्थ, पतञ्जलि के महाभाष्य के कतिपय वाक्यों से ऐसा प्रतीत होता था कि पुष्यमित्र शुंग ने कोई यज्ञ किया था। परन्तु एक व्याकरण-ग्रन्थ के एक-दो वाक्यों के आधार पर इतना बड़ा निष्कर्ष निकालने में अनेक विद्वान् सकोच कर रहे थे। ऐसी सन्दिग्ध परिस्थिति में पुरातत्व ने उनका शंका-समाधान किया। अयोध्या का अभिलेख मिला और उसने स्पष्ट स्वर में घोषित किया—'द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य'। इस प्रकार पुरातत्व ने पतञ्जलि के महाभाष्य के कथन की पुष्टि करते हुए यह कहा कि पुष्यमित्र शुंग ने दो अश्वमेध यज्ञ किए थे। यह है पुरातत्व के समर्थक रूप का महत्व।

इतिहास-निर्माण में सहायक सम्पूर्ण पुरातत्व-सामग्री को हम ३ कोटियों में

विभक्त कर सकते हैं–(१) अभिलेख (२) स्मारक और (३) मुद्रायें। यहाँ हम तीनों कोटियों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

(१) **अभिलेख**—ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के पूर्व भारतवर्ष में अभिलेख उत्कीर्ण कराने की प्रथा प्रचलित न थी। कुछ विद्वानो ने बस्ती में प्राप्त पिप्रा-कलश-लेख और अजमेर में प्राप्त बडली-अभिलेख को पूर्व अशोककालीन बता कर उपर्युक्त कथन को खण्डित करने की चेष्टा की है। परन्तु यदि हम इन दो अभिलेखो को पूर्व-अशोककालीन स्वीकार भी कर लें तो भी वे अपवाद के रूप में ही ग्रहण किये जा सकते है, नियम के रूप में नही। अभिलेखो की परम्परा तो अशोक-काल से ही भारतवर्ष मे सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित हुई दिखाई पड़ती है।

प्राचीन अभिलेख अनेक स्थानो और अनेक रूपो में मिलते है। अधिकाशत. ये (१) स्तम्भों (२) शिलाओ और (३) गुहाओ पर मिलते हैं। परन्तु कभी-कभी ये (४) मूर्तियो (५) प्राकारों (६) पात्रो (७) ताम्रपत्रो और (८) मुद्राओ पर भी पाए गये है। समस्त अभिलेख किसी महनीय घटना अथवा कर्म की स्मृति को अक्षय रखने के लिये ही लिखाए जाते थे। परिणामत इन अभिलेखो में विजय, कीर्ति, दान, सत्कर्म अथवा समारोह आदि का वर्णन मिलता है।

(१) स्तम्भ-लेख—भारतवर्ष में स्तम्भ-स्थापना की परम्परा अति प्राचीन है। हड़प्पा, मोहेन जोदडो आदि नगरो की खुदाई से पता लगा है कि सिन्धु-सभ्यता के अन्तर्गत भी लोग स्तम्भों को स्थापित करते थे। अनेक स्तम्भ खुदाई में मिले हैं। इन पर कोई लेख नही हैं। कदाचित ये पवित्र समझे जाते थे और इनकी पूजा होती थी। कालान्तर में इन स्तम्भो पर लेख भी खुदने लगे। अशोक के स्तम्भ-लेख अपनी बहुसख्या और विवरणात्मकता के कारण पाषाण पर उत्कीर्ण उसकी आत्म-कथा ही हैं। कालान्तर में स्तम्भों का प्रचुर प्रयोग किया गया। जैन धर्मावलम्बियों ने अपने दीप-स्तम्भ बनवाये। वैष्णवो ने अपने गरुडध्वज-स्तम्भ। शूरकर्मा नरेशों, विशेषकर राजपूतों, ने अपनी कीर्ति को घोषित करने के लिए स्थान-स्थान पर कीर्ति-स्तम्भ, विजय-स्तम्भ और रण-स्तम्भ स्थापित किए। स्तम्भ-निर्माण की परम्परा आज भी जीवित है। भारतीय सरकार १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम के हुतात्माओ की अमर-स्मृति मे अनेक स्थानो पर कीर्ति-स्तम्भों और विजय-स्तम्भों का निर्माण करने जा रही है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अशोक के स्तम्भ-लेख अति महत्वपूर्ण हैं। प्रत्येक स्थान पर तो अभिलेख उत्कीर्ण कराने के लिए प्राकृतिक शिलायें मिलती नही। इसी से अशोक ने पाषाण की सहायता से कृत्रिम स्तम्भ निर्मित करवाये और उन पर अपने अभिलेख उत्कीर्ण करवाये। तत्पश्चात् वे अन्य स्थानों पर भेज कर गड़वाए गए।

अशोक के स्तम्भ-लेखों के अतिरिक्त इण्डोयूनानी हेलिओडोरस का विदिशा स्तम्भ-लेख, समुद्रगुप्त का स्तम्भ-लेख (जो अशोक के प्रयाग के स्तम्भ के ऊपर ही उत्कीर्ण है), चन्द्रगुप्त द्वितीय का मिहरौली स्तम्भ-लेख और स्कन्दगुप्त का भितरी-स्तंभ लेख भारतीय इतिहास में विशेष महत्वपूर्ण हैं।

(२) शिलालेख—पर्वतीय प्रदेशों में ये लेख बहुसंख्या में मिले हैं। पहाडियों को काट कर उनके बीच शिला-खंडो को साफ और समतल कराने के पश्चात् वहीं उनके ऊपर अभिलेख उत्कीर्ण करवा दिए जाते थे। बहुधा शिला-खंडों को अलग करके अथवा कृत्रिम रूप से निर्मित करके अपर्वतीय प्रदेशों में भी उनका उपयोग किया गया

है। सर्वप्रथम शिला-लेखों में अशोक के शिला-लेख विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनके पश्चात् पुष्यमित्र शुंग का अयोध्या अभिलेख, खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख, रुद्रदामन् का जूनागढ़ अभि-लेख तथा अन्यान्य परवर्ती नरेशों के अनेकानेक शिला-लेख भारतीय इतिहास के निर्माण में विशेष सहायक हुए हैं।

(३) गुहा-लेख—ये लेख भी पर्वतीय प्रदेशों में ही बहुसंख्या में मिले हैं। दानशील राजा अथवा अन्यान्य मनुष्य बहुधा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के भिक्षुओं और साधु-सन्तों के निवास के लिए गुहाओं का निर्माण करते रहते थे। उन्हीं गुहाओं में उनके नाम, वंश तथा निर्माण-सम्बन्धी अन्यान्य बातों का उल्लेख कर दिया जाता था। ये गुहा-लेख दानी और दानग्राही दोनों के विषय पर प्रकाश डालते हैं। इनमें अशोक के बराबर गुहा-लेख, दशरथ के नागार्जुनी गुहा-लेख, सातवाहनों के नासिक, नानाघाट और कार्ले आदि स्थानों के गुहा-लेख तथा गुप्तकालीन विभिन्न गुहा-लेखों में विविध इतिहास-सामग्री भरी है।

(४) मूर्ति-लेख—इन अभिलेखों की प्राप्ति उसी काल से प्रारम्भ होती है जब से भारतवर्ष में ब्राह्मण-धर्मानुयायियों तथा बौद्ध एवं जैन धर्मानुयायियों ने बहुसंख्या में मूर्तियों का निर्माण करना प्रारंभ किया। विभिन्न स्थानों पर स्थापित अथवा उत्कीर्ण मूर्तियों के शीर्ष-भाग अथवा अधोभाग पर कभी-कभी कुछ लेख भी मिल जाते हैं। भारतवर्ष के विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित मूर्तियों पर इस प्रकार के लेख आज भी देखे जा सकते हैं। इन मूर्ति-अभिलेखों से भी इतिहास-निर्माण में सहायता मिली है।

(५) प्राकार-अभिलेख—बहुधा प्राचीन मन्दिरों और स्तूपों के चतुर्दिक प्राकार (चहार दीवारी) निर्मित कर दी जाती थी। इन प्राचीरों पर भी कभी-कभी अभिलेख पाये गए हैं। उदाहरणार्थ, भरहुत-स्तूप के प्राकार पर 'सुगनं रजे' लिखा हुआ है। इस अभिलेख से प्रकट हो जाता है कि उस स्तूप का वह प्राकार शुंग-राजाओं के समय में निर्मित हुआ था।

(६) पात्र-अभिलेख—कभी-कभी प्राचीन काल के उपलब्ध मृत्पात्रों और धातु-पात्रों पर भी अभिलेख मिल जाते हैं। सिन्धु-प्रदेश की खुदाई में बहुसंख्यक पात्र निकले हैं। उनमें से अनेक पर विविध चिन्ह और चित्र मिलते हैं। बहुत संभव है कि इनमें से कुछ पर तत्कालीन लिपि में लेख लिखे हों। परन्तु अभाग्य से अभी तक सिन्धु-लिपि पढ़ी नहीं जा सकी है। पिप्रा कलश-लेख का पहले उल्लेख किया जा चुका है। कुछ विद्वान् इसे पूर्व-अशोककालीन मानते हैं। परवर्ती काल के बहुसंख्यक पात्रों पर भी अभिलेख मिले हैं।

(७) ताम्र-पत्र-अभिलेख—प्राचीन काल में नरेश जब किसी व्यक्ति को जमीन-जायदाद आदि का दान अथवा पारितोषिक देते थे तो उसे ताम्र-पत्रों पर उत्कीर्ण कराके उस व्यक्ति को दे देते थे। ये ताम्र-पत्र उस व्यक्ति के अधिकार के प्रमाण-पत्र समझे जाते थे। इन पर दान अथवा पारितोषिक की घोषणा करने वाले नरेश का नाम, वंश, कर्म आदि भी उल्लिखित रहता था। इस प्रकार ये ताम्र-पत्र बड़े महत्व के समझे जाते हैं। गुप्तकालीन इतिहास-निर्माण में इनसे बड़ी सहायता मिली है।

(८) मुद्रा-अभिलेख—प्राचीन काल में मुद्रायें (मुहरें) मिट्टी और धातु दोनों की बनती थीं। प्रायः इन पर किसी नरेश, सामन्त, पदाधिकारी, गण, निगम, व्यापारी अथवा व्यक्ति-विशेष के नाम अथवा हस्ताक्षर रहते थे। ये मुद्रायें भी प्रमाण के रूप में प्रयुक्त होती थीं। सर्वप्रथम मुद्रायें सिन्धु-प्रदेश में मिली हैं। परन्तु इनके लेख अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। ऐतिहासिक युग में भी इन मुद्राओं का खूब प्रचलन

रहा। अनेक संग्रहालयो में आज भी बहुसंख्यक प्राचीन मुद्रायें देखी जा सकती हैं। बहुतों पर अभिलेख भी मिलते हैं।

अनेक महत्वपूर्ण अभिलेख विदेशों में भी मिले हैं। इनसे भी भारतीय इतिहास की अनेक बातें ज्ञात हुई हैं। उदाहरणार्थ, एशिया माइनर की खुदाई में बोगजकोइ नामक स्थान पर १४०० ई० पू० के लगभग के सधि-पत्र मिले हैं जिनके अभिलेखो में मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यस् नामक वैदिक देवताओं के नाम मिले हैं। इसी प्रकार मिस्र में एल-अमर्ना नामक स्थान में कुछ मिट्टी की मुहरें (Iablets) मिली हैं। इनमें बैबिलोनिया-नरेशो के नाम हैं—यथा अर्तमन्य, अर्जविय, यशदत, शुत्तर्न आदि। ये नाम वैदिक से लगते है। ईरान के सखामनीष नरेशो के अभिलेख पर्सीपोलिस और नक्शे-रुस्तम मे मिले हैं। इनसे पता लगता है कि भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश का कुछ भाग ई० पू० छठी शताब्दी मे पारसीक साम्राज्य के अन्तर्गत था। इस कथन की पुष्टि ईरान के ही हमदन स्वर्ण-पत्र-लेख और रजत-पत्र-लेख से भी होती है।

२. **स्मारक**—जिस प्रकार भारतीयो ने लेखनी के माध्यम से जीवन के विविध अनुभवो विचारो और भावनाओ को प्रकट किया उसी प्रकार छेनी, कन्नी और तूलिका के माध्यम के द्वारा भी। इतिहास-निर्माण मे भारतीय स्थापत्यकार, वास्तुकार और चित्रकार किसी भी प्रकार लेखक से कम महत्वपूर्ण नही सिद्ध हुए। बहुधा पाषण-खण्ड और क्षीण रेखाये शत-शत ग्रथो से भी अधिक बोधक होती है। प्राचीन-भारत के जो मन्दिर, स्तूप, गुहायें, आराम, मूर्तियाँ, स्तम्भ, तोरण, चित्रादि मिले है उनमे भारतीय जीवन की अक्षय निधि अन्तर्निहित है।

पाटलिपुत्र की खुदाई मे चन्द्रगुप्त मौर्य के लकडी के राजप्रासाद के ध्वसावशेषो को देखकर यह अनुमान लगता है कि उस नरेश के पूर्व भारतवर्ष के वास्तु और स्थापत्य मे लकडी का प्रयोग बहुलता से होता था। लकडी गैर-टिकाऊ पदार्थ है। इसी से चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की और उसके पूर्व की कला-कृतियाँ प्रायः नष्ट हो गई हैं। परन्तु अशोक के समय से भारतवर्ष में पाषाण का प्रयोग प्रचुरता में दिखाई पड़ता है। अत अशोक काल और परवर्ती काल की बहुसख्यक कला-कृतियाँ आज भी विद्यमान हैं। इनसे भारतीय इतिहास की अनेक महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं—

(१) स्मारको को देख कर भिन्न-भिन्न कालो की कलाओं का अध्ययन किया जा सकता है। उनसे विविध कलाओ मे प्रयुक्त सामग्री, विषय और प्रणाली पर प्रकाश पडता है। उनसे कलाओ के उत्थान-पतन, उनके कारणो और परिणामो का अध्ययन किया जा सकता है।

(२) कला-कृतियो के विभिन्न स्वरूपो के सूक्ष्म अध्ययन से इतिहास के काल-क्रम को निर्धारित करने में भी सहायता मिलती है। अपनी विशेष प्रणालियो से कला-कृतियाँ स्वय अपने निर्माण-काल को घोषित कर देती है।

(३) कला-कृतियाँ अपने निर्माताओं के धार्मिक विचारो को प्रकाशित करती हैं। उदाहरणार्थ, सिन्धु-प्रदेश में प्राप्त पाशुपत शिव की मूर्तियाँ तत्कालीन समाज में प्रचलित शैव-पूजा को घोषित करती हैं। गुप्त-काल की वैष्णव, शैव, बौद्ध और जैन मूर्तियाँ तत्कालीन धार्मिक सहिष्णुता को घोषित करती हैं।

(४) मूर्तियों और चित्रो से भिन्न-भिन्न कालो की वेश-भूषा, अस्त्रों, वनस्पतियों धार्मिक प्रथाओ और सामाजिक मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है।

(५) जीवन और कला का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। अतः दोनों के तुलनात्मक

अध्ययन से हम भारतीय इतिहास के उत्थान-पतन का चित्र अंकित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, खजुराहो की मूर्ति-कला में जो असंयत अश्लीलता है वह तत्कालीन सामाजिक पतन का ही परिणाम है। वज्रयान के कलुषित सिद्धान्तों के प्रचार ने जीवन के उदात्त मूल्यों का नाश कर दिया था। नारी साधकों की परम सिद्धि का साधन बन गई थी। इन्ही विगर्हित सामाजिक विचारधाराओं का अकन, मध्यकाल में हम मध्यभारत मे बगाल से काठियावाड तक देखते हैं।

(६) स्मारको के विदेशीय अशों से भारतवर्ष और विदेशों के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी अच्छा प्रकाश पडता है। यूनानी प्रभाव के अन्तर्गत बनी गान्धार-मूर्तियो मे कौन-कौन विदेशीय अश हैं और गुप्त-काल तक आते-आते किस प्रकार उन अशो का विदूरीकरण करके भारतीय कलाकारो ने उन मूर्तियो का पूर्णत भारतीय-करण कर डाला, इन सब बातो का अध्ययन हमारे इतिहास-निर्माण मे बड़ा सहायक हुआ है।

विदेशों में प्राप्त अनेक स्मारक भी भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास-निर्माण में प्रचुररूप से सहायक सिद्ध हुए हैं। भारतीय विषयों, आस्थाओ और प्रणालियो के आधार पर निर्मित स्मारको के अवशेष आज भी सम्पूर्ण दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे पाए जाते हैं। बोरोबोदर और प्रम्बनम् मे भारतीय देवालय और डीडा पठार में शिवालय आज भी विद्यमान हैं। बोर्नियो मे मुकरकमन् नामक स्थान मे विष्णु की एक स्वर्ण-मूर्ति मिली है। इसी प्रकार बाली द्वीप मे भी मन्दिर और मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। मलाया मे सुन-गेई-वतु में एक मन्दिर और शिव, पार्वती, गणेश, नन्दी आदि की मूर्तियाँ मिली है। सेलीबीज में सिकेन्डेङ्ग के समीप एक बुद्ध-प्रतिमा के अवशेष मिले हैं। कोमबेङ में ब्रह्मा, शिव, गणेश आदि भारतीय देवताओ की मूर्तियाँ मिली है। बोर्नियो मे कयु-अस सरिता की घाटी मे भारतीयों के एक प्राचीन उपनिवेश के चिन्ह मिले है। ये सब स्मारक दक्षिण-पूर्वी एशिया मे भारतीय उपनिवेश एव भारतीय सस्कृति तथा धर्म के प्रचार की कहानी कह रहे है।

३ **मुद्रायें**—मुद्राओ ने इतिहास-निर्माण मे बडी सहायता दी है। इस कथन की सत्यता इसी बात से प्रकट होती है कि २०६ ई० पू० से लेकर ३०० ई० तक के भारतीय इतिहास का ज्ञान हमें प्रमुखतया मुद्राओ की सहायता से होता है। इस काल की मुद्राओ की सहायता के बिना यह काल बहुत-कुछ अन्ध-काल ही रहता। मुद्राओ की महत्ता इतनी अधिक स्वीकार की गई है कि आज उनके अध्ययन के लिये एक पृथक और स्वतन्त्र शास्त्र (मुद्रा-शास्त्र) ही खडा हो गया है। प्राचीन मुद्राये निम्न प्रकार से इतिहास-निर्माण मे सहायक होती है :—

(१) मुद्राओ पर बहुधा राजा का नाम, विरुद, तिथि, राजचिन्ह अथवा धर्म-चिन्ह रहता है। इनसे इतिहास मे राजाओ के वश-वृक्ष, उनके महनीय कार्य, उनके शासन-काल तथा उनके राजनीतिक एव धार्मिक विचार निश्चित करने मे सहायता मिलती है।

(२) कभी-कभी उन पर अंकित विशेष चित्र विशेष घटनाओं पर प्रकाश डालते है। उदाहरणार्थ, समुद्रगुप्त की कुछ मुद्राओ पर अश्व और यूप के चित्र हैं। साथ ही उन पर 'अश्वमेधपराक्रम' लिखा हुआ है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस कोटि की मुद्रायें समुद्रगुप्त के अश्वमेध के उपलक्ष में निर्मित हुई थी। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त की व्याघ्र से अंकित मुद्राये कदाचित् उसकी पश्चिमी भारत की विजय के उपलक्ष में निर्मित हुई थी, क्योंकि व्याघ्र पश्चिमी भारत के घने वनों में प्राप्त होता है।

(३) कुछ मुद्रायें राजा की व्यक्तिगत अभिरुचि को बोधित करती हैं। उदाहरणार्थ, समुद्रगुप्त की वीणांकित मुद्रायें उसके संगीत-प्रेम को प्रदर्शित करती हैं।

(४) कभी-कभी मुद्राओं पर दो नाम मिलते हैं। ये बहुधा विजित और विजेता नरेशों के नाम होते हैं। बहुधा देखा गया है कि विजेता नरेश ने विजित नरेश की मुद्राओं को नष्ट नहीं किया वरन् उन पर अपना नाम अंकित करके पुनः उन्हें प्रसारित करवाया। उदाहरणार्थ, जोगलथम्बी भाण्ड में बहुत सी मुद्रायें ऐसी मिली हैं जिनमें नहपान के नाम के साथ-साथ गौतमीपुत्र शातकर्णि का नाम है। इनसे प्रकट होता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने नहपान को पराजित करके पश्चिमी भारत का राज्य उससे छीन लिया था।

(५) शक क्षत्रपों की मुद्राओं पर भी बहुधा दो नाम मिलते हैं। ये नाम प्रधान शासक और उसके सहयोगी युवराज के होते थे।

(६) पृथ्वी के नीचे गाड़े गए मुद्रा-भाण्ड बहुधा अशान्ति-काल की घोषणा करते हैं। अशान्ति-काल में ही बहुधा मनुष्य अपनी सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के ध्येय से उसे पृथ्वी के नीचे गाड़ दिया करते थे।

(७) मुद्रा-प्राप्ति के आधार पर कभी-कभी राज्य की सीमायें निर्धारित करने में सहायता मिलती है। परन्तु इस विषय में मुद्राओं के साक्ष्य को बड़ी सावधानी और सजगता से प्रयोग करना चाहिए क्योंकि कभी-कभी मुद्रायें व्यापारियों और यात्रियों द्वारा भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाती हैं।

(८) मुद्राओं की धातु राज्य की समृद्धता अथवा असमृद्धता की ओर संकेत करती हैं। उदाहरणार्थ स्कन्दगुप्त की मुद्राओं में सम्मिश्रित स्वर्ण मिलता है। यह स्वाभाविक ही था। विदेशीय आक्रमणों और आन्तरिक अशान्ति के कारण राज्य की आर्थिक अवस्था बिगड़ गई थी।

(९) मुद्राओं के चित्रण एवं अभिलेख राज्य में कला और साहित्य की अवस्था पर प्रकाश डालते हैं। उदाहरणार्थ गुप्तकाल की मुद्राओं के चित्र बड़े ही कलात्मक हैं। उन पर उत्कीर्ण अभिलेख भी विशुद्ध एवं संगीतमय संस्कृत में हैं। इनसे राज्य की समन्तात् उन्नति पर प्रकाश पड़ता है।

(१०) एक ही राजा के नाम की बहुसंख्यक मुद्रायें उसके दीर्घकालीन एवं समृद्धिशाली शासन की ओर संकेत करती हैं। इसके विरुद्ध अल्पसंख्यक मुद्रायें उसके अल्पकालीन अथवा संकटपूर्ण शासन की सूचना देती हैं।

२

पूर्वैतिहासिक काल

पाषाण-काल—मानव-सभ्यता का बीजारोपण सर्वप्रथम पाषाण-काल की कठोर स्थली में ही हुआ था। इस काल का इतिहास मानव की कठोर साधना का प्रतिफल है। अपने दीर्घकालीन अध्यवसाय, अन्वेषण, उत्खनन और कल्पना के सहारे विश्व के कर्मठ पुरातत्ववेत्ताओ एव ज्ञानार्थियो ने एक-एक कण एकत्र कर अपने पूर्वजो के प्राचीनतम इतिहास की जो रूपरेखा निर्मित की है वह उत्तरोत्तर मुखर और स्पष्ट होती जा रही है। इस काल की समस्त सामग्री प्रमुखतया पाषाण-निर्मित है। इसी तथ्य को सूचित करने के निमित्त इस काल को 'पाषाण-काल' की सज्ञा दी गई है। पाषाण-कालीन मनुष्य के क्रमिक विकास को परिलक्षित करने के लिए १८६३ ईसवी में ल्यूबक (Lubbock) महोदय ने पाषाण-काल को दो भागो मे विभाजित किया था—(१) Palaeolithic Age (पूर्वपाषाण-काल) और (२) Neolithic Age (उत्तर पाषाण-काल)। यूनानी भाषा में Palaios और Neo क्रमश 'प्राचीन' और 'नवीन' के अर्थ में प्रयुक्त होते है और Lithos 'पाषाण' के अर्थ में। इन्ही शब्दो के आधार पर पाषाण-काल के दोनो विभागो का नामकरण हुआ था। बौद्धिक विकास, सास्कृतिक प्रगति एव जीवनोपयोगी अनुसधानो के दृष्टिकोण से उत्तर पाषाण-काल पूर्व पाषाण-काल की अपेक्षा कही अधिक उन्नत था। प्रारम्भ मे विद्वानो का मत था कि दोनो काल एक-दूसरे से से नितान्त पृथक् हैं, उनके बीच में कोई भी कडी नही है। वे एक-दूसरे से असम्बद्ध है परन्तु कालान्तर में विद्वानो के अन्वेषणो ने इस धारणा को असत्य सिद्ध कर दिया। उन्होने दोनो के बीच Mesolithic Age (मध्य पाषाण काल) का पता लगाया है। यह शब्द भी यूनानी Mesos (मध्य) से निर्मित हुआ है। विद्वानो का मत है कि मध्य पाषाण-काल, पूर्व पाषाण-काल और उत्तर पाषाण-काल के बीच में एक कडी है जो पाषाणकालीन सभ्यता के क्रमिक, सुसम्बद्ध और अविच्छिन्न विकास की सूचना देती है। इस मध्य पाषाण-काल को वास्तव में सक्रान्ति-काल समझना चाहिए। इसमें न तो पूर्व विशेषताओ का पूर्णतया परित्याग दिखाई देता है और न नवीन विशेषताओं का पूर्णतया ग्रहण ही।

पूर्व-पाषाण-काल (Palaeolithic Age)—भारतवर्ष मे पाषाण-कालीन सभ्यता का अनुसधान १८६३ ईसवी से प्रारम्भ हुआ। इसी वर्ष भारतीय जिऑलाजिकल सर्वे के विद्वान् ब्रूस फूट ने मद्रास के समीप पल्लावरम् नामक स्थान पर पूर्व पाषाण-काल का एक पाषाणनिर्मित औजार उपलब्ध किया। इसके पश्चात् किंग, ओल्डहम, हैकेट, वीन और ब्लैन्फर्ड आदि विद्वानों ने भी बहुसख्यक पूर्व पाषाणकालीन

सामग्री प्राप्त की। १९वी शताब्दी के समाप्त होते-होते मद्रास, बम्बई, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बिहार और उत्तरप्रदेश के प्रान्तो तथा मैसूर, हैदराबाद, ढेनकानल, तलचेर और रीवाँ की रियासतों में अनेक पूर्वपाषाणकालीन स्थल (Sites) ढूँढ निकाले गए। इसी प्रकार उत्तर-पश्चिमीय भारत में भी अनुसधान हुए। सबसे अधिक उल्लेखनीय अनुसधान था येलकैम्ब्रिज एक्सपेडिशन का जो डि टेरा चार्डिन और पेटर्सन नामक विद्वानो के निरीक्षण में सन् १९३२ में हुआ था।

इन समस्त अनुसधानो के परिणामस्वरूप बहुसख्या में विविध पूर्वपाषाणकालीन सामग्री उपलब्ध हुई। प्राप्ति-स्थानो से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन मनुष्य या तो नदियो के कगारो और झीलो के तटो पर रहता था या पर्वत-कन्दराओ में जिओलाजी और पुरातत्व के विद्वानो के मतानुसार भारतवर्ष में पूर्वपाषाणकालीन सभ्यता का उदय एव विकास प्लाइस्टोसीन (Pleistocene)[१] काल मे (लगभग ५००,००० वर्ष पूर्व) हुआ था। प्लाइस्टोसीन काल सहस्रो वर्षो तक रहा था। इस काल में उत्तरी और दक्षिणी भारतवर्ष मे महत्वपूर्ण जलवायु-परिवर्तन होते रहे। उत्तरी भारतवर्ष में यह काल निम्न प्रकार से विभक्त किया जा सकता है[२]—

(१) प्रथम ग्लेशिअल काल अथवा हिम-काल। (Ice Age)
(२) प्रथम इण्टर ग्लेशिअल काल (Inter-Glacial Age)।
(३) द्वितीय ग्लेशिअल काल अथवा हिम-काल।
(४) द्वितीय इण्टर-ग्लेशिअल काल।
(५) तृतीय ग्लेशिअल काल अथवा हिम-काल।
(६) तृतीय इण्टर-ग्लेशिअल काल।
(७) चतुर्थ ग्लेशिअल काल अथवा हिम-काल।

ग्लेशिअल काल (हिम-काल) अत्यधिक शीतप्रधान परन्तु इण्टर ग्लेशिअलकाल अपेक्षाकृत कुछ उष्ण थे।

इसी प्रकार का जलवायु-क्रम दक्षिणी भारत मे भी था। प्रसिद्ध विद्वान् बर्किट के मतानुसार जहाँ उत्तरी भारतवर्ष मे ग्लेशिअल काल और इण्टर ग्लेशिअल काल का क्रम चल रहा था वहाँ दक्षिणी भारतवर्ष मे प्लूविअल (Pulvial) काल और इण्टर-प्लूविअल (Inter-pluvial) काल का। प्लूविअल काल अत्यधिक आर्द्र परन्तु इण्टर-प्लूविअल काल अपेक्षाकृत कुछ शुष्क थे। अस्तु, इस प्रकार की जिओलाजी की पृष्ठभूमि पर ही भारत मे पूर्वपाषाणकालीन सभ्यता का उदय हुआ था। स्टुअर्ट पिगट नामक विद्वान् ने उत्तरी और दक्षिणी भारत के बहुसख्यक पाषाण-उपकरणो की परीक्षा करके यह निष्कर्ष निकाला था कि टेकनीक के आधार पर उनमे स्थूलतया

१ जिओलाजी के अनुसार वह निकटतम काल जिसमें 'आधुनिक' जीवन विकसित हुआ, Cainozoic के नाम से सम्बोधित होता है। Cainozoic के पुनः दो भाग है—Tertiary और Quaternary। Pleistocene इसी Quaternary का ही एक उप-विभाग है। इस काल में ही सर्वप्रथम वास्तविक बैल हाथी और घोड़े का प्रादुर्भाव हुआ।

२ जिसप्रकार आज उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुव तथा उनके निकटतस्थ प्रदेश हिमाच्छादित रहते हैं उसी प्रकार अति प्राचीन काल में संसार के निचले भाग भी हिमाच्छादित थे। वह प्राचीनतम काल हिम-काल (Ice-Age) के नाम से सम्बोधित होता है। इस हिम-काल के वे भाग जो अत्यधिक शीतप्रधान थे ग्लेशिअल काल और वे भाग जो अपक्षाकृत कुछ उष्ण थे इण्टर-ग्लेशिअल काल के नाम से प्रख्यात है।

विभेद स्थापित किया जा सकता है। उत्तरी भारतवर्ष में प्रमुखतया 'फ्लेक प्रणाली' (Flake tradition) का प्रयोग हुआ था जिसके अन्तर्गत पाषाण-खण्ड से छोटे-छोटे चप्पे छील लिये जाते थे और उन्ही चप्पो की सहायता से हथियार और औजार निर्मित किए जाते थे। इसके विरुद्ध दक्षिणी भारतवर्ष में प्रमुखतया 'कोर प्रणाली' (core tradition) प्रचलित थी। इसके अन्तर्गत किसी पाषण-खण्ड को ही छील कर अभीष्ट हथियार अथवा औजार की आकृति दे दी जाती थी। इसमे मूल पाषाण-खण्ड से निकले हुए चप्पो से नही वरन् स्वय मूल पाषाण-खण्ड से ही उपकरण निर्मित होते थे। पिगट महोदय का मत है कि भारतवर्ष के पाषाण-काल और विश्व के अनेक खण्डो के पाषाण-कालो मे सम्बन्ध और साम्य स्थापित किया जा सकता है। उत्तरी भारतवर्ष की भाँति मध्य योरप में भी ग्लेशिअल और इण्टर ग्लेशियल कालो का क्रम चल रहा था। यही क्रम कदाचित् उत्तरी ब्रह्मा और उत्तरी चीन में भी चल रहा था। इसी प्रकार दक्षिणी भारतवर्ष के समान पूर्वी एशिया और अफ्रीका मे प्लूविअल और इण्टर-प्लूविअल का क्रम चल रहा होगा। ऐसी समान परिस्थिति में समान सभ्यताओ का उद्भव होना सम्भव था। यही कारण है कि भारतवर्ष के समान पूर्वी एशिया, मध्य एव पश्चिमी योरप तथा अफ्रीका के अनेक स्थानो में भी फ्लेक और कोर प्रणाली पर निर्मित अनेक पाषाण-उपकरण मिले हैं।[1]

अभाग्यवश भारतवर्ष में पूर्वपाषाणकालीन मनुष्य का कोई भी अस्थि-पजर अथवा उसका भाग उपलब्ध नही हो सका है। परन्तु विश्व के अन्य प्रदेशो में उपलब्ध मानव-अस्थि-पजरो के आधार पर पिगट महोदय ने पाषाण-कालीन मानव के विषय में अपना मत प्रकाशित किया है। वे प्रारभिक मानव को (Palaeoanthropic) मूल का बताते है। इनके कपाल और जबडे बहुत-कुछ बन्दरो के समान थे। जावा और chou-kou-tien मे प्राप्त प्राचीनतम मानव अस्थिपजर इसी कोटि मे रक्खे जा सकते है। भारतवर्ष की फ्लेक प्रणाली कदाचित् इसी वर्ग ने प्रारभ की थी। पाषाण-कालीन मनुष्यो से दूसरे वर्ग को Neoanthropic की सज्ञा दी गई है। इसका अस्थि-पजर बहुत-कुछ आधुनिक मानव के सदृश था। योरप तथा भारतवष में 'कोर प्रणाली' का उद्भव इसी वर्ग ने किया था।

अधिकाश विद्वानो का मत है कि भारतवर्ष मे प्राचीनतम मानव का उदय सर्वप्रथम पजाब की सिन्धु और झेलम सरिताओ के बीच के प्रदेश में हुआ था। शिवालिक पहाड़ियों के अधोभाग, उत्तरी-पश्चिमीय पजाब, पूँच और जम्मू मे प्राप्त सामग्री पर यह मत आधारित है। पजाब में मानव का यह उद्भव प्रथम इण्टर-ग्लेशिअल काल के अन्त में (लगभग ५००,००० वर्ष पूर्व) बताया जाता है। परन्तु बर्किट प्रभृति कुछ विद्वानों की धारणा है कि आदि-मानव का उदय दक्षिणी भारत मे हुआ था। वही से प्रथम ग्लेशिअल काल (हिम-काल) के पश्चात् वह पजाब की ओर गया था। इस प्राक्कथन के पश्चात् अब हम विभिन्न प्रदेशो में हुए अन्वेषणो एव उनके निष्कर्षों के ऊपर अधिक विस्तार के साथ विचार करेंगे।

सम्पूर्ण १९वी शताब्दी और २०वी शताब्दी के प्रारभिक भाग में अनुसन्धान-

१ 'Tool-making traditions in the Palaeolithic Age have transcontinental distributions: What happens at one end of the area seems to be happening more or less simultaneously at the other.'—Stuart Piggott.

कर्त्ताओं की कार्य-प्रणाली अधिक विकसित और वैज्ञानिक न थी। वे एकमात्र हथियारों और औजारों की रूपरेखा के आधार पर ही कोटि-विभाजन करते थे। परन्तु कालान्तर में जिओलाजी के प्रयोग ने उनके कार्य को अधिक वैज्ञानिकता प्रदान की। सर्वप्रथम बर्किट ने मद्रास प्रान्त में कृष्णा सरिता की घाटी में उपलब्ध पाषाण-सामग्री का विश्लेषण जिओलाजी और टाइपोलजी दोनों के आधार पर किया। सर्वप्रथम उसी ने प्लूवियल और इंटर-प्लूवियल क्रम की ७ अवस्थाओं का प्रतिपादन किया जो डि टेरा के प्लूवियल और इंटर-ग्लेशिअल क्रम की ७ अवस्थाओं के ही समान हैं। उपलब्ध सामग्री को ४ कोटियों में विभाजित कर बर्किट महोदय ने पूर्वपाषाण काल की ४ सभ्यताओं का पता लगाया है :—

(१) द्विधारा उपकरण (Biface Industry)—कालक्रम के अनुसार ये उपकरण सबसे अधिक प्राचीन हैं। इनमें Hard-axe और cleaver आते हैं जिनमें दोनों ओर धार है। इस प्रकार के उपकरण अफ्रीका में भी उपलब्ध हुए हैं। प्रसिद्ध विद्वान पेटर्सन के अनुसार उत्तरी भारतवर्ष के सोहन फ्लेक उपकरणों और दक्षिणी भारतवर्ष के इन द्विधारा उपकरणों में भी अत्यधिक समता है।

(२) फ्लेक उपकरण—इनमें विभिन्न पाषाणों—Quartzite, Sandstone और Chalcedony—द्वारा निर्मित सुन्दर Hand-axe आती है।

(३) ब्लेड और ब्यूरिन उपकरण—ये उपकरण प्रायः पतले है।

(४) माइक्रोलिथिक उपकरण—इनमें Scrapers, Crescents, Triangles और Cores आदि सम्मिलित हैं। ये प्रायः Agate और Quartzite द्वारा निर्मित हैं। इस वर्ग के हथियारों और औजारों की संख्या सबसे अधिक है। दक्षिणी अफ्रीका में भी इस प्रकार की सामग्री मिली है। उस सामग्री को वहाँ 'विल्टन सभ्यता' के अन्तर्गत रक्खा गया है।

बर्किट महोदय ने मद्रास के उत्तर में कुर्नूल में उपलब्ध Laterite को सबसे अधिक प्राचीन बताया। उनका मत है कि यह पाषाण आदि मानव के उदय-काल से भी अधिक प्राचीन है।

दक्षिण भारतवर्ष में कोर्तलयार घाटी भी पूर्वपाषाणकालीन सामग्री के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ वदमदुराय नामक स्थान पर बहुसंख्यक पूर्वपाषाणकालीन उपकरण उपलब्ध हुए हैं। उत्खनन में यहाँ की पृथ्वी की तीन सतहें स्पष्टतया दृष्टिगत होती हैं।

(१) सबसे नीचे की सतह 'बोल्डर' पाषाणों से निर्मित है। 'बोल्डर' वे पाषाण-खण्ड हैं जिन्हें जल-धारायें किसी विशाल पर्वत अथवा शिला से तोड़ कर बहा लाती हैं। ऐसे ही पाषाण-खण्डों के समूह को अंग्रेजी में Boulder Conglomerate कहते है। इस सतह में अनेक हथियार और औजार प्राप्त हुए है। ये काल-क्रम और रूप-रेखा के आधार पर दो भागों में विभक्त किए गए है—

(१) पूर्वकालीन—इस कोटि के अन्तर्गत भारी और लम्बे Hand-axe और Core आते हैं। इन पर निम्नकोटि की फ्लेकिंग के चिन्ह हैं। Hand-axe अबेविलियन कोटि[1] (Abbevillian type) की है। कालातिपात के कारण

१ उत्तरी फ्रांस में सोम सरिता के तट पर Abbeville नामक स्थान है। यहां पर कुछ अति प्राचीन अति अविकसित Hand-axe उपलब्ध हुई थीं। ये काफी भारी होती थीं और पाषाण के हथौड़ों की सहायता से निर्मित होती थीं। पूर्वपाषाणकाल की यह प्राचीनतम इण्डस्ट्री है और

सम्पूर्ण सामग्री सफेद रंग की काई से ढकी हुई थी।

(२) उत्तरकालीन—इस कोटि के अन्तर्गत भी Hand-axe और Core आते है। परन्तु ये कला की दृष्टि से अधिक सुन्दर हैं। फ्लेंकिग सुव्यवस्थित है। इन पर Step flaking का भी प्रादुर्भाव दृष्टिगत होता है। Hand-axe अचूलियन कोटि[1] (Acheulean type) की है।

(२) बीच की सतह लाल रग के पाषाणो (Laterite) द्वारा निर्मित है। इसमें भी अनेक हथियार और औजार प्राप्त हुए है। कला की दृष्टि से ये प्रथम कोटि के हथियारों और औजारो की अपेक्षा अधिक सुन्दर है। इनकी फ्लेकिंग भी अधिक सुव्यवस्थित है। Hand-axe पहले की अपेक्षा अधिक चौडी और सुडौल हैं। ये मध्य अचीलिअन कोटि की हैं और लाल रग के पाषाण के सम्पर्क से लाल हो गई है। इन पर (Step-flaking) भी अधिक है।

(३) सब से ऊपर की सतह कगारो (Terraces) की है। इसमे उपलब्ध सामग्री में न पाषाणो का लाल रंग है और न अधिक काई। Hand-axe उत्तर-अचीलिअन कोटि की है। उनमें लकड़ी की टेक्नीक (Wood technique) का प्रयोग किया गया है। इस सतह मे कुछ cleaver और Core भी मिले हैं । इन पर पतली फ्लेकिग है।

कोर्तलयार घाटी मे दूसरा पूर्वपाषाणकालीन महत्व का स्थान अत्तिरम्पक्कम है। यहाँ भी बहुसख्या मे पूर्वपाषाणकालीन सामग्री उपलब्ध हुई है। अधिकाश सामग्री वदमदुराय की सबसे ऊपरी सतह पर उपलब्ध सामग्री की समकालीन है। Hand-axe उत्तर-अचीलियनकोटि की है और उसी कोटि की योरप तथा अफ्रीका की Hand-axe के समान है। कुछ Hand-axe विशेषतया पतली, चौडी, लम्बी और फ्लेक द्वारा निर्मित हैं। Hand-axe के साथ-साथ Cleaver भी बहु-सख्या में मिले है। ये विविध रूप के हैं और अफ्रीका के वाल-प्रणाली (Vaal Technique) पर निर्मित Cleaver से मिलते-जुलते है। कुछ कोर और फ्लेक पर उत्तरी भारतवर्ष की सोहन-प्रणाली दृष्टिगत होती है।

मद्रास मे उपलब्ध कुल्हाडी-प्रधान यह समस्त सामग्री एक विशिष्ट परम्परा के अतर्गत निर्मित हुई थी। इस सामग्री मे आश्चर्यजनक एकरूपता है। श्री बी० डी० कृष्णास्वामी ने इस निर्माण-प्रणाली को 'मद्रास इण्डस्ट्री' (Madras Industry) की सज्ञा दी है। इसका उद्भव पूर्वपाषाणकाल के प्रथम चरण (Lower Palaeolithic Age) मे हुआ था।

दक्षिणी भारत की भाँति उत्तर-पश्चिमीय भारत मे भी महत्वपूर्ण अनुसधान हुए। पाषाणकालीन अनुसधान के लिए पश्चिमी पजाब की सोहन नदी की घाटी का महत्व बहुत पहले ज्ञात हो चुका। १८८० में ही यहाँ पर कुछ पाषाणकालीन सामग्री

प्राप्ति-स्थान के नाम पर Abbevillian कोटि में रक्खी जाती है। जिस प्रणाली पर यह निर्मित होती थी उसे Claction कहते हैं।

१ उत्तरी फ्रांस में सोम सरिता के तट पर सेण्ट अचील नामक एक स्थान है। यहां पूर्व-पाषाणकाल की कुछ Hand-axe उपलब्ध हुई है। प्राप्ति-स्थान के आधार पर ये अचीलिअन कोटि की कही जाती है। वे अबेविलियन कोटि से अधिक विकसित हैं और लकड़ी के हथौड़े की सहायता से निर्मित होती थीं। इसकी फ्लेंकिग अधिक सुव्यवस्थित है।

प्राप्त हो चुकी थी। १९३० में टाड नामक विद्वान् ने इसी घाटी में पिण्डी घेब में अनेक पूर्वपाषाणकालीन उपकरण एकत्र किए। परन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण अनुसंधान-कार्य १९३५ में डि टेरा के नेतृत्व में येल-कैम्ब्रिज एक्सपेडिशन ने किया। इसके अनुसंधान का क्षेत्र काश्मीर घाटी से लेकर साल्ट रेंज तक था। इसमें काश्मीर की घाटी, हिमालय पर्वत का एक ढाल, पंजाब का पोतवर क्षेत्र, पीर पंजल और साल्ट रेंज की श्रेणियाँ सम्मिलित थीं। डि टेरा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य था इस सम्पूर्ण क्षेत्र में ग्लेशियल और इंटर-ग्लेशियल के क्रम के आधार पर पाषाण-कालीन सभ्यता का विश्लेषण। हम इसी क्रम के आधार पर उसके अनुसंधानों का अध्ययन करेंगे।

(१) **प्रथम इन्टर-ग्लेशिअल काल—प्री-सोहन-इन्डस्ट्री**—प्रथम इंटर-ग्लेशिअल काल के पश्चात् द्वितीय ग्लेशिअल काल (हिम-काल) आता है। इसी की एक प्राथमिक अवस्था को विद्वान् बोल्डर काग्लोमरेट (Boulder Conglomerate) का काल कहते है। डि टेरा ने इसी बोल्डर कॉंग्लोमरेट में ही मानव की सर्वप्रथम पाषाण-सामग्री उपलब्ध की है। परन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि इस क्षेत्र मे मानव का उदय पूर्वगामी काल अर्थात् प्रथम इटर-ग्लेशिअल काल के अन्त के साथ ही हो गया होगा। बोल्डर कॉंग्लोमरेट मे उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री (Quartzite) नामक पाषाण द्वारा निर्मित है। प्रत्येक वस्तु मे फ्लेकिंग पाषाण के एक ही ओर हुई है। फ्लेक काफी बड़े परन्तु अत्यधिक घिसे हुए है। इन उपकरणो का आकार प्राय: कोन (Cone) के सदृश है। इनके नीचे का भाग चौडा है और ऊपर का भाग नुकीला होता गया है। दीर्घ प्रयोग अथवा कालातिपात के कारण इनके किनारे टूट-फूट गए हैं। पंजाब में सोहन सरिता के तटो पर बहुत-सी पाषाणसामग्री उपलब्ध हुई है जो 'सोहन इडस्ट्री' (Sohan Industry) के अन्तर्गत परिगणित होती है। उपर्युक्त बोल्डर कॉंग्लोमरेट में प्राप्त पाषाण-सामग्री सोहन इडस्ट्री से नितान्त पृथक् और पूर्वकालीन है। अत इसे 'प्री-सोहन इडस्ट्री' (Pre-Sohan Industry) के अन्तर्गत रक्खा गया है।

(२) **द्वितीय इंटर-ग्लेशिअल काल—पूर्वकालीन सोहन इंडस्ट्री**—नदियों, झीलों और समुद्रों का पानी जब घट जाता है या दिशा परिवर्तित कर देता है तो किनारो पर ढालू जमीन निकल आती है। इसी ढालू जमीन को अग्रेजी मे कगार (Terrace) कहते है। द्वितीय इंटर ग्लेशिअल काल की जलवायु काफी शुष्क थी। इस समय पंजाब की सोहन नदी की घाटी मे अनेक कगार बन गए। प्रथम कगार (टिरेस' T_1) में अनेक पाषाण निर्मित उपकरण मिले हैं। इन्हें 'पूर्वकालीन सोहन इडस्ट्री' के अन्तर्गत रखा गया है। ये तीन कोटियो—अ, ब और स—में विभक्त किए गए हैं। अ कोटि के उपकरण कालातिपात के कारण अत्यधिक टूट फूट और घिस गए हैं। इन पर गहरी काई और मिट्टी जम गई है। ब कोटि के उपकरणो पर भी गहरी काई और मिट्टी जमी मिलती है, परन्तु वे टूटे-फूटे नही है। स कोटि के उपकरणों पर काई और मिट्टी कम है। वे अपेक्षाकृत नवीन प्रतीत होते हैं। समस्त उपकरण दो प्रकार के हैं—'पेबल' उपकरण (Pebble tools) और 'फ्लेक' उपकरण (Flake tools)। 'पेबल' उपकरण टूटे पत्थरो के टुकडो से अथवा पत्थरों के टुकड़ों को तोड कर बनाए गए थे। आकृति मे ये चौडे (Flat) हैं अथवा गोल। फ्लेक उपकरण दो प्रकार के है। कुछ बडे हैं जिनकी सतह बिल्कुल सरल और सादी है। यह सतह विशाल कोण बनाती है। इनके अतिरिक्त कुछ छोटे फ्लेक उपकरण भी हैं जिनकी मूल सतह पर फ्लेकिंग के कारण अनेक सतहे बन जाती

है। इन सतहों के कोण छोटे हैं। समस्त उपकरणो को देखने से प्रतीत होता है कि तत्कालीन मानव की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर और सुन्दर उपकरण बनाने की हो रही थी।

इन उपकरणों के साथ-साथ कुछ Hand-axe भी उपलब्ध हुई हैं जो दक्षिणी भारतवर्ष की मद्रास-इडस्ट्री के सदृश और समकालीन हैं। इनकी तुलना अबेविलिओ-अचूलियन प्रणाली के अन्तर्गत निर्मित योरपीय पाषाण-सामग्री के साथ की जा सकती है।

(३) तृतीय ग्लेशिअल काल अथवा हिम-काल और उत्तरकालीन सोहन इंडस्ट्री—पूर्वकालीन सोहन इडस्ट्री के पश्चात् तृतीय ग्लेशिअल अथवा हिम-काल का प्रादुर्भाव होता है। इस काल की पाषाण-सामग्री सोहन घाटी की द्वितीय कगार(T_2) में उपलब्ध हुई है। इस सामग्री को उत्तरकालीन सोहन इण्डस्ट्री के अन्तर्गत रखा गया है। सम्पूर्ण सामग्री दो भागो—अ और ब—में विभक्त की गई है।

अ—इसके अन्तर्गत वह सामग्री आती है जो पोतवर की धरा के ऊपर एकत्र हुए पाषाण-कणों और सिकता-राशि में पाई गई हैं। इसके 'पेबल' उपकरण अनेक प्रकार के हैं और पूर्वकालीन सोहन-प्रणाली के अन्तर्गत निर्मित उपकरणों की अपेक्षा अधिक सुन्दर और व्यवस्थित है। उनके साथ पाये गए 'फ्लेक' उपकरणो की संख्या पहले की अपेक्षा अधिक है। फ्लेकिंग लेवलायजिअन है।

ब—कालान्तर में आँधी-तूफान, जल-प्रवाह और ग्लेशिएशन के परिणामस्वरूप पोतवर की धरा के ऊपर पुंजीभूत पाषाण-कणो और सिकता-राशि के ऊपर पुनः मिट्टी, बालू इत्यादि की मोटी सतह जम गई। 'ब' कोटि के अन्तर्गत परिगणित उत्तरकालीन सोहन-सामग्री इसी ऊपरी सतह से निकली है। इसके उपकरण अति नवीन और अक्षत हैं। परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि इस पाषाण-सामग्री मे अबेविलिओ-अचीलिअन प्रणाली (मद्रास प्रणाली) की कोई भी Hand-axe उपलब्ध नही होती। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि उस समय तक दुधारा इण्डस्ट्री (Biface Industry) का विलोप हो गया था, परन्तु सोहन इण्डस्ट्री विकसित अवस्था में थी। इस 'ब' कोटि की सामग्री में फ्लेक और ब्लेड (Blade) की सख्या अधिक है। लगभग आधे फ्लेको के ऊपर अनेक छोटी-छोटी सतहें है। फ्लेकिंग उत्तरकालीन लेवलायजिअन है।

(४) तृतीय इण्टर-ग्लेशिअल काल-चौन्त्र इण्डस्ट्री (Chauntra Industry)—उत्तरकालीन सोहन इण्डस्ट्री अति विशाल क्षेत्र में विस्तृत थी। इसका विस्तार शिमला-प्रदेश तक था। इसके कुछ उदाहरण सोहन सरिता पर स्थित चौन्त्र नामक स्थान में भी उपलब्ध हुए हैं। पुरातत्व की दृष्टि से चौन्त्र स्थान अति महत्वपूर्ण है। यहाँ पर जो सामग्री उपलब्ध हुई है उसमें मद्रास इण्डस्ट्री के आधार पर निर्मित Hand-axe भी हैं, सोहन इण्डस्ट्री के 'पेबल' और 'फ्लेक' उपकरण भी हैं और प्री-सोहन इण्डस्ट्री के कुछ फ्लेक भी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थान पर दक्षिणी और उत्तरी भारत की परम्परायें साथ-साथ पनप रही थी। इसी आधार पर डि टेरा का मत है कि आदि मानव पंजाब में दक्षिणी भारत से आया था। वह अपने साथ Hand-axe Industry भी लेता आया था। श्री एच० डी० संकालिया के मतानुसार यह चौन्त्र इण्डस्ट्री ततीय इण्टर-ग्लेशिअल काल की है।

(५) चतुर्थ ग्लेशिअल काल अथवा हिम-काल—इवाल्व्ड सोहन इन्डस्ट्री—१९३२ में टाड महोदय ने पिण्डी घेब से कुछ मील दूर थोक पठार में कुछ पाषाण-सामग्री उपलब्ध की। इसके 'पेबल' उपकरण और कोर सोहन-प्रणाली पर निर्मित

प्रतीत होते हैं। इसकी फ्लेकिंग भी उत्तरकालीन सोहन 'ब' के सदृश है। प्रसिद्ध विद्वान् पेटर्सन का मत है कि यह इण्डस्ट्री काफी बाद की है—या तो यह उत्तरकालीन सोहन इण्डस्ट्री की समकालीन है या उसके भी बाद की। मोविअस ने इस इण्डस्ट्री को 'Evolved Sohan' की संज्ञा दी है। श्री सकालिया के मतानुसार इसका उद्भव चतुर्थ ग्लेशिअल काल अथवा हिम-काल में हुआ था।

येल-कैम्ब्रिज एक्सपेडिशन ने पंजाब की भाँति काश्मीर में भी अनुसन्धान किये और महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले। काश्मीर में ग्लेशिएशन के समय ग्लेशियर के दोनों तटों पर शिलाखण्डों, लघु पाषाणों और बालुका-समूह की एक लम्बी पंक्ति बन गई थी। अंग्रेजी में इसे मोरेन (Moraine) कहते हैं। कालान्तर में इस मोरेन के ऊपर Deposit संग्रहीत हो गई जिसे Lower Karewa के नाम से पुकारते हैं। उत्खनन में इस करेवा में प्राचीनतम हाथी के अवशेष मिले हैं। यह प्लाइस्टोसीन काल के प्रारम्भिक चरण का है। इसी प्रकार और काल के हाथी के अवशेष पश्चिमी पंजाब के उपर्युक्त पोतवर-प्रदेश में उपलब्ध हुए हैं। काश्मीर के इस Lower Karewa में जो पाषाण-उपकरण उपलब्ध हुए हैं वे भी पोतवर-प्रदेश में प्राप्त पूर्वोल्लिखित उपकरणों के ही समान हैं। ये उपकरण भी 'प्री-सोहन इण्डस्ट्री' के अन्तर्गत रखे गए हैं।

कालान्तर में Lower Karewa के ऊपर पुनः Deposit एकत्र होती गई और इस प्रकार Upper Karewa का प्रादुर्भाव हुआ। यह प्रादुर्भाव द्वितीय इण्टर-ग्लेशिअल काल में हुआ था। इस करेवा में उपलब्ध सामग्री पूर्वकालीन सोहन इण्डस्ट्री के समान है।

मध्य भारत और पश्चिमी भारत में जो अनुसन्धान-कार्य हुए हैं वे भी अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इसी प्रदेश के द्वारा उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत की इण्डस्ट्रीज (Industries) का सम्पर्क-सम्बन्ध स्थापित हुआ था। इसी प्रदेश के द्वारा पूर्व-पाषाण काल में उत्तरी और दक्षिणी भारत के मनुष्यों के विचारों का आदान-प्रदान हुआ था।

१९४१-४२ में सर्वश्री एच० डी० सकालिया, बी० डी० कृष्णस्वामी और बी० के० चटर्जी ने गुजरात में साबरमती की घाटी में अनुसंधान-कार्य किया। पृथ्वी की निम्नतर सतह में जो पाषाण-सामग्री निकली उसमें सोहन-प्रणाली के 'पेबल' उपकरण भी थे और मद्रास-प्रणाली की Hand-axe भी।

इसी प्रकार पोतवर-प्रदेश में अनुसंधान करने के पश्चात् डि टेरा ने नर्मदा की घाटी में भी अनुसंधान-कार्य किया। उत्खनन में तीन प्रकार की सतह निकली—(१) निम्न (Lower) (२) ऊर्ध्व (Upper) और (३) काटन-स्वायल (Cotton-Soil)। (१) निम्न सतह से प्री-सोहन प्रणाली के फ्लेक और अबेविलिअो-अचीलिअन प्रणाली के Hand-axe और Cleaver निकले हैं। यह सामग्री मिट्टी की मोटी तह से ढकी थी। इस तह में पूर्वकालीन सोहन-प्रणाली के फ्लेक और उत्तर-कालीन अचीलियन प्रणाली के Hand-axe उपलब्ध हुए हैं। (२) ऊर्ध्व सतह से अचीलिअन प्रणाली के दुधारा उपकरण (Bifaces) और उत्तर-कालीन सोहन प्रणाली के 'पेबल' उपकरण, फ्लेक और कोर निकले हैं। (३) काटन-स्वायल से विभिन्न पत्थरों के छोटे-छोटे ब्लेड और स्क्रेपर निकले हैं। ये Microlithic Industry के अन्तर्गत आते हैं। सोहन घाटी की पाँचवी कगार (T_5) में भी इस प्रकार की सामग्री निकली है। इसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

मिर्जापुर के रीहन्द-प्रदेश में भी प्रारम्भिक अनुसधान हुए हैं। वहाँ भी सोहन-प्रणाली के 'पेबल' उपकरण और मद्रास-प्रणाली की Hand-axe उपलब्ध हुए हैं।

इसी प्रकार गंगा-यमुना के दुग्राब को छोड़ कर देश के अन्य विभिन्न स्थानो पर भी अनुसधान हुए हैं। परन्तु अभाग्यवश अभी तक हमें आदि मानव का कोई अस्थि-पजर उपलब्ध नही हो सका है जिसके आधार पर हम उसकी जाति के विषय में अनुमान कर सकें। इसी प्रकार आदि-मानव का आदि निवास-स्थान भी अभी तक सन्देहपूर्ण ही है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वपाषाणकालीन मनुष्य प्रथम इण्टर-ग्लेशिअल काल से लेकर तृतीय इण्टर-ग्लेशिअल काल तक पजाब में निवास करता रहा। इस प्रदेश में मानव के हथियार और औजार तो मिले हैं, परन्तु अभाग्यवश उसके अस्थि-पंजर उपलब्ध नही हुए हैं। अत हम यह निश्चित रूप से नही कह सकते कि इस प्रदेश के निवासी एक ही जाति के थे अथवा विभिन्न जातियों के।

सारांश—उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वपाषाण काल की सर्व प्रथम सामग्री मध्य-प्लाइस्टोसीन-काल मे द्वितीय ग्लेशिएशन के अन्त में आविर्भूत हुई। यह सामग्री बोल्डर कॉंग्लेमरेट में उपलब्ध प्री-सोहन की फ्लेक इण्डस्ट्री है। यह पूर्वी ऐंग्लिका के पूर्व-पाषाण-काल के प्रारम्भिक चरण की क्लैक्टोनिश प्रणाली के अन्तर्गत निर्मित पाषाण-सामग्री के सदृश है। उत्तर-पश्चिमीय भारत की सोहन-इण्डस्ट्री कालान्तर की है—द्वितीय इण्टर-ग्लेशिअल काल की। इसके फ्लेक, कोर और पेबल चॉपर क्लैक्टोलेवलायजियन[1] प्रणाली के समान है। इसी प्रकार दक्षिण भारत की मद्रास इण्डस्ट्री का उद्भव द्वितीय इण्टर-प्लूवियल काल में हुआ। यह इण्डस्ट्री योरप और अफ्रीका की Coup-de-poing इण्डस्ट्री के समान है। पूर्व-कालीन सोहन इण्डस्ट्री और मद्रास इण्डस्ट्री पूर्व-पाषाण-काल के प्रारम्भिक चरण में आती है। इनका विकास द्वितीय इण्टर-ग्लेशिअल और तृतीय ग्लेशिअल काल मे होता रहा। पूर्व-पाषाण-काल के उत्तर-चरण में चतुर्थ ग्लेशिएशन के समय भारत-वर्ष में अधिकाश मे फ्लेक इण्डस्ट्री की प्रचुरता रही। इसके साथ-साथ एक नवीन इण्डस्ट्री—ब्लेड इण्डस्ट्री—का भी प्रादुर्भाव हुआ। टाड ने बम्बई के अपर ग्रेवेल मे और बर्किट ने कार्नूल-प्रदेश मे इसके उदाहरण पाये है। यह इण्डस्ट्री योरप की ऑरिग्नेशिअन इण्डस्ट्री[2] के समान है।

विदेशों से समता—उत्तरी-पश्चिमी भारत की पूर्वकालीन सोहन-प्रणाली के अन्तर्गत निर्मित फ्लेक-उपकरण योरप की क्लैक्टोनियन प्रणाली के उपकरणों के समान है। परन्तु अमेरिकन पुरातत्ववेत्ता मोविअस का मत है कि समान होते हुए भी उन्हें एक स्वतन्त्र वर्ग के अन्तर्गत रखना चाहिए। इस मे अपेक्षाकृत समानरूपा भारत की सोहन-प्रणाली, ब्रह्मा की एन्याथियन प्रणाली, (Anyathian Technique) मलाया की तम्पेनियन प्रणाली, जावा की पजितेनियन प्रणाली और कदाचित् चीन की 'चाउ काउ तेन-प्रणाली' आती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि Palaeoanthropic मूल

१ क्लैक्टन प्रणाली की अपेक्षा लेवलाय प्रणाली अधिक विकसित है। इस प्रणाली का प्रादुर्भाव अचोलियन कोटि में दृष्टिगत हुआ था। इसमें फ्लेकिंग अधिक उत्कृष्ट है। इस प्रकार की फ्लेकिंग सर्वप्रथम पेरिस के समीप लेवलाय नामक एक स्थान पर दृष्टिगत होती है। अनेक प्रदेशों में क्लैक्टन और लेवलाय प्रणालियां साथ-साथ चलती रहीं।

२ यह पूर्व-पाषाण-काल के उत्तरार्ध की सर्वप्रथम इण्डस्ट्री है। इसमें ब्लेड और ब्यूरिन (Burin) की प्रधानता है।

के मानव ने मध्य प्लाइस्टोसीन काल में (४००,००० से २००,००० वर्ष पूर्व) समस्त पूर्वी एशिया में अपनी 'चॉपर उपकरण' की विशिष्ट प्रणाली का प्रयोग किया था। परन्तु गगा-यमुना दुआब में 'चापर-उपकरण' का कोई भी उदाहरण उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए उत्तरी-पश्चिमी भारत से लेकर चीन तक के विशाल प्रदेश में इस प्रणाली के सक्रम प्रसार को स्वीकार करने में बाधा पड़ती है। परन्तु सम्भव है कि भविष्य के अनुसंधान इस बीच के रिक्त स्थान में इस प्रणाली के कतिपय उदाहरण ढूंढ निकालें। पुन, श्री वी० डी० कृष्णस्वामी का मत है कि पूर्वकालीन सोहन-प्रणाली और ब्रह्मा-मलाया-जावा की प्रणाली में कुछ असमता भी है। सोहन-प्रणाली पर क्लैक्टो-लेवलायजिअन प्रभाव है और उसके अन्तर्गत बने कुछ 'कोर उपकरण' अति सुव्यवस्थित हैं। इसके विरुद्ध ब्रह्मा-मलाया-जावा की पाषाण-सामग्री अपेक्षाकृत भद्दी है और उस पर क्लैक्टो-लेवलायजिअन प्रभाव का अभाव है। ऐसी परिस्थिति में दोनों को एक मूल का कहना न्यायसगत प्रतीत नहीं होता। एक पश्चिमी एशियाई मूल की प्रणाली है और दूसरी पूर्वी एशियाई मूल की।

दक्षिणी भारत की मद्रास-इण्डस्ट्री दक्षिणी अफ्रीका की स्टैलेनबॉश-इण्डस्ट्री (Stellenbosch Industry) के समान है। पिगट महोदय के मतानुसार यह फ्रास और दक्षिणी इग्लैण्ड में भी दृष्टिगत होती है। अत कोर-उपकरण प्रणाली के अन्तर्गत पश्चिमी योरप, दक्षिणी अफ्रीका, अरब और दक्षिणी भारत आते हैं। पिगट महोदय का मत है कि कदाचित् यह इण्डस्ट्री Homo Sapiens की देन थी।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, पूर्व-पाषाण काल के उत्तर-चरण में एक नवीन इण्डस्ट्री—ब्लेड इण्डस्ट्री—का आविर्भाव हुआ। यह दक्षिणी अफ्रीका की विल्टन इण्डस्ट्री से मिलती-जुलती है। योरप में भी इसके उदाहरण मिले हैं। प्रोफेसर गेराड का मत है कि इस नवीन इण्डस्ट्री का केन्द्र-विन्दु फिलिस्तीन था।

पूर्वपाषाणकालीन जीवन—पूर्व पाषाणकालीन मानव का जीवन नितान्त बर्बर था। वह पूर्णतया प्रकृतिजीवी था। कृषिकर्म से अपरिचित होने के कारण वह सहज रूप मे उत्पन्न होने वाले फल-फूल और कन्द-मूल, आखेट में मारे गए पशुओ तथा सरिताओं और झीलो के तटो पर पकडी गई मछलियों से ही अपनी उदरपूर्ति करता था। अनेक स्थलो पर मनुष्य की पाषाण-सामग्री और पशुओ के अस्थिपजर साथ-साथ मिले हैं। इससे ज्ञात होता है कि पूर्व-पाषाणकालीन मनुष्य अनेक पशुओं से परिचित था, यद्यपि अभी तक उसने उन्हें पालने की कला का विकास न किया था। कृषि-कर्म और पशु-पालन के अभाव में मनुष्य की खाद्य-सामग्री सीमित हो गई थी। परन्तु उस समय जनसंख्या अल्प थी। अत प्रकृतिजन्य फल-फूल और कन्द-मूल तथा मानवोपलब्ध मास-मछली ही उसके जीवन-यापन हेतु पर्याप्त होते होंगे। अधिकांश विद्वानों का मत है कि भारतवर्ष के पूर्व-पाषाणकाल में अग्नि का आविष्कार न हुआ था। ऐसी स्थिति में तत्कालीन मनुष्य कच्चा माँसादि ही खाता था।

उस समय मनुष्य का सर्वोपरि प्रश्न आत्म-रक्षा रहा होगा। वह प्रकृति के प्रकोपों—महाशीत, अतिवृष्टि, आप्लावन और झझावात आदि—से सत्रस्त था। उसके चतुर्दिक वन्य पशु भी कम भयावह न थे। अत इनसे आत्म-रक्षा के हेतु उसे निवास-स्थान की आवश्यकता थी। सर्वप्रथम उसने सघन वृक्षों को चुना होगा। परन्तु कालान्तर में उन्हें अधिक उपयुक्त न देख कर उसने सरिताओ के कगारों और पर्वतों की कदराओ की शरण ली। उत्खनन में अधिकाश पाषाण-सामग्री इन्ही स्थानो के समीप उपलब्ध हुई है। पूर्व-पाषाणकालीन मनुष्य वास्तुकला और मृण्भाण्ड-

कला दोनों से ही अपरिचित था। उसकी सृजनात्मकता का प्रदर्शन उसके हथियारों और औजारों के रूप से ही हुआ है।

पूर्व-पाषाणकालीन मानव का एक प्रमुख उद्यम आखेट था। यह अनेक प्रकार से लाभकर सिद्ध हुआ। हिंसक पशुओं की हत्या से मानव-जीवन अधिक सुरक्षित हो गया। मारे गए पशुओ के मांस के रूप में मनुष्य को एक अतिरिक्त खाद्य मिल गया। इससे उसकी जीवन-यात्रा और अधिक सुगम हो गई। मृत पशुओं के चर्म से वस्त्र और अस्थि से हथियार-औजार बन सकते थे। पुनः परोक्ष रूप से आखेट शारीरिक प्रौढता और मनोविनोद के लिए भी उपयोगी सिद्ध हुआ होगा।

आखेट के लिये मनुष्य को घातक साधनों की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। अत. सर्वप्रथम उसने वृक्षों की शाखाओं और लट्ठों का ही प्रयोग किया होगा। इनसे छोटे-छोटे निर्बल पशुओं का तो आखेट हो सकता था, परन्तु बड़े और अधिक भयंकर पशुओं के आखेट के लिए मनुष्य को अन्य किसी सुदृढ और पैने साधन की आवश्यकता प्रतीत हुई। आदि मानव ने जब चतुर्दिक दृष्टिपात किया तो उसे सबसे अधिक उपयोगी पाषाण ही जान पडा। पहले उसने सहज पाषाण-खण्डों से आखेट करना प्रारम्भ किया, परन्तु कालान्तर में उनके हथियारों और औजारो से। आयुध का आविष्कार पूर्व-पाषाण काल की एक क्रान्तिकारी घटना है। प्रयुक्त पाषाण अनेक प्रकार के थे। इनमें Quartzite, Sandstone, Laterite, Chalcedony और Gneiss विशेष उल्लेखनीय हैं। इन पाषाणों से उनसे अनेक आकार-प्रकार के हथियार-औजार बनाये जिनमें प्रमुख हैं Hand-axe, Chopper, Scraper, Cleaver; Core, Disc, Blade आदि। महत्वपूर्ण प्रणालियों में उत्तरी भारत की फ्लेक-प्रधान सोहन-प्रणाली और दक्षिणी भारत की कुल्हाडी-प्रधान मद्रास-प्रणाली विशेष प्रसिद्ध है। पाषाण-सामग्री पर चिपिंग और फ्लेकिंग दोनों मिलती हैं। प्रारम्भ की सामग्री बडी, बेडौल और अव्यवस्थित है। परन्तु कालान्तर में वह लघुरूप, सुडौल और सुव्यवस्थित होने लगी। अपने विविध औजारों और हथियारों की सहायता से पूर्व-पाषाणकालीन मनुष्य तोड़ने, काटने, छीलने, खोदने, जोडने आदि के कार्य करता था। इन्ही की सहायता से वह पशुओ को मारता, उनकी खाल और हड्डी निकालता और उनसे अपने वस्त्र और आयुध इत्यादि बनाता था। पूर्व-पाषाण-कालीन मनुष्य ने लकडी और हड्डी के भी हथियार-औजार बनाये थे। परन्तु कालातिपात के कारण वे नष्ट हो गए।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि अति बर्बर अवस्था में होने के कारण पूर्व पाषाणकालीन मनुष्य में किसी प्रकार की धार्मिक अथवा लोकोत्तर भावना का उदय न हुआ था। उत्खनन में कोई भी ऐसी सामग्री उपलब्ध नहीं हुई है जिससे उसके देवी-देवता अथवा उपासना-विधि का अनुमान हो सके। वह शवो को धरा पर इतस्तत· फेंक देता था जहाँ उन्हें पशु-पक्षी खा जाते थे अथवा कालातिपात से वे स्वयं मिट्टी में मिल जाते थे। उत्खनन में न तो मृतकों की समाधियाँ मिली हैं और न उनके दाह के अवशेष ही।

परन्तु फिर भी हम अनुमान कर सकते हैं कि पूर्व-पाषाण काल की कठोर स्थली में सभ्यता के अनेक अंगों का ईषत् एवं परोक्षरूप में बीजारोपण हो चुका था। विशाल एव भयंकर पशुओं का आखेट एक व्यक्ति के द्वारा नही वरन् अनेक व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्न के द्वारा होता था। उनके इस सामूहिक कार्य ने उनके मस्तिष्क में संगठन और सहयोग की भावना को जन्म दिया होगा। उनके खाद्य-अखाद्य कन्द-मूल-फलों के अभिज्ञान में ही आधुनिक वनस्पति-विज्ञान के बीज विद्यमान थे। तत्कालीन मनुष्य

ने आखेट के निमित्त पशु-स्वभाव का अध्ययन किया होगा, सुगमतापूर्वक उनकी हत्या करने के हेतु उपयुक्त कालो और ऋतुओ का ज्ञान प्राप्त किया होगा। इसी प्रारंभिक ज्ञान से कालान्तर में पशु-विज्ञान, जलवायु-विज्ञान और ज्योतिर्विज्ञान की निस्सृति हुई। संसार के विभिन्न देशों के पूर्व-पाषाणकाल पर विचार करते हुए गार्डन चाइल्ड का उल्लेख कि 'वन-परपरा मे वनस्पति-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान और जलवायु-विज्ञान का मूल अन्तर्निहित है'' भारतीय पूर्व-पाषाण-काल के लिये भी सत्य है।

मध्य-पाषाण-काल Mesolithic Age–प्रारभ मे विद्वानो का मत था कि भारतवर्ष के पूर्व-पाषाण-काल और उत्तर-पाषाण काल के बीच एक अन्तराल (gap) है। परन्तु अब यह मत निराधार सिद्ध हो गया है। बर्किट और टाड ने कार्नूल और बम्बई में जो उत्खनन किये उनमें उन्हे पूर्णपाषाणकाल से ले कर उत्तर-पाषाण काल तक के सक्रम एव सम्बद्ध इतिहास के प्रमाण मिले। डि टेरा का भी मत था कि पोतवर की Post-glacial silt मे पूर्व-पाषाण काल और उत्तरपाषाण-काल के बीच की सामग्री अन्तरित है। दोनो कालो के बीच का यह मध्यान्तर माइक्रो-लिथिक और प्रोटोनिग्रोलिथिक काल है। यह काल पूर्व-पाषाण-काल और उत्तर-पाषाण-काल के बीच मे होने के कारण सक्रान्ति-काल था। ग्लेशिअल काल के पश्चात् योरप और उत्तरी तथा पूर्वी अफ्रीका की जलवायु पहले से कही अधिक उष्ण और शुष्क हो गई और वहाँ एक नवीन जाति का उदय हुआ। इसके उपलब्ध अस्थि-पजरों को देखने से प्रतीत होता है कि यह हेमिटिक नेग्रायड (Hemitic Negroid) मूल की थी जो प्रोटोइजिप्शियन से मिलती-जुलती है। भारतवर्ष में भी इस जाति के कतिपय अस्थि-पजर उपलब्ध हुए है। अस्तु, नवीन जाति और नवीन जलवायु के साथ-साथ एक नवीन इण्डस्ट्री का उदय हुआ। यह इण्डस्ट्री पूर्वपाषाण काल के उत्तर-चरण की ब्लेड-इडस्ट्री पर ही आधारित थी। परन्तु इसने लघुरूपता का प्रश्रय लिया। परिणामत इस नवीन इडस्ट्री के अन्तर्गत बने उपकरण उत्तरोत्तर अति लघु होते गए। अन्त मे कुछ उपकरण तो एक इच से भी छोटे होने लगे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये उपकरण (½" से १½") तक होते थे और किसी हैण्डल में फिट कर के प्रयुक्त किये जाते थे। अत्यधिक छोटे होने के कारण ये उपकरण 'माइ-क्रोलिथ' (Microlith) के नाम से पुकारे जाते है। उपलब्ध 'माइक्रोलिथ' उप-करणो मे ब्लेड (Blade), प्वाइन्ट (Point), स्क्रेपर (Scraper), इन्ग्रेवर (Engraver), ट्रायगल (Triangle), क्रेसेण्ट (Crescent), ट्रैपेज (Tra-peze) विशेष उल्लेखनीय हैं। ये सब जैस्पर, फ्लिण्ट, एगेट, चर्ट, कार्नेलिअन, क्वार्ट्ज और कल्सेडोनी आदि से बनाये जाते थे। भारतवर्ष में ये जमालगढी (पेशावर जिला) से लेकर सायेरपुरम् (तिन्नेवेली जिला) और कराची से सराय कला (बिहार) तक पाये गए हैं। परन्तु इन माइक्रोलिथ के काल के विषय में विद्वानों में बडा मतभेद है। ब्रूस फूट महोदय इन्हें उत्तर-पाषाण-काल के साथ सम्बद्ध करते है। डिटेरा, टाड, गार्डन आदि विद्वान् उन्हें प्रोटो-निग्रोलिथिक कोटि में रखते हैं। अनेक स्थलों पर ऐसा देखा गया है कि ये माइक्रोलिथ वास्तव में मध्यपाषाणकाल के नहीं हैं। मध्यपाषाणकाल के पश्चात् भी उनकी परंपरा चलती रही। उनका प्रयोग ऐतिहासिक काल तक में मिलता है। यही कारण है कि उनके काल-निर्धारण में बडी कठिनाई पडती है।

१ 'In jungle lore lie the roots of botany and zoology, of astronomy and climatology...'—*Gordon Child.*

ब्रह्मगिरि (मैसूर) में रोप्पा गाँव के पास उत्खनन किया गया। इसमें पृथ्वी के नीचे ५ फीट की गहराई पर दोनों माइक्रोलिथ और नियोलिथ प्राप्त हुए, परन्तु और नीचे ८ फीट की गहराई पर एक एकमात्र माइक्रोलिथ ही मिले। इससे सिद्ध हो गया कि नियोलिथ की अपेक्षा माइक्रोलिथ अधिक प्राचीन है। अतः उनका काल पूर्व-पाषाण काल और उत्तरपाषाणकाल के बीच में ही होना चाहिए। दूसरे शब्दों में वे मध्यपाषाण-काल की सामग्री हैं।

इसी प्रकार पंजाब मे उचाली मे माइक्रोलिथ उत्तर-पाषाणकालीन मृण्पात्रों और Homo Sapiens के अवशेषों के साथ मिले है। ये माइक्रोलिथ उत्तर-पाषाण-काल के पूर्व के, अतः मध्य-पाषाण काल के, माने गए है।

१९४१-४५ में संकालिया और उनके सहयोगियों ने गुजरात की साबरमती घाटी में अनुसन्धान किए और हिरपुरा, लाघनाज, अखज और वलासन आदि स्थानों पर माइक्रोलिथ प्राप्त किए। इनके साथ कोई भी धातु-उपकरण प्राप्त नही हुआ है। निम्नतर स्तर पर मृण्पात्रों का भी अभाव है। पुन माइक्रोलिथ के साथ जो पशुओ की हड्डियाँ और मानव-अस्थि-पंजर मिले है वे अत्यधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं। इन सब विशेषताओ के कारण ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये माइक्रोलिथ कदाचित् पाषाण-कालीन होगे।

कामियाडे (Cammiade) महोदय ने कार्नूल मे बहुसख्यक माइक्रोलिथ प्राप्त किए जो बाँदा और विन्ध्य-प्रदेश मे प्राप्त लूनेट, ब्लेड, कोर आदि माइक्रोलिथ के समान है। इसी प्रकार गोदावरी-प्रदेश में भी माइक्रोलिथ उपलब्ध हुए है। परन्तु इनके साथ प्रोटो-हिस्टारिक काल तक की सामग्री प्राप्त हुई है। इससे प्रतीत होता है कि ये माइक्रोलिथ बहुत बाद के हैं, मध्य-पाषाण-काल के नही।

इसी प्रकार पश्चिमी भारत में टाड और मध्यभारत में गार्डन के अनुसन्धानों ने सिद्ध कर दिया है कि इन प्रदेशो मे माइक्रोलिथिक इन्डस्ट्री उत्तर-पाषाण काल से लेकर बौद्ध काल के पूर्व तक पनपती रही।

समस्त साक्ष्यो से यही प्रतीत होता है कि भारतवर्ष मे माइक्रोलिथ का उदय मध्य-पाषाण-काल मे हुआ था, यद्यपि उसकी परस्परा ऐतिहासिक काल तक चलती रही। यह नितान्त सम्भव ही है। परम्परायें जल्दी नष्ट नहीं होतीं। आस्ट्रेलिया के कुछ आदिम निवासी आज तक माइक्रोलिथिक उपकरणों का प्रयोग करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष मे माइक्रोलिथिक इण्डस्ट्री पश्चिम से आई थी। यदि इसका प्रादुर्भाव पूर्व में हुआ होता तो इसके उदाहरण ब्रह्मा मे अवश्य मिलते परन्तु डाक्टर मोविअस के सुविस्तृत अनुसन्धानों के पश्चात् भी वहाँ मध्य-पाषाण-कालीन सस्कृति का कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नही हुआ है।

प्रोटो-निओलिथिक इण्डस्ट्री—पूर्व-पाषाण-काल और उत्तर-पाषाण-काल में माइक्रोलिथिक इण्डस्ट्री के साथ साथ एक अन्य इण्डस्ट्री का आविर्भाव हुआ। यह इण्डस्ट्री माइक्रोलिथिक इण्डस्ट्री से नितान्त भिन्न थी। यह फ्लिण्ट (Flint) इण्डस्ट्री थी। इसकी विशेषता है पतले और लम्बे ब्लेड तथा पतले कोन के आकार के कोर। यह इण्डस्ट्री कालान्तर मे मोहेनजोदड़ों की पाषाण-इण्डस्ट्री से मिलती-जुलती है। इसी समता के आधार पर कतिपय विद्वानो का मत है कि यह भारतीय इण्डस्ट्री थी, विदेशीय नही। इसी से कालान्तर में सिन्धु-सभ्यता विकसित हुई। अतः सिन्धु-सभ्यता का मूल स्रोत भी भारतीय है।

सर्वप्रथम १८६६ में इवान्स महोदय ने इस इण्डस्ट्री के कुछ उपकरण सिन्ध में

सक्कर और रोहरी में प्राप्त हुए। कालान्तर में क्रुमण्ड और पेटसन ने इसका अध्ययन किया और १९३१ में ये दोनों विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह इण्डस्ट्री पूर्व-पाषाण-काल के पश्चात् की और उत्तर-पाषाण-काल के पूर्व की है। इसे प्रोटो-निओ-लिथिक इण्डस्ट्री का नाम दिया गया।

समस्त साक्ष्यों पर विचार करने से प्रकट होता है कि भारतवर्ष में मध्य-पाषाण-कालीन मनुष्य छोटी-छोटी पहाड़ियों पर रहता था। वह कृषि-कर्म और पशु-पालन से अनभिज्ञ था। उसका प्रमुख उद्यम आखेट था। वह गाय, बैल, भैंस, भेड, बकरी, घोडा, मछली और घड़ियाल आदि से परिचित था। आखेट में मारे गए पशु-पक्षियों के मास और झीलों तथा सरिताओ के तटों पर पकड़ी गई मछलियों के अति-रिक्त वन में सहज उत्पन्न फल-फूल और कद-मूल भी उसकी उदर-पूर्ति के साधन थे। उत्खनन में उसके अनेक प्रकार के हथियार-औजार मिले हैं। इनमें कोर, प्वाइण्ट, स्क्रेपर, आयताकार और ऊर्ध्व चन्द्राकार ब्लेड विशेष उल्लेखनीय है।

मध्य-पाषाण-काल मे मनुष्य ने शवो को दफनाना प्रारम्भ कर दिया था। उत्खनन में अनेक अस्थि-पजर मिले हैं। इनमें कुछ के शीर्ष पूर्व की ओर और कुछ के पश्चिम की ओर हैं। शीर्ष के समीप अनेक प्रकार की पाषाण-सामग्री भी उपलब्ध हुई थी। ऐसा अनुमान किया जाता है कि तत्कालीन मनुष्य ने दफन से संबन्ध रखने वाली किसी अनुष्ठानमूलक विशिष्ट प्रणाली का विकास कर लिया हो। बहुत सभव है कि उसमें लोकोत्तर जीवन के विषय में भी किसी प्रकार की भावना का बीजारोपण हुआ हो। आश्चर्य की बात है कि अनेक स्थलों पर मानव-अस्थि-पजर के समीप कुत्ते के अस्थि-पंजर भी उपलब्ध हुए हैं। सभव है कि मनुष्य के इस प्राचीन सहचर का कुछ धार्मिक महत्व भी रहा हो।

उत्तर-पाषाण-काल (Neolithic Age)—मध्य-पाषाण-काल के पश्चात् पाषाण-काल का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु यह कहना कठिन है कि यह प्रादुर्भाव कब और किस जाति के द्वारा हुआ। फिर भी इतना निश्चित है कि उत्तर-पाषाण-कालीन सभ्यता भारतवर्ष के विशाल भू-प्रदेश में व्याप्त थी। तत्कालीन सामग्री काश्मीर, सिन्धु-प्रदेश, उत्तर-प्रदेश, बिहार, बगाल, आसाम, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर और प्रमुखतया बेलरी जिले में उपलब्ध हुई है। जिस प्रकार पूर्व-पाषाणकालीन सामग्री प्रमुखतया क्वार्ट्जाइट की है और मध्य पाषाण कालीन सामग्री कैल्सेडोनी, जैस्पर, चर्ट और ब्लडस्टोन की, उसी प्रकार उत्तर-पाषाण कालीन सामग्री प्रधानत: गहरे हरे ट्रप की है। पुन, पूर्वकालीन पाषाण-सामग्री के ऊपर पालिश नहीं मिलती। इसका आविर्भाव सर्वप्रथम उत्तर-पाषाण-काल में हुआ। उत्तर-पाषाणकालीन हथियारों औजारो पर या तो संपूर्ण भाग पर पालिश है या कम से कम ऊपर और नीचे के सिरों पर। इस समय के जो हथियार और औजार मिले हैं उनमें सेल्ट, कुल्हाड़ी, एड्ज, स्लिक-स्टोन, फैब्रिकेटर, पालिशर और हैमर-स्टोन विशेष उल्लेखनीय हैं।

१८६० में सर्वप्रथम Le Mesurier ने उत्तर-प्रदेश की टोंस सरिता की घाटी में उत्तरपाषाणकालीन पालिशदार सेल्ट प्राप्त किए थे। १८७२ में विलियम फ्रेजर ने बेलारी को दक्षिण भारत की उत्तरपाषाणकालीन सभ्यता का केन्द्र-बिन्दु घोषित किया। तत्पश्चात् फूट ने भी बहुसख्यक उत्तर-पाषाण-कालीन सामग्री का संग्रह किया। १९३६ में पेटर्सन महोदय ने इस संग्रह का अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि इस सग्रह की सामग्री अति प्राचीन है। इस संग्रह के कुछ हथियार और औजार सक्खर और रोहरी के प्रोटो-निओलिथिक हथियारों और औजारो के समान हैं। अतः स्पष्ट है कि फूट की संग्रहीत सामग्री ठीक प्रोटो-निओथिक काल की अनुगामिनी है।

१९४७ में ब्रह्मगिरि के उत्खनन में "Polished Stone Axe Culture' का पता लगा। इस नवीन सभ्यता के अन्तर्गत मनुष्य माइक्रोलिथ और उत्तर-पाषाण कालीन सेल्ट के साथ-साथ ताँबे और काँसे की सामग्री भी प्रयोग करते थे। इसके साथ-साथ हाथ से बने हुए कुछ मृणपात्र भी मिले हैं। इस सभ्यता के प्रतिपादक शवों को दफनाते थे। सम्पूर्ण सभ्यता का काल १००० ई० पू० से ले कर ३०० ई० पू० तक है। इसमें उत्तर-पाषाणकालीन सभ्यता के भी अंश हैं।

बेलारी के उत्तर-पूर्व में ३ मील की दूरी पर सगनकल्लु नामक स्थान है। यहाँ पर श्री बी० सुब्बाराव ने अनुसधान किए। उन्होंने अति प्राचीन माइक्रोलिथ के साथ उत्तर-पाषाणकाल की सामग्री प्राप्त की। इस सामग्री के साथ कोई भी मृण्भाण्ड उपलब्ध नही हुआ है। इन बातो से स्पष्ट होता है कि यहाँ की उत्तर-पाषाणकालीन सामग्री अति प्राचीन है।

काश्मीर में बर्जहोम नामक स्थान पर डि टेरा ने उत्खनन-कार्य किया था। यहाँ उन्होने उत्तर-पाषाणकालीन सेल्ट हड्डी के ऑल (Awl) और पाकभाण्ड पाए।

आसाम, छोटा नागपुर तथा उत्तरी-पूर्वी भारत के अनेक स्थानों पर ब्रह्मा-प्रणाली पर निर्मित Shouldered celts प्राप्त हुए है। इस प्रकार सेल्ट दक्षिणी भारत में गोदावरी-प्रदेश तक प्राप्त हुए है। इनसे ऐसा अनुमान होता है कि दक्षिणी-पूर्वी एशिया एक विशिष्ट प्रकार की उत्तर-पाषाणकालीन सभ्यता का केन्द्र था। वही से यह सभ्यता भारतवर्ष मे भी प्रसारित हुई होगी।

भारतवर्ष के अधिकाश मे उत्तर-पाषाणकाल के पश्चात् क्रमश ताम्र-काल अथवा कांस्य तथा लौह-काल का उदय हुआ। परन्तु ब्रह्मगिरि ऐसे कुछ प्रदेशो मे उत्तर-पाषाणकालीन सभ्यता ऐतिहासिक काल तक चलती रही।

उत्तर-पाषाणकालीन जीवन—उत्तर-पाषाण-काल की जलवायु पूर्वकालीन जलवायु की अपेक्षा मानव-जीवन के लिए अधिक उपयुक्त थी। न उसमें अत्यधिक शीत था और न अत्यधिक आर्द्रता। ऐसी जलवायु मे जनसख्या भी बढी और मनुष्य की बुद्धि भी। दीर्घकालीन परिश्रम और अनुभव से लाभ उठा कर उत्तर-पाषाणकालीन मनुष्य ने कुछ ऐसे आर्थिक और वैज्ञानिक परिवर्तन किए जिन्होने सभ्यता की गति को द्रुततर कर दिया।

(१) कृषिकर्म—उत्तर-पाषाण-काल के पूर्व मनुष्य प्रकृतिजीवी था। सहज रूप मे उत्पन्न होने वाले कन्द-मूल-फल ही उसकी उदर-पूर्ति के साधन थे। अपने परिश्रम से वह जिस खाद्य को उत्पन्न करता था वह था एक मात्र पशु-मास और मछली। कृषि-कर्म से अपरिचित होने के कारण वह किसी प्रकार का भी अन्न उत्पन्न न कर पाता था। परन्तु उत्तर-पाषाण-काल में परिस्थिति परिवर्तित हो गई। मानव ने कृषि-कर्म का ज्ञान प्राप्त किया। उसका यह आविष्कार आज भले ही साधारण प्रतीत होता हो, परन्तु उस प्राचीन युग में यह महान् क्रान्तिवाहक था। यह कृषि हल की सहायता से होती थी अथवा नही, इन विषय में हम निश्चित रूप से कुछ नही कह सकते। हो सकता है कि काष्ठ-निर्मित होने के कारण तत्कालीन हल नष्ट हो गए हो और अब उनके अस्तित्व का प्रमाण न उपलब्ध हो सके। परन्तु अनाज काटने के लिए उसने हँसिए का आविष्कार अवश्य कर लिया था। अनाज पीसने के लिए दो विशाल पाषाण-खडों को चक्की के रूप मे प्रयुक्त किया जाता था। मनुष्य की उत्पादित सामग्री में गेहूँ, जौ, बाजरा, मक्का, शाक, फल और कपास रहे होगे।

कृषि-कर्म का प्रादुर्भाव विश्व के अधिकांश में उत्तरपाषाण-काल में ही हुआ था। अतः विद्वानों को स्वाभावतः यह जिज्ञासा हुई कि यह कृषि-कर्म सर्वप्रथम किस देश में उदित हुआ। इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। पेरी महोदय के मतानुसार यह आविष्कार मिस्र की देन है। इसके विरुद्ध अनेक विद्वान् फिलिस्तीन को यह श्रेय देते हैं। रूस के प्रसिद्ध विद्वान् वैविलोव का मत है कि कृषि-कर्म का सर्वप्रथम उदय अफगानिस्तान अथवा उत्तरी-पश्चिमी चीन में हुआ। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि यह आविष्कार मानव-सभ्यता की प्रगति के लिए अति अनिवार्य आवश्यकता थी। भारतवर्ष में कृषि-कर्म का ज्ञान विदेश से आया अथवा स्वदेशीय अनुभव और प्रयास का प्रतिफल था, इसके विषय मे निश्चित रूप से कुछ कहा नही जा सकता। बहुत सम्भव है कि ससार के विभिन्न देशों ने स्वतन्त्ररूप से कृषि-कर्म का ज्ञान प्राप्त किया हो।

(२) पशु-पालन—मनुष्य को पशु-पालन तो आदि-काल से ही था, परन्तु पशु-पालन सर्वप्रथम उत्तर-पाषाण-काल मे ही प्रारम्भ हुआ। विद्वानो का मत है कि उत्तर-पाषाण-काल मे जलवायु पहले की अपेक्षा अत्यधिक शुष्क हो गई। अत. वनो का विलोप होने लगा। परिणाम यह हुआ कि पशु वनों से निकल-निकल कर उदरपूर्ति के लिए मानव-आवासो के समीप रहने लगे। मानव और पशु के इस सन्निकट निवास ने ही पशु-पालन को जन्म दिया। विद्वानों के मतानुसार यह पशु-पालन सर्वप्रथम उस प्रदेश मे प्रारम्भ हुआ जो पामीर, काकेशस और रूसी तुर्किस्तान से घिरा हुआ है। तदुपरान्त यह अन्य देशो मे भी प्रादुर्भूत हुआ। भारतवर्ष में उत्तर-पाषाण-काल के पालित पशुओ मे गाय, बैल, भैंस, भेड, बकरी, कुत्ता और घोडा विशेष उल्लेखनीय हैं।

(३) मृण्भाण्ड-कला—पूर्व-पाषाण-काल और मध्य पाषाण-काल की सामग्री पाषाण निर्मित है। मनुष्यों ने मिट्टी की सहायता से भाण्ड और पात्र बनाना न सीखा था। परन्तु उत्तर-पाषाण-काल मे मृण्डभाण्ड-कला का उदय हुआ। इस आविष्कार का जन्म प्रथमोलिखत दोनो आविष्कारो का परिणाम था। कृषि-कर्म और पशु-पालन ने मनुष्य की खाद्य-सामग्री की अभूतपूर्व वृद्धि कर दी। अत मनुष्यों को उसे सुरक्षित और सग्रहीत करने की भी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। परन्तु यह कैसे सम्भव हो? शीघ्र ही मनुष्य ने उपाय ढूंढ निकाला। उसने मिट्टी की सहायता से भाण्डों का आविष्कार किया। कदाचित् मनुष्य का यह सर्वप्रथम रासायनिक आविष्कार था। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि उत्तर पाषाण-कालीन मृण्भाण्ड-कला हाथ की कला थी। समस्त भाण्ड और पात्र हाथ से ही निर्मित होते थे। अभी तक कुम्हार के चाक का उदय न हुआ था।

(४) वस्त्र-निर्माण—पूर्वकालीन मनुष्य अपने शरीर को वृक्षो के पत्तों और छालो तथा पशुओ के चर्म से ढकता था। परन्तु उत्तर-कालीन मनुष्य ने वस्त्र-निर्माण करना भी सीख लिया था। उसने पौधो के रेशो तथा पशुओ के बालो को वस्त्र के रूप में बुनना प्रारम्भ कर दिया। कुछ विद्वानो का मत है कि इस काल मे कपास की कृषि भी प्रारम्भ हो गई थी। अनुमानत अनेक उत्तर-पाषाण-कालीन देशों के मनुष्यों की भाँति उत्तर-पाषाण-कालीन भारतीय भी पेड-पौधो के द्रवों और धातु-रसो की सहायता से अपने वस्त्र रँगता होगा। कदाचित् कताई, बुनाई और रगाई के मृदुल एव कलात्मक कार्य उत्तर-पाषाण-कालीन नारी ही प्रमुखतया करती होगी।

(५) गृह-निर्माण—पूर्व-पाषाण-काल और मध्य-पाषाण-काल मे मनुष्य या तो सरिताओ के खुले हुए कगारों पर रहता था या पर्वतों की कन्दराओ में। परन्तु

उत्तर-पाषाण-काल मे 'गृह-निर्माण' का उदय हुआ। कदाचित् मानव-निर्मित सर्व-प्रथम 'गृह' पशु-चर्म का तम्बू रहा होगा। कालान्तर में मनुष्य ने झोपड़ियो का निर्माण सीखा। ये झोपड़ियाँ लट्ठे, नरकुल, घास-फूस और मिट्टी की सहायता से बनती थी।

(६) *अस्त्र-शस्त्र तथा अन्यान्य उपकरण*—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, पूर्वकालो की मानव-सामग्री सम्पूर्णतया पाषाण की है। इस पर 'चिपिंग' और 'फ्लेकिंग' प्रणालियाँ ही दृष्टिगत होती हैं। उत्तर-पाषाण-काल में इन प्रणालियो के साथ-साथ 'पालिशिंग-प्रणाली' का भी उपयोग किया गया। मनुष्य ने पाषाण-सामग्री को रगड-रगड कर चिकना और चमकदार बनाना प्रारम्भ कर दिया। इससे उसमे अपूर्व सुन्दरता आ गई। वह पहले की अपेक्षा अधिक सुडौल, सुव्यवस्थित, बहुसख्यक और बहुरूप भी होने लगी। मनुष्य ने पाषाण के साथ-साथ हड्डी और लकड़ी की सहायता से भी अपने औजार-हथियार और अन्यान्य वस्तुओ का निर्माण करना प्रारम्भ किया। उत्तर-पाषाण-काल की सामग्री एकमात्र समयोपयोगी अथवा आखेटोपयोगी ही नही थी, उससे जीवन के अन्यान्य कार्य भी सम्पन्न होते थे।

(७) *अग्नि-प्रयोग*—उत्तर-पाषाण-काल मे निश्चित रूप से अग्नि का प्रयोग होने लगा था। इस आविष्कार ने मनुष्य के जीवन को और भी अधिक सुरक्षित और सुविधाजनक बना दिया। अग्नि की सहायता से वह अपना भोजन पकाने लगा। उत्खनन मे अनेक पाक-भाण्ड उपलब्ध हुए हैं। अग्नि की सहायता से मनुष्य शीत-काल में उष्णता उत्पन्न करता और अन्धकार में उसे जला कर हिंसक पशुओ को भगाता था।

सभ्यता की प्रगति—इन समस्त आविष्कारो और परिवर्तनों ने मानव-सभ्यता की प्रगति को अपूर्व बल दिया। मानव-जीवन उत्तरोत्तर विकसित और जटिल होने लगा। कृषि-कर्म, पशु-पालन, गृह-निर्माण आदि में मनुष्य को अन्यायन्य मनुष्यो के सहयोग की भी आवश्यकता पडती थी। अत अब उसका जीवन एकाकी न रहा। पारस्परिक सहयोग और सहकारिता के आधार पर वह अपने चतुर्दिक अन्यान्य मनुष्यो के निकटातिनिकट आने लगा। यही से 'समाज' का अकुरण हुआ। सह-कारिता की उपयोगिता को समझ कर मनुष्य अब एक दूसरे के समीप रहने लगे। इस प्रकार 'ग्राम' का आविर्भाव हुआ। मनुष्य का जीवन सामूहिक हो गया। इस इस सामूहिक जीवन में 'कार्य-विभाजन' की सस्था का भी उदय हुआ होगा। अब प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक कार्य न करता था। जीवन के समस्त कार्यों को उसने आपस में विभक्त कर लिया था। उनके 'समाज' में कोई कृषिकर था तो कोई पाषाणकार, कोई कुम्भकार था तो कोई अस्थिकार। कोई रगरेज का कार्य करता था तो कोई जुलाहे का। इस प्रकार उत्तर-पाषाण-काल में व्यावसायिक विशेषीकरण (Industrial specialisation) का बीजारोपण हुआ। अन्न-सचय और पशु-पालन ने मनुष्य के मस्तिष्क में 'सम्पत्ति' की भावना उत्पन्न की। सम्पत्ति के साथ धनाढ्यता और निर्धनता आई। इस आर्थिक असमता ने युद्ध को और युद्ध ने सरक्षण-योजनाओं, शस्त्रागार की स्थापना, दुर्गीकरण, सामूहिक सगठन आदि को जन्म दिया। संरक्षा, कार्य-विभाजन एव आर्थिक कारणों ने 'समाज' को वर्गों और परिवारों में विभक्त कर दिया होगा। वर्ग के संचालन के हेतु 'नेता' और परिवार के सचालन के हेतु 'पिता' की महत्ता स्वीकृत हुई होगी।

कृषिकर्म और आखेट बहुत कुछ ऋतुओं पर अवलम्बित हैं। अतः उत्तर-पाषाण-कालीन मनुष्य ने ऋतुओं, जलवायु, आकाश-मंडल आदि का अध्ययन किया होगा।

इसी से जलवायु-विज्ञान, खगोल-शास्त्र और ज्योतिर्विद्या की निस्सृति हुई। अन्न, शाक, और फल के उत्पादन ने शनैः शनैः कृषि-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र और फल-शास्त्र का अंकुरण किया।

उत्तर-पाषाण-काल की उदीयमाना जटिलता को देखते हुए यह अनुमान स्वाभाविक प्रतीत होता है कि तत्कालीन मनुष्य में 'धर्म', 'अन्धविश्वास' और 'अनुष्ठान' की भावनाओं का भी बीजारोपण हो गया होगा। जीवन की आधि-व्याधि और नश्वरता ने मनुष्य की कल्पना को जाग्रत किया होगा और यदि उसने दानवी और दैवी शक्तियों की कल्पना की हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। सम्भव है कि मृत्यु के पश्चात् इहलोकोत्तर जीवन के विषय में भी उसकी कुछ धारणा रही हो। ये सब कोरे अनुमान ही हैं, परन्तु हैं नितान्त स्वाभाविक। उत्खनन से इतना निश्चित हो गया है कि उत्तर-पाषाण-काल में मनुष्य शवों को दफनाता भी था और जलाता भी था। शवों के ऊपर निर्मित समाधियाँ (मकबरे) भी उपलब्ध हुई हैं। कुछ शव-भस्म-पात्र भी मिले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शवों के साथ मनुष्य के हथियार-औजार भी रख दिए जाते थे। ये सब किसी अनुष्ठानमूलक अन्तिम क्रिया-कर्म का आभास देते हैं।

इस प्रकार उत्तर-पाषाण-काल में वर्तमान सभ्यता के अनेक अंग बीजरूप में विद्यमान थे। प्रमुखतया लेख, धातु और राज्य का आविर्भाव होना ही शेष था।

ताम्र तथा कांस्य काल—Copper and Bronze Age—पाषाण-काल के पश्चात् धातु-युग का प्रादुर्भाव हुआ। धातुओं में ताँबा सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ। ताँबा पाषाण की अपेक्षा कहीं अधिक उपयुक्त एवं सुविधाजनक था। यह पाषाण की अपेक्षा अधिक सुदृढ़, सुडौल, सुन्दर और चिकना था। पाषाण के नितान्त प्रतिकूल ताँबा टूट जाने पर पुनः जोड़ा भी जा सकता था। पिघला कर साँचे के सहारे इसे छोटे-बड़े किसी भी रूप में परिवर्तित किया जा सकता था। इसकी छोटी-बड़ी चादरें बनाई जा सकती थीं और उनके खण्ड किए जा सकते थे। अपनी इन विशेषताओं के कारण ताँबा शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया। इस धातु का प्रयोग तत्कालीन मनुष्य के बौद्धिक विकास की सूचना देता है। ताँबे की खानों को ढूँढने, उसे खोद कर निकालने और दूरस्थ प्रदेशों में भेजने, उच्चतामापी भट्टियों में उसे पिघलाने तथा साँचों की सहायता से धातु-द्रव को विविध रूप देने के लिए वैज्ञानिक निपुणता की आवश्यकता थी। इसे धातुकालीन मनुष्य ने दीर्घकाल के परिश्रम और अनुभव के पश्चात् ही प्राप्त किया होगा।

कालान्तर में मनुष्य ने यह अनुभव किया कि अति कठोर कर्मों के लिये ताँबा अधिक उपयोगी नहीं है। उससे और अधिक कठोर एवं सुदृढ़ धातु की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस आवश्यकता की पूर्ति उसने एक नवीन धातु के आविष्कार से की। यह धातु काँसा थी। यह ताँबे और टीन के सम्मिश्रण से उपलब्ध हुई थी। इसका आविष्कार ही तत्कालीन मनुष्य के रासायनिक ज्ञान का परिचायक है। परन्तु यह महत्वपूर्ण बात है कि ताँबे और काँसे की सामग्री विशेषतया उत्तर-भारत में ही उपलब्ध हुई है। दक्षिण-भारतवर्ष में यह सामग्री नगण्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाषाण-काल के पश्चात् ताम्र-युग और कांस्य-युग का उदय उत्तर-भारतवर्ष में ही हुआ। दक्षिण-भारतवर्ष में पाषाण-युग के पश्चात् सीधे लौह-युग का पदार्पण होता है। यह युग उत्तर-भारतवर्ष में ताम्र-युग और कांस्य-युग के पश्चात् आता है। परन्तु यह न समझना चाहिए कि धातु-युग में पाषाण-प्रयोग का पूर्ण विलोप हो गया। ऐसा न था। धातु के साथ-साथ पाषाण भी प्रभूत मात्रा में प्रयुक्त होता

रहा। परम्पराओं का विलोप शीघ्र नहीं होता। यही कारण है कि उत्खनन में अनेक स्थलों पर धातु-सामग्री के साथ-साथ पाषाण-सामग्री भी उपलब्ध हुई है। उदाहरणार्थ, ब्रह्मगिरि-प्रदेश को लीजिए। यहाँ उत्तर-पाषाण-कालीन सभ्यता ऐतिहासिक काल तक चलती रही।

सर्वप्रथम ताम्रनिर्मित सामग्री विशेषतया गंगा-यमुना के दुआब से ही उपलब्ध हुई थी। कालान्तर में सिन्धु की घाटी की सभ्यता का पता लगा। हड़प्पा, मोहेन-जोदड़ो आदि स्थानों पर जो खुदाई हुई है उसमें ताँबे और काँसे की अनेक वस्तुयें उपलब्ध हुई हैं। इनका उल्लेख आगे सिन्धु-सभ्यता के अन्तर्गत किया जायेगा। यहाँ हमारा तात्पर्य उन ताँबे अथवा काँसे की वस्तुओं से है जो सिन्धु-सभ्यता के पश्चात् निर्मित हुई थी। इस प्रकार की सामग्री का सबसे विशाल भाण्ड Gungeria में उपलब्ध हुआ है। इस सामग्री में कुल्हाड़ियाँ, तलवारें, कटारें, हार्पून और रिंग (Ring) प्रमुख है। इनमें कुल्हाड़ियाँ अति प्राचीन धातुनिर्मित कुल्हाड़ियों के ही विभिन्न रूप हैं। पिगट महोदय ने विभिन्न आकार-प्रकारों के आधार पर इन्ह ५ कोटियों में विभक्त किया है। समस्त तलवारें प्राय. एक सम है। इनके ब्लेड पत्ती के समान हैं। सम्पूर्ण ब्लेड और मुठिया (Hilt) एक ही साँचे में ढाली हुई प्रतीत होती है। अभी तक कटार का एक ही उदाहरण मिला है और वह भी अज्ञात स्थान से। तलवार की भाँति कटार के ब्लेड और मुठिया भी एक ही साँचे में ढले है। हार्पून तीन कोटियों में विभक्त किए जा सकते हैं—

(१) इसमें हार्पून केवल खुरदरे हैं और इनके ब्लेड के दोनों ओर काँटे (Barb) हैं। सबसे नीचे के काँटे के जोड़े के नीचे एक या अनेक छेद पाये जाते हैं।

(२) इनमें काँटे ब्लेड के नीचे हैं।

(३) इस कोटि के अतर्गत हार्पून के ब्लेड पत्ती के समान है। इनके काँटें प्रथम दोनों कोटियों की अपेक्षा बड़े और वक्र है।

इनके अतिरिक्त कुछ रिंग (Ring) हथियार और औजार भी है।

यह समस्त सामग्री सिन्धु-घाटी में उपलब्ध सामग्री से भिन्न है। सिन्धु-क्षेत्र में तलवार और हार्पून का अभाव है। वहाँ के हथियार-औजार भी अति साधारण हैं। उनमें से कुछ पाषाण-कालीन हथियारों और औजारों से मिलते-जुलते हैं। यही नहीं, सिन्धु-सभ्यता के अन्तर्गत धातु-सामग्री के साथ-साथ पाषाण-सामग्री भी प्रयुक्त होती रही। इन सब कारणों से प्रकट होता है कि सिन्धु-सभ्यता काल की दृष्टि से पाषाण-काल के निकट थी और उपर्युक्त अधिक विकसित धातु-सामग्री सिन्धु-सभ्यता के पश्चात् निर्मित हुई होगी।

परन्तु अब प्रश्न यह होता है कि गंगा-यमुना के दुआब में उपलब्ध होने वाली यह ताँबे और काँसे की सामग्री आई कहाँ से ? हीन-गेल्डर्न नामक विद्वान् का मत है कि यह सामग्री भारत में आर्यों के साथ आई। इस प्रकार की धातु-सामग्री ईरान, काकेशस-प्रदेश और डेन्यूब-घाटी में भी १२०० ई० पू० के लगभग विद्यमान थी। आर्यों ने उसी दिशा से हो कर प्रस्थान किया होगा। परन्तु निश्चित साक्ष्यों के अभाव में यह मत सन्दिग्ध ही है।

मेगालिथिक काल—Megalithic Age—जिस प्रकार पूर्व-पाषाण-काल और उत्तर-पाषाण-काल के बीच एक सक्रान्ति-काल था, उसी प्रकार ताम्र-कास्य-काल और लौह-काल के बीच में भी। यह द्वितीय संक्रान्ति-काल 'मेगालिथिक काल' के नाम से प्रख्यात है। यूनानी भाषा में **Megas** और **Lithos** क्रमशः 'विशाल' और 'पाषाण'

के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार Megalith विशाल पाषाण का बोधक हुआ। परन्तु पूर्वेतिहास में इस शब्द का विशेष अर्थ है। दक्षिण-भारत में विशाल पाषाण-खण्डों की बनी हुई कुछ समाधियाँ इत्यादि प्राप्त हुई है। वही Megalith के नाम से सम्बोधित होती हैं। जिस काल मे उनका निर्माण हुआ उसे 'मेगालिथिक काल' की सज्ञा दी गई है। इस काल में पाषाण, ताम्र एव कास्य की सामग्री के साथ-साथ लौह-सामग्री भी निर्मित होती थी। इससे प्रतीत होता है कि यह सक्रान्ति-काल था जिसमें न तो पूर्वपरम्पराओं का पूर्णतया परित्याग हुआ था और न नवीन का पूर्णतया ग्रहण। एक उल्लेखनीय बात और है, वह यह कि मेगालिथिक काल के पश्चात् भी मेगलिथ का निर्माण होता रहा। परम्पराओं की महाप्राणता का यह पुन प्रमाण है। यद्यपि मेगलिथ का निर्माण विशेषतया दक्षिण-भारत मे ही हुआ था तथापि उसके उदाहरण मध्यप्रदेश, मध्यभारत, उड़ीसा, आसाम, बिहार, राजपूताना, गुजरात और काश्मीर आदि प्रदेशो मे भी उपलब्ध होते है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर विदित होता है कि स्वय दक्षिण-भारत मे भी मेगालिथिक सस्कृति एक समय और एक प्रकार की नही थी। मेगलिथ के भीतर मिली हुई सामग्री कभी पाषाण की है तो कभी ताँबे की, कभी काँसे की है तो कभी लोहे की। कही पतली दीवार के मृण्पात्र मिलते है तो कही मोटी दीवार के। प्रमुखतया मेगलिथ का प्रयोग समाधि के रूप मे ही किया जाता था। अभी तक भारत में मेगलिथ के निम्नप्रकार विशेष रूप से उपलब्ध हुए हैं :—

(१) **सिस्ट-समाधि** (Cist-grave)—इसमे पहले पृथ्वी मे एक आयताकार खाई (Pit) खोदी जाती थी। इसके पश्चात् उस खाई की फर्श एक पाषाण-खड (Floor-Slab) से पाट दी जाती थी। खाई के भीतर चारो दीवारो पर भी चार पाषाण-खड लगा दिए जाते थे। न पाषाण-खडो को Orthostat कहते है। अन्त मे एक अन्य पाषाण-खड (Capstone) के सहारे छत को पाट कर के सिस्ट-समाधि को एक बन्द सन्दूक की आकृति दे दी जाती थी। पुन उसे पाषाणनिर्मित दीवार के द्वारा घेर दिया जाता था। बन्द सन्दूक की पूर्वी दीवार (Orthostat) मे एक वृत्ताकार छेद कर दिया जाता था। से अगरेजी मे Port-hole कहते है। इस गोल छेद का व्यास १½ फीट से लेकर २ फीट तक होता था। छेद के बाहर दो पाषाण-खड कर एक मार्ग बना दिया जाता था।

इस प्रकार के निर्मित सन्दूक का प्रयोग समाधि के रूप मे दिया जाता था। पहले इसकी सतह पर हथियार, औजार, मृण्भाण्ड, आभूषण आदि रखे जाते थे और फिर इस समस्त सामग्री के ऊपर मृतक के अस्थिपजर के अवशिष्ट अश रखे जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि शवो को अस्थि-मात्र करने के लिए पहले कही अन्यत्र डाल दिया जाता था। जब वे माँसहीन होकर सूख जाते थे तो उन्हे उपर्युक्त सिस्ट मे समाधिस्थ करते थे। एक सिस्ट में अनेक शवो के अस्थिपजरो के अवशेष रखने की प्रथा थी। ये अवशेष वृत्ताकार छेद की सहायता से ही भीतर डाले जाते थे। इसके पश्चात् वह एक पाषाण-खड के द्वारा बन्द कर दिया जाता था। इस प्रकार की सिस्ट-समाधियाँ ७ फीट तक लम्बी, ५ फीट तक चौडी और ६ फीट तक गहरी है। अनेक स्थलो पर छोटी-छोटी समाधियाँ भी मिली है।

पुडुक्कोट्टाय-प्रदेश मे सिस्ट-समाधि का एक दूसरा रूप उपलब्ध हुआ है। इसमे सन्दूक के बीच में एक पाषाण-खंड (Septum) खडा कर दिया जाता था जिससे वह सन्दूक दो भागो में विभक्त हो जाता था। इसके पश्चात् एक भाग को पुनः एक अन्य पाषाण-खंड के द्वारा दो मंजिलों में विभक्त कर दिया जाता था। दोनों मंजिलों

को सम्बन्धित करने के लिए सन्दूक के बीच के पाषाण-खंड (Septum) के मध्य में एक छेद कर दिया जाता था। अविभक्त अर्धभाग के पूर्वी ओर एक छोटा-सा प्रदेश-कक्ष (Ante-Chamber) होता था। इन दोनों को सम्बन्धित करने के लिए भी बीच की दीवार में एक छेद (Port-hole) होता था। समस्त सिस्ट एक पाषाण-निर्मित वृत्त से घिरा रहता था। सिस्ट-समाधियों के उदाहरण ब्रह्मगिरि के उत्खनन से प्राप्त हुए हैं।

(२) **पिट-सर्कल** (Pit-Circle)—पहले ग्रेनाइट पाषाण-खडो की सहायता से २०-३० फीट व्यास का एक वृत्त बनाया जाता था। फिर इसके मध्य में एक खाई (Pit) खोदी जाती थी। यह खाई भी वृत्ताकार होती थी और इसका व्यास ८ से १२ फीट होता था। इसकी गहराई ६ के ८ फीट होती थी। खाई की फर्श पर ४ पाषाण-पाद रख दिये जाते थे। कदाचित् इनके ऊपर लकडी की अर्थी रक्खी जाती थी। कालान्तर में जब अर्थी मे रखे हुए शव का मांस गल जाता था और वह अस्थिपजर-पात्र रह जाता था तो उसकी अस्थियां एकत्र करके उपर्युक्त सिस्ट समाधि में दफनाने के लिए पहुँचा दी जाती थी। जो अवशेष रह जाते थे वे इसी पिट-सर्कल मे दफना दिए जाते थे। प्राप्त हुए इन अवशेषों के नीचे लौह-सामग्री, आभूषण, शख, मूँगे और मृण्पात्र इत्यादि उपलब्ध हुए है। सिस्ट-समाधि की भाँति पिट-सर्कल की भी पूर्वी दीवाल मे प्रवेश-द्वार होता था। अवशेषो के समाधिस्थ हो जाने के पश्चात् यह प्रवेश-द्वार बन्द कर दिया जाता था। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि पिट-सर्कल विशेषतया शवो के मांस को गलाने और सुखाने के काम में ही आता था। परन्तु यह निष्कर्ष असदिग्ध नही है। ये पिट-सर्कल ब्रह्मगिरि के उत्खनन में उपलब्ध हुए हैं।

(३) **कैर्न-सर्कल** (Cairn Circle)—यह 'रूबल' पाषाण-खडों की सहायता से बनी हुई समाधि होती है। इसके भीतर शव-भस्म-पात्र अथवा शव-अस्थि-पात्र दफनाय जाते थे। समाधि के चतुर्दिक बडे-बडे 'बोल्डर' पाषाण-खडो की सहायता से एक वृत्त खडा कर दिया जाता था। इस प्रकार की समाधियाँ मद्रास के चिंगलपुट जिले मे मिली है।

(४) **डोल्मेन** (Dolmen)—यह प्राय सिस्ट के ही समान होता है। परन्तु इसमें 'सन्दूक' खाई में न हो कर पृथ्वी के ऊपर होता है। इसके उदाहरण भी चिंगलपुट में प्राप्त हुए हैं।

(५) **अम्ब्रेला-स्टोन** (Umbrella Stone)—पहले वर्गाकार पृथ्वी-खड के चारो कोनो पर ४ पाषाण-पाद खडे किये जाते थे। इनके ऊपर एक कम ऊँचे और अधिक चौडे कोन (Cone) के आकार का एक पाषाण-खंड रख दिया जाता था। यह छाते के समान लगता था। इसी से सम्पूर्ण मेगलिथ को 'अम्ब्रेला-स्टोन' के नाम से पुकारते हैं।

(६) **हुड-स्टोन** (Hood-Stone)—इसमें पाषाण-पाद नहीं होते। छत्राकार मेगलिथ पृथ्वी पर ही आधारित रहता है।

(७) **कन्दरायें**—पहले पृथ्वी में एक आयताकार खाई खोद ली जाती थी। फिर उसकी किसी एक दीवार के भीतर कन्दरा निर्मित की जाती थी। कभी-कभी इन कन्दराओं के भीतर बेंच रख दी जाती थी। कभी-कभी उनके फर्श पर स्तम्भ खड़ा कर दिया जाता था।

(८) **मेंहिर**—ये एकाश्मीय स्तम्भ (Monolith) के समान होते थे।

उपर्युक्त ५, ६, ७ और ८ सख्याओ के मेगलिथ कोचीन राज्य मे उपलब्ध हुए हैं। ये समाधियाँ हैं अथवा पूजा-स्तम्भ, इस विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

मद्रास के तिन्नेवेली जिले के आदिचनल्लूर नामक स्थान में कुछ पात्र उपलब्ध हुए हैं जिनके भीतर शव के अवशेषो को रख कर गड्ढो में गाड़ दिया जाता था। अवशेषों के साथ उनके भीतर हथियार-औजार, आभूषण और मृण्पात्र इत्यादि भी रख दिये जाते थे। इस प्रकार के अवशेष-पात्रो का उल्लेख तामीर साहित्य में भी हुआ है। ये पात्र मेगालिथिक सस्कृति से सम्बद्ध हैं।

मेगलिथ-निर्माण के काल का विषय विवादग्रस्त है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक मेगलिथ ई० पू० तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा की पहली शताब्दी तक निर्मित हुए। ब्रह्मगिरि के उत्खनन में उपलब्ध मेगलिथ यही सिद्ध करते हैं। कोयम्बटूर जिले के सुलर नामक स्थान में एक मेगालिथिक सिस्ट में अन्य सामग्री के साथ ईसा पूर्व की तीसरी अथवा दूसरी शताब्दी की एक मुद्रा भी प्राप्त हुई है। मेगालिथिक सामग्री के साथ ईसाई सम्वत् के पूर्व की आहत मुद्राये मिली हैं। १९४७ में कैसल महोदय ने पाण्डीचेरी के अरिकमेडु नामक स्थान की प्रथम शताब्दी की सतह से मेगालिथिक मृण्पात्र प्राप्त किये। कोचीन में एक मेगालिथिक सिस्ट में कुछ अन्य मृण्पात्र निकले हैं जो कला की दृष्टि से आन्ध्र-काल के सन्निकट प्रतीत होते हैं। इस प्रकार ये समस्त सामग्री भी ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी के बीच की ही है। अत जब तक इसके विरुद्ध अन्य साक्ष्य उपस्थित न हो तब तक हम इन मेगलिथ को अधिक प्राचीन नही मान सकते।

पूर्वैतिहासिक काल की कन्दरा-चित्रकला (Prehistoric Rock Paintings) मध्य-भारत और उत्तर-प्रदेश की कतिपय कन्दराओ मे अनेक चित्र प्राप्त हुए है। अनेक विद्वान् इन चित्रों को पूर्वैतिहासिक मानते है। परन्तु यह मत न्यायसगत प्रतीत नही होता। यहाँ इस विषय पर विचार कर लेना नितान्त समीचीन है।

उपर्युक्त कन्दरा-चित्रकला के ४ केन्द्र उपलब्ध हुए है —

(१) महादेव पहाड़ियो में होशगाबाद और पचमढ़ी
(२) रायगढ में सिंघनपुर और कबरा पहाड
(३) उत्तर प्रदेश मे मिर्जापुर जिले मे सोन-घाटी
(४) उत्तर प्रदेश में बाँदा जिले में मानिकपुर एव समीपस्थ प्रदेश

इन समस्त स्थानो की पहाडियाँ मुलायम बलुआ पत्थर (Sand stone) की बनी हैं। अतः वर्षा और वायु के सामूहिक प्रभाव से वे अनेक स्थलो पर कट गई हैं और उनके बीच मे कन्दरायें बन गई हैं। प्राचीन मनुष्यो ने इन्ही कन्दराओ को अपना आवास बनाया था। इनमें उसके मृण्पात्र, कोयले और भस्मादि उपलब्ध हुए हैं। इन्ही की दीवार पर उनके द्वारा अंकित किए गए चित्र हैं।

(१) **महादेव पहाड़ियां**—पशु-चित्रों की यहाँ प्रचुरता है। कही वन्य पशु अंकित किए गए हैं तो कहीं पालित पशु। कही उनका आखेट हो रहा है तो कही वे गड़रिये के साथ चारागाह जा रहे हैं। अन्य स्थल पर वे अपने स्वामी के घर में बँधे हैं। समस्त पशुओं में हाथी, सिंह, तेंदुआ, चीता, सुअर, हिरन, घोड़ा, बैल, कुत्ता, बकरी आदि प्रमुख हैं। कहीं-कहीं दो वर्गों में युद्ध का प्रदर्शन मिलता है। इसमें धनुषधारी, करवालधारी और अश्वारोही भी हैं। एक स्थल पर हासपूर्ण

प्रदर्शन में एक बन्दर चित्रित किया गया है जो अपने पिछले पैरो पर खडा होकर बाँसुरी बजा रहा है। उसी के समीप एक अति छोटी चारपाई पर एक मनुष्य चित लेटा हुआ अपने उठे हुए करतलो से ताल दे रहा है। एक अन्य चित्र मे कुछ मनुष्य मधुमक्खियो के एक छत्ते से मधु-सग्रह कर रहे है। एक स्थान पर कदाचित् स्वस्तिक-पूजा का चित्र है। एक स्वस्तिक के चतुर्दिक कुछ मनुष्य हैं। प्रत्येक के हाथ में एक छाता है। स्वास्तिक के नीचे ही तीन गौम्रो के चित्र है। एक गौ के साथ उसका बछड़ा भी है। गौम्रो के नीचे टेढी-मेढ़ी रेखा खिंची हुई है। कदाचित् यह एक सरिता है। सरिता के उस पार कदाचित् कुछ बकरियो के चित्र हैं।

(२) **रायगढ़**—सिंघनपुर का सर्वप्रमुख चित्र एक आखेट का है। इसमें कुछ मनुष्य लाठियो और डण्डो से एक विशालकाय पशु के ऊपर आक्रमण कर रहे हैं। इस पशु के नीचे कुछ बाँये ओर एक अन्य पशु है। उसके ऊपर भी आक्रमण हुए हैं। भागते हुए इस पशु ने अपने एक आक्रमणकारी को ऊपर फेंक दिया है। इस पशु के नीचे कुछ बाँई ओर ६ मनुष्यों के और दाहिनी ओर ३ मनुष्यो के अन्य चित्र हैं। यह समस्त चित्र लाल रग से अकित है।

सिघनपुर के समान कबरा पहाड पर भी पशुओ और मनुष्यो के चित्र हैं। ये भी लाल रग मे अकित है।

(३) **मिर्जापुर**—मिर्जापुर की कन्दरा-चित्रकला से तिथि-निर्धारण में सहायता मिली है। यहाँ एक कन्दरा मे लगभग दो दर्जन अभिलेख उपलब्ध हुए है जिनमें ईसा की पाँचवी शताब्दी से लेकर आठवी शताब्दी तक की तिथियाँ है। अतः स्पष्ट है कि यह चित्रकला पूर्वैतिहासिक नही है।

मिर्जापुर की कन्दरा-चित्रकला विविध-विषयक है। कुछ स्थानो पर नाचते हुए मनुष्यो के चित्र हैं। कही जाल की सहायता से पक्षियो के पकडने का चित्र है तो कही पर अश्वारोहियो की सहायता से हाथी पकडने का। एक चित्र में आहत सुअर की वेदना प्रदर्शित की गई है। अन्यत्र एक योद्धा और एक सिह के रिलीफ-चित्र हैं।

(४) **बांदा**—इस प्रदेश की चित्रकला के विषय और प्रणाली को देखने से प्रतीत होता है कि यह भी चौथी अथवा पाँचवी शताब्दी के पूर्व की नही है। इसके चित्रण विविध एव पशु-प्रधान हैं। एक चित्र मे एक गाडी के ऊपर कोई धनी-मानी व्यक्ति जा रहा है। उसके साथ एक छत्रवाहक है। साथ मे दो अगरक्षक भी प्रदर्शित किए गए है। एक के हाथ मे धनुष-बाण है और दूसरे के हाथ में लाठी अथवा डडा। एक अन्य चित्र मे तीन घोडे और उनके तीन वाहक अकित किए गए है। एक स्थान पर एक आखेट का चित्र है। इसमे कुछ अश्वारोही धनुर्धारी पशुओ का पीछा कर रहे हैं।

गार्डन ने समस्त चित्रो का निरीक्षण करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि वे छठी और दसवी शताब्दियो के बीच मे निर्मित हुए थे। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ चित्र निश्चित रूप से छठी शताब्दी के पूर्व के हैं, क्योंकि जिन कन्दराओ में वे चित्र है उनमें धातु-सामग्री का अभाव है। पुन. अनेक कन्दराओं में माइक्रोलिथ-सामग्री उपलब्ध होती है। अत सम्भव है कि कुछ कन्दराओ के कुछ चित्र ५०० ई० पू० के लगभग के हैं।

लौह-काल—अन्त मे मनुष्य ने सर्वप्रधान धातु लोहे को ढूंढ निकाला। विद्वानो का मत है कि सर्वप्रथम हिट्टाइट जाति को ही १३०० ई० पू० के लगभग इस धातु

का ज्ञान हुआ था। वहीं से यह धातु-ज्ञान एशियाई और भूमध्यसागरीय देशों को उपलब्ध हुआ। परन्तु बहुत सम्भव है कि अनेक देशों को यह ज्ञान स्वतन्त्र रूप से हुआ हो। लोहे की प्राप्ति ने मानव-सभ्यता की प्रगति को अति सत्वर कर दिया। आज का युग प्रमुखतया लौह-युग है। लोहे के अभाव में हमारी सभ्यता की रूप-रेखा क्या हो सकती थी, इसका अनुमान हम सहज में ही कर सकते हैं।

३

आदि जातियाँ

आदि-काल में भारतवर्ष में कौन-कौन सी जातियाँ रहती थी, उनमें किस सीमा तक पारस्परिक सम्बन्ध और सम्पर्क तथा बौद्धिक आदान-प्रदान और रक्त-सम्मिश्रण हुआ था—ये सारे प्रश्न अत्यन्त विवादग्रस्त हैं। परन्तु डॉ० बी० एस० गुहा का मत नवीनतम और सर्वाधिक मान्य समझा जाता है। इस विद्वान् के विचार से भारतवर्ष की आदि-जातियो को ६ कोटियो में विभक्त किया जा सकता है —

(१) नीग्रेटो (Negreto)
(२) प्रोटो-आस्ट्रेलायड (Proto-Australoid)
(३) मंगोलायड (Mongoloid)
(४) भूमध्यसागरीय (Mediterranean)
(५) पश्चिमी ब्रैचीसेफल (Western Brachycephals)
(६) नार्डिक (Nordic)

परन्तु पारस्परिक रक्त-सम्मिश्रण के कारण इन जातियो की विशेषताएँ भी सुनिश्चित और विशुद्ध नही हैं।

(१) नीग्रेटो—यह जाति भारतवर्ष में प्राय विलुप्त हो चुकी है। एकमात्र अण्डमन-द्वीपो में ही इस जाति के कुछ अवशेष मिलते हैं। भारतवर्ष में आसाम की कुछ नागा जातियो तथा ट्रावनकोर-कोचीन आदि कुछ प्रदेशो की आदिम जातियो में भी इस नीग्रेटो जाति की कुछ जातीय विशेषतायें दृष्टिगत होती हैं।

नीग्रेटो जाति भारतवर्ष की प्राचीनतम जाति थी। सम्भवत यह अफ्रीका से अरब, ईरान और बलूचिस्तान होती हुई भारतवर्ष में आई और वहाँ से मलाया, फिलीपान्स न्यू गाइना और अण्डमन आदि प्रदेशो में पहुँची। इन प्रदेशो में पहुँचने के लिए इसे जलमार्ग से जाना पडा था। अत स्पष्ट है कि यह जाति नाविक-विद्या के प्रारम्भिक सिद्धान्तो से भी अवगत हो गई हो।

कदाचित् नीग्रेटो जाति कृषि-कर्म और पशु-पालन जैसे प्रारम्भिक उद्योगो से भी अपरिचित थी। अपनी उदर-पूर्ति के लिए यह विशेषतया वनो में उत्पन्न होने वाले कन्द, मूल और फलो के ऊपर ही निर्भर रहती थी। इसके अतिरिक्त यह पशुओं का आखेट भी करती थी। आखेट के लिए इसने सम्भवत धनुष-बाण का भी निर्माण कर लिया था। समुद्रो के बीच अथवा समुद्र तटो पर रहने के कारण इसे मछलियाँ पकडना भी आता था।

प्राचीनतम जाति होने के कारण यह जाति प्राय बर्बर थी। अत आगामी

मानवी सस्कृति के ऊपर इस जाति का कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। प्रोटो-आस्ट्रेलायड जाति के आगमन पर नीग्रेटो जाति का पराभव हो गया।

प्रोटोआस्ट्रेलायड—ये सम्भवत. फिलिस्तीन से भारत आए थे। यहाँ से ये ब्रह्मा, इण्डोचीन, मलाया, इण्डोनेशिया और आस्ट्रेलिया पहुँचे। इन सब देशो मे आज भी प्रोटो-आस्ट्रेलायड जाति के अश मिलते है। भारतवर्ष की निम्न जातियो, विशेषतया कोल और मुण्डा जातियो मे इस प्राचीन जाति के अश विद्यमान हैं।

जिस समय आर्यों ने भारतवर्ष में प्रवेश किया उस समय यह जाति पजाब तथा शेष उत्तरी एवं दक्षिणी भारत मे विद्यमान थी। आर्यों ने 'अनास' 'कृष्णवर्ण' और 'निषाद' शब्दो का प्रयोग कदाचित् इसी प्रोटो-आस्ट्रेलायड जाति के भारतीय निवासियों के लिए ही किया है। जैसे-जैसे आर्यों की सस्कृति और सभ्यता भारतवर्ष में प्रसारित होती गई वैसे हो वैसे प्रोटो-आस्ट्रेलायड जाति भी उसमें निमज्जित होती गई। परन्तु इस निमज्जन के फलस्वरूप आर्यों की सस्कृति-सभ्यता के ऊपर भी इस जाति का पर्याप्त प्रभाव पडा।

विद्वानों का अनुमान है कि हिन्दू धर्म और संस्कृति में जो बातें न आर्यों की है और न द्रविडो की, वे सम्भवत प्रोटो-आस्ट्रेलायड जाति की हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दू-धर्म के पशु-देवता (नाग, मकर, गणेश इत्यादि), अवतार, अण्डे से सृष्टि की कल्पना आदि इसी प्राचीन जाति की देन हैं। इसी प्रकार पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी भारत-भूमि मे प्रोटो-आस्ट्रेलायड जाति के साथ ही आया। निछावर के द्वारा अकुशल-निवारण की प्रथा, सिन्दूर का पुनीत प्रयोग, गोदने की रीति आदि भी इसी जाति की देन है।

प्रोटो-आस्ट्रेलायड लोग कृषि-कर्मा थे। अत भारत मे कृषि-कर्म की सुस्थिर स्थापना इन्ही लोगो ने की थी। ये पशु-पालन और वस्त्र-निर्माण से भी परिचित थे। इन्हे सूत कातना और कपडा बुनना आता था।

ये लोग झुण्डो मे रहते थे। परिश्रमी होने के साथ-साथ ये विनोदी जीव भी थे। आर्चर महोदय ने भारतवर्ष की कोल, मुण्डा आदि जातियो का अध्ययन कर प्राचीन आस्ट्रेलायड लोगो की प्राचीनतम जातीय विशेषताओ को स्थिर करने का प्रयास किया है।

मंगोलायड—कतिपय प्रादेशिक विभिन्नताओ के साथ यह जाति सिक्किम, भूटान, आसाम और भारत-ब्रह्मा की सीमा पर आज भी अवशिष्टाशो मे विद्यमान है।

भूमध्यसागरीय-द्रविड़—इस जाति की भी कई शाखाये हैं। परन्तु सब से महत्वपूर्ण शाखा वह है जो भारतवर्ष में द्रविड जाति के नाम से प्रख्यात हुई। द्रविड़ो की जातीय विशेषता थी उनके बडे सिर। इसके अतिरिक्त उनका कद छोटा, नाक छोटी और रंग काला होता था। आर्यों के आगमन के पूर्व भारतवर्ष में प्रोटो-आस्ट्रेलायड और द्रविड़ जातियाँ साथ-साथ रह रही थी और सम्भवत उनमें पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान और जातीय सम्मिश्रण भी हो रहा था।

बलूचिस्तान में ब्राहुई भाषा विद्यमान है। यह द्रविड़ भाषा है। इससे अनुमान होता है कि केवल बलूचिस्तान ही नहीं वरन् समस्त पश्चिमोत्तर प्रदेश (पजाब, सिन्ध, मालवा एव महाराष्ट्र) द्रविडों का निवास-प्रदेश था। गगा-यमुना के दोआब के कुछ निवासियों में द्रविडों की जातीय विशेषताओं के अंश पाए गए हैं। पुनः प्रदेश की सांस्कृतिक एवं भाषा-सम्बन्धी मान्यताओं पर भी द्रविड-जाति का प्रभाव है। इससे प्रकट होता है कि यह दोआब भी द्रविड़ों का निवास-प्रदेश रहा होगा। इसी

प्रकार के साक्ष्यों के आधार पर बंगाल में भी द्रविड़ों का प्राचीन अस्तित्व प्रकट होता है। दक्षिण भारत की अनेक वर्तमान भाषायें द्रविड भाषा से ही निकली हैं। इससे प्रकट होता है कि द्रविड़ उत्तरी भारत की भाँति दक्षिणी भारत में भी निवास कर रहे थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि आर्यों के आगमन के समय ईरान और अफगानिस्तान में भी द्रविड जाति रहती थी। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'दस्यु' और 'दास' शब्दों का प्रयोग द्रविड़ो के लिए ही हुआ है। ईरानी भाषा में भी 'दस्यु' शब्द मिलता है। कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व में 'दहइ' जाति रहती थी। शब्द-साम्य के आधार पर ये प्रदेश द्रविड जाति के ही थे। पुन. ऋग्वेद के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता कि नवागन्तुक आर्यों के लिए द्रविड जाति नितान्त अपरिचित न थी। सम्भवत. द्रविड जाति से उनका परिचय ईरान और अफगानिस्तान में ही हो चुका था। ऐसी दशा में दोनों जातियो के सास्कृतिक आदान-प्रदान का आरम्भ भारतवर्ष के बाहर ही हो गया था। इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि द्रविड जाति बहुसख्यक और द्रविड सभ्यता सुविस्तृत थी।

परन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि द्रविड़ जाति किस प्रदेश की मूल निवासिनी थी। इस प्रश्न पर विद्वानो मे बडा मतभेद रहा है। रिजले आदि कुछ विद्वानो का मत है कि द्रविड भारतवर्ष के ही मूल निवासी थे। परन्तु आज अधिकाश विद्वान् यही मानते हैं कि आर्यों की भाँति वे लोग भी बाहर से ही आए थे। बलूचिस्तान की ब्राहुइ भाषा के आधार पर बिशप काल्डवेल का कथन है कि चूँकि यह भाषा द्रविड भाषा से मिलती जुलती है अत बलूचिस्तान का प्रदेश द्रविड़ सभ्यता का केन्द्र था और इसी पश्चिमोत्तर प्रदेश से होते हुए द्रविड भारतवर्ष में प्रविष्ट हुए थे। परन्तु कर्नल डोल्डिच महोदय ने इस मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार बलूचिस्तान में ब्राहुइ भाषा-भाषी लोग द्रविड नही, मगोल थे। इन्होने उस प्रदेश के मूल निवासियो द्रविडों को पराजित करके उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। और उनकी ब्राहुइ भाषा को स्वीकार कर लिया था। परन्तु डोल्डिच महोदय के इस कथन से मुख्य प्रश्न पर कोई आँच नही आती। ये ब्राहुइ भाषा-भाषी मगोल जाति के रहे हो अथवा द्रविड़ जाति के, डोल्डिच महोदय भी यह स्वीकार करते है कि द्रविड़ जाति बलूचिस्तान में रहती थी।

अब प्रश्न यह उठता है कि वहाँ यह जाति भारतवर्ष से पहुँची अथवा भारतवर्ष के बाहर के किसी देश से आई थी। प्राचीन जातियों के निष्क्रमण का प्रमुख कारण उनके आदि-प्रदेश की अनुर्वरता अथवा प्राकृतिक असुविधा रही है। भारतवर्ष सदैव से अत्यन्त उर्वर और निवास के लिए नितान्त सुविधाजनक रहा है। अत यहाँ बाहर से ही जातियाँ आती रही हैं। यहाँ की प्राकृतिक सुविधाओं को छोड कर कोई जाति बाहर के पर्वतीय अथवा अनुर्वर प्रदेशो की ओर नहीं गई थी। इस आधार पर यही मानना न्यायसगत प्रतीत होता है कि द्रविड जाति भी किसी विदेशी प्रदेश से ईरान, अफगानिस्तान और बलूचिस्तान होती हुई भारत में आई थी। आज कोई भी प्रमुख विद्वान् यह स्वीकार नहीं करता कि द्रविड मगोल जातीय थे और उत्तर-पूर्व के मार्ग से भारतवर्ष में प्रविष्ट हुए थे। अधिकाश विद्वानो का मत यही है कि द्रविड़ जाति भूमध्य-सागरीय थी और सम्भवतः ईजियन-ससार, एशिया माइनर अथवा फिलस्तीन से आए थे। जब तक हडप्पा तथा मोहनजोदडो की मुहरों की लिपि सफलतापूर्वक पढ न ली जाय तब तक यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि सिन्धु-सभ्यता के प्रणेता कौन थे। परन्तु आज अधिकांश विद्वानों की राय यही है कि ये प्रणेता द्रविड़ ही थे।

द्रविड़-सभ्यता—भारत में प्रोटो-आस्ट्रेलायड जाति की सभ्यता ग्राम-प्रधान अथवा कृषि-प्रधान थी, परन्तु द्रविडों की सभ्यता नागरीय थी। इन्होंने सर्वप्रथम भारत में नगरों की स्थापना की थी और सामुद्रिक व्यापार को अपूर्व प्रोत्साहन दिया था। यह व्यापार फारस, मेसोपोटामिया और एशिया माइनर आदि देशों से भी होता था। कदाचित् संसार में सर्वप्रथम इसी जाति ने नदियों के ऊपर पुल बनाये और बाँध बाँधे थे। व्यापार के अतिरिक्त ये लोग कृषि-कार्य में भी दक्ष थे और अनेक प्रकार के अन्न उत्पन्न करते थे। ये कताई, बुनाई और रंगाई भी जानते थे। ये लोग धातुओं के प्रयोग से परिचित थे और उनसे विविध आभूषण एवं पात्र बनाते थे। वास्तुकला में भी द्रविडों ने काफी उन्नति कर ली थी। उनके मकान पक्की ईंटों और पत्थरों से बनते थे। ये मृण्कला में भी दक्ष थे तथा मिट्टी से अनेक प्रकार के बर्तन इत्यादि बनाते थे।

डा० बार्नेट आदि विद्वानों के मतानुसार द्रविडों का समाज मातृप्रधान था। इस सत्य की अभिव्यक्ति इनके धर्म में मातृदेवी की सर्वमान्य प्रधानता से होती है। अनुमानतः इनके समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी माता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था, परन्तु अपने पिता की सम्पत्ति का नहीं। दक्षिणी भारतवर्ष में अनेक अनार्य प्रथायें प्रचलित रही हैं। उदाहरणार्थ, व्यवस्थाकार आपस्तम्ब का कथन है कि दक्षिण-भारत में ममेरे अथवा चचेरे भाई-बहिनों में विवाह हो जाता था। आज भी दक्षिण भारत में यह प्रथा विद्यमान है। कदाचित् यह द्रविड-सभ्यता का ही प्रभाव है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, द्रविडों के देवी-देवताओं में सबसे अधिक प्रधानता मातृदेवी को दी गई थी। कदाचित् इस देवी की उपासना वे भारतवर्ष में आने के पूर्व अपने आदि-देश में भी करते थे। उन्होंने परम नारी के साथ ही साथ सम्भवतः परम पुरुष की भी कल्पना की थी। यह परम पुरुष पशुपति शिव के रूप में प्रतिष्ठित था। कतिपय विद्वानों का मत है कि 'शिव' शब्द ही द्रविड भाषा का है जिसका अर्थ 'लाल' होता है। आर्य-परम्परा भी शिव को 'नीललोहित' के नाम से पुकारती है।

भारतवर्ष में 'लिंग-पूजा' का प्रारम्भ सम्भवतः प्रोटो-आस्ट्रेलायड जाति के साथ हुआ था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि द्रविड जाति ने भी उसे स्वीकार कर लिया था।

द्रविडों में पशु-पूजा का भी प्रचलन था। इसमें नाग-पूजा प्रधान थी। आधुनिक हिन्दू-धर्म में गणेश, हनूमान, गरुड आदि की पूजा का विकास द्रविड सभ्यता के अन्तर्गत ही हुआ था। द्रविड पशु-पूजा के साथ-साथ सम्भवतः वृक्ष-पूजा भी करते थे।

फल-मूल, पुष्प-पत्र, जल आदि से पूजा करने की प्रणाली आर्य नहीं है। सम्भवतः इसका उदय द्रविडों के साथ हुआ था।

द्रविडों की अधीनता में उनका सम्पूर्ण प्रदेश छोटे-छोटे जिलों में विभक्त था। इनके पृथक्-पृथक् राजा होते थे। ये राजा ईंट और पत्थर के बने हुए मकानों में रहते थे। यही मकान इनके दुर्ग थे। शासन और समाज के संचालन के लिए द्रविडों ने अनेक प्रकार के कानून बना रखे थे।

युद्ध में ये धनुष-बाण, तलवार, बर्छी, भाला आदि हथियारों का प्रयोग करते थे। ये दुर्गीकरण के महत्व से भी परिचित थे। परन्तु सम्भवतः इन्होंने युद्ध में द्रुत-गामी अश्व का प्रयोग करना न सीखा था। यह भी सन्देहपूर्ण है कि ये अश्व से

परिचित भी थे अथवा नहीं।

अन्य दो जातियों—पश्चिमी ब्रैचीसेफल और नार्डिक—का भारतीय सभ्यता पर उतना प्रभाव नहीं पडा जितना की उपयुक्त भूमध्यसागरीय जाति का। इन जातियों का भारतीय इतिहास में न कोई महत्वपूर्ण स्थान है और न भारतीय सभ्यता में कोई विशेष योग।

४

सिन्धु-सभ्यता

सिन्धु-सभ्यता का परिज्ञान एव प्रकाश पुरातत्व की एक महत्वपूर्ण देन है। लगभग ४०-४५ वर्ष पूर्व इस विस्मृत सभ्यता का हमें लेशमात्र भी ज्ञान न था। यह अतीत के खडहरो मे दबी पडी थी। परन्तु पुरातत्ववेत्ताओ के अनवरत परिश्रम के परिणाम-स्वरूप आज इसका उद्धार हो चुका है। समय-समय पर होने वाले उत्खनन-कार्यों ने इस सभ्यता के विविध अगो को स्पष्ट कर दिया है। परन्तु अब भी अनेक ज्ञातव्य बातें अवशेष हैं जिन्हें निश्चित करने के लिए अनुसधान जारी हैं।

सिन्धु-सभ्यता के प्रकाशन की कहानी अत्यन्त मनोरजक है। १८५६ में भारत-सरकार को कराची और लाहौर के बीच रेलवे लाइन बनवाने के लिए ईंटों की आवश्यकता हुई। उसके इजीनियरो ने आस-पास के खडहरो से ईंटें खोदना प्रारम्भ किया। इन्ही खँडहरो में मुल्तान जिले का हडप्पा नामक स्थान का खडहर भी था। परन्तु उस समय किसी को पता नही लगा कि उस खडहर के नीचे सिन्ध-सभ्यता की बहुमूल्य सामग्री दबी पडी है।

दीर्घकाल की उपेक्षा के पश्चात पुरातत्ववेत्ता सिन्धु-प्रदेश के ऐतिहासिक महत्व से अवगत हुए और उन्होने उस क्षेत्र मे उत्खनन प्रारभ किया। सर्वप्रथम महत्वपूर्ण उत्खनन १९२० में हडप्पा में ही हुआ। उत्खननकर्त्ता थे माधोस्वरूप वत्स और दयाराम साहनी इनके उत्खननकार्य तथा अनुसधान से सिद्ध हो गया कि ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व हडप्पा का नगर एक अति उच्चकोटीय सभ्यता का केन्द्र था। हडप्पा से लगभग ४०० मील की दूरी पर सिन्ध में मोहेनजोदडो नामक एक दूसरा नगर है। १९२२ में प्रसिद्ध भारतीय पुरातत्ववेत्ता डाक्टर राखालदास बनर्जी ने वहाँ एक बौद्ध स्तूप के चतुर्दिक उत्खनन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि उस प्रदेश के अन्तर में किसी अति प्राचीन नगर के ध्वसावशेष दबे पडे हैं। उन्ही के प्रस्ताव पर भारतीय पुरातत्व-विभाग ने कालान्तर में उस क्षेत्र में उत्खनन करवाया जिससे स्पष्ट हो गया कि हडप्पा की भाँति मोहेनजोदडो भी उसी प्राचीन सभ्यता का एक उच्च केन्द्र था। १९२५ में अर्नेस्ट मैके ने मोहेनजोदडो से ८० मील दक्षिण-पश्चिम में चन्हूदडो नामक एक अन्य नगर में खुदाई की। इससे भी सिन्धु-सभ्यता की महत्वपूर्ण बातें ज्ञात हुईं। इस प्रदेश मे अन्य अनुसधानकर्ताओ में एन० जी० मजूमदार, सर आरियल स्टीन, एच० हारग्रीव्ज पिगट और ह्वीलर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन समस्त अनुसधानो ने सिन्धु-सभ्यता के उदय-विलय, विस्तार, प्रकार, काल आदि महत्व-पूर्ण विषयो पर प्रचुर प्रकाश डाला है।

विस्तार—उपलब्ध सामग्री से स्पष्ट हो गया है कि सिन्धु-सभ्यता एकमात्र सिन्धु नदी की घाटी तक ही सीमित न थी वरन् उसका क्षेत्र और अधिक सुविस्तृत था। आधुनिक भौगोलिक नामो में इस क्षेत्र के अन्तर्गत बलूचिस्तान, उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त, पजाब, सिन्धु, काठियावाड का अधिकाश भाग, राजपूताना और गंगा-घाटी का उत्तरी भाग समाविष्ट था। इस विस्तृत सभ्यता के प्रमुख केन्द्रों में दबारकोट, पेरियानो, घुण्डई, कुल्ली, मेही, चहुँदडो, अमरी, लोहुमजोदड़ो, अली मुराद, रूपड़, रगपुर और सुत्कगेण्डोर उल्लेखनीय हैं। अनेक विद्वानों का अनुमान है कि सिन्धु-सभ्यता के अन्तर्गत इस सुविशाल प्रदेश का शासन दो राजधानियों के द्वारा होता था। पजाब में स्थित हडप्पा उत्तरीय प्रदेश की राजधानी थी और सिन्ध में स्थित मोहेन-जोदडो दक्षिण प्रदेश की। विशाल नगरों के बीच में अनेकानेक छोटे-छोटे नगर स्थित थे। श्री एन० जी० मजूमदार ने दक्षिण में हैदराबाद से ले कर उत्तर में जैकोबाबाद तक बसे हुए ऐसे ही नगरों की एक शृंखला के ध्वसावशेषो का पता लगाया था।

जाति—अभी तक यह निश्चितरूप से नही कहा जा सकता कि सिन्धु-सभ्यता के जन्मदाता किस जाति के थे। उनकी जाति के विषय में अनेक मत प्रतिपादित किए गए हैं, परन्तु उनमे से कोई भी पूर्णरूपेण असन्दिग्ध नही है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि सिन्धु-सभ्यता और ऋग्वैदिक सभ्यता दोनो ही एक ही सभ्यता के दो रूप हैं और दोनो ही के जन्मदाता आर्य थे। परन्तु इस मत को ग्रहण करने में अनेक आपत्तियाँ हैं :—

(१) ऋग्वैदिक आर्य-सभ्यता ग्राम्य एव कृषि-प्रधान थी। परन्तु इसके विरुद्ध सिन्धु-सभ्यता नागरीय एव व्यापार-प्रधान थी।

(२) आर्य मूर्ति-पूजक न थे, परन्तु सिन्धु-प्रदेश के निवासी निश्चित रूप से मूर्तिपूजक थे। उनके देवी-देवताओ की बहुसख्यक मूर्तियाँ खुदाई में उपलब्ध हुई हैं।

(३) लिंग-पूजा को आर्य अनार्य-पूजा समझते थे और उसकी निन्दा करते थे। परन्तु सिन्धु-निवासियो में इस पूजा का विशेष प्रचार था।

(४) ऋग्वैदिक काल मे न शिव-पूजा का प्रचलन था और न मातृदेवी की पूजा का। परन्तु इन दोनो की ही पूजा सिन्धु-प्रदेश में अति लोकप्रिय थी।

(५) वैदिक जीवन में अग्नि का विशेष महत्व था। धार्मिक क्रियाओ के लिए प्रत्येक आर्य के घर में अग्नि-कुड का होना आवश्यक समझा जाता था। परन्तु सिन्धु-निवासियों के धार्मिक जीवन में अग्नि का कोई विशेष महत्त्व दृष्टिगत नही होता।

(६) युद्ध के अवसर पर आर्य ढाल, कवच और शिरस्त्राण धारण करते थे, परन्तु सिन्धु-निवासी इनके प्रयोग से अपरिचित थे।

(७) आर्य-जीवन में घोडे का विशेष महत्व था। इसी की सहायता से वे अपने शत्रुओं पर आक्रमण करते, उनसे युद्ध करते और उनकी सम्पत्ति का अपहरण करते थे। परन्तु सिन्धु-निवासी इस पशु से अपरिचित थे। सिन्धु-प्रदेश में घोड़े के एक-आध अस्थिपजर अवश्य उपलब्ध हुए हैं। परन्तु इनके आधार पर कदाचित् यही कहा जा सकता है कि इस प्रदेश में कुछ घोड़े व्यापारियों द्वारा पहुँच गए थे।

(८) आर्य सोने, चाँदी, ताँबे, कासे और लोहे के प्रयोग से परिचित थे, परंतु सिन्धु-प्रदेश में अधिकाशतः पाषाण का ही प्रयोग होता था। धातुओं में वे लोहे से प्रायः अपरिचित थे। हाँ सोने और चाँदी का थोड़ा-बहुत प्रयोग अवश्य होता था। सिन्धु निवासियों ने सब से अधिक प्रयोग ताँबे का किया है।

(९) ऋग्वेद में व्याघ्र का उल्लेख नहीं मिलता और हाथी का बहुत कम। इससे प्रकट होता है कि ऋग्वैदिक आर्य इन पशुओं से भलीभाँति परिचित न थे। परन्तु अनेकानेक उपलब्ध मूर्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि सिन्धु-निवासी इन दोनों पशुओं से भलीभाँति परिचित थे।

(१०) आर्यों की दृष्टि में गाय अति सम्मान्य और आदरणीय थी। परन्तु सिन्धु-निवासियों की दृष्टि में सबसे अधिक महत्व था बैल का।

(११) मांसाहारी होते हुए भी आर्य मछली के मांस के प्रेमी न थे, परन्तु सिन्धु निवासियों का वह एक प्रिय भोजन था।

इस सम्बन्ध मे डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप का एक विशेष मत उल्लेखनीय है। इस मत के दो भाग है —(१) वैदिक सभ्यता और सिन्धु-सभ्यता दोनो के जन्मदाता आर्य थे, और (२) वैदिक सभ्यता सिन्धु-सभ्यता से अधिक प्राचीन थी। जहाँ तक प्रथम भाग का सम्बन्ध है, उसका खण्डन ऊपर किया जा चुका है। द्वितीय भाग भी निम्नलिखित आपत्तियो को देखते हुए ग्राह्य प्रतीत नही होता —

(१) अपनी सभ्यता के क्रमिक विकास में मनुष्य ने पाषाण-प्रयोग के पश्चात् धातु-प्रयोग सीखा। अत वैदिक आर्यों के प्रचुर धातु-प्रयोग के पश्चात् सिन्धु-निवासियो का पुन प्रचुर पाषाण-प्रयोग कैसे सम्भव हुआ? यह नितान्त अस्वाभाविक प्रतीत होता है। अत. स्पष्ट है कि धातु-प्रधान वैदिक सभ्यता का उदय पाषाण-प्रधान सिन्धु-सभ्यता के पश्चात् हुआ होगा। सिन्धु-सभ्यता का आविर्भाव उत्तर-पाषाण काल के ठीक पश्चात् हुआ होगा। इसी से वह पूर्व-परम्परा (पाषाण-प्रयोग) का पूर्ण रूप से परित्याग न कर सकी थी। वैदिक सभ्यता का उदय और बाद को हुआ होगा। तब तक धातु का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होने लगा होगा।

(२) वैदिक आर्य कवच, शिरस्त्राण और अश्व का प्रयोग करते थे। अत. वे सिन्धु-सभ्यता के अन्तर्गत इन्हे कैसे भूल गए और उसके पश्चात् पुन उनका प्रयोग कैसे करने लगे? इनके प्रयोग की अविच्छिन्न सक्रमता को स्वीकार करते हुए यह मानना पडेगा कि कवच, शिरस्त्राण एव अश्व की उपयोगिता से अनभिज्ञ सिन्धु-सभ्यता वैदिक सभ्यता से प्राचीन है। सिन्धु-सभ्यता के उपरान्त आर्यों ने इनकी प्रतिष्ठा स्थापित की जो दीर्घकाल तक आर्य-इतिहास मे सक्रम रही।

(३) यही बात गो-पूजा के विषय मे भी कही जा सकती है। गो-पूजा की सक्रमता को दृष्टि मे रखते हुए यही स्वाभाविक प्रतीत होता है कि गो-पूजा-विहीन सिन्धु-सभ्यता गोपूजा-प्रधान वैदिक एव अनुगामी आर्य-सभ्यता से अधिक प्राचीन थी। इस मत की पुष्टि के लिए अकाट्य प्रमाण नही मिलते। श्री आर० पी० चन्दा के कथनानुसार ऋग्वेद में उल्लिखित 'पणि' और डाक्टर बनर्जी-शास्त्री के कथनानुसार ऋग्वेद में उल्लिखत असुर सिन्धु-सभ्यता के संस्थापक थे। डाक्टर राखलदास बनर्जी का विचार है कि सिन्धु-सभ्यता द्रविड-सभ्यता था। बलूचिस्तान में बसने वाली ब्राहुई जाति की भाषा द्रविड़ है। कदाचित् इस प्रदेश में रहने वाले सिन्धु-निवासियो की भाषा से ही उसकी उत्पत्ति हुई होगी। पुनः दक्षिणी भारतवर्ष के द्राविड प्रदेश में प्राप्त पात्र, भाण्ड एव आभूषण सिन्धु-निवासियो की कृतियों के समान लगते हैं। उन पर अकित चिन्ह सिन्धु-लिपि के समान लगते हैं। अभाग्यवश अभी तक सिन्धु-लिपि पढी नहीं जा सकी है, अन्यथा सिन्धु-निवासियों के जाति-निर्धारण में हमें बडी सुगमता हो जाती। ह्वीलर महोदय भी ऋग्वेद में वर्णित 'दस्यु' अथवा 'दास' को सिन्ध-सभ्यता का विधायक मानते हैं। आर्यों ने इन्ही दस्युओं अथवा

दासो को पराजित कर भारत में अपनी सभ्यता का प्रसार किया था।

सिन्धु-सभ्यता के विधायको के विषय में विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो उपर्युक्त आपत्तियो के कारण सिन्धु-सभ्यता को वैदिक सभ्यता से अधिक प्राचीन तो मानता है परन्तु आर्यों को ही दोनो का जन्मदाता स्वीकार करते है। परन्तु इस मत को ग्रहण करने में भी कठिनाई है। सभ्यता के विकास का क्रम ग्राम्य से नागरीय और कृषि-प्रधान से व्यापार-प्रधान की ओर होता है। अत यह कैसे सम्भव हो सकता है कि नागरीय एव व्यापार-प्रधान सिन्धु-सभ्यता के पश्चात् ग्राम्य एव कृषि-प्रधान वैदिक सभ्यता का उदय होता।

इन समस्त बातो को ध्यान में रखते हुए यही मत अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि सिन्धु-सभ्यता वैदिक सभ्यता से अधिक प्राचीन तो थी परन्तु दोनो के जन्मदाता पृथक्-पृथक् थे। वैदिक सभ्यता के जन्मदाता तो निश्चित रूप से आर्य थे। परन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि यदि सिन्धु-सभ्यता के जन्मदाता आर्य नही थे तो किस जाति के थे। गार्डन चाइल्ड महोदय का मत है कि ये सुमेरियन थे। परन्तु बहुत सी बाते कपालो, अस्थिपजरो और मूर्तियो से भी ज्ञात होती है। हडप्पा, मोहेनजोदडो और चन्हूदडो मे ५० अस्थिपजर मिले है। इसकी शरीर-रचना की विभिन्नता को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सब अस्थिपजर एक जाति के मनुष्यो के न थे। परीक्षा के पश्चात् विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ये समस्त अस्थि-पजर ४ जातियों मे विभक्त किये जा सकते हैं :—

(१) प्रोटो-आस्ट्रेलायड (Proto-Australoid) अथवा काकेशियन
(२) भूमध्यसागरीय
(३) मगोलियन
(४) अल्पाइन (Alpine)

प्रोटो-आस्ट्रेलायड जाति के तीन सिर मोहनजोदडो मे प्राप्त हुए हैं। विद्वानो का अनुमान है कि ये सिर उस नगर के मूल निवासियो के है। सिन्धु-प्रदेश मे निवास करने वाली अन्य जातियों की अपेक्षा यह प्रोटो-आस्ट्रेलायड जाति सामाजिक एव सास्कृतिक दृष्टि से हीन मानी गई है। इस जाति की उत्पत्ति फिलिस्तीन मे हुई थी। अरब मे आज भी यह जाति विद्यमान है। लकानिवासीनी वेड्डा जाति भी आकार-प्रकार और रग-रूप मे प्रोटो-आस्ट्रेलायड जाति से मिलती जुलती है।

भूमध्यसागरीय जाति सिन्धु-प्रदेश मे सबसे अधिक बहुसख्या मे थी। यही समाज मे सबसे अधिक सम्मान्य और अभिजात समझी जाती थी। सिन्धु-सभ्यता के विकास मे कदाचित् इसी जाति ने सबसे अधिक योग दिया था। आज यह जाति सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया में पाई जाती है। इस जाति के मनुष्यो की प्रमुख विशेषता है उनका बडा सिर।

पिगट महोदय के मतानुसार मगोलियन जाति सिन्धु-प्रदेश की मूल-निवासिनी जाति न थी। वह आक्रमणकारिणी जाति थी जो बाहर से आकर इस प्रदेश में बस गई थी। मैके महोदय का मत है कि यह जाति सिन्धु-प्रदेश में ईरान के पठार से आई थी।

अन्तिम जाति अल्पाइन कदाचित् पामीर के पठार से आई थी। यह जाति भी भूमध्यसागरीय जाति की भाँति उन्नत एव सुसस्कृत थी। कदाचित् इसने भी सिन्धु-सभ्यता के विकास में विशेष योग दिया था।

इस प्रकार सिन्धु-प्रदेश में कदाचित् अनेक जातियों के लोग रहते थे। स्थलीय एवं जलीय मार्गों के द्वारा बहिर्जगत से सम्बद्ध होने के कारण ही यही जातीय विविधता सम्भव हो सकी होगी परन्तु उपर्युक्त सभी निष्कर्ष असन्दिग्ध नहीं हैं। इस सम्बन्ध में ह्वीलर महोदय का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है कि 'अभी तक जितने कपालों की परीक्षा हुई है उनके अति अल्पसंख्यक होने के कारण हडप्पा-निवासियो के जातीय गुणो के विषय में कोई विशद अनुमान नही किया जा सकता। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि सिन्धु-नगरो की जन-सख्या अनुमानानुकूल अपने अधिकाश अनुगामी नगरो की भाँति ही सम्मिश्रित थी।'[1]

इसके अतिरिक्त अस्थि-पजरो की परीक्षा करते हुए श्री बी० एस० गुहा ने भी कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले है। शरीर-रचना के आधार पर इन्होने समस्त अस्थि-पजरो को तीन जातियों मे विभक्त किया है। प्रथम जाति के कद छोटे, सिर लम्बे, नाक पतली और ऊँची तथा चेहरे लम्बे थे। द्वितीय जाति के चेहरे भी लम्बे थे, परन्तु उनका कद लम्बा था। तृतीय जाति के मनुष्यो के सिर चौडे होते थे जो पृष्ठ भाग की ओर या तो गोल होते थे या चिपटे। इनकी नाक नुकीली होती थी। सिन्धु-प्रदेश की इन तीनो जातियों और प्रीसारगोनिदयुगीन मेसीपोटामिया की जातियो मे समता पाई गई है।

भौगोलिक प्रभाव—प्राचीन विश्व की अनेक महत्वपूर्ण सभ्यताये सरिताओ के तटो पर विकसित हुई थी। जिस प्रकार मिस्र मे नील नदी के तट पर और मेसोपोटामिया मे दजला-फरात नदियो के तटो पर अति उन्नत सभ्यताओ का आविर्भाव हुआ था उसी प्रकार भारतवर्ष में सिन्धु नदी के तट पर भी एक उच्चकोटि की सभ्यता उदित हुई थी। अन्य सरिताओ की भाँति सिन्धु सरिता की घाटी भी अपनी भौगोलिक विशेषताओं के कारण जन-धन की समृद्धि के निमित्त सर्वथा उपयुक्त थी। पर्वतो की उत्तुग श्रेणियो, जलनिधि की उत्ताल तरगो और मरुस्थल की दहकती हुई सिकता-राशि से सरक्षित सम्पूर्ण सिन्धु-प्रदेश बाह्य आक्रमण की दुश्चिन्ता से मुक्त सुख-शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकता था और सभ्यता-सस्कृति के विभिन्न क्षेत्रो मे अव्याहत गति से प्रगति कर सकता था। इस प्रदेश मे उत्खनन मे जहाँ जीवन-सबन्धी अनेकानेक वस्तुये निकली हैं वहाँ सामरिक अस्त्र-शस्त्रो की न्यूनता एक विशेष अर्थ रखती है। अपनी प्रादेशिक शान्ति और सुरक्षा के कारण कदाचित् सिन्धु-निवासियो को युद्ध और अस्त्र-शस्त्रो की अधिक आवश्यकता न थी।

पुन सिन्धु नदी के जल और उसके द्वारा लाई हुई मिट्टी ने सपूर्ण घाटी को अत्यन्त उपजाऊ बना दिया था। उसमे विविध अन्नो का उत्पादन बडी सुगमता से हो सकता था। कृषि-कर्म के लिए जलवृष्टि भी आवश्यक है। आज सिन्धु-प्रदेश बहुत-कुछ शुष्क है। परन्तु अनेक साक्ष्यो से प्रकट होता है कि प्राचीन काल मे वहाँ पर्याप्त जलवृष्टि होती थी। ध्वसावशेषो से सिद्ध होता है कि हडप्पा, मोहनजोदडो आदि के नगर पक्की ईंटो के बने थे। जिस प्रदेश मे वर्षा अधिक होती है उसमे कच्ची ईंटों के स्थान पर पक्की ईंटों का ही प्रयोग अधिक उपयुक्त होता है। पुन. पक्की ईंटो

१ ....the number of skeletons analysed to date is far too small to support any generalised estimate of the racial characters of the Harrappans. All that can be said is that, as might be expected, the population of the Indus cities was, as mixed as is that of most of their succesors.'

के पकाने के लिए लकडी और कोयला की आवश्यकता होती है। यदि सिन्धु-प्रदेश मे वन न होते तो प्रचुर मात्रा में लकड़ी मिलना असभव हो जाता और फिर वर्षा की अधिकता के बिना वनो का होना भी असभव है। उत्खनन मे प्राप्त मुद्राओ के ऊपर व्याघ्र, हाथी, गैंडा आदि वन्य पशुओ के चित्र अकित है। इनमें से कुछ पशुओ की हड्डियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। ये पशु उन्ही स्थानो पर रह सकते है जहाँ वर्षा की अधिकता हो। इसके अतिरिक्त सिन्धु-प्रदेश में पक्की नालियो और बाँधो की सुव्यवस्था भी कदाचित् वर्षातिरेक को ही सिद्ध करती है। इन सब बातों से प्रकट होता है कि उस समय सपूर्ण सिन्धु-प्रदेश मे पर्याप्त वर्षा हो जाती थी। यह दशा ईसा पूर्व चौथी शताब्दी तक रही। सिकन्दर ने अपने आक्रमण के समय इस प्रदेश मे लहलहाते हुए धान्यपूर्ण खेतो को देखा था। परन्तु कालान्तर में यह दशा न रही। सर जान मार्शल के मतानुसार इस परिवर्तित दशा का कारण जलवाहनी हवाओ का दिशा-परिवर्तन है।

सिन्धु-प्रदेश अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण जलीय तथा स्थलीय मार्गों के द्वारा अनेक विदेशो से सबद्ध था। दक्षिण के सामुद्रिक तथा उत्तर-पश्चिम के स्थानीय मार्गों के द्वारा सिन्धु-निवासी ईसा के सहस्रो वर्ष पूर्व भी अन्तर्देशीय सपर्क-सबन्ध स्थापित कर सका था। इससे व्यापारिक एव सास्कृतिक आदान-प्रदान भी सभव हो सका था जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

आधारभूत विशेषतायें—सिन्धु-सभ्यता कुछ आधारभूत विशेषताये रखती है। सिन्धु-सभ्यता के सम्यक् बोध के लिए इन विशेषताओ को हृदयगम कर लेना अति आवश्यक है —

(१) सिन्धु-सभ्यता तृतीय कास्यकाल (Bronze Age) की सभ्यता है। इसमें कास्यकाल की सर्वोत्कृष्ट विशेषताये परिलक्षित होती हैं।

(२) यह सभ्यता नागरीय तथा व्यापार-प्रधान है। इसके अन्तर्गत सिन्धु-निवासियो ने आश्चर्यजनक उन्नति की थी। उन्हे नागरीय, जीवन की अगणित सुविधाये प्राप्त थी। विशाल नगरो, पक्के भवनो, सुव्यवस्थित सड़को नालियों और स्नानागारो के निर्माता, सुदृढ शासन-पद्धति और धार्मिक व्यवस्था के व्यवस्थापक तथा आन्तरिक उद्योग-धधो और विदेशीय व्यापार के सगठनकर्ता सिन्धु-निवासियो की चतुर्दिक अभ्युन्नति के पीछे साधना और अनुभव की एक सुदीर्घ परम्परा थी। सिन्धु-प्रदेश की सुख-शान्ति और विलासिता को देखते हुए सर जान मार्शल ने लिखा है कि 'यहाँ साधारण नागरिक सुविधा और विलास का जिस मात्रा मे उपभोग करता था उसकी तुलना समकालीन सभ्य ससार के अन्य भागो से नही हो सकती।'

(३) सिन्धु-सभ्यता शान्तिमूलक थी। उसके सस्थापको को युद्ध से अनुराग न था। यही कारण है कि सिन्धु-प्रदेश के उत्खनन मे कवच, शिरस्त्राण और ढाल नही मिले हैं। जो अन्य अस्त्र-शस्त्र—धनुष-बाण, भाला, कुल्हाडी आदि—उपलब्ध हुए हैं उनका प्रयोग बहुधा आत्म-रक्षा अथवा आखेट के लिए ही किया जाता था।

(४) यह सभ्यता समष्टिवादिनी थी। सिन्धु-प्रदेश के उत्खनन मे राजसामग्री के स्थान पर सार्वजनिक सामग्री ही मिली है। विशाल सभा-भवन और स्नानागारों के ध्वंसावशेष सिन्धु-प्रदेश के सामूहिक जीवन के परिचायक हैं।

(५) सिन्धु-प्रदेश का आर्थिक जीवन औद्योगिक विशेषीकरण (Industrial specialisation) और स्थानीकरण (Localisation) पर अवलम्बित था। इस प्रणाली के अन्तर्गत अधिकाश व्यवसायी प्रायः एक ही व्यवसाय का अन-

सरण करते थे। समान व्यवसाय के अनुसरणकर्ता प्राय एक ही मोहल्ले में रहते थे।

(६) सिन्धु-सभ्यता के अन्तर्गत धर्म द्विदेवतामूलक था। सिन्धु-निवासी की श्रद्धा-भक्ति के प्रमुख केन्द्र थे दो देवता—एक पुरुष के रूप में और दूसरा नारी के रूप में। पुरुष और नारी के चिरन्तन द्वन्द्व का यह मधुर दैवीकरण सिन्धु-निवासी की निशित कल्पना का प्रमाण है।

(७) सिन्धु-सभ्यता में लेख, गणना और माप की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इन्होंने उसकी प्रगति को सत्वरता प्रदान की होगी।

शासन—सिन्धु-प्रदेश की शासन-व्यवस्था के विषय में हमारा ज्ञान अधिकांशतः अनुमान पर ही निर्भर है। हंटर महोदय का मत है कि मोहेनजोदड़ो का शासन राजतन्त्रात्मक न हो कर जनतन्त्रात्मक था। सत्ता किसी एक राजा के हाथ में केन्द्रित न थी वरन् वह जनता के प्रतिनिधियों में अधिष्ठित थी।[1] मैके महोदय का विश्वास है कि मोहेनजोदड़ो का शासन एक प्रतिनिधि शासक के हाथ में था। ह्वीलर का मत है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के शासक सुमेर और अक्कड़ के पुरोहित-राजाओं तथा उनके प्रतिनिधियों के समान थे।[2] प्रसिद्ध विद्वान् पिगट भी सिन्धु-प्रदेश की शासन-पद्धति पर पुरोहित-वर्ग का प्रभाव बताते हैं।[3] अस्तु, किसी निश्चित साक्ष्य के अभाव में यह कहना बड़ा कठिन है कि देश की प्रमुख सत्ता किसी राजा के हाथ में अथवा उसके या जनता के प्रतिनिधि के हाथ में थी अथवा पुरोहित-वर्ग के हाथ में थी। परन्तु यह अनुमान स्वाभाविक प्रतीत होता है कि केन्द्रीय सत्ता का विकेन्द्रीयकरण कर दिया गया था। कदाचित् केन्द्रीय शासन की ओर से अनेक पदाधिकारी भिन्न-भिन्न नगरों में शासन करते थे। कदाचित् इन्हें नगर-निवासियों का भी सहयोग प्राप्त होगा। सिन्धु-प्रदेश में प्रतिष्ठित समष्टिगत जीवन को देखते हुए यह कहना असगत न होगा कि विभिन्न नगरों में नगरपालिकाओं की भी व्यवस्था थी। नालियों को सरक्षित और साफ रखने, स्थान-स्थान पर कूड़ा एकत्र करने के लिए मिट्टी के बने हुए घड़ों और पीपों को रखने तथा उस सग्रहीत कूड़े को नगर के बाहर फिकवाने, सड़कों, पुलों, नहरों और सार्वजनिक भवनों के निर्माण और जीर्णोद्धार करने, व्यक्तिगत भवनों के आकार-प्रकार और खिड़कियों तथा नालियों आदि की दिशा पर नियन्त्रण रखने, श्रम, मूल्य, लाभ, माप, तौल आदि सार्वजनिक विषयों को नियमानुकूल रखने इत्यादि के लिए प्रत्येक नगर में नगरपालिका के समान कोई सस्था अवश्य रही होगी। प्रत्येक नगर के विभिन्न भागों में कदाचित् रक्षकों की भी व्यवस्था थी। मैके का कथन है कि मोहेनजोदड़ो का नगर रक्षा के निमित्त दीवारों के द्वारा कई भागों में विभाजित कर दिया गया था। इन विभागों में रात्रि के समय पुलिस के गश्तों की योजना रही होगी। अनेक सड़कों के कोनों पर भी एक-एक भवन के ध्वसावशेष मिले है। कदाचित् ये पुलिस के नाके थे। शान्तिप्रिय जीवन होने के कारण सिन्धु-निवासियों को कभी बहुसख्यक पुलिस अथवा मिलिटरी की आवश्यकता न रही होगी। पुलिस का योग एकमात्र सार्वजनिक कार्यों के निमित्त ही किया जाता होगा। उत्खनन में भवनों और सड़कों के जो ध्वसावशेष निकले हैं उनमें से अधिकांश आश्चर्यजनक रूप से संरक्षित और व्यवस्थित हैं। इनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि सिन्धु-प्रदेश दीर्घकाल तक विप्लव और अशान्ति से मुक्त रहा होगा। सम्पूर्ण प्रदेश में शासन को सुव्यवस्थित रखने के लिए कदाचित् दो

१ हण्टर, क्लि० मो० ह०, पृ० १३-१४

२ एं० इं०, जि० १, पृ० १५

३ पिगट, प्री० इं०, पृ० १५१-५८

शासन-केन्द्रों अथवा राजधानियों की स्थापना की गई थी---उत्तर में हड़प्पा और दक्षिण में मोहेनजोदड़ो की। दोनों नगरों में एक-एक दुर्ग के ध्वसावशेष मिले है। ये दुर्ग नगर से कुछ दूर हट कर ऊँचे स्थानों पर बने थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि दोनों राजधानियों के उच्चपदाधिकारी इन्हीं दुर्गों में रहते थे।

नगर-योजना एवं भवन निर्माण---सिन्धु-प्रदेश के प्रमुख नगर-मोहेनजोदडो, हड़प्पा चन्हूदडो, लोहमजूदडो आदि---सरिताओ के तटो पर स्थित थे। इस योजना मे जहाँ अनेक प्रकार के लाभ थे वहाँ एक भारी हानि की सम्भावना भी अन्तर्निहित थी। बात यह थी कि इस प्रदेश की सारिताये समय-समय पर अपनी दिशाये परिवर्तित करती रहती थी। समय-समय पर उनमे बाढ भी आती रहती थी। अत ऐसे समय मे उनके तटो पर स्थित नगरो को सम्पूर्ण विनाश अथवा आंशिक क्षति की सम्भावना रहती थी। मोहनजोदड़ो आज सिन्धु नदी से ३½ मील दूरी पर है। परन्तु किसी समय यह उसके तट पर स्थित था। उत्खनन मे निकली तहो की परीक्षा से प्रकट होता है कि इस नगर में कम से कम दो बार बाढ आई थी। विनाश अथवा क्षति के पश्चात् जब कभी मोहेनजोदडो दुबारा बसाया गया तो पुराने ध्वसावशेषो के ऊपर ही। यही नही, खुदाई से प्रकट हुआ है कि कभी-कभी मोहेनजोदडो की नवीन दीवारे अर्धभग्न पुरानी दीवारो के आधार पर खडी की गई थी। किसी समय हड़प्पा भी ठीक रावी-तट पर स्थित था, यद्यपि आज वह उससे ६ मील दक्षिण की ओर बसा हुआ है। सरिता की बाढ अथवा दिशा-परिवर्तन से नगर की रक्षा करने के निमित्त इसके पश्चिम मे भी एक बाँध बनाया गया था। पुरातत्ववेत्ताओ का मत है कि इस नगर के विनाश मे भी कदाचित् सरिता ने ही योग दिया था। यही हाल कदाचित् चन्हदडो और लोहमजूदडो का हुआ। यहाँ के उत्खनन मे जो मृण्भाण्ड मिले है उसमे बालू के अश विद्यमान है। इन नगरो के भवनो का निर्माण भी ध्वसावशेषो के ऊपर हुआ प्रतीत होता है।

सिन्धु-प्रदेश के प्राय समस्त बडे-बडे नगरो का निर्माण एक निश्चित व्यवस्था के आधार पर हुआ था। यह व्यवस्था इतनी उच्चकोटि की थी कि इसका निर्माण कुशल इजीनियरो का ही कार्य हो सकता था। इस योजना की आधार पीठिका थी नगर की प्रमुख सडके। ये पूर्व से पश्चिम की ओर और उत्तर से दक्षिण की ओर जाती थी। इस प्रकार प्रत्येक नगर इनके द्वारा कई खडो मे विभक्त हो जाता था। प्रत्येक खण्ड की माप प्राय. ८००′ × १२००′ होती थी। ये खण्ड मोहल्ले के रूप मे हो जाते थे। इन खण्डो में एक निश्चित योजना के आधार पर भवनो का निर्माण होता था। सडके प्राय सीधी होती थी और एक दूसरे को समकोण पर काटती हुई आगे बढ़ती थी। ध्वस के कारण हड़प्पा की सड़को के विषय मे हमे कोई भी ज्ञान प्राप्त नही हो सका है। परन्तु मोहेनजोदडो के उत्खनन मे सडको की स्थिति एव दशा का अनुमान बहुत कुछ लगाया जा सकता है। उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाला यहाँ का एक राजपथ कही कही पर ३३ फीट चौडा था। जो अन्य सडके है, उन पर भी सामान्यतया गाडियाँ इत्यादि बडी सुगमता से आ जा सकती थी। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि ये सारी सडके मिट्टी की बनी थी। फिर भी इनकी सफाई का बडा ध्यान रखा जाता था। इन पर स्थान-स्थान पर कूड़ा-करकट एकत्र करने की व्यवस्था थी। यह कूडा-करकट या तो सडक के किनारे स्थान-स्थान पर रखे हुए मिट्टी के पात्रो और पीपो मे जमा किया जाता था या फिर सडको के किनारे स्थान-स्थान पर खुदे गड्ढो मे। हड़प्पा की खुदाई मे सडको के किनारे इस प्रकार के गड्ढे मिले है। मोहनजोदडो की एक सड़क के दोनो ओर ऊँचे-ऊँचे चबूतरे बने हुए मिले

हैं। यह कहना कठिन है कि इनका प्रयोजन क्या था। सम्भवतः दूकानदार इन पर बैठ कर अपनी वस्तुओं का विक्रय करते थे। कहीं-कहीं सडकों के किनारे भोजनालय भी स्थापित थे। मोहनजोदडो की दो सडकों के मिलन-स्थान पर एक ऐसे ही भोजनालय के ध्वसावशेष मिले है।

सिन्धु-प्रदेश के प्राय सभी नगर अपनी नालियों की सुव्यवस्था के लिए प्रसिद्ध है। प्राय. प्रत्येक सड़क और गली के दोनो ओर पक्की नालियाँ बनाई गई थी। चौड़ी नालियों की पटान के लिए कहीं-कहीं बड़ी बडी ईंटो अथवा पत्थरो का प्रयोग किया गया है। नालियो की जुड़ाई और प्लास्टर में मिट्टी, चूने तथा जिप्सम का प्रयोग मिलता है। किसी-किसी नाली में मेहराब भी दृष्टिगत होता है। मकानों से आने वाली नालियाँ अथवा अथवा परनाले सडक गली की नालियो में मिल जाते थे। इसी प्रकार नगर की छोटी-छोटी नालियाँ बड़ी तथा प्रमुख नालियों में मिल जाती थी। इस सुयोजना के द्वारा घरों, गलियो और सडकों का गन्दा पानी नगर के बाहर निकाल दिया जाता था। समय समय पर इन नालियों को साफ करने की भी व्यवस्था थी। नालियो के किनारे कही कही गड्ढे बने हुए मिले है। अनुमानत. नालियो को साफ करने के पश्चात् उनसे निकला हुआ कूडा, करकट, रेत और कीचड इन्ही गड्ढो में जमा कर दिया जाता था। कहीं कहीं लम्बी नालियों के बीच में गड्ढे (soak-pit) बना दिए जाते थे। इनमे कूडा करकट जमा हो जाता था और नालियो का प्रवाह अबाध रहता था। सिन्धु प्रदेश की सडको और नालियो की ऐसी सुन्दर व्यवस्था देख कर आश्चर्य होता है। इस प्रकार की सुव्यवस्था १८वी शताब्दी तक पेरिस और लन्दन के प्रसिद्ध नगरों में भी न थी। सिन्धु प्रदेश की इस योजना को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वहां के प्रत्येक नगर में कोई न कोई स्थानीय सरकार अवश्य कार्य करती होगी।[1]

उत्खनन में छोटे-बडे सभी प्रकार के भवनो के ध्वसावशेष मिले है। सबसे छोटे भवन की माप लगभग ३०′ × २७′ होती थी। उसमे लगभग ४–५ कमरे होते थे। बडे भवनों की माप छोटे भवनो से लगभग दुगनी होती थी और उनमें कमरो की सख्या भी कभी कभी ३० तक होती थी। हडप्पा की अपेक्षा मोहेनजोदडो के भवन अधिक विशाल थे। उनके ध्वसावशेष भी अधिक सुरक्षित है। बात यह है कि हडप्पा गाँव के तथा समीपवर्ती निवासी बहुत दिनो तक प्राचीन ध्वसावशेषों को खोद खाद कर अपने मकान बनाने के लिए उनसे ईंटे निकालते रहे थे। भारतीय सरकार के इजीनियरो ने लाहौर और कराची के बीच रेलवे लाइन बनाने के लिए हडप्पा के प्राचीन ध्वसावशेषो से ईंटे खोदी थी। इससे उसके ध्वसावशेषो को भारी क्षति पहुँची। अस्तु, मोहेनजोदडो के ध्वसावशेषो में पुरातत्व विद्वानो ने नौ तह पाई है जो भिन्न भिन्न कालो की सूचना देती है। स्थूलतया विद्वानो ने ध्वसावशेषो को तीन प्रमुख कालो मे विभक्त किया है . (१) प्राचीनतम (२) मध्य और (३) नवीनतम। प्रथम दोनो कालो मे सिन्धु प्रदेश मे पर्याप्त रूप से शासन और व्यवस्था सुसगठित थी। समस्त भवनादि एक निश्चित योजना के आधार पर निर्मित प्रतीत होते है।

१ 'Many are well-planned streets and a magnificient system of drains, regularly cleared out, reflects the vigilance of some regular municipal government. Its authority was strong enough to secure the observance of town-planning bye-laws and the maintenance of the approved lines of streets and lanes over several reconstructions rendered necessary by floods'—Gordan Childe.

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि तृतीय काल में कुछ कारणो से उस सुसगठित शासन और व्यवस्था में भारी शिथिलता आ गई थी। लोग-राज-नियमो एव प्राचीन परम्पराओं का उल्लघन करने लगे थे। इस काल में निर्मित मकानो मे पहली जैसी न व्यवस्था थी और न शोभा। अनेक मनुष्यो ने अपने मकान बनाते समय सडक का बहुत सा भाग भी उनके भीतर घेर लिया था। कही कही पर तो ठीक सडक के ऊपर ही कुम्हारो के भट्टे मिले हैं। समस्त भवन सडको के किनारे पक्तिबद्ध न हो कर अव्यवस्थित रूप से यत्र-तत्र बनने लगे थे। परिणामत. कोई भवन सडक के कुछ भाग को हडप कर खडा है तो कोई उससे अति दूर। तृतीय काल मे मकानो का आकार-प्रकार भी छोटा हो गया है। कदाचित् अपनी निर्धनता के कारण मनुष्यो ने दुमजिला मकान बनाना ही छोड दिया है। इस युग के मकानो मे सीढियाँ भी नही मिलती। इस समय भवन-निर्माण-प्रणाली मे भी ह्रास दृष्टिगत होता है। अनेक भवनो मे न ईंटो का सगठन ठीक है और न उनकी जुडाई। दीवारो मे ईंटें टेढी-मेढी और छोटी-बडी लगाई गई है। उनके बीच मे बडी बड़ी दरारे रह गई है।

परन्तु तृतीय युग मोहेनजोदडो की सभ्यता का अवनति-काल था। अत इस हीन अवस्था से हम सिन्धु-निवासियो की उत्कृष्ट वास्तुकला का मूल्याकन नही कर सकते। उचित मूल्याकन के लिए हमे प्रथम और द्वितीय युगो की वास्तुकला का निरीक्षण करना पडेगा। वास्तव मे इन्ही युगो के वास्तुकारो की दक्षता को देख कर विद्वानो ने सिन्धु-निवासियो की इजीनियरी और भवन-निर्माण-शैली की मुक्तकठ से प्रशसा की है। जिस समय मिस्र-निवासी पक्की ईंटो के प्रयोग से अन-भिज्ञ थे और जिस समय मेसोपोटामिया में यह प्रयोग अत्यल्प मात्रा में होता था उसी समय सिन्धु-निवासी कच्ची और पक्की दोनो प्रकार की छोटी-बडी ईंटे बडी कुशलता से बना रहे थे और उनका प्रचुर प्रयोग कर रहे थे। समस्ट ईंटे बालुका-मयी मिट्टी से बनी है। उन्हे काटने के लिए आरे जैसे किसी तेज धार वाले औजार का प्रयोग किया जाता था। काटने के बाद कच्ची ईंटो को धूप मे रख कर सुखाया जाता था और पक्की ईंटें बनाने के लिए उन्हे भट्ठो मे तपाया जाता था। सिन्धु-प्रदेश की ईंटो की विशेषता यह है कि उन पर किसी प्रकार का चित्र नही मिलता। कुछ कच्ची ईंटो पर कुत्तो और कौवो के पजो के निशान मिलते है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय ये गीली अवस्था मे जमीन पर बिछा कर सुखाई जा रही थीं उसी समय कुत्ते और कौवे इन पर खडे हो कर या बैठ कर चले गए थे अत. ये चिन्ह भी स्वेच्छया अकित नही हैं। सिन्धु-प्रदेश मे प्रयुक्त अधिकाश पक्की ईंटो की माप ११"×५ १/२"×३ ३/४" अथवा ५ १/२"×२ ५/८"×२ ३/४" है, यद्यपि कभी कभी २० १/४"×८ १/२"×२ १/४" बडी ईंटें भी पाई जाती हैं। सबसे बडी कच्ची ईंटे प्राय: १८"×७ १/२"×३ १/१०" की हैं।

प्राय: समस्त भवनों का निर्माण नीव डाल कर होता था। ये नीवें प्राय. कच्ची अथवा टूटी-फूटी ईंटों से भरी जाती थी। सीलन और बाढ़ से रक्षा करने के लिए कभी-कभी मकान ऊँचे-ऊँचे चबूतरों पर बनाए जाते थे। ये चबूतरे प्राय कच्ची मिट्टी के बनते थे। मकान की दीवार कभी धूप में सुखाई गई कच्ची ईंटो की, कभी आग में तपाई हुई पक्की ईंटों की और कभी पुराने मकानों से निकाली हुई पुरानी ईंटों से बनाई जाती थी। दुमजिला मकानों की नीवें अधिक गहरी और उनकी पहली मंजिल की दीवारें अधिक चौड़ी होती थी जिससे कि वे अपने ऊपर का भार सुगमतापूर्वक उठा सें। दीवारों के बाहरी भागों में ईंटों का प्रयोग बडी सुव्यवस्था से किया जाता था। उस स्थिति में या तो वे खड़ी करके लगाई जाती थीं या लिटा

कर। बाहरी भागो में प्राय. सदैव ही सम्पूर्ण ईंटो का प्रयोग मिलता है। कभी-कभी दीवार के भीतरी भाग में भी सम्पूर्ण ईंटे प्रयुक्त की गई थी। परन्तु उनके भीतर टूटी-फूटी अथवा कच्ची ईंटो का भी प्रयोग होता था। ईंटो के चिनने में प्राय. मिट्टी के गारे का प्रयोग किया जाता था। मैके महोदय के मतानुसार दीवारो पर प्लास्टर करने की भी प्रथा थी। यह प्लास्टर बहुधा मिट्टी का परन्तु कभी-कभी जिप्सम का भी होता था। मकानों की फर्शें तथा छतें कभी मिट्टी की, कभी कच्ची ईंटो की और कभी पक्की ईंटो की बनाई जाती थी। उनमें प्रयुक्त ईंटों की माप प्राय ९ ५"×४ ३५"×२" है। छतो के ऊपर का पानी निकालने के लिए मिट्टी अथवा लकडी के परनाले बने होते थे। ये छतो से निकल कर सडक पर बनी हुई नालियो से मिल जाते थे। इसी प्रकार मकान के भीतर का पानी निकालने के लिए नालियो की व्यवस्था थी। ये नालियाँ बाहर जा कर सडक की नालियो से मिल जाती थी। कभी-कभी घर की ये नालियाँ सडक की नालियो मे न गिर कर घर के बाहर बने हुए नाबदानो मे गिरती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इन नाबदानो को समय-समय पर साफ करने का कोई निश्चित प्रबन्ध था। सामान्यतया सिन्धु-प्रदेश के प्रत्येक अच्छे घर मे आँगन, पाकशाला, स्नानागार, शौचगृह और कुएँ की व्यवस्था रहती थी। प्राय आँगन के किसी कोने मे ही पाकशाला बना ली जाती थी। भोजन लकडी से जलने वाली अँगीठियो, चूल्हो अथवा भट्ठियों मे बनता था। लकड़ी एकत्र करने के लिए आँगन मे ही एक ऊँचा चबूतरा बना दिया जाता था। स्नानागार प्राय. मकान के उस भाग मे बनाए जाते थे जो सडक अथवा गली के निकटतम हो जिससे कि नालियो और परनालो के द्वारा उनका पानी सरलतापूर्वक सडक की नालियो तक पहुँचाया जा सके। स्नानागारो की फर्शें पक्की ईंटो से पटी होती थी। यह पटान इतनी अच्छी होती थी कि ईंटो के बीच मे कही भी दरार नही दिखाई देती। कभी-कभी स्नानागारो की भीतरी दीवारो की जमीन के ऊपर के कुछ भाग ईंटो से पाट दिए जाते थे जिससे पानी दीवार की दराजो मे घुस कर उन्हे क्षति न पहुँचा सके। कभी-कभी शौचगृह स्नानागार के बगल मे ही होता था। खुदाई मे किसी-किसी मकान की दूसरी मंजिल पर भी शौचगृह मिले है। कभी-कभी शौचगृह के समीप ही मिट्टी का एक ऊँचा चबूतरा बना दिया जाता था। इस पर बैठ कर लोग हाथ-पैर धोते और कपडे साफ करते थे। सिन्धु-प्रदेश के प्राय प्रत्येक घर मे एक कुआँ होता था। ये कुएँ अपनी ईंटो की सुदृढ चिनाई के लिए प्रसिद्ध हैं। अधिकाश कुएँ सभ्यता के प्रथम और मध्यकाल मे ही निर्मित हुए थे। तृतीय काल स्पष्टतया अवनति-काल था। इस समय मनुष्यों ने अधिकाशतः प्राचीन कुओ की मरम्मत करके ही अपना काम चलाया था। सिन्धु-प्रदेश के समस्त कुएँ प्राय. अन्डाकार होते थे और इनके मुँह के चतुर्दिक एक दीवार बनी रहती थी। पानी रस्सी की सहयाता से निकाला जाता था। रस्सी की रगड आज तक कुछ कुओ की मुन्डेर के पत्थरो पर दिखाई देती है। पानी निकालने के लिए कुछ कुओ पर गिरी भी लगी रहती थी। पानी खींचने वालो के बैठने के लिए अनेक कुओ के पास तिपाइयाँ बनी रहती थी। अनेक कुओ के समीप गड्ढे खुदे हुए मिले हैं। कदाचित् इन पर घडे रक्खे जाते थे। कुछ कुओ के भीतर सीढियाँ बनी थी। इनकी सहायता से कुओं के भीतर घुस कर उनकी सफाई की जाती थी।

यह आश्चर्य की बात है कि सिन्धु-प्रदेश के अधिकांश दरवाजे और खिडकियाँ मुख्य सडको की ओर न हो कर गलियो की ओर ही होते थे। इसके वास्तविक कारण का अनुमान करना कठिन है। परन्तु इतना निश्चित है कि इस योजना से नगर की प्रमुख सडकें बहुत कुछ सूनी लगती होंगी। छतो अथवा दमजिले पर जाने के लिए

भवनों में सीढियाँ होती थीं। ये पक्की ईंटों की बनती थीं। कभी सीढ़ियों के सम्पूर्ण भाग में पक्की ईंटें लगती थी और कभी केवल बाहरी भागों में ही। उनके भीतरी भाग में कच्ची अथवा पक्की टूटी-फूटी ईंटों का प्रयोग किया जाता था। खुदाई में सीढियों के जो ध्वसावशेष उपलब्ध हुए है उनसे प्रतीत होता है कि ये सीढ़ियाँ अधिकांशत. छोटी होती थी। जिन भवनो मे सीढियो के ध्वसावशेष नहीं मिलते वहाँ विद्वानों का अनुमान है कि लोग लकडी की सीढियों का प्रयोग करते होंगे। भवनो के अधिकाश द्वारों पर मेहराबो का प्रयोग नहीं मिलता। उन पर लकडी का पटाव ही अधिक दिखाई देता था। द्वारो मे लकडी की चौखट तथा लकडी के ही किवाड़ो का प्रयोग होता था। ये किवाड कदाचित् सिटकिनी की सहायता से बन्द होते थे। सिटकिनियाँ अनुमानत धातु की बनाई जाती थी। कभी कभी दरवाजो के सामने मकान के भीतर एक दीवार खडी कर दी जाती थी। यह पर्दे का काम करती थी।

सिन्धु-प्रदेश की खुदाई में कुछ विशेष इमारतो का पता चला है। ये इमारतें सार्वजनिक अथवा राजकीय थी। हडप्पा मे एक गढी (माउन्ड ए० बी०) के ध्वसावशेष मिले हैं। यह लगभग समानान्तर चतुर्भुज के आकार की थी जो उत्तर से दक्षिण की ओर लगभग ४६० गज लम्बी और पूर्व मे पश्चिम की ओर लगभग २१५ गज चौडी थी। इस समय इसकी ऊँचाई लगभग ४५-५० फीट है। गढी के भीतरी भागो का निर्माण २०-२५ फीट ऊँची एक पीठिका (Raised Platform) के ऊपर हुआ था। यह पीठिका कच्ची ईंटो की बनी थी। गढी की बाहरी दीवार एक समय की नहीं है। यह तीन भिन्न-भिन्न कालो में निर्मित हुई प्रतीत होती है। इसका निर्माण १० × २०' के एक बाँध के ऊपर किया गया था। यह बाँध कदाचित् बाढ से रक्षा करने के निमित्त बनाया गया था। गढी की बाहरी दीवार पर स्थान-स्थान पर मीनारो और फाटकों का निर्माण किया गया था। इन पर कदाचित् प्रहरी और रक्षक नियुक्त रहते थे। दीवार के दक्षिणी सिरे पर कदाचित् एक जीना था। इसका प्रयोग गढी पर जाने के लिए किया जाता होगा।

हडप्पा की इस गढी के समीप अन्य महत्वपूर्ण भवन रहे होंगे। परन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि लोगों ने ईंटे निकाल-निकाल कर उनके ध्वसावशेष नष्ट कर दिए है। फिर भी हडप्पा के कुछ भवनो की धूमिल रूपरेखा अवशिष्ट रह गई है। इस भवनों मे सर्वप्रथम उल्लेखनीय है कुछ भडागार। ये ६-६ की दो पक्तियो में निर्मित किए गए थे। दोनो पक्तियो के बीच से २३ फीट चौडा एक मार्ग था। इसी मार्ग के दोनों ओर चार-चार फीट ऊँची एक-एक पीठिका बनाई गई थी। इन्ही पीठिकाओ के ऊपर मार्ग के दोनो ओर ६-६ भवनो की दो पक्तियाँ बनी थी। प्रत्येक भडागार लगभग ५० फीट लम्बा और २० फीट चौडा था। इन भंडागारों का प्रमुख प्रवेश-द्वार सरिता की ओर था। ऐसा प्रतीत होता है कि सरिता-मार्ग से ही भडागारो की सामग्री आती-जाती थी। कदाचित् ये भडागार राजकीय थे। यहाँ राज्य की ओर से अन्नादि सग्रहीत होता होगा और आवश्यकतानुसार जनता मे वितरित किया जाता होगा। इस प्रकार के भडागार मेसोपोटामिया के नगरों मे भी थे। प्राचीन ससार मे मुद्रा-निर्माण के पूर्व अन्न भी क्रय-विक्रय का एक प्रमुख माध्यम था। अत उस समय राजकीय अन्न-भडागार राजकोष के रूप में भी कार्य करते थे।

इन भण्डागारो के लगभग १०० गज दक्षिण मे ईंटो के बने हुए अनेक गोलाकार चबूतरे मिले है। प्रत्येक चबूतरे का व्यास लगभग ११ फीट होता था। उसके बीच में एक छेद होता था। कदाचित् इस छेद मे एक लकडी लगी रहती थी और इस प्रकार इन चबूतरों से अन्न पीसा जाता होगा। एक चबूतरे के छेद के भीतर गेहूँ और जौ के

कुछ अंश मिले हैं।

इन चबूतरो के दक्षिण में अनेक भवनो के ध्वसावशेष मिले हैं। इनमें से प्रत्येक भवन लगभग ५६ फीट लम्बा और २४ फीट चौडा था और उसके भीतर २ कमरे अथवा कभी-कभी १ कमरा अथवा १ आँगन होता था। भवन का फर्श ईंटो से पटा होता था। ये भवन एक-दूसरे से ३-४ फीट चौडी गलियो के द्वारा पृथक् कर दिए गए थे। इस भवन समूह के चतुर्दिक एक दीवार निर्मित कर दी गई थी जो एक चहार-दीवारी का काम करती थी। विद्वानो का मत है कि ये भवन श्रमजीवियों के निवास-स्थान थे। इन्हीं निवास-स्थानो के निकट कुछ भट्ठियाँ भी मिली हैं। कदाचित् इनमें धातुयें गलाई जाती थी।

गढी, भण्डागारो और श्रमिक-भवनों के उपर्युक्त ध्वसावशेषों से प्रकट होता है कि उन सब का निर्माण एक निश्चित राजकीय योजना के आधार पर हुआ था।

हडप्पा की भाँति मोहेनजोदडो में भी एक गढी का निर्माण हुआ था। यह गढी २० फीट से लेकर ४० फीट तक ऊँची एक कृत्रिम पहाडी पर बनाई गई थी। बाढ से रक्षा के निमित्त इस गढ़ी के चतुर्दिक भी ४३ फोट चौडा एक बाँध बना दिया गया था। इस गढी मे भी दुर्गीकरण किया गया था, यद्यपि यह हडप्पा की अपेक्षा अधिक सरल और साधारण है। खुदाई में गढी के दक्षिण-पूर्व मे पक्की ईटो की बनी मीनारो के ध्वंसावशेष मिले है। गढी के पश्चिम मे भी एक मीनार दृष्टिगत होती है।

इस गढी के भीतर सब से महत्वपूर्ण इमारत है एक स्नान-कुण्ड। यह ३९ फीट लम्बा, २३ फीट चौड़ा और ८ फीट गहरा है। इस कुण्ड मे जाने के लिए दक्षिण और उत्तर की ओर ईंटो की सीढियाँ बनी हुई है। इनके ऊपर लकडी की पट्टक लगाई गई है। उत्तरी सीढियो के समीप एक पीठिका (Platform) है जिसके समीप एक अन्य छोटी सीढी है। इस स्नानकुण्ड की दीवारें बडी सुदृढ है। उनमे ईंटो की चिनाई बडी सावधानी एव कुशलता के साथ की गई है। दीवार के दोनो ओर पक्की ईंटो का प्रयोग किया गया है और उनके बीच में कच्ची ईंटो का। कुण्ड के फर्श पर खडी ईंटें लगाई गई है और वे भी भलीभाँति काट-काट कर जिससे कि उनके बीच मे कम से कम दराज रहे। पुन फर्श और दीवारो की जुडाई जिप्सम से की गई है। कुण्ड की बाहरी दीवार पर गिरिपुष्पक (Bitumen) की १ इच मोटी प्लास्टर लगाई गई है। इस प्रकार फर्श की खडी ईंटों की चिनाई, मोटी दीवारो तथा जिप्सम और गिरिपुष्पक के प्लास्टर ने स्नानकुण्ड को अति सुदृढ बना दिया था।

स्नानकुण्ड की फर्श का ढाल दक्षिण-पश्चिम की ओर है। अत पानी निकालने के लिए इसकी मोरी का निर्माण भी दक्षिण-पश्चिम की दिशा में ही हुआ है। कदाचित् समय-समय पर कुण्ड की सफाई की जाती थी। उस समय उसका गन्दा पानी इसी मोरी के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता था। मोरी का पानी बाहर बनी हुई एक नाली मे गिरता था।

कुण्ड के चतुर्दिक बरामदे बने थे। इनके पीछे अनेक छोटे-बडे कमरे बनाए गए थे एक कमरे में एक कुआँ मिला है। कदाचित् इसी के पानी से स्नानकुण्ड भरा जाता होगा। कुण्ड के उत्तर की ओर एक मार्ग था। इस मार्ग के दोनों ओर कुछ छोटे-छोटे कमरे थे। प्रत्येक कमरा ९½ फीट लम्बा और ६ फीट चौडा था। कमरो की फर्श और दीवारो पर बडी सावधानी के साथ ईंटो की चिनाई की गई थी। इन कमरो मे छोटी-छोटी नालियाँ बनी थी। ये कमरो का पानी निकाल कर बाहर की बड़ी नाली में डाल देती थी। यह बड़ी नाली पूर्वोल्लिखित मार्ग के किनारे-किनारे बहती थी।

इन कमरो के दरवाजे एक-दूसरे से विपक्ष में खुलते थे। इस प्रकार किसी भी कमरे में बेपर्दगी नही होने पाती थी। प्रत्येक कमरे के समीप एक सीढ़ी थी। सीढियों का प्रयोग कदाचित् ऊपरी मजिल पर बने हुए कमरो मे जाने के लिए किया जाता था।

अनेक विद्वानो का मत है कि ऊपरी मजिल पर बने हुए कमरो में पुजारी रहते थे जो शुभ मुहूर्तों और पर्वों पर नीचे उतर कर नहाते थे। अत नीचे के कमरो को स्नान-गृह समझना चाहिए। कदाचित् जनसाधारण कुण्ड में ही स्नान करता था। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान हिन्दू-धर्म के समान सिन्धु-प्रदेश के धर्म मे भी पवित्र स्नानो का महत्व था।

इस स्नान-कुण्ड के पश्चिम मे खुदाई करने से एक अन्य भवन के ध्वसावशेष मिले हैं। ह्वीलर महोदय का अनुमान है कि यह भवन एक विशाल भण्डागार था। प्रारम्भ में यह १५० फीट लम्बा और ७५ फीट चौडा था। कालान्तर मे इसकी दक्षिणी दिशा मे कुछ भाग और बढा दिया गया था। इस भण्डागार के निर्माण में बडे-बड़े सुदृढ लट्ठो का प्रयोग किया गया था। इसकी दीवारे भी अति सुदृढ थी। भण्डागार के भीतर वायु-प्रवेश के लिये मार्ग थे। उसके दक्षिण की ओर ईंटो की बनी हुई पीठिका थी। कदाचित् इसी की सहायता से माल उतारा-चढाया जाता होगा। बहुत सम्भव है कि कर के रूप मे राज्य की ओर से वसूल किया जाने वाला अन्न इसी भण्डागार मे सग्रहीत किया जाता होगा।

स्नान-कुण्ड के उत्तर-पूर्व मे एक अन्य भवन के ध्वसावशेष मिले है। यह भवन २३० फीट लम्बा और ७८ फीट चौडा है। इसकी बाहरी दीवारे ६ फीट ९ इच तक मोटी है। इसके भीतर एक आँगन था जो ३३ फीट लम्बा और इतना ही चौडा था। इसके अतिरिक्त इसमे कई बरामदे, कई कमरे और कई स्नानागार थे। कुछ विद्वानों का मत है कि इस भवन मे कोई उच्च राज्याधिकारी अथवा धर्माध्यक्ष रहता था।

कुछ अन्य ध्वसावशेषो से अनुमान लगाया जाता है कि उनके स्थान पर एक राजप्रासाद बना था। यह २३० फीट लम्बा और ११५ फीट चौडा था। सुदृढता के लिए इसकी दीवारे ५ फीट तक चौडी थी। इसमे दो आँगन, भण्डागार और भृत्यजन के लिये विशेष कक्ष पहचाने जा सकते थे। मैके महोदय का अनुमान है कि इस प्रासाद मे कदाचित् नगर के राज्यपाल रहा करते होगे।

स्नान-कुण्ड के समीप एक अन्य भवन के ध्वसावशेष मिले है। यह भवन लगभग ८० फीट लम्बा और ८० फीट चौडा था। पाटलिपुत्र के मौर्य-प्रासाद के समान इस भवन की छत भी स्तम्भो के ऊपर टिकी थी। ये स्तम्भ सख्या मे २० थे। फर्श पर अनेक स्थानो पर बेंचे अथवा चौकियाँ पडी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह भवन किसी सामूहिक कार्य के लिए बना था। प्रसिद्ध विद्वान मैके का विचार है कि इस भवन मे बाजार लगता था। परन्तु इसके विरुद्ध भारतीय विद्वान् दीक्षित का मत है कि इस स्थान पर धर्म-चर्चा होती थी।

अन्यान्य कलायें

सिन्धु-प्रदेश की खुदाई में बहुसंख्यक मुद्रायें, ताबीजें, मूर्तियाँ, खिलौने, गुडियाँ, आभूषण, बर्तन आदि मिले हैं। इन्हें देखने से तत्कालीन कलाकारों की विविध कलाओं का ज्ञान होता है। ये समस्त वस्तुयें साधारण मिट्टी, चिकनी मिट्टी, काली मिट्टी, चीनी मिट्टी, साधारण पत्थर, चूना पत्थर, लाल पत्थर, सिरवारी पत्थर, हरा अमेजन पत्थर, वैदूर्य पत्थर, नीला स्फटिक, लाल स्फटिक, सीप, घोघा, हड्डी,

हाथीदाँत, सोना, चाँदी, पीतल, ताँबा, सीसा आदि की सहायता से बनाई जाती थीं। इनमें से समस्त पदार्थ सिन्धु प्रदेश मे उत्पन्न नही होते थे। अत वे अन्य स्थानो से लाये जाते थे। कला-कृतियाँ हाथ और साँचे दोनो से बनती थीं। सिन्धु-निवासी धातु को गलाना जानते थे। मोहनजोदडो में ताँबे का गला हुआ एक ढेर मिला था। अतः धातुओं को गला कर तथा उन्हें भिन्न-भिन्न साँचो मे ढाल कर ये लोग विविध आकार-प्रकार की वस्तुये बनाते थे। कभी-कभी ये धातु को गला कर और पीट कर उसकी चादरें बना लेते थे और फिर उन चादरो से काट-काट कर कला-कृतियाँ तैयार करते थे। कच्ची मिट्टी की बनी हुई वस्तुओ को आवाँ में पकाया भी जाता था। कला-कृतियो के ऊपर लाल, पीले, हरे आदि रगो की पालिश भी मिलती है। वस्तुओ पर पच्चीकारी भी मिलती है। पत्थर, घोघा तथा धातुओ को काटने के लिए तेज औजार चाकू, कैंची आदि का प्रयोग किया जाता था। धातु को गलाने के लिए भट्ठियाँ और पीटने के लिए हथौडे होगे। छेद करने के लिए बर्मा का प्रयोग किया जाता था।

मिट्टी की कला-कृतियाँ—सिन्ध-प्रदेश में मिट्टी की कला-कृतियाँ बहुसख्या में मिली हैं। वास्तव में ये कला-कृतियाँ कुम्भकार द्वारा निर्मित होती थी। इसलिये इस मृन्मयकला को हम कुम्भकार-कला भी कह सकते हैं। सैन्धव कुम्भकार ने कल्पना और आदर्श की ओर इतना ध्यान नही दिया जितना उपयोगिता और वास्तविकता की ओर। अत यह कला उपयोगितात्मक और यथार्थवादी ही अधिक है। उसने अधिकाशत उन्ही वस्तुओ का निर्माण किया जो सर्वसाधारण के उपयोग की थी अथवा सर्वसाधारण से सम्बन्धित थी। यही कारण है कि सिन्धु-प्रदेश में मिट्टी के बर्तन, मिट्टी की मुद्रायें और मिट्टी की मूर्तियाँ ही सबसे अधिक मिली है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु-प्रदेश मे कुम्भकारों का एक अपना वर्ग था। वह नगरो के बाहर ही रहता था और वहीं अपना व्यवसाय करता था ताकि मिट्टी, धुये आदि से नगरो का वायुमण्डल गन्दा न हो। परन्तु कालान्तर मे जब सिन्धु-सभ्यता की अवनति होने लगी और लोग नगर-पालिकाओ के नियमो की अवहेलना करने लगे तो कुम्भकार नगरो के भीतर भी आ कर बस गये। खुदाई में इसी अवनति-काल के मोहेनजोदड़ो के एक भाग में कुम्भकारों की बस्ती मिली है।

मिट्टी के बर्तन—सिन्धु-सभ्यता के अनेक नगरो से मिट्टी के बहुसख्यक बर्तन मिले हैं। ये मिट्टी, अभ्रक, चूना और बालू की सहायता से बनाए जाते थे। यद्यपि खुदाई में कोई चाक नहीं मिला है तथापि बर्तनों के आकार-प्रकार के देखने से प्रतीत होता है कि अधिकांशत वे चाक से ही बनाये जाते थे, हाथ से नही। कुछ बर्तनो के तलों को देखने से तो यह भी प्रकट होता है कि वे घूमते हुए चाक से किसी डोरी की सहायता से अलग किए गए थे।

चाक से उतारने के पश्चात् गीले बर्तन धूप में सुखाये जाते थे और तत्पश्चात् वे आग के भट्ठों में पकाये जाते थे। खुदाई मे कुम्भकारो के अनेक भट्ठे मिले है मोहेनजोदड़ो में ६ और हड़प्पा में १४ भट्ठे निकले हैं। जो भट्ठे छोटे हैं उनमें सम्भवत तेज आँच की जाती होगी और सम्भवत धातु इत्यादि के बने हुए ऐसे बर्तन ढाले जाते होंगे जिन्हें तेज आँच की आवश्यकता होती है। बडे-बडे भट्ठे कम आँच वाले थे और इनमें मिट्टी आदि मुलायम पदार्थों से बनी वस्तुएँ पकाई जाती होंगी।

सैन्धव कुम्भकार अपने बर्तनों के तल और शरीर को बहुधा गोल कर देते थे।

इससे बर्तन बिना सहारे पृथ्वी पर खड़े नही किये जा सकते थे। कुछ बर्तन तो निश्चित रूप से गले मे रस्सी बाँध कर ऊपर टाँगने के लिये थे। इसी से कुछ घड़ो आदि के गले या तो अधिक लम्बे है या उनके गले में रस्सी बाँधने के लिए छेद बने हैं।

सिन्धु-प्रदेश के मिट्टी के बर्तन साधारण आकार के हैं। पशु-पक्षी के आकार के बर्तन बहुत कम मिलते हैं। भेडा की आकृति का एक असाधारण घडा मिला है।

इसी प्रकार इन बर्तनो में मूँठ अथवा टोटी भी नहीं होती। अधिकाश मृन्पात्र साधारण घडे, हाँडियाँ, प्याले, कुल्हड और तश्तरियाँ हैं।

मोहेनजोदडो के किसी भी बर्तन पर लेख नही मिलता। परन्तु हडप्पा के बर्तनो पर लेख भी मिलते है। ये लेख कदाचित् कुम्भकारो के नाम होंगे।

प्राप्त हुए बर्तन विविध रगो के है। कभी-कभी हलकी अथवा तेज आँच में पकाये जाने से भी बर्तनो मे स्वाभाविक ढग से हल्का या गहरा लाल-नीला रग आ गया है। इनके अतिरिक्त ऊपर से भी विविध रगो से बर्तनो को रगने की प्रथा थी। इनमे काला, लाल, कत्थई और पीला रग प्रमुख हैं। कभी-कभी बर्तनो पर रग लगाकर उन्हे खूब घोटा गया है जिससे उन पर पालिश अथवा चमक आ गई है।

बर्तनों के ऊपर अनेक प्रकार का अलकरण भी मिलता है। कभी-कभी सतह एक रग की होती है और उस पर अलकरण दूसरे रग से किया जाता है।

सरल अलकरण एकमात्र रेखाओ का है। सरल रेखाओ और बिन्दुओ के सगठन से बर्तनो पर विविध आकृतियाँ बनी मिलती है। परन्तु अधिकाश बर्तनो पर पशु-पक्षियो के चित्र है। इनमे हिरन, बकरी, खरगोश, कौआ, बतख, गिलहरी, मोर, साँप और मछली विशेष उल्लेखनीय हैं। अनेकानेक बर्तनो पर वृक्षो, पुष्पों और पत्तियो मे भी अलकरण किया गया है। इनमें प्रमुख है पीपल, नीम और खजूर के वृक्ष। मैके का कथन है कि किसी भी अन्य देश की कला मे पादप-पत्रो को इतना महत्व नही दिया गया जितना कि सैन्धव-कला मे।

परन्तु आश्चर्य की बात है कि मोहेनजोदडो और चँहूदडो के कुभकारो ने अपने बर्तनो पर मानव-आकृतियो को स्थान नही दिया। हाँ, हडप्पा के बर्तनों में कुछ मानव-आकृतियाँ अवश्य दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, वहाँ एक मिट्टी का बर्तन मिला है जिस पर एक मछुए का चित्र है। वह एक बाँस पर जो जालो को लटकाये लिए जा रहा है—उसके पैरो के समीप मछली और कछुवा पडे हैं।

सिन्धु–प्रदेश के कुछ बर्तनो का अलकरण बडा सुन्दर है। उन पर पशु-पक्षी और पादप-पत्र इतनी सावधानी मे बनाये गए है कि वास्तविक से लगते है। शताब्दियो के कालातिपात के पश्चात् भी अनेकानेक बर्तनो पर विविध रग बने हुए हैं।

मिट्टी की मुद्रायें—सिन्धु-प्रदेश मे प्राप्त अधिकाश मुद्रायें चीनी मिट्टी अथवा साबुन पत्थर की बनी है। ये आरा अथवा चाकू से काट कर बनाई जाती थी। कदाचित् अधिकाश मुद्रायें हाथ से बनाई जाती थी। खुदाई में मुद्रा ढालने के साँचे अथवा ठप्पे नही मिले हैं। कुछ मुद्रायें ताबीजें हो सकती है। अनेक मुद्राओं पर लेख मिलते हैं। अभाग्यवश आज तक ये पढे नही जा सके हैं अन्यथा लेखाकित मुद्राओ का विशेष महत्व प्रकट होता।

मुद्राओ पर विविध पशु-पक्षी चित्रित हैं। इनमें नीलगाय, बैल, भैंस और हाथी प्रमुख हैं। मुद्राओ पर पशु-पक्षियो का चित्रण अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक है। इनसे सैन्धव कलाकारो के उच्चकोटि के हस्तलाघव का ज्ञान होता है।

सिन्धु-प्रदेश में प्राप्त कुछ मिट्टी की मुद्रायें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पशुओं से घिरे हुए योगीश्वर शकर की मुद्रा मिट्टी की ही है। इसी प्रकार नागधारी योगीश्वर शकर की एक अन्य मुद्रा मिट्टी की है। वह भी मिट्टी की है। दोनों ने सैन्धव धर्म में शैव उपासना के साक्ष्य प्रस्तुत किये है। हड़प्पा से प्राप्त मिट्टी की एक मुद्रा पर एक विशद किन्तु दुर्बोध दृश्य अकित है। मुद्रा के अग्रभाग पर एक मचान है। उस पर एक व्यक्ति बैठा है। वह नीचे स्थित एक बाघ पर आक्रमण कर रहा है। इस दृश्य के नीचे एक योगस्थ व्यक्ति का दृश्य है। उसके समीप कई पशु अकित किये गए है। मुद्रा के पृष्ठ भाग पर कदाचित् एक त्रिशूल गडा है। उसी के समीप एक बैल खडा है। बैल के निकट किसी देवता और मन्दिर का चित्रण है। एक अन्य मृन्मुद्रा पर किसी सामूहिक समारोह का चित्रण है। इस पर बीच मे एक व्यक्ति ढोल बजा रहा है। उसके चारो ओर बहुत से मनष्य खडे हैं। मिट्टी की ही एक मुद्रा पर मानव-पशु-युद्ध का भयकर चित्र अकित है। एक ओर एक नग्न पुरुष है और दूसरी ओर दो व्याघ्र। पुरुष अपने शीश पर एक शिरोभूषा या शिरस्त्राण धारण किए है। व्याघ्रो के मुख पर क्रोध की ऊष्मा स्पष्टतया झलक रही है। इस दृश्य को देख कर रोम के मानव-पशु-द्वन्द्वो का स्मरण हो आता है।

कदाचित् ताबीजो का धार्मिक महत्व रहा होगा। इन पर अकित पशु भी किसी अधविश्वास के सूचक हो सकते है। सम्भवत ताबीजे पहनी जाती थीं। कुछ व्यक्तियो की मूर्तियो के गले मे डोरा बँधा मिलता है। इससे यह अनुमान होता है कि आधुनिक प्रथा की भाँति तत्कालीन समाज मे भी मनुष्य ताबीजो को डोरे से बांध कर गले मे पहनते होगे।

मिट्टी की इन ताबीजो पर भी कुछ अच्छे चित्र दिखाई देते हैं। हडप्पा से प्राप्त एक मिट्टी की ताबीज पर ढोल बजाये जाने का दृश्य है। दूसरी ताबीज पर ढोल बजने के साथ-साथ कुछ लोगो का नृत्य भी हो रहा है। एक अन्य ताबीज पर हाथ फैलाए हुए एक व्यक्ति अकित है। उसके दोनो ओर एक-एक व्यक्ति एक-एक वृक्ष को पकडे है। बहुत सम्भव है कि इन समस्त ताबीजो का सम्बन्ध किसी धार्मिक क्रिया या जादू-टोना से हो।

मिट्टी की मूर्तियां—खुदाई मे मिट्टी की जो मूर्तियां मिली हैं वे दो प्रकार की हैं—(१) धार्मिक महत्ववाली और (२) सामान्य।

(१) धार्मिक महत्ववाली—इनमें देवी, देवताओ, उपासिकाओ, देवदासियों, नर्तकियो और बलि-पशुओ आदि की मूर्तियां हैं। सिन्धु-प्रदेश में मा देवी की अनेक मृन्मूर्तियां मिली हैं। कला की दृष्टि से ये महत्वपूर्ण नही हैं। इनमें तनिक भी शरीर-सौष्ठव नही है। इनके पैर डण्डो के समान सीधे और तने हैं। उनमें उँगलियां तक नही हैं। आँखे और स्तन मिट्टी के पृथक् पृथक् टुकडे चिपका कर बनाए गए हैं। इनके नितम्ब बहुधा चौड़े होते है। इनके शरीर प्राय वस्त्रहीन रहते हैं। कमर में एकमात्र मेखला और पटका तथा शीश पर कुल्हाडी की आकृति की शिरोभूषा रहती है। कभी-कभी गले में हार भी दिखाई देता है। अनेक मूर्तियों के शीश के दोनों ओर दीपक बने हुए हैं। इनके जलने से दोनों ओर धुएँ के निशान पड गए हैं।

मोहेनजोदडो में एक द्विमुख देवता की मृन्मूर्ति मिली है। इसके अतिरिक्त सिन्धु-प्रदेश में अनेक मृत्तिकानिर्मित लिंग और योनियां मिली हैं जिनकी पूजा होती थी।

कुछ अन्य मूर्तियों को देखने से प्रतीत होता है कि वे नर्तकियां और देवदासियां

हैं। कहीं-कहीं पर उपासिकाओं की भी मृन्मूर्तियाँ मिली हैं। अन्यत्र कुछ मृन्मूर्तियाँ पशु-बलि प्रदर्शित करती हैं। इन सबका धार्मिक महत्व है। इनका विशेष उल्लेख धर्म के अन्तर्गत किया जाएगा।

(२) सामान्य—सामान्य मूर्तियों मे स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी आदि की मूर्तियाँ और खिलौने सम्मिलित है। इनका निर्माण कला-प्रदर्शन, बाल-विनोद, बाल-शिक्षा अथवा अलंकारिक उपयोगिता के हेतु हुआ था।

पुरुषों की जो मूर्तियाँ मिली है वे प्राय नग्न हैं। स्त्रियो की मूर्तियों में कुछ के पेट फूले हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे गर्भिणी हैं। कहीं-कही पर स्त्रियाँ अपने शिशु को स्तन-पान कराती हुई प्रदर्शित की गई हैं। इन मूर्तियों में यथार्थ शिशु नहीं दिखाया गया है। स्त्रियाँ एकमात्र एक मिट्टी के टुकडे को अपने वक्ष स्थल से लगाये है। कुछ मूर्तियाँ कन्याओं की मिली हैं।

मिट्टी के बने पशुओं मे बैल अतिसख्यक हैं। मोहेनजोदडो और हडप्पा में जो बैल के खिलौने मिले है उनके गले मे छेद नही मिलता। परन्तु चन्हूदडो के बैल के खिलौनो के गले मे स्पष्टतया छेद दिखाई देते है। ऐसा प्रतीत होता है कि छेदों में रस्सी बाँध कर बच्चे इन्हे खीचते थे। मिट्टी के बने गैंडे के जो खिलौने मिले हैं वे कला की दृष्टि मे असुन्दर है। चीनी मिट्टी की बनी भेड की मूर्तियाँ निस्सन्देह सुन्दर हैं। बकरी सिन्धु-निवासियो का एक पालतू पशु था। मोहेनजोदडो में इसके कई खिलौने मिले है। बतख पक्षी सिन्धु-प्रदेश मे अत्यधिक पवित्र समझा जाता था। इसके भी मिट्टी के बने अनेक खिलौने मिले हैं। परन्तु अभाग्यवश उसमें अधिकतर टूटे हुए है।

सिन्धु-प्रदेश मे प्राप्त कुछ खिलौने वस्तुत बडे सुन्दर है। उदाहरणार्थ, चन्हूदडो मे एक अतिसुन्दर अलकृत हाथी का खिलौना मिला है। अन्य स्थानो पर हाथी के खिलौनो का प्राय. अभाव है। कुछ मिट्टी के बने बन्दर भी मिले है। घुटनों पर हाथ रखे हुए ये बडे स्वाभाविक प्रतीत होते है। हडप्पा से प्राप्त मिट्टी के खिलौने में एक बन्दर बडे ही स्वभाविक ढग से वृक्ष की शाखा पर चढते दिखाया गया है। चिकनी मिट्टी की बनी हुई गिलहरियाँ भी खाद्य वस्तुओ को कतरती हुई बडी कौतूहलपूर्ण दिखाई देती है। अन्य खिलौनो मे सुअर, कबूतर, हस, नाग, ऊँट, कुत्ता, बाघ, घडियाल आदि है। बहुत सम्भव है कि इन समस्त खिलौनों में कुछ का धार्मिक महत्व हो और वे सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत पूजा के लिए बनाए गए हो। बैल, बतख, नाग आदि का निश्चित रूप से धार्मिक महत्व था।

खुदाई में मृन्मूर्तियाँ बनाने के साँचे नही मिले है। फिर भी कुछ मूर्तियो को देखने से प्रतीत होता है कि वे साँचे की सहायता से ही बनाई गई थी। परन्तु अधिकाश मूर्तियाँ हाथ की बनी हुई ही प्रतीत होती है। बहुतो को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनके अवयव पृथक् पृथक् मिट्टी के टुकड़ों से बनाए गए थे और बाद को जोड़ दिए गए थे।

अधिकाश खिलौने भलीभाँति पकाए नही गए थे। इसी से उनमें बहुत से शीघ्र ही खण्डित हो गए। मूर्तियाँ और खिलौने दोनो को धूप में सुखा कर भट्टी में पकाया गया है। तत्पश्चात् उन पर रग की पालिश भी की जाती थी। ये रग विविध हैं। परतु लाल, काला, पीला और नीला रग प्रमुख हैं। मूर्तियो और खिलौनो के भिन्न-भिन्न अवयव कभी-कभी भिन्न-भिन्न रगो से बने मिलते हैं।

पाषाण की कला-कृतियाँ—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सिन्धु-कलाकार

ने कई प्रकार के पाषाणो का प्रयोग किया है। सिन्धु-प्रदेश में पाषाण बहुत कम मिलता था। इसी से सिन्धु-निवासी उसे बाहर से मँगाते थे। परिणामत: पाषाण-निर्मित-वस्तुओं की संख्या सिन्धु-प्रदेश में कम ही रही। पाषाण की मूर्तियाँ तो बहुत ही कम मिली हैं।

फिर भी सिन्धु-निवासियो की पाषाण-कला के कुछ सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। हडप्पा से प्राप्त दो पाषाण-मूर्तियो की मार्शल महोदय ने उन्मुक्त हृदय से प्रशसा की है। उनमे से एक लाल पत्थर की बनी मानव-मूर्ति है। अभाग्य से इसका शीश टूट कर कही खो गया है। परन्तु शेष शरीर का अनुपात और सौष्ठव दर्शनीय है। ध्यान से देखने से प्रतीत होता है कि इस मूर्ति के विविध अग पृथक्-पृथक् बनाए गए थे और बाद को किसी मसाले से शरीर में जोड दिए गए थे। दूसरी मूर्ति नर्तक की प्रतीत होती है। यह काले पत्थर की बनी है। नर्तक का शरीर मांसल और स्फूर्ति-पूर्ण है। उस नाचने की मुद्रा में वह अपने बांयें पैर को पृथ्वी से कुछ ऊपर उठाए है।

पाषाण की एक अन्य मूर्ति मोहेनजोदडो से मिली है। अभाग्य से इसका भी अधो-भाग अप्राप्य है। परन्तु ऊर्ध्वभाग को देखने से ही कलाकार की प्रचुर प्रतिभा का पता लग जाता है। मूर्ति के शीश पर बाल और मुख पर दाढी है। बालो को बडे सुव्यवस्थित रूप मे दिखाया गया है। आँखे अधखुली है। कदाचित् वे पच्चीकारी के द्वारा बनाई गई थी। शरीर के ऊपर तीन पत्तियो का अलकरण है। बायें हाथ में भुजबन्द बँधा प्रतीत होता है। इन सब पर भी पच्चीकारी का काम प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यक्ति योगस्थ है। मैके का मत है कि यह पुजारी की मूर्ति है। परन्तु श्री रामप्रसाद चन्दा उनके मत से सहमत नही है। उनका कथन है कि योग-मुद्रा से स्पष्ट हो जाता है कि यह किसी योगी की मूर्ति है। जो भी हो, इसमे सन्देह नही कि मूर्ति की मुद्रा और उसके वस्त्राभरण मे कलाकार का पर्याप्त हस्त-लाघव दिखाई देता है।

पाषाण से बने पशु-पक्षियो के खिलौने बहुत कम संख्या मे मिले है। इनमे एक बैल उल्लेखनीय है। इसका प्रमुख शरीर तो पत्थर का है परन्तु सीग और कान किसी अन्य वस्तु से बने जान पडते है।

सिन्धु-प्रदेश की खुदाई मे पाषाण से बने हुए छोटे-बडे आकार के बहुसंख्यक लिंग और योनियाँ मिली है जो तत्कालीन समाज मे प्रचलित शैव पूजा के परिचायक है।

यत्र-तत्र पाषाण-स्तम्भ भी मिलते है। कदाचित् इनका कोई धार्मिक महत्व था।

समस्त पाषाण-कृतियो को देखने से प्रतीत होता है कि पाषाण को काटने, तराशने और उसकी पच्चीकारी करने मे सैन्धव कलाकार ने काफी योग्यता प्राप्त कर ली थी। अनेक कृतियो मे छेद भी मिलते हैं। ये बर्मे की सहायता से किये जाते थे। पृथक्-पृथक् पाषाण-खण्डो को दृढता के साथ एक मे जोड़ने के लिए उन्होने किसी मसाले का भी आविष्कार कर लिया था।

धातु-कृतियां—पीछे बताया जा चुका है कि सिन्धु-निवासी अपने प्रदेश में अनेक धातुओ का आयात करते थे। वे इन्हें गलाना, पीटना, ढालना, काटना और सम्मि-श्रित करना जानते थे। विविध धातुओ की अनेक वस्तुएँ खुदाई मे मिली हैं।

मोहेनजोदडो मे एक कूबडदार बैल का खिलौना मिला है। यह ताँबे की धातु काट कर बनाया गया था। एक ताँबे के कलश के भीतर रखा हुआ बकरी का सुन्दर खिलौना मिला है। यह खिलौना पीतल का बना है। ताँबे और पीतल के बने हुए कुत्तो के भी कई उदाहरण मिले है। चन्हूदडो की खुदाई मे एक पीतल की बतख

निकली है। मोहनजोदड़ो में पीतल की बनी हुई नर्तकियाँ मिली हैं। बहुधा वे हाथ में कड़े और गले में हँसुली पहने हुए मिलती हैं। ये मूर्तियाँ साँचे मे गली धातु को ढाल कर बनाई गई है। सिन्धु-निवासी सीसा से भी परिचित थे। खुदाई मे इस धातु की एक सुन्दर तश्तरी भी मिली है। सोने और चाँदी जैसी धातुओं का प्रयोग बहुधा आभूषण बनाने मे हुआ है। इन धातुओ के कंठहार, कड़े, भुजबध, अँगूठियाँ आदि जो आभूषण मिले है उनसे पता चलता है कि सोने की अपेक्षा चाँदी का प्रयोग अधिक हुआ है। खुदाई में आभूषणो के अतिरिक्त सोने-चाँदी की गुरियाँ भी मिली है। ये अधिकाशत धातु के पत्तरो को मोड कर बनाई गई थी। कभी-कभी उनकी दो टोपियाँ अलग-अलग बनाई जाती थी और बाद को उनके भीतर लाख जैसी कोई वस्तु भर कर उन्हे जोड दिया जाता था। ये गुरियाँ कई आकारो और कई नापो की है।

गुरिया-निर्माण-कला—सिन्धु-प्रदेश गुरिया-निर्माण के लिए प्रसिद्ध था। चन्हू-दड़ो में गुरिया-निर्माण करने का एक कारखाना भी था। कदाचित् यहाँ से गुरियाँ विदेशो में भी भेजी जाती थी। सोने-चाँदी के अतिरिक्त यहाँ मिट्टी, पत्थर, हाथी-दाँत, घोंघा आदि अन्यान्य पदार्थों की भी गुरियाँ मिली है। कभी-कभी लोग एकमात्र गुरियों के हार इत्यादि पहनते थे। परन्तु कभी-कभी विविध आभूषणो के बीच में गुरियाँ डाल कर उनकी शोभा बढाई जाती थी। मिट्टी, घोंघा आदि की गुरियाँ कदाचित् खिलौनो के साथ प्रयुक्त होती थी।

बहुसख्यक गुरियो मे रग और पालिश भी मिलता है। कभी-कभी उनमें पच्चीकारी का भी काम दिखाई देता है। पच्चीकार पहले गुरियो मे हलके-हलके खुदान करते थे और फिर इन खुदानो मे रग, धातु अथवा पत्थर के टुकडे जड देते थे। गुरियों मे बहुधा छेद मिलता है जिससे वे तागो मे पिरोई जा सकती थी। परन्तु कुछ गुरियाँ बिना छेद की भी मिली है। कुछ कहा नही जा सकता कि इनका प्रयोग कैसे होता था। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, ये गुरियाँ अनेक आकार और नाप की है।

मिट्टी की गुरियाँ प्राय गीली मिट्टी की सहायता से हाथ से ही बन जाती थी। बाद को इन्हे पका लिया जाता था। पाषाण, घोघा और हाथी-दाँत की गुरियाँ छेनी से घिस कर बनाई जाती होगी। विभिन्न आकार देने के बाद बरमा से इनमें छेद किया जाता था। धातु की गुरियाँ या तो चादरो के छोटे-छोटे टुकडे मोड कर बनाई जाती थी या गली धातु को साँचो में ढाल कर। कभी गुरिया सम्पूर्ण होती थी और कभी वह पृथक् पृथक् बनाकर दो टोपियो को जोड़ कर बनाई जाती थी। सिन्धु-निवासियों ने गुरिया-निर्माण-कला में जितनी उन्नति की थी वह तत्कालीन अन्य देशों में देखने को नही मिलती।

धर्म

सिन्धु-प्रदेश के ध्वसावशेषो, मूर्तियों, मोहरो तथा ताबीजो आदि के आधार पर विद्वानों ने सिंधु-निवासियो के धर्म की रूप-रेखा निश्चित की है। परन्तु किसी लिखित साक्ष्य के अभाव मे यह सम्भव है कि विद्वानो के अनेक निष्कर्ष सन्देहपूर्ण प्रतीत हो। इस सन्दिग्धता की सम्भावना को दृष्टिकोण मे रखते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सिन्धु-निवासियो का धर्म काफी विकसित था। उसके विविध अगो को देखने से प्रतीत होता है कि उसके पीछे एक दीर्घकालीन परम्परा थी, उसका विकास अनेकानेक क्रमिक स्थितियो को पार करके दीर्घ काल के पश्चात् उस अन्तिम स्थिति को प्राप्त हुआ होगा जिसकी झाँकी हम सिन्धु-सभ्यता के इतिहास में देखते हैं। यदि सिन्धु-सभ्यता के इस धर्म की तुलना वर्त्तमान हिन्दू-धर्म के साथ की जाय तो हम देखेंगे कि

दोनों में अनेक विषयों पर आश्चर्यजनक समता है। इसी बात को दृष्टि में रख कर मार्शल महोदय ने कहा था कि सिन्धु घाटी के लोगों के धर्म में बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनसे मिलती-जुलती बातें हमें अन्य देशों में भी मिल सकती हैं। और यह बात सभी प्रागैतिहासिक धर्मों के विषय में सत्य सिद्ध होगी। परन्तु सब कुछ होते हुए भी उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ भारतीय है कि वर्तमान युग के प्रचलित धर्म से कठिनता से उसका भेद किया जा सकता है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि बहुदेववादी होते हुए भी सिंधु-निवासी एक ईश्वरीय सत्ता से परिचित थे। इसी सत्ता को वे विश्व की सृजनात्मक शक्ति समझते थे। इस सृजन-शक्ति के प्रतीक के रूप में उन्होंने परम पुरुष और परमा नारी के द्वन्द्वात्मक धर्म का विकास किया था। हिन्दू-धर्म के पार्वती-परमेश्वर की कल्पना का आदि रूप हम सिन्धु-तट पर देखते हैं।

परम पुरुष की उपासना—सिन्धु-प्रदेश में मैके महोदय को एक मुद्रा मिली थी। इसके मध्य में एक नग्नशरीरी व्यक्ति योग-मुद्रा में बैठा है। इस योगी के तीन मुख हैं। इसके शीश पर त्रिशूल के समान कोई वस्तु है। योगी के बाई ओर एक गैंडा और एक भैंसा है तथा दाईं ओर एक हाथी और एक व्याघ्र है। उसके सम्मुख एक हिरन है। योगी के ऊपर ६ शब्द लिखे हैं। यदि ये पढ़ लिए जाते तो कदाचित् इस योगी का समीकरण निर्विवाद रूप से हो जाता। परन्तु अभाग्यवश सिन्धु-लिपि अभी तक एक पहेली ही बनी है।

फिर भी अधिकांश विद्वानों का मत है कि सम्पूर्ण दृश्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह शिव का चित्र है। शिव योगीश्वर हैं। वे त्रिशूलधारी हैं। वे पशुपति के रूप में भी प्रख्यात हैं। शिव का सम्बन्ध ३ की संख्या से है। वे त्र्यम्बक और त्रिनेत्र कहे जाते हैं। सिन्धु-निवासियों के बीच वे एकमात्र त्रिनेत्र न होकर त्रिमुख थे।

कुछ विद्वानों का मत है कि इस मुद्रा में ऊर्ध्वलिंग भी अंकित है। भारतवर्ष के अनेक स्थानों पर आज भी ऊर्ध्वलिंग-सहित शिव की मूर्तियाँ मिलती हैं। इस आधार पर भी विद्वानों ने उपर्युक्त योगी को शिव ही माना है।[2]

चीनी मिट्टी की एक अन्य मुद्रा भी मिली है जिसमें योगासीन एक व्यक्ति का चित्र है। उसके दोनों ओर एक-एक नाग तथा सामने दो नाग बैठे हैं। शिव अपने गले में नाग धारण करते हैं। इसी आधार पर विद्वानों का मत है कि नागों से घिरा हुआ यह योगी का चित्र भी शिव का ही है।

एक अन्य मुद्रा पर एक धनुर्धारी शिकारी अंकित है। कुछ विद्वानों ने इसका समीकरण किरातवेशधारी शिव के साथ किया है।

इस प्रकार सिन्धु-प्रदेश में शिव के रूप में परम पुरुष की उपासना होती थी। हिन्दू-धर्म में शिव की उपासना द्राविड़ सिन्धु-सभ्यता की ही देन प्रतीत होती है।

परमा नारी—परम पुरुष के साथ-साथ सिन्धु-निवासियों ने परमा नारी की भी कल्पना की थी। द्वन्द्व की स्थापना के द्वारा कदाचित् उन्होंने सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य समझाया था।

मोहेनजोदड़ो, हड़प्पा, चन्हुदड़ो आदि स्थानों पर मिट्टी की बनी हुई बहु-संख्यक नारी की मूर्तियाँ निकली हैं। इनमें नारी प्राय नग्न रूप में ही प्रदर्शित की गई है।

१ सर जान मार्शल, मोहेनजोदड़ो ऐण्ड दि इंडस सिविलीजेशन।

२ इंडियन कल्चर, अप्रैल १९३७, पृ० ७६७

उसकी कमर में पटका और मेखला तथा गले में गुलूबन्द अथवा हार रहता है। शीश पर कुल्हाड़ी की आकृति की कोई वस्तु रहती है।

अधिकांश विद्वानों का मत है कि यह नारी मातृदेवी है। प्राचीन संसार में मातृ-देवी की उपासना बड़ी लोक-प्रिय थी। मातृदेवी की मूर्तियाँ प्राचीन एशिया माइनर, मेसोपोटामिया, सीरिया, फिलिस्तीन, क्रीट, साइरस, मिस्र आदि देशो में भी प्राप्त हुई हैं। वैदिक भारत में भी मातृदेवी माता, पृथ्वी, अदिति आदि नामो से प्रख्यात थी।[1] अत मातृदेवी की लोकप्रिय उपासना यदि सिन्धु-प्रदेश मे भी प्रतिष्ठित हुई तो कोई आश्चर्य की बात नही है

सिन्धु-प्रदेश मे मातृदेवी कई रूपो में प्रदर्शित की गई जान पड़ती हैं। नारी की कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं जो शिशु को स्तन-पान करा रही हैं। यह जननी का दैवीकरण था। सिन्धु-प्रदेश की मातृदेवी सम्पूर्ण मानव-लोक की पोषिका-पालिका जननी थी। यही नहीं, वह सम्पूर्ण वानस्पतिक जगत् की भी देवी थी। एक मूर्ति में एक नारी के गर्भ से एक वृक्ष निकलता हुआ प्रदर्शित किया गया है। यह मूर्ति वानस्पतिक जगत् की सृष्टिकारिणी देवी का प्रतीक थी। मैके को एक मुद्रा मिली थी जिसमें एक वृक्ष के नीचे एक नारी अकित है। यह चित्र वनस्पति जगत् की अधीश्वरी का ही है। इस प्रकार की कल्पना प्राचीन बैबिलोन और क्रीट आदि देशो में भी की गई थी।

मानवीय जगत् एव वानस्पतिक जगत् की भाँति पाशविक जगत् के ऊपर भी मातृदेवी का आधिपत्य था। मोहेनजोदडो में मातृदेवी की एक मूर्ति मिली है जिसके शीश पर एक पक्षी पख फैलाये बैठा है। मातृदेवी के कुछ चित्र पशुओं के साथ भी मिले हैं। ये सब उसे पशु-पक्षी की अधीश्वरी के रूप मे प्रदर्शित करती हैं। परम नारी-पुरुष के युग्म की उपासना के अतिरिक्त सिन्धु-निवासियो ने लिंग और योनि की प्रतीकात्मक उपासना के द्वारा भी ईश्वर की सर्जनात्मक शक्ति की प्रतिष्ठा की।

लिंग-पूजा—हडप्पा और मोहेनजोदडो में बहुसख्यक लिंग मिले हैं। ये साधारण पत्थर, लाल पत्थर अथवा नीले सैण्डस्टोन, चीनी मिट्टी अथवा सीप के बने हैं। ये दो प्रकार के हैं—(१) फैलिक और (२) बीटल्स, प्रथम प्रकार के 'फैलिक'' लिंगों का शीर्षभाग गोल है परन्तु द्वितीय प्रकार के बीटल्स लिंगो का शीर्षभाग नुकीला है। कोई-कोई लिंग इतने छोटे है कि उन्हे जेब में रख कर एक स्थान से दूसरे स्थान को बडी सरलतापूर्वक ले जाया जा सकता है। इनके विरुद्ध कोई-कोई लिंग ४ फीट तक ऊँचे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि छोटे-छोटे लिंग सिन्धु-निवासी सदैव अपने साथ रखते थे। यह कल्याणकर समझा जाता होगा। रामायण का उल्लेख है कि रावण जहाँ कहीं भी जाता था वहाँ अपने साथ शिव-लिंग ले जाता था। सिन्धु-प्रदेश में प्राप्त बड़े-बडे लिंग कदाचित् विशेष स्थानो पर स्थापित करके पूजे जाते थे।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि लिंग-पूजा सिन्धु-प्रदेश के अतिरिक्त मिस्र, यूनान और रोम इत्यादि प्राचीन देशो में भी प्रचलित थी। हिन्दू-धर्म में लिंग-पूजा कदाचित् अनार्य सिन्धु-निवासियों की ही देन है। ऋग्वेद में लिंग-पूजा अथवा शिश्न-पूजा का एक-आध बार उल्लेख अवश्य हुआ है, परन्तु वहाँ वह अनार्यों की ही पूजा प्रकट होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु-प्रदेश में प्राप्त समस्त लिंग-पूजा के उपकरण न

१ ऋ० १.८९.१०; यजुर्वेद ९.२२

थे। उनमे से कुछ, जिन्हें हम लिग समझ बैठे है, मूसल, लोढ़े अथवा बट्टे हो सकते है। इनसे सिन्धु-निवासी कूटने-पीसने का काम लेते होगे। मैके महोदय की यही धारणा है। कुछ तथाकथित लिगो के निचले भाग घिसे हुए मिलते है। सम्भवत. कूटने-पीसने के कारण ही उनमे यह घिसान आ गई थी। कुछ अन्य अति छोटे 'लिग' ताबीज अथवा पासे भी हो सकते है।

योनि-पूजा—हडप्पा और मोहेनजोदडो मे बहुसख्यक छल्ले मिले है। आरियल स्टीन ने इस प्रकार के छल्ले बलूचिस्तान मे भी पाए है। ये छल्ले भी पत्थर ,चीनी मिट्टी अथवा सीप के बने है। ये आध इच से लेकर चार इच तक बडे है। अधिकाश विद्वान् इन छल्लो को योनियाँ मानते है। उनका मत है कि सिन्धु-निवासी लिग-पूजा के साथ-साथ योनि-पूजा भी करते थे। भारतवर्ष के अनेक स्थानो पर मौर्य-काल के बने हुए ऐसे ही छल्ले मिले है। इनके भीतर नग्न मातृदेवी की मूर्तियाँ चित्रित है। अत इन्हे भी योनियाँ समझना चाहिए। आज भी भारतवर्ष मे लिग-योनि की सम्मिलित रूप मे पूजा होती है। ऋग्वेद मे योनि-पूजा का उल्लेख नही है। अत. हिन्दू-धर्म की यह पूजा भी अनार्य सैन्धवो की देन है।

मैके का कथन है कि समस्त छल्ले योनि-मूर्तियाँ नही है। कदाचित् कुछ छल्ले स्तभो के आधार थे। इनके ऊपर स्तभ खडे किए थे। स्तभ तो नष्ट हो गए, परन्तु उनके आधार ये छल्ले आज भी बहुसख्या मे पाए जाते है।

द्विमुख देवता—मोहेनजोदडो मे एक मिट्टी की बनी हुई मूर्ति मिली है। अभाग्य-वश इसके गले के नीचे का भाग टूट गया है। अब केवल गले के ऊपर का शीर्षभाग ही अवशिष्ट है। इस भाग मे मूर्ति के दो मुख है। यह निश्चितरूप से नही का जा सकता कि यह द्विमुख देवता कौन था।

वृक्ष-पूजा—खुदाई मे विविध वृक्षो की अनेक मूर्तियाँ मिली है। इनसे प्रतीत होता है कि सिन्धु-निवासी वृक्ष-पूजा भी करते थे। मोहेनजोदडो मे प्राप्त एक मुद्रा पर दो जुडवाँ पशुओ के शीश पर नौ पीपल की पत्तियाँ दिखाई गई है। एक अन्य मुद्रा पर एक नग्न नारी का चित्र है। उसके दाहिने और बाये ओर एक-एक टहनी बनी है। उसके सम्मुख पत्तियो का मुकुट पहने एक अन्य आकृति कुछ झुकी खडी है। इसके मुकुट के दोनो ओर एक-एक सीग है। आकृति के नीचे छोटी-छोटी सात आकृतियाँ और है। मार्शल महोदय का विचार है कि मुद्रा मे अकित टहनियाँ पीपल की है। नग्न नारी पीपल वृक्ष की आत्मास्वरूप देवी है। अन्य आकृतियाँ उस देवी के दूत है। हडप्पा से प्राप्त एक अन्य मृन्मुद्रा पर पीपल की टहनी पकडे हुए एक अन्य आकृति खडी है। कुछ अन्य मुद्राओ पर वृक्ष-देवता अथवा वृक्ष-देवी की प्रसन्नता के लिए पशु-बलि दी जा रही है। मोहेनजोदडो म इसी आशय को प्रदर्शित करने वाली मुद्रा मिली है। उसमे ऊर्ध्व भाग मे ६ नग्न व्यक्ति खड है। अधोभाग मे एक हथियार लिए हुए आकृति चित्रित है। उसके सम्मुख ही एक बकरा खडा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु प्रदेश मे पीपल का वृक्ष सबसे अधिक पवित्र समझा जाता था। सबसे अधिक इसी के उदाहरण मिले है। अन्य वृक्षो मे नीम, खजूर, बबूल और शीशम सरलतापूर्वक पहचाने जा सकते है।

भारतवर्ष मे वृक्ष-पूजा की एक दीर्घ परपरा है। उसका प्राचीनतम आहत मुद्राओ (Punch-marked Coins) के ऊपर भी वृक्षो के चित्र मिलते है। कालान्तर मे भरहुत, साची, अमरावती आदि के स्तूपो पर भी वृक्ष, पुष्प-पत्र आदि अकित किए गए। आज भी हिन्दू-धर्म मे वृक्ष-पूजा होती है। सिन्धु-धर्म की भाँति हिन्दू-धर्म मे

आज तक पीपल, नीम आदि वृक्षो को धार्मिक महत्व दिया जाता है ।

पशु-पूजा—उपलब्ध सामग्री को देखने से अनुमान होता है कि सिन्धु-प्रदेश में पशु-पूजा भी प्रतिष्ठित थी। मोहेनजोदडो में एक ताम्र-पत्र पर काट कर बनाया गया कूबडदार बैल मिला है। अन्यान्य बैल या तो मुद्राओं पर अंकित हैं या खिलौनों के रूप में है। बैल की पूजा प्राचीन ससार के अनेक देशो मे होती थी। क्रीट, उर, ईरान, यूनान, रोम आदि देशो मे इस पूजा के उदाहरण मिले है। बैल शक्ति का प्रतीक समझा जाता था।

सिन्धु-प्रदेश मे भैस और भैसा भी अनेक मुद्राओ पर चित्रित मिलते है। कदाचित् बैल की भाँति यह पशु भी शक्ति का प्रतीक समझा जाता था। एक मुद्रा म यह एक मनुष्य को अपने सीगो पर उठाए हुए है। इससे भी यही अनुमान निकाला जा सकता है।

बैल, भैस और भैसे की भाँति सिन्धु-निवासी गाय की पूजा करते थे अथवा नही, यह निश्चितरूप से नही का जा सकता। कदाचित् गौ-पूजा आर्यों ने ही प्रतिष्ठित की थी।

नाग-पूजा के उदाहरण सिन्धु-प्रदेश मे अवश्य मिलते है। एक मुद्रा पर नाग की पूजा करते हुए एक व्यक्ति का चित्र है। एक ताबीज पर एक नाग चबूतरे पर लेटा है। मैके का कथन है कि ऐसे चबूतरे पर नागो के पीने के लिए लोग दूध रखते थे। नागो के अन्य चित्र भी मिले है। ऊपर योगासन मे बैठे हुए शिव का उल्लेख किया जा चुका है जिनके घुटनो पर और सामने चार नाग दिखाए गए है। शैव परम्परा और नागो का यह सबध हिन्दू-धर्म मे आज भी विद्यमान है।

पहले कहा जा चुका है कि मोहेनजोदडो मे प्राप्त मातृदेवी की एक मूर्ति पर एक पक्षी बैठा है। कदाचित् यह बतख है। खुदाई में बहुसख्यक बतख की मुद्राये प्राप्त हुई है। बतख की पूजा क्रीट मे होती थी। वह वहाँ पवित्रता का प्रतीक और देवी-वाहन माना जाता था। सुमेर में भी बतख की पूजा प्रचलित थी। इन आधारो पर यह निष्कर्ष निकालना सभव है कि कदाचित् सिन्धु-प्रदेश में भी बतख का कुछ धार्मिक महत्व था।

सिन्धु-प्रदेश मे अन्यान्य मुद्राये, ताबीजें और खिलौने आदि मिले है जिनसे हाथी, बाघ, भेड, बकरी, गैंडा, हिरन, ऊँट, घड़ियाल, बिल्ली कुत्ता, गिलहरी, तोता, मुर्गा, मोर आदि पशु-पक्षियो का परिचय मिलता है। आधुनिक हिन्दू-धर्म मे हाथी इन्द्र का, बाघ दुर्गा का, भेडा ब्रह्मा का, घडियाल गगा का, भैसा यम का और बैल शकर का वाहन समझा जाता है। बहुत सभव है कि सिन्धु-प्रदेश के भी अनेक पशु-पक्षी उनके देवी-देवताओं के वाहन हो।

मैके का कथन है कि उन्हे एक खिलोना मिला है जो घोडा है। पहले तो यही सदिग्ध है कि वह घोडा है अथवा नहीं। यदि वह घोडा ही है तो भी एकमात्र एक खिलौने के आधार पर यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि सिन्धु-निवासी इस पशु से परिचित थे। बहुत सभव है कि घोडे की मूर्तियाँ और खिलौने इत्यादि भू-गर्भ में दबे पड़े हो। परन्तु अभी इस विषय पर कुछ निश्चित रूप से घोषित नही किया जा सकता है।

कदाचित् उपर्युक्त सभी वस्तुओ का धार्मिक महत्व न रहा होगा। उनमे से अनेक अपनी उपयोगिता के कारण ही सिन्धु-निवासियों के जीवन मे महत्वपूर्ण बन गए होंगे। ये उनके पालतू पशु थे। उदाहरणार्थ, सिन्धु-निवासी बकरी को दूध के लिए, भेड़ को

ऊन के लिए और कुत्ते को घर की रखवाली के लिए पालते होंगे। कुछ अन्य पशु एकमात्र मनोरंजन के लिए पाले जाते होंगे। इस कोटि के पशुओं में बिल्ली, तोता, मोर आदि आते हैं। मुद्राओं और ताबीजों पर अंकित कुछ पशुओं का उपयोग संभवतः कला-प्रदर्शन के लिए किया गया हो। विविध पशु-पक्षियों के अधिकांश खिलौने कदाचित् इसी आशय को प्रकट करते है। साथ ही साथ वे बाल-विनोद, बाल-शिक्षा आदि के लिए भी प्रयुक्त होते थे।

जल-पूजा—पीछे बताया जा चुका है कि मोहेनजोदड़ो में एक विशाल और सुदृढ़ स्नान-कुंड मिला है। इसके भीतर उतरने के लिये सीढियाँ बनाई गई थी। कुड के चारो ओर बरामदे बने हैं और उनके पीछे कमरे। ऊपरी मजिल पर भी बने हुए कमरो का अनुमान होता है। विद्वानो का अनुमान है कि यह स्नान-कुड धार्मिक स्नानो के काम में आता था। ऊपर के कमरो मे कदाचित् पुजारी रहते थे। नीचे के कमरे कदाचित् स्नान-गृह थे। पुजारी शुभ पर्वों एव मुहूर्तों पर ऊपर से उतर कर इन्ही स्नान-गृहों में स्नान करते थे। साधारण जनता कदाचित् स्नान विशाल कुड में ही करती थी। इसके समीप ही एक अन्य भवन है जिसमे तीन कुएँ मिले हैं। दीक्षित महोदय का मत है कि उन कुओ के जल से लोग शुद्धि करते होंगे। इस प्रकार सिन्धु-सभ्यता में कदाचित् पवित्र स्नान और जल-पूजा का भी विशेष महत्व था।

प्रतीक-पूजा—सिन्धु-प्रदेश मे अनेक स्थलों पर सीग, स्तम्भ और स्वस्तिका के चित्र मिले हैं। कदाचित् इनका कुछ धार्मिक महत्व था। सम्भवत. ये किसी देवी-देवता अथवा भावना के प्रतीक हों और इनकी पूजा होती हो। यह भी सम्भव है कि इनके प्रयोग द्वारा सिन्धु-निवासी आधि-व्याधि से अपनी रक्षा करते हो और इस प्रकार ये अन्धविश्वास के विविध उपकरण हों।

सिन्धु-प्रदेश मे मुद्राओ, ताबीजों और मूर्तियो मे नर-नारियाँ अपने शीश पर सींग धारण किए हुए प्रदर्शित किए गए हैं। कभी-कभी ये सींग नील-गाय अथवा बारह सिंघा के होते थे।

क्रीट में पाषाण-स्तम्भो और स्वस्तिका-चिन्हों की पूजा होती थी। यह पूजा सिन्धु-प्रदेश मे भी प्रचलित दिखाई देती है। मुद्राओ पर अकित कुछ स्तम्भो के ऊपर दीप-धूप जलते दिखाए गए हैं। कभी-कभी उनके नीचे जलती आग भी दिखाई गई है। कदाचित् इनमें कोई धार्मिक क्रिया अन्तर्निहित है।

खुदाई मे अनेक मुद्राओ पर स्वस्तिका, चक्र तथा क्रास के चिन्ह अकित मिलते हैं। थोड़े-बहुत अन्तर के साथ इनका आकार-प्रकार मूलत. समान है। हिन्दू-धर्म में स्वस्तिका-चिन्ह आज भी पवित्र और शुभ माना जाता है। कदाचित् इस भावना का प्रादुर्भाव सिन्धु-सभ्यता में हो चुका था।

मूर्ति-पूजा और मंदिर—देवी-देवताओं, पशु-पक्षियों, स्तम्भो और प्रतीक-चिन्हों के निर्माण और अंकन से प्रतीत होता है कि सिन्धु-निवासी साकार उपासना करते थे। उनके समाज में मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। ये मूर्तियाँ मन्दिरो में प्रतिष्ठित की जाती थीं अथवा नही, इस विषय पर निश्चित रूप से कुछ कहा नही जा सकता। प्रत्यक्ष रूप से खुदाई में मन्दिर के कोई भी चिन्ह नही मिले हैं। मार्शल महोदय का कथन है कि मोहेनजोदडो में मन्दिर लकड़ी से निर्मित होते थे। कालातिपात से लकड़ी नष्ट हो गई है। इसी से आज मन्दिरों के कोई चिन्ह नहीं मिलते। परन्तु यह अनुमान न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। जब सिन्धु-प्रदेश के अधिकांश निर्माण-कार्य में पक्की ईंटों का प्रयोग किया गया है तो कोई कारण नहीं कि एकमात्र मन्दिर-

निर्माण में ही लकड़ी का प्रयोग किया जाता।

कुछ विद्वानो की राय है कि मोहेनजोदड़ो में जहाँ आज कुषाणकालीन स्तूप स्थित है, उसी के नीचे सैन्धवों का मन्दिर दबा पड़ा है। यह सम्भव हो सकता है। इसी स्थान पर स्नानाकुण्ड, पुरोहित-कक्ष, धर्माध्यक्ष-भवन, धर्म-चर्चा-भवन आदि के ध्वसावशेष मिले है। अतः यदि इस धार्मिक स्थान पर कोई मन्दिर रहा हो तो आश्चर्य की बात नही।

उपासिकायें—सिन्धु-प्रदेश में अनेक नारियो की मूर्तियाँ मिली है। हड़प्पा में कुछ नारियो के शीश पर सीग दिखाए गए है। इन्हें वे अपने दोनो हाथो से पकडे है। इसी नगर की एक अन्य मूर्ति में एक नारी शीश पर खाद्य—सामग्री से भरा कोई पात्र रखे है। अन्यान्य मूर्तियो मे कही कही नारियाँ स्टूल पर बैठी अथवा आहुति-पात्र पकडे खडी है। मार्शल महोदय का मत था कि ये सब मूर्तियाँ मन्दिर की उपासिकाओ की हैं।

देवदासियां—मोहेनजोदडो मे एक नर्तकी की मूर्ति मिली है। वह नग्नरूप मे नृत्य करती हुई सी लगती है। अपने गले और हाथो में वह आभूषण धारण किए है। कुछ विद्वानों का मत है कि वह देवदासी की मूर्ति है। सम्भव है कि सिन्धु-प्रदेश के मन्दिरो और पूजा-गृहो से कुछ उपासिकाये और देवदासियाँ सम्बन्धित रहती हो।

पूजा-विधि—स्नानकुण्ड, स्नानागारो और कुओ के अस्तित्व से ऐसा अनुमान किया जाता है कि पूजा अथवा धार्मिक कर्म के पूर्व शारीरिक शुद्धि आवश्यक समझी जाती थी। क्रीट के प्राचीनतम पूजा-गृहो के द्वारो पर जल-पात्र रखे मिले है। पूजा-गृहो मे प्रवेश करने के पूर्व मनुष्य इनसे अपने हाथ-पैर धो लेते थे। सम्भव है कि इस प्रकार की प्रणाली सिन्धु-प्रदेश मे भी प्रचलित रही हो।

पूजा मे धूप-दीप का भी प्रयोग होता था। खुदाई मे मातृदेवी की कुछ मूर्तियाँ मिलती है। उनके ऊर्ध्वभाग मे दीपक भी बने है। दीपक के धुएँ से उनके ऊर्ध्व-भाग आज भी काले देखे जा सकते है। पीछे कहा जा चुका है कि कुछ मुद्राओ पर स्तम्भो के ऊपर दीपिका और नीचे अग्नि जलती हुई प्रदर्शित की गई है। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि धूप, दीप अथवा अग्नि का जलाना धार्मिक क्रिया का एक भाग था।

अनेक मुद्राओ और मूर्तियो मे नर्तक और नर्तकी दिखाए गए है। हड़प्पा से एक मुद्रा प्राप्त हुई है जिसमे एक समारोह का दृश्य है। मनुष्यो के झुण्ड के बीच मे एक मनुष्य ढोल बजा रहा है। दूसरी मुद्रा मे एक स्त्री ढोल को अपनी बगल मे दबाए है। एक मुद्रा पर एक मनुष्य ढोल बजा रहा है और उसके सम्मुख कुछ अन्य मनुष्य नृत्य कर रहे है। कही कही वीणा के चित्र भी मिले है। पीछे एक नर्तकी का उल्लेख किया जा चुका है। सम्भव है कि ये सारे अकन व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आमोद-प्रमोद के हों। परन्तु यह भी सम्भव है कि सगीत-नृत्य के द्वारा ये नर-नारी किसी धार्मिक क्रिया मे संलग्न अपने देवी-देवताओ को प्रसन्न कर रहे हो। पीछे कहा जा चुका है कि कही-कहीं पशु-बलि के भी उदाहरण मिलते है। मोहनजोदडो से प्राप्त एक मुद्रा पर एक बकरा बना है। उसी के पीछे एक व्यक्ति चौडे फल वाला हथियार लिए खडा है। दूसरी मुद्रा मे वृक्ष के नीचे एक देवी खडी है। उसी के समीप एक बकरा भी खडा है। हडप्पा मे दयाराम साहनी को बैल, घोडा, भेड आदि अनेक पशुओ की हड्डियों का एक ढेर मिला था। बहुत सम्भव है कि उस स्थान पर कोई सामूहिक बलि दी गई हो। इसी नगर में एक मानव-अस्थिपजर के निकट एक बकरी का अस्थि-

पजर मिला है। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि मृतक के अन्तिम सस्कार के सम्बन्ध में ही कदाचित् बकरी की बलि दी गई होगी। सम्भव है कि पशु-बलि देव-पूजा का एक अग समझा जाता हो। सिन्धु-प्रदेश की देवी को सन्तुष्ट करने के लिए दी जाने वाली पशुबलि में ही हिन्दू-धर्म के शक्ति-सम्प्रदाय के बीज अन्तर्निहित हैं।

योग—पहले बताया जा चुका है कि शिव की मूर्तियाँ योगी के रूप मे है। वे योगासन में बैठे दिखाए गए है। मोहेनजोदडो मे एक पुजारी की मूर्ति भी मिली है। वह भी योग-मुद्रा मे है। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि सिन्धु-सभ्यता मे योग किसी न किसी रूप मे प्रतिष्ठित था।

आर्थिक संगठन—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सिन्धु प्रदेश की बहुत कुछ भूमि उर्वर थी और सरिताओ तथा वर्षा के कारण वहाँ सिचाई के लिए जल की कमी न थी। परिणामत इस प्रदेश में अच्छी खेती होती थी। खुदाई मे गेहूँ और जौ दोनो के अवशेष मिले हैं। वह गेहूँ (Triticum compactum अथवा T sphacrococcum) आज भी पजाब में उत्पन्न होता है। परन्तु उस समय का जौ (Hordeum vulgare) अब पजाब मे नही होता।

पर्याप्त रूप से जल मिल जाने के कारण सिन्धु-निवासी चावल की खेती भी सुगमतापूर्वक करते थे। इनके अतिरिक्त वे मटर और तिल की भी खेती करते थे। मोहनजोदडो मे सूती कपडे के अवशेष मिले हैं जिनसे सिद्ध होता है कि उस प्रदेश मे कपास की भी खेती होती थी। हडप्पा में प्राप्त एक मृण्पात्र की आकृति एक नारियल की भाँति है। दूसरे पात्रो पर केला, खजूर और अनार की आकृतियां बनी है। इनसे विद्वानो ने निष्कर्ष निकाला है कि कदाचित् सिन्धु-निवासी इन फलो की खेती करते थे। इसी प्रकार इस आभूषण की आकृति नीबू की भाँति है। बहुत सम्भव है कि सिन्धु-प्रदेश में खट्टे-मीठे फल भी उत्पन्न किये जाते थे।

अनाज को पीसने के लिये चक्कियो और कूटने के लिए ओखलियो का प्रयोग किया जाता था। खुदाई में बडे-बडे घडे भी मिले है। इनमे कुछ घडे अपनी चिकनी पालिश के लिये प्रसिद्ध हैं। विद्वानो का मत है कि इनमे अनाज सग्रहीत होता था। इनकी पेंदी समतल नहीं है। अत ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन्हे गड्ढेदार तिपाइयों अथवा चबूतरो के ऊपर ही रखा जाता होगा। कुछ छोटे-छोटे घडों के गले में छेद हैं। कदाचित् इनकी सहायता से रस्सी बाँध कर घडो को दीवारो अथवा छतो पर लटका दिया जाता था।

अनाज इत्यादि ढोने के लिये बैलगाडियो का प्रयोग किया जाता था। कभी ये गाडियाँ दो पहियो की और कभी चार पहियो की होती थी। इनकी आकृति के खिलौने हडप्पा, चहुँदडो आदि नगरो में मिले है। छोटे-छोटे बँटखरो की भाँति बडे-बडे बँटखरे भी उपलब्ध हुए हैं। इनकी सहायता से अनाज तौला जाता होगा।

कृषि-कर्म के साथ-साथ पशु-पालन भी सिन्धु-निवासियो का एक महत्वपूर्ण व्यवसाय था। मुद्राओ पर अकित बैलो से विदित होता है कि सिन्धु-प्रदेश मे दो कोटि के बैल होते थे। प्रथम कोटि के बैल कूबड वाले और बडे सींग वाले होते थे। द्वितीय कोटि के बैलों के कूबड़ नहीं होता था और उनके सीग भी छोटे होते थे।

यद्यपि गाय का कोई धार्मिक महत्व दृष्टिगत नही होता तथापि दूध के लिये यह बहुसख्या में पाली जाती थी। यही कथन भैंसो और भेडो के लिये भी सत्य है। हाथी का एक कपाल-खण्ड मोहेनजोदडो में मिला है। मुद्राओ के ऊपर इस पशु के चित्र भी दृष्टिगत होते हैं। इन साक्ष्यो से अनुमान किया जाता है कि सिन्धु-प्रदेश

में हाथी भी एक पालतू पशु था। रनघुण्डई (बलूचिस्तान) और मोहेनजोदड़ो में घोड़े के भी अस्थिपंजर के अवशेष मिले हैं। सम्भवत: सिन्धु-निवासी घोड़े से परिचित थे, यद्यपि कुछ विद्वान् इस निष्कर्ष को असन्दिग्ध समझते है। इनके अनुसार सिन्धु-सभ्यता के उत्तर-काल मे दो-चार घोडे बाहर से भी आ सकते थे। सुअर भी सिन्धु-प्रदेश का एक पालतू पशु था। खुदाई मे इसके अस्थि-पंजर तथा खिलौने उपलब्ध हुए है। यहाँ के कुत्तो को हम स्थूलतया २ कोटियो में विभक्त कर सकते है। प्रथम कोटि के कुत्तो के चेहरे लम्बे और पूँछ खडी हुई होती थी। इसके विरुद्ध द्वितीय कोटि के कुत्तो के चेहरे अपेक्षाकृत छोटे होते थे और इनकी पूँछे मुडी हुई होती थी। आजकल की भाँति इस पशु का पालन मनोविनोद, आखेट और सरक्षण के लिये होता होगा। अन्य छोटे पशुओ और पक्षियो मे बिल्ली, बन्दर, खरगोश, हिरन, मुर्गा, मोर, तोता, उल्लू, हस आदि के चित्र, मूर्तियो और खिलौने मिले है। इनमे से अनेक पशु-पक्षियो का मास भी खाया जाता होगा। बहुत सम्भव है कि कुछ का धार्मिक महत्व भी हो।

सिन्धु-प्रदेश की उन्नत सभ्यता को देखते हुए यह अनुमान स्वाभाविक है कि उसके अन्यान्य व्यवसाय एव उद्योग-धधे पर्याप्त रूप से विकसित होगे। सूत, ऊन और रेशम के गैर-टिकाऊ होने के कारण यद्यपि खुदाई मे प्रचुर रूप मे कपडा उपलब्ध नही हो सका है तथापि मूर्तियो की वेश-भूषा और तकलियो की प्राप्ति से प्रकट होता है कि सिन्धु-निवासी सूत कातना और कपडा बुनना जानते थे। दयाराम साहनी को एक चाँदी के कलश के भीतर रखा हुआ कपडे का एक टुकडा मिला था। यही नही मैके महोदय को अनेक वस्तुओ मे लिपटे हुए सूत के तागे भी मिले थे। इससे भी यही सिद्ध होता है कि सिन्धु-निवासी कताई-बुनाई करना जानते थे।

खुदाई मे बहुसख्यक मिट्टी की मूर्तियाँ, मुद्रायें, खिलौने और बर्तन इत्यादि मिले है। इनमे स्पष्ट हो जाता है कि सिन्धु-प्रदेश मे कुम्भकार का व्यवसाय उन्नत था। यद्यपि खुदाई मे कोई चाक नही मिला है तथापि मिट्टी की बनी अनेक वस्तुओ को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वे चाक पर ही बनाई गई थी। आधुनिक प्रणाली की भाँति घूमते हुए चाक पर से गीली मिट्टी की वस्तुएँ धागे की सहायता से काट कर अलग की जाती थी। कुछ मृण्पात्रो को देखने से यह बात स्पष्टतया प्रकट होती है। चाक से बनी सामग्री के अतिरिक्त बहुत सी सामग्री हाथ से भी बना ली जाती थी। खुदाई मे अनेक भट्ठे भी मिले हैं। इनमें मिट्टी से बनी वस्तुएँ पकाई जाती थी। मोहेनजोदडो मे एक ही स्थान पर ६ भट्ठे मिले है। ऐसा अनुमान होता है कि यहाँ कुम्भकारो का एक मुहल्ला था।

सोने, चाँदी, पीतल, ताँबा आदि धातुओं के आभूषणो, गुरियों, मुद्राओ, खिलौनो और बर्तनो को देखने से प्रकट होता है कि सैन्धव स्वर्णकारो ने अपने काम मे काफी निपुणता प्राप्त कर ली थी। वे धातुओं को गलाना जानते थे। मोहेनजोदडो मे ताँबे का गला हुआ एक ढेर मिला है। धातु के गले हुए द्रव को साँचो मे भरकर विविध आकार दिये जाते थे। कभी-कभी धातु को पीट कर चादरें भी बनाई जाती थी और फिर उन्हे काट-काट कर विभिन्न आकृति के पशु-पक्षी इत्यादि बनाये जाते थे।

धातुओ के साथ-साथ वे शख, सीप, घोघा हाथीदाँत आदि के काम मे भी निपुण थे। हडप्पा से शख का बना हुआ एक बैल मिला है। इसके सिर पर छेद करके सीगो को अलग से जोड़ने की व्यवस्था की गई थी। खुदाई मे सीप की भी एक गुरिया

प्राप्त हुई है। घोंघे की बनी गुडियाँ और खिलौने तो काफी मिले हैं। मोहेनेजोदडो से प्राप्त घोंघा का बना हुआ एक खिलौना विशेष सुन्दर है। इसी नगर में हाथी-दाँत की बनी हुई एक छड मिली है। वहीं एक पात्र भी मिला है जिसका ऊर्ध्व भाग और तल हाथीदाँत का बना है। घोंघा और हाथी दाँत जैसे कठोर पदार्थों को काटने और घिसने के लिये तेज आरियों, चाकुओ और छेनियो की सहायता ली जाती होगी। विभिन्न धातुओ एव अन्यान्य कठोर पदार्थों में छेद करने का काम बर्मा से किया जाता था।

देश में पच्चीकारी का काम उन्नत था। पहले किसी औजार से वस्तुओ पर खुदान की जाती थी। फिर उन खुदानो में हाथी-दाँत, घोंघा, कौडी अथवा विविध रगों के धातु-खण्ड जड़े जाते थे। मूर्तियों की आँखो में बहुधा पच्चीकारी का काम दिखाई देता है। गुरियों और आभूषणों में भी पच्चीकारी मिलती है।

खुदाई मे अनेक प्रकार के औजार तथा हथियार मिले है। ऊपर छेनी और बर्मा का उल्लेख किया जा चुका है। बर्मा का तो एक ही खण्ड मिला है, परन्तु प्राप्त छेनियो की सख्या अधिक है। ये प्राय: ताँबे की बनती थी। सिन्धु-प्रदेश के चाकू दुधारे होते थे। इनका आकार पत्ती की भाँति होता था। ये भी बहुधा ताँबे के ही बनते थे, यद्यपि एक चाकू पीतल का भी मिला है। चाकू के ऊपर लकडी की मूठ लगी रहती थी। पदार्थों को काटने के लिय आरियो का प्रयोग होता था। अनेक आरियाँ मोहेनेजोदडो और हडप्पा मे मिली हैं। मछली पकडने के लिये कुछ कटियाँ भी मिली है। मैके के अनुसार ये प्राचीन ससार मे अपनी समता नहीं रखती।

शान्ति-प्रिय होने के कारण सिधु-प्रदेश मे युद्ध के हथियार कम मिले है। फिर भी जो मिले है उनसे उनके निर्माताओ की कला का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इनकी तलवारे भी दुधारी होती थी। हडप्पा मे ५ कटारे भी मिली है। ये ताँबे की हैं। खुदाई में बर्छी और भाले भी प्राप्त हुए है। दो ताबीजो पर धनुष के द्वारा शिकार करने का दृश्य है। इससे प्रकट होता है कि सिंधु-निवासी धनुष-बाण का भी निर्माण करते थे।

इन समस्त औजारो और हथियारो को देखने से प्रकट होता है कि सिन्धु-प्रदेश में आधुनिक लोहार की भाँति धातुओं पर काम करने वाला कोई वर्ग था।

चन्हूदडो में मैके को इक्के के दो खिलौने मिले हैं। हडप्पा मे भी पीतल का एक इक्का पाया गया है। मोहनेजोदडो और हडप्पा में गाडी के पहिये और तख्ते भी मिले हैं। इनसे प्रतीत होता है कि सिन्धु-प्रदेश मे बढई का काम भी होता था।

खुदाई मे सीने की सुइयाँ मिली हैं। यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि सीने-पिरोने का काम अपने-अपने घर पर स्त्रियाँ ही करती थी अथवा आधुनिक दर्जी की भाँति उनके विशेष कारीगर थे। परन्तु चतुर्दिक पृथक्-पृथक् व्यवसायियो को देखते हुए यह अनुमान होता है कि सिन्धु-प्रदेश में भी दर्जी की दूकानें होंगी।

मूर्तियों, खिलौनो और मुद्रा-चित्रो पर अकित वेश-भूषा पर विविध रगो का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि उस समय भी समाज मे रग-बिरगे वस्त्र पहने जाते थे। अत रगरेजो का व्यवसाय काफी लोक-प्रिय रहा होगा।

इस प्रकार सिन्धु-प्रदेश का आन्तरिक औद्योगिक जीवन काफी व्यस्त था। जैसा कि हम आगे देखेंगे, उसका बाह्य देशो के साथ भी सम्बन्ध-सम्पर्क और क्रय-विक्रय होता था। इस सुविशाल व्यापार-व्यवसाय में प्रयुक्त होने वाले माप और तौल के

विविध मूल्य भी मिले हैं। कदाचित् केन्द्रीय सरकार की ओर से समय-समय पर इनकी जाँच-पडताल होती थी। मोहेनजोदडो में सीप की एक टूटी पटरी मिली है। इस पर नौ बराबर भाग बने हुए हैं। मैके ने इसकी परीक्षा करने के पश्चात यह निष्कर्ष निकाला है कि सिन्धु-प्रदेश में पटरी १३·२" होती थी। इस नाप की पटरियाँ मिस्र, सीरिया, यूनान आदि देशो मे भी प्रचलित थी। ऊपर बताया गया है कि चन्हूदडो में गुरियों का एक कारखाना था। खुदाई में उस कारखाने में अनेक छोटे-छोटे बटखरे मिले हैं। अन्यत्र खुदाई में बड़े बटखरे मिले हैं। ये सब बटखरे पत्थर के ही बनते थे। ये विविध तौलो के है। एक तौल के भिन्न-भिन्न बटखरों में तनिक भी अन्तर नहीं मिलता। इस विशेषता को देखकर मार्शल महोदय ने कहा था कि सूसा और ईराक के प्राचीन बटखरों में भी यह विशेषता नहीं है।

सामाजिक जीवन—सिन्धु-सभ्यता के अन्तर्गत भी समाज की इकाई परम्परागत परिवार ही थी। खुदाई में जो भवन मिले हैं उनमें पृथक्-पृथक् परिवारों के रहने की योजना दिखाई देती है। प्रत्येक परिवार में माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि रहते थे। नारी की अतिसख्यक मूर्तियो की प्राप्ति से आभास मिलता है कि सैन्धव समाज मातृप्रधान था। मातृप्रधानता द्राविड सभ्यता की विशेषता है। दक्षिणी भारत मे भी इसके साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं।

कार्य-विभाजन के आधार पर सैन्धव समाज में भी अनेक वर्ग थे। पुजारी, पदाधिकारी, ज्योतिषी, जादूगर और वैद्य इत्यादि उच्चवर्गीय समझे जाते होंगे। इनके अतिरिक्त कृषक, व्यवसायी, कुम्भकार, बढ़इ, मल्लाह आदि निम्नवर्गीय होंगे।

सिन्धु-प्रदेश के मनुष्यों का जीवन सुख-शान्ति-पूर्ण था। अस्त्र-शस्त्रो की अल्पता से प्रकट होता है कि वे युद्ध-प्रेमी न थे। शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करते हुए सार्वजनिक रूप से अधिकाधिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति उनकी संगठित सामाजिक व्यवस्था का परम लक्ष्य था। खुदाई में जो वस्तुयें मिली हैं उनसे उनकी चतुर्दिक सम्पन्नता का पता चलता है। इनके घरो में मिट्टी और धातु के घडे कलश, थालियाँ, कटोरे, तश्तरियो, गिलास, चम्मच आदि बर्तन मिले हैं। सामान ढोने के लिये टोकरियो का प्रयोग होता था। ये टोकरियाँ लकडी अथवा बेंत की होती थी। मुद्राओ से प्रतीत होता है कि ये लोग फर्श पर बैठने के लिए चटाइयो का प्रयोग करते थे। इनके अतिरिक्त बैठने के लिये घरो मे कुर्सियाँ और तिपाइयाँ भी थी। मुद्राओ पर इनके चित्र मिले हैं। लेटने के लिए पलग और चारपाइयाँ होती थी। कुछ खिलौनो में स्त्रियाँ पलग पर लेटी हुई दिखाई गई हैं। रात्रि में घरो को प्रकाशित करने के लिए सिन्धु-निवासी दीपों का प्रयोग करते थे। कभी-कभी दीप मिट्टी अथवा पत्थर के बने हुए ऊँचे आधारों पर रखे जाते थे।

खुदाई में प्राप्त मूर्तियों और मुद्राओ में नर-नारी प्राय नगे दिखाये गए है। कभी-कभी उनके शरीर का ऊर्ध्व भाग सघाटी से ढका मिलता है। नर और नारी दोनो की कमर में प्राय सदैव ही एक पटका पडा मिलता है। नारियो की कमर में मेखला भी दिखाई देती है। सिन्धु-सभ्यता की सांस्कृतिक एवं व्यावसायिक उन्नति को देखने से अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ के लोग भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र पहनते होंगे। अभाग्य से मूर्तियो और मुद्राओ से इन वस्त्रों पर प्रकाश नही पडता। कदाचित् मूर्तियों और मुद्राओं पर नग्नप्राय नर-नारियों को ही दिखाने की प्रथा चल पड़ी थी।

सिन्धु-प्रदेश की शिरोभूषा विशेषरूप से उल्लेखनीय है। मातृदेवी की मूर्तियो के

शीश पर कुल्हाड़ी के आकार की भारी और अलंकृत शिरोभूषा है। वह किसी फीते से बँधी रहती है। कुछ स्त्री-मूर्तियाँ पगडी भी पहने है। चन्हूदडो से इस प्रकार की मूर्तियो के अनेक उदाहरण मिले है। अन्य स्थलो पर कुछ स्त्रियाँ नुकीली टोपी पहने हुए हैं। ऐसी टोपियाँ पुरुष भी पहनते थे। ये भी किसी फीते से बँधी रहती थी। मूर्तियो में कभी-कभी स्त्री-पुरुष सीग अथवा बतख धारण किये हुए मिलते है। सीग और बतख पवित्र समझे जाते थे। कभी-कभी मूर्तियो के कानो के पास दोनो ओर एक-एक प्याला-सा बना रहता है। विशेषतया ये मातृदेवी की मूर्तियो मे दिखाई देते हैं। वस्तुत इनमे रख कर दीप जलाये जाते हैं। कुछ के भीतर आज तक धुये के चिन्ह विद्यमान है।

सिन्धु-प्रदेश मे केश-विन्यास भी बडे ढग से किया जाता था। खुदाई मे शीशा और कघी दोनो मिले है। इनकी सहायता से केश सँभाले जाते थे। जो पुरुष दाढी-मूँछ रखते थे उनके मुख तथा शीश दोनो के केश मूर्तियो और मुद्राओ मे सुव्यस्थित ढग से दिखाये गये है। शीश के केश बीच से सँवार कर पीछे की ओर बाँधे गये है। खुदाई मे अस्तुरे भी निकले है। इनसे पता लगता है कि पुरुष हजामत भी बनाते थे। स्त्रियाँ कभी-कभी बीच से माँग निकाल कर चोटी करती थी। कभी-कभी वे अपनी चोटी को शीश पर कई वृत्तो मे लपेट लेती थी। कभी-कभी बालो का जूडा बना कर पीछे फीते से बाँध लिया जाता था। इस प्रकार का विविध केश-विन्यास मूर्तियो और मुद्राओ पर दिखाई देता है।

खुदाई मे कुछ शृगार-प्रसाधन की सामग्री भी मिली है। हडप्पा मे एक बोतल मिली है जिसके भीतर काले रग की कोई वस्तु जमी है। कदाचित यह काजल था। काजल लगाने की शलाकाये भी उपलब्ध हुई है। घोघे के एक पात्र मे धूल सी कोई वस्तु मिली है। सम्भव है कि यह पाउडर हो। अन्य स्थलो पर भी छोटे-छोटे पात्र मिले है। हो सकता है कि इनमे सिन्दूर इत्यादि वस्तुएँ रखी जाती हो।

स्त्री और पुरुष दोनो आभूषण धारण करते थे। आभूषणो मे कण्ठहार, कर्णफूल, हँसली, भुजबन्ध, कडे, अँगूठियाँ, छल्ले, करधनी, पायजेब आदि प्रमुख है। ये विभिन्न धातुओ के होते थे। कभी-कभी इनमे पच्चीकारी का भी काम होता था। हार, करधनी आदि कई लडो की भी बनती थी।

सिन्धु-निवासियो की खाद्य-सामग्री गेहूँ, जौ, चावल, राई, तिल, दाल और शाक आदि की सहायता से बनती थी। बहुसख्यक बर्तनो को देखने मे प्रतीत होता है कि खाद्य और पेय सामग्री विविध होगी। मासाहार ने इस सामग्री को और भी बढा दिया था। अनेक चित्रो मे मछली पकडने, पशुओ का शिकार करने और बलि देने का चित्रण है। अत निश्चित है कि सिन्धु-निवासी मासाहारी थे। वे लोग मुर्गा भी पालते थे। सम्भव है कि मुर्गे का मास तथा अण्डे भी खाद्य-सामग्री में सम्मिलित हो। गाय, भैस, तथा बकरी से उन्हे दूध भी मिल जाता होगा। दूध से ये लोग दही, मट्ठा, मक्खन और घी आदि बनाना जानते थे अथवा नही, यह निश्चित रूप से कहा नही जा सकता। परन्तु सभ्यता की उन्नत अवस्था को देखने से यह अनुमान होता है कि ये लोग दूध का विविध उपयोग करते होगे। भोजन मे फलो का भी महत्वपूर्ण स्थान होगा। चित्रो और खिलौनों मे खजूर, तरबूज, अनार, नारियल, नीबू आदि फलो का चित्रण मिला है।

सिन्धु-निवासी मनोविनोद के लिए अनेक प्रकार के खेल-कूदो मे भाग लेते थे। मछली पकडना और शिकार करना इनका प्रिय कार्य था। हड़प्पा में प्राप्त एक

मुद्रा पर एक व्यक्ति व्यायाम करते हुए दिखाया गया है। खुदाई में संगमरमर, विविध पत्थर तथा सीप की अतिसुन्दर गोलियाँ मिली है। कदाचित् ये खेलने के काम मे आती थी। मिट्टी और पत्थर के बहुसख्यक छोटे-छोटे लिग मिले हैं। सम्भव है कि ये सब लिग न हो वरन् शतरज के प्यादे हो। हाथी-दाँत, पत्थर और मिट्टी के बने हुए पाँसे भी मिले हैं। इन पर बिन्दुओं में संख्या बनी है। इनसे प्रतीत होता है कि सिन्धु-प्रदेश मे शतरज का खेल भी होता था।

खुदाई में कुछ ऐसे पदार्थ निकले है जो कदाचित् औषधि के रूप मे प्रयुक्त होते थे। उदाहरणार्थ, मोहेनजोदडो मे शिलाजीत मिला है। इसी प्रकार कर्नल सिवेल का कथन है कि कुछ हिरनो के सीग चूर्ण कर औषधि के रूप मे प्रयुक्त होते थे। कही-कही पर समुद्रफेन भी मिला है। यह भी औषधि के रूप मे प्रयुक्त होता होगा। चिकित्सा मे जादू-टोना का भी प्रयोग किया जाता होगा। कुछ ताबीजें कदाचित् इसी ध्येय की पूर्ति के लिए बनाई गई थी। इनके ऊपर देवियों, पशु-पक्षियों आदि के चित्र रहस्यात्मक हो सकते हैं।

पाठ्य-क्रम—ऐसी उच्च सभ्यता के मनुष्य अपने बालक-बालिकाओ और युवक-युवतियो की शिक्षा के प्रति उदासीन नही रह सकते। अत हम अनुमान कर सकते है कि उन लोगो ने शिक्षा का एक विकसित पाठ्य-क्रम बनाया होगा। लिखने का काम पत्रो, त्वचाओ और लकडी की तख्तियो पर होता होगा। खुदाई मे कुछ तख्तियाँ मिली भी है। इस पर लकडी की कलमो का प्रयोग होता होगा। बाल-शिक्षा मे खिलौनो द्वारा प्रत्यक्ष अध्यापन-शैली का भी प्रयोग होता होगा। सिन्धु-प्रदेश में अति-सख्यक खिलौनों की प्राप्ति महत्वपूर्ण है। माप और तौल की निश्चित योजना को देख कर अनुमान होता है कि विद्यार्थियो को अकगणित की भी शिक्षा दी जाती होगी। सिन्धु-प्रदेश के बडे बटखरे दशमलव शैली पर आधारित है। बहुत सम्भव है कि वहाँ के निवासियो को दशमलव शैली का ज्ञान हो। नगर की सडको, नालियो भवनो, और कक्षो का एक सुनिश्चित योजना के आधार पर निर्माण देख कर अनुमान होता है कि इसमे ज्यामिति के सिद्धान्तो का प्रयोग अवश्य किया गया होगा। उनके भवन सूर्य के प्रकाश की गति-विधि का ध्यान रख कर बनाए गए है। इससे भी वही निष्कर्ष निकलता है। दीक्षित महोदय का मत है कि सिन्धु-निवासियो को बाढ आने का ज्ञान पहले से हो हो जाता था। यह ज्ञान ऋतुओ के गहन अध्ययन तथा ज्योतिष के सिद्धान्तो के आधार पर ही होता होगा। इस प्रकार उनके पाठ्यक्रम में बीज-गणित, ज्यामिति और ज्योतिष के विषय भी सम्मिलित थे। ऊपर बताया गया है कि सिन्धु-निवासियो को रोगो और चिकित्साओ का भी ज्ञान था।

मूर्तियो और मुद्राओ के चित्रो को देखने मे प्रकट होता है कि सिन्धु-निवासी ललित-कलाओ के प्रति निरपेक्ष न थे। उनके समाज मे सगीत-नृत्य का विशेष महत्व था। इसकी शिक्षा स्त्री-पुरुष दोनो को दी जाती होगी।

मूर्तियो, मुद्राओ और आभूषणो के अलकरण को देख कर यह निश्चित हो जाता है कि सिन्धु-निवासी चित्र-कला मे भी प्रवीण थे।

देश के विभिन्न व्यवसायो का विशेष ज्ञान कदाचित् पैतृक सम्पत्ति समझा जाता था। व्यावसायिक विशेषीकरण और स्थानीयकरण ने इस ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि की थी।

लिपि—अभाग्यवश सिन्धु-प्रदेश की लिपि अभी तक पढ़ी नही जा सकी है। हण्टर महोदय का कथन है कि यह लिपि चित्र-प्रधान है और इसमें लगभग ४०० वर्ण

हैं।' इस लिपि में कहीं पर वर्णों का प्रयोग होता है, कहीं पर संकेतात्मक चित्रों का। यह आश्चर्य की बात है कि इस लिपि के अनेक संकेतात्मक चिन्ह भारतवर्ष की प्राचीनतम आहत-मुद्राओं पर भी मिलते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि अर्थबोधक विशेष संकेतों का प्रयोग भारतवर्ष में दीर्घकाल तक होता रहा है। विद्वानों का मत है कि सिन्धु-लिपि दाहिने से बायें हाथ की ओर लिखी जाती थी।

शवोत्सर्ग—मार्शल महोदय का मत है कि सिन्धु-निवासी शवों का तीन प्रकार से उत्सर्ग करते थे :—

(१) पूर्ण समाधीकरण—इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण शव को पृथ्वी के नीचे गाड दिया जाता था।

(२) आंशिक समाधीकरण—इसके अन्तर्गत पशु-पक्षियों के खाने के पश्चात् शव के बचे हुए भाग गाडे जाते थे।

(३) दाहकर्म—इसमें शव जला दिया जाता था और कभी-कभी उसकी भस्म गाड दी जाती थी।

१९४६ में एक शव काठ के सन्दूक के भीतर बन्द मिला था। समाधीकरण की यह प्रणाली सुमेर में भी प्रचलित थी।

ह्वीलर महोदय ने हड़प्पा की खुदाई में अनेक समाधियाँ प्राप्त की थीं। इनमें शवों के सिर अधिकतर उत्तर दिशा की ओर रक्खे मिलते हैं। सम्भवत यह किसी धार्मिक विश्वास के आधार पर हुआ होगा। शवों के साथ विविध आभूषण, अस्त्र-शस्त्र तथा पात्रादि भी रक्खे मिलते हैं। ये वस्तुयें मृतक के उपभोग के लिए रक्खी जाती होंगी। इससे अनुमान होता है कि सिन्धु-निवासी आगामी जीवन में भी विश्वास करता था।

बाह्य प्रदेशों और देशों से सम्बन्ध—पहले बताया जा चुका है कि सिन्धु-प्रदेश में बहुत से पदार्थ नहीं पाये जाते थे। व्यावसायिक जीवन में उन पदार्थों की आवश्यकता थी। अत सिन्धु-निवासी उन पदार्थों को बाहर से मँगाते थे। सोना मैसूर से और चाँदी मद्रास, बिहार, और उड़ीसा से आती होगी। ताँबा अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान और अरब से आता होगा। लालगोमेद राजस्थान, काश्मीर और काठियावाड से मँगाया जाता होगा। हरा अमेजन नीलगिरी की पहाड़ियों से मिलता था। वैदूर्य अफगानिस्तान के बदख्शा प्रान्त से आता होगा। लाल और नील स्फटिक दक्षिणी पठार, बिहार और उडीसा से मिलता होगा।

भारतवर्ष के इन प्रदेशों के अतिरिक्त सिन्धु-प्रदेश का विदेशों के साथ भी सम्पर्क था। सिन्धु-प्रदेश और क्रीट दोनों देशों में बैल और बतख पवित्र माने जाते थे। दोनों ही देशों में मातृ-देवी की पूजा होती थी तथा पाषाण-स्तम्भों को पवित्र माना जाता था। इन समानताओं के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि दोनों देशों में सम्पर्क था।

जिस प्रकार बेबिलोन और सुमेर के बैलों में दाढ़ी दिखाई गई है उसी प्रकार मोहेनजोदडो की भेडों की आकृतियों पर दाढ़ी दिखाई गई है। सुमेर की भाँति सिन्धु के निवासी भी अपने बाल फीते से बाँधते थे और कभी-कभी मूँछे मुडवा देते थे। मोहेनजोदडो की भाँति सुमेर की मुद्राओं पर भी स्वस्तिका चिन्ह मिलता है। यह चिन्ह एलम और यूनान में भी मिलता है।

हड़प्पा में मक्खी की आकृति की एक गुरिया मिली है। इस प्रकार की गुरिया

मिस्र की कब्र में भी मिलती है। पत्थर के टुकडो के ऊपर सोने की टोपी चढा कर गुरिया बनाने की प्रणाली मोहेनजोदडो, मिस्र और सुमेर में समान रूप से प्रचलित थी। इसी प्रकार सिन्धु-प्रदेश और सुमेर तथा मिस्र के कठहारो के गुम्बददार अन्तक भी एक से है। सिन्धु-प्रदेश की कुछ मुद्राओ पर सीगधारी नग्न पुरुष बाघ के साथ लडता हुआ दिखाया गया है। मैके का कथन है कि यह चित्रण सुमेर के एक कथानक के आधार पर हुआ है। मोहेनजोदडो मे प्राप्त एक मिट्टी के बर्त्तन पर जालीदार अलकरण मिलता है। इस प्रकार का अलकरण सुमेर, सूसा और किश मे भी प्रचलित था।

बाहरी सतह पर उठे हुए दानो वाले बर्तन सिन्धु-प्रदेश, मेसोपोटामिया, सुमेर और यूनान मे समान रूप से मिलते है।

एलम तथा सुमेर मे जो खुदाई हुई है उसमे सिन्धु-प्रदेश की मुद्राओ के समान मुद्राये मिली है।

सिन्धु–प्रदेश और मेसोपोटामिया के कुछ चूल्हे, गोल कुये और मेहराबे समान आकार के है।

ये समस्त समानताये सम्भवत विचारो के पारस्परिक आदान-प्रदान का फल थी।

५

आर्यों का आदि-देश

हम पिछले अध्याय में उल्लख कर चुके है कि सैन्धव सभ्यता के प्रवर्तक अनार्य थे जो शान्तिप्रकृति के मनुष्य थे। कालान्तर में कदाचित युद्धकर्मा आर्यों ने उन पर आक्रमण किया और अपनी विकसित युद्ध-प्रणाली तथा अपने उच्चतर सैनिक सगठन के कारण उन्हे पराजित किया और उनकी सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इस प्रकार सैन्धव सभ्यता के ध्वसावशेषो के ऊपर आर्य-सभ्यता की नीव डाली गई। इस उदीयमाना नवीन सभ्यता के प्रवर्तको के लिए प्राचीनतम भारतीय ग्रन्थ ऋग्वेद मे 'आर्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'आर्य' का अर्थ एकमात्र 'उत्तम' अथवा 'श्रेष्ठ' होता है। कदाचित् भारतवर्ष के मूल-निवासियो के विरुद्ध अपनी उच्चता एव श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए ही नवागन्तुको ने अपनी जाति के लिए 'आर्य' शब्द का प्रयोग किया था। इसके साथ-साथ मूल-निवासियो को उन्होने 'दस्यु' अथवा 'दास' आदि के हीनताद्योतक शब्दो से सम्बोधित किया।

इन आर्यों का आदि-देश कौन-सा था, इस पर विद्वानो मे बडा मतभेद है। इस विवाद-ग्रस्त प्रश्न को हल करने के लिए विद्वानो ने प्रमुख पाँच साधनों—इतिहास, भाषा-विज्ञान, पुरातत्व, शरीर-रचना-शास्त्र (Racial Anthropology) और शब्दार्थ-विकास-शास्त्र (Semasiology)—का प्रयोग किया है। परन्तु इसके निष्कर्ष इतने भिन्न हैं कि आज भी यह प्रश्न उतना ही विवादग्रस्त है। साधारणतया हम यही कह सकते है कि आर्यों का आदि-देश भिन्न-भिन्न ४ क्षेत्रो मे बताया जाता है —

आर्यों का आदि-देश भारत—कुछ विद्वानो का यह मत है कि आर्य भारतवर्ष में बाहर से नही आये थे, वे इसी देश के मूल-निवासी थे।

(अ) सप्त सैन्धव—डा० अविनाशचन्द्र दास ने सप्तसैन्धव-प्रदेश को आर्यों का आदि-देश माना है। इस प्रदेश मे सिन्धु, वितस्ता, असिक्नी, परुष्णी, विपासा, शतुद्रि और सरस्वती नामक सात नदियाँ बहती थी। इन्ही के द्वारा सीचा गया उर्वर प्रदेश प्राचीन काल मे सप्तसैन्धव प्रदेश के नाम से प्रख्यात था और यही प्रदेश आर्यों का आदि-देश था। डा० दास का कथन है कि प्रारम्भ मे सम्पूर्ण आर्य सम्मिलित रूप से इसी प्रदेश मे रहते थे। कालान्तर मे इनके बीच धार्मिक मतभेद उत्पन्न हो गए। आर्यों का एक वर्ग देवो का उपासक रहा और दूसरा वर्ग असुरो का उपासक हो गया। दोनो वर्गों में भयकर युद्ध हुआ जो वैदिक साहित्य मे देवासुर-सग्राम के नाम

से उल्लिखत है। इस संग्राम में असुर-उपासक परास्त हुए और वे सप्तसैन्धव प्रदेश को छोड कर पश्चिम की ओर चल पडे तथा ईरान में जाकर बस गए। पारसीकों के प्राचीनतम ग्रन्थ जेन्द-अवेस्ता में जिस अहुर-मज्दा (असुर मेधावी) का वर्णन है वह ईरान मे नवागत विरोधी आर्य-वर्ग का ही देवता था। डा० सम्पूर्णानन्द ने भी सप्तसैन्धव को ही आर्यों का आदि देश माना है।

(२) ब्रह्मर्षिदेश—महामहोपाध्याय प० गगानाथ झा का मत है कि आर्यों का आदि-देश भारतवर्ष का ब्रह्मर्षि -देश था।[1]

(३) मध्यदेश—डा० राजबली पाण्डेय भारतवर्ष के मध्य प्रदेश को आर्यों का मूल निवास-स्थान मानते है। यही से वे पश्चिमी भारतवर्ष, मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया पहुँचे थे। ऋग्वेद में सप्त-सैन्धव का वर्णन अवश्य है, परन्तु इसकी रचना तो उस समय हुई थी जब आर्य अपने मूल-निवास स्थान मध्यदेश को छोड़ कर पजाब में आ गए थे।

(४) काश्मीर—श्री एल० डी० कल्ल के मतानुसार काश्मीर अथवा हिमालय-प्रदेश को आर्यों का आदि देश समझना चाहिए।[2]

(५) देविका प्रदेश—मुलतान मे देविका नामक एक नदी है। श्री डी० एस० त्रिवेद इसी नदी के समीपवर्ती प्रदेश को आर्यों का आदि निवास-स्थान मानते है।[3]

भारत को आदि-देश मानने वाले विद्वानों के तर्क—यदि हम भारतवर्ष को आर्यों का आदि–देश मानने वाले विद्वानो के कथनो का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायगा कि वे स्थूलतया निम्नलिखित तर्कों पर अवलम्बित है—

(१) ऋग्वेद के वर्णन से स्पष्ट होता है कि आर्यों का ज्ञान पंजाब एवं उसके समीपवर्ती क्षेत्र तक ही सीमित था। इस आदि ग्रन्थ मे वर्णित भौगोलिक अवस्था एकमात्र इसी सप्तसैन्धव प्रदेश की प्रतीत होती है। अत आर्य इसी प्रदेश के आदि-निवासी थे। यदि वे कही बाहर से आये होते तो उनके आदि ग्रन्थ मे उस पूर्व स्थान का उल्लेख अवश्य होता।

(२) यदि आर्य विदेश से भारत मे आये थे तो क्या कारण है कि उनके ग्रन्थ अपनी उस विदेशीय जन्म-भूमि मे अथवा अपने प्रयाण–मार्ग के किसी अन्य स्थल पर नहीं मिलते? उनके एकमात्र ग्रन्थ ऋग्वेद की भारतीय रचना से स्पष्ट हो जाता है कि वे भारतवर्ष के ही मूल निवासी थे और इसी देश में अपनी सस्कृति-सभ्यता के पर्याप्त विकास के पश्चात् उन्होने इस ग्रन्थ की रचना की थी।

(३) स्वय वैदिक साहित्य के अन्त साक्ष्य से प्रकट होता है कि आर्य सप्त-सैन्धव को अपनी मातृ–भूमि मानते थे। यदि ऐसा न होता तो वे उसके लिए देव-निर्मित देश अथवा देवकृत-योनि की सज्ञा क्यो देते?

(४) वैदिक सस्कृत के अथवा उससे उद्भूत शब्द अत्यन्त प्रचुर संख्या मे भारत-वर्ष के समस्त क्षेत्रो की विभिन्न भाषाओ में पाये जाते हैं, परन्तु योरप और एशिया की भाषाओं में ऐसे शब्द बहुत कम मिलते है। यदि आर्यों का आदि देश योरप और एशिया का कोई अन्य देश होता तो उनकी वैदिक भाषा सस्कृत की छाप योरपीय एवं एशियाई

१ D. R. Bhand. Comm. Vol. p. 1-2.

२ Proceedings of the All India Oriental Conference VI p. 723-4.

३ Annals of the Bhand. Oriental Research Institute, Poona, XX, p. 48

भाषाओं के ऊपर अधिक स्पष्ट होती। ऐसी परिस्थिति में यही अनुमान स्वाभाविक प्रतीत होता है कि भारत ही आर्यों का आदि-देश था और इसी से अन्तर्देशीय एवं अन्त-र्जातीय सम्पर्क होने के बावजूद भी उसकी समस्त प्रादेशिक भाषाओं की शब्दावली मूल आर्य-भाषा संस्कृत से प्रभावित है।

(५) यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि यदि आर्य भारतवर्ष के मूल निवासी होते तो वे इस देश के बाघ और हाथी से अवश्य परिचित होते। परन्तु ऋग्वेद में बाघ का कहीं उल्लेख ही नहीं है। पुन हाथी के लिए 'मृगहस्तिन्' शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे प्रतीत होता है कि उनके लिए यह नवीन और विचित्र पशु था। (इन आपत्तियों में कोई बल नहीं है। किसी वस्तु विशेष के विषय में किसी ग्रन्थ का मौन अथवा अनुल्लेख कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। ऋग्वेद मे 'नमक' का भी उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु इसका तात्पर्य यह तो नहीं हो सकता कि ऋग्वैदिक आर्य नामक से अपरिचित थे। रही 'मृगहस्तिन्' की बात, तो इस शब्द का प्रयोग काव्या-त्मकता प्रदर्शित करता है, अपरिचय नहीं। और यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि आर्य बाघ और हाथी से अपरिचित थे तो इससे इतना ही सिद्ध होगा कि वे भारतवर्ष के उन प्रदेशों से अपरिचित थे जहाँ बाघ और हाथी की प्रधानता थी। फिर भी पंजाब को उनके आदि-देश मानने में कोई बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि यहाँ इन पशुओं का बाहुल्य न था।)

(६) कुछ विद्वानों ने भाषा-विज्ञान के आधार पर भारतवर्ष को आर्यों का आदि-देश मानने में आपत्ति की है। इन विद्वानों का कथन है कि आधुनिक विश्व में आर्य-परिवार की जो भाषा सबसे अधिक अविकसित और परिवर्तन-विहीन (Archaic) हो वहाँ आर्यों की आदि भाषा रही होगी और जिस देश में यह भाषा व्यवहृत होती हो वही आर्यों का आदि-देश रहा होगा। इस दृष्टि से इन्होंने लिथ्यूनिअन भाषा को आर्य-परिवार की प्राचीनतम भाषा माना है और लिथ्यूनिआ को आर्यों का आदि-देश। (पर भाषा की अविकसित अवस्था अथवा परिवर्तनविहीनता का कारण उसके बोलने वालों की संकीर्ण एवं परिवर्तनविहीन मनोवृत्ति भी हो सकती है। अन्यान्य देशों और जातियों के पारस्परिक सम्पर्क से वंचित रहने पर भी भाषा विकसित नहीं हो पाती। अत. इस विकास-विहीनता से लिथ्यूनिअन भाषा की सबसे अधिक प्राचीनता सिद्ध नहीं होती।)

आलोचना—पर भारतवर्ष को आर्यों का आदि-देश स्वीकार करने में निम्न-लिखित अन्य कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं —

(१) यदि भारतवर्ष आर्यों का आदि-देश होता तो वे सर्वप्रथम अपने देश का भी पूर्णरूपेण आर्यीकरण करते, फिर उसके बाद ही दूसरे देशों मे जाते। परन्तु ऋग्वेद से स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन आर्य मध्यदेश, पूर्वी भारत तथा दक्षिणा-पथ से प्राय अपरिचित थे, जबकि ईरान और आधुनिक अफगानिस्तान के विषय में उनका भौगोलिक ज्ञान अपेक्षाकृत कहीं अधिक था। इससे अनुमान होता है कि ये किसी पश्चिमी देश से आये थे और ऋग्वैदिक काल तक पंजाबेतर भारत में प्रविष्ट न हुए थे।

(२) आज भी सम्पूर्ण दक्षिण भारत तथा आंशिक रूप से उत्तर भारत की भाषायें अनार्य-परिवार की है। इससे अनुमान होता है कि ये प्रदेश मूलतः अनार्यों के निवास-स्थान थे।

(३) बलूचिस्तान में द्राविड़ परिवार की ब्राहुई भाषा का पता लगा है। इससे.

प्रतीत होता है कि भारत का उत्तर-पश्चिमी प्रदेश भी आदितम काल में द्राविड सभ्यता का केन्द्र रहा होगा।

(४) भारतवर्ष की सिन्धु-सभ्यता निश्चित रूप से अनार्य थी और वैदिक सभ्यता से अधिक प्राचीन भी। अत भारतवर्ष उन अनार्यों का ही आदि देश कहा जा सकता है।

(५) सम्पूर्ण भारतीय इतिहास यही सिद्ध करता है कि यहाँ विदेशो से जातियाँ आई है, यहाँ से कभी भी कोई जाति बाहर नही गई। इस सत्य के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि कदाचित् आर्य भी यहाँ बाहर से ही आए होगे, यहाँ से बाहर नही गए होगे।

(६) सस्कृत भाषा की मूर्धन्य (Cerebral) ध्वनि इण्डो-योरपीय परिवार की किसी भाषा में नही मिलती। कदाचित् सस्कृत की यह विशेषता अनार्यों के प्रभाव से आई। आर्य बाहर से भारत मे आए और वहाँ के मूल निवासियो अनार्यों के साथ उनका सम्पर्क हुआ। इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप ही उनकी भाषा में उपर्युक्त ध्वनि-सम्बन्धी विशेषता आ गई।

(७) डा० गाइल्स का कथन है कि इन्डो-योरपीय परिवार की प्राचीनतम भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन से हमें जिन वनस्पतियो और पशुओ का ज्ञान प्राप्त होता है वे सब भारतवर्ष मे नही पाए जाते। अत. यह देश आर्यों का आदि देश नही हो सकता।

(९) पुन., इतिहास मे ऐसे उदाहरणो का अभाव है जब कोई जाति अपने सुविशाल एव अत्यन्त उर्वर देश को छोड कर विदेशो मे भटकती फिरी हो। यदि आर्य भारतवर्ष के ही आदि निवासी होते तो वे कभी भी इस देश को छोड कर अन्यत्र जाने की आवश्यकता न समझते।

(२) **आर्यों का आदि देश उत्तरी ध्रुव**—श्री बाल गगाधर तिलक के मतानुसार आर्यों का आदि देश उत्तरी ध्रुव था। कालान्तर मे हिम-प्रलय के कारण उन्हें अपनी आदि भूमि छोडनी पडी और ईरान तथा भारत मे आकर बसना पड़ा। तिलक जी के मतानुसार ऋग्वेद की रचना सप्तसैन्धव प्रदेश मे ही हुई, परन्तु इसे ध्यानपूर्वक पढ़ने से प्रकट होता है कि आर्य अपने आदि देश को भूले नहीं थे। ऋग्वैदिक वर्णनो मे स्थान-स्थान पर आर्यों के आदि देश उत्तरी ध्रुव के उल्लेख मिलते हैं। श्री तिलक का कथन है कि ऋग्वेद के एक सूक्त में दीर्घकालीन उषा की स्तुति है। भारतवर्ष की उषा तो अति अल्पकालीन होती है। दीर्घकालीन उषा तो उत्तरी ध्रुव मे ही देखने को मिलती है। अत ऋग्वेद का यह वर्णन वस्तुत आर्यों के अतीत के अनुभव से सम्बद्ध है। इसी प्रकार महाभारत मे सुमेरु पर्वत का वर्णन है जो देवताओ का निवास-स्थान था, जहाँ अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ और औषधियाँ उत्पन्न होती थी और जहाँ के दिन और रात ६-६ मास के होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वर्णन में आर्यों की उत्तरी ध्रुव की स्मृति संरक्षित है। उत्तरी ध्रुव में ही एक वर्ष का अहोरात्र सम्भव था। हिम-प्रलय के पूर्व उत्तरी ध्रुव की जलवायु अच्छी थी और वहाँ अनेक प्रकार की वनस्पतियों और औषधियों का उत्पादन सम्भव था। परन्तु हिम-प्रलय के पश्चात् जलवायु परिवर्तित हो गई और आर्यों को अपना वह सुन्दर देश छोडना पड़ा, परन्तु उसकी स्मृति उन्हें बहुत दिनो तक रही। यही कारण है कि उनके साहित्य में स्थान-स्थान पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से उत्तरी ध्रुव के सकेत मिलते हैं।

श्री तिलक के मतानुयायी ईरानी अवेस्ता में भी उत्तरी ध्रुव के संकेत पाते हैं।

उनका कथन है कि इस ग्रन्थ में जिस हिमप्रलय का उल्लेख है, वह उत्तरी ध्रुव मे आया था और इसी के कारण आर्यों को वह प्रदेश छोडना पडा था। इस ग्रन्थ के अनुसार अहुर मज्दा (ईरानी देवता) ने सर्वप्रथम 'ऐर्यन वेइजो' का निर्माण किया। इसका अर्थ वस्तुत: 'आर्यों का बीज' अथवा आदि देश है। यह उत्तरी ध्रुव के प्रदेश में ही स्थित था। अवेस्ता के अनुसार इस प्रदेश मे १० मास की शीत ऋतु और २ मास की ग्रीष्म ऋतु होती थी। कतिपय विद्वानो का मत है कि यह भी उत्तरी ध्रुव का ही वर्णन है। पुन:, अवेस्ता मे अहुरमज्दा द्वारा निर्मित विविध देशो का वर्णन है। कुछ विद्वानो के मतानुसार देशो का यह वर्णन आर्यों के प्रयाण-मार्ग और विस्तार पर प्रकाश डालता है।

आलोचना—परन्तु अधिकाश विद्वान् आज श्री तिलक के मत को स्वीकार नही करते। श्री तिलक जिन ऋग्वैदिक वर्णनो को उत्तरीध्रुवविषयक समझते है, वे नितात सन्दिग्ध है। यदि आर्य उत्तरी ध्रुव को अपना आदि देश मानते होते तो वे सप्तसैन्धव को कभी भी 'देवकृतयोनि' न कहते। पुन, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य मे कही पर भी उत्तरी ध्रुव को आर्यों की आदि भूमि नही कहा गया है। यदि आर्यों को वास्तव मे अपने देश उत्तरी ध्रुव की सुमधुर स्मृति विकल कर रही होती तो कही न कही उसका स्पष्ट वर्णन होता। श्री तिलक के उपर्युक्त उद्धरण साहित्यिक है। उनसे आर्यों के आदि देश का बोध सम्भवत नही होता।

(२) **आर्यों का आदि देश योरप**—योरप को आर्यों का आदि देश मानने वाले विद्वानो के तर्क दो आधारो पर निर्भर है—

(१) आज भी इन्डो-योरपीय भाषा-परिवार के शब्द और मुहाविरे जितने योरप की भाषाओ मे विद्यमान है उतने एशिया की भाषाओ मे नही। इनसे अनुमान यही होता है कि कदाचित् योरप का ही कोई देश आर्यों का आदि देश था, एशिया का नही।

(२) योरप की लिथ्यूनियन भाषा ही समस्त इन्डो-योरपीय भाषा-परिवार अत्यधिक अपरिष्कृत है और इसीलिए अत्यधिक प्राचीन लगती है। अत लिथ्यूनिआ अथवा उसके समीप का कोई योरपीय देश आर्यों का आदि देश रहा होगा।

परन्तु अब प्रश्न यह होता है कि आखिर योरप का कौन-सा देश आर्यों का आदि देश था इस सम्बन्ध मे विद्वानो ने अपने भिन्न-भिन्न मत प्रतिपादित किए है जो निम्न प्रकार है—

(१) **हंगरी**—गाइल्स महोदय का मत है कि आर्यों का आदि निवास-स्थान हगेरी अथवा डेन्यूब नदी की घाटी था। उनका यह मत भाषा-विज्ञान के ऊपर निर्भर है। उन्होने इडो-योरपीय परिवार की विभिन्न भाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह निश्चित किया कि प्राचीनतम आर्यों के आदि-देश की भौगोलिक अवस्था क्या थी, वे किन-किन अन्नो, फलो, वनस्पतियो तथा पशु-पक्षियो से परिचित थे। इस आधार पर उन्होने यह निष्कर्ष निकाला कि प्राचीनतम आर्य न तो किसी द्वीप पर रहते थे और न किसी समुद्रतटीय प्रदेश मे। कदाचित् वे समुद्र से भलीभाँति परिचित भी न थे। अनुमानत: उनका आदि निवास-स्थान तो ऐसे देश मे था जो पर्वतों, नदियों अथवा झीलो से घिरा था। सम्भवतः यह देश शीतोष्ण कटिबन्ध मे था। इनके उत्पादित अन्नो मे गेहूँ और जौ कि प्रधानता थी। आर्यों के परिचित पशुओ में गाय, बैल, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, हिरन और भालू विशेष उल्लेखनीय हैं। हाथी, बाघ, गिद्ध और बतख से वे अपरिचित थे। गाइल्स महोदय का निष्कर्ष है कि हगेरी का देश अथवा

डेन्यूब-प्रदेश ही एक ऐसा भू-खंड है जिसमें ये सभी विशेषतायें विद्यमान हैं। अतः यही भूखंड आर्यों का आदि-निवास-स्थान रहा होगा। कालान्तर में ये आर्य डारडेनलीज के मार्ग से एशिया माइनर मे प्रविष्ट हुए और वहाँ से मेसोपोटामिया तथा ईरान होते हुए भारत पहुँचे। अपने प्रयाण-मार्ग पर स्थित इन समस्त देशो मे उन्होने अपने निवास बनाए। यही कारण है कि समस्त देशों में आर्य-इतिहास के अति प्राचीन अवशेष मिले हैं।

आलोचना—परन्तु गाइल्स महोदय के तर्क और निष्कर्ष असन्दिग्ध नही हैं। एकमात्र कतिपय शब्दो के आधार पर कल्पित आर्य-देश और आर्य-जीवन की रूप-रेखा नितान्त भ्रामक है। यह नही कहा जा सकता कि विश्व मे हगेरी ही एक ऐसा देश है जो भौगोलिक और सास्कृतिक दृष्टिकोणो से आर्यों के आदि-देश की सम्पूर्ण विशेषताओ से परिपूर्ण है। पुन. यह भी सभव नही है कि शताब्दियो पूर्व हगेरी की भौगोलिक एव वमनस्पतिक अवस्था वही रही हो जो आज है। इसके अतिरिक्त आर्यों के आदि-देश का प्रश्न इतना विवादग्रस्त है कि वह एकमात्र भाषा-विज्ञान के आधार पर हल नही किया जा सकता। उसके लिए इतिहास, पुरातत्व, शरीर-रचना-शास्त्र और शब्दार्थविकास-शास्त्र की सहायता भी अपेक्षित है।

(२) **जर्मन प्रदेश**—कुछ विद्वानो ने सहज जातीय विशेषताओ के आधार पर आर्यों के आदि देश की समस्या को हल किया है। उनका मत है कि प्राचीनतम आर्यों की सर्वप्रमुख जातीय विशेषता थी उनके भूरे बाल। यूनानी पौराणिक परम्पराओ मे उनके देवता एपालो के बाल भूरे थे। इसी प्रकार प्लूटार्क कैटो और सुला नामक रोमन शासको को भी भूरे बालो वाले बताता है। इन उदाहरणो से अनुमान होता है कि प्राचीन आर्यों के बाल भूरे होते हैं। यह विशेषता आज भी जर्मन-जाति में पाई जाती है। अत कदाचित् प्राचीनतम आर्य जर्मनी के ही निवासी थे।

कुछ पूर्वैतिहासिक मृण्डभाड मध्य जर्मनी मे मिले है। कुछ विद्वान् इन्हे प्राचीनतम आर्यों की कृतियाँ मानते है और इन्ही के आधार पर मध्य जर्मनी को आर्यों का आदि-देश बताते है।

पेन्का नामक विद्वान् की धारणा है कि भूरे बालो के अतिरिक्त प्राचीनतम आर्यों की जो अन्य शारीरिक विशेषताये थी वे जर्मन-प्रदेश के निवासी स्कैण्डीनेवियन्स (Scandinavians) मे पाई जाती है। अत स्कैण्डीनेविआ को ही आर्यों का आदि देश समझना चाहिए। हर्ट महोदय ने भी स्कैण्डीनेविआ को ही आर्यों का आदि देश माना है, परन्तु उनके तर्क का आधार भाषा-सम्बन्धी है। उनका कथन है कि स्कैण्डीनेविआ के ऊपर कभी भी विदेशीय जाति का आधिपत्य नहीं रहा और तो भी उसके निवासी इडो-योरोपीय भाषा बोलते है। अत यह देश प्राचीनतम आर्यों का आदि-देश रहा होगा।

कुछ अन्य विद्वानो ने पुरातत्व के आधार पर पश्चिमी बाल्टिक समुद्र-तट को आर्यों का आदि देश माना है। इनका कथन है कि इस तट पर पूर्व-पाषाणकाल के अनुगामी काल की अति प्राचीन और सरल वस्तुएँ मिली हैं। कदाचित् ये प्राचीनतम आर्यों की होंगी। इस मत के प्रतिपादकों में विशेष उल्लेखनीय हैं मच महोदय।

आलोचना—परन्तु उपर्युक्त सभी तर्कों में शिथिलता है। दीर्घकालीन अंत-र्जातीय रक्त-सम्मिश्रण के पश्चात् किसी भी मानव-वर्ग में अपनी सहज शारीरिक विशेषताओ का अक्षय अथवा अपरिवर्तित रहना सम्भव नहीं है। अतः आज एकमात्र शरीर-रचना के आधार पर किसी जाति को प्राचीनतम आर्यों के वशज कह देना उप-

युक्त नही है। रही भूरे बालो की बात, तो यह तर्क नितान्त निर्बल है। भारतीय महा-भाष्यकार पतजलि ने भूरे बालो को ब्राह्मणो का सहज गुण बताया है। अत. इस आधार पर पाश्चात्य विद्वान् भारतवर्ष को ही आर्यों का आदि देश क्यो नही मानते ? ऐसा प्रतीत होता है कि यूनानियों और रोमनो की दृष्टि मे भूरे बालो वाला व्यक्ति विशेष कौतुक का विषय था। कदाचित् इस विचित्रता के कारण ही उनका ध्यान भूरे बालो वाले व्यक्तियो की ओर आकर्षित हुआ। अतः उनके उल्लेखो में भूरे बाल जातीय गुण नही वरन् जातीय अपवाद ही थे।

इसी प्रकार भाषा के आधार पर स्कैन्डीनेविया को आर्यों का आदि-देश स्वीकार करना भी नितान्त सशयात्मक है। प्रथमत. भाषाओ का आयात-निर्यात होता रहता है। द्वितीयत. कभी-कभी भाषा की परिवर्तन-विहीनता प्राचीनता का द्योतक न हो कर उस भाषा के बोलने वाले मनुष्यो की सकीर्ण और विकास-निरपेक्ष मनोवृत्ति की द्योतक होती है।

पुन: एकमात्र पुरातत्व की कुछ सामग्री के आधार पर हम बाल्टिक प्रदेश को भी आर्यों का आदि देश नही मान सकते, क्योंकि इसी प्रकार की सामग्री अन्यत्र (उदाहरणार्थ न्यूजीलैण्ड में) भी मिली है।

यही बात मध्य जर्मनी मे प्राप्त मृण्डभाण्डो के विषय मे भी कही जा सकती है। इसी प्रकार के अथवा इससे भी पुराने मृण्भाण्ड दक्षिणी रूस, पोलैंड और यूक्रेन मे भी मिले है।

(३) दक्षिणी रूस—नेहरिंग महोदय ने त्रिपोल्जे (दक्षिणी रूस) यूक्रेन मे प्राप्त कुछ मृण्डभाण्डों का अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि ये ३०० ई० पू० के है। अपनी प्राचीनता के आधार पर ये प्राचीनतम आर्यों की कृतियां प्रतीत होते हैं। आर्यों का आदि-देश कदाचित् रूस ही था।

पोकोर्नी महोदय का अनुमान है कि प्राचीनतम आर्य स्टेप्स अथवा विस्तृत मैदानो में निवास करते थे। इस प्रकार के मैदान रूस मे वेजर और विश्चुला नदियो के बीच में और उसके आगे श्वेत रूस तक है। अत यही प्रदेश आर्यों का आदि देश रहा होगा।

आलोचना—गाइल्स महोदय यह स्वीकार करते हैं कि रूस का यह प्रदेश अनुमानित प्राचीनतम आर्यों के देश की भाति स्टेप्स है और शीतोष्ण कटिबन्ध में भी स्थित है, परन्तु फिर भी इस क्षेत्र मे वे सभी भौगोलिक और वानस्पतिक विशेषतायें नही है जो तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर आर्यों के आदि देश में होनी चाहिए।

(४) एशिया—सम्पूर्ण मतो को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि एशिया के किसी देश को ही आर्यों का आदि देश मानना सबसे अधिक उपयुक्त है। इसके कुछ विशेष कारण है—

(१) आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ दो है—जेन्दअवेस्ता और ऋग्वेद। इनमें प्रथम ईरान मे और द्वितीय भारत में मिला है। अत: निश्चित है कि यदि आर्य ईरान और भारत के आदि-निवासी नही थे तो वे किसी ऐसे प्रदेश से आए होगे जो इन दोनो देश के निकटस्थ रहा हो। अत. यह प्रदेश कही मध्य एशिया में ही होगा।

(२) आर्यों के प्राचीनतम लेख भी एशिया में ही मिले हैं। एशिया माइनर में बोगज-कोइ नामक स्थान में प्राप्त एक लेख में मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यसे

नामक वैदिक देवताओं के नाम है। यह लेख लगभग १४०० ई० पू० का है।

इसी प्रकार बोगज-कोइ में किक्कुली नामक एक मितानी लेखक का एक ग्रन्थ मिला है। इसमें एक, तेर, पज, सत्त आदि संख्याओं का उल्लेख है। ये सख्यायें बहुत-कुछ वैदिक सख्याओं के समरूप है। इसी प्रकार मिस्र मे एल-अमर्ना नामक स्थान में कुछ मिट्टी के खण्ड (Tablets) मिले हैं। ये बैबिलोनिया की लिपि में लिखित है। इन पर कुछ बैबिलोनिया के नरेशों—यथा, अर्तमन्य, अर्जविय, यशदत, शुत्तर्न आदि—के नाम है। ये नाम बहुत-कुछ वैदिक प्रतीत होते है। इन लेखो से स्पष्ट है कि प्राचीनतम आर्य एशिया के ही निवासी थे, क्योंकि उनका कोई भी लेख योरप मे नही मिलता।

(३) इण्डो-योरपीय परिवार की भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनतम आर्य जिन भौगोलिक अवस्थाओं, वनस्पतियों और पशु-पक्षियों से परिचित थे वे योरप के किसी भी प्रदेश मे सम्पूर्णत. उपलब्ध नही होते—उनकी उत्पत्ति एशियाई है।

एशिया को आर्यों का आदि-देश मानने वाले विद्वानों मे सर्वप्रथम थे जे० जी० रोड महोदय। इन्होने १८२० ईसवी मे ईरानी ग्रन्थ जेन्द अवस्ता के आधार पर यह प्रतिपादित किया कि प्राचीनतम आर्य **बैक्ट्रिया** के निवासी थे। यही से वे पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की ओर गए थे। पॉट महोदय ने भी इस मत का समर्थन किया और अपने पक्ष मे यह अतिरिक्त तर्क उपस्थित किया कि ऐतिहासिक युग मे भी अनेक जातियाँ मध्य एशिया से ही पूर्व और पश्चिम की दिशाओं मे गई थी। अत. यही बात यदि पूर्वैतिहासिक काल में भी हुई हो तो आश्चर्य नही।

सन् १८५९ मे प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर ने पुन. **मध्य-एशिया** को आर्यों का आदि-देश घोषित किया। इनका विचार था कि यही से आर्यों का विभाजन और विस्तार प्रारम्भ हुआ। उनकी एक शाखा पूर्व की ओर गई जो इतिहास मे इण्डो-ईरानी आर्य शाखा के नाम से प्रख्यात है। इसी शाखा के आर्य ईरान और भारत मे बसे। ये आर्य दीर्घकाल तक साथ-साथ रहे थे। इसी से ईरानी और भारतीय आर्यों मे बहुत-कुछ समता दिखाई देती है। आर्यों की दूसरी शाखा पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम की ओर गई और वह योरप के विभिन्न देशो मे बसी।

सन् १८७४ मे प्रोफेसर सेथ्रस ने इण्डो-योरोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके मध्य एशिया के सिद्धात की पुष्टि की। उनका कथन है कि अवेस्ता और ऋग्वेद से प्रकट होता है कि आर्य ऐसे प्रदेश में रहते थे जहाँ शीत की अधिकता हो, नाव चलाने के लिये जल-राशि हो, पशु-पालन की सुविधा के लिए घास की प्राप्ति होती हो तथा अन्यान्य वृक्षो के साथ पीपल भी उत्पन्न होता हो। इस विद्वान् के मतानुसार ऐसा प्रदेश मध्य एशिया का वह भू-खड है जो **कैस्पियन सागर के निकट** है।

मध्य एशिया के बोगज-कोइ नामक स्थान के लेखो के आधार पर कुछ विद्वानो ने कप्पाडोसिया को आर्यों का आदि-देश माना है। इसी प्रकार एल-अमर्ना नामक स्थान में प्राप्त बैबिलोनिया-लिपि मे लिखित कतिपय मिट्टी के खण्डो (Tablets) को साक्ष्य मान कर सीरिया को आर्यों का आदि-देश होने का श्रेय दिया गया है।

एडवर्ड मेयर महोदय ने एक अन्य मत प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि बोगज-कोइ और एल-अमर्ना के साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि मेसोपोटामिया अथवा सीरिया में लगभग १४०० ई० पू० आर्य निवास करते थे। इसी तिथि के लगभग

आर्य पजाब में भी पहुँच चुके थे। मेयर महोदय का मत है कि ये आर्य न तो वस्तुत. मेसोपोटामिया अथवा सीरिया के निवासी थे और न पजाब (भारतवर्ष) के। ये दोनों प्रदेशों के बीच मे स्थित पामीर पठार के मूल-निवासी थे। वहीं से इनकी एक शाखा ईरान और भारत में जाकर बसी और दूसरी मेसोपोटामिया अथवा सीरिया में। इस प्रकार एक ही समय में आर्यों ने दो दिशाओं में प्रयाण किया था। यह समय २००० ई० पू० के लगभग रखा जा सकता है। कालान्तर में मेयर महोदय के इस मत का अनुमोदन ओल्डेनवर्ग और कीथ ने भी किया।

ब्रँण्डेस्टीन नामक विद्वान् ने शब्दो के क्रमिक अर्थ-परिवर्तन के आधार पर एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया है। उनका कथन है कि प्रत्येक जाति की भाषा में शब्दों का जो क्रमिक परिवर्तन होता है वह उसकी सस्कृति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ का परिचायक होता है। यदि हम इडो-योरोपीय परिवार की समस्त भाषाओं का अध्ययन करे तो हमें इडो-ईरानी भाषा में ही सर्वप्रथम शब्दार्थ-परिवर्तन दृष्टिगत होगा। इस आधार पर ब्रँन्डेस्टीन महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इण्डो-योरोपीय आर्य प्रारम्भ में किसी एक स्थान पर सम्मिलित रूप से रहते थे। उस समय उनकी सस्कृति एव परिस्थिति एकसम थी। कालान्तर मे एक शाखा उनसे पृथक् हो गई और वह ईरान तथा भारत मे आ कर बसी। यही शाखा इतिहास में इण्डो-ईरानी आर्य के नाम से प्रख्यात हुई। नई परिस्थिति में रहने के कारण इनकी भाषा मे सर्वप्रथम अर्थ-परिवर्तन हुए जो इनकी भिन्न सास्कृतिक अवस्था की भी सूचना देते हैं।

परन्तु अब प्रश्न यह होता है कि इस विभाजन के पूर्व सम्मिलित आर्य किस प्रदेश मे रहते थे। इस प्रश्न को हल करने के लिए भी ब्रैण्डेन्स्टीन महोदय ने शब्द-परिवर्तन के क्रमिक विकास को आधार माना है। आर्य-परिवार की समस्त भाषाओ का तुलनात्मक-अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्राचीनतम शब्दों से ऐसा आभास मिलता है कि आर्य किसी पर्वत के समीपस्थ एक घास के मैदान (Steppeland) के मूल निवासी थे। चूँकि उपर्युक्त विवेचना से योरप की अपेक्षा एशिया में ही आर्यों के आदि-देश होने की अधिक सम्भावना है, इससे इसी महाद्वीप (एशिया) में किसी पर्वत के समीप कोई स्टेप-प्रदेश होना चाहिए। ब्रँन्डेन्स्टीन के मतानुसार यह प्रदेश किर्गिज का स्टेप्स है जो यूराल पर्वत के दक्षिण में स्थित है। इडो-योरपीय परिवार की भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन से आर्यों की भौगोलिक परिस्थिति, सस्कृति-सभ्यता और जीवन की जो प्राचीनतम झाकी दृष्टिगत होती है उसके विकास के लिए एशिया का किर्गिज का घास का प्रदेश सब से अधिक उपयुक्त है।

कालान्तर में अपने विकास की दूसरी अवस्था में इडो-योरोपीय भाषा-परिवार में हमें ऐसे शब्द मिलते हैं जो अधिक नम जलवायु तथा उसमें पनपने वाले पशु-पक्षियों और वनस्पति की सूचना देते हैं। इस तथ्य से प्रकट होता कि कुछ आर्य अपना मूल निवास-स्थान छोड कर अधिक नम प्रदेशों में जा कर बस गए थे। ब्रँन्डेस्टीन का मत है कि आर्यों की एक शाखा तो ईरान और भारत में आई और दूसरी नार्डिक-प्रदेश एवं यूक्रेन तथा अन्य दक्षिणी और पश्चिमी प्रदेशों में बसी। ब्रँन्डन्स्टीन का यह मत अधिक वैज्ञानिक और विश्वसनीय है।

आर्यों के भारतवर्ष में आगमन की तिथि—जैसा कि हमने पीछे उल्लेख किया है, सिन्धु-सभ्यता के ध्वंसावशेषों के ऊपर ही आर्य-सभ्यता की स्थापना हुई थी।

सिन्धु-सभ्यता की अन्तिम अवस्था की तिथि लगभग २५०० ई० पू० रक्खी गई है। अतः इस तिथि के पश्चात् ही आर्य सप्तसैन्धव प्रदेशों में आये होंगे।

कुछ विद्वानों ने निम्नलिखित रूप में तर्क उपस्थित किये हैं—

यदि हम मध्य एशिया में बोगज-कोइ के और मिस्र के एल-अमर्ना की मिट्टी की Tablets पर उत्कीर्ण लेखों की भाषा की ऋग्वैदिक भाषा के साथ तुलना करें तो देखेंगे कि उन दोनों स्थानों में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह ऋग्वेद की भाषा से अधिक प्राचीन और अविकसित है। यह भाषा ईरानी जेन्द-अवेस्ता की भाषा से भी अधिक प्राचीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि इण्डो-ईरानी भाषा का विकास १४०० ई० पू० के पश्चात् का है। अत ऋग्वेद की रचना इस तिथि के पश्चात् हुई होगी। इन विद्वानों के अनुसार अनुमानतः ऋग्वेद का रचना-काल १००० ई० पू० के समीप रखा जा सकता है।

अब यदि हम ऋग्वेद और ईरानी धर्म-ग्रन्थ अवेस्ता की तुलना करें तो प्रतीत होगा कि दोनों समकालीन हैं। कालान्तर में ईरान के साखामनीष राजाओं (ई० पू० ६००) ने अपने अभिलेखों को जिस भाषा में उत्कीर्ण कराया वह अवेस्ता की भाषा का ही विकसित रूप है। इन विद्वानों का अनुमान है कि इस विकास के लिए ४०० वर्षों का काल पर्याप्त होगा। अत इस दृष्टिकोण से अवेस्ता का रचना-काल १००० ई० पू० के लगभग आता है। ऋग्वेद और अवेस्ता प्राय समकालीन है। अतः इस अनुमान पर भी ऋग्वेद की रचना का काल १००० ई० पू० के लगभग आता है।

परन्तु भारत मे आर्यों का आगमन-काल ऋग्वेद के रचना-काल से प्राचीन है। आर्य यहाँ आये होगे। उन्हे बहुत दिनो तक यहाँ के मूल-निवासियो से सघर्ष करना पडा होगा। उस सघर्ष-काल की अशान्तिपूर्ण अवस्था में ऋग्वेद जैसे ग्रन्थ की रचना सम्भव न थी। यह रचना तो तभी हुई होगी जब आर्य न्यूनाधिक मात्रा में सप्त-सैन्धव प्रदेश में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना कर चुके होंगे। जिस समय ऋग्वेद की रचना हुई थी उस समय तक आर्य अपने मध्य एशिया के आदि देश को प्राय आमूल रूप से भूल चुके थे, क्योकि ऋग्वेद में उनके आदि-देश का कहीं पर भी वर्णन नहीं है। मध्य एशिया के लेखो की तिथि १४०० ई० पू० है। अत कम से कम इसके ४०० वर्ष पश्चात् ही ऋग्वेद का रचना-काल माना जा सकता है। अपनी प्रारम्भिक स्थिति का पूर्ण विस्मरण ४०० वर्षों से पूर्व सम्भव प्रतीत नही होता। अत इस अनुमान से भी ये विद्वान् ऋग्वेद की रचना का काल १००० ई० पू० के लगभग बताते हैं। परन्तु बहुत से विद्वान् इस तिथि को स्वीकार नही करते। स्थूलरूप में हम आर्यों के आगमन की तिथि २५०० ई० पू० (सिन्धु-सभ्यता का विनाश) और १००० ई० पू० (ऋग्वेद की रचना) के बीच में रख सकते है। सम्भव है कि यह आगमन की तिथि २००० ई० पू० और १५०० ई० पू० के बीच रही हो। परन्तु यह तिथि-निर्धारण निर्विवाद नही हो सकता। आर्यों का आगमन और ऋग्वेद की रचना के काल भिन्न-भिन्न विद्वानों ने ६००० ई० पू० से ले कर १५०० ई० पू० तक रखे हैं।

६

ऋग्वैदिक सभ्यता

भारतीय आर्यों का प्रारम्भिक भूगोल-ज्ञान—ऋग्वेद के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय आर्य किन-किन भारतीय एव विदेशीय प्रदेशो से परिचित थे। इसमे कोई सन्देह नही कि वे सर्वप्रथम सप्तसैन्धव प्रदेश मे आ कर बसे थे और यही कारण है कि ऋग्वेद मे इस प्रदेश की सातो नदिया—सिन्धु, सरस्वती, शतुद्रि (सतलज), विपाशा (व्यास), परुष्णी (रावी) असिक्नी (चिनाव) और वितस्ता (झेलम)—का वर्णन मिलता है। परन्तु इन भारतीय नदियो के साथ-साथ ऋग्वेद में अफगानिस्तान की कुछ नदियो—कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात) क्रुमु (कुर्रम) और गोमती (गोमल) का भी वर्णन है। इससे प्रकट होता है कि पश्चिम में भारतीय आर्यों का ज्ञान अफ़गानिस्तान तक था। भारतवर्ष मे पूर्व और दक्षिण की ओर आर्यों का भौगोलिक ज्ञान कहाँ तक था इसमे सन्देह है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के रचना-काल तक आर्य गगा और यमुना की घाटियो मे नही बसे थे क्योकि ऋग्वेद में इन नदियो के नाम केवल दो-तीन बार ही आये है और वे भी एकमात्र आकस्मिक रूप से। इसी प्रकार धान और व्याघ्र का उल्लेख न होने के कारण यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वैदिक आर्य बगाल से परिचित न थे। इसी प्रकार यद्यपि ऋग्वेद में हिमालय का वर्णन है तथापि विन्ध्याचल और दक्षिणी भारत के विषय में वह मौन है। अत ऋग्वेद के साक्ष्य से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऋग्वेद के रचना-काल तक आर्यों का विस्तार पश्चिम में अफगानिस्तान से ले कर पूर्व में गगा के पश्चिमी तट तक और उत्तर मे हिमालय से ले कर दक्षिण में विन्ध्य-प्रदेश की उत्तरी सीमा तक हो चुका था। कालान्तर मे इस सम्पूर्ण प्रदेश में सरस्वती और दृशद्वती नदियो के बीच का प्रदेश सब से अधिक पुनीत समझा जाने लगा। आर्यों ने इस पुनीत प्रदेश को ब्रह्मावर्त के नाम से पुकारा।

वेद—हमें भारतवर्ष के आर्यों का ज्ञान प्रमुखतया वेदो से होता है। 'वेद' सस्कृत की 'विद' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है 'जानना' अथवा 'ज्ञान प्राप्त करना।' इस प्रकार वेद का अर्थ ज्ञान हुआ। आर्यों का समस्त ज्ञान उनके वेदो में सन्निहित है। ज्ञान किसी एक काल अथवा जाति की सम्पत्ति नही है। कदाचित् इसी तथ्य को दृष्टिकोण मे रख कर आर्यों ने अपने वेदो को अपौरुषेय कहा है।

वेद ४ हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इनमे ऋग्वेद सबसे पुराना और अथर्ववेद सब से बाद का है। वेदो का अधिकाश पद्य मे है यद्यपि उसमें गद्य-भाग भी मिलता है। वैदिक पद्य को ऋचा, गद्य को यजुष् और गेय पद्य को

साम कहते हैं। इन्हीं तीनों प्रकार के रूप के कारण प्रथम तीन वेद क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के नाम से प्रख्यात हुए। इन्हें त्रयी भी कहते हैं।

वेदों की रचना किसी एक काल अथवा व्यक्ति की नहीं है। विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न ऋषि जो मन्त्रादि बनाते रहे उन्हीं का किसी समय सकलन कर लिया गया। इसी विशेषता के कारण वेदों को संहिता भी कहा गया है। प्रारम्भ में वेदों को लेख-बद्ध न किया गया था। उनका अध्ययन-अध्यापन मौखिक रूप में ही होता था। गुरु को समस्त वेद कण्ठस्थ होते थे। वह अपने शिष्य को मौखिक रूप से ही उन्हें कण्ठस्थ कराता था। इस प्रकार वैदिक ज्ञान श्रुति (सुन कर) के द्वारा ही प्राप्त होता था। यही कारण है कि वेदो को 'श्रुति' की भी सज्ञा दी गई है।

ऋग्वेद—वेदों में[1] ऋग्वेद सब से अधिक प्राचीन है। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना और उनके सकलन के बीच काफी समय का अन्तर पड गया होगा। समय-समय पर आर्य अपने हृदय के उच्छासो को ऋचाओं के रूप में प्रकट करते रहे। भारतवर्ष मे आने के पूर्व ये ऋचायें असकलित ही रही। परन्तु भारतवर्ष में आने पर परिस्थिति बदल गई। यहाँ उनका अनार्यों के साथ सम्पर्क हुआ। आर्यों और अनार्यों के धर्म और सस्कृति में भारी अन्तर था। अतः अब आर्यों को यह आशका हुई कि उनका धर्म और सस्कृति अनार्य तत्वो के सम्मिश्रण से कही अशुद्ध न हो जाय। अपनी धार्मिक और सास्कृतिक परम्पराओ को सरक्षित, सुव्यवस्थित और विशुद्ध रखने के लिये ही आर्यों ने ऋचाओ को संकलित किया। वेद के सहिता नाम से भी यही प्रकट होता है। ऋग्वेद इस प्रकार का सर्वप्रथम सकलन है। इसमें १०१७ सूक्त है। सूक्त का अर्थ होता है 'अच्छी उक्ति'। इन सूक्तों को यदि हम ११बाल-खिल्य सूक्तो को भी सम्मिलित कर लें तो ऋग्वेद में कुल सूक्तों की सख्या १०२८ होंगी। परन्तु अधिकाश विद्वान् इन बालखिल्य सूक्तों को प्रक्षिप्तांश के रूप में ग्रहण करते हैं। ये किसी समय बाद को ऋग्वेद में जोडे गए थे।

ऋग्वेद के समस्त सूक्त १० मण्डलों में सगठित हैं। प्रत्येक सूक्त के साथ किसी ऋषि और देवता का नाम भी मिलता है। ऋषि उस सूक्त का रचयिता होता था। उस सूक्त में जिस देवता की स्तुति होती थी अथवा जिस देवता के सम्बन्ध में वह सूक्त प्रतिपादित किया जाता था, उसमें उस देवता का नामोल्लेख भी कर दिया जाता था।

सूक्तों अथवा मन्त्रो के रचयिता ऋषियो में ६ विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) गृत्समद (२) विश्वामित्र (३) वामदेव (४) अत्रि (५) भारद्वाज और (६) वसिष्ठ। यह विशेष महत्व की बात है कि मन्त्र रचयिता ऋषियो में कुछ स्त्रियों के भी नाम हैं। इन स्त्रियों में लोपामुद्रा, घोषा, शची, पौलोमी और काक्षावृती आदि प्रमुख है।

यजुर्वेद—ऐसा प्रतीत होता है कि अलिखितरूप में होने के कारण कालान्तर में वेद-पाठ मे विभिन्नता उत्पन्न हो गई। यही कारण है कि वेदों में अनेक शाखायें मिलती हैं। उदाहरणार्थ, यजुर्वेद में दो शाखायें मिलती हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं। इन दोनों

1. 'The Vedas give us abundant information regarding all that is most interesting in the contemplation of antiquity'—Wilson.

शाखाओं में शुक्ल यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता) अधिक प्रसिद्ध है। इसमें ४० अध्याय हैं। प्रत्येक का सम्बन्ध किसी न किसी याज्ञिक अनुष्ठान से है। इसका अंतिम अध्याय ईशोपनिषद् है जिसका विषय याज्ञिक न हो कर दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक है।

सामवेद—यह तीन शाखाओं में विभक्त है—(१) कौथुम (२) राणायनीय और (३) जैमिनीय। सम्पूर्ण सामवेद में १८१० मन्त्र हैं। इनमें २६१ मंत्रों की पुनरावृत्ति हुई है। अतः यदि हम इन्हें निकाल दें तो सामवेद के कुल मन्त्रों में १४७४ मन्त्र ऐसे हैं जो ऋग्वेद में भी मिलते हैं। इस प्रकार सामवेद में केवल ७५ मंत्र ही नए हैं। साम-मंत्र गेय हैं। इन्हें ऋषि गाते थे।

अथर्ववेद—वेदों में अथर्ववेद सब से बाद की रचना है। इसकी दो शाखायें—शौनक और पिप्पलाद—हैं। इनमें शौनक शाखा का अधिक महत्व है। अथर्ववेद के कुल मन्त्रों की सख्या लगभग ६००० है। इनमें से बहुत से मन्त्र ऋग्वेद में भी पाये जाते हैं। ये २० अध्यायों और ७३१ सूक्तों में सगठित हैं। इस वेद में मरण, उच्चाटन, मोहन आदि के मन्त्र भूत-प्रेतों और अधविश्वासों के उल्लेख तथा नाना प्रकार की औषधियों आदि का वर्णन है।

पंचजन—भारतीय आर्य अनेक वर्गों में विभक्त थे। इनमें 'पचजन' विशेष प्रसिद्ध थे। इनके नाम है (१) अणु (२) द्रह्यु (३) यदु (४) तुर्वस, और (५) पुरु। इनके अतिरिक्त अन्यान्य गण भी थे। इनमें भरत, क्रिवि और त्रिसु विशेष उल्लेखनीय है।

पारस्परिक युद्ध—भारतीय आर्य-इतिहास अपने प्रारभिक चरण में युद्धों का इतिहास है। एक ओर तो वे अपने पारस्परिक युद्धों में व्यस्त थे और दूसरी ओर अनार्यों के विरुद्ध युद्ध में। ऋग्वेद में दोनो प्रकार के युद्धों का उल्लेख मिलता है। पारस्परिक युद्धों में सर्वप्रमुख युद्ध है दश राजाओं का युद्ध। आर्यों के भरत-वर्ग का राजा सुदास था। यह अत्यन्त वीर और साम्राज्यवादी नरेश था। इसी कारण समीपस्थ प्रदेशों के अन्य राजा उसके प्रति सशकित और ईर्ष्यालु थे। दोनो पक्षों में युद्ध अवश्यम्भावी था और शीघ्र ही उसका कारण भी उपस्थित हो गया। बात यह थी कि बहुत दिनों से विश्वामित्र भरत-वर्ग का पुरोहित था वह बड़ा योग्य व्यक्ति था। परन्तु कुछ समय पश्चात् वह पुरोहित-पद से हटा दिया गया और उसके स्थान पर वसिष्ठ को पुरोहित-पद दिया गया। विश्वामित्र इस अपमान से बड़ा क्षुब्ध हुआ। उसने प्रतिशोध करने के लिए निकटवर्ती दश राजाओं का एक सघ बनाया और उसकी सहायता से भरत-नरेश सुदास के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। परुष्णी (रावी) के तट पर दोनो पक्षों में भयकर युद्ध हुआ। इसमें सुदास की विजय हुई और पंजाब में उसकी प्रतिष्ठा अभूतपूर्व हो गई।

दश राजाओं के इस सघ के अतिरिक्त सुदास ने शिवों, अलिनों, विषणियों और पक्थों के सघों को भी भिन्न-भिन्न कालों में पराजित किया था। इन विजयों से उसके राज्य की सीमायें कहाँ तक विस्तृत हो गई थी, इसका हमें स्पष्ट ज्ञान नही है। फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि सुदास अपने काल का एक प्रमुख वीर और साम्राज्यवादी शासक था।

अनार्यों से युद्ध—पारस्परिक युद्धों के अतिरिक्त आर्यों को अनार्यों के साथ भी युद्ध करने पड़े थे। ये अनार्य भारतवर्ष के आदि निवासी थे। ऋग्वेद में इनकी जातियों और इनके नरेशों के नामोल्लेख मिलते हैं। अनार्य जातियों में अज, यक्षु, किकट, पिशाच और शिग्रु आदि के नाम आते हैं। अनार्य राजाओं में विशेष उल्लेखनीय है

भेद। इसे सुदास ने पराजित किया था। इन नरेश के अतिरिक्त सम्बर, धुनि और चुमुरि आदि अन्यान्य अनार्य-नरेश भी थे। आर्यों को अपने भूमि-विस्तार के लिए पग-पग पर इन्ही अनार्यों से युद्ध करना पडा। अपने उत्कृष्ट सैनिक संगठन और प्रबल अश्वारोहियो के कारण इस आर्य-अनार्य युद्ध में आर्यों की विजय हुई और उन्होंने शनैः शनैः अनार्य-प्रदेशों को अधिकृत कर लिया तथा अनार्यों को 'दास' अथवा 'दस्यु' की संज्ञा दी।

ऋग्वेदिक वर्णनो से प्रकट होता है कि आर्यों और अनार्यों मे मौलिक रूप से शारीरिक, धार्मिक एव सास्कृतिक भेद थे। अनार्य काले थे और उनकी नाक चिपटी होती थी। ऋग्वेद में उन्हे 'अनासाः' (बिना नाक वाले) कहा गया है। उनकी भाषा भी भिन्न थी। इसी से आर्य अनार्यों को 'मृध्रवाक्' कहते थे। इन भेदो के अतिरिक्त आर्यों और अनार्यों मे प्रबल धार्मिक भेद था। इसी तथ्य को प्रदर्शित करते हुए आर्यों ने अनार्यों के लिये 'देवपीयु' (देवताओ को अपवित्र करने वाले), अदेवयु (देवताहीन), अन्यव्रत (अन्य प्रकार की क्रियायें करने वाले), अयज्वन् (यज्ञ न करने वाले) और 'अकर्मन्' (कर्महीन) आदि शब्दो का प्र ोग किया है।

युद्ध-प्रणाली—आतरिक और बाह्य युद्धों के उल्लेखों स आर्यों की युद्ध-प्रणाली के ऊपर कुछ प्रकाश पडता है। आक्रमण अथवा उसकी सम्भावना होने पर अपने धन-जन की रक्षा के हेतु आर्य विशिष्टप्रकार से बने हुये दुर्गों में शरण लेते थे। इन्हे 'पुर' कहते थे। ये पाषाण-निर्मित अथवा धातु निर्मित होते थे। इनके चारों ओर प्रायः लकडी की चहारदीवारी बनी रहती थी। इन दुर्गों के अतिरिक्त आर्यों के ग्राम भी कभी-कभी चहारदीवारों अथवा खाइयों से सरक्षित होते थे। आग लगा कर इन चहारदीवारों को नष्ट करना आक्रमणकारियो की सर्वप्रथम योजना होती थी।

युद्ध करने के लिए राजा के पास सेना होती थी। राजा और राजन्य (उसके उच्चवर्गीय सहायक) रथो पर चढ कर लडते थे और साधारण मनुष्य पैदल। आर्य अश्वारोहण से परिचित थे। अत उनकी सेना मे रथारोही और पदाति के साथ-साथ अश्वारोही भी होते होगे। परन्तु ऋग्वेद मे रथारोहियों का उल्लेख नही मिलता।

सेना की विभिन्न इकाइयाँ (units) होती थीं अथवा नही, इस विषय में हमारा ज्ञान सन्दिग्ध है। ऋग्वेद मे शर्ध, व्रात और गण आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। बहुत सम्भव है कि ये सेना की इकाइयो के नाम हों।

सेना का सर्वोच्च पदाधिकारी स्वय राजा होता था। ऋग्वैदिक काल का प्रारम्भिक भाग विशेषतया युद्ध-काल था। अत राजा के सैनिक कर्म अत्यन्त आवश्यक समझे जाते थे। युद्ध के अवसर पर वह सेना का नेतृत्व करता था। सैनिक कार्यों में राजा की सहायता करने के लिए सेनापति की नियुक्ति की जाती थी। यह राजा के परामर्श से सेना का सगठन करता और युद्ध की योजना बनाता था।

राजा और सेनापति के अतिरिक्त सेना के साथ राजपुरोहित भी होता था। वह अपने देश और नरेश की विजय के लिए देव-स्तुति करता था और सैनिकों को उत्साहित करता था।

युद्ध प्रमुखतया धनुष-बाण से होता था। बाणों की नोंके प्राय. नुकीले लोहे की होती थीं। कभी-कभी बाणों के सिरों पर नुकीले और विषाक्त सीग भी लगे रहते थे। ऋग्वैदिक काल के अन्यान्य आयुधों में बरछी, भाला, फरसा और तलवार

उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेद में कहीं कहीं पर 'पुर चरिष्णु' का उल्लेख हुआ है। कदाचित् दुर्गों को गिराने के लिए ये विशेष प्रकार के इंजिन थे।

युद्ध में आत्मरक्षा के लिए प्रधान योद्धा कवच और शिरस्त्राण धारण करते थे। कभी कभी बाहुत्राण और अंगुलित्राण क प्रयोग के उदाहरण भी मिलते हैं। सैनिकों के उत्साह-संवर्धन के लिए रण-वाद्य का भी उपयोग होता था। उनके साथ पताकाएं भी रहती थी।

राजनीतिक संगठन—आर्य विभिन्न 'जनों' में विभक्त थे। प्रत्येक 'जन' का एक नेता अथवा 'राजा' होता था। ऋग्वेद में 'राजन्' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। उसका पद वंशानुगत होता था। साधारणतया राजा की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र ही उसका राज्याधिकारी होता था। इस मत की पुष्टि दिवोदास और सुदास आदि राजाओं के उदाहरणों से होती है। परन्तु सम्पूर्ण ऋग्वेद के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि राजा के ऊपर जनता (विश्) का अंकुश रहता था। वंशानुगत राज्याधिकार तभी वैध समझा जाता था तब जनता उसका अनुमोदन कर दे। आवश्यकता पड़ने पर जनता राजा को पदच्युत अथवा निर्वासित भी कर सकती थी। राज्यारोहण के साथ राज्याभिषेक की प्रथा थी। अभिषेक के अवसर पर राजा को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह जनता की रक्षा करेगा।

विविध राज्य—ऋग्वैदिक काल में सम्पूर्ण आर्य-प्रदेश मे राजनीतिक एकता स्थापित न हुई थी। भिन्न-भिन्न स्थानों पर छोटे-बड़े अनेक राज्य थे। ऋग्वेद मे सिन्धु-तटवर्ती एक आर्य-राज्य का उल्लेख है। इसी प्रकार सरस्वती के तट पर चित्र नामक एक दूसरे राजा का राज्य था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि छोटे राज्यों का बड़े राज्यों मे विलय होना प्रारम्भ हो गया था। इस प्रकार राजनीतिक एकता, एकच्छत्र राज्य अथवा साम्राज्य की स्थापना की धारणाएँ ऋग्वैदिक काल मे ही उन्मुख होने लगी थी। सुदास का उदाहरण इस अनुमान की पुष्टि करता है। इसने निकटवर्ती राजाओं को पराजित करके अपना राज्य-विस्तार किया था। इसके अतिरिक्त 'विश्वस्य भुवनस्य राजा' अथवा 'सम्राट्' का उल्लेख भी ऋग्वेद में हुआ है।

राजपद गौरवशाली समझा जाता था। राजा अपने भव्य राजप्रासाद में रहता था। उसकी सेवा मे बहुसंख्यक अधिकारी और सेवक रहते थे। उसके वस्त्राभरण भी राजकीय होते थे। वह लोक और राज्य का गौरव था तथा जनता की आशा-अभिलाषा का प्रतीक था। उसकी विजय, कुशलता और दीर्घ आयु के लिए राज्य के पुजारी और चारण-वृन्द सदैव देवताओं से प्रार्थना किया करते थे।

राजकीय पदाधिकारी—राजकीय कार्यों में राजा की सहायता करने के लिए अनेक पदाधिकारी थे। इनमे सेनापति तथा पुरोहित विशेष उल्लेखनीय है। प्रथम के कार्य सैनिक तथा द्वितीय के राजनीतिक और धार्मिक होते थे। ऋग्वैदिक पुरोहित से ही कालान्तर में राजमन्त्री के पद का विकास हुआ। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर पुरोहित अपने राजा को राजकीय विषयों पर परामर्श देता हुआ दिखाई देता है। समय-समय पर वह राजकीय एवं सामूहिक कल्याण के लिए यज्ञ कराता था। यही नहीं, राज्य के ऊपर विपत्ति आने पर जनहित के लिए अपने जीवन को खतरे में डाल कर वह स्वयं राजा के साथ युद्ध-भूमि में जाता था और भयावह युद्ध की आंधियों और तूफानों की अवहेलना करता हुआ एक ओर तो अपने सैनिकों का उत्साह बढ़ाता था और दूसरी ओर अपने राजा की विजय-कामना करता हुआ दैवी शक्तियों का आह्वान करता था। इस प्रकार ऋग्वैदिक पुजारी का पद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण था। वह पुरोहित के साथ-साथ राजमन्त्री, पथ प्रदर्शक दार्शनिक और योद्धा भी था।

सेनापति और पुरोहित के साथ-साथ ऋग्वेद में हम ग्रामणी, सूत, रथकार और कर्मार के नाम भी सुनते हैं। राज्याभिषेक के अवसर पर ये सब उपस्थित रहते थे। इन्हें 'रत्नी' कहा गया है। इनमें ग्रामणी तो गाँव का मुखिया था। यह एक ओर तो राजा का पदाधिकारी था और दूसरी ओर जनता का प्रतिनिधि। राजा की ओर से यह गाँव मे शान्ति और सुव्यवस्था रखता था और जनता के सुख-दुःख की बात राजा तक पहुँचाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में व्यावसायिक-औद्योगिक वर्ग की पर्याप्त महत्ता थी और उसे भी राजसभा में प्रतिनिधित्व मिलता था। यही कारण है कि राज्याभिषेक के अवसर पर इस वर्ग के प्रतिनिधि सूत, रथकार और कर्मार आमन्त्रित किए जाते थे। अभिषेक के पूर्व राजा इन सब की पूजा करता था। ऋग्वेद-काल के रत्नी की पूजा लोकमत की सम्मान्यता का ज्वलन्त उदाहरण है।

अन्यान्य पदाधिकारियो में पुरप, स्पश और दूत उल्लेखनीय हैं। पुरप दुर्गपति होते थे। इनके कार्य प्रधानतया सैनिक होते थे। स्पश गुप्तचर होते थे। ये जनता की गति-विधि के ऊपर दृष्टि रखते थे और राजा को प्रत्येक महत्वपूर्ण बात से अवगत कराते रहते थे। दूत के कार्य राजनीतिक थे। समय-समय पर सन्धि-विग्रह के प्रस्तावो को लेकर ये अन्य राज्यों में जाते थे।

ये समस्त पदाधिकारी अपने कार्यों के लिए राजा के प्रति उत्तरदायी थे। राजा ही इनकी नियुक्ति करता था और इन्हे पदच्युत कर सकता था। वेतन कदाचित् मुद्राओ अथवा भूमि के रूप में नही मिलता था। वह मिलता था सोने-चाँदी, अन्न, वस्त्राभरण अथवा पशु-धन के रूप में। राजकीय सेवाओं के लिए समय-समय पर पदाधिकारियो को राज्य की ओर से पुरस्कार भी मिलते थे। विजय और महोत्सवो के अवसर पर सबसे अधिक ध्यान पुरोहित का रखा जाता था क्योंकि वह राजा एव राज्य के ऐहिक एव पारलौकिक, भौतिक एव आध्यात्मिक दोनो प्रकार के हितों की रक्षा करता था।

न्याय-व्यवस्था—राजा देश की सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र-विन्दु था। वह देश का सर्वोच्च पदाधिकारी, सेनापति और न्यायाधीश था। यद्यपि ऋग्वेद-कालीन न्याय-व्यवस्था की रूप-रेखा स्पष्ट नही है तथापि ऐसा अनुमान होता है कि राजा ही पुरोहित तथा अन्यान्य परामर्शदाताओ की सहायता से न्याय-वितरण करता था। ऋग्वेद मे पशु-धन की चोरी और जुआखोरी में बेइमानी के अनेकानेक उल्लेख मिलते है। इनके अतिरिक्त रुपये के लेन-देन मे भी कम झगडे न होते थे। पुनश्च, सामाजिक परपराओ का उल्लघन भी अपराध समझा जाता था। उदाहरणार्थ, भाई-बहन का विवाह राज्य की दृष्टि मे दण्डनीय था। इन समस्त प्रकार के अपराधियों को राजा की ओर से दण्ड दिये जाते थे। यद्यपि मृत्यु-दण्ड भी प्रचलित था तथापि अधिकाश मामलो में शारीरिक दण्ड ही उपयुक्त समझा जाता था। अग्निपरीक्षा, जल-परीक्षा अथवा सन्तप्तपरशु-परीक्षा के उदाहरण भी मिलते हैं। ऋण अदा न करने पर बहुधा ऋणी मनुष्य को ऋणदाता की दासता स्वीकार करनी पड़ती थी।

सभा और समिति—वैदिक साहित्य में 'सभा' और 'समिति' दोनों का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है परन्तु इनके वास्तविक अर्थ पर बड़ा मतभेद है। हिलब्रॅण्ड (Hillebrandt) का मत था कि 'समिति' सस्था थी और 'सभा' उसका अधिवेशन-स्थान। परन्तु यह मत नितान्त असगत है। अथर्ववेद मे सभा और समिति दोनों को दो पृथक् संस्थाओं के रूप में घोषित किया गया है[1] और उन दोनों

[1] अथर्व. ७.१२.१—सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापते दु हितरौ संविदाने।

को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है। लुडविग के कथनानुसार सभा उच्चतर भवन (Upper House) और समिति निम्नतर भवन (Lower House) के नाम हैं। ये संज्ञायें वर्तमान वैधानिक परम्परा की सूचना देती हैं। वैदिक साहित्य में कहीं पर भी कोई साक्ष्य नहीं है जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि तत्कालीन राजतन्त्र में दो भवन होते थे।

सबसे अधिक उपयुक्त मत जिमर महोदय का प्रतीत होता है जिसके अनुसार 'सभा' ग्राम-संस्था कही गई है और समिति केन्द्रीय संस्था। अथर्ववेद[1] में एक स्थान पर पहले सभा का, फिर समिति का और सबसे बाद को मन्त्रणा (परिषद्) का उल्लेख हुआ है। यह क्रम देश के वैधानिक विकास की ओर संकेत करता है। विकास की प्रारम्भिक स्थिति में प्रत्येक ग्राम प्रायः स्वतन्त्र रूप से अपना पृथक पृथक प्रबन्ध करता था। सर्वसाधारण विषयों को तय करने के लिए ग्राम-निवासियों ने अपनी एक प्रबन्धकारिणी स्थानीय संस्था बना ली थी जो 'सभा' के नाम से प्रख्यात हुई। कालान्तर में जब राज्यों की स्थापना हुई और प्रत्येक राज्य के अन्तर्गत अनेक ग्राम आ गए तो सार्वजनिक विषयों की देख-भाल करने के लिए एक केन्द्रीय प्रशासनीय संस्था की स्थापना हुई जो 'समिति' कहलाई। इस समिति के अधिवेशन समय-समय पर हुआ करते थे। परन्तु राजा को अपने दैनिक प्रशासन में बहुधा परामर्श की आवश्यकता पड़ती थी। इसके लिए सदैव प्रतिक्षण समिति के अधिवेशन न बुलाये जा सकते थे। अतः राजा ने दैनिक परामर्श के लिए कुछ मन्त्रियों को नियुक्त करना प्रारम्भ किया। यह मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्रि-परिषद छोटा होता था और राजा किसी समय भी किसी भी प्रशासन-सम्बन्धी विषय पर इसकी सम्मति ले सकता था। अथर्ववेद के उपर्युक्त अंश में कदाचित् इसी क्रमिक वैधानिक के विकास का संकेत किया गया है।

वैदिक साहित्य में सभा-सम्बन्धी जो उल्लेख मिलते है उनसे भी अधिकांशतः सभा का ग्राम-संस्था होना सिद्ध होता है। एक स्थान पर सभा की वार्ता का विषय गायें और उनकी उपयोगिता है।[2] दूसरे स्थान पर सभा में होने वाले जुआ का उल्लेख है।[3] इससे स्पष्ट होता है कि विचार-विमर्श के अतिरिक्त सभा ग्राम-निवासियों के मनोरंजन का भी केन्द्र होती थी। तीसरे स्थान पर अश्व अथवा रथ पर आरूढ सभा को जाते हुए सभासद का उल्लेख है।[4] सम्भवतः ग्राम के धनी-मानी व्यक्तियों का सभा में विशेष महत्व रहता होगा।

इसके विरुद्ध समिति-सम्बन्धी उल्लेखों से प्रकट होता है कि समिति एक केन्द्रीय राजनीतिक संस्था थी। ऋग्वेद में एक स्थान पर एक राजा समिति के सदस्यों से कहता है कि मैं 'तुम्हारा विचार और तुम्हारी समिति स्वीकार करता हूँ।'[5] वैदिक काल में जीवन के विभिन्न कार्य-कलाप पृथक्-पृथक् संस्थाओं के अन्तर्गत न होते थे। बहुधा किसी एक संस्था के अन्तर्गत ही राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक कार्य समान रूप से सम्पादित हो सकते थे। यही कारण है कि ऋग्वेद में हम समिति के अन्तर्गत राजनीतिक कार्यों के अतिरिक्त सामाजिक कार्यों के सम्पादित होने का भी आभास पाते हैं।

१ अथर्व० १०. ८. ८-१३
२ ऋ० ७. २८. ६
३ ऋ० १०. ३४. ६
४ ऋ० ८. ४. ९
५ ऋ० १०. १९१. २-३

सभा और समिति के सदस्यों की योग्यता क्या थी? उनके अधिकार-कर्तव्य क्या थे? उनकी कार्य-प्रणाली क्या थी? —ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका निश्चित उत्तर हमें नहीं मिलता।

सामाजिक संगठन—जैसा पहले कहा जा चुका है, सम्पूर्ण आर्य अनेक 'जनों' मे विभक्त थे। पुन. ये 'जन' ग्रामो मे रहते थे। प्रत्येक ग्राम अनेक आर्य-परिवारों का समुदाय था। इस प्रकार समाज की न्यूनतम इकाई 'परिवार' थी। ऋग्वैदिक काल में धन-जन की सुरक्षा के लिए सामूहिक जीवन अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त जीवन-यापन के लिए आवश्यक सामग्री तथा साधन सगृहीत करने के लिए भी सामूहिक जीवन सुविधाजनक था। यही कारण है कि आर्य परिवार मे सम्मिलित रूप से सभी लोग—माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि—रहते थे। वयोवृद्ध (बहुधा पिता) ही परिवार का स्वामी होता था। वही पारिवारिक धन-जन की संरक्षा, जीवन-सचालन एवं यज्ञादि कराने के लिए उत्तरदायी होता था। होमरकालीन यूनानी पिता के समान ऋग्वैदिक पिता के अधिकार भी असीम थे। वह अपने अधीनस्थ पारिवारिक सदस्यो को कठोर से कठोर दंड दे सकता था। ऋग्वेद में एक स्थान पर उल्लेख है कि एक पिता ने अपव्यय के अपराध में अपने पुत्र को अन्धा बना डाला था। परन्तु ऐसे उदाहरणों को अपवाद ही समझना चाहिए। व्यावहारिक-रूप में साधारणतया ऋग्वैदिक पिता अपने पारिवारिकजन के प्रति अति दयालु, उदार और वात्सल्यपूर्ण था। वह उनकी हित-साधना में सब कुछ करने को तैयार रहता था।

विवाह—ऋग्वैदिक काल में विवाह एक उच्च एव पवित्र संस्कार समझा जाता था। यह वैयक्तिक एव सामाजिक विकास के लिए आवश्यक था। याज्ञिक कार्यों में पति और पत्नी दोनो की उपस्थिति वाछनीय थी।[1] लौकिक एवं पारलौकिक शान्ति के लिए पुत्रो की आवश्यकता समझी जाती थी।[2] अत. उनकी प्राप्ति के लिए भी विवाह आवश्यक था। परन्तु ऋग्वेद मे ऐसी कन्याओं के उदाहरण भी मिलते है जो दीर्घकाल तक अथवा आजीवन अविवाहित रहती थी। ऐसी कन्याओं को 'अमाजू.' कहते थे।

विवाह के यम-नियम—विवाह के पूर्व दोनो पक्षो की चारित्रिक, शारीरिक एवं सामाजिक स्थिति पर विचार कर लिया जाता था। ऋग्वेद में ऐसे उदाहरण विद्यमान है जब वर के असन्तोषजनक होने पर माता ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह करने में आपत्ति की थी।[4] द्यूतव्यसनी जामाता के कारण अपनी पुत्री को दु:खी देखकर माता अपना घोर असन्तोष व्यक्त करती है।[5] दूसरे पक्ष में चर्मरोग के कारण घोषा का विवाह बहुत दिनों तक न हो सका था।[6] अत. स्पष्ट है कि विवाह के पूर्व कन्या के गुण-दोषों का भी पता लगा लिया जाता था।

कालान्तर में ब्राह्मण व्यवस्थाकारो ने सपिण्ड, सगोत्र और सप्रवर विवाहों के ऊपर प्रतिबन्ध लगा दिए थे। परन्तु ऋग्वेद में इस विषय पर स्पष्ट निषेध नहीं मिलते। इस ग्रथ मे 'पिण्ड' का उल्लेख हुआ है, परन्तु एकमात्र अग्नि में प्रक्षेप्य बलि-पशु-अग के अर्थ में। इसी प्रकार ऋग्वेद में 'गोत्र' का वह अर्थ नहीं है जो

१ ऋ० १०. १६६.४—आवश्विस-भावो वतमावोऽहं समिति वदे।
२ ऋ० ५. ३. २, ५. २८. ३
३ ऋ० १. १०५. ३; ५. ४. १०.
४ ऋ० ५. ५२. ६१; ८. ३५. ३८
५ ऋ० १०. ३४. ३
६ ऋ० १०. १०. १२

कालान्तर में धर्मसूत्रों और शास्त्रो में मिलता है। ऋग्वेद में जहाँ कही गोत्र का प्रयोग हुआ है वह एकमात्र गोरक्षक अथवा गोसमुदाय के अर्थ में हुआ है। जहाँ तक 'प्रवर' शब्द का सम्बन्ध है वह ऋग्वेद मे मिलता ही नही।

अन्तर्जातीय विवाह—ऋग्वैदिक काल का वातावरण बडा स्वच्छन्द था। विवाह प्रायः वयस्क होने पर ही होते थे। पुन उनके लिए प्राय पुत्र और पुत्री की स्वीकृति आवश्यक समझी जाती थी। ऐसी अवस्था मे अन्तर्जातीय विवाह होने स्वाभाविक ही थे। ऋग्वेद में ब्राह्मण विमद और राजकन्या कमद्यु के विवाह का उदाहरण मिलता है।[1] इसी प्रकार ब्रह्मर्षि श्यावाश्व ने राजा रथवीति की कन्या दार्म्य के साथ विवाह किया था।[2]

ये दानो उदाहरण अनुलोम विवाह के है। उसके साथ-साथ प्रतिलोम विवाह के उदाहरण भी मिलते है। महर्षि शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी का विवाह राजा ययाति के साथ हुआ था।[3] इसी प्रकार महर्षि अगिरस की पुत्री शाश्वती ने राजा असग के साथ विवाह किया था।

एकपत्नीकता—ऋग्वैदिक काल मे साधारणतया एकपत्नीव्रत की प्रथा ही प्रचलित थी।[4] उसके अधिकाश देवता—अग्नि, वरुण, सोम आदि—एकपत्नीक हैं। नव-विवाहिता वधू के लिए यह कामना की गई है कि वह अपने श्वसुर, सास, पतिभगिनियो तथा देवरो के ऊपर सम्राज्ञी हो।[5] इस उल्लेख मे कही पर भी सपत्नी का वर्णन नही है ऋग्वेद के अन्यान्य स्थलो पर भी (ऋ. १. १२४ ७, ४. ३. २, १० ७१. ४) पुरुष की एक ही पत्नी का उल्लेख है।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि समाज के उच्च एव धनी वर्ग के मनुष्य कभी-कभी बहुपत्नीक भी होते थे। ऋग्वेद मे इन्द्र की पत्नी शची का उल्लेख है जिसने अपनी समस्त सपत्नियो को मार डाला था।[6] अन्य स्थान पर शत्रुओं स घिरे हुए व्यक्ति की तुलना उस मनुष्य से की गई है जो अनेक ईर्ष्यालु पत्नियो से सन्तापित हो।[7] इन उदाहरणो से प्रतीत होता है कि बहुपत्नीक मनुष्य का जीवन अशान्तिमय समझा जाता था।

सती—कतिपय विद्वानो ने ऋग्वेद के एक अश[8] के आधार पर तत्कालीन समाज में सती-प्रथा के अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा की है। परन्तु उनका यह निष्कर्ष उस अश क सदिग्ध अथवा अशुद्ध पाठ पर आधारित है। पहले तो यही निश्चित नही है कि उस अश मे 'अग्ने' शब्द का प्रयोग किया गया है अथवा 'अग्रे' का। यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि वह शब्द 'अग्ने' ही है तो भी उससे पति के शव के साथ विधवा का अग्नि मे जल कर मर जाना सिद्ध नही होता। इस अंश मे सधवा स्त्रियो का आगे बढ कर दग्ध करने के पूर्व शव को प्रसाधित करने का उल्लेख है। प्रचलित प्रणाली के अनुसार विधवा अपने पति के शव के साथ केवल कुछ क्षणो के लिए लेटती थी। परन्तु तत्पश्चात् उससे निम्नलिखित शब्दो मे उठ जाने के लिए कहा जाता था—'नारी, उठो और जीवलोक में पुन लौट आओ।

१ ऋ० १. ११२. १९
२ ऋ० ५. ६१. १७-१९
३ ऋ० १०. ६३. १.
४ ऋ० १. ११७. ७; २. ९७. १; १०. ३ ३९.
५ ऋ० १०. ८५. ४६
६ ऋ० १०.१५९.५-६
७ ऋ० १.१०५.८
८ ऋ० १०.१८.७

तुम एक मृत पुरु के पास लेटी हो। पाणि-ग्रहण करने वाले पुरुष के साथ तुमने अपना पत्नीत्व भलीभाँति व्यतीत किया है।'[1] इस प्रकार का अंश अधिक से अधिक ऋग्वैदिक काल के पूर्व किसी समय आर्य-समाज में प्रचलित सती-प्रथा का ही स्मरण कराता है जब कि विधवा अपने पति के साथ जल जाती थी। परन्तु भारत में आने के समय तक आर्य उस प्रथा का परित्याग कर चुके थे।

यही नहीं, ऋग्वेद में नियोग-प्रथा भी प्रचलित थी जिसके अनुसार विधवा स्त्री पुत्र-प्राप्ति के निमित्त अपने देवर के साथ पत्नी के रूप में रह सकती थी।[1]

पुनर्विवाह—ऋग्वैदिक काल में यज्ञ तथा तर्पण आदि का विशेष महत्व था और इन कार्यों के लिए पुत्र का। कदाचित् यही कारण है कि पुत्र-प्राप्ति के निमित्त कुछ परिस्थितियों में सधवा स्त्रियों को अपने पति के जीवन-काल में ही अन्य पुरुष के साथ सम्बन्ध-स्थापना की अनुमति दी गई थी। पुरुकुत्सानी का अपने पति की अनुपस्थिति में तथा पुरन्धिवधृमती का अपने पति की क्लीबावस्था में पुत्र प्राप्ति का उल्लेख है।[2] पुत्र प्राप्ति के लिए नियोग प्रथा तथा अन्य पुरुष के साथ अस्थायी संबंध के अतिरिक्त ऋग्वेद में स्थायी विधवा-विवाह के स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलते। परन्तु यह संभव है कि पुत्र-प्राप्ति के पश्चात् भी अनेक विधवायें अपने देवर अथवा अन्य पुरुष के साथ स्थायी रूप से पति-पत्नी के रूप में रहने लगती होंगी।

सहपतिकता—कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वैदिक समाज में सहपतिक विवाह-प्रणाली प्रचलित थी। परन्तु अपने मत के समर्थन में उन्होंने जो उद्धरण प्रस्तुत किए है वे नितान्त सन्दिग्ध हैं। वैदिक साहित्य में कभी-कभी स्त्री के पति के लिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि स्त्री के अनेक पति होते थे। पति के लिए बहुवचन का प्रयोग केवल सम्मानसूचक है। इसी प्रकार माता के नाम पर रखे गए पुत्रों के नाम उनके पिता की अनिश्चितता को प्रमाणित नहीं करते, वरन् वे या तो उनकी माता की विद्वत्ता एवं सामाजिक प्रतिष्ठा को या उनके पिता की बहुपत्नीकता को प्रकट करते है।[3] रोदसी (बिजली) मरुतों (बादल) की पत्नी कही गई है। परन्तु बादलों की कल्पना एकवचन में नहीं हो सकती। इसी से यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार सूर्या अश्विनों की पत्नी कही गई है। परन्तु अश्विन् भिन्न-भिन्न पुरुष नहीं थे। उन्हें देवताओं का एक अविच्छिन्न युग्म समझना चाहिए। ममता, माधवी, जटिला, गोतमी और वार्क्षी के कतिपय उदाहरण ऐतिहासिक घटनाओं की अपेक्षा कथानक ही अधिक प्रतीत होते हैं। अधिक से अधिक व ऋग्वैदिक काल से पूर्व के समाज में प्रचलित बहुपतिक विवाह-प्रणाली के स्मृति-चिन्ह कहे जा सकते है।

पर्दा—ऋग्वेद के एक अंश का अशुद्ध अर्थ निकाल कर कुछ विद्वानों ने पर्दा-प्रथा के अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा की है।[4] इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस अंश में प्रयुक्त 'गुहा चरन्ती' शब्दों से स्त्री के पार्थक्य का बोध होता है। परन्तु उसके बाद ही उसी स्त्री को 'सभावती' कहा गया है। यदि वह स्त्री पर्दे में रहती होती तो उसके लिए 'सभावती' शब्द का प्रयोग निरर्थक होता। सम्पूर्ण उद्धरण के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि स्त्री कभी तो पृथक् रूप से घर में रहती थी और कभी सार्वजनिक सभाओं में जाती थी। पर्दा-प्रथा के विरोध में अन्य ऋग्वैदिक साक्ष्य

१ ऋ० १०.४.२ जायां वा अग्ने प्रजया सह

२ ऋ० ४.४२.८; १.११६.१३

३ ऋ० १०.८५.३८—पुनः पतिभ्यो

४ ऋ० १.१६७.३]

भी प्राप्त होते हैं। एक स्थान पर वधू के लिए यह शुभ कामना की गई है कि वह सभा में आत्मविश्वास के साथ बोले।[1] दूसरे स्थान पर उपस्थित वृन्द से नवविवाहिता वधू को देखने के लिए कहा गया है।[2]

बाल-विवाह—ऋग्वेद के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय बाल-विवाह की प्रथा न थी। उसमें विवाह-सम्बद्ध जिन कन्याओं का वर्णन है वे प्रायः युवती ही है। एक स्थान पर नव-बधू को श्वसुर-गृह में सम्राज्ञी होने की कामना की गई है।[3] दूसरे स्थान पर कहा गया है कि सुदर्शना एवं 'अलंकृता' होने पर कन्या स्वयं पुरुषों में से अपना साथी चुन ले।[4] ऋग्वेद में समनों (उत्सवों, समारोहों) का उल्लेख है। इनमें कन्यायें स्वयं अपना पति ढूंढ लेती थीं।[5] स्वयंवर की इस प्रणाली से सिद्ध हो जाता है कि उस समय कन्याओं का विवाह युवावस्था में ही होता था। अन्य स्थानों पर नव-विवाहिता पत्नी के उछाह और सहवास का वर्णन है।[6] इनसे भी पत्नी की युवावस्था सिद्ध होती है। सूर्या का विवाह उस समय हुआ था जब वह 'पति-प्राप्ति के हेतु आकांक्षिणी' थी।[7] इसी प्रकार घोषा का विवाह भी यौवनावस्था में हुआ था।

परन्तु इन स्पष्ट उदाहरणों के होते हुए भी कुछ विद्वानों ने कतिपय ऋग्वैदिक अंशों और शब्दों के आधार पर बाल-विवाह की प्रथा सिद्ध करने की चेष्टा की है। एक स्थान पर एक पत्नी रोमाकरण के लिए प्रार्थना करती है।[8] उपर्युक्त विद्वानों का कथन है कि यह पत्नी रोम-विहीन अतः अल्पवयस्क थी। परन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखने की बात है कि उस पत्नी की रोमविहीनता चर्मरोग के कारण थी, अल्पवयस्कता के कारण नहीं। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर पत्नी अपने पति से कहती है कि मेरे शरीर में यौवनावस्था के अनेक लक्षण विद्यमान है। इस पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कदाचित् विवाह के समय वह स्त्री अल्पवयस्क थी और कालान्तर में यौवनारूढ हुई। परन्तु यह निष्कर्ष असंगत है, क्योंकि उद्धृत अंश में वह स्त्री अपने यौवन का उल्लेख एकमात्र अपने पति की कामेच्छा जाग्रत करने के लिए ही करती है। अन्य विद्वानों ने ऋग्वेद में प्रयुक्त 'अर्भ' अथवा 'अर्भक' शब्द के आधार पर बाल-विवाह प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि यह शब्द अल्पवयस्कता का द्योतक है। ऋग्वेद में एक स्थान पर विमद नामक पति 'अर्भ' कहा गया है।[9] परन्तु वहीं पर विमद के युद्ध में विजय-प्राप्ति का वर्णन है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि विमद बालक न था। दूसरे स्थान[10] पर वृचया नामक पत्नी के लिए भी 'अर्भा' का प्रयोग मिलता है, जब कि उसके पति कक्षीवत् के लिए 'महते' शब्द का प्रयोग मिलता है। परन्तु यहाँ दोनों शब्दों का प्रयोग केवल आयु का सापेक्ष अन्तर ही सिद्ध करता है, अर्थात् कक्षीवत् प्रौढ था और उसकी पत्नी वृचया युवती होते हुए भी आयु में उसकी अपेक्षा पर्याप्तरूप से कम थी। सारांशतः सम्पूर्ण ऋग्वेद बाल-विवाह के विरोध में ही साक्ष्य उपस्थित करता है। समस्त उदाहरणों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि कन्या का विवाह प्रायः १६ वर्ष और २० वर्ष की आयु के बीच में होता था।

१ ऋ० १०.८५.२६
२ ऋ० १०.८५.३३
३ ऋ० १०.८५.४६—सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
४ ऋ० १०.२७.१२.
५ ऋ० ७.२.५; ४.५८.८
६ ऋ० १०.८५.२९ तथा ३७
७ ऋ० १०.८५.९
८ ऋ० ८.९१.५-६
९ ऋ० १.११६.१
१० ऋ० १.५१.१३

कन्या—प्रत्येक देश और काल की भाँति ऋग्वैदिक काल मे भी भारतीय आर्य पुत्री की अपेक्षा पुत्र की ही अधिक कामना करता था। पुत्र अपने पिता के कार्यों में सहायक और आज्ञाकारी होता था।[1] वह पूर्वजो को उदकादि देता था।[2] धन-जन की सरक्षा के हेतु भी शक्तिवान् और शत्रुहन्ता पुत्र आवश्यक था।[3]

परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि ऋग्वैदिक समाज मे पुत्री नितान्त घृणा और हेयता की वस्तु थी। प्राचीन विदेशीय प्रचलन को दृष्टि मे रख कर वेस्टरमार्क नामक विद्वान् ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ऋग्वैदिक आर्य नव-जात कन्या को फेंक देते अथवा नष्ट कर देते थे। परन्तु ऋग्वेद के जिस अश के ऊपर यह मत आधारित किया गया है उसमे एकमात्र अविवाहित कन्या की अवैध सन्तान के फेक देने का उल्लेख है, विवाहित दम्पति की वैध सन्तान को नही।[4]

यदि हम ऋग्वेद का अध्ययन करे तो स्पष्ट हो जायेगा कि तत्कालीन समाज मे पुत्री-जन्म इतना चिन्ताजनक न था जितना कालान्तर में हो गया। इसके अनेक कारण थे। वैदिक काल मे पुत्र और पुत्री के सामाजिक एव धार्मिक अधिकारो मे बहुत अधिक अन्तर न था। पुत्र की भाँति पुत्री को भी उपनयन, शिक्षा-दीक्षा एव यज्ञादि का अधिकार था। अत इनके लिए एकमात्र पुत्र ही अनिवार्य न था। पुत्र के अभाव मे ये कार्य पुत्री-द्वारा भी सम्पादित हो सकते थे। स्वयवर एव पुनर्विवाह के प्रचलन के कारण वह अपने सरक्षको के लिए भी चिर-चिन्ता का कारण न थी। ऐसी परिस्थिति मे स्वाभाविक ही था कि ऋग्वैदिक समाज मे कन्या पर्याप्तरूप से समादृत होती। ऋग्वेद मे एक स्थान पर एक दम्पति अपने पुत्र-पुत्रियों की दीर्घायु की प्रार्थना करता है।[5] यहाँ पर पुत्रो के साथ पुत्रियों का भी उल्लेख किया गया है। दूसरे स्थान पर तर्कश की प्रशसा बहुपुत्रीक पिता के रूप मे की गई है। इससे सिद्ध होता है कि पुत्रियाँ हेय न थी। एक अन्य स्थान पर माता-पिता के वक्ष स्थल पर लेटी हुई अबोध कन्याओ का वर्णन है।[6] इस वर्णन से कन्याओ की प्रियता ही प्रकट होती है।

शिक्षा—यौवनावस्था मे विवाह होने के कारण कन्याओं को शिक्षा-दीक्षा के लिए पर्याप्त समय मिल जाता था। घर मे रह कर कन्याये उन समस्त कार्यों मे दक्ष हो जाती थी जिनकी उन्हें गार्हस्थ-जीवन मे आवश्यकता होती थी। ऋग्वेद में अपाला का उल्लेख है जो अपने पिता के कृषि-कार्य मे योग देती थी।[7] ऋग्वेद मे स्थान-स्थान पार गाय दुहती हुई तथा दही-मक्खन तैयार करती हुई कन्याओ का वर्णन है। वस्तुत. दूध दुहने के कारण ही पुत्री का नाम 'दुहिता' पडा। इन कार्यों के अतिरिक्त वे कूपो से जल लाती और कताई, बुनाई तथा सिलाई का कार्य करती थी।[8]

गृह-कार्यों के अतिरिक्त कन्याओ को ललित कलाओ की भी शिक्षा दी जाती थी। ऋग्वेद में नृत्य-कुशल स्त्रियो का वर्णन मिलता है।[9] सभा मे एकत्र होकर स्त्रियाँ बहुधा ऋक्-गान करती थीं।[10]

इसके अतिरिक्त कन्याओ को वैदिक शिक्षा भी मिलती थी। इस काल में पुत्री की शिक्षा का उतना ही महत्व था जितना पुत्र की शिक्षा का। ऋग्वेद मे शिक्षित

१ ऋ० १. ७३. ३ तथा १. ६८५.
२ ऋ० १.१०५.३
३ ऋ० ६. ३३.१.
४ ऋ० २.२९.१.
५ ऋ० ८.३१.८
६ ऋ० ३.३१. १-२
७ ऋ० ८.९१. ५-६
८ ऋ० १.९१.१४; २.३६; २.३२.४
९ ऋ० १.९२.४
१० ऋ० १०. ७१. ११

स्त्री-पुरुष के विवाह को उपयुक्त कहा गया है।[1] इस समय पुत्र की भाँति पुत्री का उपनयन-संस्कार होता था। वह भी अपने भाइयो की भाँति ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई अध्ययन करती थी। ऋग्वेद में लोपामुद्रा, घोषा, सिकता, निवावरी और विश्ववारा आदि विदुषी स्त्रियो के उल्लेख हैं। इन्होंने ऋषियो की भाँति ही ऋचाओ की रचना की। इस समय स्त्रियो को यज्ञ करने का भी अधिकार था।[2] अतः स्पष्ट है कि मन्त्रो के सम्यक् पाठ के लिए उन्हें वेदाध्ययन भी करना पडता होगा।

मनोविनोद—ऋग्वेद में आर्यों के सामरिक कठोर कर्मों के अतिरिक्त उनके मनोविनोद और मनोरजन की विविध प्रणालियों का भी वर्णन है। स्वभावत· वे प्रवृत्तिमार्गी थे और अपने ऐहिक जीवन को नितान्त सुखी और सानन्द बनाना चाहते थे। उनकी यह प्रवृत्ति उनकी विनोद-क्रीडाओ में भलीभाँति परिलक्षित होती है।

आमोद-प्रमोद के लिए आर्य 'समनो' और 'उत्सवो' को सगठित करते थे। इनमें नाना प्रकार के प्रदर्शन होते थे। सगीत मनोविनोद का प्रमुख साधन था। इसके तीन प्रकार थे—(१) नृत्य (२) गान और (३) वाद्य। इस काल में स्त्री और पुरुष समान रूप से नृत्यो में भाग लेते थे। नृत्य बहुधा वीणा और करताल की लय के साथ होते थे। आर्यों का गान-प्रेम उनके गेय ग्रन्थ सामवेद से स्पष्ट हो जाता है। वाद्य सगीत में वीणा, दुन्दुभी, शख, आघाट (झाझ) और मृदग का प्रयोग किया जाता था। इन वाद्यो में आघात, फूंक और तार वाले—तीनो प्रकार के यन्त्र सम्मिलित हैं। इन सब बातो से सिद्ध होता है कि ऋग्वैदिक सगीत काफी उन्नत था।

सगीत के अतिरिक्त घुडदौड, रथदौड तथा मल्लयुद्ध मनोरजन के अन्य साधन थे। ऋग्वेद में द्यूत-क्रीडा का भी वर्णन है। कभी-कभी यह विनोद भारी आर्थिक क्षति और मानसिक सन्ताप का भी कारण बन जाता था। ऋग्वेद के एक सूक्त (१० ३४) में हारे हुए जुआरी की दुर्दशा का वर्णन है।

ऋग्वेद में मनोरजन के जिन अन्यान्य साधनो का वर्णन किया गया है उनमें आखेट का विशेष महत्व है। यह जहाँ एक ओर मनोविनोद करता था वहाँ दूसरी ओर शारीरिक शक्ति और साहस का भी सवर्धन करता था। पुन, आखेट में मारे गये पशुओ से मास, चर्म, बाल और हड्डी आदि सामग्री भी प्राप्त हो जाती थी। ऋग्वैदिक आखेट में जिन पशुओ का वध किया जाता था उनमे सिंह, हाथी हिरण, सुअर और भैसे विशेष उल्लेखनीय हैं।

अन्नपान—आर्यों का अन्नपान सरल, साधारण परन्तु पुष्टिकारक था। उनके भोजन में घी, दूध, दही, फल और तरकारियो की प्रधानता होती थी। अन्नो में यव, धान्य तथा उडद, मूँग एव अन्य दालो का विशेष उपयोग होता था। हम यह निश्चित रूप से नही कह सकते कि आर्य आटे का प्रयोग किस प्रकार करते थे। सस्कृत साहित्य में रोटी और तवे के लिए कोई भी शब्द नहीं है। आश्चर्य की बात है कि ऋग्वेद में कही पर भी नमक का उल्लेख नही है। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि आर्य नमक का प्रयोग करते ही न थे।

ऋग्वैदिक आर्य मासाहारी भी थे। जिन पशुओं का मास विशेष रूप से खाया जाता था उनमें भेड़-बकरी और बैल उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ शिकारी पशुओ का मांस भी खाया जाता था। परन्तु यह महत्त्वपूर्ण बात है कि ऋग्वेद में मछली खाने का उल्लेख नहीं है। गाय अघ्न्या (न मारने योग्य) समझी जाती थी, यद्यपि

१ ऋ० ३.५५.१६   २ ऋ० ८.९१.१

कभी-कभी अतिथि-सत्कार के लिए उसके वध का भी उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय आर्यों ने शनैः शनैः गाय की अवध्यता को स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया था।

आर्य सुरा भी पीते थे। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे इसके दोषो से परिचित थे और अनियमित रूप से सुरा-पान को अहितकर समझते थे। ऋग्वेद में कहीं-कहीं पर इसकी निन्दा भी की गई है।

सुरा के साथ-साथ आर्य-समाज में एक अन्य प्रकार का पेय भी प्रचलित था। इसे 'सोमरस' कहते थे। आज यह कोई नहीं जानता कि यह रस किस वस्तु से बनता था। परन्तु इतना निश्चित है कि आर्य-समाज मे सोमरस का बडा महत्व था। ऋग्वेद के नवें मण्डल मे इसकी भूरि-भूरि प्रशसा की गई है। स्वंम् आर्य-देवता भी सोमपायी थे। ईरानियो के धर्मग्रन्थ अवेस्ता में भी 'होम' के नाम से इस रस का वर्णन है।

वेश-भूषा—भोजन की भाँति आर्यों की वेश-भूषा भी साधारण थी। वे प्रायः तीन वस्त्र धारण करते थे—

(१) नीवी—जो नीचे पहना जाता था

(२) वास—जो शरीर पर धारण किया हुआ प्रमुख वस्त्र था

(३) अधिवास—जो ऊपर से धारण किया जाता था। इसे द्रापि भी कहते हैं।

अनेक स्थलो पर आर्यों के उष्णीय (पगडी) धारण करने के भी उल्लेख मिलते है। इन्हे आर्य नारियाँ भी पहनती थी। आर्यों के वस्त्र अलसी के सूत (क्षौम), ऊन और मृग-चर्म के बनते थे। सिलाई से परिचित होने के कारण आर्यों में सिले हुए कपडे पहनने का प्रचलन था। कभी-कभी वस्त्रो पर सोने के तारो का काम भी किया जाता था। धनी और शौकीन व्यक्ति रग-विरगे वस्त्र भी धारण करते थ। (ऋ० २ ३ ६, ४ ३६ ७, ७ ३४ ११) ऋग्वेद मे सामूल्ल (ऊनी कपडे), पेशस् (कढे हुए कपडे), परिधान, अत्क आदि वस्त्रो का उल्लेख है।

स्त्री और पुरुष दोनो समानरूप से आभूषण-प्रेमी थे। ऋग्वेद मे अनेक आभूषणो के नाम मिलते है। गले में निष्क धारण किया जाता था।[1] कान मे कर्ण-शोभन[2] और शीश पर कुम्ब[3] नामक आभूषणो के पहनने की प्रथा थी। इनके अतिरिक्त खादि, रुक्म, भुजग्रन्ध, केयूर, नूपुर, ककण, मुद्रिका आदि आभूषण भी धारण किये जाते थे।

स्त्रियाँ वेणी (गुत) धारण करती थी। बालो में कघी और तेल का प्रयोग किया जाता था। पुरुष प्राय दाढी रखते थे, यद्यपि छुरे से बाल बनवाने की प्रथा भी विद्यमान थी। कभी-कभी आर्य पुरुष नारियो की भाँति ही अपने सिर के बालो का जूड़ा बनाते थे।

वर्ण-व्यवस्था—कतिपय विद्वानो का मत है कि ऋग्वेद में जन्म के आधार पर सगठित वर्ण-व्यवस्था के साक्ष्य मिलते हैं। इनका मत प्रमुखतया निम्नलिखित ३ तर्कों पर आधारित है—

(१) ऋग्वेद के पुरुष सुक्त का कथन है कि ब्राह्मण परम पुरुष के मुख से, राजन्य (क्षत्रिय) उसकी बाहुओ से, वैश्य उसकी जाँघो से और शूद्र उसके पैरो से उत्पन्न हुए।[4] इस प्रकार ऋग्वेद में चतुर्वर्णों का वर्णन मिलता है। उन्हें दैवी उत्पत्ति दी

१ ऋ० २.३३.१०; ८.४७
२ ऋ० १.१२२.१४
३ ऋ० ६.१३८.३
४ ऋ० १०.९०

गई है। यही नही, उत्पत्ति-स्थान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चतुर्वर्णो में ब्राह्मण-वर्ण सर्वोच्च था और शूद्र-वर्ण सबसे निम्न।

परन्तु वह पुरुष सूक्त ऋग्वेद के शेष भागों की अपेक्षा बाद की रचना है। अत इसके आधार पर यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल मे ही वर्ण-व्यवस्था प्रतिष्ठित हो चुकी। पुरुष सूक्त को छोड कर शेष ऋग्वेद मे तो 'वैश्य' और 'शूद्र' शब्दो का प्रयोग तक नही हुआ। रही ब्राह्मण और क्षत्रिय की उपाधियाँ, ये भी जन्मजात न थी कर्म से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय हो सकता था।

(२) ऋग्वेद मे अनेक बार 'पचजन' का उल्लेख हुआ है।[1] निरुक्त का उल्लेख है कि कुछ विद्वान् पचजन से चार वर्णों और पाँचवे निषाद-समुदाय का अर्थ समझते है।[2] इस आधार पर कुछ विद्वानो ने ऋग्वैदिक समाज मे चतुर्वर्ण-व्यवस्था प्रतिपादित की है।

परन्तु पचजन का अर्थ यह नही हो सकता। ऋग्वेद मे अग्नि-देव को 'पचजन्य पुरोहित' (पचजन का पुरोहित) कहा गया है।[3] यदि पचजन का अर्थ चार वर्ण और पाँचवा निषाद-समुदाय मान लिया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि अग्नि शूद्रो का भी पुरोहित था। यह असम्भव है। इसी प्रकार ऋग्वेद मे अन्यत्र इन्द्र को 'पचजन्य' बताया गया है।[4] ऋग्वेद मे इन्द्र का आह्वान तो अनार्यो का वध करने के लिए किया गया है। फिर वह उनका देवता कैसे हो सकता था? स्पष्ट है कि पचजन के अन्तर्गत अनार्य शूद्र नही आते।

पचजन के अन्य अर्थ भी बताये गए है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इसके अन्तर्गत (१) देव (२) मनुष्य (३) गन्धर्व-अप्सरा (४) सर्प और (५) पितर गिने जाते थे।[5] शकर के मतानुसार पचजन का आशय (१) देव (२) पितर (३) असुर (४) गन्धर्व और राक्षस से है।[6]

परन्तु सबसे स्वाभाविक यह प्रतीत होता है कि हम पचजन के अन्तर्गत आर्यों के ५ वर्ग (१) पुरु (२) तुर्वस (३) यदु (४) अनुस और (५) द्रह्यु मान ले। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से आर्य-समाज एक था। परन्तु राजनीतिक दृष्टिकोण से उसमें ५ वर्ग थे और प्रत्येक का पृथक्-पृथक् रूप से शासन होता था। इस प्रकार पचजन ५ राजनीतिक इकाइयाँ थी। इनसे वर्ण-व्यवस्था का कोई भी सम्बन्ध न था।

(३) कुछ विद्वानो ने ऋग्वेद के कतिपय अशो के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का अस्तित्व सिद्ध करने की चेष्टा की है। ये अश प्रमुखतया दो है—

(१) ऋग्वेद १०.७१.९ के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह कहा है कि कुछ अब्राह्मण मिथ्याचार के द्वारा ब्राह्मण होने का दावा करते थे। इससे प्रकट होता है कि ब्राह्मण जन्मजात होता था। कर्म के आधार पर कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण न बन सकता था। परन्तु ऋग्वेद के इस अश का यह अर्थ कदापि नही है। इसका एक मात्र आशय यही है कि समाज का एक अविज्ञ वर्ग जो न मन्त्र-रचना अथवा मन्त्र-पाठ कर सकता था और यज्ञ-विहीन होने से न सोम-पान ही कर सकता था वह कृषि-कर्म मे सलग्न हुआ था।

१ ऋ० ३.३७.९; ३५९.७; ६.११.८; ८.६.४६-४८
२ निरुक्त ३ ८—चत्वारो वर्णा निषादः पचम इत्यौपमन्यवः।
३ ऋ० ९. ६६. २०
४ ऋ० ५. ३२. ११
५ ऐत० ब्रा० १३. ७
६ वेदान्तसूत्र १.४. १२

(२) इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद ८.१०४.१३ का अशुद्ध अर्थ करके यह मत प्रतिष्ठित किया है कि क्षत्रिय वर्ण जन्म के आधार पर सगठित था, परन्तु कुछ व्यक्ति मिथ्याचार के द्वारा अपने को क्षत्रिय कहलाने की चेष्टा कर रहे थे परन्तु ऋग्वेद के इस अंश में 'क्षत्रिय मिथुया धारयन्तम्' का अर्थ यह नहीं है कि कुछ व्यक्ति मिथ्याचार के द्वारा क्षत्रिय की उपाधि धारण करते थे। इन शब्दों का आशय एकमात्र उन क्षत्रियो से है जो क्षत्रिय होते हुए भी क्षत्रिय की भाँति शूरता धारण न करते थे।

इस प्रकार इन अंशों में न जन्मजात ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय का उल्लेख है और न कुछ मनुष्यों का मिथ्याचार के द्वारा वर्ण-परिवर्तन करने की चेष्टा का। हम आगे देखेंगे कि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही कर्म के आधार पर होते थे, जन्म के आधार पर नहीं।

प्रारम्भिक आर्य-समाज में कदाचित् वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता भी न थी। प्रत्येक आर्य-व्यक्तिगत रूप से देवोपासना एव यज्ञ करता था। अत ब्राह्मण-पौरोहित्य की आवश्यकता न थी। इसी प्रकार एकमात्र युद्धधर्म क्षत्रिय-वर्ण की भी आवश्यकता न थी, क्योकि प्रारम्भिक अवस्था मे युद्ध में प्रत्येक व्यक्ति को भाग लेना पडता था। ऋग्वेद मे युद्ध-भूमि में एकत्र होने वाली 'जनता' का उल्लेख मिलता है।[1] रही वैश्य-वर्ण की बात, तो इसका तो सम्पूर्ण ऋग्वेद मे (पुरुष सूक्त को छोड कर) कहीं नाम भी नही आता। 'विश' शब्द का प्रयोग मिलता है। परन्तु उसका साधारण अर्थ जन-समुदाय है। 'विश' का कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य का काम कर सकता था। पृथक्-पृथक् कामो के लिए अभी पृथक्-पृथक् वर्णों की आवश्यकता न पडी थी। जहाँ तक 'शूद्र' का प्रश्न है, परवर्ती रचना पुरुष सूक्त को छोड कर सम्पूर्ण ऋग्वेद में यह शब्द भी नही मिलता।

परन्तु भारतवर्ष में आने पर आर्य-समुदाय को एक नवीन परिस्थिति का सामना करना पडा। उन्हे इस देश में पग-पग भूमि के लिये यहाँ के मूल-निवासी अनार्यों से युद्ध करना पडा। इस देश मे आर्य चारो ओर से शत्रुओ से घिरे थे। ऋग्वेद में स्वयं आर्य उपासक का कथन है कि 'हम चारों ओर से दस्युओ से घिरे हुए हैं। . वे मानव नहीं है। ओ रिपुदमन! उनका वध कर डालो। दास-समुदाय का नाश कर दो।[2]

अनवरत युद्धो ने ऐसे कारण उपस्थिति कर दिये कि आर्य अपने समाज का पुनः सगठन करते।

अनवरत युद्धों से सारी आर्य-व्यवस्था विच्छृखल हो रही थी। समाज को संगठित और व्यवस्थित रखने के लिए यह आवश्यक था कि युद्ध-कर्म के अतिरिक्त समाज के अन्यान्य कर्म भी होते रहें। दूसरे शब्दो में समाज में कार्य-विभाजन की आवश्यकता हुई। समाज को एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता थी जो युद्ध की विभीषिका से दूर रह कर आर्य-धर्म की रक्षा कर सके, मन्त्र-रचना और मन्त्र-संरक्षण कर सके, मन्त्रो को विशुद्ध रूप से याद रख सके और विशुद्ध रूप से उनका उच्चारण कर सके तथा राष्ट्र-कल्याण और शत्रु-विनाश के लिए देवी देवताओं का आह्वान कर सके। इन्ही आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कालान्तर में ब्राह्मण-वर्ण का जन्म हुआ था।

इसके साथ-साथ समाज को एक ऐसे वर्ग की भी आवश्यकता थी जो समस्त कर्मों से विरत होकर युद्ध-विद्या में विशेष योग्यता प्राप्त करे और अवसर पर राष्ट्र

१ ऋ० ४. २४. ४; ७. ७९. २.   २ ऋ० १०. २२. ८.

के धन-जन की सुरक्षा कर सके। क्षत्रिय वर्ण का उदय इसी आवश्यकता से हुआ था।

शेष आर्य-समाज (विश्) निश्चिन्त होकर कृषि, वाणिज्य तथा अन्यान्य व्यवसायों के द्वारा राष्ट्र की आर्थिक उन्नति में संलग्न था और विविध आवश्यकताओं के अनुसार विविध सामग्री प्रस्तुत करता था। यह वर्ण कालान्तर में वैश्य वर्ण कहलाया।

युद्ध में पराजित एवं अधिकृत अनार्य दास अथवा शूद्र कहलाये। आर्यों ने इन्हें अपने निम्न कार्यों के लिये नियोजित किया। इस प्रकार शूद्र वर्ण उनके समाज का सबसे निम्न वर्ग था।

परन्तु इस प्रकार की चतुर्वर्ण-व्यवस्था के विकसित होने में काफी समय लगा था। ऋग्वेद में हम केवल वर्ण-व्यवस्था को बीज रूप में आरोपित पाते हैं। उस बीज का विकास कालान्तर की घटना है। ऋग्वेद में वर्ण-व्यवस्था का जो ईषत् रूप मिलता है वह कर्म पर आधारित था, जन्म पर नहीं।

अब हम ऋग्वेद के आधार पर वर्ण-व्यवस्था की तत्कालीन स्थिति पर विचार करेंगे।

दो वर्ण—भारतवर्ष में नवागत आर्यों और यहां के मूल-निवासी अनार्यों में आधार-भूत विभिन्नतायें थीं। (१) आर्य आक्रमणकारी और अनार्य आक्रान्त थे। (२) आर्य गौर वर्ण थे और अनार्य कृष्ण वर्ण (३) आर्यों और अनार्यों की शरीर-रचना में भी भेद थे। उदाहरणार्थ, आर्यों की नाक ऊँची होती थी। इसके विरुद्ध अनार्यों की नाक बैठी हुई होती थी। इसी से ऋग्वेद में वे 'अनास' कहे गये हैं (४) आर्यों और अनार्यों में अनेक धार्मिक एवं सांस्कृतिक विभिन्नतायें भी थीं। यही कारण है कि ऋग्वेद में अनार्यों के लिए अव्रत (व्रतों का पालन न करने वाले), अक्रतु (यज्ञ न करने वाले), मृध्रवाच (अस्पष्ट वाणी वाले) आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

इन भेदों ने आर्य और अनार्य वर्गों के बीच में एक खाई उपस्थित कर दी थी। इनके कारण दोनों वर्ग स्वाभाविक रूप से ही एक दूसरे से पृथक् हो गए। इस प्रकार आर्यों के आते ही समाज में अनायास ही दो वर्ग दिखाई देने लगे जो शारीरिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोणों से नितान्त भिन्न थे। ऋग्वेद ने रंग के आधार पर इन दोनों वर्गों में से एक को आर्य वर्ण पुकारा और दूसरे को दास वर्ण अथवा असुर वर्ण। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि इन्द्र ने दास वर्ण को नीचे गुहा में स्थापित किया।[1] दूसरे स्थान पर दास वर्ण के लिए असुर वर्ण का प्रयोग किया गया है।[2] ऋग्वेद ४ १६ १३ में कथन है कि सोम-देवता कृषक-वर्ण का हनन करता है। ऐसे ही अनेकानेक उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि दास वर्ण, असुर वर्ण और कृष्ण वर्ण ये शब्द अनार्यों के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। इन शब्दों के विरुद्ध ऋग्वेद में 'आर्य वर्ण' का भी उल्लेख हुआ है। एक स्थान पर कथन है कि 'दस्युओं को मार कर इन्द्र ने आर्य वर्ण की रक्षा की'।[3] स्पष्ट है कि यह शब्द आर्य आक्रमणकारियों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार ऋग्वेद की सर्वप्रथम स्थिति में समाज में दो वर्ण थे। इस ग्रन्थ का

१ ऋ० २. १२. ४—यो दासं वर्णमधरं गुहा कः

२ ऋ० ९. ७१. २.

३ ऋ० ३. ३४. ९.

स्वयं उल्लेख है कि 'उग्र प्रकृति के ऋषि (अगस्त्य) ने दोनों वर्णों का पोषण किया।'[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों और अनार्यों को पृथक्-पृथक् समुदाय घोषित करने का काम सर्वप्रथम उनके 'रग' ने किया। दोनों में रग का इतना भारी अन्तर था कि उन दोनों की जाति-विभिन्नता किसी प्रकार भी छिप न सकती थी। उनके रग को देख कर कोई भी कह सकता था कि वे दोनो विभिन्न समुदायों और जातियों के हैं। अत. सर्वप्रथम दोनो का पृथक्-पृथक् विभाजन रग (वर्ण) के आधार पर ही हुआ। कालान्तर में उनकी शारीरिक और सास्कृतिक विभिन्नताओ ने इस विभाजन को और भी दृढ़ कर दिया।

परन्तु अभी तक समाज में दो ही वर्ण थे—एक आर्यों का और दूसरा अनार्यों का। स्वय आर्य-समुदाय में अन्य वर्णों की स्थापना न हुई थी। परन्तु जैसे जैसे समय बीतता गया वैसे हो वैसे वर्ण का अर्थ एकमात्र रग न रहा। समाज में भिन्न भिन्न कर्मों के अनुसरण करने वाले चार वर्गों के अर्थ में उसका प्रयोग होने लगा। इस प्रकार जहाँ आर्यों और अनार्यों का विभाजन रग (वर्ण) के आधार पर हुआ था वहाँ स्वय आर्यों का ४ वर्गों (वर्णों) का विभाजन कर्म के आधार पर हुआ। ऋग्वेद में चारो वर्गों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—के नाम मिलते हैं। कालान्तर से व्यवस्थाकारों ने इन वर्गों को चतुर्वर्णों के नाम से पुकारा है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि स्वय ऋग्वेद में कही पर भी इन वर्गों के लिए 'वर्ण' शब्द का प्रयोग नही हुआ है। ऋग्वैदिक समाज में कर्म के आधार पर ४ वर्गों का उदय और नामकरण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) अवश्य मिलता है, परन्तु इन वर्गों को वर्णों का नाम देना बाद के व्यवस्थाकारो का काम है। ऋग्वेद तो केवल आर्य वर्ण और दास वर्ण को ही जानता है। स्पष्ट है कि कालान्तर में वर्ण का अर्थ (१) रगमूलक न हो कर (२) कर्ममूलक और फिर (३) जन्ममूलक हो गया। इस प्रकार वर्ण के अर्थ में ३ परिवर्तन हुए।

प्रथम अर्थ के अन्तर्गत आर्य और अनार्य दो वर्ण थे। ये रंग, शरीर-रचना, सस्कृति, जाति और भाषा की दृष्टि से नितान्त भिन्न थे। अत सैद्धान्तिक दृष्टि से इनमें वर्ण-उत्कर्ष और वर्ण-अपकर्ष न हो सकता था अर्थात् किसी भी परिस्थिति में आर्य वर्ण का व्यक्ति दास-वर्ण न हो सकता था और इसी प्रकार दास-वर्ण का व्यक्ति कभी भी आर्य-वर्ण न हो सकता था। दोनो में मौलिक भेद था। अत सैद्धान्तिक दृष्टि से दोनों का पार्थक्य चिर-शाश्वत था। कालान्तर में जब अनार्य आर्य-समाज में निमज्जित होने लगे, जब उन्हें आर्य-समाज में लेना आवश्यक हो गया तब भी उन्हें शूद्र वर्ण के ही अन्तर्गत स्थान मिला। यह वर्ण अनार्य जातियो के लिए ही व्यवस्थित किया गया था।

द्वितीय अर्थ में वर्ण शब्द का प्रयोग कर्म के आधार पर निर्मित ४ वर्गों के लिए किया गया। अध्ययन-अध्यापन और यजन-याजन करने वाला वर्ग ब्राह्मण कहलाया, युद्ध एवं राजकीय कार्यों में सलग्न वर्ण क्षत्रिय हो गया; शेष जन जो कृषि, वाणिज्य अथवा धनार्जन के हेतु अन्यान्य व्यवसायों में लगे थे वैश्य कहलाये। ये तीन आर्यों के वर्ग थे। चौथे शूद्र वर्ग में विजित अनार्य थे। परन्तु ऋग्वेद में हम देखते हैं कि वर्ण-विकास की इस दूसरी स्थिति में आर्यों के प्रथम तीनो वर्गों के कर्म परिवर्तन-शील थे और उनके आधार पर वर्ग भी। उदाहरण के लिये, यदि कोई ब्राह्मण अपने अध्ययन और यजन का कार्य छोड कर कृषि-कर्म करने लगे तो फिर वह वैश्य हो

१ ऋ० १. १७९. ६—उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष।

जायेगा। इसी प्रकार कोई भी क्षत्रिय ब्राह्मण हो सकता था। ऋग्वेद में यही अवस्था दृष्टिगत होती है।

परन्तु अपने विकास की तृतीय अथवा अन्तिम अवस्था मे वर्ण जन्मजात हो गए। परिणामस्वरूप जो व्यक्ति ब्राह्मण वर्ण मे उत्पन्न हुआ है वह ब्राह्मण ही रहेगा, चाहे वह किसी भी वर्ण का काम करे। यही बात क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के विषय में लागू होती है। अब वर्ण-निर्धारण मे कर्म का कोई महत्व न रहा। वर्ण पूर्णतः जन्मज अपरिवर्तन-शील और स्थायी बन गए।

यहाँ हमारा सम्बन्ध ऋग्वेद मे वर्णित कर्मजात चतुर्वर्गो से ही है।

ऋग्वेद मे एकमात्र पुरुष सूक्त[1] ही ऐसा है जहां चतुर्वर्णों का उल्लेख होता है। उसमें कहा गया है ब्राह्मण परम पुरुष के मुख से, क्षत्रिय उसकी भुजाओं से, वैश्य उसकी जाँघो से और शूद्र उसके पैरो से उत्पन्न हुए। इस प्रकार इसमे चारो वर्णों के क्रम उनकी दैवी उत्पत्ति तथा उनकी उच्चता-निम्नता भी प्रकट करते है। परन्तु प्राय समस्त विद्वानो का यही मत है कि यह पुरुष सूक्त कालान्तर की रचना है। यह ऋग्वैदिक काल की अवस्था पर प्रकाश नही डालता।

शेष ऋग्वेद मे वैश्य और शूद्र का कही पर भी उल्लेख नही मिलता, यद्यपि उसमे ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्द अनेक बार आए है। इस प्राक्कथा के पश्चात् हम ऋग्वेद मे प्राप्त चतुर्वर्ण-व्यवस्था की अवस्था पर विचार करेंगे।

ब्राह्मण—ऋग्वेद मे ब्रह्म अथवा ब्राह्मण शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। ब्रह्म का सामान्य और प्रारम्भिक अर्थ था 'प्रार्थना' 'मन्त्र' अथवा आध्यात्मिक शक्ति। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि विश्वामित्र का यह 'ब्रह्म' भारत जन-समुदाय की रक्षा करता है।[2] दूसरे स्थान पर अग्नि-देवता से प्रार्थना की गई है कि 'तुम अपनी ज्वाला से हमारे 'ब्रह्म' और यज्ञ का वर्धन करो।[3] ऐसे ही अन्यान्य स्थल है जहाँ ब्रह्म 'प्रार्थना' 'मन्त्र' अथवा 'अध्यात्म-शक्ति' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[4]

कालान्तर मे आर्य-समाज का वह वर्ग जो प्रार्थना करता था, मन्त्र-रचना और मन्त्र-पाठ करता था तथा विशुद्ध अध्यात्म-शक्ति से समन्वित माना जाता था वह 'ब्राह्मण' के नाम से प्रख्यात हुआ। ऋग्वेद के अनेकानेक कथनो से प्रकट होता है कि ब्राह्मण प्रार्थना और मन्त्रो से सम्बन्धित थे। एक स्थान पर ब्राह्मणो को सोम-पान करने वाले और वार्षिक यज्ञ में मन्त्र-पाठ करने वाले बताया गया है।[5] दूसरे स्थान पर उन्हे पदो का विद्वान् और मनीषी कहा गया है। इसी प्रकार के अन्यान्य उल्लेख भी मिलते हैं।[6] अपने धार्मिक कार्यों के कारण ब्राह्मण वर्ग अत्यन्त आदरणीय समझा जाता था। ऋग्वेद मे एक स्थान पर ब्राह्मणों का उल्लेख पितरों के

१ ऋ० १०.९०

२ ऋ० ३.५३.१२—विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।

३ ऋ० १०.१४१.५—त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्मयज्ञं च वर्धय।

४ ऋ० ४.६.११; ६.५२.२; १०.१०५.८

५ ऋ० ७.१०३.८—ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।

६ ऋ० १.१६४.४५—चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुः ब्राह्मण ये मनीषिणः।

७ ऋ० ७.१०३.७, १०.१६.६; १०.७१.८

साथ किया गया है।[1] इसी बात से उनका अति उच्चपद प्रकट होता है।

परन्तु ऋग्वेद मे कोई भी उल्लेख ऐसा नही है जिसके आधार पर ब्राह्मणो को जन्मजात कहा जा सके। यही नही, ऋग्वेद के उद्धरणों से यह प्रकट होता है कि वे कर्म के आधार पर ही सगठित थे। उदाहरणार्थ, एक स्थल पर एक व्यक्ति कहता है कि मै कारु (मन्त्रनिमाता) हूँ, मेरे पिता भिषक (वैद्य) हैं और मेरी माता उपल-प्रक्षिणी (पत्थर की चक्की से अनाज पीसने वाली) है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण के माता-पिता ब्राह्मणकर्मा न थे। पुत्र ब्राह्मण-कर्म के अनुसरण से ही ब्राह्मण बना था। दूसरे स्थल पर देवापि और शान्तनु दो भाइयों का उल्लेख है। इनमे देवापि पुरोहित है, परन्तु शान्तनु राजा। तीसरे स्थान पर वसिष्ठ को ब्राह्मण कहा गया है।[3] परन्तु उसके माता-पिता ब्राह्मण न थे। उसकी माता उर्वशी और पिता मित्रा-वरुण[4] थे। इन सब उदाहरणो से प्रकट होता है कि ब्राह्मण कर्मजात था, जन्मजात नही।

क्षत्रिय—ऋग्वेद मे क्षत्र अथवा क्षत्रिय शब्द का प्रयोग अनेक स्थलो पर मिलता है। क्षत्र का सामान्य अर्थ 'शौर्य' अथवा 'वीरता' था।[5] इसी से शूरकर्म करने वाले देवताओं, योद्धाओं और राजाओं के लिये 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग होने लगा।[6] ऋग्वेद के पुरुषसूक्त मे क्षत्रिय के लिये राजन्य शब्द का प्रयोग हुआ है, यद्यपि यह शब्द शेष ऋग्वेद मे नही मिलता। पूर्वोल्लिखित देवापि और शान्तनु के उदाहरण से प्रकट होता है कि क्षत्रिय वर्ग भी जन्मज न होकर कर्मज ही था।

वैश्य—शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के एकमात्र पुरुष सूक्त मे ही हुआ है। शेष ग्रथ मे सर्वत्र 'विश' शब्द ही मिलता है। 'विश' का सामान्य अर्थ 'समूह' होता है। ऋग्वेद मे 'मानुषीणा विशम्' (मनुष्यों का समूह), 'दैवीना विशम्' (दैवी व्यक्तियो का समूह) और 'दासीविश' (दासो का समूह) आदि प्रयोगों से यही अर्थ निकलता है। अपने विशिष्ट अर्थ मे विश् शब्द ब्राह्मणो, क्षत्रियो और शूद्रो को छोड कर समस्त जनसाधारण के लिए प्रयुक्त हुआ है। देश के इस अतिसख्यक वर्ग का व्यवसाय कृषि, वाणिज्य तथा धनार्जन के अन्य कर्म थे।

ऋग्वेद ८. ३५. १६-१८ मे ब्रह्म, क्षत्र और विश् का साथ-साथ उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट होता है कि समाज मे इन तीनो वर्गों की स्थापना हो चुकी थी। इसी में वैश्यो का उल्लेख गौओ के साथ किया गया है। अत स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल मे भी पशु-पालन वैश्य-समुदाय का प्रमुख कार्य समझा जाता था।

शूद्र—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मे शूद्र शब्द का प्रयोग मिलता है। वहाँ कहा गया है कि शूद्र परम पुरुष के पैरों से उत्पन्न हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से विजित अनार्य आर्यों के दास हो गए थे। एक ही देश मे निवास करते हुए आर्यों और अनार्यों मे निकटता आ गई थी। अत आर्यों ने उन्हे अपने समुदाय मे ग्रहण कर लिया था और उन्हे शूद्र की सज्ञा दी। यही कारण है कि जिस प्रकार ऋग्वेद में अनार्यों को कृष्ण वर्ण कहा गया है उसी प्रकार परवर्ती व्यवस्थाकार बौधायन और आपस्तम्ब

१ ऋ० ६.७५.१०—ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा।

२ ऋ० ९.११२.३—कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।

३ ऋ० ७.३३.११.

४ ऋ० ७.६४.२, ८.२५.८—मित्रावरुण को क्षत्रिय कहा गया है

५ ऋ० ८.३५.१६–१८; १.१५७.२

६ ऋ० ७.४६.२; ८.६७.१, ४.४२.१;

के धर्मसूत्रों में शूद्र को भी कृष्ण वर्ण कहा गया है।[1] इसी प्रकार गौतम ने शूद्रों को 'अनार्य' कहा है।[2] इन उद्धरणो से सिद्ध होता है कि प्रारम्भ में शूद्र-समुदाय में विजित अनार्य ही सम्मिलित थे। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि ऋग्वेद के आर्यों ने मित्रता स्थापित हो जाने पर अनार्य दासो के साथ उदारता का व्यवहार किया था। परवर्ती अनेक व्यवस्थाकारो ने ब्राह्मण के लिए शूद्र का दिया हुआ दान अग्राह्य बतलाया है। परन्तु ऋग्वेद-काल में यह अनुदारता न थी। ऋग्वेद में एक स्थान पर एक ब्राह्मण का दास बल्वूथ से १०० गौ (मुद्रा अथवा अन्य वस्तु) ग्रहण करने का उल्लेख है।[3] दूसरे स्थान पर ऋषि-पुत्रों के साथ-साथ दासों के लिए भी प्रार्थना की गई है।[4]

धर्म

ऋग्वेद न किसी एक काल की रचना है और न किसी एक व्यक्ति की। इसमें आर्यों की संस्कृति के क्रमिक विकास का इतिहास अन्तर्निहित है। बहुत सम्भव है कि ऋग्वेद के कुछ मन्त्र उस समय रचे गये हों जब आर्य भारत में आये भी न थे। अतः निश्चित है कि ऐसे मन्त्रों में आर्यों की अपेक्षाकृत कम विकसित सांस्कृतिक अवस्था का उल्लेख होगा। इनके विरुद्ध बहुसंख्यक मन्त्र ऐसे होंगे जिनकी रचना उस समय हुई होगी जब भारतवर्ष में स्थायीरूप से बस कर दीर्घकाल की साधना के पश्चात् आर्यों ने अपनी संस्कृत-सभ्यता का महान् विकास कर लिया होगा। अन्यान्य मन्त्रों की रचना इन दोनो अवस्थाओं के मध्यान्तर में समय-समय पर हुई होगी जिनमे आर्य-संस्कृत के विकास की क्रमिक सीढियाँ छिपी हुई हैं। इस प्रकार ऋग्वेद आदि से अन्त तक किसी समान रूप अवस्था का वर्णन नही करता।

अन्य विषयो की भाँति धर्म के विषय में भी यह निष्कर्ष सत्य है। ऋग्वेद में आर्यों की अत्यन्त अविकसित धार्मिक विचार-धारा से लेकर सम्यक् रूप से विकसित धार्मिक विचार-धारा तक के दर्शन होते हैं। यह ग्रन्थ आर्य-धर्म के क्रमिक विकास पर स्पष्ट प्रकाश डालता है।

देवता—ऋग्वेद में 'देव' अथवा 'देवता' शब्द का अनेकानेक बार प्रयोग हुआ है। वास्तव में ऋग्वैदिक ऋषियों का इन शब्दो से क्या आशय था, यह निर्विवाद रूप से नही कहा जा सकता। निरुक्त का कथन है कि 'देव' दान से अथवा दीपन से अथवा द्योतन से अथवा द्युस्थान से होता है।[5] इस प्रकार देव की परिभाषा बडी व्यापक है। इसके अन्तर्गत परम पुरुष से लेकर प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ (यथा सूर्य, चन्द्र, वायु आदि), पूर्वज, आचार्य, माता-पिता, अतिथि आदि तक की गणना हो सकती है। और वास्तव में हुआ भी यही। आर्यों की सर्वोच्च दैवी शक्ति सत् अथवा परम पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित हुई। प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ उसके लिए इन्द्र, वरुण, सूर्य, चन्द्र, मरुत्, वायु, पर्जन्य, उषा आदि देवता और देवी बन गई। इनके अतिरिक्त पितृदेव, आचार्य देव, मातृदेव और अतिथिदेव की भी कल्पना की गई।

देवीकरण—सरलहृदय आर्य बाह्य जगत् के सम्पर्क में आया। उसने उसमें प्रकृति की भिन्न-भिन्न शक्तियों को कार्य करते देखा। कुछ से वह आश्चर्यान्वित हुआ, कुछ से भयभीत, कुछ से प्रभावित और कुछ से आश्वस्त। वह सभी के समक्ष नत-

१ बौधा० ध० सू० २.१.५९; आप० ध० सू० १.९.२७.११
२ गौतम १०.६९
३ ऋ० ८.४६.३२
४ ऋ० १.९२.८
५ निरुक्त ७.१५

मस्तक हो गया। उसने सभी से प्रार्थना की दया-दान और प्रसाद-वितरण की। सभी उसके देवता बन गए।

द्यौस तथा पृथ्वी—सर्वप्रथम उसकी दृष्टि अनन्त-अपार आकाश पर पड़ी जो अपने विशाल वक्षःस्थल में सूर्य-चन्द्र धारण किए है तथा अपने आवरण में असंख्य तारागण छिपाए है, जो समय-समय पर उन्मुक्त जल-राशि उड़ेलता है, भीषण गर्जना करता है और उद्दाम झंझावात चलाता है। उसका अभिशाप कराल और प्रसाद विशाल है। आर्य-हृदय ने द्यौस के रूप में उसे अपना देवता माना। अपनी सभ्यता के उषा-काल में विश्व के अन्य देशों ने भी द्यौस देवता की पूजा की है। यूनान में वह जिअस और रोम में जुपिटर के नाम से प्रतिष्ठित हुआ था।

आकाश की भांति पृथ्वी भी आर्य को अनन्त दिखाई दी। अपनी उर्वरा-शक्ति से वह प्राणिमात्र का पोषण करने वाली है। उसके गर्भ में अपार वसु छिपा हुआ है। अत वह भी आर्य की उन्मुक्त श्रद्धा का केन्द्र-बिन्दु बनी।

इस प्रकार आर्यों ने सर्वप्रथम द्यौस और पृथ्वी की ही उपासना की। उनके लिए दोनों ही समानरूप से उपास्य, सम्मान्य और प्रार्थनीय बने। एक की उपस्थिति दूसरे का स्मरण दिलाती थी। द्यौस और पृथ्वी की अभिन्न अनुकम्पा से ही, दोनों के सम्मिलित प्रसाद से ही मानव जाति का जीवन-यापन सम्भव था। यही कारण है कि ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो में दोनो की सम्मिलित रूप से प्रार्थना हुई है। 'द्यावापृथिवी' सयुक्त देवता बन गए। उनकी एक इकाई बन गई। वे 'रोदसी' के नाम से भी प्रख्यात हुए। सभी देवता पृथ्वी और आकाश में ही स्थिति थे। यही दोनो सभी देवताओं को जन्म देने वाले थे।[१] यही दोनो 'भुवन' की नाभि' थे।[२] वे समस्त मानव-समुदाय और देव-समुदाय के माता-पिता बन गए।[३] पृथ्वी और आकाश के विषय में माता-पिता की कल्पना अत्यन्त सरल और स्वाभाविक थी। यूनान में भी पृथ्वी को देवमाता और आकाश की भार्या के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया था।[४]

मानवीकरण—इस प्रकार आर्यों ने अपने धार्मिक विकास के प्रथम चरण में दो प्रमुख देवताओं की प्रतिष्ठा की और इस दैवी नारी-पुरुष के युग्म से ही सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि की कल्पना की। प्रकृति की दो शक्तियों का यह सरलतम मानवीकरण था।

मानवीकरण के सिद्धात ने देव-कल्पना सुगम कर दी। इसके आधार पर सरल-स्वभाव आर्यों ने बाह्य जगत् की अन्यान्य शक्तियो को भी देवी-देवताओं का रूप दे डाला।

मित्रावरुण—वरुण आकाश-देवता है। इसकी व्युत्पत्ति 'वृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है 'आच्छन्न कर लेना' अथवा 'ढक लेना'। आकाश महाविस्तार-मय है। वह सबको ढके हुए है। इसी से उसे 'वरुण' देवता की सज्ञा मिली। ऋग्वेद में उसके स्वंव्यापी विस्तार की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि वह अपने आवरण से समस्त जीवों और उनके आवासों को ढके हुए है।[५] यह देवता ईरान में अहुर मज्दा और यूनान में ओरनोज के नाम से प्रतिष्ठित हुआ।

१ ऋ० १. १६०. १-३; १. १८५. ४; ३. ३. ११; ६. १७.७; ९. ८५. १२ ४. ५६. २; ७. ५३. १

२ ऋ० १. १८५. १

३ ऋ० १. १५९. १-२; १. १०६. ३;

४ Max Muller : India, what can it teach us ? p. 156.

५ ऋ० ८. ४१.

ऋग्वेद में अनेक प्रकार से वरुण का वर्णन किया गया है। द्यावापृथिवी के मध्य में जितनी भी वस्तुएँ विद्यमान हैं उन सब में वरुण का वास है।[1] वह आकाश, पृथ्वी और सूर्य का निर्माता है।[2] नदियाँ उसी के आदेश से प्रवाहित होती है।[3] सूर्य उसके नेत्र, आकाश वस्त्र और प्रभजन उसका श्वास है[4]। उसकी असुर माया से सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। उसकी माया ही सृष्टि की रचना करती है और उसी माया से सृष्टि का सचालन होता है।[5] ऋग्वेद मे असुर को नर-भक्षक, क्रूर, कुकर्मा, चोर, डाकू और मिथ्याचारी आदि कहा गया है।[6] वह प्रमादी है और इसी से प्रार्थना, यज्ञ आदि से विमुख रहता है।[7] जब ऋग्वेद के रचयिता यह कहते हैं कि वरुण में असुर-माया है तो उनका आशय यही होता है कि उसमे निर्माण के अतिरिक्त विनाश, प्रसाददान के अतिरिक्त अभिशाप-दान की भी शक्ति है। इस प्रकार असुर नामकरण से भी वरुण का समीकरण ईरानी देवता अहुर से हो जाता है।

सर्वशक्तिमान् होने हुए भी वरुण अनियन्त्रित अथवा स्वेच्छाचारी नही है। वह भी ऋतवान् है[8], धृतव्रत है।[9] उसकी व्यवस्था का, उसके व्रत का, मनुष्य, अग्नि, सूर्य, आदित्य और नदियाँ, सभी पालन करते है।[10] इस प्रकार आर्यों की नितान्त नैतिक कल्पना ने अपने सर्वशक्तिमान् देवी-देवताओ के ऊपर ऋत और व्रत लाद कर उन्हें भी अनैतिक होने से बचाया।

असुर-शक्ति से समन्वित होने के कारण वरुण क्रुद्ध भी हो सकता है और उस अवस्था मे मनुष्य का विनाश कर सकता है।[11] परन्तु ऋतवान् और धृतव्रत होने के कारण वह पापियो के प्रति भी सदय हो जाता है और उन्हे क्षमा-प्रदान कर देता है।[12] व्रत-पालन और यज्ञ-कर्म से वह प्रसन्न रहता है।[13] प्रसन्न होने पर वह सुख-समृद्धि देता है।[14]

इस प्रकार आर्यों ने वरुण की उपासना के अन्तर्गत कर्मवाद और भक्ति-मार्ग के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। कुकर्मा मनुष्य दुःख भोगता है और सत्कर्मा मनुष्य सुख-समृद्धि। परन्तु कुकर्मा मनुष्य भी यदि अपने पापो के लिए पश्चाताप करते हुए वरुण के प्रति सम्पूर्णत आत्म-समर्पण कर दे, प्रायश्चित करते हुए उसके प्रति आत्म-निवेदन करे, तो वह प्रसन्न हो जाता है। ऋग्वेद का सातवाँ मण्डल वरुण-स्तोत्रों से भरा पडा है। उन स्तोत्रो मे उपासक की भक्ति-भावना उन्मुक्त होकर बह रही है। वस्तुत कालान्तर मे भक्ति-मार्ग का बीज इन्ही स्तोत्रो में दबा पडा है। भक्ति-मूलक वैष्णव धर्म अथवा भागवत-धर्म का प्राचीनतम आधार ऋग्वेद के वरुण-स्तोत्रो मे ही मिलेगा[15]।

१ ऋ० ७. ८७. २
२ ऋ० ७. ८६. १
३ ऋ० १. २४. ८
४ ऋ० ७. ८७. २
५ ऋ० ५. ८५. २-५
६ ऋ० १०. ८७. १६; ७. १०.४; ७. ९०४. ३; ३. ७.८
७ ऋ० ७. १०४. १८
८ ऋ० ५. ६८. १
९ ऋ० १. २५. ८
१० ऋ० ३. ५९. ३; १. २५. १; ७. ५९. ५; २. २८. ५; १. १५. २५
११ ऋ० २. २८. ७
१२ ऋ० ७. ८७. ७
१३ ऋ० ५. ८५. ८
१४ ऋ० १. २४ ९

1. The theism of the Vaisṇavas and the Bhāgavatas, with its emphasis on bhakti, is to be traced to the Vedic worship

आर्यों ने बहिर्जगत् के प्रकाश का मानवीकरण करके उसे मित्र का नाम दिया। ईरान और रोम-साम्राज्य में ही देवता 'मिथ्र' के नाम से पूजा जाता था। ऋग्वेद में जिस प्रकार द्यावापृथिवी का देव-युग्म था उसी प्रकार मित्रावरुण का भी। मित्र और वरुण देवताओं का बहुधा संयुक्तरूप में उल्लेख किया गया है। अकेले मित्र देवता का उल्लेख सम्पूर्ण ऋग्वेद में केवल एक ही मन्त्र (३ ५९) में हुआ है, अन्यथा वह सदैव वरुण के साथ ही उल्लिखित है। मित्रवरुण को देवासुर भी कहा गया है। इसका अर्थ यही है कि वरुण में असुरत्व भी है, परन्तु मित्र में विशुद्ध देवत्व ही है। इस दृष्टि से वरुण अन्धकार भी है, परन्तु मित्र एकमात्र प्रकाश है। वेद के अनुसार ही मित्रावरुण के युग्म मे मित्र ज्योतिर्मय पुरुष है और वरुण कृष्णप्रकृति। कालान्तर में अधिक विकसित भारतीय दर्शन में मित्रावरुण के सहज गुणों के आधार पर यह कहा गया कि पुरुष तो ज्योतिर्मय है, परन्तु आसुरी माया उसे ढँके रहती है। कालान्तर में मित्र का सबन्ध दिन के साथ और वरुण का सम्बन्ध रात्रिकाल के साथ स्थापित किया गया।[1]

वरुण और आप—ऋग्वेद मे वरुण के साथ आप का भी उल्लेख हुआ है। आप का अर्थ होता है जल। इस सम्बन्ध के आधार पर ही कालान्तर मे वरुण एकमात्र जल का देवता हो गया। परन्तु अनेक विद्वानो का मत है कि आप से एकमात्र सामान्य जल का अर्थ नही लिया जा सकता। ऋग्वेद के अध्ययन से प्रकट होता है कि उसका अर्थ जल-वाष्प है जो ईथर की भाँति पृथ्वी-मण्डल को[2] घेरे हुए था। ऋग्वैदिक मन्त्रकारो के मतानुसार इसी आप में सृष्टि की रचना हुई।[3] पहले कहा जा चुका है कि ऋग्वेद मे वरुण को सृष्टिकर्ता कहा गया है। अत उसने जिस मूल पदार्थ (आप) से सृष्टि की रचना की थी उसके साथ उसका सम्बन्ध प्रदर्शित करना आवश्यक था। यही कारण है कि वरुण और आप का अनेक स्थलो पर साथ-साथ वर्णन किया गया है।

सूर्य—बहिर्जगत् मे सूर्य का महत्व कम नही है। प्रकृति की इस अन्धकार-विनाशिनी विपुल प्रकाशवती शक्ति की ओर आर्यों का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था। अत शीघ्र ही सूर्य भी उनका देवता बन गया। सूर्योपासना अन्य देशो मे भी प्रचलित थी। ईरानियो की दृष्टि मे उसका विशेष महत्व था। सूर्य उनके देवता अहुर मज्दा का नेत्र समझा जाता था। यूनान मे प्लेटो ने तो सूर्योपासना का स्वय प्रतिपादन किया था।

ऋग्वेद के अनुसार सूर्य देवो का अनीक (मुख), चर-अचर की आत्मा तथा उनका मित्र और वरुण एव अग्नि का नेत्र था।[4] ऋग्वेद मे सूर्य का असुर वरुण के नेत्र के रूप मे उल्लेख और अवेस्ता मे अहुर मज्दा के नेत्र के रूप मे उल्लेख एक ही इण्डो-ईरानी धार्मिक भावना की ओर सकेत करते है।

पुन सूर्य सम्पूर्ण चर-अचर का रक्षक है, वह मनुष्यो के समस्त सत्-असत् कर्मों का दृष्टा है।[5] वह समस्त ज्योतियो मे सर्वोत्तम है।[6] वह विश्वकर्मा है[7]।

of Varuṇa with its concious-ness of sin and trust in divine forgiveness'—Radhakrishnan——Indian Phil., Vol. 1. p. 78.

१ अथर्ववेद ९. ३. १८; १३. ३. १३

२ ऋ० १.१६४.५१; २.१५.६; १.३२.१२; १०.८२.६

३ ऋ० १०.१२१.१ और ३; शत० ब्रा० ११.१.६.१; मनुस्मृति० १.९.

४ ऋ० १.११५.१

५ ऋ० १०.१३३.६.

६ ऋ० १०. १००. ३०.

७ ऋ० १०.१७०. ४.

सविता—ऋग्वेद के मन्त्रों से ऐसा अनुमान होता है कि दिन को दिखाई पड़ने वाले सूर्य के लिये 'सूर्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु 'सविता' शब्द में सूर्य का दिन में व्यक्त होने वाला रूप और रात्रि को अव्यक्त रहने वाला रूप दोनों ही सम्मिलित हैं। कहीं-कहीं पर सूर्य और सविता का यह अन्तर प्रकट होता है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि सविता सूर्य की किरणों से प्रकाश करे और सूर्य से मनुष्यों की निष्कलुषता बताये।[1] परन्तु अधिकांशतः ऋग्वेद में ही दोनों शब्दों को पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया गया है।

ऋग्वेद में सविता को देवताओं का चक्षु कहा गया है और उपासक ने संसार के यथार्थ दर्शन के लिए उससे स्वयं अपने लिए चक्षु की याचना की है[2]। यही अर्थ गायत्री मन्त्र[3] से भी प्रकट होता है। यह प्रसिद्ध मन्त्र भी सविता के प्रति ही कहा गया है। इसमें उससे बुद्धि-दान की याचना की गई है। ऋग्वेद ने सविता को पाप-मोचन देवता के रूप में भी प्रतिष्ठित किया है। एक स्थान पर उसमें कहा गया है कि "हे सविता! अपनी दुर्बुद्धि, दुर्बलता, अहमन्यता अथवा मानवी-प्रकृति के कारण हमने देवों के प्रति जो भी अपराध किए हों, उनसे उद्भूत पाप से तू भी हमारा उद्धार कर।"[4]

इस प्रकार पाप और पापोद्धार के निमित्त दैवी करुणा के अवलम्ब का प्रतिपादन सविता की उपासना में भी मिलता है।

विष्णु—यह देवता संसार का संरक्षक है।[5] उपासकों की अर्चना सुन कर यह सदैव सहायतार्थ आ जाता है।[6] ऋग्वेद में उसके तीन पदों का उल्लेख किया गया है जिनसे वह समस्त ब्रह्माण्ड में अभिक्रमण करता है।[7] मनुष्य उसके दो पदों को तो देख सकता है, परन्तु तृतीय पद उसकी दृष्टि से बाहर है।[8] उसकी इस व्यापकता के कारण ही उसे बृहद्शरीर, उरु-गाय (व्यापक रूप से गमनशील) और उरु-क्रम (व्यापक रूप से अभिक्रमण करने वाला) कहा गया है। कभी-कभी विष्णु को सूर्य के रूप में भी प्रतिष्ठित किया गया है।[9] विष्णु की व्यापकता का अर्थ भी कदाचित् सूर्य की समन्तात् गतिशीलता से ही है।

अग्नि—अग्नि की पूजा भारत, ईरान, यूनान और रोम आदि प्राचीन देशों में समानरूप से प्रचलित थी। ऋग्वेद में अग्नि-देवता का महत्व इसी बात से प्रकट होता है कि अकेले उसी की प्रार्थना में उसमें कम से कम २०० मन्त्र हैं।

अग्नि का विविध महत्त्व है। वह सूर्य के समान प्रकाशवान् है। इसी से स्वयं सूर्य भी अग्नि का ही एक स्वरूप कहा गया है।[10] आदि-काल में पृथ्वी पर अग्नि नहीं थी। उसे मातरिश्वन् आकाश से धरातल पर लाये। आकाश में अग्नि कहाँ थी? यहाँ कदाचित् सूर्य की ओर संकेत है। पृथ्वी की अग्नि आकाश के सूर्य का ही स्वरूप है। यही इस कथानक का आशय है।

इस दैवी उत्पत्ति के साथ-साथ ऋग्वेद में अग्नि की भौतिक उत्पत्ति का भी

१ ऋ० ७. ६३.
२ ऋ० १०. १५८. ५.
३ ऋ० ३. ६२. १०.
४ ऋ० ४. ५४. ३
५ ऋ० १. १५५.४। २.१ ऋ० १.१५५.६
६ ऋ० ६. ४९. १३; ६. ६९. ५; ७. ९९. ३
७ ऋ० १. २२. १८, ७. ५९. १-२
८ ऋ० १.२१. १५४
९ ऋ० ७. २. १
१० ऋ० २. १२. ३; १. ८९

उल्लेख है। एक स्थान पर वह लकड़ियो से और दूसरे स्थान पर पत्थरो से उत्पन्न बताई गई है।[१]

यज्ञ में अग्नि का विशेष महत्व था। इसी से ऋग्वेद में उसे पुरोहित, यज्ञिय, और होता भी कहा गया है।[२] उसे आहुतियो का स्वामी और धर्मों का अध्यक्ष बताया गया है।[३] उसी के द्वारा आहुति देवताओ तक पहुँचती है। इसी से वह देवताओं का मुख भी है।[४] उसी के द्वारा होता वरुण, इन्द्र, मरुत् आदि देवताओ को बुलवाता है।

अग्नि दाह-कर्म के लिए भी अनिवार्य थी। इस प्रकार कर्म-विभाजन के आधार पर अग्नि के दो रूप[५] प्रतिष्ठित हुए—(१) हव्य-वाहन अर्थात् हव्यो को देवताओ तक पहुँचाने वाली, और—(२) क्रव्याद् अर्थात् शवदाहक।

अग्नि-देवता समस्त उत्पन्न चर-अचर का ज्ञाता है। इसी से ऋग्वेद ने उसे 'जात-वेदस्' की संज्ञा दी थी। वह सूर्य की भाँति सर्वद्रष्टा है। इसी से उसे 'भुवन का चक्षु' कहा गया है। अन्यान्य आर्य-देवताओ की भाँति उसके भी किसी कार्य में अव्यवस्था, उच्छृंखलता अथवा अनैतिकता नही है। इसी से वह 'ऋत-गोपा' के नाम से भी उल्लिखित है।[६] वह अन्धकार, शीत, रोग, हिंसक पशु आदि को दूर भगाता है। यही समस्त लोक के राक्षस हैं। इसी से अग्नि देवता को राक्षसो का वध करने वाला कहा गया है।[७] इन विविध महत्वपूर्ण एवं लोकोपकारी कर्मों के कारण ही आर्य-जीवन में अग्नि को महत्ता अत्यधिक बढ़ गई थी। इसी से ऋग्वेद के मन्त्रकारो ने उसे पिता, बन्धु-बान्धव और मित्र भी कहा है।[८]

सोम—सोम आर्यों का सर्वोत्तम पेय था। अतः इसे भी उन्होंने देवत्व दे डाला। यह उनके उल्लास-आह्लाद का देवता बन गया। इस देवता की पूजा भारतवर्ष में ही सीमित न थी। वह ईरान में हाम और यूनान में डिम्रानिसस देवता के नाम से पूजा जाता था। सोम-प्रतिष्ठा के विषय मे ह्विटने महोदय लिखते है कि 'सरल स्वभाव आर्यों ने, जिनका सम्पूर्ण धर्म प्रकृति की आश्चर्यजनक शक्तियो एवं उसके रूपो की पूजा था, जसे ही यह अनुभव किया कि इस रस (सोम रस) में ऐसी स्फूर्ति, एक ऐसा अस्थायी आह्लाद उत्पन्न कर देने की शक्ति है कि जिसके प्रभाव में व्यक्ति को अपनी सहज क्षमता से परे कार्यों को करने की प्रेरणा और योग्यता मिलती है, वैसे ही उन्होंने उसमें किसी दैवी रूप का आभास पाया।'[९] इस प्रकार सोम रस अपने उत्तेजक और आह्लादकारी प्रभाव के कारण आर्यों की निस्सीम श्रद्धा का पात्र बन गया। उसकी प्रशसा और प्रार्थना में ऋग्वेद में अनेक मन्त्र हैं।

सोम सूर्य और विद्युत से उत्पन्न हुआ बताया गया।[१०] वह सूर्य के साथ चमकता है[११] तथा अपने प्रकाश से अधकार को भगाता है।[१२] सोमपायी ऋग्वेद मे एक स्थान पर घोषणा करता है कि 'हमने सोम-पान किया है, हम अमर हो गए हैं, हम ज्योतिर्मान् हो गए हैं, हमने देवताओ को पहचान लिया है।'[१३] कहीं-कहीं पर सोम को चन्द्रमा भी

१ ऋ० १. १. १
२ ऋ० ७. ११.४; ८. ४३. ४०
३ ऋ० २. १.१४; १. २६. ६;
४ ऋ० १०. ७०. ११
५ ऋ० १०. १४
६ ऋ० १.१.८; १०.८५
७ ऋ० १०. ८७. १-३; १०. ८७. १६, १९
८ ऋ० १०. ७. १
९ J. A. O. S. ३. २९२
१० ऋ० ९. ९३. १
११ ऋ० ९. १. ६
१२ ऋ० ९. ९.९; ८. १०८ १२
१३ ऋ० ८. ४८ ३

माना गया है।[1]

इन्द्र—इन्द्र आँधी, तूफान, बिजली और वर्षा का देवता था। ऋग्वेद में यही सर्वमान्य और सर्वाधिक शक्तिशाली देवता माना जाता था। वह आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी से भी अधिक बडा है।[2] वह पृथ्वी से दसो गुना बडा है।[3] द्यावापृथिवी सम्मिलित रूप में भी उसके आधे भी नही है।[4] वह आकाश, पृथ्वी, जल और पर्वत, सभी का राजा है।[5] दोनो लोक उसकी मुट्ठी मे आ सकते है[6] उसका मुख सूर्य का है।[7] वह सूर्य, मनु और सोम का रूप धारण करता है।[8] यही नहीं, वह अपनी इच्छा से कोई भी रूप धारण कर सकता है।[9] वृत्र का वध करके वह आप (जल) को मुक्त करता है और आकाश, सूर्य तथा उषा को जन्म देता है।[10] अनेक विद्वानो का मत है कि वृत्र को अनावृष्टि का असुर समझना चाहिए। इन्द्र इसकी हत्या कर बादलो में रुके हुए जल को मुक्त करता है। अन्य विद्वानो का मत है कि वृत्र-कथानक भारतवर्ष का नही है। इसे आर्य अपने मूल-निवास-स्थान से लाये थे। वह मूल निवास-स्थान शीतप्रधान था और अत्यधिक शैत्य के कारण वहाँ जल जम जाता था। इस प्रकार वृत्र अत्यधिक शीत, कोहरे और पाले का असुर था। उसके विरुद्ध इन्द्र प्रखर प्रकाश का देवता था। उसके प्रकाश की प्रखरता से शीत, कोहरे और पाले का नाश हो जाता था, हिम गल जाता था। इस प्रकार इन्द्र जल को मुक्त कर देता था और कोहरे के अभाव से आकाश, सूर्य तथा उषा दिखाई देने लगते थे। इस प्रकार वृत्र और इन्द्र के रूपो के विषय में मतभेद है :—

(१) वृत्र अनावृष्टि का असुर है अथवा अत्यधिक शीत का।
(२) इन्द्र वृष्टि का देवता है अथवा प्रखर प्रकाश का।

जो भी हो, इसमे सन्देह नही कि ऋग्वेद मे इन्द्र का महत्व सब देवताओ से अधिक है। अनार्यों के साथ अनवरत युद्ध मे सलग्न आर्यों को शूरकर्मा देवता की आवश्यकता थी जो उन्हें अपने अदम्य शौर्य से पग-पग पर प्रोत्साहित कर सके। इन्द्र ऐसा ही देवता था। वह वृत्रासुर का हन्ता था। वह 'पुरभिद्' था। बादलो के पुर (गढ) को तोड कर उसने आप को मुक्त किया था। कभी-कभी उसे 'अप्सु-जित' (पानी को जीतने वाला) भी कहा गया है। वह वज्र धारण करता है। इसी से उसने पर्वतो को विदीर्ण कर जल को मुक्त किया था। वह दस्युओ का दमनकर्ता और आर्य-वर्ण का त्राता था। वह विश्व का राजा है। उसका स्वर्णमय रथ गगन मे घोर शब्द करता हुआ दौडता है और अपने प्रयाण-मार्ग मे अरुणिमा उत्पन्न करता है। उसके पीछे-पीछे वात दौडता है।

इस प्रकार के अनेकानेक कथन ऋग्वेद मे मिलते है। इन्द्र की स्तुति मे ऋग्वेद मे लगभग २५० ऋचाये है। इसका अर्थ यह है कि इस वेद की सम्पूर्ण ऋचाओ का चौथा भाग एकमात्र इन्द्र की स्तुति से ही भरा है।

उपर्युक्त देवताओ के अतिरिक्त ऋग्वेद मे मरुत्, वात, पर्जन्य, अश्विन्, यम, रुद्र, पूषन आदि अन्यान्य छोटे-बड़े देवता भी है।

१ ऋ० १०.५-४
२ ऋ० ३. ४६. ३
३ ऋ० १. ५२. ११
४ ऋ० ४. ३०.१
५ ऋ० ११. ८९. १०
६ ऋ० ३. ३०. ५
७ ऋ० १०. ४८. ३
८ ऋ० ४. २६. १; १०. ८९.२
९ ऋ० ३.४८.४.५३.८.६.४७.१८
१० ऋ० १. ३२. ४; ६. ३०, ५; १. ३२. १; १०. १३८. १-२

ऋग्वेद में देवियों का भी अभाव नहीं है। ये देवियाँ या तो मनुष्य के वाह्य-जगत् की शक्तियों के रूप हैं या उसके अन्तर्जगत् की शक्तियों के। इनमें से कुछ का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

उषा—आर्यों ने अरुणोदय के पूर्व की रमणीय वेला को भी उषा-देवी के रूप में सम्मानित किया। यह प्रकृति की एक अन्य शक्ति का दैवीकरण था। उषा की स्तुति में आर्यों के हृदय से जो उन्मुक्त ऋचायें निकली हैं वे उनके सरल एवं सम्भ्रान्त हृदय के अतिरिक्त उनकी काव्यात्मक मनोवृत्ति की भी सूचना देती हैं।

अदिति—अदिति का शाब्दिक अर्थ है 'निस्सीम'। आर्यों ने सर्वव्यापिनी प्रकृति का भी दैवीकरण कर डाला। अदिति आर्यों की सार्वभौम भावना की देवी है। वह उनके अन्तर्जगत् की उदात्त अनुभूति का दैवीकरण है। ऋग्वैदिक आर्यों ने सर्वव्यापिनी अदिति को माता-पिता, पञ्चजन, देवता और आकाश सभी कुछ माना है। यही नहीं, उनकी दृष्टि में भूत और भविष्य, सभी कुछ अदिति था।[1] यह सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है।[2] कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद की अदिति देवी यूनान में Ades अथवा Hades, नार्व में Ida और योरप के अनेक देशों में Adonis देवी अथवा देवता के रूप में पूजित होती थी।

अन्यान्य देवियां—ऋग्वेद में सिन्धु नदी का भी देवी के रूप में उल्लेख है।[3] ऋग्वैदिक आर्यों ने वन-देवी को भी प्रतिष्ठित किया और उसका नाम अरण्यानी रखा।[4] मानवी बुद्धि का दैवीकरण किया गया और वह सरस्वती के रूप में प्रतिष्ठित हुई।

देवी-देवताओं की तीन कोटियां—उपर्युक्त सभी देवी-देवता ३ कोटियों में विभक्त किये गये है—

(१) आकाशवाणी—इस कोटि में द्यौस्, वरुण, आप, मित्र, सूर्य, सविता, पूषन्, विष्णु, अदिति, उषा तथा अश्विन् आदि आते हैं।

(२) अन्तरिक्षवासी—इस कोटि में इन्द्र, रुद्र, मरुत्, वात, पर्जन्य आदि देवता परिगणित होते हैं।

(३) पृथ्वीवासी—इस कोटि में अग्नि, सोम, पृथ्वी, बृहस्पति, सरस्वती आदि देवी-देवता रखे गये है।

देवताओं के दो जगत्—यदि हम ऋग्वैदिक देवी-देवताओं पर विचार करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि वे दो जगतों की शक्तियों के प्रतीक हैं—कुछ मनुष्य के बहिर्जगत् के और कुछ उसके अन्तर्जगत् के। सर्वप्रथम वह बहिर्जगत् के सम्पर्क में आया। यहाँ उसने पृथ्वी, आकाश, वृष्टि, अनावृष्टि, प्रकाश, अन्धकार आदि अनेक प्राकृतिक शक्तियों को देखा। उसने सभी को देवता मान लिया। इस प्रकार द्यावापृथ्वी, इंद्र आप, उषा, सूर्य आदि देवी-देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ। जिस प्रकार मनुष्य उपेक्षा एवं अनादर से अप्रसन्न और विनय एवं स्तुति से प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार उसके देवताओं को भी उन्हीं कारणों से अप्रसन्न और प्रसन्न होना चाहिए। आदि-युग के सरल मानव की यह स्वाभाविक कल्पना थी। इसी ने देव-स्तुति को जन्म दिया। आर्य भी अपने देवी-देवताओं के अभिशापों से बचने के लिए और वरदानों को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार से उनकी स्तुति करने लगे उनकी क्षुधा-शान्ति के लिए

१ ऋ० १. ८९
२ ऋ० १०. ६३. २३
३ ऋ० १०. ७५. २. ४. ६
४ ऋ० १०. १४६
५ ऋ० ६. ६१

उत्तम खाद्यों और पेयों से उनके यज्ञ करने लगे। इस प्रकार देवोपासना पारस्परिक आदान-प्रदान पर निर्भर थी।

कालान्तर में मनुष्य ने देखा कि जिस प्रकार संसार की बहि:शक्तियाँ उसके जीवन को संचालित और प्रभावित करती है उसी प्रकार उसकी अन्त:शक्तियाँ भी। मनुष्य के भीतर अनेक शक्तियाँ हैं। उदाहरण के लिये बुद्धि को लीजिये। इस बुद्धि-शक्ति की सहायता से मनुष्य क्या नहीं कर सकता? इसी प्रकार उसके पास वाणी है। अपनी वाक्-शक्ति के द्वारा वह नाना प्रकार के भाव-प्रकाशन कर सकता है। स्वयं शक्ति को ही लीजिये। शक्ति की सहायता से ही देव-मानव के समस्त कार्य-कलाप होते है। इसी प्रकार श्रद्धा और क्रोध (मन्यु) मनुष्य के अन्तर्जगत् की सबल प्रवृत्तियाँ हैं। अत मनुष्य ने अन्तर्जगत् की इन समस्त शक्तियों को भी देवता-रूप में ग्रहण किया। सरस्वती (विद्या-बुद्धि की देवी), वाक्, शक्ति, श्रद्धा, मन्यु आदि की भी उसने स्तुति की।

आर्यों के देवी-देवताओं की विशेषतायें—आर्य मानव थे। अत उन्होने अपने देवी-देवताओं की कल्पना भी मानव के रूप में ही की। किसी वस्तु में मानवी गुणो का आरोप करना मानवीकरण कहलाता है। आर्य के सरल हृदय की मूल प्रवृत्ति ने अपने देवी-देवतो में उन सभी गुणो की कल्पना की जो मानव में पाई जाती है। मानव और देव में अन्तर यही था कि जहाँ मानव मर्त्य, दुर्बल, पराधीन तथा गुण और अवगुणो दोनो से परिपूर्ण था, वहाँ देव अमर, परम शक्तिमान्, परम स्वतन्त्र और एकमात्र गुणशील थे। उनमें दुर्बलतायें, विशेषतायें और दुर्गुण न थे। द्यावा-पृथिवी नितान्त सत्, पूर्ण और उदार थे।[1] साराशत वे मानवरूप होते हुए भी अतिमानव थे।

यूनान ने भी अपने देवताओं का मानवीकरण किया था, परन्तु उनके देवताओ मे मानव के गुण भी थे और दोष भी, सबलतायें भी थी और निर्बलतायें भी। मानव की भाँति वे भी छल-छद्म, पाप, हत्या, अपहरण आदि कर सकते थे। परन्तु भारतीय आर्यों की देव-कल्पना ऐसी उच्छृंखल न थी। सामान्यतया उनके देवी-देवता सदाचारी थे। उनमें नैतिकता थी। वे ऋत (नैतिक व्यवस्था) के पोषक थे। ऋत देवताओ का भी नियामक था। द्यावापृथ्वी ऋतशील थे।[2] विष्णु ऋत का उद्गम था।[3] मरुतो का प्रादुर्भाव ऋत से ही हुआ था।[4] उषा ऋत-मार्ग का ही अनुगमन करती है।[5] यही दशा सूर्य की है।[6] साराशत सम्पूर्ण विश्व ऋत पर आधारित है।[7] ऋत देवताओं के लिए भी अनुल्लघनीय था। परिणामत सदाचार को अभिशाप और दुराचारी को प्रसाद देना ऋतवान् देवताओं के लिए असम्भव था। इस प्रकार भारतीय आर्यों का आदि धर्म प्रकृति के मानवीकरण और मानवीकृत उन शक्तियो में ऋत सरोपण पर आधारित था।

मानवीकरण ने उपासक और उपास्य के बीच घनिष्ठता स्थापित कर दी थी। उपासक मानव था और उपास्य अतिमानव। दोनो ही मूलत एक ही वर्ग के थ। अतः दोनों के लिये एक दूसरे को समझना सरल था। यदि आर्य-देवताओ का मानवीकरण न हुआ होता, यदि वे किसी अन्य वर्ग अथवा जाति के होते तो उनमें और उनके उपासको

१ ऋ० १.१५९.१; १.१६०.१; ६.७०.६
२ ऋ० १०. १२१.१;
३ ऋ० १.१५६.३
४ ऋ० ४.२१.३
५ ऋ० १.२४.८
६ वही
७ ऋ० ४.२३.९

के बीच एक भारी अन्तर हो जाता। यह अन्तर उपासक के हृदय में अपने उपास्य के प्रति आतंक भले ही उत्पन्न कर देता, परन्तु उससे श्रद्धा की उत्पत्ति असम्भव हो जाती। आतंकित उपासक उपास्य के प्रति नतमस्तक भले ही हो जाता, परन्तु श्रद्धा के अभाव में उसको उपासना में सहृदयता न होती, सच्चाई न होती। परिणाम यह होता कि आर्यों के धार्मिक क्षेत्र में वह आह्लाद न आ पाता जिससे उनके जीवन का प्रत्येक क्षेत्र ओत-प्रोत है।

इसी प्रकार देवताओं के आचरण को नियन्त्रित करने वाला ऋत न होता तो वे उच्छृंखल और स्वेच्छाचारी हो जाते। फिर मानव और देव में अन्तर ही क्या रहता? सर्वशक्तिशाली देवी-देवताओं के कार्य-कलाप भी एक व्यवस्था के ही अन्तर्गत होते है। वे भी उस व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं कर सकते। उनकी शक्तिमत्ता ऋत के नियन्त्रण से गौरवान्वित होती है, अपदस्थ नहीं।

देवातिदेव की खोज—जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे ही वैसे आर्यों के देवी-देवताओं की संख्या बढती गई। सभी उनके लिए सम्मान्य थे, पूज्य थे और शक्तिशाली थे। यह आर्यों का सर्वदेववाद (Henotheism) था। इसके अन्तर्गत आर्य बारी-बारी से प्रत्येक देवता को सर्वशक्तिशाली मान कर उसकी स्तुति करते थे।

परन्तु बौद्धिक विकास के साथ ही आर्य-जगत् में यह प्रश्न उठने लगा कि आखिर इन बहुसंख्यक देवी-देवताओं में सर्वप्रमुख देवता कौन है। किस देवता ने इन अन्यान्य देवी-देवताओं को जन्म दिया है? किस देवातिदेव की व्यवस्था के अंतर्गत अन्यान्य देवी-देवता कार्य करते हैं? ये प्रश्न नितांत स्वाभाविक थे। ऋग्वेद में हम अनेक प्रकार के प्रश्नों का उल्लेख पाते हैं। 'सर्वप्रथमजन्मा को किसने देखा है'?[1] 'किस देव को हम हवि प्रदान करें'?[2] 'वायु कहाँ से आती है। और कहाँ जाती है'?[3] इन प्रश्नों के भीतर आर्यों की देवातिदेव की, सृष्टि के परमपुरुष की खोज की उत्कंठा दिखाई देती है।

देवातिदेव की खोज की प्रारम्भिक चेष्टा के परिणामस्वरूप आर्यों ने देवताओं को वर्गों में संगठित करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार देवताओं की संख्या में कुछ कमी हो गई और इस अपेक्षाकृत अल्पसंख्यक देवों के बीच में देवातिदेव को खोजना सरल हो गया। उदाहरणार्थ आर्यों ने पृथ्वी और आकाश को 'द्यावापृथिवी' को एक इकाई दे दी। मित्रावरुण और उषा-रात्री की अन्य इकाइयाँ थी। इसी प्रकार मरुतो, दो अश्विन् और आदित्यों के वर्गों ने भी देवताओं की संख्या को सीमित कर दिया। पुनः ऋग्वेद में हम एक अन्य प्रवृत्ति भी पाते है। उसमें अनेक देवता किसी प्रमुख देवता के साथ सम्बन्धित किए हैं। उदाहरणार्थ, इंद्र को लीजिए। यह ऋग्वेद का सर्वप्रमुख देवता है। इसके साथ कई देवता संबंधित हैं। द्यौस इसका पिता है और अग्नि इसका भाई। मरुत् इसका सहगामी है। यह वृत्र का वध करके आप, उषा और सूर्य को मुक्त कराता है। अतः स्पष्टतया ये देवता इसकी अपेक्षा निम्नस्तर के हैं। सूर्य को अग्नि का रूप बताया गया है। आप सोम की बहने अथवा माताये हैं। रुद्र मरुतों का पिता है। उषा सूर्य की प्रिया और रात्रि की बहन बताई गई है। अश्विन सूर्य-पुत्री सूर्या का पति है। आदित्य अदिति के पुत्र हैं। कभी-कभी समस्त देवता 'विश्वेदेवा' नामक वर्ग के अंतर्गत एकत्र कर दिए गए है।

१ ऋ० १. ४. १६४—को ददर्श प्रथमा जायमानम्।

२ ऋ० १०. १२१—कस्मै देवाय हविषा विधेम।

३ ऋ० १. २४. १८५

इन सब उपकरणो से ऋग्वेद में प्रमुख देवताओ की सख्या कम हो गई और उनमें से किसी एक को देवातिदेव चुनने का कार्य अपेक्षाकृत सरल हो गया।

प्रारम्भ में कई देवता प्रमुख देवत्व के लिए होड करते दीख पडते है। एक स्थान पर अग्निदेव को ही सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता कहा गया है।[1] दूसरे स्थान पर यह सम्मान सोमदेव का मिला है।[2] तीसरे स्थान पर द्यावापृथिवी को ही समस्त देवो और मनुष्यो का पिता माना गया है।[3]

परतु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ दिनो की होड के पश्चात् वरुण देवता सबसे अधिक सम्मान का अधिकारी बना। यही देवता कुछ समय के लिए देवातिदेव बन गया। सूर्य, चद्र और नक्षत्र सभी इससे डरते थे।[4] नदियाँ इसी के आदेश से बहती थीं।[5] उसी की माया से सृष्टि का निर्माण होता है और उसका सचालन।[6] वह अपने आवरण से सभी जीवो और उनके आवरणो को ढके है।[7]

परतु अधिक दिनो तक उसकी प्रभुता न रह सकी। वह मूलत नीति का सस्थापक था और सौम्य एव सानुकम्प था। परतु अनार्यों के साथ अनवरत युद्धो मे सलग्न आर्यों को अधिक शूरकर्मा, उग्र, शत्रुहता और दुर्धर्ष उद्धारक की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इद्र का प्रादुर्भाव हुआ। ऋग्वेद मे प्रभुता-प्राप्ति के लिए वरुण और इद्र की पारस्परिक होड के उल्लेख मिलते है। ऋग्वेद मे एक स्थान पर एक उपासक का कथन है कि 'मै पिता असुर (वरुण) से बिदा लेता हूँ। इद्र को ग्रहण करने के लिए मै पिता (वरुण) का परित्याग कर रहा हूँ, यद्यपि उनके साथ मै अति सौहार्दभाव से वर्षों तक रहा हूँ। अग्नि, वरुण और सोम को अब हट जाना चाहिए। प्रभुता दूसरे के पास जा रही है।'[8] इस उद्धरण से प्रकट होता है कि इद्र वरुण को अपदस्थ कर देवातिदेव के पद, पर आसीन हुआ था।

एकेश्वरवाद और परमतत्व—आर्यों की जिज्ञासा देवातिदेव इद्र की प्रतिष्ठा तक ही सीमित नही रहती। वह और भी आगे बढ़ती है और इद्र की सत्ता के ऊपर भी किसी सत्ता की गवेषणा करती है। इस समय तक आर्यों को भलीभाँति यह ज्ञान हो गया था कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक परम सत्ता है।[9] ऋग्वेद के ऋषियो ने इसी विचार धारा को घोषित करते हुए कहा कि 'सत् एक ही है। विद्वान् उसे अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि विभिन्न नामो से पुकारते है।'[10] इन समस्त देवताओ (इनमें वरुण और इद्र भी सम्मिलित है) के ऊपर अत मे आर्यो ने एक परम तत्व की प्रतिष्ठा आरोपित की जिसे उन्होने कभी हिरण्यगर्भ,[11] कभी प्रजापति[12] और कभी विश्वकर्मा[13] के नाम से प्रख्यात किया। एकेश्वरवाद की यह पराकाष्ठा थी।

ऋग्वेद मे आर्यों का धार्मिक एव दार्शनिक विकास तत्व-निरूपण के रूप मे दिखाई पडता है। उन्होने एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की और साथ मे एक तत्व की भी। इस एक तत्व को उन्होने सत् के नाम से पुकारा। यह न देवी था और न

१ ऋ० १. ६७. ३
२ ऋ० ९. १०१. १५
३ ऋ० १. १८५. ४
४ ऋ० १. २४. १०; १. २५. ६; १.४४. १४
५ ऋ० १. २४. ८, २. ८. ४
६ ऋ० ५. ८५. २-५
७ ऋ० ८. ४१
८ ऋ० १०. १२४
९ ऋ० ३. ५४. ८
१० ऋ० १. १६८. ४६—
एक सत् विप्रा बहुधा वदंति।
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहु।
११ ऋ० १०. १२१
१२ ऋ० १०. ८५. ४३
१३ ऋ० १०. ८१. ८२

देवता। यह लिग-विहीन सर्वोपरि तत्व था। सम्पूर्ण संसार इसी से व्याप्त था। दूसरे शब्दों में सत् के प्रतिपादन के द्वारा आर्यों ने आत्मैक्य का प्रतिपादन किया था। सृष्टि के जीवो का बाह्य रूप ही भिन्न है। उनकी आत्मा एक ही है। ऋग्वेद स्वय कहता है कि 'सत् एक ही है। विद्वानो के विविध शब्दो के कारण उसका रूप भिन्न-भिन्न दिखाई देता है।'[1] मोह जनित भेदों को छिन्न कर उस परम सत् का साक्षात्कार कर लेना ही मनुष्य का परम लक्ष्य था।[2] इस प्रकार ऋग्वेद से आर्यों के बौद्धिक विकास की तीन स्थितियो का ज्ञान होता है—(१) बहुदेववाद (२) एकेश्वरवाद और (३) एकात्मवाद।

ऋग्वैदिक स्तुति और यज्ञ—ऋग्वैदिक आर्य नितान्त प्रवृतिमार्गी था। उसके जीवन में सन्यास और गृहत्याग का स्थान न था। वह गृहस्थाश्रम में ही देवोपासना और देव-भजन के द्वारा कल्याण-प्राप्ति की चेष्टा करता था। अपने देवताओं से वह मोक्ष नही माँगता था। ऋग्वेद की देव-स्तुति मे स्थान-स्थान पर शतवर्षीय आयु, पुत्र, धन्य-धान्य और विजय ही की कामना है। 'भगवान्! जीवन-यात्रा मे हमे समुन्नत कीजिए,[3] 'कल्याणमय जीवन व्यतीत करते हुए हम वृद्धावस्था को प्राप्त हो'[4] आदि कामनाओं से प्रकट होता है कि आर्यों मे पलायनवाद न था, मोक्ष-प्राप्ति की आतुरता न थी। उन्हे ऐहिक जीवन से अनुराग था। उनका ऐहिक जीवन उल्लासमय था।

ऋग्वेद मे मदिर अथवा मूर्ति-पूजा का उल्लेख नही है। स्तुति और यजन ही उनकी देव-पूजा थी। प्रारम्भिक स्थिति में देवता और मनुष्य का सम्बन्ध पारस्परिक आदान-प्रदान पर अवलम्बित था।[5] देव अपने उपासको से खाद्य और पेय, विशेषतया सोम, की आशा करते थे। प्रसन्न होकर इनके बदले में वे उसे विविध वस्तुये देते थे।[6]

स्तुति-विधि अति सरल थी। प्रत्येक देवता के लिये भिन्न-भिन्न ऋचायें थी। उन्ही से देव-स्तवन होता था। स्तवन की भाँति सामान्य मनुष्यो के यजन भी अत्यन्त सरल होते थे। ऋग्वेद की प्रारम्भिक अवस्था में बाह्य विधानो की अपेक्षा मन्त्रो की सहायता से ही यज्ञ करना अच्छा समझा जाता था।[7] कालान्तर में हव्यो की सहायता से यज्ञ करने की प्रथा बढने लगी। अब ये यजन अग्नि मे घी, दूध, धान्य अथवा मास की आहुति दे कर किये जाते थे। आर्यों का ऐसा विश्वास था कि प्रज्वलित अग्नि अपनी उत्तुग ज्वाला और उत्तुंग धूम्र-राशि के द्वारा हव्य को देवताओ तक पहुँचा देगी। सामान्यतया यजन-कार्य प्रत्येक मनुष्य व्यक्तिगत रूप से अपने लिये स्वय करता था। कभी-कभी वह किसी ब्राह्मण पुरोहित की सहायता भी ले लेता था। परन्तु ऋग्वेद में कुछ वृहत् एव व्ययात्मक यज्ञो का भी उल्लेख मिलता है। सोम-यज्ञ इसी कोटि में आते है। इनमें तीन-तीन वेदियो, तीन-तीन अग्नियों और बहुसख्यक पुजारियो के साथ चार प्रमुख पुजारियों की आवश्यकता होती थी। यज्ञ की सामग्री जुटाने और पुजारियो को दक्षिणा देने मे यजमान को बहुत व्यय पडता था। इसी से इस प्रकार के यज्ञ प्राय राजाओ और मघवा (धनी) मनुष्यो के द्वारा ही किये जाते थे। ऋग्वैदिक काल में यज्ञो की बडी महिमा हो गई थी। वे श्रम-

१ ऋ० १०. ११४
२ ऋ० १०. ८८. १५. १०. १०७. २
३ ऋ० १. ३६. १४
४ ऋ० १०. ३७. ६
५ ऋ० ९. ११५
६ ओल्डेनबर्ग, ऐन्शेण्ट इण्डिया, पृ० ७१
७ ऋ० १. २. ९. २

रत्नदायक भी समझे जाते थे। ऋग्वेद का कथन है कि 'अग्नि देव ! जो मनुष्य तुम्हारा यज्ञ करता है वह स्वर्ग में चन्द्र बन जाता है।'[1] परन्तु ऋग्वेद के कुछ स्थलों से प्रकट होता है कि समाज का एक वर्ग यज्ञों की अपेक्षा स्तुति को ही अधिक महत्व-पूर्ण समझता था। इसी तत्व की ओर संकेत करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि इन्द्र के प्रति की गई स्तुति घृत अथवा मधु की अपेक्षा अधिक मधुर होती है।[2]

हिंसात्मक यज्ञ—ऋग्वेद में कहीं पर भी यज्ञ में मनुष्य-बलि का उल्लेख नहीं है। शुनःशेप[3] का उदाहरण एकमात्र अनैतिहासिक काल में किसी समय प्रचलित मनुष्य-बलि की प्रथा की ओर संकेत करता है।

हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वैदिक काल में अश्व-मेध यज्ञ में अश्व-बलि होती थी। कदाचित् कुछ अन्य यज्ञों में अन्य पशुओं की भी बलि दी जाती रही होगी।[4]

पितृ-पूजा—ऋग्वेद में देव-पूजा के साथ पितृ-पूजा की भी स्थापना हो गई थी। एक स्थान पर देवों और पितरों का साथ-साथ उल्लेख किया गया है।[5]

नैतिकता—ऋषियों ने बाह्य यज्ञों और स्तुतियों के साथ-साथ मनुष्य की अन्त शुचि और उसके अन्यान्य सद्गुणों पर भी जोर दिया था। ऋग्वेद में एक स्थान पर एक उपासक अपने आराध्य देव से प्रार्थना करता है कि 'हे देव ! यदि हमने अपने किसी सुहृद् के प्रति पाप किया हो, अपने किसी मित्र अथवा सहयोगी का अहित किया हो अथवा कभी अपने साथ रहने वाले किसी पड़ोसी अथवा अपरिचित को भी कष्ट दिया हो तो हमें इस पाप से मुक्त कर।'[6] दूसरे स्थान पर ऋषियों ने निर्धन, भूखे, असहाय मनुष्यों के प्रति उदार और दानशील होने की सम्मति दी है।[7] इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर दानशीलता को आवश्यक बताया गया है।[8] अन्य स्थलों पर जादू, टोना-टटका, धोखा, व्यभिचार आदि की घोर निन्दा की गई है।[9] इस प्रकार ऋग्वैदिक धर्म दैवतमय होने के साथ-साथ नैतिक भी था।

स्वर्ग और नरक—ऋग्वेद में पाप-पुण्य तथा स्वर्ग-नरक की कल्पना मिलती है। मृत्यु के पश्चात् (पुण्यकर्मा) मनुष्य सानंद स्वर्ग में रहता है।[10] इसके विरुद्ध पापकर्मा मनुष्य नरक में जाता है।[11] नरक की कल्पना एक निम्नस्तरीय अध कूप की भाँति की गई है।[12] ऋग्वेद अमरता का उल्लेख करता है[13], परन्तु मोक्ष का नहीं। कदाचित् उस समय तक मोक्ष के स्थान पर स्वर्ग ही मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य था।

आत्मा और पुनर्जन्म—ऋग्वैदिक ऋषि आत्मवादी था। वह आत्मा में विश्वास करता था।[14] ऋग्वेद में कुछ ऐसी भी ऋचायें[15] हैं जिनसे अनुमान होता है कि आर्य पुनर्जन्म को भी मानते थे। परन्तु इस विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

१ ऋ० २. २; १०. १. ३
२ ऋ० २.२.४.२०, ६.१५.४७
३ ऋ० १.२४.३०
४ ऋग्वेद, आप्री सूक्त
५ ऋ० १०.१५; १०.५४
६ ऋ० ५.८५.७
७ ऋ० १.२.६; ८.६.५.
८ ऋ० १०.१.१७
९ ऋ० ४.५.५, ७.१०४.८
१० ऋ० १.२५.६
११ ऋ० ४.५.५; १०.१३२.४; ९.७३.८;
१२ ऋ० १०.१२५.४, ९.७३.८
१३ ऋ० २.२ १०.१.३
१४ ऋ० १.१६४.३०, १०.५८
१५ ऋ० १.१६४.३०; ४.२७.१;

ग्राम—ऋग्वैदिक सभ्यता ग्राम्य थी। ग्राम ही तत्कालीन समाज की सबसे छोटी राजनीतिक एवं सामाजिक इकाई थी। आर्यों ने अपने प्रयाण में देश के वन्य प्रदेशों को काट-काट कर साफ कर लिया था और वहाँ अपने ग्रामों की स्थापना की थी। इस प्रकार सम्पूर्ण पंजाब और सिन्धु-प्रदेश में और तत्पश्चात् शेष उत्तरी भारत में बहुसंख्यक ग्रामो की स्थापना हो गई थी। सम्पूर्ण ऋग्वेद में कहीं पर भी नगरों के नाम नही मिलते। नगर-स्थापना ऋग्वैदिक काल की विशेषता नही है। उसका प्रादुर्भाव ब्राह्मण-काल मे होता है।

ग्राम की स्थिति—(१) प्रत्येक ग्राम मे आर्यों के निवास-गृह थे। ये गृह व्यक्तिगत सम्पत्ति समझे जाते थे। ऋग्वेद मे एक हारे हुए जुआरी का उल्लेख है। वह जुए में अपना गृह भी हार गया और विवश होकर उसे 'दूसरे के घर में' शरण लेनी पडी। 'दूसरे के गृहो की समृद्धि' को देख कर वह अपनी हीनावस्था पर सन्ताप करता है।[1] ऋग्वेद मे अन्य स्थलों पर भी व्यक्तिगत गृहो का उल्लेख मिलता है।[2] इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि ग्राम के गृह व्यक्तिगत सम्पत्ति थे और उनके स्वामियो को उन्हें खरीदने अथवा बेचने का पूर्ण अधिकार था। ऋग्वैदिक काल में सम्मिलित परिवार होते थे। अत अन्यान्य सम्पत्ति के समान गृह भी सम्मिलित परिवार की समान सपत्ति समझी जाती थी। कदाचित् परिवार के समस्त सदस्यों की ओर से पिता ही गृहों का क्रय-विक्रय करता था। इनके अतिरिक्त वहाँ सभा-भवन एवं ग्राम्य तथा राजकीय पदाधिकारियो के कार्यालय अथवा निवास-स्थान होते थे। कभी-कभी ग्राम मे पुर (दुर्ग) भी होता था। सामान्य गृह मिट्टी और लकड़ी के बनते थे, परन्तु पुर का निर्माण बहुधा लोहे और पत्थर से होता था। ऋग्वेद १०० दीवार वाले पुरो का भी उल्लेख करता है। बाह्य आक्रमण के समय यही पुर आर्यों की रक्षा करते थे। ग्राम-निवासियों के खेत भी उनके ग्राम में ही होते थे। यही आर्यों की जीविका और समृद्धि के प्रमुख साधन थे। गृहों की भाँति खेत भी व्यक्तिगत सम्पत्ति थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर अपाला अपने पिता अत्रि के खेतों की समृद्ध उपज के लिये प्रार्थना करती है।[3] ऋग्वेद में 'क्षेत्रपति' और 'उर्वरापति शब्द भी खेतो के व्यक्तिगत स्वामियो के लिये प्रयुक्त हुए हैं।[4] राजा अपनी प्रजा से कर के रूप में एकमात्र उपज का कुछ भाग ही ग्रहण कर सकता था।[5] वह भूमि का स्वामी न समझा जाता था। अतः अपनी इच्छा से वह किसी कुटुम्ब की पैतृक सम्पत्ति का क्रय, विक्रय अथवा हस्तान्तरण न कर सकता था।

(२) ग्राम के चारो ओर चरागाह होते थे। राय महोदय के मतानुसार ऋग्वेद[6] में 'गव्य' और 'गव्यति' शब्द चरागाह के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इन चरागाहों में सम्पूर्ण ग्राम का पशु-वर्ग निर्विशेष रूप से चरता था।[7] इससे अनुमान होता है कि ये चरागाह सम्पूर्ण ग्राम-वासियो की सम्मिलित सम्पत्ति समझे जाते थे।

(३) चरागाह के चारो ओर अरण्य थे।[8] ये वन-प्रदेश थे। इन पर

१ ऋ० १०.३४.१०-११
२ ऋ० ८.५४, ५५
३ ऋ० ८.९१.५-६
४ वैदिक इण्डेक्स १.९९
५ ऋ० १०.१७३
६ ऋ० १.२५.१६; ३.६२.१६; ५.६६.३
७ ऋ० १०.१९.३-४
८ ऋ० २.४.५; ६.२४.१०

किसी का अधिकार न था ; अथवा दूसरे शब्दो में, इन पर सबका अधिकार था जो भी मनुष्य इन्हें साफ कर अपना ले, ये उसी के हो सकते थे। साधारणतया इनमें वन्य पशु तपस्वी अथवा चोर-डाकू रहते थे।

कृषि—भारतवर्ष में प्रवेश करने के पूर्व ही आर्य खेती करना सीख गये थे। ईरानियों के धार्मिक ग्रथ जेन्द अवेस्ता में 'करश', हत्य और यर्यो' आदि शब्द मिलते है। ये क्रमश. ऋग्वेद के 'कृष', 'सस्य' और 'यव' से मिलते है। इनसे प्रकट होता है कि इण्डो ईरानी कृषि-कर्म में प्रचुर उन्नति कर चुके थे।

ऋग्वेद में कृष् धातु अनेक बार प्रयुक्त हुई है।[1] इससे कृषि-कर्म की लोकप्रियता प्रकट होती है। ऋग्वेद में उत्पन्न किये जाने वाले अन्नो मे यव और धान अथवा धान्य का उल्लेख है। यव को तो हम साधारण रूप में जौ के अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु धान अथवा धान्य का ऋग्वैदिक अर्थ कदाचित् धान (चावल) न हो। पजाब और सिंधु-प्रदेश की जलवायु धान की खेती के लिये उपयुक्त न थी। अत अनेक विद्वानों का मत है कि धान अथवा धान्य का अर्थ अन्न है। ऋग्वेद 'धान्यकृत्' का उल्लेख करता है। कदाचित् इसका अर्थ 'अन्न उत्पन्न करने वाला' था।

ईरानी अवेस्ता में 'हल-बैल' के उल्लेख मिलते हैं। अतः हमारा निष्कर्ष है कि ऋग्वैदक काल में भी खेती हल-बैल की सहायता से होती थी। ऋग्वेद का कथन है है कि अश्विन् देवताओं ने मनु को हल चलाना और यव की खेती करना सिखाया था।[2] यह ग्रथ बैलों से खीचे जाने वाले हल का भी उल्लेख करता है।[3] हल-बैल से भूमि की जुताई करने के पश्चात् उसमे बीज बोये जाते थे।[4] पके हुए अनाज को काटने के लिए हँसिया (दात्र अथवा सृणी) का प्रयोग होता था। कटा हुआ अनाज अलग-अलग गट्ठो (वर्ष)[5] मे बाँध कर अन्नहालय (खल)[6] में एकत्र किया जाता था। वहाँ वह पीटा अथवा कुचला जाता था जिससे कि अन्न से भूसा अलग हो जाय। तत्पश्चात् सर्प[7] की सहायता से भूसा उडा कर अन्न अलग कर लिया जाता था।

साधारणतया कृषक वर्षा-जल पर ही निर्भर रहते थे। ऋग्वेद मे स्थान-स्थान पर समय पर वर्षा के लिए प्रार्थनायें की गई हैं।[8] इसके अतिरिक्त कुए (अवत) के जल से भी सिंचाई होती थी।[9] चक्र के द्वारा कुँओं से पानी खीचा जाता था और वह नालियो के द्वारा खेतो तक पहुँचाया जाता था।[10] ऋग्वेद मे कुल्याओ (नहरो) का भी उल्लेख मिलता है।[11] इनके द्वारा पानी एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया जाता था।

कृषि एव तत्सम्बन्धी उपकरणों के उल्लेखो से प्रकट होता है कि ऋग्वैदिक काल में कृषि की प्रतिष्ठा स्थापित हो चुकी थी। वह मनुष्य की समृद्धि का कारण बन गया था। एक स्थान पर अपाला अपने पिता की खेती की समृद्धि के लिये प्रार्थना करती है।[12] ऋग्वैदिक देवता कृषि-कर्म में भाग लेते अथवा सहायता करते दिखाये गये हैं।

१ ऋ० १. १००. १०; १. १८९.३, ४. २१. २.
२ ऋ० १.११७. २१
३ ऋ० १०.१०६
४ ऋ० १०. १०३. ३-४
५ ऋ० १०. १३१.२
६ ऋ० १०. ४८. ७
७ ऋ० १०. १४. १३
८ ऋ० ४. ५७. १; ७. १०१. ३; १०.५०.३
९ ऋ० १. ११६.९; ८. ४९.६
१० ऋ० १. ५५. ८; १०. १०१. ६-७
११ ऋ० ३. ४५.३
१२ ऋ० ८. ९१. ५-६

सवप्रथम स्वयं अश्विन् देवताओं ने मनु को हल चलाना और यव की खेती करना सिखाया था।[१] अन्यत्र पूषन् देवता से हल चलाने की प्रार्थना की गई है।[२] एक स्थान पर सब कुछ हारे हुए जुआरी को यह राय दी जाती है कि वह कृषि कर्म करे जिससे उसे पत्नी, धन और पशु की प्राप्ति होगी।[३]

पशु-पालन—कृषि-कर्म के साथ पशु-पालन भी ऋग्वैदिक आर्यों का एक प्रमुख उद्यम था। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर पशु-धन की वृद्धि के लिये देवताओं से प्रार्थनायें की गई हैं। अनेक स्थलों पर पशुओं की चोरी के भी उल्लेख मिलते हैं। अन्य स्थलों पर चरागाहों में चरते हुए, अथवा घर वापस आते हुए पशुओं का उल्लेख हुआ है।

गाय—गाय आर्य-जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती थी। उसका दूध आर्यों के भोजन का प्रमुख अग था। 'दुहिता' शब्द से प्रकट होता है कि दूध दुहने का कार्य प्राय घर की पुत्रियाँ करती थी। उसका गोबर उपली बनाने के काम मे आता था। गाय के बछडे बैल होकर हल चलाते थे। पीछे हल-बैल का उल्लेख किया जा चुका है। गाय-बैल की खाल से थैले, आच्छादन आदि बनाये जाते थे।[४] यही नही, ऋग्वेद के अनेक स्थलो से प्रकट होता है कि गाय मुद्रा की भाँति प्रयुक्त होती थी। गौओ के लेन-देन से वस्तुये खरीदी और बेची जा सकती थी। अत गाय क्रय-विक्रय का माध्यम थी। गाय दक्षिणा मे भी दी जाती थी। गाय याज्ञिक अथवा धार्मिक कार्य करने वाले पुरोहित के दाहिने ओर खडी की जाती थी। इसी से गो-दान का नाम गो-दक्षिणा पड़ा।

ऋग्वेद मे यत्र-तत्र अथवा अतिथि-सत्कार के लिये गो-वध का उल्लेख मिलता है परन्तु अपनी उपयोगिता के कारण वह शनै-शनै. अवध्य मानी जाने लगी थी, ऋग्वेद मे अनेक बार उसके लिये 'अघ्न्या' शब्द का प्रयोग हुआ है।

भैंस—ऋग्वेद में अनेक स्थानो पर भैंस के उल्लेख मिलते हैं।[५] अपने दूध, मास और खाल के लिये यह भी एक आवश्यक पालतू पशु समझी जाती थी।

भेंड़-बकरी—ऋग्वेद मे अवि (भेंड) और अजा (बकरी) का उल्लेख अनेक बार हुआ है। ये दोनो पशु अपने दूध, मास अथवा ऊन के लिये उपयोगी समझे जाते थे। एक स्थान पर पूषन् देवता भेंड के ऊन का वस्त्र धारण किये हुए प्रदर्शित किया गया है।[६]

घोड़ा—आर्य-समाज में घोडा (अश्व) परम उपयोगी पशु था। युद्ध में उसकी विशेष उपयोगिता थी।[७] ऋग्वैदिक आर्यों की सेना में कदाचित् अश्वारोही भी होते थे। घोडा रथो और गाडियो को भी खीचता था। आर्य घुड़सवारी और घुड़दौड़ भी करते थे। गाय की भाँति घोडा भी दान-दक्षिणा मे दिया जाता था।[८] कदाचित् उसका मास भी खाया जाता था।[९]

हाथी—घोडे की भाँति हाथी का भी सामरिक और प्रदर्शनीय प्रयोजन था।

१ ऋ० १. ११७. २१
२ ऋ० ४. ५७
३ ऋ० १०. ३४. १३
४ ऋ० ६.४८. १८; ६.४९
५ ऋ० ५. २९.८; ६. १७. ११; ७. १२. ८
६ ऋ० १०. २६
७ ऋ० २. ३४. ३
८ ऋ० ८. ४६
९ ऋ० १. १६३.

सेना में कदाचित गजारोही भी होते थे।[1]

ऊँट—भारतवर्ष के पश्चिमी मरुस्थलीय प्रदेश में ऊँट की विशेष उपयोगिता थी। वह सवारी और बोझ ढोने के काम में लाया जाता था। बैल और घोड़े की भाँति ऊँट भी गाड़ी खींचते थे। ऋग्वेद में इस पशु का अनेक बार उल्लेख हुआ है।[2]

ऋग्वेद में उल्लिखत अन्य पालतू पशुओं में कुत्ता, सुअर, गदहा और हिरन प्रमुख हैं।

ऋग्वेद में अनेक प्रकार के व्यवसायों और व्यवसायानुसारियों का उल्लेख मिलता है। इनसे तत्कालीन आर्यसमाज की व्यावसायिक अवस्था पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

अयस्—ऋग्वेद में उल्लिखित धातुओं में प्रमुख है अयस्। परन्तु वास्तव में यह कौन सी धातु थी, इस पर विद्वानों में मतभेद है। संस्कृत के इस अयस् शब्द और अवेस्ता के अयरि तथा लैटिन के अएस शब्दों में साम्य देखकर स्रेडर महोदय ने यह विचार प्रकट किया था कि यह धातु न तो लोहा है और न काँसा। इसे विशुद्ध ताँबा समझना चाहिए जिसका प्रयोग इंडो-योरपीय लोग प्रचुर मात्रा में करते थे।[3] परंतु यह मत सर्वमान्य नहीं है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अयस् का अर्थ सोना और सीसा को छोड़ कर किसी भी अन्य धातु से हो सकता है।[4]

जो भी हो, इसमें सदेह नहीं है कि ऋग्वैदिक काल में अयस् का प्रयोग सबसे अधिक था। इस धातु से कवच शिरस्त्राण, वाण तथा अन्यान्य हथियार और औजार बनाए जाते थे।[5] इस प्रकार आर्य धातु गलाने और उसे पीट कर विभिन्न आकार देने में निपुण थे।[6]

सोना—इस धातु का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक बार हुआ है। भारतवर्ष में आने के पूर्व ही आर्य इस धातु से परिचित थे। ईरानी जेंद में इसका 'जरन्य' (संस्कृत-हिरण्य) के रूप में उल्लेख होता है। ऋग्वेद में 'हिरण्यपिण्ड' का उल्लेख है। निष्क आभूषण इसी धातु का बनता था।[7] धनिक वर्ग के अन्यान्य आभूषण भी सुवर्ण-निर्मित होते थे।[8] दान-दक्षिणा में भी सुवर्ण दिया जाता था।

चांदी—यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वैदिक आर्य इस धातु से परिचित थे अथवा नहीं। हाँ, अथर्ववेद में निश्चित रूप से रजत का प्रयोग मिलता है।[9]

तक्षन्—ऋग्वेद में तक्षन् अथवा त्वष्टा का उल्लेख मिलता है।[10] यह लकड़ी के काम करता था।[11] आधुनिक हिंदी में हम इसे बढ़ई कह सकते हैं। साधारण तक्षन् के अतिरिक्त ऋग्वेद रथकार का भी उल्लेख करता है। यह प्रधानतया रथों का निर्माण करता था।

१ ऋ० ८. ३३. ८
२ ऋ० ८. ५; ८. ४६
३ Prehistoric Antiquities p. 212.
४ शतपथ ब्रा० ५. १. २. १४
५ ऋ० १. २५. ३; ६. २७. ६; ७.७ २५; ५. ५३
६ ऋ० ६. ३४; ९. ९. १२
७ ऋ० ५. १९. ३
८ ऋ० १. १२२.१४; १०.८५. ८. ६. १३८. ३
९ अथर्व ५. २. २८
१० ऋ० ९. ११२. १
११ ऋ० १. १६१. ९; ३. ६०. २; १०. ८६. ५

कताई-बुनाई—ऋग्वेद में कपड़े के लिए वस्त्र[1], वास[2] और वसन[3] आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि ऋग्वैदिक आय सूत कातना और कपड़ा बुनना जानते थे। ऋग्वेद में 'वाय'[4] शब्द का प्रयोग जुलाहे के अर्थ में हुआ है और 'तसर'[5] शब्द का प्रयोग करघा के अर्थ में। इसी ग्रंथ में एक स्थान पर रात्रि-काल और उषाकाल की तुलना बुनाई के काम में लगी हुई दो नारियों से की गई है।[6] ऋग्वेद में प्रयुक्त 'सिरी'[7] शब्द का अर्थ कदाचित् बुनाई का काम करने वाली नारी है। वस्त्रों के ऊपर कढाई का काम करनेवाली नारी को 'पेशस्कारी' कहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में कताई, बुनाई और कढ़ाई के काम प्रायः नारियाँ ही किया करती थी।

ऋग्वेद में 'कर्पास' शब्द नही मिलता। अतः यह निश्चितरूप से नही कहा जा सकता कि सूती कपडे बनाने के लिए कपास के सूत का प्रयोग होता था अथवा नही। परतु ऊन (ऊर्ण) का प्रयोग ऋग्वैदिक काल में अवश्य होता था।

उस काल मे सिन्धु-प्रदेश[8] और गाधार-प्रदेश[9] अपने ऊन के लिए प्रसिद्ध थे। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, ऋग्वेद में एक स्थल पर पूषन् देवता को ऊनी वस्त्र धारण किए हुए दिखाया गया है।

कालान्तर के उल्लेखो को देखने से अनुमान होता है कि ऋग्वैदिक काल में सन, रेशम आदि से भी वस्त्र बनते होगे। समाज का निम्न, निर्धन तथा ब्रह्मचारियों एव तपस्वियो का वर्ग पशु-चर्म और वृक्ष-त्वचा को भी धारण करता था।[10]

चर्मम्न—चमडे का काम करने वाले चर्मम्न[11] कहलाते थे। पीछे कहा जा चुका है कि ऋग्वैदिक काल में पशु-चर्म से थैले और आच्छादन आदि बनते थे।[12] इनके अतिरिक्त चर्मम्न कोडे, लगाम और प्रत्यचा आदि भी बनाते थे।[13]

भिषक्—यह चिकित्सक अथवा वैद्य था। ऋग्वेद में अनेक बार इसका उल्लेख आया है। अश्विन् देवताओ के भिषक् थे। वे अधे को नेत्र और पगु को गति दे सकते थे।[14] उन्होने परावृज का अधापन और उसकी पगुता को दूर कर दिया था। उन्होंने च्यवन को फिर से यौवन-प्राप्ति करा दी थी।[15] युद्ध में जब विश्पला का एक पैर कट गया तो उन्होने उसके स्थान पर उसके एक लोहे का पैर लगा दिया। अश्विन् के अतिरिक्त ऋग्वेद कभी-कभी वरुण और रुद्र का भी भिषक् के रूप में उल्लेख करता है। एक स्थान पर टूटी हुई हड्डी के जोड़ने के लिए भिषक् प्रयत्न कर रहा है।[16] यक्ष्मा (तपेदिक) रोग का तो अनेक स्थलों पर उल्लेख है।[17] अन्यत्र 'औषधियों का वर्णन मिलता है।[18] इन सब उल्लेखों से प्रकट होता है कि भिषक् का व्यवसाय काफी विकसित हो चुका था।

१ ऋ० १. २६. १; ३. ३९. २
२ ऋ० १. ३४. १; ८. ३. २४
३ ऋ० १. ९५. ७
४ ऋ० १०. २६. ६
५ ऋ० १०. १३०. २
६ ऋ० २. ३८
७ ऋ० १०. ७१. ९
८ ऋ० १०.७५.८
९ ऋ० १.१२६.६
१० ऋ० १०. १३६.
११ ऋ० ८. ५. ३८
१२ ऋ० ८०. १०६. १०
१३ ऋ० १. १२१. ६; ६.४७. २६; ६. ७५.२;
१४ ऋ० १. ११६. १६; ८, १८. ८; १०.३९. ३
१५ ऋ० १. ११६. १०
१६ ऋ० ९. ११२. १
१७ ऋ० १. १२२. ९; १०. ८५. ३१
१८ ऋ० १०.९.७

ऋग्वेद में कहीं पर भी कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि अमुक व्यवसाय अमुक वर्ग के लिए ही निर्धारित था और उस वर्ग को छोड कर अन्य कोई भी वर्ग उस व्यवसाय का अनुसरण न कर सकता था। ऋग्वेद की ऋचाओ के रचयिता ब्राह्मणो के अतिरिक्त राजन्य भी थे। पशु-पालन और व्याज पर रुपए का लेन-देन एकमात्र वैश्य समुदाय ही न करता था वरन् इन कामों को अन्य समुदायो के मनुष्य भी करते थे। समाज में समस्त कार्यों की प्रतिष्ठा थी। व्यवसाय के आधार पर ऊँच-नीच की भावना का अभी तक उदय न हुआ था।

दास—ऋग्वैदिक काल मे दास-प्रथा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। ऋग्वेद में दासों की प्राप्ति के लिए प्रार्थनायें की गई हैं। अनेक स्थलो पर दासो को उपहार के रूप मे दिए जाने का भी उल्लेख है।[1] कदाचित् दासो से घर के विविध कार्य कराए जाते थे परतु सामान्यतया वे परिवार के सदस्य की भाँति समझे जाते थे और उनके साथ सौजन्यपूर्ण व्यवहार किया जाता था। ऋग्वेद मे एक स्थान पर दासो के कल्याण के लिए भी प्रार्थना की गई है। इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

व्यवसायिक संघ—ऋग्वेद में 'गण' और 'व्रात' के उल्लेख मिलते हैं।[2] कालान्तर मे इनका प्रयोग व्यावसायिक संघ के अर्थ में होता था। बहुत सम्भव है कि ऋग्वैदिक काल मे भी कुछ व्यवसायो ने अपने संगठन अथवा सघ बना लिये हो। परन्तु उनकी रूप-रेखा और कार्य-प्रणाली का हमे कुछ भी ज्ञान नही है।

विदेशी व्यापार—ऋग्वेद मे 'समुद्र' शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है।[3] एक स्थान पर तुग्र के पुत्र भुज्यु की समुद्र-यात्रा का वर्णन है। मार्ग में उसके जल-यान भग्न हो गये। आत्मरक्षा का कोई उपाय न देख कर उसने अश्विन् देवताओ से प्रार्थना की। अश्विन् ने दयार्द्र होकर उसकी तथा उसके सहगामियो की रक्षा के लिये सौ पतवारो वाली एक नाव भेज दी।[4] अधिकाश पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि ऋग्वेद में प्रयुक्त समुद्र का अर्थ एकमात्र विशाल जल-समूह से है। अत जहाँ कहीं समुद्र का प्रयोग हुआ है वहाँ उसे सिन्धु नदी का निचला जल-प्रवाह ही समझना चाहिए जो अनेक सहायक नदियो के मिल जाने से वेगवान् और विशाल हो गया है। इस प्रकार समुद्र का यह अर्थ ग्रहण करके इन विद्वानो ने यह मत प्रतिपादित किया है कि ऋग्वैदिक आर्यों की जल-यात्राये देश की नदियो तक ही सीमित थी। वे खुले समुद्रो मे न जाते थे। परन्तु यह मत असगत प्रतीत होता है। कही-कही 'समुद्र' को स्वाभाविक अर्थ मे ही ग्रहण करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। सौ पतवारों वाली नाव का प्रयोग नदी की अपेक्षा सागर में ही अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। यही मत मैकडानल और कीथ का है। वे 'वैदिक इण्डेक्स' मे कहते है कि ऋग्वेद मे समुद्र के उल्लेख है, कदाचित् मोतियो और व्यापारिक लाभ के भी। भग्न जलयान भुज्यु की कहानी सामुद्रिक यात्रा की ओर सकेत करती प्रतीत होती है।[5]

सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं का विदेशों के साथ सम्पर्क था। अत सम्भवत उनके अनुगामी आर्यों का भी कुछ विदेशो के साथ सम्पर्क रहा होगा।

धनी और निर्धन वर्ग—सरल ऋग्वैदिक समाज मे भी आर्थिक असमता उत्पन्न

१ ऋ० ३. ४६. ३२; ८. ५६. ३
२ ऋ० ५.५३.११; १०.३४
३ ऋ० १.२५.७; १.६६.२
४ ऋ० १.११६.३-५
५ Vedic Index II pp. 431-38

हो गई थी। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि जिस प्रकार एक ही गाय से उत्पन्न दो गायें बराबर-बराबर दूध नहीं देती, जिस प्रकार दो जुड़वा भाइयों की भी शक्ति बराबर नहीं होती, उसी प्रकार समस्त मनुष्यो की समृद्धिशालिता और दानशीलता बराबर नहीं होती।[1]

ऋग्वेद में महाकुल और मघवा नरेशो तथा मनुष्यो का उल्लेख मिलता है।[2] ये अपनी समृद्धि और दानशीलता के लिये प्रसिद्ध थे। ऋग्वेद का कथन है कि पियुश्रवा ने ६०,००० मुद्रायें, १०,००० गायें और २००० ऊँट दान में दिये थे।[3] दूसरे स्थान पर विभिन्द के ४८,००० मुद्राओ के दान का उल्लेख है।

परन्तु इस धनी वर्ग के साथ समाज मे निर्धन वर्ग भी था जो अपनी उदर-क्षुधा की शान्ति के लिये दूसरो का मुँह ताकता था।[4] ऐसे भूखे और नगे जन-समुदाय का भरण-पोषण करना धनिक वर्ग का कर्तव्य समझा जाता था।[5]

आर्य-सभ्यता पर विदेशी प्रभाव—मैक्स मूलर, स्नेडर आदि विद्वानो ने इण्डो-योरोपीय और इण्डो-आर्य सभ्यताओ का तुलनात्मक अध्ययन किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि भारतवर्ष मे आने के पूव आर्यो की सस्कृति अविकसित अवस्था मे थी। वे प्रमुखतया पशु-पालन पर निर्वाह करते थे और चरागाहो की खोज मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते थे। उन्होने कृषि की बहुत कम उन्नति की थी। उनमे भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे प्रतिष्ठित न हुई थी। वे अधिकाश उद्योग-धन्धो और ललित कलाओ से अपरिचित थे। परन्तु जैसा कि पिछले वर्णन से स्वत प्रकट होगा, भारतीय आर्य इन सब बातो मे इण्डोयोरपीय लोगो से कही अधिक उन्नतिशील थे। अत प्रश्न यह उठता है कि भारतीय आर्यों के इस चतुर्दिक विकास का कारण क्या था। कुछ विद्वानो ने इस विकास का मूल कारण (१) सेमेटिक प्रभाव और कुछ ने (२) द्राविड प्रभाव बताया है। प्रथम मत के प्रधान प्रतिपादक होमेल महोदय और द्वितीय मत के प्रधान प्रतिपादक हाल महोदय थे।

(१) **सेमेटिक प्रभाव**—पीछे बोगज-कोइ और एल-अमर्ना के साक्ष्यों का उल्लेख किया जा चुका है। प्रथम साक्ष्य मित्र, वरुण, इन्द्र आदि आय देवताओ का उल्लेख करता है। द्वितीय साक्ष्य मे बैबिलोनिया के राजाओ—अर्तमन्य, अर्जविय, यशदत, शुत्तर्न आदि—के नाम मिलते हैं। ये भी आर्य नामो से मिलते-जुलते है। इनसे प्रकट होता है कि लगभग १४०० ई० पू० आर्यों का मेसोपोटामिया और सीरिया की सेमेटिक जातियो के साथ सम्बन्ध था। परतु इस सेमेटिक सम्पर्क और सबध ने भारतीय आर्यों की सस्कृति को कहाँ तक प्रभावित किया यह निश्चित-रूप से नही कहा जा सकता। यह भी निर्विवाद रूप से नही कहा जा सकता कि भारत में प्रवेश करने के पश्चात् आर्यों का इन देशो के साथ सबध बना रहा था अथवा नही। कम से कम ऋग्वेद इस विदेशीय सबध का उल्लेख नही करता। ऐसी अवस्था मे यह कथन कि भारतीय आर्यों का सांस्कृतिक विकास सेमेटिक प्रभाव की देन है, न्यायसगत प्रतीत नही होता।

द्राविड़ प्रभाव—हाल महोदय का मत था कि द्राविड भारतवर्ष के मूल-निवासी थे। इन्हीं की एक शाखा सुमेरिया में जाकर बस गई और वह सुमेरियन

१ ऋ० १०.११७-९
२ ऋ० १.३१.१२; २.६.४; ६.२७.८
३ ऋ० ८.४६
४ ऋ० १०.११७
५ वही

कहलाई। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से द्राविड़-सभ्यता बड़ी उन्नत थी। भारतवर्ष में जब आर्य आये तो उनका इन्ही द्राविड़ो के साथ सम्पर्क और सम्बन्ध स्थापित हुआ। कालान्तर में द्राविड़ सभ्यता के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप ही आर्य-सभ्यता विकसित हुई।[1]

इसमें कोई सन्देह नही कि द्राविड़ भारतवर्ष के मूल-निवासी थे जिन्हे आर्यों ने शत्रुता-वश दस्यु, दास आदि अपमानजनक नामो से सम्बोधित किया था। स्वय ऋग्वेद के ही साक्ष्य से प्रकट होता है कि द्राविड़ सभ्यता पर्याप्त रूप से विकसित थी। इसमें भी कोई सन्देह नही है कि द्राविडो के सम्पर्क ने आर्य-सभ्यता के विविध क्षेत्रो पर प्रभाव डाला होगा। परन्तु यह कथन कि आर्य सभ्यता का सम्पूर्ण विकास मूलत' द्राविड़ सभ्यता के प्रभाव का परिणाम है, अतिरजनपूर्ण है। ऋग्वेद आर्य-सभ्यता की स्वतन्त्र स्थिति और अभ्युन्नति की ओर सकेत करता है। वह मूलत. आर्यों के सामूहिक अध्यवसाय का परिणाम थी। उसके प्रमुख अग आर्य ही थे। अपने आदितम रूप मे भी वह अत्यन्त विकसित थी। उसमे कही भी बर्बरता दृष्टिगत नही होती। फिर यह कैसे मान लिया जाय कि आर्य स्वत बर्बर थे और सभ्यता का पाठ उन्होने द्राविडो से ही सीखा? अत हमारा निष्कर्ष है कि आर्य सभ्यता मूलत. स्वजातीय श्रम और बुद्धि का परिणाम थी। भारतवर्ष के प्राकृतिक साधनों की अनुकूलता ने उसे अग्रसर करने मे अभूतपूर्व बल दिया। द्राविडो की अहर्निश शत्रुता ने आर्यों के समक्ष जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित कर दिया था। अत. ऐसी विकट परिस्थिति मे आर्यों ने अपनी अन्तर्निहित शक्ति का प्रतिकण अपनी सभ्यता के सवर्धन और सरक्षण मे लगाया होगा, इसमें कोई सन्देह नही। शरीर और बुद्धि के इस परम योग ने ही उनकी सभ्यता की आशातीत उन्नति की थी। कालान्तर मे द्राविड और आर्य सभ्यताओ के पारस्परिक सम्पर्क और सम्बन्ध ने एक दूसरे को प्रभावित किया था, यह सत्य है। परन्तु यह प्रभाव दोनो पक्षो पर पडा। ऐसी अवस्था में आर्यों के सांस्कृतिक विकास का एकमात्र द्राविड सभ्यता की देन कहना उचित नहीं है।

क्रय-विक्रय का माध्यम

वस्तु-विनिमय—पूर्ववर्णित ऋग्वैदिक सभ्यता किसी अल्पकाल की उत्पत्ति न थी। उसके विकास मे दीर्घकाल लगा था। प्रारम्भ मे आर्यों का जीवन अति सरल था। उनकी आवश्यकतायें भी कम थी। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति अथवा परिवार अपनी आवश्यक वस्तुयें उत्पन्न अथवा निर्मित कर लेता था। यदि कभी उसे किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता पडती थी जो उसके पास न होती थी तो वह उसे किसी दूसरे व्यक्ति से ले लेता था और उस वस्तु के बदले दूसरे व्यक्ति को कोई अन्य वस्तु दे देता था। इस प्रकार जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति आदान-प्रदान के आधार पर होती थी। यही क्रय-विक्रय का आदितम रूप था। किसी भी एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु को खरीद लेना वस्तु-विनिमय (Barter System) कहलाता है। आर्य भी प्रारम्भ में यही करते होंगे, इसमे कोई सन्देह नही। वस्तु विनिमय व्यापारिक सम्बन्ध का सरलतम और आदितम रूप है। इसकी उपयोगिता इसी बात से समझी जा सकती है कि आज भी हमारे समाज मे, विशेष-

1. The culture of India is pre-Aryan and the Aryan Indian owed his civilisation and degeneration to the Dravidians' —Hall, Ancient History of the Near East, p. 174.

तथा गाँवों में, वस्तु-विनिमय चलता है। आज भी सभ्य मनुष्य एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु ग्रहण करते हैं। पाणिनि के एक सूत्र से प्रकट होता है कि वस्त्र के बदले में कुछ वस्तुएँ खरीदी जा सकती थी।[1]

निश्चित माध्यम गाय—परन्तु जैसे-जैसे आर्यों का जीवन जटिल होता गया और उनकी आवश्यकतायें बढ़ती गई वैसे ही वैसे वस्तु-विनमय अनुपयुक्त सिद्ध होता गया। आर्यों को किसी ऐसे निश्चित माध्यम की आवश्यकता हुई जिसके द्वारा व्यापारिक क्रय-विक्रय अधिक सुगमता से हो सके। पशु-पालन को प्रधान व्यवसाय समझने वाले आर्यों के लिए 'गाय' से अधिक मूल्यवान माध्यम और क्या हो सकता था? अत ऋग्वेद मे हम गाय को 'मुद्रा' के रूप में प्रतिष्ठित पाते हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्द्र-प्रतिमा का मूल्य १० गाय कहा गया है।[2] दूसरे स्थान पर प्रकट होता है कि गाय के बदले में सोम का पौदा खरीदा जा सकता है।[3] राजकर के रूप में तो पशु और अन्न दोनो ही दिये जा सकते थे।

निष्क—व्यापारिक तथा व्यावसायिक वृद्धि के साथ ही साथ मुद्रा के रूप में गाय का प्रयोग दुष्कर प्रतीत होने लगा। अब आर्य किसी ऐसे माध्यम की खोज में थे जो गाय की अपेक्षा अधिक सुवह, सुस्थिर और निश्चित हो। अत. उनकी दृष्टि धातुओ पर पडी। शीघ्र ही उन्होने धातु को व्यापारिक माध्यम के रूप में प्रयुक्त करना प्रारम्भ कर दिया। भारतवर्ष में चाँदी बहुत कम मिलती थी। परन्तु यहाँ सोने की प्रचुरता थी। पुन अपने सुन्दर वर्ण के कारण सोना अधिक आकर्षक भी था। अत. आर्यों ने धातुओ में सवप्रथम सोने को ही अपना माध्यम बनाया।

ऋग्वेद मे 'निष्क' शब्द मिलता है। वास्तव में यह क्या था, इस पर विद्वानो मे मतभेद है। ऋग्वेद में एक स्थान पर 'निष्कग्रीव' का प्रयोग मिलता है।[4] दूसरे स्थान पर कहा गया है कि उषादेवी उन व्यक्तियो के दुस्वप्नों का प्रभाव दूर कर देती है जो निष्क पहनते है।[5] तीसरे स्थान पर रुद्र को विश्वरूप निष्क धारण किये हुए बताया गया है।[6] सायण ने निष्क अर्थ बताते हुए लिखा है कि 'निष्कसुवर्णेन अलकृता ग्रीवा'। इससे प्रकट होता है कि निष्क हँसली अथवा हार की भाँति गले में पहना जाता था।

परन्तु कही-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि निष्क का अर्थ एकमात्र आभूषण नहीं है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में एक स्थान पर एक ब्राह्मण को राजा से १०० निष्क प्राप्त होते हैं।[7] यहाँ पर १०० निष्क का अर्थ १०० आभूषण नही हो सकता। इस पर मैकडानल और कीथ कहते हैं कि 'ऋग्वेद तक मे ऐसे सकेत मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि निष्क एक प्रकार की मुद्रा क रूप में प्रयुक्त होता था। एक गायक १०० घोड़ों और १०० निष्कों का दान ग्रहण करता है। एकमात्र व्यक्तिगत अलकरण के लिये ही वह (इतने) निष्क ग्रहण नही कर सकता था।'[8]

ऐसा अनुमान होता है कि प्रारम्भ में निष्क आभूषण था, परन्तु कालान्तर में उसका प्रयोग मुद्रा के रूप में भी होने लगा था। यह नितान्त स्वाभाविक था। बार्कर महोदय अपनी 'Theory of Money' नामक पुस्तक में लिखते हैं

१ पाणिनि ५.१.२७—शतमानविंश-तिकसहस्रवसनादण
२ ऋ० ४. २५. १०
३ ऋ० ८. ३२. २०
४ ऋ० ५. १९. ३
५ ऋ० ८. ४७. १५
६ ऋ० २.३३.१०
७ ऋ० १. १२६. २
८ Vedic Index 1-455.

कि 'प्रायः यह निश्चित है कि बहुमूल्य धातुएँ भी मुद्रा के रूप में प्रयुक्त हुई हैं, केवल इसी लिये कि वे पहले आभूषणो के रूप में प्रयुक्त हो चुकी थी।' यह सिद्धात 'निष्क' के विषय मे पूर्णत. चरितार्थ होता है।

परतु मुद्रा के रूप मे निष्क का तब तक प्रयोग न हो सकता था जब तक कि उनकी एक निश्चित तौल न रही हो। डाक्टर डी० आर० भण्डारकर का मत है कि निश्चित तौल के होने के अतिरिक्त निष्क पर कुछ चित्र और अक भी खुदे रहते थे। तभी ऋग्वेद में एक स्थान पर निष्क को 'विश्वरूप' '(समान चित्रो वाला) कहा गया है। डाक्टर भण्डारकर का यह भी मत है कि निष्क प्रथमत मुद्रा ही थे। जिस प्रकार आज भी कभी-कभी कुछ व्यक्ति मुद्राओं का हार पहने दिखाई देते हैं उसी प्रकार ऋग्वैदिक काल में भी लोग निष्क मुद्राओ को हार मे पिरो कर पहनते थे।

हिरण्यपिड—ऋग्वेद में 'हिरण्यपिण्ड' का उल्लेख मिलता है। एक स्थान पर एक राजा एक पुरोहित को १० हिरण्यपिंड देता है।[1] १० की सख्या से अनुमान होता है कि सब हिरण्यपिंड एक ही तौल के होगे। डाक्टर भडारकर का मत है कि ऋग्वैदिक काल मे निष्क चित्रपूर्ण और अकपूण मुद्रा थी, परतु हिरण्यपिड चित्रविहीन और अकविहीन मुद्रा। अत हिरण्यपिड से पिटे हुए सोने का एक निश्चित तौल, मूल्य और आकार का पिड समझना चाहिए।

अन्य माध्यम—ऋग्वेद में कभी-कभी दान-दक्षिणा की एकमात्र सख्या मिलती है। वह किसी वस्तु अथवा मुद्रा की सख्या है, इसका उल्लेख नही मिलता। उदाहरणार्थ, एक स्थान पर त्र्यरुन १०,००० का दान देता है।[2] इसी प्रकार के अन्य कथन भी मिलते है।[3] यहां पर कदाचित लेखक का तात्पर्य किसी निश्चित मुद्रा अथवा तौल से है। यह मुद्रा अथवा तौल इतनी ख्यात एव लोकविदित थी कि उसका उल्लेख अनावश्यक समझा गया।

१ ऋ० ६.४७.२३
२ ऋ० ५.२७.१
३ ऋ० ८.६.४६.४७

७

उत्तरवैदिक काल

उत्तरवैदिक काल से हमारा तात्पर्य उस काल से है जिसमे अन्य तीनों वेदो-यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद-ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों की रचना हुई थी। यह दीर्घ काल है। इसमे आर्य-सभ्यता का विस्तार और विकास हुआ। वह पजाब से आगे शेष उत्तरी भारत और फिर दक्षिणी भारत में भी फैलने लगी। यद्यपि उसके आधारभूत सिद्धान्त बहुत-कुछ ऋग्वैदिक सभ्यता के ही समान हैं तथापि आर्यों के स्वजातीय अनुभव और ज्ञान तथा विजातीय सम्पर्क ने उसे अधिकाधिक समृद्ध करना प्रारम्भ कर दिया था।

भौगोलिक ज्ञान—ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा उत्तर-वैदिक काल के आर्य का भौगोलिक ज्ञान कही अधिक था। अब आर्य एकमात्र पजाब अथवा सिन्धु-प्रदेश तक ही सीमित न रहे। अथर्ववेद मे पजाब के अतिरिक्त महावृषों, वाल्हीकों, मूजवन्तो और गन्धारियो के प्रदेशो से ले कर अग और मगध तक के सम्पूर्ण उत्तर भारत का उल्लेख हुआ है।[1] परन्तु इन प्रदेशों की जनता को शूद्र समझा गया है। इससे प्रकट होता है कि अभी तक इन प्रदेशो का आर्यीकरण न हुआ था। यही नहीं, ऐतरेय आरण्यक के एक अश के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि आर्य उत्तर में वग और दक्षिण में चेर तक के प्रदेशो से परिचित हो चुके थे।[2] उपनिषदों में पूर्वी भारत के मिथिल-राज्य का बार-बार उल्लेख हुआ है। यहाँ के राजा जनक अपनी विद्वता के लिए दूर-दूर तक प्रख्यात थे। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा भीम को 'वैदर्भ' कहा गया है।[3] इसका अर्थ है कि दक्षिण में विदर्भ तक आर्यों का विस्तार हो चुका था। इसी ग्रन्थ में आन्ध्रो का भी उल्लेख है।[4] यद्यपि आन्ध्र-देश तक के सम्पूर्ण दक्षिणी भारत का आर्यीकरण न हुआ था तथापि यह सम्भव है कि आर्य दक्षिणी भारत के एक बहुत बड़े भाग से परिचित हो गए हों।

ग्राम और नगर—आर्य जैसे-जैसे आगे बढ़ते गए वैसे ही वैसे वे भारत के वनों को साफ करते गए और वहाँ अपने ग्रामों की स्थापना करते गए। शतपथ ब्राह्मण दीर्घारण्यो का उल्लेख करता है।[5] ऐतरेय ब्राह्मण भी पूर्वी भारत के वनों का वर्णन करता है।[6] इन पूर्वी प्रदेश के वनो का शनै. शनैः विनाश किया जा रहा था

१ अथर्व० ५. २२. १४

२ ऐतरेय आरण्यक २. १.१—इमाः प्रजाः वंगा...वगाधाः चेरपावा...।

३ ऐत० ब्रा० ७. ३४. ९

४ वही ७. १७. १८

५ शतपथ ब्रा० १३. ३. ७. १०

६ ऐत० ब्रा० ३.४४

जहाँ तक पश्चिमी भारत का प्रश्न है, वहाँ अतिसंख्यक ग्रामो की स्थापना हो चुकी थी।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि जनसंख्या की और साधनो की वृद्धि के परिणाम-स्वरूप छोटे ग्राम बडे ग्रामो में और बडे ग्राम नगरो मे विकसित हो रहे थे। जमिनीय उपनिषद ब्राह्मण महाग्रामो का उल्लेख करता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे जानश्रुतेय को 'नगरिन' कहा गया है। इसका अर्थ है कि नगर-निवासी।

परन्तु प्रमुखतया आर्य-जीवन ग्रामो मे ही संगठित था। साधारणतया ग्रामो के ऊपर ग्रामीणो का ही साम्पत्तिक अधिकार था। राजा एकमात्र राजकर का अधिकारी था। वह ग्राम की भूमि का मौलिक स्वामी न था। अथर्ववेद में एक स्थान पर ग्राम की कुछ भूमि पर हिस्सा दिलाने के निमित्त राजा के लिए प्रार्थना का उल्लेख है।[२] इससे प्रकट होता है कि राजा सम्पूर्ण भूमि का स्वामी न समझा जाता था। हाँ, क्रय-विक्रय अथवा जन-सम्मति के आधार पर राजाओ के अधिकार मे भी बडे-बडे भूमि-खण्ड आ गए थे। यही कारण है कि कालान्तर मे हम राजाओ द्वारा किये गए भूमि-दानो का उल्लेख पाते है। उदाहरणार्थ, राजा जानश्रुति ने रैक्क को एक ग्राम दान में दिया था।[३]

गृह—प्रत्येक ग्राम में अनेक गृह होते थे। ये भी व्यक्तिगत मनुष्यो की सम्पत्ति समझे जाते थे।[४] प्रत्येक गृह मे माता-पिता, भाई-बहन आदि सब सम्मिलित रूप से रहते थे। अथर्ववेद में एक स्थान पर एक नेता के निरीक्षण मे संचालित सम्मिलित परिवार में सुमति और एकता के निमित्त प्रार्थना की गई है।[५] परिवार का यह नेता प्रमुखतया पिता होता था। परिवार के सदस्यो के ऊपर, विशेषतया अपनी सन्तान के ऊपर पिता के अधिकार विशाल थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अजीगर्त ने अपने पुत्र शुन शेप को १०० गौओ पर बेच दिया था तथा विश्वामित्र ने अपनी आज्ञा का उल्लघन करने के कारण अपने ५० पुत्रो को घर से निकाल दिया था। परन्तु ये उल्लेख अपवाद-स्वरूप हैं। साधारणतया पिता अपने 'समान' और 'सजात' सदस्यो के प्रति अत्यन्त सौहार्दपूर्ण और उदारतापूर्ण रहता था। उसकी सम्पत्ति पर सब पुत्रो का अधिकार होता था। आवश्यकता पडने पर वे अपने पिता के जीवन-काल मे ही अपनी सम्पत्ति का विभाजन भी कर सकते थे।[६]

गाँव के घर कच्ची और पक्की ईटो, मिट्टी, बाँस तथा अन्यान्य लकडी की सहायता से बनते थे। पहले ईट और मिट्टी के स्तम्भ[७] बनाये जाते थ। फिर इन पर बड़े-बड़े लट्ठो से छत बनाई जाती थी। यह छत घास-फूस और खर इत्यादि से पाटी जाती थी।[८]

प्राय घर मे अनेक कक्ष होते थे जिनमें सम्मिलित परिवार के सब सदस्य रहते थे। निवास-कक्षो के अतिरिक्त उसमे अग्निशाला, अतिथिशाला और पशुशाला आदि की व्यवस्था रहती थी। घर में पर्यक (पलग), आसन्दी (कुर्सी), प्रोष्ठ (बच), पात्र (बर्तन), कलश (घडे), टोकरियाँ, चाकू, चम्मच आदि अनेक प्रकार की दैनिक उपयोगिता की सामग्री रहती थी।

पुत्री—अन्यकालीन समाजों की भाँति उत्तरवैदिक काल के समाज मे भी पुत्र की अपेक्षा पुत्री की अवस्था हीन थी। अथर्ववेद मे पुत्री के जन्म पर खिन्नता का

१ वही
२ अथर्व० ४.२२.२
३ छान्दोग्य उप० ४.२.४
४ वही ७. २४. २
५ अथर्व० ३. ३०
६ ऐत० ब्रा० ५. १४
७ यजुर्वेद १४
८ अथर्व० ९. ९

लेख है।[१] ऐतरेय ब्राह्मण पुत्री को 'कृपण' कहता है।[२] तैत्तिरीय संहिता के एक [३] के आधार पर जिमर महोदय ने यह मत प्रतिपादित किया था कि नवजात को बहुधा फेंक दिया जाता था। परंतु उस अंश का वास्तविक आशय यह है कि तिरेक के कारण मनुष्य उत्पन्न हुए पुत्र को तो ऊपर उठा लेता था, परंतु कन्या पर उसे एक ओर पृथ्वी पर रख देता था। इस प्रकार यहाँ कन्या के बहि.क्षेप कोई उल्लेख नहीं है। कन्या के बहि क्षेप की बात तो दूर रही, उत्तर-वैदिक काल ह नितांत उपेक्षित भी न थी। बृहदारण्यक उपनिषद् में धीमती कन्या के जन्म निमित्त विधि-नियम बताये गये हैं।[४]

विवाहावस्था—छान्दोग्य उपनिषद् एक उषस्ति ब्राह्मण का उल्लेख करता है कुरुदेश में अपनी 'आटकी' पत्नी के साथ रहता था।[५] शकर ने 'आटकी' का अर्थ ा-वयस्का (अनुपजातपयोधरा) स्त्री बताया है। इस आधार पर कुछ विद्वानों ह मत प्रस्तुत किया है कि उत्तर वैदिक काल में विवाह अल्पावस्था में होता था। तु शकर ने 'आटकी' का जो अर्थ किया है वह ठीक नही प्रतीत होता। कदाचित् टकी' शब्द 'इटन्त्' अथवा 'इट्' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है 'घूमना'। र्युक्त ब्राह्मण-दम्पत्ति निर्धन थे। अतः वे भिक्षार्जन के लिय घूमते होगें। यह सम्भव है कि आटकी उस ब्राह्मण स्त्री का व्यक्तिगत नाम हो। सम्पूर्ण वैदिक न में कहीं पर भी बाल-विवाह की प्रथा का प्रचलन नही मिलता।

विवाह आवश्यक—अथर्ववेद ऐसी कन्याओं का उल्लेख करता है जो अविवा- रूप में आजीवन अपने माता-पिता के साथ रहती थी।[६] परंतु सामान्यतया ववाहित रहने की प्रथा न थी। अविवाहित पुरुष को यज्ञ का अधिकार न था।[७] ा स्त्री के वह स्वर्ग नहीं जा सकता।[८] मनुष्य स्वय अपूर्ण है। स्त्री उसे पूर्ण ती है।[९] यज्ञादि के लिये पुत्र आवश्यक था और उसकी प्राप्ति के लिये विवाह ।[१०]

बहुविवाह—ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि एक पुरुष के अनेक पत्नियाँ हो ती हैं किन्तु एक स्त्री के अनेक पुरुष नहीं हो सकते।[११] इससे प्रकट होता है कि ाज में पुरुष के बहुविवाह होते थे। स्वय याज्ञवल्क्य के मैत्रेयी और कात्यायनी पत्नियाँ थी।[१२] ऐतरेय ब्राह्मण हरिश्चन्द्र की १०० पत्नियों का उल्लेख करता [१३] परंतु बहुविवाह के अधिकांश उदाहरण धनी एव राजकीय वर्गों में ही मिलते ऐसा प्रतीत है कि सामान्य मनुष्य केवल एकपत्नीक ही था।

एकपतिकता—पीछे ऐतरेय ब्राह्मण का उल्लेख दिया जा चुका है जिसमें ा गया है कि एक स्त्री के अनेक पति नही हो सकते।[१४] यही मत तैत्तिरीय संहिता भी है।[१५] परंतु कुछ विद्वानों ने सहपतिकता सिद्ध करने की चेष्टा की है। का कथन है कि साहित्य में स्त्री के पति के लिये कभी-कभी बहुवचन का प्रयोग

वही ६.२.३;
एत० ब्रा० ३३.१
तत्तिरीय संहिता ६.५.१०.३
बृह० उप० ६.४.२७
छान्दोग्य उप० १.१०.१.
अथर्व० १.१४.३
शत० ब्रा० ५.१.६.१०
ऐत० आरण्यक १.२.५
९ शतपथ ब्रा० ५.२.१.१०
१० ऐत० ब्रा० ३३.१.
११ ऐत० ब्रा० १२.११
१२ बृह० उप० ४.५.१-२
१३ ऐत० ब्रा० ३३.१
१४ वही, १२.११
१५ तैत्ति० संहिता ६.६.४.३

मिलता है।[1] अतः स्त्री के अनेक पति रहे होंगे। परतु यह धारणा असगत है। पति के लिये बहुवचन का प्रयोग सम्मानार्थ ही हुआ है। इसी प्रकार कहीं-कहीं पर पुत्र का नाम माता के नाम पर रक्खा हुआ मिलता है। कुछ विद्वानो का मत है कि स्त्री के अनेक पति होने के कारण ही माताओं के नाम पर पुत्रों के नाम रखने की आवश्यकता पड़ी थी। यह निष्कर्ष भी असगत है। माताओं के नाम पर रख गए पुत्रों के नाम एकमात्र उनकी माताओं की विद्वत्ता अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा सूचित करते हैं।[2]

पुनर्विवाह—उत्तरवैदिक काल में विधवा स्त्री का पुनर्विवाह हो सकता था। तैत्तिरीय संहिता ३.२.४.४. में 'दैधिषव्य' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ 'विधवा-पुत्र' होता है। कदाचित् पुत्र-प्राप्ति के लिए इस काल में भी विधवा को पुनर्विवाह की आज्ञा मिली हुई थी। अथर्ववेद में एक स्थान पर पञ्चौदन-क्रिया के द्वारा पत्नी और उसके द्वितीय पति के बीच अपार्थक्य और अभिन्नता उत्पन्न करने की योजना है।[3]

सती-प्रथा—ऋग्वैदिक काल की भाँति उत्तर-वैदिक काल मे भी कही पर भी सती-प्रथा के प्रचलन के पक्ष में प्रमाण नही मिलते। राजा राधाकान्त देव ने कतिपय साहित्यिक अशों[4] के आधार पर सती-प्रथा सिद्ध करने की चेष्टा की थी, परन्तु इन अशो की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। इसी प्रकार उन्होने अथर्ववेद १८.२१. को अपने मत के पक्ष में उद्धृत किया है। परन्तु इस अश मे एक मात्र विधवा को अपने पति के साथ क्षण भर के लिए चिता पर चढ़ना प्रदर्शित किया गया है। दूसरे ही क्षण वह चिता से उतर जाती है और तत्पश्चात् उसी अश मे उसके दीर्घ जीवन के निमित्त प्रार्थना की गई है। अत. अधिक से अधिक इस अश से यही सिद्ध होता है कि किसी पूर्वैतिहासिक काल में आर्यों में सती प्रथा रही होगी।

सजातीय विवाह—इस काल मे अधिकाशत सजातीय विवाह ही होते थे, यद्यपि कही-कही अन्तर्जातीय विवाह के उल्लेख भी मिलते है। तत्तिरीय सहिता में आर्य पुरुष और शूद्र नारी के सम्बन्ध का उल्लेख है।[5] शतपथ ब्राह्मण में ऋषि च्यवन और राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या के विवाह का उल्लेख मिलता है।[6] ऐतरेय ब्राह्मण मे कवष ऐलष को 'दास्या: पुत्र' कहा गया है।[7] इससे आर्य-अनार्य सम्बन्ध प्रकट होता है।

सजातीय विवाहो में कदाचित् अभी तक सपिण्ड विवाह की उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता पर विचार नही हुआ था। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मे कही पर भी 'सपिण्ड' शब्द का उल्लेख नही मिलता। हाँ, गोत्रों का उदय अवश्य हो गया था। अथर्ववेद[8] के अनुसार गोत्र का अर्थ सम्बन्धित व्यक्तियो का समूह है। ऐतरेय ब्राह्मण शुनःशेप को जन्म से ही 'आंगिरस' कहता है।[9] उपनिषदो में गौतम, भारद्वाज, काश्यप, गार्ग्य, भार्गव, कात्यायन आदि नाम मिलते हैं। ये सब गोत्र-नाम हैं। परन्तु यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि तत्कालीन समाज में सगोत्र विवाह

१ अथर्व० १४.१.६१
२ बृहदारण्यक उप० ६.४.२०— गार्गीपुत्र
३ अथर्व० ६.५.२७-२९
४ नारायणीय उपनिषद् में उद्धृत तैत्तिरीय संहिता के दो श्लोक।
५ तैत्ति० सं० ७.४.१९.३
६ शत० ब्रा० ४.१.५
७ ऐत० ब्रा० ८.१..
८ अथर्व० ५. २१. ३.
९ ऐत० ब्रा० ३३.५

होते थे अथवा नहीं। सपिण्ड, सगोत्र और सप्रवर विवाहों का स्पष्ट निषेध सूत्र-काल में ही मिलता है।

पर्दा—ऋग्वैदिक काल की भाँति उत्तर-वैदिक काल में भी नारी-समाज में पर्दा-प्रथा न थी। अथर्ववेद अलकृता नारी के सभा में जाने का उल्लेख करता है।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर पुत्र-वधू का अपने श्वसुर के समक्ष न आने का उल्लेख है।[2] परन्तु यह भारतीय वधू के सहज लज्जा-शील होने का उदाहरण है, पर्दा-प्रथा का नहीं।

नारी-शिक्षा—उत्तर-वैदिक काल में नारी की चतुर्मुखी शिक्षा-दीक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। यजुर्वेद शिक्षित स्त्री-पुरुष के विवाह को ही उपयुक्त बताता है।[3] अथर्ववेद का कथन है कि ब्रह्मचर्य द्वारा कन्या पति-प्राप्ति करती है।[4] इससे प्रकट होता है कि पुत्रों की भाँति पुत्रियों को भी ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। इस अनुशासनशील शिक्षा-काल के पश्चात् ही उनका विवाह होता था। इसी ग्रन्थ का अन्यत्र कथन है कि स्त्री के चार पति होते हैं—(१) सोम (२) अग्नि (३) गन्धर्व और (४) वास्तविक पति। यह अंश स्त्री की बहुपतिकता का उल्लेख नहीं करता। इसका एक विशेष सांकेतिक अर्थ है। इस चतु. पति-कल्पना मे कन्या के शारीरिक और सांस्कृतिक विकास की ४ क्रमिक अवस्थायें अन्तर्निहित है। प्रथम अवस्था (जिसमें उसका पति सोम कहा गया है) उसके सौन्दर्य, शील और संस्कृति के विकास की अवस्था है। द्वितीय अवस्था में (जिसमें उसका पति अग्नि कहा गया है) कन्या में चारित्रिक शुद्धता की भावना का विकास होता है। तृतीय अवस्था में (जब उसका पति गन्धर्व बताया गया है) उसे नृत्य, संगीत तथा अन्यान्य ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार शारीरिक और बौद्धिक विकास के पश्चात् उसकी चौथी अवस्था आती थी जब उसका किसी योग्य वर के साथ वास्तविक विवाह होता था। इस योजना के अन्तर्गत विवाह के पूर्व स्त्री को सम्यक् शिक्षा-दीक्षा मिल जाती थी। तैत्तिरीय संहिता और मैत्रायणी संहिता का उल्लेख है कि स्त्रियों की संगीत-नृत्य में बड़ी रुचि होती है।[5] शतपथ ब्राह्मण सामगान को स्त्रियो का विशेष कार्य बताता है।[6] इससे प्रकट होता है कि स्त्रियाँ गान-विद्या में तो प्रवीण होती ही थीं, साथ-साथ वे मन्त्रों को भी समझती थी। अथर्ववेद के अनुसार वे पति के साथ यज्ञ में सम्मिलित होती थी।[7] इससे भी उनका मन्त्र-ज्ञान प्रकट होता है। उपनिषदों में विदुषी स्त्रियों के अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद जनक की सभा में गार्गी और याज्ञवल्क्य के वाद-विवाद का उल्लेख करता है।[8] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी परम विदुषी थी।[9] उसने अपनी सौत कात्ययानी के पक्ष में अपने साम्पत्तिक अधिकार का विसर्जन करके याज्ञवल्क्य से एकमात्र ज्ञान-दान देने की प्रार्थना की थी।[10]

उत्तर-वैदिक-कालीन आर्य-समाज स्त्री की घरेलू शिक्षा के प्रति भी उदासीन न था। पितृ-गृह में कन्याओं को पाक-शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। गृहस्थ जीवन

१ अथर्व० २. ३६. १
२ ऐत० ब्रा० १२. ११
३ यजु० ८. १
४ अथर्व० ११. ५. १८
५ तैत्ति० सं० ६. १. ६. ५; मैत्रायणी सं० ३. ७. ३
६ शत० १४, ३. १. ३५
७ अथर्व० १. २. ३
८ बृह० उप० ३. ६, ८
९ वही २. ४. ३; ४. ५. ४
१० वही

में भोजन पकाना नारियों का ही विशेष कार्य था।[1] शतपथ ब्राह्मण के उल्लेख 'तद्वा एतस्त्रीणा कर्म यदूर्णा सूत्रम्' से प्रकट होता है कि ऊन और सूत की कताई-बुनाई का काम भी प्रमुखतया स्त्रियाँ ही करती थी।

वर्ण एवं जातियाँ—उत्तरवैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था काफी विकसित हो चुकी थी। अथर्ववेद राजन्य, वैश्य, शूद्र और आर्य, इन चार सामाजिक विभागों का उल्लेख करता है।[2] यहाँ कदाचित् आर्य से सर्वश्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मण का बोध होता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की भाँति अथर्ववेद ने भी यहाँ क्षत्रिय वर्ण के लिये 'राजन्य' शब्द का प्रयोग किया है। वाजसनेयि संहिता में ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और आर्य का उल्लेख मिलता है।[3] यहाँ 'आर्य' शब्द समस्त आर्य-समुदाय (विश्) के लिये प्रयुक्त हुआ ज्ञात होता है।

प्रत्येक वर्ण की पहचान के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञोपवीत की कल्पना की गई थी। इसके अन्तर्गत ब्राह्मण सूत का, क्षत्रिय सन का और वैश्य ऊन का यज्ञोपवीत धारण करते थे। उनके अग्निहोत्र करने के उपयुक्त काल भी भिन्न-भिन्न थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१ १ ४) का कथन है कि ब्राह्मण को बसन्त में, क्षत्रिय को ग्रीष्म में, वैश्य को शीत में और रथकार को वर्षा काल में अग्निहोत्र करना चाहिये। इन पृथक-पृथक नियमों से स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण-भेद शनै शनै दृढ हो रहे थे।

ब्राह्मण और क्षत्रिय—अनेकानेक उद्धरणों से प्रकट होता है कि उत्तर-वैदिक काल में ब्राह्मणों की सम्मान्यता बहुत बढ गई थी। ब्राह्मण दिव्य वर्ण था।[4] वह पृथ्वी पर प्रत्यक्ष देवता था।[5] उसमें समस्त देवता निवास करते थे।[6]

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक प्रभुता और प्रतिष्ठा के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों की प्रतिस्पर्धा चल रही थी। कदाचित इसी के परिणामस्वरूप शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर ब्राह्मण को क्षत्रिय से ऊँचा बताया गया है[7] और दूसरे स्थान पर क्षत्रिय को ब्राह्मण से ऊँचा।[8]

कदाचित इसी प्रतिस्पर्धा से प्रेरित होकर क्षत्रियों ने विषय अध्ययन और लगन के द्वारा उपनिषद-काल तक ब्राह्मणों के समान ही सम्मान्यता प्राप्त कर ली थी। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर स्वयं ब्राह्मण भी उनके समीप पढने जाते थे। श्वेतकेतु आरुणेय ने प्रवाहण जैवलि क्षत्रिय से शिक्षा पाई थी। इसी प्रकार ब्राह्मण गार्ग्य ने काशिराज अजातशत्रु के समीप अध्ययन किया था। पचाग्निविद्या को तो क्षत्रियों ने ही जन्म दिया था।[9]

वैश्य—ऋग्वेद में 'वैश्य' शब्द नहीं मिलता। सर्वप्रथम इसका प्रयोग उत्तर-वैदिक साहित्य में हुआ है। उत्तरवैदिक काल में इस वर्ण को 'अन्यस्य बलिकृत' कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियों की अपेक्षा वैश्य का स्थान नीचा है। परन्तु विविध व्यवसायों के द्वारा राष्ट्र की समृद्धि बढाने में तत्पर वैश्य वर्ण की उपेक्षा न हो सकती थी। तैत्तिरीय संहिता ७.१.१ ७ का कथन है कि वैश्य-समुदाय पशु-पालन और अन्नोत्पत्ति करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण[10] उसकी

१ तैत्ति० सं० ५.७
२ अथर्व० ३.५.७
३ वाज० सं० २६.२
४ तैत्ति ब्रा० १.२.६
५ तैत्ति० सं० १.७.३१
६ तैत्ति० आरण्यक २.१५.
७ S. B. E. Vol. 41 p. 17-p. 96
८ शतपथ ब्रा० १४.४.१.२३
९ छान्दोग्य उप० ५.३.७
१० ऐत० ब्रा० १.९

महत्ता को स्वीकार करते हुए कहता है कि देवकर्म अथवा याज्ञिक कर्म में वैश्य-समुदाय का सहयोग आवश्यक है।

शूद्र—पुरुष सूक्त को छोड़ कर ऋग्वेद में कहीं पर भी 'शूद्र' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। परन्तु उत्तरवैदिक काल के साहित्य में इस शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। यही नहीं, इस समय तक शूद्र-समुदाय में अनेकानेक वर्ग हो गए थे। इनमें से कुछ का उल्लेख कर देना आवश्यक है—

चांडाल—समाज में इसका अति निम्न स्थान था। छान्दोग्य उपनिषद चाण्डाल को श्वान और शूकर की कोटि में रखता है।[1]

पौल्कस—वाजसनेयि संहिता में चाण्डाल के समान पौल्कस को भी अति निम्न बताया गया है।[2]

निषाद—तैत्तिरीय संहिता में इस शूद्र जाति का उल्लेख है।[3] ऐतरेय ब्राह्मण में इसे चौर-वृत्ति का अनुसरण करने वाली तथा पाप-कर्म करने वाली जाति कहा गया है।[4]

उग्र—बृहदारण्यक उपनिषद इस जाति का उल्लेख करता है। उसके अनुसार यह जाति शर-सव्य-निर्माण करती थी।[5]

आयोगव—इसका उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ४ १ में हुआ है।

मागध—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ४ १ में इसका उल्लेख हुआ है।

वैदेह—यह जाति शर-सव्य बनाती थी। बृहदारण्यक उपनिषद ३ ८.२ इसका उल्लेख करता है।

अन्यान्य जातियां—विविध व्यवसाय के अनुसरण से अनेकानेक जातियों का प्रादुर्भाव हो गया था। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद रथकार[6] और सूत[7] का वर्णन करता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण १ १ ४ ने रथकार को अग्निहोत्र करने का अधिकार दिया है। शतपथ ब्राह्मण १३ २ २ १८ में सूत को 'राजकृत' कहा गया है। इससे विदित होता था कि समाज में सूत का विशेष महत्व था। तैत्तिरीय संहिता ४.५.४.२ में क्षत जाति का उल्लेख है। यह प्रतिहारी-वर्ग था। इसका भी विशेष महत्व था। ताण्ड्य ब्राह्मण में क्षत की गणना ८ राज्याधिकारियों में की गई है।[8] इनके अतिरिक्त तैत्तिरीय संहिता ४ ५ ४ २ में संग्रहीत (कोषाध्यक्ष), तक्षन् (बढ़ई), कुम्भकार, कार, कुलाल, कर्मार, पुञ्जिष्ट, इषुकृत, धन्वकृत, मृगयु, श्वनि आदि व्यवसायियों का भी उल्लेख है। ये भी जातियों के रूप में संगठित हो रहे थे।

ऐतरेय ब्राह्मण ३३ ६ में अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिव नामक अनार्य जातियों का भी उल्लेख मिलता है। ये आर्य-समुदाय के बाहर समझी जाती थीं।

राजनीतिक संगठन

राज्य—उत्तरवैदिक काल में भी राजतन्त्र ही लोकप्रिय शासन-तन्त्र था। इस समय के सम्पूर्ण साहित्य में हम प्रमुखतया राजाओं अथवा राजतन्त्रात्मक राज्यों का ही उल्लेख पाते हैं, यद्यपि कहीं-कहीं गण-राज्यों के भी संकेत मिलते हैं। हाँ,

१ छान्दोग्य उप० ५.१०.७
२ वाज० सं० ३०.१७.२१
३ तैत्ति० सं० ४.५.४.२
४ ऐत० ब्रा० ३७.७
५ बृह० उप० ३.८.२
६ अथर्व० ३.५.६,
७ अथर्व० २.५.७
८ ताण्ड्य ब्रा० १९.१.४.

हाँ, राजतन्त्र के विभिन्न रूप अवश्य मिलते हैं। उदाहरणार्थ, ऐतरेय ब्राह्मण राज्य, स्वराज्य, भौज्य, वैराज्य, महाराज्य और साम्राज्य का उल्लेख करता है।[1] जैसा कि अनुगामी साहित्य से प्रकट होता है। साम्राज्य का संस्थापिक सम्राट् कहलाता था। वह अपने बुद्धि-बल से अन्यान्य राज्यों को अधीन करके एक सर्वाधिक विस्तृत, शक्तिशाली एवं सत्ताधारी राज्य की स्थापना करता था। वैदिककालीन साम्राज्य का विस्तार बहुत बड़ा न रहा होगा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह अन्यान्य राज्यों की अपेक्षा विस्तार, शक्ति और प्रतिष्ठा में अग्रगण्य होगा। उसके अधीन कुछ छोटे राज्य भी होंगे। इन्हीं अधीन राज्यों के लिए कदाचित् 'भौज्य' और 'स्वराज्य' के नाम प्रयुक्त किए गए हैं। परन्तु देश के समस्त छोटे राज्य परतन्त्र न रहे होंगे। इनमें कुछ अवश्य ही किसी न किसी साम्राज्य के अन्तर्गत आ गए थे। परन्तु अनेक राज्य छोटे और निर्बल होते हुए भी स्वतन्त्र थे। अतः 'राज्य' शब्द अनुवर्ती साहित्य में 'महाराज' की उपाधि बहुधा अधीनतासूचक थी। इसे बहुधा अधीन सामन्त राजा धारण करते थे। परन्तु वैदिक काल में कदाचित् 'महाराज' अधीन सामन्त न था। वह एक स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली राजा (महान् राजा इति महाराजः) होता था। शक्ति और प्रभुता में उसका स्थान राजा से ऊपर और सम्राट् से नीचे होता था। इस प्रकार राज्य सामान्य राज्य थे। इनमें से कुछ स्वतन्त्र होते थे और कुछ परतन्त्र। 'भौज्य' और 'स्वराज्य' अधीन राज्यों के सूचक हैं। 'महाराज्य' और 'साम्राज्य' शक्तिशाली, स्वतन्त्र एवं विशाल राज्यों की दो कोटियाँ थीं। इनमें साम्राज्य महाराज्य से भी अधिक विशाल और शक्तिशाली होता था।

वैराज्य का तात्पर्य उस राज्य से है जहाँ 'राजा' नहीं होता था। अतः ऐसे लोकप्रिय शासन-तन्त्र था, तथापि वैदिक आर्य गणतन्त्र से भी परिचित थे और कहीं-कहीं उसी के आधार पर शासन-संचालन भी होता था।

ऋग्वेद में कहीं-कहीं पर ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे अनुमान होता है कि राज्यों का आधार 'जाति' था, 'प्रदेश' नहीं। उदाहरणार्थ, यदु-राज्य और भरत-राज्य को लीजिए। यदु और भरत आर्यों की दो जातियों (Tribes) के नाम हैं। बहुत समय तक इनका कोई स्थायी राज्य न था। ये सामूहिक रूप से जिस प्रदेश में जाकर बस जाते थे वहीं इनका 'राज्य' हो जाता था। परन्तु उत्तरवैदिक काल में यह दशा न रही थी। राज्य का आधार प्रादेशिक हो गया था। देश के विभिन्न प्रदेशों में आर्यों के स्थायी राज्य स्थापित हो गए थे।[2] अतः अब राजा जाति के साथ-साथ एक निश्चित प्रदेश का भी अधिपति था।

राजा का प्रादुर्भाव—उत्तरवैदिक साहित्य में राज्य एवं राजा के प्रादुर्भाव के विषय में विभिन्न कथन मिलते हैं। अथर्ववेद में विराट् (राजाविहीन) राष्ट्र का उल्लेख है।[3] उसकी दयनीय अवस्था को देख कर लोग उसके अन्त की कामना करने लगे। ऐतरेय ब्राह्मण का उल्लेख है कि एक समय देवासुर संग्राम हुआ। उसमें देवता बार-बार पराजित हुए। तब उन सबने वस्तुस्थिति पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि राजाविहीन होने के कारण ही हमारी पराजय होती है। अतः उन्होंने सोम को अपना राजा बनाया और उसके नेतृत्व में पुनः युद्ध किया। इस बार उनकी विजय हुई।[4] इस उल्लेख से प्रकट होता है कि राजा का प्रादुर्भाव

१ ऐतरेय ब्रा० ८. २. ६; ८. ३. १३
२ अथर्व० ९. १०. ८
३ ऐतरेय ब्रा० ७. ३. १४
४ ऐत० ब्रा० १. १४

सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था। इसी प्रकार का एक अन्य उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि समस्त देवताओं ने मिल कर इन्द्र को राजा बनाने का निश्चय किया, क्योंकि वह सबसे अधिक सबल और प्रतिभाशाली देवता था।[1] अन्यत्र शतपथ ब्राह्मण[2] का कथन है कि 'जब कभी अनावृष्टि (सूखा)—काल होता है तो सबल निर्बल का उत्पीडन करते हैं। क्योंकि बल ही विश्व-नियम है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस अंश में हाब्ज की भाँति भारतीय विद्वानों ने उस आदि-अवस्था की कल्पना की है जब किसी राजा के अभाव में चतुर्दिक अराजकता, अशान्ति और उत्पीड़न का साम्राज्य था। इस दुर्वह परिस्थिति को दूर करने के लिए ही समाज ने अपने सबसे सबल और सुयोग्य सदस्य को राजा बनाया था और समझौते (Contract) के अनुसार अपने असीम अधिकारों का कर्तन करके राजा के आदेशों को स्वीकार किया था। परन्तु जहाँ हाब्ज ने राजा को असीम और नियन्त्रित सत्ता दे रखी है वहाँ भारतीय विचारकों ने 'धर्म' की स्थापना करके राजा के ऊपर धर्माचार का प्रतिबन्ध लगा दिया था। अतः भारतीय कल्पना में आदि-राजा भी निरकुश न था।

इस प्रकार राजा का प्रादुर्भाव अरक्षा, असगठन, पराभव और अशान्ति को दूर करने के लिए हुआ था। राजपद सबसे अधिक सबल और सुयोग्य व्यक्ति को मिला था। राज-प्रतिष्ठा के पीछे जनमत था। जनता ने आपस में समझौता करके राजा को प्रतिष्ठित किया था। इससे ध्वनित यही होता है कि यदि राजा अपने उत्तरदायित्वों का पालन न करे तो वह पदच्युत भी किया जा सकता है।

राजा का दैवी अधिकार—वैदिक साहित्य से प्रकट होता है कि राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त उत्तरोत्तर दृढतर हो रहा था। सर्वप्रथम इसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। उसमें एक स्थान पर राजा पुरु घोषणा करते हैं कि "मैं इन्द्र हूँ, मैं वरुण हूँ।"[3] इसी प्रकार अथर्ववेद में परीक्षित को मनुष्यों में देव कहा गया है।[4] ब्राह्मण-काल में यज्ञों की महत्ता बढ़ी और लोगों का विश्वास हो गया कि अश्वमेध और वाजपेय यज्ञों के करने से राजा देवसम हो जाता है।[5]

निरंकुश राजा—इतना होते हुए भी भारतीय व्यवस्थाकारों ने कभी भी राजा की निरकुशता का प्रोत्साहन नहीं दिया। उन्होंने सदैव धर्म को राजा का पथप्रदर्शक माना था। समस्त ग्रन्थों में अधार्मिक, आततायी और निरकुश राजा की घोर निन्दा की गई है। अथर्ववेद (५. १९. १५) का कथन है कि अधार्मिक राजा के राज्य में वर्षा नहीं होती तथा उसे समिति अथवा मित्र-वर्ग का सहयोग भी प्राप्त नहीं होता। भारत के किसी लुई चौदहवें का कीर्ति-गायन नहीं किया जो सगर्व यह कहता कि 'मैं राज्य हूँ।'[6] शतपथ ब्राह्मण में उस राजा के लिए 'राष्ट्री' प्रयोग किया गया है जो निरकुशतापूर्वक राष्ट्र के साधनों का उपयोग एकमात्र अपने लिए करता है। वहीं पर यह कहा गया है कि जिस प्रकार हरिण यव को खा डालता है उसी प्रकार निरकुश राजा प्रजा को खा डालता है। पुनः, जिस प्रकार शिकारी पुष्ट पशु का वध कर डालता है उसी प्रकार निरकुश राजा प्रजा को नहीं छोड़ता।[7] भारतीय व्यव-

१ तैत्ति॰ ब्रा॰ २. २. ७. २
२ शत॰ ब्रा॰ ११. १. ६. २४
३ ऋ॰ ४.४२
४ अथर्व॰ २०. १२७. ७
५ शत॰ ब्रा॰ १२. ४. ४. ३; तैत्ति॰ ब्रा॰ १८. १०. १०
६ Letat cest moi—I am the State.
७ शत॰ ब्रा॰ १३. २. ३. ८

स्थाकार 'धृतव्रत' और धर्मपति राजा की ही प्रशंसा करते हैं। उसके मतानुसार राजा को सदैव धर्मानुकूल व्यवहार करना चाहिए।[१]

राजा का निर्वाचन—अनेक वैदिक साक्ष्यों से प्रकट होता है कि राजा का निर्वाचन होता था। अथर्ववेद में एक स्थान पर विश् के द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है।[२] इसी वद के दूसरे स्थान पर कथन है कि 'इस योग्य पुरुष को चुनने से हमारी विजय होगी, हमारी उन्नति होगी, हमारा आरोग्य बढ़ेगा, हमारा तेज, हमारा ज्ञान और हमारा आत्मिक बल बढ़ेगा; हमारा यज्ञ सफल होगा; हमारे पशु उत्तम होंगे, हमारी सन्तति ठीक होगी और शूर-वीर पुरुष हमारे पास रहेंगे। अतः हम इस योग्य पुरुष को चुनते हैं।[३] इस उदाहरण से न केवल, राजा के निर्वाचन का प्रमाण मिलता है वरन् इससे यह भी पता लगता है कि निर्वाचन के लिए राजा में किन-किन गुणो की आवश्यकता समझी जाती थी। अथर्ववेद में ही अन्यत्र कहा गया है कि 'तुझे राज्य के लिये वरण करें; तुझे ये पाँचों प्रकाशवती दिशायें वरण करें।'[४]

शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर कहा गया है कि उसे समस्त प्रजा तथा राज्य का अनुमोदक प्राप्त होता है वही राजा होता है। वह राजा नही होता जिसे यह अनुमोदन प्राप्त नही होता।[५]

प्रारम्भ में जब राज्य अत्यन्त छोटे होते थे तब कदाचित सभी प्रजाजन (विश) राजा के निर्वाचन मे भाग लेते थे। परन्तु जब राज्य बडे होने लगे तो समस्त निवासियो का व्यक्तिगत रूप से निर्वाचन में भाग लेना असम्भव हो गया। ऐसी स्थिति में कदाचित विशपति, कुलपति अथवा राज्य के उच्च पदाधिकारी ही राजा का निर्वाचन करते होंगे।

कदाचित राजा का निर्वाचन सदैव सर्वसम्मत न होता थ। एक स्थान पर उसके निर्वाचन-कर्ता मित्रो और विरोध-कर्ता अमित्रो का उल्लेख मिलता है।[६]

परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे ही वैसे समाज मे वशानुगत राजाओं की परम्परा प्रतिष्ठित होती गई। शतपथ ब्राह्मण में पाटव चाक्रस्थापति और दुष्टऋतु पौंसायन नामक राजाओं का उल्लेख है। इनके पूर्वज १० पीढियो से राज्य कर रहे थे।

राज्याभिषेक—प्राचीन भारत में राज्याभिषेक[७] का राजनीतिक, धार्मिक और वैधानिक महत्व था। अभिषेक-अनुष्ठान राजसूय के नाम मे प्रख्यात था। इसका सर्वप्रथम महत्वपूर्ण अग 'रत्नियों' के प्रति सम्मान-प्रदर्शन था। राजा 'रत्नियों' के घर जाता था और प्रत्येक को हवि देता था। इस प्रथा से प्रकट होता है कि राजा के लिए राज्य के पदाधिकारी रत्नियों का सहयोग और अनुमोदन प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता था। शतपथ ब्राह्मण में रत्नियो की सख्या ११ दी गई है—(१) सेनानी (२) पुरोहित (३) युवराज (४) महिषी (रानी) (५) सूत (राजा का सारथी) (६) ग्रामणी (ग्राम का मुखिया) (७) क्षत्ता (प्रतिहारी) (८) सग्रहीता (कोषाध्यक्ष) (९) भागदुघ (करसग्रहकर्ता) (१०) अक्षवाप (पाँसे के खेल

१ शत० ब्रा० ५. ३. ३. ६; ९. बृह० उप० १. ४. १४
२ अथर्व० ३.४.२
३ वही १६.८.१-२
४ वही ३.६.३
५ शत० ब्रा० ९.३.२.५.
६ अथर्व० ३.३.६..
७ शत० ब्रा० ५.२-३; ऐत० ब्रा० ८.१५

में राजा का सहयोगी) (११) पालागल (राजा का मित्र और विदूषक का पूर्वज)।

इसके पश्चात स्वयं राजा का अभिषेचन किया जाता था। यह अभिषेक सत्रह प्रकार के आपों (जलों) से होता था। प्रारम्भ में वह अभिषेक पुरोहित, राजन्य और वैश्य के द्वारा किया जाता था। कदाचित इन्हें तीनों वर्णों का प्रतिनिधि समझा जाता था।

राज्याभिषेक के पूर्व पुरोहित और राजा के बीच जो वार्ता होती थी उसका वैधानिक महत्व है। पहले पुरोहित राजा से कहता था—

'तू वीरता की योनि और नाभि है। कोई तेरी हिंसा न करे और न तू इन लोगों की हिंसा करे। नियमों का पालन करने वाला तथा विघ्नों का निवारण करने वाला व्यक्ति प्रजा में स्थैर्य प्राप्त करता है। सुकर्मा व्यक्ति साम्राज्य के योग्य होता है। मृत्यु से रक्षा कर। विद्युत से रक्षा कर। सूर्य देव के प्रकाश, अश्विनी कुमारों की भुजाओं, पूषा के हाथों और अश्विनीकुमारों की औषधियों से (राष्ट्र के) वीर्य और ज्ञान के लिए मैं तेरा अभिषेक करता हूँ। (राष्ट्र के) बल, श्री और यश के लिए इन्द्र की इन्द्रिय (शक्ति) से मैं तेरा अभिषेक करता हूँ।....'[1]

डा० अल्टेकर के साथ यह स्वीकार करना कठिन है कि यहाँ अभिषेककर्ता पुरोहित एकमात्र अपने लिए राजा के अनुग्रह की याचना कर रहा है। आधुनिक अर्थ में वह जनता का प्रतिनिधि भले ही न समझा जाय, परन्तु जनता में मूर्धन्य होने के कारण जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्य को समझना उसकी सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति हो गई थी। अत यदि वह राज्याभिषेक करते हुए राजा को प्रजा और राष्ट्र के प्रति उसके कर्तव्यों का स्मरण दिलाता हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है। पुरोहित के उपर्युक्त कथन में उसका आशीर्वाद एव शुभकामना ही नहीं वरन राष्ट्र की आशायें और अभिलाषायें भी निहित होती थी।

पुरोहित के कथन के उत्तर में राजा का जो कथन है वह भी कुछ कम महत्वपूर्ण नही है—

'प्रजा की श्री मेरा शिर है, उसका यश मेरा मुख है, उसका तेज मेरे केश और श्मश्रु हैं।... मेरी जिह्वा प्रजा के कल्याण की बात कहे, मेरी वाणी प्रजा की महत्ता की बात कहे। प्रजा का उल्लास मेरा मन है।..उसका मोद-प्रमोद मेरी उँगलियाँ हैं।..जनता में राजा प्रतिष्ठित है..।'

इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि राजा अपनी प्रजा के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को समझता था।

सभा और समिति—कहा जा चुका है कि अथर्ववेद इन दोनों को प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहता है।[2] एक स्थान पर सभा, समिति और सेना तीनों की महत्ता प्रदर्शित की गई है।[3] वैदिक काल में प्रत्येक व्यक्ति इन दोनों सभाओं म यश: प्राप्ति का इच्छुक रहता था।[4] अथर्ववेद के उल्लेखों से भी प्रकट होता है कि सभा ग्राम-संस्था थी। यह ग्राम के समस्त स्थानीय विषयों की देख-रेख करती थी। अथर्ववेद

१ यजुर्वेद (शुक्ल) २०.१-४
२ अथर्व० ७. १२. १
३ वही १५.९. १-३
४ वही १२.१.५६— ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामा समितयस्तेषु चारु वदाम्यहम्॥

में एक स्थान पर सभा को 'नरिष्ठा' कहा गया है।[1] नरिष्ठा का अर्थ कदाचित्त सामूहिक वाद-विवाद होता है। इससे प्रकट होता है कि ग्राम-निवासी अपनी सभा में वाद-विवाद के पश्चात ही किसी निर्णय पर पहुँचते थे। ग्राम पर किसी एक व्यक्ति का प्रभुत्व न था। उसके समस्त विषय सभा के अधीन थे। अथर्ववेद में एक स्थान पर उल्लेख है कि यम देवता की सभा के सदस्य यम को प्राप्त होने वाले पुण्य के १६वें भाग के अधिकारी थे।[2] इससे अनुमान होता है कि ग्राम की सभा अपने कार्य-सचालन के लिए राज-कर का कुछ भाग पाती थी।

ऋग्वैदिक काल की भाँति परवर्ती काल में भी सभा के अन्तर्गत अनेक प्रकार की कार्यवाही होती थी। यह आमोद-प्रमोद के निमित्त एक क्लब के रूप में भी कार्य करती थी। ब्राह्मण-साहित्य में भी सभा का द्यूत-क्रीडा के साथ सम्बन्ध है।[3]

डा० अल्टेकर का मत है कि उत्तरवैदिक काल में सभा ग्राम-सस्था न रह गई थी। वह राज-सस्था हो गई थी। शतपथ ब्राह्मण (३ ३ ४ १४) के अनुसार राजा सभा में उपस्थित रहता था। सभासदों का पद अत्यधिक सम्मान्य समझा जाता था (ऐतरेय ब्राह्मण ८.२१)।

इसके विरुद्ध समिति राज्य की केन्द्रीय संस्था प्रतीत होती है। अथर्ववेद में एक स्थान पर उल्लेख है कि ब्राह्मण-सम्पत्ति का अपहरण करने वाले राजा को समिति का सहयोग नहीं मिलना चाहिए।[4] दूसरे स्थान पर राजा के लिए समिति के चिर-सहयोग की शुभाकाक्षा प्रकट की गई है।[5] समिति के निर्णय भी वाद-विवाद के पश्चात ही होते थे। प्रत्येक व्यक्ति समिति के वाद-विवाद में ख्याति प्राप्त करने का इच्छुक रहता था।[6]

आश्चर्य की बात है कि परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में समिति का कोई उल्लेख कहीं मिलता। परन्तु उपनिषद-काल में आते ही हम समिति की महत्ता को पुनः प्रतिष्ठित देखते हैं। इस समय समिति राज-सस्था थी जिसमे राजनीति विषयों के अतिरिक्त दार्शनिक एव धार्मिक वाद-विवाद भी होते थे। उपनिषदो में अनेक स्थलों पर समिति में राजा की अध्यक्षता में होने वाले वाद-विवादो का उल्लेख है।

परन्तु उपनिषद-काल के पश्चात समिति पूर्णरूप से तिरोहित हो जाती है। कहीं पर भी उसका नाम सुनाई नही देता।

उपनिषद-काल के पश्चात हम यत्र-तत्र सभा और सभासद का उल्लेख पाते हैं। परन्तु वहाँ सभा का उल्लेख किसी लोक-संस्था के रूप में नही होता है। अधिक से अधिक वह एक राजकीय न्यायालय के रूप में कार्य करती थी।

पदाधिकारी—पीछे 'रत्नियों' का उल्लेख किया जा चुका है। ये राज्य के विभिन्न पदाधिकारी थे। राज्य और राष्ट्र की दृष्टि में इनका बड़ा महत्व था। यही कारण है कि राज्याभिषेक के अवसर पर राजा स्वय रत्नियो के घर अभिषेचन कराने

१ शतपथ ब्रा० ५.३. १. १०; तैत्ति० ब्रा० १.१.१०.६.

२ अथर्व० ७.१२.२—विद्म ते सभे नरिष्ठ नाम वा असि।

३ वही ३.२९.१—यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः।

४ वही ५, १९.१५—नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्।

५ अथर्व० ६.८८. ३-ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामि ह।

६ वही १२.१. ५६-ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदाम्यहम।

जाता था। पंचविंश ब्राह्मण में रत्नियों को 'वीर' कहा गया है।[1] यह शब्द भी महत्ता का द्योतक है। इनके सहयोग के बिना राज्य-कार्य चलाना कठिन था।

राज्य की आय—ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में राजा को प्रजा से नियमित रूप में कर न मिलते थे। यही कारण है कि ऋग्वेद में न्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह राज-कर देने के लिये प्रजा को विवश करे।[2] इसी प्रकार की प्रार्थना अथर्ववेद में भी मिलती है।[3] पूर्ववर्ती साहित्य में राज-कर के लिये 'बलि' शब्द का प्रयोग मिलता है। ब्राह्मणों में भी इस शब्द का यही अर्थ है।

कालान्तर में नियमित करों की प्रथा प्रतिष्ठित हुई और कर-संग्रह करने के निमित्त 'भागधुक' की नियुक्ति होने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि धनार्जन में लगा हुआ वैश्य-वर्ग ही अधिकांश करो का वहन करता था। इसी से ब्राह्मण-साहित्य में उसे 'बलिकृत' कहा गया है।[4] राजकर अन्न और पशुओ के रूप में भी दिया जाता था।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि आय का १६वाँ भाग राजा को मिलता था।[6]

कभी-कभी राजा के लिए 'विशामत्ता' का प्रयोग मिलता है।[7] हाप्किन्स ने इसका अर्थ 'जनता का भक्षक' लगाया है और इस आधार पर यह मत प्रतिपादित किया है कि वैदिक राजा जनता का आर्थिक शोषण करता था। परन्तु यह अर्थ न्याय-सगत नही है। 'अत्ता' का अर्थ भक्षक के अतिरिक्त 'भोगी' भी होता है।[8] राजा प्रजा के करो एव उपहारो का उपभोग करता था। इसी से उसे 'अत्ता' कहा गया है। वैदिक साहित्य में कही पर भी ऐसे साक्ष्य नही मिलते कि जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि राजकर अतिसंख्यक अथवा अत्यधिक थे।

आर्थिक अवस्था

कृषि—उत्तरवैदिक काल मे भी कृषि आर्यों का प्रमुख उद्यम था। कृषि के द्वारा अन्न उत्पन्न होता है और अन्न ही सम्पूर्ण जगत का कर्ता-धर्ता है। तैत्तिरीय उपनिषद का कथन है कि 'अन्न ही ब्रह्म' है। इसी अन्न से ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न हुए अन्न से ही इनका जीवन चलता है और ये विनष्ट होकर अन्न में हि मिल जाते है और उसी में एकरूपता प्राप्त करते हैं।[9] अत कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि आर्यों ने अन्नमूलक कृषि-कर्म को अत्यधिक महत्ता दी हो। 'अन्नं बहु कुर्वीत। तद व्रतम।' 'अर्थात् अधिक अन्न उत्पन्न करना चाहिए—यही हमारा व्रत होना चाहिए, यह उद्घोष जिसे आज फिर से हम सुन रहे है, सर्वप्रथम तैतरीय उपनिषद्-कार ने उठाया था।

कृषि हल-बैल की सहायता से होती थी। अथर्ववेद का कथन है कि सर्वप्रथम पृथ्वी-वैन्य ने हल और कृषि को जन्म दिया था।[10] कभी-कभी हल को ६ से लेकर १२ बैल तक खीचते थे।[11] शतपथ ब्राह्मण जोताई, बोआई, कटाई और मड़ाई का

१ पंचविंश० ब्रा० १९.१.४
२ ऋ० १०. १७३. ६—अथा ते इन्द्र केवलीः प्रजा बलिहृतस्करत्।
३ अथर्व० ३. ४. ३
४ शत० ब्रा० ११. २. ६. १४.; ऐत० ब्रा० ७.२९
५ अथर्व ४. ४ २२. २.
६ वही ३. २९. १
७ ऐत० ब्रा० ७.२९
८ शत० ब्रा० १. ८. ३. ६
९ तैत्ति० उप० ३. ३
१० अथर्व० ८. १०. २४
११ वही ६. ९. १. १

उल्लेख करता है।[1] खेतों की उपज बढ़ाने के लिए खाद का प्रयोग किया जाता था।[2] स्थान-स्थान पर गोबर (शकृत, करीष) का उल्लेख हुआ है। वर्ष में २ फसलें होती थी।[3] तैत्तिरीय संहिता[4] का कथन है कि जौ शीतकाल में बोया जाता था और ग्रीष्म-काल में पक जाता था, धान वर्षा काल में बोया जाता था और पतझड़ काल में पक जाता था, उड़द और तिल वर्षा काल में बोये जाते और शीतकाल में पक जाते थे। सिंचाई के लिए वर्षा और कूप के पानी के अतिरिक्त अथर्ववेद नहरों के पानी का भी उल्लेख करता है।[5]

कृषि में अनेक प्रकार के अन्न उत्पन्न किए जाते थे। तैत्तिरीय संहिता के उपर्युक्त उद्धरण में जौ, धान, उड़द और तिल का उल्लेख किया जा चुका है। अथर्ववेद में दो प्रकार के धान का उल्लेख है—एक व्रीहि[6] और दूसरा तण्डुल।[7] इनके अतिरिक्त इस वेद में यव (जौ), माष (उडद), श्यामाक (millets), शारिशाका (शालि ?), गन्ना, तिल, शण आदि का भी उल्लेख मिलता है।[8] वाजसनेयि संहिता में गोधूम (गेहूँ) यव (जौ), व्रीहि (धान), (उडद) मुद्ग (मूँग), मसूर, तिल, श्यामाक, प्रियग, नीवार आदि की उपज का वर्णन है।[9] उपयोगी वृक्षों में बदर, कुवल, करकन्धु, न्यग्रोध, अश्वट्ठ, बिल्व, आमलक आदि के नाम अनेक और मिलते हैं।

अनावृष्टि से खेती को अत्यन्त हानि होती थी। इसी लिए स्थान-स्थान पर वृष्टि के लिए प्रार्थना की गई है।[10] अनावृष्टि के साथ-साथ अतिवृष्टि और विद्युत्पात से भी कृषि को हानि पहुँचती थी। इन दैवी विपत्तियों को दूर करने के लिए अथर्ववेद में यन्त्र-मन्त्रों का उल्लेख है।[11] कीडे-मकोडे और टिड्डियों से भी कृषि को भय रहता था। इस भय का निराकरण करने के लिए भी अथर्ववेद में यन्त्र-मन्त्र है।[12] छन्दोग्य उपनिषद् एक दुर्भिक्ष का उल्लेख करता है जो टिड्डियों द्वारा किए गए कृषि-विनाश के कारण पडा था।[13]

कृषि-भूमि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति समझी जाती थी। तैत्तिरीय संहिता में एक स्थान पर यह कथन है कि पडोसी के साथ भूमि का झगडा होने पर मनुष्य को इन्द्र और अग्नि को आहुति देना चाहिए।[14] छन्दोग्य उपनिषद् में क्षेत्र व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में ही प्रदर्शित किए गए हैं।[15]

पशु-पालन—कृषिकर्म के साथ ही साथ पशु-पालन भी होता था। साधारण मनुष्य ही नहीं, राजा भी पशु-धन की कामना करते थे। अथर्ववेद में एक स्थान पर गाय-बैल और घोड़ों की प्राप्ति के निमित्त राजा के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है।[16]

इस समय भी गाय समाज का प्रमुख पशु थी। पीछे कहा जा चुका है कि ऋग्वै-

१ शत० ब्रा० १. ६. २. ३
२ अथर्व० ३. १४. ३
३ तैत्ति० ५. १. ७. ३
४ वही ४. २; ७. २. १०
५ अथर्व० ३. १३
६ अथर्व० ८. ७. २०
७ वही १०. ९. २६
८ वही १२. २. ५४; १८. ३. ६-९; १७. ४; ३. १४. ५; ४. ३५; ७. १० २४; १२. ४;
९ वाज० सं० १८. १२; १९. २२; २१. २९
१० अथर्व ७. १८. ३९
११ वही ७. १८
१२ वही ६. ५०, ५२
१३ छान्दोग्य उप० १०. १-३
१४ तैत्ति० सं० २. २. १
१५ छान्दोग्य ७. २४. २
१६ अथर्व० ४. २२.२

दिक काल में कभी-कभी गो-वध होता था और कभी-कभी लोग गो-मांस भी खाते थे। परन्तु शनै शनै गाय की अव्यता बढ रही थी। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर स्पष्ट घोषणा की गई कि गाय और बैल पृथ्वी को धारण करते। अत उनका मास न खाना चाहिए।[1]

गाय-बैल के अतिरिक्त भैंस, भेंड-बकरी और घोडा विशेष महत्वपूर्ण समझे जाते थे। अथर्ववेद हाथी का भी उल्लेख करता है। गाडी खीचने के लिए गदहे भी काम में लाए जाते थे। ऐतरेय ब्राह्मण मे एक स्थान पर गदहे अश्विन् देवताओ की गाड़ी खीचते हुए प्रदर्शित किए हैं।[2] अथर्ववेद ऊँट-गाडी का उल्लेख करता है।[3] शतपथ ब्राह्मण में शूकर का वर्णन है।[4]

मछुये—यजुर्वेद में कैवर्त का उल्लेख मिलता है। यह मछुये का काम करता था। मछलियों के अतिरिक्त यह कूर्म, कुक्कट आदि भी पकडता था। परन्तु यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वैदिक काल मे मछली, कूर्म और कुक्कट का मास खाया जाता था अथवा नही।

धातु के काम—उत्तरवैदिक काल में सोने का उल्लेख बार-बार मिलता है। 'आयु हिरण्य अमृत हिरण्यम्' के कथन से प्रकट होता है कि आर्य हिरण्य को पवित्र मानते थे। वह मनुष्य को अमरत्व देता था।[5] अथर्ववेद और सहिताओ में सोने के विविध आभूषणो का उल्लेख है अथर्ववेद रजत (चाँदी) का उल्लेख करता है।[6] सोने की भाँति चाँदी भी आभूषणो के निर्माण के प्रयुक्त होती थी।[7] तैत्तरीय सहिता मे एक स्थान पर रजत के लि 'रजतहिरण्य' का प्रयोग मिलता है।

सोने और चाँदी के पश्चात् विशेष महत्वपूर्ण धातु 'अयस्' थी। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, 'अयस्' के अर्थ पर विद्वानो में मतभेद है। कोई इसे लोहा मानता है तो कोई ताँबा। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अयस् सोना और सीसा के अतिरिक्त और कोई भी धातु प्रतीत होती है।[8] अथर्ववेद में कभी एकमात्र 'अयस' शब्द मिलता है और कभी 'लोहायस्'। इससे अनुमान होता है कि अयस् शब्द का प्रयोग सामान्य धातुओ के लिए होता था।

वाजसनेयी सहिता मे 'लोह' और 'श्याम' शब्द मिलते हैं।[9] अथर्ववेद भी लोहा-यस' और श्याम[10] का उल्लेख करता है। मैक्समूलर का मत है कि 'लोह' शब्द 'ताँबे' के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। ऐसी दशा में 'श्याम' को 'लोहे' के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए।

अन्य धातुओ मे त्रपु (टीन) और सीसा विशेष रूप से प्रयुक्त होते थे।[11]

वस्त्र-निर्माण—उत्तरवैदिक काल के साहित्य मे 'कर्पास' का उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, ऊर्णा (ऊन) शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।[12] इससे प्रकट होता है कि ऊनी कपडो का निर्माण विशेष रूप से होता था। अथर्ववेद में शण (सन) का उल्लेख

१ शत० ब्रा० ३. १.२.३
२ ऐत० ब्रा० ४.९
३ अथर्व० २०. १३७. २
४ शत० ब्रा० ५. ४. २. १९
५ तैत्ति० सं० ५.७.१३
६ अथर्व० ५.२.२८
७ तैत्ति० सं० २.२.९.७; शत० ब्रा० १२.८.३११ पंचविंश ब्रा० १७.१.१४
८ शत० ब्रा० ५.१.२.१४
९ वाज० सं० १७.२.१
१० अथर्व० ९.५.४
११ वाज० सं० १७.२.१; अथर्व० ११.३.१७; १२.२.१
१२ वाज० सं० १९; काठक सं० ३८.३

हुआ है।[1] इससे वस्त्र, आच्छादन, बोरे, चटाईयाँ आदि बनाई जाती थीं। मैत्रायणी संहिता में 'क्षौम' का उल्लेख हुआ है। क्षौम वस्त्र धनिक वर्ग में विशष रूप से प्रयुक्त होते थे। अनेक स्थलो पर 'ताप्यं' शब्द मिलता है।[2] कुछ विद्वानो के अनुसार इसका अर्थ क्षौम-वस्त्र था। ब्रह्मचारी और तपस्वी प्रायः त्वचा और चर्म के वस्त्र धारण करते थे।

शतपथ ब्राह्मण के उल्लेख 'तद्वा एतत्स्त्रीणा कर्म यदूर्णा सूत्रम्' से प्रकट होता है कि सूत कातने का काम प्रायः स्त्रियाँ ही करती थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'वेमन्' शब्द मिलता है।[3] इसका अर्थ कर्घा है। इसकी सहायता से कपड़ा बुना जाता था। बुनाई का काम भी बहुधा स्त्रियाँ ही करती थी। पचविंश ब्राह्मण में 'वयत्री' शब्द मिलता है।[4] इसका आशय उस स्त्री से है जो वस्त्र बुनने का काम करती थी। वस्त्रों के ऊपर कढ़ाई का काम भी प्रायः स्त्रियाँ ही करती थी। ऐसी स्त्री को 'पेशस्कारी' कहते थे।[5]

कुलाल—लोकपयोगी व्यवसायो मे कुलाल का व्यवसाय बडा महत्वपूर्ण था। उत्तरवैदिक साहित्य मे अनेक स्थलो पर कुलाल का उल्लेख हुआ है।[6] शपथ ब्राह्मण कुलाल-चक्र का भी उल्लेख करता है।[7] इससे प्रकट होता है कि मिट्टी के घडे, प्याले, तश्तरियाँ, सकोरे, आदि चाक के ऊपर ही बनते थे।

भिषक्—वाजसनेयि सहिता (३० १०) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३ ४.४.१) में भिषक् का उल्लेख मिलता है। परन्तु एसा प्रतीत होता है कि भिषक् का व्यवसाय इस काल में अधिक सम्मान्य न समझा जाता था।[8] उत्तरवैदिक चिकित्सा-शास्त्र में जन्त्र-मन्त्र का भी विशेष स्थान था। अथर्ववेद में एक स्थान पर साँप के काटने से चढ़े हुए विष को दूर करने का मत्र है।[9] दूसरे स्थान पर तक्मन् नामक ज्वर का उल्लेख है।[10] इसे दूर करने के लिये जन्त्र-मत्र के अतिरिक्त कुष्ठ' पौधे का प्रयोग किया जाता था। बहते हुए रक्त को बद करने के लिये बालू के थलो का प्रयोग होता था। अथर्ववेद क्षय, कोढ़, पागलपन, गठिया, नेत्र-रोग, शिर-पीड़ा, नासूर, फोड़ा-फुंसी आदि रोगो से परिचित है।

अन्यान्य व्यवसायी—अन्यान्य व्यवसायियों मे रथकार, कर्मार, सूत्र[11], सुराकार[12], आदि आते हैं। वाजसनेयी सहिता मे पुरुषभेद के सम्बन्ध में अन्य छोटे-बड़े अनेक व्यवसायियो का उल्लेख किया गया है[13]।

व्यावसायिक संगठन—ऐतरेय ब्राह्मण मे 'श्रेष्ठी' शब्द मिलता है।[14] कदाचित यह किसी व्यावसायिक सघ का अध्यक्ष होता था। वाजसनेयी सहिता 'गण' और 'गणपति' का उल्लेख करती है।[15] ये शब्द भी कदाचित किसी प्रकार के व्यावसायिक संगठन की ओर सकेत करते हैं। यद्यपि उत्तरवैदिक काल के इन 'गणो' की रूप-रेखा और कार्य-प्रणाली के विषय में हमे विशेष ज्ञान नहीं है तथापि परवर्ती साहि-

१ अथर्व० २.४५
२ अथर्व० १८.४.३१; शत० ब्रा० ५.३.५.२०
३ तैत्ति० ब्रा० २.१.४.२
४ पंचविंश ब्रा० १.८९
५ वाज० सं० ३०.१.
६ वही ३०.७; मैत्रा० सं० १.८.३
७ शत० ब्रा० ९.८.१.
८ तैत्ति० सं० ६.४.९.३
९ अथर्व० ५.१३
१० वही० ५.२२
११ अथर्व० ३. ५. ६-७
१२ वही ६. ७०. १
१३ वाज० सं० ३०
१४ ऐतरेय ब्रा० ३. ३०.३
१५ वाज० सं० २३. १९.१

त्यिक साक्ष्यों को देखते हुए ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि समान व्यवसाय के अनुसरणकर्ता किसी एक संघ के अन्तर्गत संगठित हो जाते थे। ये संघ उनके व्यावसायिक कार्यों की देख-रेख करते थे और उनके हितों की सुरक्षा। कदाचित राज्य ने भी संघीय नियमों को स्वीकार कर लिया था।

व्यापार—ऋग्वेद, वाजसनेयी संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि में 'वणिज' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] इसका अर्थ व्यापारी है। अथर्ववेद[2] के अनुसार देश के व्यापारी अपनी सामग्री के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते थे। कभी वे अपनी वस्तुयें बेचते थे और कभी उनका विनिमय करते थे। समय-समय पर मार्ग में उन्हें हिंसक पशुओं और डाकुओं का सामना करना पड़ता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक काल में भी साधारण व्यापार प्रपण (Barter or Exchange) के द्वारा होता था।[3] इस समय गाय भी व्यापार का माध्यम थी।[4]

निष्क—इनके अतिरिक्त क्रय-विक्रय के अन्यान्य माध्यम भी थे। ऋग्वैदिक काल की भाँति उत्तरवैदिक काल में हम 'निष्क' का प्रयोग देखते हैं। अथर्ववेद में एक स्थान पर सौ सुवर्ण-निष्क के दान का उल्लेख है।[5] यहाँ कदाचित निष्क का उल्लेख निश्चित तौल के धातु-खण्ड अथवा मुद्रा के रूप में हुआ है, क्योंकि यदि यहाँ निष्क का अर्थ आभूषण लिया जाय तो १०० निष्कों का दान कुछ असंगत प्रतीत होता है।

शतपथ ब्राह्मण[6] में एक वाद-विवाद में उद्दालक आरुणि के ऊपर स्वैदायन शौनक की विजय का उल्लेख है। विजय के उपलक्ष में उसे एक सुवर्ण-निष्क मिलता है। परन्तु यहाँ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि निष्क का अर्थ निश्चित तौल है अथवा आभूषण।

कहीं-कहीं पर निष्क का प्रयोग यथार्थत आभूषण के रूप में भी हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण एक मनुष्य को 'निष्क-कण्ठ' कहता है।[7] यहाँ निष्क गले का आभूषण ही है।

अत. ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेदिक काल की भाँति उत्तरवैदिक काल में भी निष्क का प्रयोग आभूषण और निश्चित तौल के धातु खण्ड दोनों रूप में होता था।

शतमान—उत्तरवैदिक साहित्य में 'शतमान' का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि 'इसकी दक्षिणा तीन शतमान है।'[8] इसी ग्रन्थ में राजसूय यज्ञ के सम्बन्ध मे राजा के रथ के पिछले पहिये में दो वृत्त (गोल) शतमान के बाँधने का उल्लेख है।[9] कालान्तर में वे शतमान ब्राह्मण पुरोहित को दक्षिणा में दे दिये गये थे। पुन, शतपथ ब्राह्मण में ही दो स्थानों पर शतमान का उल्लेख सुवर्ण के साथ हुआ है।[10]

१ ऋ० १. ११२. ११; वाज० सं० ३०.१७; तैत्ति० ब्रा० ३.४.१४.१
२ अथर्व० ३. १५
३ अथर्व० ३. १५. ४
४ ऐत० ब्रा० ५. २२.९; ३३.६; ३९. ८
५ अथर्व० २०.१३१.८
६ शत० ब्रा० ११.४१.१, ८
७ ऐत० ब्रा० ८. २२
८ शत० ब्रा० ५.५.५.१६
९ वही, ५.४.३.२४, २६
१० शत० ब्रा० १२.७.२.१३; १३.२.३.२

डा० डी० आर० भण्डारकर का मत है कि शतमान मुद्रा थे। उन्होंने अपने मत के पोषण में निम्नलिखित प्रमाण दिये हैं—

(१) शतमान गोल (वृत्त) होते थे।

(२) शतपथ ब्राह्मण में शतमान का उल्लेख सुवर्ण के साथ किया गया है और वहाँ दोनों को ही हिरण्य (सोना) कहा गया है। सुवर्ण को हिरण्य कहने का तात्पर्य यही था कि यह 'सुवर्ण' 'हिरण्यपिण्ड' न था, वरन वह मुद्रा था। सुवर्ण के साथ शतमान का उल्लेख हुआ है। अतः शतमान भी मुद्रा था।

(३) भण्डारकर महोदय का कथन है कि भारतवर्ष मे एक ही समय, एक ही स्थान में हम धातु अथवा द्रव्य के ६ तौल पाते हैं। ये तौल हैं—निष्क, कृष्णल, सुवर्ण, शतमान, माशक और कार्षापण। ये कभी भी सामान तौलने में प्रयुक्त नही हुए हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि ये ६ पृथक-पृथक तौल के धातु-खण्ड थे अथवा पृथक-पृथक मूल्य की मुद्रायें? भण्डारकर महोदय का मत है कि एक ही समय एक ही स्थान पर पृथक-पृथक तौल के ६ धातु-खण्ड नही चल सकते। यह अस्वाभाविक है। अत इन ६ नामो को पृथक-पृथक मूल्य की मुद्रायें मानना ही अधिक न्याय सगत प्रतीत होता है। परन्तु डॉक्टर भण्डारकर के तीनों तर्कों में शिथिलता है।

(१) प्रत्येक गोल वस्तु मुद्रा नहीं हो सकती। बहुत सम्भव है कि शतमान गोलाकार धातु-खण्ड हो। कम से कम टीकाकार सायण का यही मत है।

(२) शतमान और सुवर्ण दोनो हिरण्य कहे गये हैं। परन्तु इससे उनका मुद्रा होना सिद्ध नहीं होता। कदाचित दोनो ही निश्चित तौल के धातु-खण्ड होते थे।

(३) भण्डारकर महोदय ने जिन ६ नामों का उल्लेख किया है वे न एक समय के हैं और न एक काल के। उनका प्रयोग वैदिक काल से लेकर बौद्ध काल तक के बीच समय-समय पर भिन्न-भिन्न स्थानों पर होता रहा था। परन्तु यदि वे एक ही काल और एक ही स्थान के होते तो भी उनका मुद्रा होना सिद्ध नही होता।

ऐसी परिस्थिति में निष्क की भाति शतमान को भी निश्चित तौल के धातु-खण्ड मानना न्यायसगत प्रतीत होता है। ये क्रय-विक्रय के माध्यम थे।

कृष्णल—कृष्णल एक रक्तिका अथवा गुँजा की तौल का धातु-खण्ड होता था। काठक सहिता 'हिरण्य कृष्णल' का उल्लेख करती है।[1] इससे प्रकट होता है कि कृष्णल सोने का होता था। भण्डारकर महोदय का मत है कि यह मुद्रा था। परन्तु इसे एक गुँजा की तौल का धातु-खण्ड मानना ही अधिक उपयुक्त है।

पाद—शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि राजा जनक ने एक हजार गौओ को एकत्र करके प्रत्येक गौ के सीग में १० पाद बँधवा दिये और यह घोषणा की कि जो व्यक्ति सबसे अधिक विद्वान सिद्ध होगा उसे वे सपाद गौएँ दे दी जायेंगी। राथ, रीज डेविड्स आदि विद्वानों का मत है कि पाद किसी तौल का चतुर्थांश था। परन्तु भण्डारकर महोदय इसे एक मुद्रा मानते हैं।

भण्डारकर महोदय ने उपर्युक्त नामो में से प्रत्येक को मुद्रा सिद्ध करने की चेष्टा की है। उनका मत था कि भारतवर्ष मे ऋग्वैदिक काल से ही मुद्रा का प्रयोग होने लगा था। परन्तु जिस अर्थ में आज हम मुद्रा का प्रयोग करते है उस अर्थ में उपर्युक्त नामो की मुद्रायें नहीं मानी जा सकती। उनमें से किसी पर भी राजाक, अधिकार-

१ काठक सं० ११.४

चिन्ह, लेख अथवा तौल का अंकन नही सिद्ध होता। स्पष्ट है कि वे भिन्न-भिन्न तौलो के धातु-खण्ड थे जिन्हें ले-देकर वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जा सकता था।

अन्नपान—उत्तरवैदिक साहित्य में हम 'ओदन' का नाम अनेकशः सुनते हैं। यह किसी न किसी वस्तु को दूध में पका कर बनाया जाता था। इस प्रकार जब चावल को दूध में पकाया जाता था तो वह 'क्षीरौदन' कहलाता था। वर्तमान हिन्दी में इसे 'खीर' कहेंगे। दूध में पके हुए तिल को 'तिलौदन' कहा जाता था। इसी प्रकार 'मुदगौदन' और 'घृतौदन' बनते थे। 'ब्रह्मौदन' यज्ञों में प्रयुक्त होता था। 'मांसौदन' मासाहार था। अन्य रुचिकर खाद्य 'अपूप' था। यह पुआ होता था जो गेहूँ अथवा जौ के पिसे हुए आटे को पूड़ी की भाँति घी में पकाते थे। सामान्यतया गुड़ अथवा चीनी मिला कर इसे मीठा बनाया जाता था। गेहूँ, जौ, चावल आदि अन्नों को पीस कर बनाये गये पदार्थ 'पिष्ट' कहलाते थे। अन्य खाद्यों में 'पक्ति' 'करम्भ' और 'पुरोडाश' के नाम मिलते हैं। भुने हुए अन्नों के खाद्यों में 'यवागू', 'लाज' और 'सक्तु' प्रचलित थे।

उत्तरवैदिक काल मे भी मासाहार प्रचलित था। ऐसा प्रतीत होता है कि गो-मांस-भक्षण धीरे-धीरे निन्दनीय समझा जाने लगा था। अन्य पशुओ में बैल, बकरा, भेड और बकरी का मास विशेष रूप से खाया जाता था। कभी-कभी घोडे का मांस भी प्रयुक्त होता था। इनके अतिरिक्त शिकार में मारे गए अन्यान्य पशु-पक्षियों का मास भी खाया जाता होगा। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वैदिक-काल में मछली खाई जाती थी अथवा नही।

भोजन में शाकों और फलो का विशेष स्थान रहा होगा। परन्तु इस विषय में हमें विशेष विवरण नही मिलते।

इसके अतिरिक्त उत्तरवैदिक साहित्य में पयस् (दूध), घृत (घी), नवनीत (मक्खन), दधि (दही) और मधु (शहद) के उल्लेख मिलते हैं। इनका भी भोजन में विशेष स्थान था।

पेय-पदार्थों में सोमरस सर्वोत्कृष्ट समझा जाता था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरवैदिक काल में सोम का पौधा दुष्प्राप्य हो रहा था। अतः लोग अन्य पेयों का प्रयोग करने लगे थ। इनमें 'पूतिका' और 'अर्जुनानि' विशेष महत्वपूर्ण समझे जाते थे।[1] इनके अतिरिक्त कभी-कभी सुरा (शराब) का भी प्रयोग होता था। परन्तु अनेक स्थलों पर सुरा-पान की निन्दा की गई है।[2]

आमोद-प्रमोद— आर्यों के जीवन में आमोद-प्रमोद का विशेष महत्व था। अपने मनोरंजन के लिए वे आखेट खेलते और घुडदौड़ करते थे। अथर्ववेद में घुड-दौड़ के विजेता के लिए पुरस्कार का भी उल्लेख किया गया है। घुड़दौड की भांति रथदौड़ भी मनोरंजन का महत्वपूर्ण साधन था। वाजपेय यज्ञ में रथदौड़ होती थी। ऋग्वैदिक काल की भाँति उत्तरवैदिक काल में पासे अथवा चौपड का खेल भी बड़ा लोक-प्रिय था। समय-समय पर यह जुए का रूप धारण कर लेता था।

आर्य-समाज में संगीत नृत्य का बड़ा महत्व था। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि नाचने-गाने वाले पुरुष में स्त्रियाँ सरलतापूर्वक अनुरक्त हो जाती हैं। इससे प्रकट होता है कि नृत्य और संगीत में स्त्री-पुरुष दोनों का तीव्र आकर्षण रहता था। साम-गान आर्यों की संगीतज्ञता का ज्वलन्त उदाहरण है। पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियाँ

१ पंचविंश ब्रा० ९.५.३ २ अथर्व० ६.७०.१

भी साम-गान करती थी। वाद्यों में वीणा, आघाटि, शख, मृदग आदि का नामोल्लेख मिलता है।

शिक्षा—उत्तरवैदिक काल के पाठयक्रम मे भी वैदिक ग्रन्थो का ही विशेष महत्व था। सहिताग्रो और ब्राह्मणो के भिन्न-भिन्न पाठो के कारण देश में वैदिक अध्यापको और अध्येताओ की भिन्न-भिन्न शाखायें (चरण) स्थापित हो गई थी। धार्मिक एव दार्शनिक शकाओ और मतभेदो को लेकर समय-समय पर विद्वानो के वाद-विवाद का आयोजन किया जाता था। उपनिषद-काल तो इस प्रकार के वाद-विवाद के लिए विशेष प्रसिद्ध था। जनक की सभा मे याज्ञवल्क्य और गार्गी के बीच हुए वाद-विवाह की घटना इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। प्रतियोगिता में विजेता विद्वान राजाओ द्वारा विशेष रूप से पुरस्कृत होते थे। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि राजा जनक ने १००० गौओ को एकत्र कर प्रत्येक के सीग पर १०-१० पाद बाँध दिए थे और यह घोषणा की थी कि सर्वोत्कृष्ट विद्वान को समस्त सपाद गौयें पुरस्कार के रूप में दे दी जायेंगी।

उत्तरवैदिक काल में शिक्षा राजकीय सस्था न थी। वह भिन्न-भिन्न विद्वान ब्राह्मणों और क्षत्रियों के द्वारा व्यक्तिगत आधार पर दी जाती थी। अत गुरुकुल अथवा गुरु-गृह शिक्षा के केन्द्र थे। प्रसिद्ध गुरुओ के पास शिक्षा-प्राप्ति के लिए दूर-दूर से विद्यार्थी आते थे।

पाणिनि-काल[1]

पाणिनि के काल के विषय में बडा मतभेद है। सामान्यतया इसकी तिथि ई० पू० सातवी शताब्दी से ले कर ई० पू० तीसरी शताब्दी तक रखी गई है। परन्तु अधिकाश विद्वानो ने इसे सूत्र-काल की प्रारम्भिक रचना मानते हुए ईसवी पूर्व छठी-सातवी शताब्दी के लगभग रखा है।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की। यह व्याकरण-ग्रथ है, परन्तु भारतवर्ष के राजनीतिक, सामाजिक एवं सास्कृतिक अध्ययन के लिए भी इसमें सामग्री भरी पड़ी है।

पाणिनि का भौगोलिक ज्ञान—डॉ० भण्डारकर आदि विद्वानो का यह मत था कि पाणिनि को दक्षिणी भारत का ज्ञान न था। वे उत्तरी भारत के ही कुछ प्रदेश से परिचित थे। परतु डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने गम्भीर समीक्षा के पश्चात यह निर्धारित किया है कि 'मध्य एशिया से लेकर कलिंग तक एव सौवीर (आजकल का सिंध) से लेकर पूर्व में असम (आसाम) प्रान्त में सूरमस (वर्तमान सूरमा नदी) प्रदेश तक विस्तृत भौगोलिक क्षेत्रों के स्थान-नाम अष्टाध्यायी में पाये जाते हैं।'

तत्कालीन जनपदो में पाणिनि ने कबोज (आधुनिक पामीर और बदख्शाँ का सम्मिलित प्रदेश), गधार, सिन्धु, सौवीर (सिन्धु प्रात का दक्षिणी प्रदेश), ब्राह्मणक (सिंध प्रात का मध्य प्रदेश), कच्छ, केकय (गुजरात), मद्र (स्यालकोट के, आस-पास का प्रदेश), त्रिगर्त (रावी, सतलज और व्यास के बीच का प्रदेश), कुरु, कोसल, काशी, मगध, अवती, कलिंग, अश्मक (गोदावरी के तट पर) आदि का उल्लेख किया है।

१ इस काल के विशेष अध्ययन के लिये अतिविद्वत्तापूर्ण ग्रंथ 'पाणिनि कालीन देखिये डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का भारतवर्ष'

नदियों में वे सुवास्तु (स्वात), सिंधु, विपाश (व्यास) अजिरवती (राप्ती), चर्मण्वती (चंबल) आदि से परिचित थे।

राजनीतिक अवस्था—पाणिनि एक तन्त्रात्मक और गणतन्त्रात्मक दोनों प्रकार की शासन-प्रणालियों से परिचित थे।

राजतन्त्र—राजतन्त्रात्मक प्रणाली के शासित प्रदेश को 'राज्य' कहते थे।[1] पाणिनि के समय मे इस प्रकार के राज्यों में विशेष उल्लेखनीय थे कम्बोज, गधार, कुरु, कोसल, मगध, अवती, काशी, अश्मक, कलिंग, सौवीर आदि। राज्य का सर्वोच्च अधिकारी 'राजा' या 'भूपति' कहलाता था। राजकीय कार्यों में सहायता देने के लिए एक मत्रिपरिषद होती थी।[2] यह मत्रियो की समिति थी जो समय-समय पर राजा को परामर्श देती थी। इनमें जो मुख्य मत्री होता था वह 'आर्य ब्राह्मण कहलाता था।[3] इस मत्रिपरिषद के अतिरिक्त एक राज-सभा होती थी।[4] इसमें सभ्यों (सदस्यो) की सख्या अधिक होती थी।

अधिकारी—प्रशासनीय कार्यों के लिए राज्य मे अनेक विभाग होते थे। विभागाधिकारी 'अध्यक्ष' कहलाते थे।[5] राज्य के सामान्य अधिकारियों के लिये 'युक्त' शब्द का प्रयोग किया गया है।[6] अष्टाध्यायी युक्तारोही (अश्वशाला का अधिकारी), कारकर (करो को एकत्र करने वाला), क्षेत्रकर (खेतो की नाप-जोख करने-वाला), दौवारिक (प्रतिहारी), राज प्रत्येनस (राजा के अगरक्षक), परिचारक (राजा के सेवक), अनेक 'पाल' यथा गोपाल, यवपाल और दूत आदि पदाधिकारियो एव कर्मचारियो का उल्लेख करती है।

सेना—बाह्य आक्रमणो एव आतरिक अशाति से धन-जन की रक्षा के लिए प्रत्येक राजा के पास सेना होती थी। इस सेना मे पैदल, अश्वारोही, गजारोही और रथारोही होते थे। पाणिनि ने ऊँटो और खच्चरो की सम्मिलित टुकडी का भी उल्लेख किया है।[7] युद्ध मे प्रयुक्त होने वाले शस्त्रास्त्रो में धनुष, असि (तलवार), परश्वध (फरसा), कासू (बर्छा), प्रास (भाला), शक्ति, हेति और लाठी विशेष उल्लेखनीय हैं। कदाचित् सेना में कमसरियत विभाग भी था। पाणिनि ने पत्ति-गणक (पैदल सेना का हिसाब-किताब देखने वाले) का उल्लेख किया है।

न्याय—पाणिनि-काल में देश में दीवानी और फौजदारी दोनो प्रकार की न्याय-व्यवस्था सगठित थी। न्याय के लिए पाणिनि ने अभ्रेष शब्द का प्रयोग किया है।[8] बहुधा झगडे स्थेय[9] (मध्यस्थ) के द्वारा निर्णीत हो जाते थे। अष्टाध्यायी में प्रति-भू (जमानत देने वाला व्यक्ति), परिवादक (अभियोक्ता), साक्षी (गवाह), शपथ, दायाद, साहसिक्य (फौजदारी सबधी अपराध), व्यवहारिक (कानून), दण्ड आदि न्याय-सबधी शब्दो का प्रयोग किया है। अपराधो मे ब्रह्म-हत्या, भ्रूण-हत्या शीर्ष-घात, स्तेय (चोरी), डकैती (लुण्टाक-डाकू) राहजनी आदि का उल्लेख मिलता है। छोटे-छोटे अपराधो मे प्राय अर्थ-दण्ड दिया जाता था।[10]

गणतंत्र—पाणिनि-काल में गणतत्रात्मक राज्य भी थे। इनका शासन संघ

१ पाणिनि० ६.२.१३०
२ वही ५.२.११२
३ वही ६.२.५८
४ वही २.४.२३
५ वही ६.२.६७
६ वही ६.२ ८१
७ वही ६.२.४०
८ वही ३.३.३७
९ वही १.३.२३
१० वही ५.४.२

के द्वारा होता था[१]; संघ में बहुधा अनेक दल सम्मिलित रहते थे। उदाहरणार्थ, पाणिनि ने 'वासुदेव वर्ग्या, का उल्लेख किया है। यह उन मनुष्यों का वर्ग था जो वासुदेव को अपना नेता मानता था। पुन प्रत्येक दल में अनेक कुल होते थे। प्रचलित परंपरा के अनुसार प्रत्येक कुल का प्रतिनिधि 'राजा' की उपाधि धारण करता था। उदाहरणार्थ, लिच्छवियों के ७७०७ कुल थे। इनमें प्रत्येक कुल का प्रतिनिधि 'राजा' कहलाता था। इस प्रकार जहाँ राजतन्त्रात्मक-राज्य में केवल एक राजा होता था वहाँ गणतन्त्रात्मक राज्य में बहुसंख्यक 'राजा' होते थे। इन समस्त राजाओं की सभा संघसभा कहलाती थी। प्रशासनिक कार्यों के सम्पादन के लिए एक छोटी समिति भी होती थी जो 'संघपरिषद' कहलाती थी। सम्पूर्ण संघ का प्रधान 'संघ-मुख्य' कहलाता था। यह वैधानिक नेता था और इसके संपूर्ण कार्य संघ की सम्मति से होते थे।

प्रत्येक संघ का अपना लक्षण और अंक होता था।[२] लक्षण संघ का आकृति चिन्ह था। उदाहरणार्थ यौधेयों की मुद्राओं पर अंकित कुमार का चित्र। अंक संघ का नाम अथवा परंपरा-वाक्य था। उदाहरणार्थ, यौधेयों की मुद्राओं पर अंकित 'यौधेय-गणस्य जय'

पाणिनिकालीन प्रमुख संघो में अंधकवृष्णि, वृजि, [३], आश्वायन, आश्वकायन हास्तिनायन, वमाति आदि थे।

आयुधजीवी संघ—कुछ संघ आयुधजीवी थे।[४] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आयुधजीवी संघ को शस्त्रोपजीवी संघ कहा है। ये संघ उन जातियों अथवा मनुष्यों के थे जो आयुध अथवा शस्त्र से अपना जीविकार्जन करते थे। उदाहरणार्थ, यौधेय-संघ, मालव-संघ और क्षुद्रक-संघ आयुधजीवी संघ थे। इसी प्रकार त्रिगर्त के ६ संघ आयुधजीवी थे।

चतुर्वर्ण—अष्टाध्यायी में चतुर्वर्ण का अस्तित्व मिलता है। उसमें ब्राह्मण शब्द का प्रयोग मिलता है। भिन्न-भिन्न जनपदों में रहने के कारण ब्राह्मणों के भिन्न-भिन्न नाम पड़ गए थे।[५]

पाणिनि ने 'क्षत्रिय'[६] और 'राजन्य'[७] दोनों शब्दों का प्रयोग किया है।

पाणिनि ने 'वैश्य' के लिए 'अर्य' शब्द का प्रयोग किया है।[८]

अष्टाध्यायी[९] से प्रकट होता है कि पाणिनि-काल में शूद्र-समुदाय २ कोटियों में विभक्त था—(१) अनिरवसित और निरवसित। अनिरवसित शूद्र आर्य-समुदाय में परिगणित होते थे। पतंजलि ने इस कोटि में शक और यवन जातियों का उल्लेख किया है। निरवसित शूद्र अस्पृश्य और त्याज्य समझे जाते थे। पतंजलि ने ऐसे शूद्रों में चंडाल और मृत्य की गणना की है।

चतुराश्रम—अष्टाध्यायी में चतुराश्रम-व्यवस्था के भी उल्लेख मिलते है। उसमें 'ब्रह्मचर्य'[९] और 'ब्रह्मचारी'[१०] दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है। ब्रह्मचारी

१ वही ३.२.८६
२ पाणिनि ४.३.१२७
३ वही, ५.३.११४-११७
४ वही, ५.४.१०४
५ वही, ४. १. १६८
६ वही, ५. ३. ११४
७ वही, १, १, १०३
८ वही, २. ४ १०
९ पाणिनि, ५. १. ९४
१० वही, ६. ३. ८६

के लिए पाणिनि ने 'वर्णी'[१] शब्द का भी प्रयोग किया है।

कभी-कभी ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के पश्चात् विविध कारणों से मनुष्य तत्काल गृहस्थाश्रम में प्रवेश न कर पाता था। दोनों आश्रमों के बीच की यह अवस्था स्नातकावस्था कहलाती थी। पाणिनि ने 'स्नातक' का उल्लेख किया है।[२]

गृहस्थ के लिए पाणिनि ने 'गृहपति' शब्द का प्रयोग किया है।[३]

अष्टाध्यायी में 'श्रमण' शब्द का उल्लेख कदाचित् परिव्राजकों और संन्यासियों का द्योतक है।

नारी-समाज—अष्टाध्यायी नारी-समाज की अवस्था पर भी विशेष प्रकाश डालती है। अविवाहित कन्या के लिए पाणिनि ने 'कुमारी' शब्द का प्रयोग किया है। जिस समय वह विवाह के योग्य हो जाती थी उस समय उसे 'वर्या' कहते थे। कुछ स्त्रियाँ आजीवन अविवाहित रहकर भिक्षु-जीवन व्यतीत करती थी।[४] पाणिनि के काल में भी स्वयंवर की प्रथा थी। अपनी इच्छा से अपना पति चुनने वाली कन्या 'पतिवरा' कहलाती थी।[५] विवाह के समय कन्या के रूप और शील पर ध्यान रखा जाता था, जैसा[६] कि अष्टाध्यायी में उल्लिखित 'कल्याणिनेय (रूपवती माता का पुत्र) और 'भद्रमातुर'[७] (शीलवती माता का पुत्र) शब्दो से प्रकट होता है।

समाज में नारी को उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। कुछ विदुषी नारियाँ तो पुरुषों की भाँति अध्यापन-कार्य भी करती थीं।[८] ऐसा प्रतीत होता है कि अध्ययन-काल के लिए छात्रिशालायें भी विद्यमान थी।[९]

परिवार—पाणिनिकालीन भारत अनेकानेक जनपदो में विभक्त था। प्रत्येक बहुसंख्यक परिवारो का समूह था। परिवार ही राजनीतिक एव सामाजिक जीवन की इकाई था। पीछे कहा जा चुका है कि गणतन्त्रात्मक सघो में प्रत्येक परिवार का एक प्रतिनिधि रहता था। श्रेणियो (व्यावसायिक सघ) और निगमो (धनी व्यापारियो के सघ) मे भी प्रत्येक परिवार का ही एक सदस्य प्रतिनिधि होता था। समाज के मागलिक कर्मों एव जातीय समारोहो मे भी परिवार ही इकाई माना जाता था।

अष्टाध्यायी से सम्मिलित-परिवार की सूचना मिलती है। प्रत्येक परिवार में माता-पिता, बाबा-दादी, चाचा-चाची, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री आदि रहते थे। कदाचित् बहुप्रज और पुत्रपौत्रीण होना सौभाग्य समझा जाता था।[१०] प्रत्येक परिवार अपनी प्राचीनता, महत्ता और विशुद्धता पर गर्व करता था। पाणिनि ने 'कुलीन' और 'माहाकुल' (महाकुल मे उत्पन्न हुआ) का उल्लेख किया। प्रत्येक परिवार किसी न किसी प्राचीन ऋषि को अपना आदि-पुरुष मानता था। उस आदि-पुरुष से उत्पन्न सतान गोत्र कहलाती थी। पाणिनिकालीन समाज में बहुसख्यक गोत्र थे। कदाचित् सगोत्र स्त्री-पुरुष भाई-बहन समझे जाते थे और उनमें परस्पर-विवाह नही हो सकता था।

समाज पितृप्रधान था। परन्तु समानता की दृष्टि से माता का स्थान पिता

१ वही, ५. २. १३४
२ वही, ५. ४. २९
३ वही, ४. ४. ९०
४ वही, २. १. ७०
५ वही, ३. २. ४६
६ वही, ४. १. १२६
७ वही, ४. १. ११५
८ वही, ४. १. ४९
९ वही, ६. २. ८६
१० वही, ५. ४. २३; ५. २. १०

के स्थान से ऊँचा समझा जाता था। अष्टाध्यायी ने मातामह शब्द का पितामह शब्द से पूर्व उल्लेख करके कदाचित् यही इंगित किया है।

पिता परिवार का स्वामी होता था। वह वश्य अथवा गृहपति कहलाता था। पिता के पश्चात् उसका सबसे बड़ा पुत्र उत्तराधिकारी होता था।

पाणिनि ने 'आतिथ्य' और 'आतिथेय' (अतिथि सत्कार करने वाला) शब्दों का उल्लेख किया है। इससे प्रकट होता है कि समाज में अतिथि अति सम्मान्य समझा जाता था।

वेश-भूषा—वैदिक साहित्य में कपास का उल्लेख नहीं[1] मिलता। परन्तु पाणिनि ने 'तूल' (कपास) शब्द का प्रयोग किया है।[2] इससे विदित होता है कि उनके समय में सूती वस्त्र बनते होंगे। ऊनी वस्त्र पूर्ववत् प्रचलित थे। इनके लिए पाणिनि ने 'और्णक' शब्द का प्रयोग किया है।[3] कदाचित् समाज का धनी वर्ग रेशमी (कौषेय) वस्त्र,[4] धारण करता था। अन्य प्रकार के वस्त्र में 'औमक' का उल्लेख मिलता है।[5]

साधारणतया मनुष्य एक उत्तरीय और एक अन्तरीय पहनते थे। अन्तरीय के रूप में प्राय धोती (उपसव्यान) पहनी जाती थी।[6] कमर में नीवी (फेंटा) बाँधने की प्रथा थी।[7] ऊर्ध्व भाग में उत्तरीय के रूप में कोई भी वस्त्र लपेट लिया जाता था। कभी-कभी उसके ऊपर कम्बल ओढ़ने की भी प्रथा थी।[8] पाणिनि ने जूते (उपानह) का भी उल्लेख किया है।[9]

स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषण धारण करते थे। पाणिनि ने कुछ आभूषणों का नामोल्लेख किया है। इनमें ग्रैवेयक (कठा), ललाटिका, कर्णिका और मगलीय प्रमुख हैं।

समाज में केशविन्यास की भी प्रथा थी, जैसा कि 'केशवेष'[10] शब्द से प्रकट होता है।

अन्नपान—पूर्ववर्ती ग्रथो की भाँति पाणिनि ने भी 'ओदन'[11] और 'मांसौदन'[12] का उल्लेख किया है। प्रथम साधारण भात और द्वितीय मास और चावल के सम्मिश्रण से बना हुआ पुलाव होता था। पाणिनि ने 'अपूप' (पुआ) का भी उल्लेख किया है।[13] यह ऋग्वैदिक काल से ही भारत का लोकप्रिय खाद्य था। 'सयाव'[14] हलुआ था। यह गेहूँ के आटे को घी, दूध और गुड में पका कर बनाया जाता था। यव (जौ) के आटे की बनी हुई लपसी यवागू[15] कहलाती थी। अन्य खाद्यो में मन्थ (धान का सत्तू), पिष्टक (पीठा), पलल (तिलकुट) आदि थे। अष्टाध्यायी में उल्लिखित, विविध अन्नो और दालो से अन्यान्य प्रकार के खाद्य तैयार किए जाते होंगे। भोजन में तरकारियों (शाणा)[16] और विविध फलों[17] का भी विशेष

१ वही
२ वही, ३. १. २५
३ वही ४. ३. १५८
४ वही ६. ३. ४२
५ वही ६. ३. १५०
६ वही १. १. ३६
७ वही, ४. ३. ४४
८ वही, ५. २. ४२
९ वही, ५. १. १४
१० वही, ४. १. ४२
११ वही, ६.३.७
१२ वही, ४. ४. ६७
१३ वही, ५. १. ४
१४ वही, ३. ३. २३
१५ वही, ४. २. १३६
१६ वही, ४. १. १४२
१७ वही, ४. ३. १६३

स्थान रहा होगा। इनके अतिरिक्त दूध, दही, मट्ठा, शहद, गुड़, चीनी भी अनेक रूपों में प्रयुक्त होते थे।[1] पेय में मद्य (३ १.१००) और सुरा (२.४२५) का भी उल्लेख मिलता है।

आमोद-प्रमोद—अष्टाध्यायी में आमोद-प्रमोद के अनेक साधनों का उल्लेख है। वैदिक काल की भाँति पाणिनि-काल में भी 'द्यूत'[2] होता था। यह पासों (अक्षों)[3] से खेला जाता था। कभी कभी पासों के स्थान पर शलाकाओं का भी प्रयोग होता था।[4] कदाचित् खेल में पासों अथवा शलाकाओं की संख्या ५ रहती थी।[5] समय-समय पर जनसमूह किसी एक स्थान पर एकत्र होकर विविध प्रकार से खेल-कूद और आमोद-प्रमोद करता था। इस प्रकार के उत्सव 'समज्या' कहलाते थे।[6] अशोक अभिलेखों और महाभारत में उसे 'समाज' कहा गया है। मनोरंजन के लिए संगीत-नृत्य[7] का भी उपयोग होता था। अष्टाध्यायी में अनेक प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है। इनमें वीणा तूर्य, झर्झर और मड्डक प्रमुख हैं। अष्टाध्यायी में प्राच्य देश की क्रीडाओं का उल्लेख है।[8] ये उद्यान क्रीडाएँ थी। परवर्ती साहित्य में इन क्रीडाओं में शालभंजिका, उद्दालक, पुष्प-भंजिका आदि का नाम लिया गया है। पुरुष-समाज में मृगया[9] भी मनोरंजनकारी समझा जाता था। अधिक पौरुषशाली विनोद मल्लयुद्ध[10] द्वारा प्राप्त होता था।

आर्थिक व्यवस्था

कृषि—प्राचीन काल की भाँति पाणिनि-काल में भी कृषि देश का प्रमुख व्यवसाय था। गाँवों में खेती में प्रयुक्त भूमि हल्य अथवा सीत्य कहलाती थी।[11] इस भूमि के चतुर्दिश चरागाह[12] होते थे जहाँ गाँव के पशु चरते थे। खेत जोतने के लिए हल का प्रयोग होता था जो बैलो द्वारा खींचा जाता था।[13] खेत खोदने के लिए खनित्र (फावडा) का प्रयोग होता था।[14] पका अनाज हँसियाँ से काटा जाता था। हँसिया के लिए अष्टाध्यायी में दात्र अथवा लवित्र शब्द मिलता है।[15] अनाज काट कर खलिहान (खल्य)[16] में एकत्र किया जाता था। वहाँ उसकी मणनी (निष्पाव)[17] होती थी।

साधारणतया कृषि वृष्टि पर ही निर्भर थी। अष्टाध्यायी में वर्षा और प्रावृष् (वर्षाकाल) का उल्लेख हुआ है।[18] वर्षा न होने से अवग्रह (सूखा) पड जाता था।[19] इसी से कृषिकर्मा समाज ने सिंचाई के अन्य कृत्रिम साधन भी जुटा रखे थे। उदाहरणार्थ, कुओं का जल भी सिंचाई के काम में आता था।[20] अनेक स्थलों पर नहरें (कुल्यायें) भी बना ली गई थी।[21]

१ वही, ४. २. १८; ४. ३. ११८; ५. २. १०४
२ पाणिनि ३. ३. ३७
३ वही ४. ४. १९
४ वही २.१. १०
५ वही २. १. १०
६ वही ३. ३. ९६
७ वही ३. १. १४५-६
८ वही ६. २. ७४
९ वही ४. ४. ३५; ५. ४. १२६
१० वही ३. ३. ३६
११ वही ४. ४. ९७
१२ वही ३. ३. ११९
१३ वही ३. २. १८३; ४. ४. ८०
१४ वही २. १८४
१५ वही ३.२. १८२; ३. १. १८४
१६ वही ५. १. ७
१७ वही ३. ३.२८
१८ वही ४. ३. १८; ४. ३. २६
१९ वही ३. ३. ५१
२० वही ३. ३. १२३
२१ वही १. १. २४

पाणिनि ने तीन फसलों का उल्लेख किया है—

(१) वासन्तक-वसन्त में बोई जाने वाली।
(२) ग्रैष्मक-ग्रीष्म में बोई जाने वाली।
(३) आश्वयुजक-आश्विन में बोई जाने वाली।

कृषि में धान (व्रीहि और शालि), साठी (षष्टिका), जौ (यव), तिल, उड़द (माष), मूँग (मुद्ग), कसेई (गवेधुका), अलसी (उमा), भांग (भंगा) आदि की उपज होती थी।

फलों में पाणिनि ने आम, जामुन और बेल का उल्लेख किया है। फलवाले वृक्ष 'फलेग्रहि' कहलाते थे।[1]

पशु-पालन—कृषि-कर्म के साथ-साथ पशु-पालन भी जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन था। पीछे चरागाहों (गोचर) का उल्लेख किया जा चुका है। गोचर के अतिरिक्त व्रज[2] का भी पाणिनि ने उल्लेख किया है। पशु गोपाल के संरक्षण में चरने को भेजे जाते थे।

गाय—पाणिनि ने अनेक बार गाय का उल्लेख किया है। घरों में उसके रहने के लिए 'गोशाल'[3] बनाये जाते थे। वह झुण्डों में चरने जाती थी। गायों के झुण्ड को गोत्रा कहते थे।[4] जब तक गाय दूध देती थी तब तक 'धेनु' कहलाती थी।[5]

बैल—भारतीय जीवन में बैल की बड़ी उपयोगिता थी। वह हल खींचता था,[6] गाड़ी खींचता था,[7] रथ में जोता जाता था,[8] और बोझ ढोता था।[9] पाणिनि ने जवान साँड के लिए 'महोक्ष' और बुड्ढे साँड के लिए 'वृद्धोक्ष' शब्द का प्रयोग किया है।[10] ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय में साल्व जनपद के बैल विशेष प्रसिद्ध थे।[11] वे साल्वक कहलाते थे। बैल होने के पूर्व गाय के बछड़े वत्स कहलाते थे। वे वत्स-शाला में रखे जाते थे।[12]

भेंड़-बकरी—पाणिनि ने भेंड़ के लिए 'अवि'[13] और बकरी के लिए 'अज'[14] शब्द का प्रयोग किया है। ये दोनों भी महत्वपूर्ण पालतू पशु थे।

अन्य पालतू पशुओं में पाणिनि ने घोड़ा, ऊँट, हाथी, गदहा, हिरन आदि का उल्लेख किया है।

अन्यान्य व्यवसाय—पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में अनेक व्यवसायियों और शिल्पकारों का उल्लेख किया है। अनेक स्थलों पर उनकी कार्य-प्रणाली पर भी ईषत् प्रकाश पड़ता है। समस्त उपलब्ध संकेतों को संग्रहीत करने से प्रकट होता है कि पाणिनिकालीन भारतवर्ष के उद्योग-धन्धे पर्याप्त रूप से विकसित थे।

सुवर्णकार—पाणिनि सुवर्णकार के कार्य का संकेत किया है।[15] यह सोने को

१ वही ३. २. २६
२ वही ३. ३. ११९
३ वही ४. ३. ३५
४ वही ४. २. ५१
५ वही २. १. ६५
६ वही ४. ४. ८०
७ वही ४. ४. ८०
८ वही ४. ४. ७६
९ वही ४. ४. ७७
१० वही ५. ४. ७७
११ वही ४. २. १३६
१२ वही ४. ३. ३६
१३ वही २.३
१४ वही ४. २. १३६
१५ वही ८. ३. १०२; ५. २. ६४

तपाता और कसौटी पर कसता था। पीछे जिन आभूषणों का उल्लेख किया गया है उन्हें यही बनाता था।

कर्मार—यह लोहार था। इसे कौटिलिक[1] भी कहते थे क्योंकि यह कुटिलिका नामक औजार से काम करता था। इसका प्रमुख औजार अयोघन[2] (हथौड़ा) था।

अन्य धातुकार—पाणिनि ने सोने (वर्ण, हिरण्यं अथवा जातरूप) और लोहे (अयस्) के अतिरिक्त चाँदी (रजत),[3] कांस्य (काँसा)[4] और त्रपु (राँगा)[5] का भी उल्लेख किया है। चाँदी की वस्तुयें सुवर्णकार ही बनाता था और काँसा, राँगा आदि धातुओं की वस्तुयें लोहार।

तंतुवाय—यह जुलाहा था। अष्टाध्यायी में वस्त्र के लिए चीर चीवर, आच्छादन आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इससे प्रकट होता है कि तन्तुवाय का व्यवसाय सम्यक रूप से प्रतिष्ठित था। बुनाई का काम करघे (तन्त्रे)[6] की सहायता से होता था।[7] जिस स्थान पर कपड़ा बुना जाता था उसे 'आवाय' कहते थे।

चर्मकार—यह चमड़े की वस्तुयें बनाता था। पाणिनि ने चमड़े के जूते, रस्सी और बद्धी आदि का उल्लेख किया है।[8]

कुलाल—यह कुम्हार था और मिट्टी के बर्तन बनाता था।[9]

तक्षन्—बढ़ई के लिए पाणिनि ने 'तक्षन्'[10] शब्द का प्रयोग किया है।

व्यापार—पाणिनि व्यापारियों के लिए 'वणिक'[11] और 'वाणिज'[12] शब्दों का प्रयोग किया है। देश में पृथक्-पृथक् वस्तुओं के लिए पृथक्-पृथक् व्यापारी थे। उदाहरणार्थ गौओं के व्यापारी 'गोवाणिज'[13] कहलाते थे भिन्न-भिन्न नगरों और ग्रामों में बाजार (आपण)[14] होते थे। वहाँ क्रेता और विक्रेता दोनों जमा होते थे। देश में अनेक व्यापारिक मार्ग थे जिनसे व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते थे। सर्वप्रमुख मार्ग उत्तर पथ[15] था। यह पाटलिपुत्र से प्रारम्भ होकर वाराणसी, कौशाम्बी, साकेत, मथुरा, साकल, तक्षशिला, पुष्कलावती, कपिशा आदि नगरों से होता हुआ बाल्हीक देश तक गया था। इस प्रमुख मार्ग के अतिरिक्त देश के विविध नगरों को मिलाने वाले अन्यान्य छोटे-बड़े मार्ग थे[16] व्यापारियों और यात्रिओं की सुविधा के लिए मार्गों पर विश्राम-स्थल बने रहते थे।[17]

पूर्ववर्ती काल की भाँति पाणिनि-काल में भी किसी वस्तु को देकर बदले में दूसरी वस्तु खरीदी जा सकती थी। एक स्थान पर उल्लेख है कि गोपुच्छ देकर अन्य वस्तु

१ वही ४. ४. १८
२ वही ३.३.८२
३ पाणिनि ४. ३. १५४
४ वही ४. ३. १३८
५ वही ४. ३. १३८
६ वही ५. २.७०
७ वही ३. ३. ११२
८ वही ५. २. ९; ३. २. १८२; ५. १. १५
९ वही ४.३.११८
१० वही ५. ४. ९५
११ वही ३. ३. ५२
१२ वही ६. २. १३
१३ वही ६. २. १३
१४ वही ३. ३. ११९
१५ वही ३. ५. १. ७७
१६ वही ४. ३. २५
१७ वही ३. ३. १३६

खरीदी जा सकती थी[1] डाक्टर भण्डारकर के मत में गोपुच्छ का अर्थ गाय की पूँछ है। परन्तु डा० अग्रवाल इसका अर्थ स्वय गाय बताते हैं। पाणिनि के एक अन्य सूत्र से प्रकट होता है कि वसन (वस्त्र) देकर भी वस्तुयें खरीदी जा सकती थी।[2]

परन्तु इस सरलतम आदान-प्रदान के अतिरिक्त पाणिनि ने अन्य व्यापारिक माध्यमो का भी उल्लेख किया है।

निष्क—पूर्ववर्ती साहित्य की भाँति अष्टाध्यायी में भी निष्क का उल्लेख मिलता है। इस ग्रथ के एक सूत्र से प्रकट होता है कि कुछ वस्तुओ का मूल्य दो निष्क था और कुछ का तीन निष्क।[3] एक अन्य सूत्र का आशय यह है कि निष्क देकर खरीदी हुई वस्तु नैष्किक कहलाती है।[4] जैसा कि पहले कहा जा चुका है निष्क प्रारम्भ में एक आभूषण था। कालान्तर मे वह आभूषण एक निश्चित तौल का बन कर मुद्रा के रूप में प्रयुक्त होने लगा।

शतमान—एक सूत्र से प्रकट होता है कि शतमान देकर भी वस्तुये खरीदी जा सकती थी।[5] साधारणतया यह चाँदी का होता था, यद्यपि कही-कही सुवर्ण शतमान[6] का भी उल्लेख मिलता है।

कार्षापण—पाणिनि ने 'कार्षापण' का उल्लेख किया है।[7] कही-कही इसके लिए 'पण' शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[8] यह भारतवर्ष की प्राचीन मुद्रा थी। पाणिनि ने इस प्रकार की मुद्रा के लिए 'आहत' शब्द का प्रयोग किया है।[9] अंग्रेजी मे यह मुद्रा Purch-marked कहलाती है। तौल मे इस मुद्रा का वजन ८० रत्ती होता था। यह सोने, चाँदी और ताँबे, तीनो धातुओ की होती थी। अष्टाध्यायी से प्रकट होता है कि किसी वस्तु का मूल्य सौ कार्षापण[10] था और किसी का हजार[11] इत्यादि। कार्षापण के अतिरिक्त अर्ध[12] (कार्षापण) और पाद[13] (चौथाई) कार्षापण भी प्रचलित थे।

माष[14]—यह चाँदी का ताबे दोनो धातुओ की मुद्रा थी। मनु के कथनानुसार चाँदी का माष दो रत्ती का और ताँबे का माष पाँच रत्ती का होता था।[15]

निर्माण-प्रणाली—कार्षापण मुद्राओ से निर्माण की एक निश्चित प्रणाली थी। पहले चाँदी या ताँबे को गलाकर तथा पीट कर पतली-पतली चादरें बना ली जाती थी। फिर उन चादरो से छोटे-छोटे टुकड़े काट लिये जाते थे। निश्चित तौल से अधिक होने पर इन टुकडो के कोनों को काट-काट कर इनकी तौल ठीक कर ली जाती थी। फिर इन टुकडो पर ठप्पे से ठोक कर कोई चिन्ह अंकित कर दिया जाता था। पाणिनि ने इस आहत चिन्ह को 'रूप' कहा है।[16] भिन्न-भिन्न स्थानों अथवा अधिकारियो के भिन्न-भिन्न चिन्ह थे। जब एक निश्चित चिन्ह की मुद्रा एक स्थान से

१ वही ५ १ ११
२ वही० ५.१.२७
३ वही० ५.१.३०
४ वही० ५.१.२०
५ वही० ५.१.२७
६ शत० ब्रा० ८.२.३.३; कात्यायन श्रौतसूत्र २०.१.२२
७ पाणिनि० ५.१.२९
८ वही० ५.१.३४
९ वही० ५.२.१२०
१० वही० ५.१.२१
११ वही० ५.१.२७
१२ वही० ५.१.४८
१३ वही० ५.१.३४
१४ वही० ५.१.३४
१५ मनु० ८.१३५
१६ पाणिनि० ५.२.१२

दूसरे स्थान पर पहुँचती थी तो उसको पुन परीक्षा होती थी। इस परीक्षा के पश्चात् उस पर दूसरे स्थान का कोई दूसरा चिन्ह अंकित कर दिया जाता था। यही कारण है कि भारतवर्ष की प्राचीन आहत मुद्राओ (Purch-marked coins) पर विविध चिन्ह मिलते हैं। ये मुद्रायें भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागो में मिली हैं।

इस प्रकार पाणिनिकालीन भारत में अनेक प्रकार की मुद्रायें प्रचलित थी। इन्होने देश के व्यापारिक एव औद्योगिक विकास में भारी योग दिया था।

शिक्षा

चरण—अष्टाध्यायी से पाणिनिकालीन शिक्षा-पद्धति पर भी प्रचुर प्रकाश पडता है। शिक्षा दो स्थानो पर दी जाती थी—पितृगृह मे और चरणो (शिक्षा-सस्थाओ) में। अपने पिता से अध्ययन करने वाले विद्यार्थी 'पितुरन्तेवासी'[१] और चरणो के आचार्यों से अध्ययन करने वाले 'अन्तेवासी'[२] कहलाते थे। प्रत्येक चरण का सस्थापक कोई ऋषि अथवा आचार्य होता था। उसी के नाम से वह शिक्षण-सस्था और उसके विद्यार्थी संबोधित होते थे।[३] उदाहरणार्थ तैत्तिरीय ऋषि ने वैदिक साहित्य की तैत्तिरीय शाखा की स्थापना की। उनके शिष्य उत्तरोत्तर इस शाखा का सवर्धन करते रहे। इस शाखा का सम्पूर्ण वाङ्मय तैत्तिरीय के ही नाम से प्रख्यात हुआ। उसको अध्ययन करने वाली शिष्य-परम्परा भी तैत्तिरीय ही कहलाई। इसी प्रकार साहित्य की विविध शाखायें एवं उन शाखाओ के अनुयायी मूल प्रवर्तक के नाम से ही प्रख्यात होते थे। एक ही चरण में पढ़ने वाले सहपाठी सब्रह्मचारी कहलाते थे।[४] ऐसा प्रतीत होता है कि युवको की भाँति युवतियाँ भी चरणो में प्रविष्ट हो कर शिक्षा ग्रहण करती थी। पाणिनि के एक सूत्र (४१६३) के आधार पर कठ चरण में प्रविष्ट स्त्री कठी कहलाती थी।

चरण का कार्य-सचालन एक समिति के द्वारा होता था। इसे परिषद् कहते थे।[५] आचार्य इस परिषद् का प्रधान होता था। वह परिषद् के अन्य विद्वान् सदस्यो के साथ परामर्श करके उच्चारण, व्याकरण एव पारायण सम्बन्धी नियमो को निर्धारित करता था।

विद्यार्थी—विद्याध्ययन के लिये ब्रह्मचर्य अनिवार्य था। अत ब्रह्मचर्य विद्याध्ययन का पर्याय बन गया था। प्राचीन साहित्य मे जहाँ ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने का उल्लेख किया है वहाँ बहुधा विद्याध्ययन करने से तात्पर्य है।[६] अष्टाध्यायी में भी ब्रह्मचर्य का प्रयोग बहुधा इसी अर्थ में हुआ है।[७] ब्रह्मचर्य-प्रवेश और विद्यारम्भ उपनयन-सस्कार से प्रारम्भ होता था।[८] ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों को ब्रह्मचारी अथवा विद्यार्थी होने का अधिकार था। पाणिनि ने इन्हें 'वर्णी' कहा है।[९] आचार्य के साथ रहता हुआ विद्यार्थी 'अन्तेवासी' कहलाता था।[१०]

वस्तुत विद्यार्थियों की दो कोटियाँ थी[११]—(१) दण्डमाणव और (२) अन्तेवासी। वेदाध्ययन के पूर्व छोटी श्रेणियों के विद्यार्थी दण्डमाणव कहलाते थे।

१ वही० ६.३.२३
२ वही० ४.३.१३०
३ पाणिनि० ४.२.६६; ४.३.१०२
४ वही० ४.३.१२३
५ वही० ६.३.८६
६ छान्दोग्य उप० ६.१.१; बृह० उप० ५.१.१
७ पाणिनि० ५.१.५४
८ वही० १.३.३६
९ वही० ५.२.१३४
१० वही० ४.३.१०४
११ वही० ४.३.१३०

इनके विरुद्ध बड़ी श्रेणियों के विद्यार्थी जो आचार्य के समीप रहते हुए विधिवत् अध्ययन करते थे अन्तेवासी कहलाते थे।

अध्यापक—पाणिनि ने चार प्रकार के अध्यापकों का उल्लेख किया है—

(१) **आचार्य**—यह अध्यापक की सबसे बड़ी पदवी थी।

(२) **प्रवक्ता**—इसका पद आचार्य से नीचे था। यह प्रोक्त साहित्य को समझाता था।

(३) **श्रोत्रिय**—इसका कार्य वैदिक शाखा-साहित्य को कण्ठस्थ करना और कराना था।

(४) **अध्यापक**—यह वैज्ञानिक अथवा लौकिक साहित्य का अध्ययन करता था।

स्वभाव-भेद और शैली-भेद के आधार पर भी अध्यापकों को अनेक कोटियों में विभक्त किया गया था। उदाहरणार्थ, जो अध्यापक अपने विद्यार्थियों के प्रति अति कठोर होते थे तथा उनसे अति कठोर नियमों का पालन करवाते थे वे घोराध्यापक कहलाते थे।[1] इसी प्रकार सरल स्वभाव अध्यापकों को काष्ठाध्यापक और अधिक रटाने वाले अध्यापकों को भ्रत्याध्यापक कहते थे।

विषय—पाणिनि ने विविध पठ्य-विषयों का उल्लेख किया है। इनमें वैदिक शाखा-साहित्य की प्रधानता अवश्य थी, परन्तु उसके साथ-साथ अन्यान्य विषय भी अपेक्षित समझे जाते थे। यही कारण है कि अष्टाध्यायी में चारों वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों की अनेकानेक शाखाओं के साथ-साथ अन्यान्य पाठ्य-विषयों का भी उल्लेख है। इन विषयों में कुछ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

आख्यान—पाणिनि के समय तक आख्यानों का निर्माण हो चुका था।[2]

महाभारत—पाणिनि ने महाभारत का भी उल्लेख किया है।[3]

काव्य—अष्टाध्यायी में तीन काव्य-कृतियों का उल्लेख है—(१) शिशु केन्द्रीय (२) यमसभीय और (३) इन्द्रजननीय। इन तीनों काव्यों की कथा क्या थी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

ज्योतिष—अष्टाध्यायी के 'ऋगयनादिगण' के सम्बन्ध में संवत्सर, उत्पात, निमित्त और मुहूर्त आदि शब्द मिलते हैं। इनका सम्बन्ध ज्योतिष से है। अतः ऐसा अनुमान होता है कि पाणिनि के समय तक ज्योतिष-शास्त्र पर्याप्त रूप से विकसित हो गया था।

दर्शन—पाणिनि-काल तक दर्शन का पर्याप्त विकास हो गया था। मीमांसकों तथा आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों के उल्लेखों से यही तथ्य प्रकट होता है।

व्याकरण—पाणिनि ने पूर्ववर्ती व्याकरणाचार्यों में शाकटायन, आपिशलि, भारद्वाज, गार्ग्य, गालव, शाकल्य आदि के नाम लिये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरणशास्त्र पाणिनि के पूर्व ही प्रतिष्ठित हो चुका था।

भिक्षु-सूत्र—अष्टाध्यायी में 'भिक्षु सूत्र का उल्लेख हुआ है।[4] कदाचित् बौद्ध-

१ पाणिनि ८.१.६७
२ वही ६.२.१०३
३ वही ६.२.३८
४ पाणिनि ३.३.१०८

धर्म के उदय के पूर्व ही भारतवर्ष मे भिक्षु-सम्प्रदाय की कुछ प्रतिष्ठित परम्परायें थी। कदाचित् उनका कोई ग्रन्थ रहा होगा।

भाषा—पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है।[1] अब प्रश्न होता है कि वह भाषा किसकी भाषा थी। ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि ने जिस भाषा के लिये व्याकरण लिखा था वह सस्कृत (शिष्ट) समाज के नैत्यिक व्यवहार की भाषा थी। अनुमानत प्राकृत जन की भाषा का रूप कुछ और रहा होगा। यदि पाणिनि ने प्राकृत भाषा (लोक-भाषा) का व्याकरण लिखा होता तो केवल दो सौ वर्षों के पश्चात् उत्कीर्ण अशोक के लेखो में भाषा का रूप इतना अधिक भिन्न और परिवर्तित न होता।[2]

लिपि—मेगास्थनीज का कथन है कि जिस समय वह भारत में आया था उस समय भारतीय लिपि-ज्ञान से अनभिज्ञ थे। परन्तु यह कथन नितान्त निराधार था। अष्टाध्यायी के साक्ष्य से प्रकट होता है कि मेगास्थनीज से कई सौ वर्ष पूर्व पाणिनि-काल में ही भारतीयो को लिपि ज्ञान था।

अष्टाध्यायी में स्वय 'लिपिकार' का उल्लेख हुआ है।[3] पुन, पाणिनि ने 'यवनानी' शब्द का प्रयोग किया है।[4] अधिकाश विद्वानो का मत है कि इसका अर्थ यूनानी लिपि था। इससे भी पाणिनि का लिपि-ज्ञान सिद्ध होता है। यही नही, पाणिनि के समय मे यह प्रथा थी कि पशुओ के स्वामी अपने-अपने पशुओ के कानो पर पहचान के लिए कुछ चिन्ह अकित कर देते थे। इन चिन्हो में ८ और ५ की सख्यायें भी थी। इन चिन्हो को ग्वाले भी पहचान लेते थे। अत इससे प्रकट होता है कि लिपि-ज्ञान साधारण जनता को भी था।

धर्म

पाणिनिकालीन भारत में बहुदेववाद की प्रतिष्ठा थी। अष्टाध्यायी में इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि, वायु, सोम, रुद्र आदि ऋग्वैदिक देवताओ के नाम मिलते है। वैदिक देवियो मे अष्टाध्यायी उषा, पृथ्वी आदि का उल्लेख करती है। ऋग्वैदिक प्रथा के अनुसार कभी-कभी ये देवता द्वन्द्व में भी मिलते हैं—यथा द्यावापृथ्वी, सोम-रुद्र, अग्निवरुण आदि।

पाणिनि के समय तक आते-आते समाज मे ऋग्वैदिक देवताओ का भी प्रादुर्भाव हो गया था। इनमे सर्वप्रमुख वासुदेव का नाम है। पाणिनि-काल तक देश में वासुदेव-सम्प्रदाय का उदय हो चुका था यही नही वासुदेव के परम मित्र अर्जुन को भी देवत्व मिल गया था। वासुदेव-सम्प्रदाय के अन्तर्गत उनकी भी उपासना होने लगी थी। जिस प्रकार वासुदेव के उपासक वासुदेवक कहलाते थे उसी प्रकार अर्जुन के उपासक अर्जुनक।[5]

ऋग्वेद में शिव का नाम नही मिलता। हाँ, उस ग्रन्थ में रुद्र का नाम अवश्य आया है। परन्तु पाणिनि के समय तक आते-आते रुद्र, शिव, पार्वती, रुद्राणी, शर्वाणी, भवानी आदि की प्रतिष्ठा हो गई थी। यह शैव-सम्प्रदाय के विकास की दिशा थी।

१ वही ४.३.११०
२ ग्रियर्सन, इण्डियन ऐण्टिक्वेरी २२, २२२
३ पाणिनि ३.२.२१
४ वही ४.२.४९
५ पाणिनि ४.३.९८—वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्।

इस समय तक अनार्यों की यक्ष-पूजा, गन्धर्व-पूजा, राक्षस-पूजा, सूर्य-पूजा आदि की भी आर्य-समाज में प्रतिष्ठा हो चुकी थी। पाणिनि ने शेवल, सुपरि और विशाल का उल्लेख किया है।[१] ये यक्ष-देवता प्रतीत होते है। एक स्थान पर धृतराज का नाम आया है।[२] यह बौद्ध एवं जैन साहित्यो मे उल्लिखित पूर्व दिशा का गान्धर्व-राज धृतराष्ट्र जान पडता है। कतिपय सूत्रो में यातु और असुर का भी उल्लेख है।[३] दैत्यो की माता दिति[४] की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इसी प्रकार सर्पों की माता का नाम कद्रू मिलता है।[५]

यही नही, बहुदेववाद की प्रतिष्ठा इतनी अधिक हो गई थी कि समाज ने ऋतुओ और नक्षत्रो को भी देवता बना डाला था।[६]

पाणिनि के समय तक मूर्ति-पूजा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। पाणिनि के एक सूत्र[७] से प्रकट होता है कि मूर्तियाँ सार्वजनिक स्थानो अथवा व्यक्तिगत देवालयो में प्रतिष्ठित की जाती थी और जनता उनकी पूजा करती थी। उनका चढ़ावा उनके पुजारियो को मिलता था जिससे उनकी जीविका चलती थी। जनता की आवश्यकता की पूर्ति के लिये स्थान-स्थान पर ऐसी दूकानो का उदय हो गया था जहाँ मूर्तियाँ बेची जाती थीं।

बहुदेववाद के साथ-साथ यज्ञवद भी चल रहा था। पाणिनि ने अनेक यज्ञो, यज्ञ-कालों यज्ञ-क्रियाओ एव यज्ञ-पात्रो, यजमानो, उनकी सख्या, विशेषज्ञता आदि का उल्लेख किया है।

देश मे भक्ति-सम्प्रदाय की विचार-धारा पनप रही थी। ऊपर वासुदेव-सम्प्रदाय का उल्लेख किया जा चुका है। जनता की यह सामान्य धारणा बन गई थी कि देवी-देवताओ की पूजा-उपासना एव भक्ति करने से सन्तान-प्राप्ति हो सकती है। इसी तथ्य को इगित करते हुए वह अपने पुत्रो के नाम वरुणदत्त (वरुण देवता का दिया हुआ), शेवलदत्त (शेवल यक्ष का दिया हुआ), तिष्यदत्त (तिष्यनक्षत्र का दिया हुआ) आदि नाम रखती थी। पाणिनि के कुछ सूत्र यही प्रकट करते हैं।[८]

लोक में पाप-पुण्य एव कर्म-फल की मान्यता थी।[९] समाज में शुभ-अशुभ दिनो का विचार होता था।[१०] ज्योतिष विद्या और लक्षण-फल पर जनता की आस्था थी।[११] पाणिनि ने स्वर्ग (नाक) और मोक्ष (नि श्रेयस और निर्वाण) शब्दों का भी प्रयोग किया है।[१२]

बहुधा 'धर्म' शब्द का प्रयोग सदाचार के अर्थ में हुआ है।[१३] पाणिनि ने तप, शम, दम, विवेक त्याग आदि नैतिक गुणो की ओर सकेत किया है।[१४] अत समाज धर्म की बाह्य क्रियाओं के साथ ही साथ मनुष्य की अन्त शुद्धि एवं अन्तर्गुणो के ऊपर भी जोर देता था।

१ वही ५.३. ८४
२ वही ६. ४. १३५
३ वही ४.४. २११; ४. ४. १२३
४ वही ४. १. ५५
५ वही ४. १. ७२
६ वही ४. २. ३१; ४. २. ३५
७ वही ५. ३. ९९—जीविकार्थे चापण्ये।
८ पाणिनि ५. ३. ८४; ४. ३. २५
९ वही ३. २. ८९
१० वही ५. ४. ८७
११ वही १. ४. ३९; ३. २. ५२
१२ वही ६. ३. ७५; ५. ४. ७७. ८. २. ५०
१३ वही ४. ४. ४१
१४ वही ७. २२७; ३. २. १४२. २. ४, १४

अष्टाध्यायी प्रवृत्तिमार्ग के साथ-साथ निवृत्तिमार्ग का भी उल्लेख करती है। पीछे कहा जा चुका है कि पाणिनि भिक्षु-सूत्र से परिचित थे। भिक्षु शब्द के अतिरिक्त पाणिनि ने तपस्वी, तापस आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है। श्रमणवृत्ति का अनुगमन करनेवाली स्त्रियों को कुमारीश्रवणा कहा जाता था। एक सूत्र से कुछ विद्वानों का अनुमान है कि पाणिनि आजीवक-सम्प्रदाय के संस्थापक मस्करी गोशाल से भी परिचित थे।[1]

पाणिनि ने मिथ्याचारी भिक्षुओं का भी उल्लेख किया है जो लोगों को धोखा देने के लिए ही दण्ड और अजिन धारण करते थे। ऐसे भिक्षु दाण्डाजिनिक कहलाते थे।[2]

१ वही ६. १. १५४—मस्कर मस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः

२ वही ५. २. ७६

६

सूत्रकाल

कल्पसूत्र—उपनिषदो के पश्चात् ब्राह्मण साहित्य का एक बहुत बडा भाग सूत्र-रूप मे लिखा गया। सूत्र छोटे-छोटे वाक्य होते है। कम से कम शब्दो के द्वारा अधिक से अधिक बात कह देना इस सूत्र-साहित्य की विशेषता है। इसके अन्तर्गत व्यवस्थाकारो ने समाज के समस्त धार्मिक एव सामाजिक विधि-निषेधो को छोटे-छोटे सूत्रो में सगठित कर रखा है। लघुरूप मे होने के कारण इन सूत्रो को याद रखना और सरक्षित रखना दोनो सरल हो गया था।

सूत्र साहित्य में कल्प-सूत्रो का विशेष महत्व है। कल्पसूत्र तीन भागो मे सगठित है —

(१) श्रौत सूत्र (२) गृह्य सूत्र और (३) धर्मसूत्र

(१) श्रौतसूत्रो का विषय यज्ञ है। इनमें प्राचीन काल से चली आने वाली याज्ञिक क्रियाओ के आकार प्रकार, विधि निषेध आदि का वर्णन है। इनका स्वरूप नितान्त कर्मकाण्डीय है।

(२) गृह्यसूत्रो का प्रमुख विषय गृहस्थ जीवन है। इनमे मनुष्यो के आचार, कर्तव्य, उत्तरदायित्व, दैनिक उपासना, यज्ञ, सस्कार आदि के सम्बन्ध में विविध नियम है।

(३) **धर्मसूत्र**—गृह्यसूत्रो और धर्म सूत्रो मे बहुत कुछ विषय साम्य है। उनमे विशेष अन्तर यही है कि जहाँ गृह्यसूत्र गृहस्थ जीवन के विधि निषेधो का सविस्तार वर्णन करते हैं वहाँ धर्मसूत्र अत्यन्त सक्षिप्त रूप मे उनका उल्लेख करते हैं। परन्तु गृह्यसूत्रो की अपेक्षा उपनयन, विवाह आदि सस्कार, ब्रह्मचर्याश्रम, श्राद्ध मधुपर्क, अध्ययन अनध्ययन आदि धर्मसूत्रो मे अधिक विस्तार के साथ वर्णित हैं।

सूत्र साहित्य और स्मृति साहित्य—कालान्तर मे सूत्र साहित्य की परम्परा को स्मृति साहित्य ने भी सक्रम रखा। सूत्रो की भाँति ही स्मृतियो (मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि) ने भी धार्मिक एव सामाजिक व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। परन्तु फिर भी दोनो प्रकार के साहित्य मे अन्तर है। सूत्र साहित्य का प्रारम्भ स्मृति साहित्य के पूर्व हुआ, यद्यपि अनेक स्मृतियाँ (यथा मनुस्मृति एव याज्ञवल्क्य स्मृति) अनेक सूत्रो (यथा विष्णुधर्मसूत्र) से प्राचीन हैं। सूत्र साहित्य गद्य और पद्य दोनो में है परन्तु स्मृति-साहित्य एकमात्र पद्य मे है। सामान्यतया सूत्रो की भाषा स्मृतियो की भाषा से अधिक प्राचीन एव अविकसित है।

कतिपय सूत्रकार-गौतम—गौतम धर्मसूत्र काफी प्राचीन प्रतीत होता है। बौधायन धर्मसूत्र में गौतम का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट होता है कि गौतम बौधायन से पूर्व हुए थे। कालान्तर में वसिष्ठ धर्मसूत्र, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में भी गौतम का उल्लेख किया गया। इससे गौतम की व्यवस्था की प्राचीनता और महत्ता दोनो सिद्ध होती है। गौतम धर्मसूत्र एकमात्र गद्य में लिखा गया है। अतः इस आधार पर भी यह गद्य पद्य मिश्रित सूत्र रचनाओं से अधिक प्राचीन लगता है। गौतम धर्मसूत्र पाणिनि के व्याकरण नियमों से परिचित है, परन्तु उसमें उन नियमों की उतनी मान्यता नही दिखाई देती जितनी बाद के सूत्र साहित्य में। इससे अनुमान किया जा सकता है कि गौतम अन्य सूत्रकारों की अपेक्षा पाणिनि के अधिक समीप थे। उस समय तक कदाचित् पाणिनि की व्याकरण नियमावली अधिक प्रचलित न हुई थी। एक स्थान पर गौतम का कथन है कि वर्षा ऋतु में भिक्षुओं को परिभ्रमण स्थगित करके एक ही स्थान पर वास करना चाहिए। यह बौद्ध भिक्षुओं का नियम था। कदाचित् गौतम ने इसे बौद्ध व्यवस्था से ही ग्रहण किया था। यही नही, गौतम 'परिव्राजक' के स्थान पर 'भिक्षु' शब्द का प्रयोग करते हैं। यह विशेषतया बौद्ध प्रयोग था। इससे भी वे महात्मा बुद्ध के पश्चात्, परन्तु उनके काफी निकट सिद्ध होते हैं। गौतम धर्मसूत्र में 'यवन' जाति का भी उल्लेख है। इन सब आधारों पर गौतम का काल ६०० ई० पू० और ४०० ई० पू० के बीच मे रखा जा सकता है।

बौधायन—बौधायन का धर्मसूत्र भी मिलता है और गृह्यसूत्र भी। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बौधायन गृह्यसूत्र उनके धर्मसूत्र से अधिक प्राचीन हैं, क्योंकि बौधायन धर्मसूत्र मे उनके गृह्यसूत्र का उल्लेख मिलता है। बौधायन धर्मसूत्र में गौतम का उल्लेख हुआ है। अतः स्पष्ट है कि बौधायन गौतम के बाद हुए। परन्तु व्याकरण शैली सिद्धात आदि को देखते हुए बौधायन अन्य सूत्रकारों से अधिक प्राचीन लगते हैं। सामान्यतया इन्हें ५०० ई० पू० और २०० ई० पू० के बीच में रखा जा सकता है।

आपस्तम्ब—इनका सम्पूर्ण कल्प मिलता है। इसमें श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र तीनो हैं। बौधायन की अपेक्षा आपस्तम्ब धर्मसूत्र की भाषा अधिक सुव्यवस्थित है। अत इसका रचना काल बौधायन के पश्चात् ही होगा। याज्ञवल्क्य ने आपस्तम्ब का उल्लेख किया है। अतः निश्चित रूप से आपस्तम्ब २०० ई० के पूर्व हुए होंगे। आपस्तम्ब की भाषा में पाणिनि के नियमों की अधिक मान्यता नहीं है। इससे वे पाणिनि-काल से बहुत दूर नहीं हटाये जा सकते। यद्यपि आपस्तम्ब की रचनाओं में गौतम का नामोल्लेख नहीं है, तथापि दोनो सूत्रकारो की व्यवस्था में बहुत कुछ साम्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि आपस्तम्ब ने गौतम के कुछ समय बाद ही अपनी व्यवस्था बनाई थी। इन आधारो पर हम आपस्तम्ब को ५०० ई० पू० और १०० ई० पू० के बीच में रख सकते हैं।

वसिष्ठ—अन्य प्राचीन सूत्रकारों में वसिष्ठ उल्लेखनीय हैं। इनका धर्म-सूत्र भाषा, व्याकरण, शैली और सिद्धान्त की दृष्टि से अन्य धर्मसूत्रों से बाद की रचना प्रतीत होता है। मनु और याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृतियों में वसिष्ठ का नामोल्लेख किया है। इन आधारों पर हम वसिष्ठ को ३०० ई० पू० और १०० ई० पू० के बीच में रख सकते हैं।

अन्यान्य सूत्र-रचनायें निश्चित रूप से बहुत बाद की हैं। इनमें विष्णुधर्मसूत्र

विशेष उल्लेखनीय है। इसका रचना-काल १०० ई० और ३०० ई० के बीच में रक्खा जा सकता है। यही बात वैखानस और हिरण्यकेशी के धर्मसूत्रों के विषय मे कही जा सकती है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से निम्नलिखित अधिक प्रसिद्ध हैं—

श्रौतसूत्र—आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन और शाखायन के। इनका रचना-काल ६०० ई० पू० और ४०० ई० पू० के बीच में रक्खा जा सकता है।

गृह्य सूत्र—आपस्तम्ब और आश्वलायन के गृह्यसूत्रो से अधिक प्राचीन है। इनका रचना-काल ६०० ई० पू० और ४०० ई० पू० के बीच में है। बाद के महत्वपूर्ण गृह्यसूत्रो में बौधायन और पारस्कर के गृह्यसूत्र आते हैं। इनका रचना-काल कुछ बाद का प्रतीत होता है।

धर्मसूत्र—कल्पसूत्रों में धर्मसूत्रो की रचना सबसे बाद को हुई प्रतीत होती है। प्रमुख धर्मसूत्रो मे गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब और वसिष्ठ के धर्म-सूत्र आते है। इनका रचना-काल ६०० ई० पू० और ३०० ई० पू० के बीच मे रक्खा जा सकता है।

उपर्युक्त वर्णन से प्रकट हो जाता है कि सम्पूर्ण कल्प की रचना किसी एक व्यक्ति की न होकर उसके सम्प्रदाय की ही रचना है। उदाहरणार्थ, बौधायन का श्रौत-सूत्र भी मिलता है और धर्मसूत्र भी। परन्तु ये दोनो एक व्यक्ति अथवा एक काल की रचनाये नही लगती। बौधायन की मृत्यु के पश्चात् उनके सम्प्रदाय ने उनकी व्यवस्था को और आगे बढ़ाया होगा। परन्तु कभी-कभी कल्प के दो या तीन भाग एक ही व्यक्ति की रचना प्रतीत होते है। उदाहरणार्थ, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र और धर्म-सूत्र मे इतना साम्य है कि वे दोनो ही एक ही व्यक्ति की रचनायें प्रतीत होते है।

पुन, प्रत्येक सूत्र-ग्रथ किसी न किसी प्राचीन सहिता अथवा ब्राह्मण से अपना सबध स्थापित करता है। शाखा-भेद के साथ-साथ सूत्रकारो मे प्रादेशिक भेद भी था। उदाहरणार्थ, गौतम और वसिष्ठ उत्तर भारत के थे, परन्तु बौधायन और आपस्तम्ब दक्षिण भारत के। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन सूत्रकारो की व्यवस्था समान रूप से उत्तरी और दक्षिणी भारत के आर्य-समाज के लिए थी।

सूत्रों की आवश्यकता—बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव और प्रचार ने ब्राह्मण धर्म के लिए एक बडा भारी खतरा उत्पन्न कर दिया था। बौद्ध अवस्था ब्राह्मण व्यवस्था के बहुत-कुछ प्रतिकूल थी। उसके प्रचार ने ब्राह्मणो की मान्यताओ को हिला दिया था। अत यह आवश्यक था कि बौद्ध धर्म के विरोध मे ब्राह्मण पुनः अपनी व्यवस्था सगठित और प्रतिष्ठित करते जिससे वह बौद्ध प्रचार के प्रतिकूल खडी रह सके। ऐसा प्रतीत होता है सूत्र-साहित्य का एक बहुत बडा प्रारभिक भाग बौद्ध प्रचार के प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्पन्न हुआ। वेद-प्रामाण्य, दैवी वर्ण व्यवस्था, ब्राह्मण-श्रेष्ठता, चतुराश्रम व्यवस्था, निवृत्ति-मार्गी विचार-धारा के विरोध मे गार्हस्थ्य आश्रम की प्रतिष्ठा, जात्युत्कर्ष एव जात्यपकर्ष, चतुर्वर्ण-व्यवस्था के भीतर वर्ण-सकरों का सगठन, यज्ञ, कर्मकाण्ड आदि विषयो का लेकर सूत्र कारो ने पुन आर्य समाज को एक सूत्र में बाँधने का महनीय प्रयास किया। बौद्ध धर्म ने उनकी जिन मान्यताओं पर आघात किया था उन्ही को सूत्रकारो ने फिर से जीवन-दान देकर खड़ा किया। **इस प्रकार प्रारभिक सूत्र-व्यवस्था में हम ब्राह्मणी-व्यवस्था के पुन. संगठन और पुनरुन्नयन का सबल प्रयास देखते हैं।**

आर्यावर्त की सीमायें—बौधायन धर्मसूत्र का कथन है कि आर्यावर्त 'विनशन के पूर्व, कालकवन के पश्चिम, हिमालय के दक्षिण और पारियात्र के उत्तर में स्थित है।'[1] इसी प्रकार वसिष्ठ धर्मसूत्र का भी उल्लेख है। अन्तर केवल इतना ही है कि वसिष्ठ 'विनशन के पूर्व' न कह कर उस स्थान के पूर्व में आर्यावर्त की स्थिति बताते हैं जहाँ सरस्वती सरिता अदृश्य हुई थी।[2]

वस्तुत. दोनों में कोई अन्तर नहीं है। महाभारत के कथानुसार विनशन[3] एक तीर्थ था जो उसी स्थान पर स्थित था जहाँ सरस्वती विलुप्त हुई थी।

इस प्रकार प्रारंभिक सूत्रकारों के समय तक भारतवर्ष का पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी भाग पूर्णत आर्य-सस्कृति के अन्तर्गत न हुआ था। यह निष्कर्ष बौधायन के इस कथन से और भी पुष्ट हो जाता है कि अवन्ती, अग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणी-पथ, उपावृत, सिन्धु और सौवीर में वर्ण-संकर जातियाँ रहती थी।[4]

इस परिस्थिति मे स्पष्ट हो जात है कि दक्षिणात्य सूत्रकार बौधायन और आपस्तम्ब की व्यवस्था दक्षिण के एकमात्र आर्य-समुदाय पर ही लागू होती होगी। दक्षिण भारतवर्ष के बहुसख्यक अनार्य समुदाय की दृष्टि में वह 'विदेशीय' व्यवस्था ही होगी। दक्षिण भारत का आर्यीकरण कालान्तर की कहानी है।

वर्ण-व्यवस्था

ब्राह्मण—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सूत्र-काल मे वर्ण-व्यवस्था का पुन सगठन किया गया। जैन एव बौद्ध धर्मों के विरोध में वह पुन जन्मज घोषित की गई।[5] पुन ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया। राजा अन्य वर्गों का शासक है, परन्तु ब्राह्मण-वर्ण का नही।[6] उसे किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड नही दिया जा सकता।[7] वह पूर्णत. अबध्य, अबन्ध्य, अदण्डय, अबहिष्कार्य अपरि-वद्य और अपरिहार्य है।[8] वह कर से मुक्त है।[9] अन्य वर्गों के ऊपर उसकी श्रेष्ठता इसी बात से सिद्ध है कि दस वर्ष का ब्राह्मण सौ वर्ष के क्षत्रिय के लिए भी सम्मान्य है। वह क्षत्रिय के लिए पिता के समान है।[10]

परन्तु ब्राह्मण की इस समन्तात् सम्मान्यता एव उच्चता का कारण उसकी विद्वत्ता एवं सच्चरित्रता होता था। उसकी इन्ही विशेषताओ पर सूत्रकारों ने भी जोर दिया है। गौतम का कथन है कि अविद्वान् ब्राह्मण की अपेक्षा विद्वान् ब्राह्मण को ही दान देना अधिक पुण्यकर है।[11] धार्मिक कृत्यो में भोज आदि के लिये भी विद्वान् ब्राह्मणो को ही आमन्त्रित करने का आदेश दिया गया है।[12]

१ बौधा० धर्म० १.१.२७—प्राग्विनशनात् प्रत्यक् कालकवनाद् दक्षिणेन हिमवन्तमुदक् पारियात्र मेतदार्यावर्तम्।

२ वसिष्ठ ध० सू० १.८-९-आर्यावर्तः प्रागादर्शात्प्रत्यक् कालकवनादु दक्पारियात्रात् दक्षिणेन हिमवतः। उत्तरेण च विन्ध्यस्य।

३ महा० वन० ८२.१११

४ बौधा० ध० सू० १.१.३१

५ आप० १.१.१.५

६ गौतम० ९.१.

७ गौतम० १२.४३

८ गौतम० ८.१२-१३

९ आप० २.१०.२६.१०; वसिष्ठ १.४४-४६

१० आप० १.४.१४.२३

११ गौतम० ५.१८

१२ आप० ध० सू० २.६.१५.९-१०

गौतम[1] की व्यवस्था में ब्राह्मण की जीविका के तीन प्रमुख साधन बताये गए हैं--(१) अध्यापन (२) याजन (३) प्रतिग्रह। परन्तु स्पष्ट है कि बहुसंख्यक अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित ब्राह्मण न अध्यापन-कार्य कर सकते थे और न याजन-कार्य। अत उन्हें दान-परिग्रह भी प्राप्त न होता था। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने अन्य वर्गों के कर्मों का अनुसरण करना प्रारम्भ कर दिया था।[2]

इस विषम परिस्थिति को ध्यान में रखकर ही गौतम ने व्यवस्था की थी कि यदि उपर्युक्त तीन साधनों से कोई ब्राह्मण अपना तथा अपने परिवार का निर्वाह न कर सके तो वह क्षत्रिय अथवा वैश्य का भी व्यवसाय कर सकता है।[3] वे यह भी कहते है कि कुछ आचार्यों के मतानुसार ऐसा ब्राह्मण शूद्र-वृत्ति भी ग्रहण कर सकता है।[4] बौधायन का साक्ष्य है कि उत्तरी भारत में अनेक ब्राह्मण सैनिककर्मा थे।[5] आपस्तम्ब ने ब्राह्मण के सैनिक कर्मानुसरण का विरोध किया है, परन्तु अत्यन्त सकटापन्न ब्राह्मण के लिए उसकी अनुमति भी दे दी है।[6] इन उद्धरणो से स्पष्ट प्रकट होता है कि तत्कालीन समाज में क्षत्रिय कर्मा ब्राह्मण थे।

बहुसंख्यक ब्राह्मण वैश्य वर्ण के व्यवसाय का भी अनुसरण करते थे। बौधायन ने कहा है कि वेदाध्ययन और कृषि-कर्म मे परस्पर विरोध है। एक दूसरे का नाश कर देता है। परन्तु यदि किसी मनुष्य में सामर्थ्य हो तो वह दोनो कर्म कर सकता है अन्यथा उसे कृषि-कर्म का परित्याग कर देना चाहिए।[7] इस व्यवस्था से स्पष्ट प्रकट होता है कि समाज मे ब्राह्मण कृषक थे। जहाँ व्यवस्थाकारो ने ब्राह्मणो को कृषि-कर्म करने की अनुमति दी है वहाँ उन पर नाना प्रकार के यम-नियम भी लाद दिये हैं।[8]

एक स्थान पर गौतम का कथन है कि ब्राह्मण सुगन्धित पदार्थों, द्रव पदार्थों, पक्वान्न, क्षौम, मृग-चर्म, रगे और धुले वस्त्रो, दुग्ध, फल-मूल, मास, जल, औषधियो, पशुओ, मनुष्यो, भूमि, यव, भेड-बकरियो, घोडो और बैलो का विक्रय नही कर सकता।[9] इस निषेधात्मक नियम से प्रकट होता है कि बहुत से ब्राह्मण वैश्यो की भाँति व्यापार भी करते थे। बौधायन और आपस्तम्ब ने ब्राह्मणो के लिए अनेक विक्रेय और अविक्रेय वस्तुयें बताई है।[10] इन व्यवस्थाकारो के नियमो से भी यही सिद्ध होता है कि ब्राह्मण व्यापारी भी थे।

परन्तु वर्ण-विरुद्ध कार्य करने वाले ब्राह्मण अनादर की दृष्टि से देखे जाते थे। स्वय बौधायन का कथन है कि राजा वाणिज्य एव शिल्प-कर्म करने वाले ब्राह्मणो से शूद्र-कर्म करवा सकता है।[11] यही नही, जीविका का अन्य साधन न होने पर ब्राह्मण शूद्र-कर्म करते भी थे।[12]

क्षत्रिय—सम्मान्यता की दृष्टि से ब्राह्मणो के पश्चात् क्षत्रियो का स्थान था। दोनो के बीच विद्वेष भावना मिटाने तथा सहयोग भावना उत्पन्न करने के विचार से

१ आप० ध० सू० २.
२ गौतम ७.६-७
३ वही
४ गौतम० ७.२२-२४
५ बौधा० ध० सू० १.१.२०
६ आप० १.१०.२९.७
७ बौधा० १.५.१०१
८ बौधा० २.२.८२-८३; वसिष्ठ २.३२-३४
९ गौतम ७.८-१५
१० बौधा० २.१.८१-८२; आप० १.७२.०.१२-१३
११ बौधा० ५.९५.
१२ गौतम० ७.१-२४

ही गौतम ने कहा था कि राजा और विद्वान् ब्राह्मण दोनों से संसार में धर्म की रक्षा होती है।[1] ब्राह्मणों के सहयोग से क्षत्रिय सुख-शान्ति प्राप्त करता है।[2] परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्येक व्यवस्थाकार ने क्षत्रिय के ऊपर ब्राह्मण ही की प्रभुता आरोपित की है। पीछे कहा जा चुका है कि आपस्तम्ब के विचार से दशवर्षीय ब्राह्मण भी शतवर्षीय क्षत्रिय के लिए सम्मान्य हैं। व्यवस्थाकारों ने अपने दण्डविधान में क्षत्रियों की अपेक्षा ब्राह्मणो को जो अधिक सुविधायें दी हैं उनसे भी ब्राह्मणो की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ, यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण का अपमान करे तो उस पर १०० कार्षापण का जुर्माना होगा, परन्तु यदि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय का अपमान करे तो उस पर केवल ५० कार्षापण जुर्माना होगा।[3] प्रत्येक वर्ण को राजकर देना पडता था, परन्तु ब्राह्मण उससे मुक्त था।[4]

ब्राह्मण की भाँति क्षत्रिय को भी अध्ययन, यज्ञ और दान का अधिकार था।[5] राजा को त्रिवेदज्ञ होना चाहिए।[6] आपस्तम्ब ने यह अनुमति दी है कि आपद्-काल में ब्राह्मण क्षत्रिय से विद्याध्ययन कर सकता है।[7] इससे प्रकट होता है कि समाज में क्षत्रिय आचार्य भी विद्यमान थे।

क्षत्रिय का प्रधान धर्म शासन करना था—सब मनुष्यो की रक्षा करना था।[8] परन्तु ऐसा सम्भव है कि समस्त क्षत्रियो को राजकीय प्रशासन और सेना में स्थान न मिलता है। उस स्थिति में वे वर्ण-विरुद्ध कार्यों का अनुसरण करके भी अपनी जीविका उपार्जन करते होंगे। ऊपर क्षत्रिय आचार्यों का उल्लेख किया जा चुका है। यही नही, आवश्यकता पडने पर क्षत्रिय वैश्य-धर्म भी कर सकते थे।[9] बौधायन का मत है कि क्षत्रियो को ऋण-दान का व्यवसाय न करना चाहिए।[10] इस निषेधात्मक व्यवस्था से सिद्ध होता है कि कुछ क्षत्रिय रुपये का लेन-देन करते थे और उस पर व्याज लेते थे। व्याज-वृत्ति उनकी जीविका का साधन थी।

पाराशर और गोभिल गृह्यसूत्रों का मत है कि राजता शौर्य पर आधारित है, जन्म पर नही।[11] इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय इतिहास में क्षत्रिय-वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्णों के व्यक्तियों के राजत्व के भी उदाहरण मिलते हैं। उन्होने अपने भुज-बल से राज्य तो प्राप्त कर लिया था परन्तु फिर भी वे क्षत्रिय न हो सके। कर्म के आधार पर जात्युत्कर्ष और जात्यपकर्ष के मत सिद्धान्त-मात्र रहे। समाज में उनका व्यावहारिक प्रयोग कभी न हो सका।

वैश्य—सम्मान्यता की दृष्टि से वैश्य-वर्ण ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के बाद आता है। सूत्र-काल की दण्ड-व्यवस्था से भी यही सिद्ध होता है। गौतम के मतानुसार यदि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय का अपमान करे तो उसे ५० कार्षापण जुर्माना देना होगा, परन्तु यदि वह पर किसी वैश्य का अपमान करे तो उसे केवल २५ कार्षापण देना पड़ेगा।[12]

ब्राह्मणों और क्षत्रियों की भाँति वैश्यों को भी अध्ययन भी यज्ञ और दान का

१ गौतम० ८.१
२ गौतम० ९.१४
३ गौतम २१.६.१०
४ गौतम० ११.१
५ गौतम० १०.१-३
६ गौतम ११.३
७ आप० ध० सू० २.२४२.५-२८
८ गौतम० १०.१-३
९ गौतम ७.६२; बौधा० २. २. ७७
१० बौधा० १. ५. ९३. ९४
११ पाराशर गृ० १.६८; गोभिल गृ० १.१.१५-१६
१२ गौतम २१.६-१०

अधिकार था।[१] आपस्तम्ब ने ब्राह्मणों को यह अनुमति दी थी कि आवश्यकता पड़ने पर वे वैश्यों से भी विद्याध्ययन कर सकते हैं।[२] इस व्यवस्था से अनुमान होता है कि कुछ वैश्य भी अध्ययन का कार्य करते थे। परन्तु वैश्यों का वेदाध्ययन का अधिकार प्रायः सिद्धान्त-मात्र ही रहा। अधिकांश वैश्यों ने अध्ययन और यज्ञादि कर्मों की ओर विशेष ध्यान दिया था। कृषि, वाणिज्य आदि अर्थकारी व्यवसायों में संलग्न वैश्य वर्ण के पास न समय था और न रुचि ही जो वे अध्ययनादि में प्रवृत्त होते। बौधायन की व्यवस्था[३] कि वेदाध्ययन और कृषि परस्पर-विरोधी हैं और सामान्य मनुष्य दोनों का एक साथ अनुसरण नहीं कर सकता, वैश्य वर्ण पर पूरी तरह से लागू हुई थी।[४] उसने वेदाध्ययन को छोड़ कर कृषि-कर्म को अपनाया था। इस परिस्थिति में वैश्य आचार्यों के उदाहरण सिद्धान्त-मात्र अथवा अपवाद-मात्र ही हैं। वस्तुः वैश्यों का प्रधान कर्म सदैव कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और कुसीद ही रहा।[५]

परन्तु अन्य वर्णों की भाँति वैश्य वर्ण भी आपद् काल में वर्ण-विरुद्ध व्यवसाय का अनुसरण कर सकता था।[६] गो, ब्राह्मण तथा वर्णों की रक्षा के लिए वह शास्त्र भी ग्रहण कर सकता था।[७]

शूद्र—चौथा वर्ण शूद्रों का था प्रारम्भ में इस वर्ण में अनार्य, विजित अथवा क्रीत मनुष्य ही थे। गौतम शूद्र को अनार्य कहते हैं।[८] बौधायन ने उसके लिए कृष्ण-वर्ण, शब्द का प्रयोग किया है। कालान्तर में अनार्य जातियों के साथ आर्यों की वर्ण-संकर जातियाँ भी शूद्र-समुदाय में परिगणित होने लगीं।[९]

सूत्रकारों की व्यवस्था के अन्तर्गत शूद्र नितान्त अधिकार-हीन और प्रतिष्ठा-हीन था। उसका प्रमुख धर्म अन्य वर्णों की सेवा था।[९] उसका समाज में निम्नतम स्थान था।[१०] वसिष्ठ उसे श्मशान की भाँति अपवित्र मानते है।[११] वह अन्य वर्णों के फेंके हुए वस्त्रों, आसनों, पद भागों और आतपत्रों को धारण करता था।[१२] उसकी अपनी कोई सम्पत्ति न थी। शूद्र की स्वयं अर्जित सम्पत्ति भी द्विजातियों की समझी जाती थी।[१३] उसकी हत्या करने वाले को वही दण्ड मिलना चाहिए जो कौवे, उल्लू, मेढक अथवा कुत्ते की हत्या करने वाले को मिलता है।[१४]

शूद्र को अध्ययन और यज्ञ का अधिकार न था। गौतम की व्यवस्था के अन्तर्गत यदि वह वैदिक मंत्रों का उच्चारण करे तो उसकी जिह्वा काट लेनी चाहिए।[१५] यदि वह उन्हें कण्ठस्थ करे तो उसके शरीर के दो टुकड़े कर देना चाहिए।[१६] यदि वह जान-बूझ कर उन्हें सुने तो उसके कानों में टीन अथवा लाख गला कर भर देना चाहिए।[१७] उसके सामने अन्य व्यक्ति को भी वेदाध्ययन न करना चाहिए।[१८]

सूत्रकारों की दंड-व्यवस्था में भी शूद्रों का निम्न स्थान है। जैसा कि पीछे कहा

१ गौतम १०.१-३
२ आप० ध० सू० २. २. ४.२५-२८
३ बौधा० १. ५. १०१
४ गौतम १०. १. ३
५ गौतम ७.२६
६ बौधा० २. २.८०
७ गौतम १०. ६९
८ बौधा ध० सू० २. १. ५९
९ गौतम १०. ५७-५९
१० आप० १.१.१.५
११ वसिष्ठ ४. ३
१२ गौतम १०. ५८
१३ गौतम १०. ६४-६५
१४ बौधा० १. १०. १९. १-६
१५ गौतम १२.५
१६ गौतम १२.६
१७ गौतम १२. ४
१८ आप० १. ३. ९. ९, वसिष्ठ १८. ११

गया है कि क्षत्रिय और वैश्य का अपमान करने पर ब्राह्मण पर क्रमशः ५० और २५ कार्षापण का जुर्माना होता था, परन्तु शूद्र के प्रति उसी अपराध में उसे कोई दंड न दिया जाता था।[१] सामान्य परिस्थिति में ब्राह्मण के लिए शूद्र का दान भी अग्राह्य था। वह उसे आपद काल में ग्रहण कर सकता था।[२]

अन्य जातियां—उपर्युक्त ४ वर्णों के अतिरिक्त समाज में बहुसंख्यक जातियाँ और उपजातियाँ भी थी। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, इनकी उत्पत्ति अनेक कारणों से हुई थी। परन्तु सूत्रकारो ने इन्हें अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का ही परिणाम बताया और चतुर्वर्णों के बाहर उन्हें वर्ण-सकर जातियो के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार बहुसंख्यक जातियों के होते हुए भी वर्ण चार ही रहे। ब्राह्मणो की विवेचनात्मक बुद्धि ने प्राचीन चतुर्वर्ण-व्यवस्था को अक्षय रक्खा।

सूत्र-साहित्य में वर्णित कुछ जातियों का उल्लेख कर देना आवश्यक है—

अम्बष्ठ—कदाचित् यह प्रदेशिक नाम है और प्रारम्भ में अम्बष्ठ प्रदेश के अनार्यों के लिये ही प्रयुक्त हुआ होगा। परन्तु ब्राह्मण व्यवस्थाकारो की दृष्टि में यह वर्ण-सकर जाति का नाम है। गौतम के अनुसार अम्बष्ठ क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री के सन्तान हैं।[३] बौधायन इसे ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री की सन्तान मानते हैं।[४]

आयोगव—गौतम की व्यवस्था मे इसे शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री की सन्तान कहा गया है,[५] परन्तु बौधायन इसे वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तान मानते हैं।[६]

उग्र—गौतम की दृष्टि में यह वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री की सन्तान है।[७] परन्तु बौधायन इसे क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्री की सन्तान घोषित करते हैं।[८]

चाण्डाल—शूद्र पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के सम्बन्ध से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण व्यावस्थाकारो ने इस जाति को महापातकी माना है। गौतम ने चाण्डालों का उल्लेख कुत्तो और कौवो की कोटि में किया है।[९] आपस्तम्ब भी चाण्डालो को प्रति निकृष्ट मानते हैं।[१०]

निषाद—बौधायन इसे ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री की सन्तान बताते हैं।[११] परन्तु गौतम का मत है कि यह ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री का सन्तान है।[१२]

मागध—गौतम के मतानुसार यह वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तान है।[१३] इसके साथ ही गौतम का यह भी कथन है कि कुछ आचार्य इसे वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की सन्तान मानते हैं।[१४] बौधायन ने इसे शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री की सन्तान घोषित किया है।[१५]

रथकार—प्रारम्भ में रथकारों का व्यावसायिक वर्ग था। परन्तु कालान्तर में यह जाति के रूप में सगठित हो गया। बौधायन ने इसे वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री

१ गौतम २१. ६-१०
२ गौतम १८. २४
३ गौतम ४. १४
४ बौधा १. ९. ३
५ गौतम ४. १५.
६ बौधा० १. ९. ७
७ गौतम ४. १४
८ बौधा० १. ९. ५
९ गौतम ४. १५—१६, १५. २५
१० आपस्तम्ब १. २. ४.९.५
११ बौधायन० १. ९. ३
१२ गौतम० ४. १४
१३ गौतम० ४. १५
१४ गौतम० ४. १६
१५ बौधा० १. ९.४

की सन्तान माना है।[1]

वैदेहक—गौतम इसे शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तान बताते हैं।[2] परन्तु बौधायन की दृष्टि में यह वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की सन्तान है।[3]

सूत—गौतम और बौधायन दोनों ही इसे क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की सन्तान बताते हैं।[4]

अन्य वर्ण-संकर जातियां—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, ब्राह्मण व्यवस्था-कारो ने विभिन्न जातियों की उत्पत्ति का कारण अनुलोम और प्रतिलोम विवाह ही बताये हैं। चतुर्वर्णों के धर्म-विरुद्ध विवाहो एव सम्बन्धों से अनेकानेक जातियाँ उत्पन्न हुई। इनमें से कुछ जातियो का ऊपर उल्लेख किया गया है। फिर इन जातियो ने अन्यान्य धर्मविरुद्ध विवाह और सम्बन्ध स्थापित किए जिससे अन्य उपजातियां उत्पन्न हुई। ये जातियाँ और उप-जातियाँ बढ़ती गई और ब्राह्मण व्यवस्थाकार इस वर्ण-सकर जातियों को विविध नाम देते गए। उदाहरणार्थ, ऊपर बताया जा चुका है कि धर्म-विरुद्ध विवाह अथवा सम्बन्ध से ही वैदेहक और अम्बष्ठ नामक दो जातियाँ उत्पन्न हुई थी। कालान्तर में वैदेहक पुरुष और अम्बष्ठ स्त्री के पारस्परिक सम्बन्ध से एक नवीन वर्णसकर जाति उत्पन्न हुई। बौधायन इसे वेण के नाम से पुकारते हैं।[5] इसी प्रकार निषाद पुरुष और शूद्र स्त्री से जो सन्तान उत्पन्न हुई उसे बौधायन पौल्कस के नाम से पुकारते हैं।[6]

इस प्रकार वर्ण से जातियाँ उत्पन्न हुई और उन जातियो से अन्य वर्णसंकर जातियाँ। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह उत्तरोत्तर इनकी सख्या बढाते रहे।

ब्राह्मण व्यवस्थाकारो ने इस विशाल जन-समुदाय को चतुर्वर्ण-व्यवस्था के आधार पर ही नामकरण, अधिकार और कर्तव्य आदि देकर अपनी व्यापक सगठन-शीलता का परिचय दिया था। परन्तु यह कहना बडा कठिन है कि उनकी यह व्यवस्था अपने सर्वांग रूप में किस काल में किस सीमा तक व्यवहृत हुई थी। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि समाज मे ब्राह्मण की सर्वश्रेष्ठता और शूद्रो की निम्नता बहुत-कुछ स्वीकृत हो चुकी थी।

चतुराश्रम व्यवस्था

सूत्र-साहित्य में हम आश्रम-व्यवस्था को सम्यक् रूप से सगठित देखते हैं। गौतम, आपस्तम्ब, वसिष्ठ आदि सभी व्यवस्थाकार आश्रमों की सख्या चार बताते हैं।[7] साधारणतया मनुष्य की आयु १०० वर्ष मानी गई है और वह २५-२५ वर्ष के काल को लेकर चारो आश्रमो में नियोजित की गई है। इस प्रकार २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रम, २५ से ५० वर्ष तक गार्हस्थ्य आश्रम, ५० से ७५ वर्ष तक वानप्रस्थ आश्रम और ७५ से १०० वर्ष तक सन्यास आश्रम की कल्पना की गई है। परन्तु विभिन्न व्यवस्थाकारो की योजना में इन कालो में ५-१० वर्ष का अंतर पड़ जाना स्वाभाविक ही था। उदाहरणार्थ, अधिकाश व्यवस्थाकारो ने ब्रह्मचारी का अध्ययन-काल १२ वर्ष तक माना है।[8] यह अध्ययन-काल उपनयन-संस्कार के पश्चात् ही

१ बौधा० ध० सू० १.९.६
२ गौतम ४. १५
३ बौधायन १. ९.८
४ गौतम ४. १२; बौधा० १. ९. ९
५ बौधा० १. ९. १३
६ बौधा० १. ९. १४
७ गौतम ३. २; आप० ध० सू० २-९. २१. १; वसिष्ठ ध० सू० ७. १-२
८ बौधा० गृ० १. २. १-५; पार० गृ० २. ५; आश्व० गृ० १. २२. ३-४

प्रारम्भ होता था। परंतु भिन्न-भिन्न वर्ण के उपनयन-संस्कार की उपयुक्त आयु भिन्न-भिन्न थी। उदाहरणार्थ, आश्वलायन के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का उपनयन-संस्कार क्रमशः ८, ११ और १२ वर्ष की आयु में होना चाहिए।[1] इस योजना के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि क्रमशः २०, २३ और २४ वर्ष की आयु तक निश्चित होती है।

साधारणतया ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम और तदुपरान्त वानप्रस्थ आश्रम प्रारम्भ होता था। परंतु वसिष्ठ के मतानुसार मनुष्य ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् सीधे परिव्राजक धर्म ग्रहण कर सकता है।[2] इस स्थिति में वानप्रस्थ अथवा सन्यास आश्रम की अवधि बहुत लम्बी हो जाती है।

इसी प्रकार बौधायन की योजका में सन्यासाश्रम ७५ वर्ष की आयु में प्रारम्भ न होकर ७० वर्ष की आयु मे प्रारम्भ होता है।[3] परिणामत प्रत्येक आश्रम के प्रवेश और समाप्ति का काल भिन्न-भिन्न हो जाता है। उनका एक-सा काल-चक्र नही है।

पुन यह स्मरण रखना चाहिए कि यह आश्रम व्यवस्था द्विजातियो के लिए ही थी। शूद्र-समुदाय इससे बाहर था। शूद्रो के लिए एकमात्र गृहस्थ आश्रम ही बताया गया था।

ब्रह्मचर्याश्रम—प्राय. समस्त सूत्रकारो ने आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रह्मचर्याश्रम का सर्वप्रथम वर्णन किया है।[4] परन्तु आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे इसका उल्लेख गृहस्थ आश्रम के पश्चात् हुआ है। स्पष्ट है कि इस व्यवस्थाकार ने काल-चक्र के अनुसार नही वरन् महत्व के अनुसार ही गृहस्थ आश्रम का उल्लेख ब्रह्मचर्याश्रम के पहले किया है।

ब्रह्मचर्याश्रम उपनयन-सस्कार से प्रारम्भ होता था। उपनयन का अर्थ है (आचार्य के) समीप (उप) ले जाना (नयन) अथवा वह संस्कार जिसके द्वारा ब्रह्मचारी को आचार्य के समीप ले जाया जाय।[5] शूद्रो को छोड कर शेष तीनो वर्णों को उपनयन का अधिकार था। अत वे सब ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट हो सकते थे।[6] सूत्र-साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता है कि स्त्रियो को भी उपनयन एव वेदाध्ययन का अधिकार था। आश्वलायन ने स्त्रियों के समावर्तन-संस्कार का उल्लेख किया है।[7] इससे प्रकट होता है कि वे भी ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर विद्याध्ययन करती थी। गोभिल गृह्यसूत्र में विवाह के समय कन्या को यज्ञोपवीत धारण किए हुए दिखाया है[8] इससे भी नारी के उपनयन-संस्कार का बोध होता है।

उपनयन सस्कार से ही ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत धारण करता है। बौधायन और वसिष्ठ का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को सदैव यज्ञोपवीत धारण किए रहना चाहिए। यह अत्यत पवित्र समझा जाता था।[9]

साधारणतया ब्रह्मचारी दो वस्त्र धारण करता था—उत्तरीय (ऊर्ध्ववस्त्र) और वास (अधोवस्त्र)। व्यवस्थाकारो ने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए भिन्न-

१ आश्व० गृ० १. १९. १-६
२ वसिष्ठ ७.३
३ बौधा० ध० सू० २-१०-५
४ गौतम ३. २; बौधा० ध० सू० २. ६. १७; वसिष्ठ १.२
५ संस्कार प्रकाश पृ० ३३४
६ बौधा० गृ० २. ८. १.१२
७ आश्व० गृ० ३. ८. ११
८ गोभिल० २. १. १९
९ बौधा० गृ० सू० २५. ७-८-यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं....।

भिन्न प्रकार के उत्तरीय और वास की कल्पना की है। उदाहरणार्थ, आश्वलायन, बौधायन और वसिष्ठ के अनुसार ब्राह्मण का उत्तरीय अजिन का, क्षत्रिय का रोख का और वैश्य का गोचर्म अथवा अजाचर्म का होना चाहिए।[1] इसी प्रकार प्रत्येक वर्ण के लिए पृथक्-पृथक् प्रकार के वास की कल्पना की गई है।[2]

वस्त्रों की भाँति ब्रह्मचारी की मेखला[3] और दण्ड[4] भी वर्ण के अनुसार पृथक्-पृथक् प्रकार के होते थ।

ब्रह्मचारी को नियमित रूप से भिक्षार्जन करना पडता था। यह नियम उसमें अल्प-भाण्डता, निरभिमान और साधना के गुण उत्पन्न करने के लिए बनाया गया था। भिक्षार्थी ब्रह्मचारी को निराश करने वाला व्यक्ति पातकी समझा जाता था।[5] गौतम ने भिक्षा-दान करना प्रत्येक गृहस्थ का धार्मिक कर्तव्य बना दिया था।[6] इसी प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम अपनी उदर-पूर्ति के लिए गृहस्थाश्रम पर ही निर्भर था। उधर, ब्रह्मचारी जीविका की चिन्ता से मुक्त होकर एकमात्र अध्ययन एव चरित्र-निर्माण में सलग्न रहते थे जिससे वे कालान्तर में अपने पालक-पोषक समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को सुचारुरूप से वहन कर सकें।

ब्रह्मचारी का जीवन अत्यन्त अनुशासन-शील और साधनामय था। व्यवस्थाकारों ने उसके भिक्षार्जन, स्नान, भोजन, शयन, गुरुसुश्रूषा, समिधादान आदि के विषय में विविध नियम बना रखे थे।[7]

ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि प्राय १२ वर्ष तक रहती थी। इस काल के पश्चात ब्रह्मचारी लगभग २०-२५ वर्ष का हो जाता था और तब उसे गृहस्थ आश्रम मे प्रवेश करने की अनुमति दी जाती थी। जिस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ उपनयन-संस्कार से होता था उसी प्रकार उनकी समाप्ति भी एक संस्कार विशेष से होती थी। इसे स्नान अथवा समावर्तन-संस्कार कहते थे। आश्वलायन का कथन है कि अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् ब्रह्मचारी को गुरुदक्षिणा देनी चाहिए और 'स्नान' करना चाहिए।[8] इसी प्रकार पारस्कर गृहसूत्र में उल्लेख है कि वेदाध्ययन करने के पश्चात् गुरु की अनुमति से ब्रह्मचारी को 'स्नान' करना चाहिए।[9]

कभी-कभी ब्रह्मचर्याश्रम छोडने के पश्चात् विवाह होने मे कुछ विलम्ब हो जाता है। ब्रह्मचर्यावस्था और गृहस्थावस्था के बीच की यह अवस्था स्नातकावस्था कहलाती थी।[10] अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् 'स्नान' करने के कारण ही ब्रह्मचारी 'स्नातक' कहलाता था।

गृहस्थाश्रम—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, स्नान-समावर्तन-संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी विवाह कर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता है। समस्त सूत्र-साहित्य में गृहस्थाश्रम को समस्त आश्रमों मे सर्वोच्च एव सर्वप्रधान माना है।

१ आश्व० गृ० १. १९. ८; बौधा० गृ० २.५.१६; वसिष्ठ ध० स० ११.६१-६३

२ आप० ध० सू० १.२. ३९-४१; वसिष्ठ ११. ६४-६७

३ गौतम १. १५; आश्व० गृ० १. १९. ११; बौधा० गृ० २. ५. १३

४ आश्व० १. १९. १३; १. २०. १; गौतम १. २२-२३; आप० गृ० ११. १५

५ आप० ध० सू० ११. ३ २६

६ गौतम ५ १६

७ आश्व० गृ० १. २२. २; काठक गृ० ४१. १७; गौतम० ३. १०८-१७६

८ आश्व० गृ० ३.९.४

९ पारस्कर गृ० २.६

१० बौधा० गृ० १. १५. १०

गौतम का कथन है कि वस्तुतः आश्रम एक ही है और वह है गृहस्थ आश्रम।[1] यही मत बौधायन का भी है।[2] आपस्तम्ब ने तो चतुराश्रमों में सर्वप्रथम गृहस्थाश्रम का ही नामोल्लेख किया है।[3]

ब्राह्मण-व्यवस्था में गृहस्थाश्रम की सर्वप्रधानता के अनेक कारण थे—

(१) ब्राह्मण धर्म ऋग्वैदिक काल से ही प्रवृत्ति-प्रधान रहा है। अतः उसने निवृत्ति मूलक ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों की अपेक्षा प्रवृत्ति मूलक गृहस्थाश्रम को ही अधिक महत्व दिया।

(२) ब्राह्मण-धर्म यज्ञप्रधान और कर्मकाण्ड-प्रधान रहा है। इसके अनुसार पितरों की शान्ति और सन्तोष के लिए अनेक प्रकार के याज्ञिक कार्य एवं धार्मिक क्रियायें आवश्यक थीं। इन्हें करने के लिए पुत्र की आवश्यकता थी। परन्तु पुत्र तो गृहस्थाश्रम की ही उत्पत्ति था। अन्य आश्रमों में उसकी उत्पत्ति सम्भव न थी। इसी से गृहस्थाश्रम सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझा गया।[4]

(३) अन्य तीनों आश्रम अपने निर्वाह के लिए गृहस्थ आश्रम की दानशीलता और उदारता पर निर्भर थे। यदि गृहस्थ भिक्षा-दानादि न करते तो शेष तीनों आश्रमों का अस्तित्व ही न रहता।[5]

(४) पहले बताया जा चुका है कि जैन एवं बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के स्वरूप ब्राह्मणों ने अपनी धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था का पुनः सगठन किया था। सूत्र-साहित्य का प्रारम्भिक भाग इसी सगठन का परिणाम है। जैन एवं बौद्ध धर्म ने निर्वाण के लिए गृह-त्याग आवश्यक बताया। जैन एवं बौद्ध प्रचारकों के आह्वान के परिणामस्वरूप अनेकानेक स्त्री-पुरुष अपने पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्यों को पूर्ण किए बिना ही गृह-त्याग करके भिक्षु बनने लगे। इससे समाज के लिए एक भारी सकट उत्पन्न हो गया था। अतः इस सकट का निराकरण करने एवं समाज को विच्छृखलता से बचाने के लिए ब्राह्मणों ने इस प्रकार के अनुत्तरदायित्वपूर्ण गृह-त्याग का विरोध किया। उन्होंने कहा कि परमार्थ के लिए गार्हस्थ्य-जीवन बाधक नहीं है। गृहस्थ-जीवन के विधि-निषेधों का पालन करने से ही मनुष्य को मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है।[6] इस प्रकार के विचारों का प्रतिपादन करके ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने निवृत्तिमार्गी विचार-धारा के विरोध में गृहस्थाश्रम को सबसे अधिक महत्ता और प्रधानता दी।

संस्कार—गृहस्थाश्रम में सस्कारों का विशेष महत्व है। सस्कारों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि वे मनुष्य के जन्म से मरण तक होते रहते है। प्रारम्भ में यज्ञ के पूर्व मनुष्य अपने नख-केश कटा कर तथा स्नानादि करके शुद्ध होता था। उसके इस शुद्धीकरण को ही सस्कार कहते थे।[7] परन्तु सूत्र-काल तक आते-आते सस्कार वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। सस्कार कोरे कर्मकाण्ड न थे। ये मनुष्य के सम्पूर्ण शारीरिक मानसिक, मनोवैज्ञानिक, चारित्रिक एवं सास्कृतिक विकास से सम्बन्धित थे।

संस्कार विशेषतया द्विजातियों के लिए ही थे। शूद्रों के कुछ सस्कार अवश्य होते थे, परन्तु उनकी क्रियायें मन्त्रहीन होती थीं।

१ गौतम० ३. १. ३५
२ बौधा० ध० सू० २. ६. २९
३ आप० ध० सू० २. ९. २१.१
४ बौधा० ध० सू० २.६. ९. ४२-४३
५ मनु० ३. १०. ७७-८०
६ वसिष्ठ ८
७ जैमिनि० ८३

स्त्रियों के भी संस्कार होते थे। परन्तु जातकर्म से लेकर चूड़ाकर्म तक वे मन्त्र-हीन होते थे।[1] हाँ विवाह-संस्कार उनका भी मन्त्रसहित होता था।[2]

गौतम ने निम्नलिखित ४० संस्कार बताये हैं—[3] गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तो-न्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, ४ व्रत, समावर्तन, विवाह, ५ महायज्ञ, ७ पाकयज्ञ, ७ हविर्यज्ञ और ७ सोमयज्ञ। अन्य व्यवस्थाकारों के अनु-सार संस्कारों की संख्या इससे कम है।

यहाँ कुछ सस्कारो का वर्णन कर देना आवश्यक है।

गर्भाधान—गौतम और बौधायन आदि व्यवस्थाकारो ने इसका सर्वप्रथम उल्लेख किया है।[4] इन्होने गर्भाधान के पूर्व दम्पति के लिये उचित काल और आव-श्यक धार्मिक कर्मों का उल्लेख किया है।

पुंसवन—यह सस्कार पुत्र-प्राप्ति के लिये किया जाता था। इसे कब किया जाय, इस विषय पर व्यवस्थाकारो में मतभेद है। पारस्कर गृहसूत्र के अनुसार यह सस्कार गर्भाधान के द्वितीय अथवा तृतीय मास में होना चाहिये।[5] परन्तु गोभिल, काठक और मानव गृह्यसूत्रों के अनुसार यह गर्भाधान के क्रमश: तीसरे, पाँचवे और आठवें मास में होना चाहिए।

सीमन्तोन्नयन—इस सस्कार में सीमन्तकरण होता है।[6] इसके करने के लिए काल के विषय में मतभेद है। परन्तु प्रत्येक व्यवस्थाकार गर्भाधान के तीसरे और आठवें मास के बीच में ही इसे रखता है।

जातकर्म—आश्वलायन के मतानुसार यह सस्कार पुत्र उत्पन्न होते ही तुरन्त कर देना चाहिए—उस समय जब कि जननी के पूर्व अन्य किसी भी व्यक्ति ने उसे न देखा हो। इस अवसर पर पिता नवजात शिशु का स्पर्श करता है, उसे स्वर्णमिश्रित घृत तथा मधु खिलाता है, उसके कानो मे मेधाजनन पढता है और उसे आशीर्वाद देता है।[7]

नामकरण—इस सस्कार में शिशु का नाम रखा जाता है। बौधायन के मता-नुसार यह सस्कार जन्म के दसवें अथवा बारहवें दिन होना चाहिए।[8] परतु गोभिल ने इसके लिए एक वर्ष पश्चात् भी करने की अनुमति दी है।[9]

निष्क्रमण—इस सस्कार में सर्वप्रथम शिशु घर के बाहर निकाला जाता है। यह जन्म के पश्चात् चौथे मास में होता था।

अन्नप्राशन—इस संस्कार में शिशु सर्वप्रथम अन्न खाता है। यह जन्म के पश्चात् छठे मास में होता था।

चौल—इस सस्कार में शिशु के शीश के बाल सर्वप्रथम मुडवाये जाते थे और उसके स्थान पर शिखा रखी जाती थी। यह शिशु के तीन वर्ष की आयु में सम्पादित होता था।[10]

१ आश्व० गृ० १.१५.१२; १.१६; ६ १.१७.१८
२ याज्ञ० १.१३
३ गौतम० ८.१४.२४
४ गौतम० ८.१४; बौधा० गृ० ४.६.१
५ पार० गृ० १.१४
६ गोभिल० २.७१; काठक० ३१.१; मानव० १.१२.२
७ आश्व० गृ० १.१५.१-४
८ बौधा० गृ० २.१.२३
९ गोभिल० २.८.८
१० बौधा० २.४, आश्व० १.१७.१८; गोभिल० २.९.१-२९

उपनयन—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, इस संस्कार में बालक आचार्य के पास भेजा जाता है और यज्ञोपवीत धारण करके ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होता है। इसके सम्पादन-काल के विषय में मतभेद है। आश्वलायन के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन ८ वर्ष की आयु में, क्षत्रिय का ११ वर्ष की आयु मे और वैश्य का १२ वर्ष की आयु मे होना चाहिए।[1] काठक गृह्यसूत्र में तीनो वर्णों के लिए यह आयु क्रमशः ७, ९ और ११ वर्ष की बताई गई है।[2]

पंचमहायज्ञ—उपर्युक्त संस्कारो की भाँति गृहस्थ के जीवन मे पंच महायज्ञों का विशेष महत्व है। इस महत्व को देखते हुए गौतम ने इन पच-महायज्ञो को भी सस्कार माना है। ये यज्ञ निम्नलिखित है—

(१) ब्रह्मयज्ञ-इस यज्ञ के द्वारा मनुष्य अपने प्राचीन ऋषियो के प्रति अपनी कृतज्ञता एव आदर-भावना प्रकट करता था। ये प्राचीन ऋषि वेदज्ञ और परम ज्ञानी थे। अत इनके प्रति कृतज्ञता-प्रदर्शन का सर्वोत्तम ढग विद्याध्यन करना था। इसी से व्यवस्थाकारो ने ब्रह्मयज्ञ के अवसर पर स्वाध्याय करने का नियम बनाया था।[3]

(२) देवयज्ञ—देवताओ के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शन के निमित्त ही इस यज्ञ का प्रादुर्भाव हुआ था। इस अवसर पर अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम, पृथ्वी आदि देवी-देवताओ के नाम के साथ स्वाहा कह कर अग्नि में समिधादान किया जाता था।[4]

(३) पितृयज्ञ—मनुष्य अपने पितरो के प्रति भी निरपेक्ष नही रह सकता। उनके प्रति अपनी श्रद्धा एव भक्ति प्रकट करने के लिए ब्राह्मण-व्यवस्थाकारो ने पितृयज्ञ की प्रतिष्ठा की। इस यज्ञ में पितरो के लिए तर्पण, बलिहरण अथवा श्राद्ध का आयोजन होता था।[5]

(४) मनुष्ययज्ञ—सम्पूर्ण मनुष्य-मात्र के प्रति भारतीयो की निर्विशेष उत्तर-दायित्व-भावना तथा सहृदयता के परिणाम-स्वरूप ही इस यज्ञ का जन्म हुआ था। इसका प्रदर्शन व्यवस्थाकारो ने अतिथि-सत्कार की अनिवार्यता द्वारा किया। अतिथि चाहे किसी भी जाति अथवा स्थिति का हो, वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्मान्य था। बौधायन और आपस्तम्ब ने चाण्डाल अतिथि तक के सत्कार का नियम बनाया था।[6] सम्पूर्ण मनुष्य-जाति के प्रति इससे अधिक आदर की भावना और क्या हो सकती है? आतिथ्य की उदात्त भावना का यहाँ तक विकास हुआ कि दूसरों को भोजन-दान किये बिना स्वय भोजन करना अधर्म समझा जाने लगा।[7]

(५) भूतयज्ञ—भारतीयो की सहृदय-भावना मनुष्य-मात्र तक ही सीमित न रही। उसने अपने व्यापक क्षेत्र में समस्त प्राणियो को समेट लिया। प्राणि-मात्र के प्रति भारतीयों की इस उदार भावना के परिणाम-स्वरूप ही 'भूतयज्ञ' का जन्म हुआ। इसके अन्तर्गत व्यवस्थाकारो ने समस्त जीवो का बलिदान का नियम बनाया। सम्पूर्ण विश्व बलि-प्राप्ति का अधिकारी बन गया।[8] एकमात्र स्वय भोजन करना पाप-कर्म समझा जाने लगा।[9]

१ आश्वला० गृ० १.१९.१-६
२ काठक० ४१.१-३
३ आप० ध० सू० १.३.११.१९; आश्व० गृ० ९ ३.४.६
४ आप० ध० सू० १.४.१२.१३, बोधा० ध० सू० २.६.४; गौतम० ५.८-९
५ गोभिल स्मृति २.८
६ बौधा० गृ० २.९.२१; आप० ध० सू० २.४.९.५
७ बौधा० ध० सू० २.३.६८.२१-२२
८ आप० ध० सू० २.४.९.५-६
९ शांख्या० गृ० २.१४.२२-२६

श्रौतयज्ञ—सूत्र-साहित्य बहुसंख्यक श्रौतयज्ञों का भी वर्णन करता है। इनमें अग्न्याध्येय, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, वैश्वदेव, शुनासीरीय, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध विशेष प्रसिद्ध हैं। इन यज्ञों और कर्मकाण्डों की क्रियायें बड़ी ही जटिल थी। अतः सामान्यतया पुरोहितों की सहायता के बिना इनका करना बड़ा कठिन था। इसका परिणाम यह हुआ कि इन श्रौतयज्ञों ने ब्राह्मण पौरोहित्य को और भी अधिक प्रतिष्ठा प्रदान की।

पचमहायज्ञों और श्रौतयज्ञो मे कतिपय आधार-भूत अन्तर दिखाई देते हैं—

(१) पचमहायज्ञ सरल और सुबोध थे। इन्हें कोई भी गृहस्थ स्वय कर सकता था। इन्हें कराने के लिए पुरोहित के माध्यम की आवश्यकता न थी। परन्तु इनके विरुद्ध श्रौतयज्ञ नितान्त जटिल और दुर्बोध होते थे। वे विशेषज्ञ पुरोहितो की सहयाता के बिना न किये जा सकते थे।

(२) पंचमहायज्ञो का आधार बड़ा व्यापक था। उनमें व्यक्तिगत स्वार्थ नही वरन् ऋषियो, देवो, पितरो, सम्पूर्ण मानव-जाति एव सम्पूर्ण प्राणि-मात्र के प्रति कृतज्ञता, सहृदयता और उदारता की भावना अन्तर्निहित थी। इनके विरुद्ध श्रौत-यज्ञो का आधार स्वार्थ था। उनका ध्येय यजमान को स्वर्ग, समृद्धि अथवा किसी अन्य साध्य की प्राप्ति कराना था।

(३) पंचमहायज्ञ थोड़े से समय मे ही समाप्त किये जा सकते थे। परन्तु कोई-कोई श्रौत यज्ञ तो वर्षो तक चलता था। उदाहरणार्थ, राजसूय यज्ञ दो वर्षों तक चलता था।

(४) पचमहायज्ञ नितान्त अहिंसात्मक थे, परन्तु अनेक श्रौतयज्ञो में पशु-बलि दी जाती थी। उदाहरणार्थ अग्निष्टोम मे पशु-बलि दी जाती थी। अश्वमेघ में तो अश्व की बलि सर्वविदित है।

(५) पचमहायज्ञो को कोई भी ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य कर सकता था। परन्तु प्रत्येक श्रौतयज्ञ करने का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार न था। उदाहरणार्थ, वाजपेय को ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय ही कर सकता था।

वानप्रस्थ आश्रम—गृहस्थाश्रम के सम्पूर्ण उत्तरदायित्वो को पूर्ण करने के पश्चात व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। परन्तु कतिपय व्यवस्थाकारो ने ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् सीधे वानप्रस्थ अथवा सन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की भी अनुमति दे रखी थी।[१] गौतम ने वानप्रस्थ के लिये वैखानस शब्द का प्रयोग किया है।[२] बौधायन के अनुसार वानप्रस्थ से उस व्यक्ति का बोध होता है जो वैखानसशास्त्र में उल्लिखित नियमावलि का पालन करता है।[३] इससे अनुमान होता है कि सूत्र-काल से बहुत पूर्व कोई वैखानस-शास्त्र बन चुका था।

वानप्रस्थ मनुष्य का जीवन बड़ा साधनामय होता था। उसे केश, नख आदि धारण करने पड़ते थे।[४] गृहत्याग कर उसे इतस्तत वृक्षादि के नीचे रहना पड़ता था।[५] जीर्ण-शीर्ण वस्त्र, अजिन अथवा वृक्ष की त्वचा से ही वह अपना शरीर ढकता था। बौधायन के वर्णन से प्रकट होता है कि बहुत से वानप्रस्थ मनुष्य अन्न का परित्याग कर एकमात्र कन्द, मूल, फल, शाक, पत्र अथवा जल ग्रहण करते हुए कठोर

१ वसिष्ठ ७.३; यज्ञ० ३.५६
२ गौतम० ३.२
३ बौध० सू० २. ६. १९
४ गौतम० ३.३३
५ आप० ध० सू० २. ९. २१.२००

तपस्या करते थे।[1]

शारीरिक तपश्चर्या के साथ-साथ ये विद्याध्ययन में रत रहते थे। आपस्तम्ब के अनुसार वानप्रस्थ व्यक्ति को वेद, उपनिषद् आदि धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन और मनन करना चाहिए।[2]

संन्यास—अन्तिम आश्रम सन्यास का था। सूत्र-साहित्य में सन्यासी भिक्षु, परिव्राज, परिव्राजक, यति, मौन आदि नामों से पुकारा गया है।[3] सन्यासी मनुष्य पूर्ण विरक्त होता है। वह ब्रह्मचारी, अहिंसा-व्रती, निर्द्वन्द्व, सत्यनिष्ठ, क्रोधहीन और क्षमाशील होता है।[4] या तो वह नग्न रहता है या फेंके हुए फटे-पुराने कपड़ों को धारण करता है। कुछ संन्यासी काषाय वस्त्र भी धारण करते थे।[5] उनके हाथ में सदैव दण्ड रहता है। व्यवस्थाकारों के अनुसार कुछ सन्यासी एकदण्डी होते थे और कुछ त्रिदण्डी।[6]

सन्यासी की जीवन भिक्षा पर ही निर्भर रहता था। व्यवस्थाकारों में इस विषय पर मतभेद था कि सन्यासी को एकमात्र ब्राह्मण से ही भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए अथवा द्विजाति से भी।[7] यही नहीं, भिक्षा के विषय में व्यवस्थाकारों ने अन्यान्य नियम भी बनाये थे। सन्यासी को केवल ५, ७ अथवा १० द्वारों से ही भिक्षा लेनी चाहिए।[8] भिक्षा के निमित्त उसे दिन भर में केवल एक ही बार गाँव अथवा नगर में प्रवेश करना चाहिए।[9] इन परिस्थितियों में भिक्षा-व्रती संन्यासी का अल्पाहारी होना निश्चित ही था।[10]

इस प्रकार अपने निर्वाह के लिए सन्यासाश्रम भी अन्य आश्रमों की भाँति गृहस्थाश्रम की उदारता और दानशीलता पर निर्भर था।

नारी-समाज

बाल-विवाह का अभाव—सूत्र-साहित्य से नारी-समाज पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। उसमें विवाह-सम्बन्धी जो नियम है उनसे स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रकालीन भारत में बाल-विवाह का प्रचलन न था। विवाह युवक और युवतियों के ही होते थे। उदाहरणार्थ, बौधायन का कथन है कि विवाह होते समय यदि कन्या के मासिक-धर्म प्रारम्भ हो जाय तो नियमानुसार प्रायश्चित्त करना चाहिए।[11] इससे प्रकट होता है कि विवाह के समय कन्या वयस्क होती थी। आपस्तम्ब, साङ्ख्यायन और पारस्कर का मत है कि विवाह के ३ दिन पश्चात् नव-विवाहित दम्पति का चतुर्थी कर्म होना चाहिए।[12] चतुर्थी कर्म में उनके समागम का विधान था। इससे

१ बौधा० ध० सू० ३.३
२ आप० ध० सू० २. ९. २२.९
३ गौतम० ३. २; आप० ध० सू० २. ९. ८१. १; २. ९. २१. ७; वसिष्ठ ७. १-२
४ गौतम ३.११; ३. २३
५ गौतम ३. १. १७. १८; आप० ध० सू० २. ९. २१. ११.१२; बौधा० ध० सू० २. ६. २४
६ बौधा० ध० सू० २. १०. ५३
७ बौधा० ध० सू० २. १०. ६९, वसिष्ठ १०. २४
८ बौधा० ध० सू० २. १०. ५७-५८; वसिष्ठ ध० सू० १०. ७
९ गौतम ३. १३
१० बौधा० ध० सू० २. १०. ६८; आप० ध० सू० २. ४. ९. १३
११ बौधा० गृ० ४. १. १०
१२ आपस्तम्ब गृ० ८. १०-११; सांख्या० गृ० १. १८-१९; पार० गृ० १.११

भी विवाह के समय वर वधू की वयस्कता सिद्ध होती है।

नारी-शिक्षा—आश्वलायन गृह्यसूत्र में स्त्रियों के समावर्तन-संस्कार का उल्लेख है।[1] यह संस्कार ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि की समाप्ति पर होता था। इससे स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ भी ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर शिक्षा प्राप्त करती थी। गोभिल गृह्यसूत्र के कथनानुसार विवाह के अवसर पर वर और वधू दोनों साथ-साथ मन्त्रोच्चार करते थे।[2] काठक गृह्यसूत्र भी दोनो व्यक्तियो के द्वारा अनुवाक्-पाठ किए जाने का उल्लेख करता है।[3] इन उल्लेखो से सिद्ध होता है कि वर की भाँति वधू को भी वैदिक ज्ञान होता था। आश्वलायन गृह्यसूत्र[4] में ऋषि-तर्पण के समय गार्गी वाचक्नवी, बडवा प्रातिथेयी और सुलभा मैत्रेयी आदि ऋषि नारियों के नाम भी लेने का आदेश है। इससे प्रकट होता है कि आश्वलायन के समय में भी विदुषी नारियो का निर्व्याज सम्मान होता था। हारीत[5] के एक उद्धरण से प्रकट होता है कि सूत्रकाल मे नारियाँ दो वर्गों में परिगणित होती थी। एक वर्ग की नारियों को सद्योवधू कहते थे। ये विवाह के पूर्व तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करती हुई अध्ययन करती थी और उसके बाद विवाह कर गृहस्थ जीवन मे प्रविष्ट होती थी। दूसरे वर्ग की नारियाँ ब्रह्मवादिनी कहलाती थीं। ये विवाह तथा गृहस्थ जीवन का विचार त्याग कर आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करती थी और विद्याध्ययन करती थी।

यही नहीं, हारीत का उपर्युक्त उद्धरण नारी-शिक्षा के ऊपर थोडा बहुत और प्रकाश भी डालता है। इसके अनुसार नारियो का उपनयन-संस्कार होता था, परतु उनकी शिक्षा प्राय घर पर ही होती थी और वे अजिन, चीर, जटा आदि धारण करने और भिक्षार्जन करने के नियमो से मुक्त थी।[6]

सपिण्ड विवाह—पिण्ड का साधारण अर्थ है शरीर। इस दृष्टि से सपिण्ड विवाह का आशय उन दो व्यक्तियो के विवाह से है जिनमे एक ही शरीर के समान अश विद्यमान हो। दूसरे शब्दों मे हम इस प्रकार के विवाह को 'रक्त-सबध' कह सकते हैं। गौतम और वशिष्ठ का मत है कि सपिण्ड सबध पिता के पक्ष मे ७ पीढियो तक और माता के सबध में ५ पीढियों तक रहता है।[7] व्यवस्थाकारों ने सपिण्ड विवाह का घोर विरोध किया है।[8] इस दृष्टि से चाचा, मामा, फूफा, मौसा आदि की पुत्रियों के साथ विवाह करना महान पातक समझा जाता था।[9] बौधायन धर्मसूत्र[10] से पता चलता है कि दक्षिण भारत मे मामा और फूफा की पुत्री के साथ विवाह धर्मविहित समझा जाता था, परतु उत्तरी भारत मे यह प्रथा न थी। स्वय बौधायन ने इस प्रकार के विवाह का विरोध किया है।

सगोत्र विवाह—गोत्र से उस पूर्वज के नाम का बोध होता है जिससे कोई समुदाय उत्पन्न हुआ माना जाता है। प्राय प्रत्येक समुदाय किसी न किसी प्राचीन ऋषि को ही अपना पूर्वज मानता है। इसी से समाज में विभिन्न समुदायो के भारद्वाज, वसिष्ठ, कात्यायन, उपमन्यु आदि गोत्र मिलते है। गोत्र का क्षेत्र इतना व्यापक

१ आश्व० गृ ३. ८. ११
२ गोभिल० २, १ १९-२०
३ काठक २५. २३
४ आश्व० ३. ४
५ वीरमित्रोदय-संस्कार प्रकाश में उद्धृत हारीत।
६ वही०
७ गौतम० ४.२; वसिष्ठ ८.१.
८ आप० ध० सू० २.५.११.१६; गोभिल० गृ० ३४.५
९ आप० ध० सू० १.७.२१.८
१० बौधा० १.१.१९-२६

कर दिया गया कि सैकड़ों पीढ़ियो के अतर पड़ जाने के पश्चात् भी सगोत्र युवा-युवती धर्मविहित विवाह नही कर सकते। प्राय. समस्त व्यवस्थाकारों ने सगोत्र विवाह का विरोध किया है।[1]

सप्रवर विवाह—प्रवर का अर्थ उन प्राचीन ऋषियो से होता है जो गोत्र संस्थापक ऋषियों के भी पूर्वज थे। व्यवस्थाकारो ने सप्रवर विवाह का भी विरोध किया है।[2]

अन्तर्जातीय विवाह—सूत्र-काल मे वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त दृढ हो गई थी। अत प्राय. प्रत्येक व्यवस्थाकार सवर्ण विवाह को ही अच्छा समझता है।[3] परंतु फिर भी समाज में अतर्जातीय विवाह होते रहे। ये अतर्जातीय विवाह दो कोटियों मे रक्खे गए है—अनुलोम और प्रतिलोम। जब कोई पुरुष अपने से नीचे वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करता था तो वह अनुलोम विवाह कहलाता था—जैसे ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय स्त्री का विवाह। इसके विरुद्ध जब कोई पुरुष अपने से ऊँचे वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करता था तो वह प्रतिलोम विवाह कहलाता था—जैसे क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री का विवाह।

सवर्ण विवाह को श्लाघ्य समझते हुए भी व्यवस्थाकारो ने अनुलोम विवाहों की अनुमति दे दी थी।[4] कदाचित् समाज में होने वाले अतिसख्यक अनुलोम-विवाहों को वैध करने के लिए ही यह अनुमति दी गई थी।

परतु द्विजातियो के लिए शूद्रा स्त्री के साथ विवाह करने की किसी प्रकार भी अनुमति न थी। गौतम का आदेश है कि शूद्रा स्त्री के साथ विवाह करने वाला ब्राह्मण श्राद्ध में सम्मिलित नही किया जा सकता।[5] वसिष्ठ का मत है कि शूद्रा के साथ विवाह करने वाला द्विजाति स्वर्गाधिकार से वचित हो जाता है।[6] विष्णु धर्मसूत्र में द्विजाति पुरुष और शूद्रा स्त्री के विवाह की कटु आलोचना की गई है।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में द्विजाति-शूद्रा विवाह होते अवश्य थे। तभी इन आलोचनात्मक एव निषेधात्मक नियमों की आवश्यकता पड़ी थी। यही नहीं, व्यवस्थाकारो ने इस प्रकार के विवाहो से उत्पन्न सन्तान के साम्पत्तिक अधिकार को भी स्वीकृति किया है।[7]

परंतु प्रत्येक व्यवस्थाकार प्रतिलोम विवाहो का घोर विरोधी था। ये विवाह अधर्म्य समझे जाते थे। इस प्रकार के विवाहो से उत्पन्न सन्तानो को गौतम अवैध घोषित करते हैं।[8] विष्णु भी प्रतिलोम विवाहो एवं उनकी सन्तानो को आर्यों के लिए विगर्हित बताते हैं।[9]

विवाहों के आठ प्रकार—सूत्र साहित्य में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है। ये किसी एक काल अथवा स्थान के विवाह न थे। अति प्राचीन-काल के असभ्य अथवा अर्धसभ्य वातावरण से लेकर अपने काल के सुसस्कृत वातावरण

१ गोभिल गृ० ३.४.४; हिरण्य० ध० सू० १.१९.२;
२ गौतम धर्म० सू० ४.२, वसिष्ठ ध० सू० ८.१.
३ गौतम ध० सू० ४.१; प्राय० ध० सू० २.६.१३.१-३, मानव गृ० १.७.८
४ बौधा० ध० सू० १.८.२; विष्णु ध० सू० २४.१-४
५ गौतम० ४.१५.१८.
६ वसिष्ठ १.२४-२७
७ बौधा० ध० सू० २.२.१९.
८ गौतम० ४.१०
९ विष्ण ध० सू० १६.३

तक जिन-जिन विवाह-प्रणालियों का समय-समय पर प्रादुर्भाव एवं विकास हुआ था उन सब को सूत्रकारों ने अष्ट-प्रणाली के अन्तर्गत शृंखलाबद्ध कर दिया।

यहाँ पर आठों प्रकार के विवाहों का उल्लेख कर देना आवश्यक है—

(१) **ब्राह्म**—इस प्रणाली के अन्तर्गत कन्या के विवाह का उत्तरदायित्व उसके पिता अथवा अभिभावक के ऊपर होता था। वह कोई सुयोग्य वर ढूँढ़ कर विधिपूर्वक अपनी अलंकृता पुत्री उसे दे देता था। समस्त विवाहों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण ही इस विवाह को 'ब्राह्म' का नाम दिया गया।[1] प्रारम्भ में वयस्का कन्याओं के विवाह के अवसर पर उनका भी रुचि-अरुचि का ध्यान रखा जाता था। परन्तु समाज में जैसे-जैसे कन्या के विवाह की आयु कम होती गई वैसे ही वैसे उसके पिता का उत्तरदायित्व बढ़ता गया। कालान्तर में ब्राह्म-विवाह ही समाज में सबसे अधिक प्रतिष्ठित हुआ।

(२) **दैव**—कभी-कभी यज्ञ कराने वाले पुरोहित के गुणों से प्रभावित होकर यजमान उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर देता था। वर के दैव-कार्य में सलग्न होने के कारण ही इस विवाह को 'दैव' की संज्ञा मिली। कुछ व्यवस्थाकारों का मत था कि इस प्रकार के विवाह में कन्या को पुरोहित की दक्षिणा समझना चाहिए।[2] इस प्रकार की व्याख्या के अनुसार दैव विवाह क्रियात्मक लगने लगा और समाज के एक वर्ग ने इसका विरोध किया। परन्तु कालान्तर में जब वैदिक यज्ञ समाप्त हो गए तो इस प्रकार के विवाहों का स्वतः अन्त हो गया।

(३) **आर्ष**—इस विवाह में पिता पुत्री-दान के बदले में अपने भावी दामाद से एक गाय और एक बैल लेता था। गाय-बैल का उपयोग याज्ञिक कर्मों में किया जाता था। इसी से इस विवाह का नाम 'आर्ष' पड़ा। स्पष्ट है कि यह विवाह क्रय-विक्रय पर आधारित था। कदाचित् आर्ष विवाह प्राचीन काल के विवाह की एक क्रय-विक्रयात्मक प्रणाली का कुछ विशुद्धीकृत रूप था। इसमें धन-धान्य के स्थान पर एक मात्र गाय-बैल का एक जोड़ा ही लिया जाता था। परन्तु फिर भी इसमें सिद्धान्त तो क्रय-विक्रय का ही था। इसी से व्यवस्थाकारों ने इस विवाह-प्रणाली का घोर विरोध किया।[3]

(४) **प्राजापत्य**—इसके अन्तर्गत पिता वर का मधुपर्क आदि से स्वागत करता है और इन वचनों के साथ उसे कन्या-दान करता है कि तुम दोनों जाकर साथ-साथ धार्मिक क्रियायें करो। वस्तुत: प्राजापत्य और ब्राह्म विवाहों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों के नाम और स्वरूप समानार्थक हैं। इसी से आपस्तम्ब और वसिष्ठ ब्राह्म विवाह का तो उल्लेख करते हैं परन्तु प्राजापत्य का नाम तक नहीं लेते।

(५) **गान्धर्व**—आधुनिक भाषा में इसे प्रणय-विवाह कह सकते हैं। प्राचीन विचार-धारा के अनुसार गन्धर्व-जाति अपने अनुरागी स्वभाव के लिए प्रसिद्ध थी; इसी से इस विवाह-प्रणाली का नाम गान्धर्व पड़ा। यह विवाह-प्रणाली वर और वधू की व्यस्क-अवस्था की अपेक्षा करती है। बौधायन ने इस विवाह को धर्म्य माना है। परन्तु आपस्तम्ब और वसिष्ठ इसे अधर्म्य मानते हैं।

(६) **आसुर**—यह विवाह क्रय-विक्रय पर आधारित है। इसमें कन्या के बदले

१ आ० ध० सू० २. ५. १२. ४; बौधा० ध०सू० १. ११. ११

२ बौधा० ध० सू० १. ११. ५

३ बौधा० १. ११. २०-१; आप० ध० सू० २.६. १३. १०-११

में उसके पिता को धन-धान्य मिलता है। इसी से मानव गृह्य-सूत्र इसे शौल्क विवाह कहता है। प्राचीन काल में असीरिया निवासियों में यह विवाह खूब प्रचलित था। इसी से कदाचित इसका नाम आसुर पड़ा। क्रय-विक्रय पर आधारित होने के कारण इस विवाह का भी विरोध किया गया। बौधायन का कथन है कि कन्या को बेचने वाला पिता घोर नरक में जाता है और क्रीत पत्नी धर्मविहिता नहीं होती है। वह एक दासी के समान होती है।[1]

(७) **राक्षस**—इस प्रणाली के अनुसार कन्या का अपहरण किया जाता था। कभी-कभी अपहरण में कन्या का भी हाथ रहता था। परन्तु कभी-कभी यह अपहरण उसकी इच्छा के विरुद्ध होता था। उस अवस्था में अपहरणकर्त्ता को कन्या के पिता अथवा संरक्षक से युद्ध करना पड़ता था। कालान्तर में यह प्रणाली शूर-कर्मा क्षत्रियों में अधिक प्रिय बन गई थी और इसका नाम क्षात्र-विवाह भी पड़ गया था। सूत्रकारों ने इस विवाह का घोर विरोध किया और यह कहा कि बलात् अपहरण की हुई कन्या के साथ विवाह करना अधर्म है। उस कन्या को अविवाहित ही समझना चाहिए और उसका विवाह दूसरे व्यक्ति के साथ किया जा सकता था।[2]

(८) **पैशाच**—इसके अन्तर्गत सोती हुई, बेहोश अथवा पागल कन्या के साथ समागम किया जाता था। समागम-कर्ता के पिशाच-कर्म के कारण ही इस विवाह-प्रणाली का नाम पैशाच पड़ा। यह सबसे अधिक निकृष्ट विवाह था। आपस्तम्ब और वसिष्ठ ने तो इसे अधर्म्य विवाहों की कोटि में भी नहीं रखा। जिन व्यवस्थाकारों ने इस प्रकार की गर्हित प्रणाली को अधर्म्य विवाह-प्रणालियों में स्थान दिया है उन्होंने कन्या के हित को ध्यान में रख कर ही ऐसा किया है। उनकी व्यवस्था के अनुसार उस पापात्मा व्यभिचारी व्यक्ति को विवश होकर उस कन्या के साथ विवाह करना ही पड़ेगा। यदि उस पापात्मा के पाप-कर्म के पश्चात् व्यवस्थाकार इस प्रकार के विवाह को अवैध मानते तो एक निरीह कन्या का जीवन नष्ट हो जाता। इसी से उन्होंने इस निकृष्टतम प्रणाली को भी अपनी विवाह-प्रणालियों में स्थान दे दिया।

इस प्रकार उपर्युक्त आठ विवाह प्रणालियों में ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाहों को प्राय धर्म्य माना गया है। गन्धर्व विवाह को कुछ व्यवस्थाकार धर्म्य मानते हैं और कुछ अधर्म्य। शेष तीन विवाह-आसुर, राक्षस और पैशाच—अधर्म्य माने गए हैं। बौधायन में प्रथम चार धर्म्य विवाहों को ही ब्राह्मणों के लिए उपयुक्त माना गया है।[3] इन चार विवाहों में भी ब्राह्म और प्राजापत्य विवाहों को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[4] मानव गृह्यसूत्र तो शौल्क-विवाह के अतिरिक्त केवल ब्राह्मविवाह का ही उल्लेख करता है।[5] पीछे बताया जा चुका है कि वस्तुत प्राजापत्य और ब्राह्म विवाहों को एक ही विवाह समझना चाहिए।

एकपत्नीकता—साधारणतया सूत्र-काल में पुरुष एकपत्नीक ही थे। आपस्तम्ब का कथन है कि प्रजावती धर्मपत्नी के होते हुए मनुष्य को दूसरा विवाह न करना चाहिए।[6] जो व्यक्ति अकारण अपनी धर्मपत्नी का परित्याग करता है वह

१ बौधायन ध० सू० १. ११. २०-१
२ बौधा० ध० सू० ४. १. १७; वसिष्ठ १७.७३
३ बौधा० ध० सू० १. ११. १०
४ आप० ध० सू० २. ५. १२. ४;
बौधा० ध० सू० १. ११. ११
५ मानव गृ० १. ७-८
६ आप० ध० सू० २. ५. ११. १२

पातकी होता है।[१] अपनी पत्नी के अप्रजा, स्त्रीप्रजा अथवा मृतप्रजा होने का बहाना करके भी मनुष्य शीघ्र दूसरा विवाह नहीं कर सकता। उस स्थिति में उसे क्रमशः १० वर्ष, १२ वर्ष तक और १५ वर्ष प्रतीक्षा करने का आदेश दिया गया है।[२] हाँ, अप्रियवादिनी पत्नी का सद्य त्याग करने की अनुमति दी गई है।[३] परन्तु पूर्वकालीन और उत्तरकालीन उदाहरणों को देखते हुए यह अनुमान होता है कि राजवंश और धनी वर्गों में मनुष्य बहुपत्नीक भी होते होंगे। उपर्युक्त नियमों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि पुत्र-प्राप्ति के हेतु सामान्य मनुष्य भी दूसरा विवाह कर लेते होंगे।

सती प्रथा—सूत्र-साहित्य जन्म से लेकर मरण तक मनुष्य के बहुसंख्यक संस्कारों का उल्लेख करता है, परन्तु सती-प्रथा के विषय में वह एक शब्द भी नहीं कहता। यदि तत्कालीन समाज में सती प्रथा प्रचलित होती तो व्यवस्थाकार उसके विषय में नाना प्रकार के नियम बनाए बिना न रहते। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि सती-प्रथा अविद्यमान थी। यही नहीं, आपस्तम्ब एक स्थान पर स्वयं कहते हैं कि मृतक पति के दाह-संस्कार के पश्चात् विधवा स्त्री को देवर मृतक पति का शिष्य अथवा उसका कोई विश्वस्त वृद्ध दास श्मशान से घर ले आता है।[४] इस व्यवस्था में भी विधवा के घर वापस आने का उल्लेख है, सती होने का नहीं।

नियोग प्रथा—कुछ सूत्रकारों के मतानुसार विधवा स्त्री पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से अपने देवर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकती थी। परन्तु गौतम की व्यवस्था में यह सम्बन्ध दो पुत्रों की प्राप्ति तक ही रहना चाहिए।[५] यदि देवर न हो तो विधवा स्त्री सपिण्ड, सगोत्र, प्रवर तथा सजातीय पुरुष के साथ भी नियोग स्थापित कर सकती थी।[६] यही नहीं, पुत्र प्राप्ति के निमित्त सधवा स्त्री अपने पति के जीवन-काल में भी पर-पुरुष के साथ नियोग कर सकती थी। इस प्रकार के नियोग से उत्पन्न संतान को व्यवस्थाकारों ने क्षेत्रज कहा है।[७] बौधायन धर्म सूत्र से प्रकट होता है कि पति के मृतक, नपुंसक अथवा रोगी होने पर उसकी स्त्री नियोग प्रथा द्वारा क्षेत्रज पुत्र प्राप्त कर सकती थी, परन्तु यह नियोग दो पुत्रों की प्राप्ति तक ही रहता था।[८] कभी कभी विधवा की सम्पत्ति हड़पने के लिए लोग उसके साथ नियोग स्थापित करने की चेष्टा करते होंगे। व्यवस्थाकारों ने इस लोभपूर्ण प्रवृत्ति का विरोध किया है।[९]

परंतु कुछ व्यवस्थाकारों ने नियोग प्रथा द्वारा प्राप्त पुत्रों को वैध एवं धर्म्य नहीं माना है। उदाहरणार्थ, आपस्तम्ब का कथन है कि नियोग द्वारा पुत्र प्राप्त करने वाली दंपति नरक में जाती है। क्षेत्रज पुरुष नियोगी का ही पुत्र होता है। वह स्त्री के वास्तविक पति के लिए कोई धार्मिक क्रिया नहीं कर सकता।[१०]

स्त्री का पुनर्विवाह—सूत्र साहित्य कुछ परिस्थितियों में स्त्री के पुनर्विवाह की अनुमति देता है। बौधायन एक मात्र अभुक्त विधवा को पुनर्विवाह की आज्ञा देते हैं।[११]

१ आप० ध० सू० १. १०. २८ १९
२ बौधा० ध० सू० २. २. ४.६
३ वही
४ आप० गृ० ४. २. १८
५ गौतम १८. ४-८
६ वही
७ गौतम १८-११
८ बौधा० ध० सू० २. २. १७; २. २. ६८-७०
९ वसिष्ठ ध० सू० १७.५७
१० आप० ध० सू० २. १०. २७. ५-७; २. ६. १३.८
११ बौधा० २ २. ४. ७

वसिष्ठ ने अभुक्त विधवा[1] और प्रोषितापतिका[2] स्त्रियों को पुनर्विवाह का अधिकार दिया है। परन्तु दूसरी परिस्थिति में उसे ५ वर्ष तक अपने पति के वापस आने की प्रतीक्षा करना चाहिए। तत्पश्चात् वह अपनी इच्छानुसार अपने किसी निकट सबधी के साथ पुनर्विवाह कर सकती है। बौधायन और वसिष्ठ दोनों ने पुनर्भू स्त्री का वर्णन किया है। पुनर्भू उस स्त्री को कहते थे जो पुनर्विवाह करती थी। उसकी सतान को पौनभव कहा गया है।[3] इन शब्दों से भी स्त्री के पुनर्विवाह की प्रथा सिद्ध होती है।

सम्बन्ध-विच्छेद—वसिष्ठ की व्यवस्था से सिद्ध होता है कि पति के प्रव्रजित, होने पर स्त्री उससे अपना सबध-विच्छेद कर सकती थी।[4] पुन: उन्होंने पुनर्भू स्त्री का अर्थ बताते हुए जो कुछ लिखा है उससे यह प्रकट होता है कि तत्कालीन समाज में पति के क्लीव, उन्मत्त अथवा पतित होने पर भी स्त्री सबध-विच्छेद कर सकती थी।[5] परतु साधारण परिस्थिति मे पति-पत्नी का सबध अविच्छेद्य समझा जाता था। सबध-विच्छेद का अधिकार होते हुए भी स्त्रियाँ उसका उपयोग न करती थी। कम से कम भारतीय इतिहास में इसके उदाहरण नही के बराबर हैं।

पर्दा—सूत्र-साहित्य के असंख्य विधि-निषेधों के बीच कोई भी ऐसा सकेत नही मिलता जिससे पर्दा प्रथा का अस्तित्व प्रकट होता हो। सूत्रकारो का कथन है कि विवाह के पश्चात् अपने ग्राम को लौटते हुए वर अपनी नवविवाहिता स्त्री को मार्ग के ग्रामीणो को दिखाते हुए एक वैदिक श्लोक पढ़ता था।[6] इस समय वधू के मुख पर किसी भी अवगुण्ठन का चिन्ह नहीं मिलता।

समाज में नारी का पद—सूत्र-साहित्य में यत्र-तत्र नारी की पराधीनता के कतिपय उदाहरण अवश्य मिलते हैं। उदाहरणार्थ बौधायन का मत है कि नारी-पुरुष के अधीन है।[7] यही मत वसिष्ठ का भी है।[8] गौतम भी कहते हैं कि वह धार्मिक क्रियायें करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है।[9] परन्तु फिर भी नारी-समाज की सम्पूर्ण परिस्थिति को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अत्यन्त सतोषजनक थी। उसका विवाह वयस्क अवस्था में होता था। वह उपनयन-संस्कार, ब्रह्मचर्याश्रम और वेदाध्ययन की अधिकारिणी थी। उसे पुनर्विवाह और संबध-विच्छेद का भी अधिकार था। समाज में एकपत्नीकता की प्रथा ने भी उसकी स्थिति सतोषजनक बना दी थी। पर्दा प्रथा न होने के कारण वह धार्मिक एव सार्वजनिक कार्यों में अपने पति का सहयोग भी दे सकती थी। माता के रूप में तो उसकी गरिमा सर्वमान्य थी। उसका पद पिता और आचार्य से भी ऊँचा समझा जाता था।[10] समाज बहिष्कृता माता भी अपने पुत्र के लिए त्याज्य नही हो सकती।[11] पतित होने पर पिता परित्याज्य हो सकता है, परन्तु माता कदापि नहीं।[12]

१ वसिष्ठ १७. ६६
२ वसिष्ठ १७. ६७
३ वसिष्ठ १७. १८-२०
४ वही
५ वही
६ आश्व० गृ० १. ८. ७; आप० गृ० ६. ११; काठक गृ० २५. ४६ —सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत..।
७ बौधा० ध० सू० २. ५०-५२
८ वसिष्ठ ५. १
९ गौतम १८.१
१० गौतम २.५१
११ आप० १. १०.२८-९; बौधा० २. २. ४८
१२ वसिष्ठ १३-४७

आर्थिक अवस्था

कृषि व पशुपालन—सूत्रकाल में कृषि, प्रधान व्यवसाय था। साख्यायन गृह्य-सूत्र में बैलों द्वारा खेती करने, हल चलाने व मन्त्रो के साथ समस्त कृषि सम्बन्धी कार्य करने का उल्लेख मिलता है। जौ और चावल की कृषि प्रमुख रूप मे होती थी। साथ ही परती भूमि छोड़ रखने, अथवा बंजर भूमि का भी प्रमाण प्राप्त है। कृषि के अतिरिक्त पशु-पालन (विशेषकर गाय व बैल) का व्यवसाय होता था। इसके अतिरिक्त महिष, भेड-बकरी, घोडे व गधे भी पाले जाते थे, जो या तो भार-वाहक सवारी तथा ऊन बनाने के कार्य में आते थे अथवा मरने के बाद उनका चर्म काम में लाया जाता था। जिसके पास जितनी ही अधिक कृषि व पशु होते थे उतने ही वे धनी समझे जाते थे।

व्यापार व वाणिज्य—मन्त्रो द्वारा व्यापार में लाभ होने की आशा से किए गए "पाण्ड्यसिद्धि" संस्कार का उल्लेख प्राप्त है, जिससे सिद्ध होता है कि व्यापार तथा वाणिज्य होता था। परन्तु यह व्यापार वैश्यो में अधिक होता था। यद्यपि "समुद्र" तथा "सिन्धु" शब्दो का प्रयोग होता था परन्तु यह निश्चित है कि सूत्र-काल में सामुद्रिक ज्ञान बहुत कम था, इसलिए सामुद्रिक व्यापार होने में सन्देह है। बन्दरगाहो व व्यावसायिक केन्द्रो का उल्लेख कही नही है। मनुष्यो का जीवनोपार्जन, व्यवसाय इत्यादि ग्रामो में था। यद्यपि छोटी-छोटी नावों का उल्लेख है परन्तु "समुद्र पोत" होने में सन्देह है।

उद्योग-धन्धे—कल-कारखाने नही थे। घरेलू उद्योग-धन्धे होते थे, कुशासन व चटाई बुनना, मिट्टी के बर्तन बनाना, सिल, प्याले, भाले, काठ के सामान बनाने का कार्य बहुत होता था। रेशम के कीडे पाले जाते थे—जिससे रेशम प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त सूती, ऊनी व लिनेन कपड़ो का उद्योग होता था। रँगाई, धुनाई सिलाई इत्यादि भी होती थी।

धातु के बर्तन, बरछी, भाले तीर तथा अन्य घरेलू सामान बनाने का व्यवसाय प्रचलित था। सूत्रकाल में तो स्वर्ण, चांदी, लौह, ताँबा, पीतल व अन्य धातुओ का प्रयोग बहुतायत से होता था। जिससे स्पष्ट है कि इन धातुओ का व्यवसाय काफी उन्नत था। ग्रामो की आर्थिक दशा अच्छी थी। वर्णो में कार्य के विभाजन से समस्त व्यवसाय सुचारु-रूप से चलते थे। लेन-देन का कार्य भी वैश्यो मे बहुत प्रचलित था। क्रय-विक्रय पशुओ के रूप मे होता था। अथवा नाज देकर भी अन्य आवश्यकता की वस्तुएँ ली जा सकती थी। स्वर्ण-मुद्राएँ सम्भवत थी परन्तु उनका प्रयोग कम होता था।

राजनैतिक दशा—सूत्र काल मे राजनैतिक दशा साधारण थी। गृह्य-सूत्र में बडे साम्राज्य होने का प्रमाण नही है। इसके विपरीत छोटे-छोटे राज्यो के होने का प्रमाण प्राप्त है। यद्यपि कोई एक ऐसा सम्राट् नही था जो समस्त राज्यो पर अनुशासन कर सकता परन्तु यह अनुमान लगाना व्यर्थ है कि समस्त राज्यो में अराजकता व्याप्त थी। छोटे छोटे अपराधो में कठोर दण्ड और मृत्युदण्ड तक दिया जाता था। ब्राह्मण वर्ण की नैतिक प्रधानता होने के कारण शेष तीन वर्गों मे भी अराजकता की भावना कम थी।

"वशीकरण" मन्त्र, जो अपने पक्ष में न्याय करने व विपक्षी दल को पराजित करने या न्यायाधीश की मति फेर देने के लिए पढ़े जाते थे, इस सत्य के द्योतक हैं कि न्यायाधीश अथवा "संरपच" होते थे। वकील व कोई स्पष्ट कानून नहीं थे और

न न्याय करते समय कानूनी दृष्टि से मामले की समीक्षा होती थी।

शिक्षा

सूत्र काल में किताबी-शिक्षा न थी वरन् विद्यार्थी को कई वर्षों तक (१२ से ४८) वर्ष) अपने 'आचार्य' अथवा गुरु के सम्पर्क में रह कर विद्योपार्जन करना पड़ता था। इसे हम बहुत कुछ आधुनिक 'स्थानीय विश्वविद्यालय' (Residential University) का रूप दे सकते है। बल्कि सूत्र काल मे, आधुनिक विद्यालयो की अपेक्षा विद्याभ्यास पर जोर दिया जाता था, कारण, शिष्य को निरन्तर कई वर्षों तक गुरु के साथ रहना पडता था और उन पर गुरु का पूर्ण अनुशासन रहता था।

शिक्षा के समय और शिक्षा-काल में भी कई सस्कार होते थे।

उपनयन संस्कार

शूद्रों को छोड कर शेष तीनो वर्ण के विद्यार्थियों का सर्व प्रथम शिक्षा-सम्बन्धी सस्कार 'उपनयन सस्कार' होता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, तीनो वर्ण के विद्यार्थियो के लिए उपनयन-सस्कार की अवस्था व ऋतुएँ भिन्न थी। ब्राह्मण-पुत्र के लिए ८ से १० वर्ष, क्षत्रिय-पुत्र के लिए ग्यारह वर्ष व वैश्य-पुत्र के लिए बारह वर्ष उपयुक्त माने गए थे। यही नही, यदि ब्राह्मण-सन्तान का सोलहवे वर्ष, क्षत्रिय-पुत्र का बाइसवें वर्ष और वैश्य-पुत्र का चौबीसवे वर्ष तक "उपनयन सस्कार" न हो जाये तो वे 'पतित' समझे जाते थे और उनकी मर्यादा नष्ट हुई समझी जाती थी, और इनको वेद पढ़ने का अधिकार नही दिया जाता था।

उपनयन सस्कार की विधि का विस्तारपूर्वक विवरण देना व्यर्थ है। आजकल जैसा सस्कार होता है उससे बहुत कुछ भिन्न होते हुए भी बाह्य रूप से बहुत कुछ वैसा ही है। शिष्य के सिर के बालो का मुण्डन हो जाता है। वह एक वस्त्र धारी रहता है और हाथ मे "दण्ड" (डडा) धारण करता है। इस डड की लकडी तीनो वर्णों में भिन्न होती है।[1] उपनयन सस्कार के पश्चात् आचार्य सूर्य को साक्षी मान कर शिष्य को अपनी सेवा मे रख लेता है। यही दिवस शिष्य की शिक्षा-काल का प्रारम्भ माना जाता है।

इस काल मे शिष्य को नैतिक शिक्षा, सयम और चरित्र-निर्माण पर अधिक बल डाला जाता था।[2] शिक्षा का प्रारम्भ होना एक नवीन आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ माना जाता था। शिक्षा-काल मे शिष्य को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अनिवार्य रूप से करना पडता था, लवण, मिर्च, खटाई और तरकारी का सेवन उपनयन के ३ दिन तक निषेध माना जाता था।

इन शिष्यों की दिनचर्या कठोर होती थी। ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर शौचादि से निवृत्त हो, ये नैत्यिक कर्म मे लग जाते थ। खान, पान शयन इत्यादि में इन्हें बडी रोक थी। ये भूमि पर सोते थे। मिट्टी के घडे से जल पीना, दिन में सोना, अधिक बात करना, जोर से बोलना, स्त्री की ओर देखना अथवा उपहास करना, अशौच की दशा मे रहना, बिना गुरु को प्रदान किए हुए भोजन ग्रहण करना और भिक्षा के

१ उपनयन संस्कार को क्रिया, "दंड प्रदान" और अन्य संस्कारों की कार्य प्रणाली में भिन्न-भिन्न गृह सूत्रों में थोड़ा बहुत अन्तर है जिसका विवरण यहां नहीं दिया गया।

२ "सा विद्या या विमुक्तये."

अतिरिक्त और कुछ भोज्य पदार्थ खाना दंड के अतिरिक्त और कोई आयुध ग्रहण करना इत्यादि निषिद्ध था।

गुरु इन शिष्यों को मौखिक शिक्षा देते थे—जो इन्हें कण्ठस्थ करना पड़ता था। शेष समय गुरु की सेवा, आत्म चिंतन, संध्योपासना, और वेद पाठ में जाता था। प्रत्येक प्रकार की शिक्षा, वेद पाठ तथा संध्योपासना, नियमित मंत्रों के साथ प्रारंभ और अंत होती थी। उपवास शिक्षा का एक अंग था इसके अतिरिक्त शिष्यों को नाना प्रकार के व्रत करने पड़ते थे, शास्त्रार्थ, वादविवाद धर्मचर्चा इत्यादि शिक्षा के अंग थे। तर्पण तथा उपवास के साथ शिक्षा-काल का अंत होता था। विद्यार्थी को शिक्षा-काल में किए गए अपराध व नियम-उल्लंघन के फलस्वरूप घोर प्रायश्चित् करना पड़ता था। ये प्रायश्चित् बड़े कठोर होते थे।

अनाध्याय तथा अवकाश :—शिक्षा-काल मे अवकाश अथवा छुट्टी का उल्लेख प्राप्त है।[1] शुक्ल और कृष्ण पक्ष का अन्तिम (चौदहवाँ) दिवस अनाध्याय दिवस माना जाता था। उत्तरायण सूर्य के प्रथम दिवस के एक दिन पहले व एक दिन बाद तक अनाध्याय रहता था। इसके अतिरिक्त श्राद्ध, राजा के निधन, दुर्घटना, भूकम्प, ग्रहण, गुरु तथा गुरु पत्नी के निधन, घोर वर्षा व बवण्डर, किसी महापुरुष के आगमन[2] इत्यादि आकस्मिक दुर्घटना के कारण अनाध्याय रहता था और वेद-पाठ स्थगित कर दिया जाता था।

शिक्षा-समाप्ति पर समावर्त्तन सस्कार, होता था, और शिष्य को दीक्षान्त समारोह में भाग लेना होता था।[3] विद्याध्ययन के बाद इन शिष्यो को स्नातक[4] कहते थे।

सूत्र-काल मे शिक्षा-प्राप्त स्नातको की तीन श्रेणियाँ थी :—

(१) विद्याव्रत स्नातक—जो वेद पाठ के साथ साथ, वेद में वर्णित नियम व व्रत को पूरा करते थे। ऐसे स्नातक सबसे उच्च व आदर के पात्र समझे जाते थे

(२) विद्या-स्नातक —जो केवल वेद कण्ठस्थ करने के उपरात व्रतो का पालन नही करते थे, और

(३) व्रत स्नातक :—जो बिना वेद-कण्ठस्थ किए हुए व्रतो का पालन करते थे। परन्तु इन उपरोक्त तीनो प्रकार के स्नातको को कठोर परिश्रम, आचार-विचार, सयम व व्रत का निरन्तर अभ्यास करना पड़ता था। सूत्र-काल की शिक्षा में नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था।

शिक्षा-काल के अन्तर्गत एक ओर जब वेद-पाठ, वाद-विवाद तथा अन्य माध्यमों द्वारा स्नातक के बुद्धि का विकास होता था तो दूसरी ओर शरीर को निरोग रखने व स्वस्थ रहने के लिए प्राणायाम, योग, तथा अन्य क्रियाओं का अभ्यास करना पड़ता था। यही कारण है कि उस युग के स्नातक निरन्तर अभ्यास के कारण अधिक कर्मकाण्डी हो जाते थे।

वेश-भूषा—सूत्र काल मे पहिनावा बहुत सादा था मुख्यतः दो वस्त्र पहिने जाते थे। (१) अन्तरीय[5] जो कमर के नीचे पहिना जाता था, और (२) उत्तरीय, जो

१ गृह्य सूत्र (गोभिल)
२ "शिष्टागमेनानध्यायः"
३ हिरण्यकेशी गृह-सूत्रों में इस समारोह का विशद वर्णन किया गया है।
४ समावर्त्तन संस्कार में विधिपूर्वक 'स्नान' करने के कारण इनका नाम 'स्नातक' पड़ा।
५ हिरण्य० गृ० सू०

कमर के ऊपर पहिना जाता था। विवाह में होने वाली रीतियों से स्पष्ट होता है कि स्त्रियों व स्नातकों का परिहावा एक सा था[1] उपरोक्त दो वस्त्रो के साथ एक मेखला[2] व दड परिधान का अंग था। उत्तरीय परिधान के अभाव में अन्तरीय वस्त्र से ही कटि के ऊपरी भाग को ढक लेने का वृत्तान्त प्राप्त है।[3]

ब्राह्मण का उत्तरीय वस्त्र हिरन के, क्षत्रिय का रुरु नामक पशु के और वैश्य का बकरे के चर्म का बनता था। सस्कार अथवा उत्सव के अवसर पर पगड़ी के प्रयोग का विवरण प्राप्त है।[4]

विद्यार्थियों का उत्तरीय वस्त्र कभी कभी लोध्र[5] के फूल से अथवा नील[5] से रँगा जाता था। काले वस्त्रो का भी उपयोग होता था।

ऊनी, सूती व रेशमी वस्त्रो का उल्लेख प्राप्त है।[6] कम्बल व अन्य ऊनी वस्त्र पिण्डदान में दिए जाते थे। यद्यपि नए परिधान शुभ समझे जाते थे, परन्तु वस्त्रो के धोने का वृत्तान्त मिलता है।

स्नातक तथा भ्रमण करने वाले वैश्य व यात्री गरमी व धूप से रक्षा के लिए जूते[7] व छाता[7] का प्रयोग करते थे। पशुओ व शत्रुओं के आक्रमण से आत्मरक्षा के लिए यात्री डडो का प्रयोग करते थे तथा यात्रा के समय इन्हें साथ रखते थे।

खान-पान--सूत्र-काल मे मनुष्य जो भोजन करते थे (विद्यार्थियो को छोड कर) उसे सात्विक नही कहा जा सकता, कारण मांस का खुल कर प्रयोग होता था। इस काल मे हरिनाकशिन गृह्य-सूत्र के अनुसार, चावल, जौ, सेम के बीज व सरसो का प्रयोग होता था जो भोजन के प्रमुख अग माने जाते थे। जौ तथा चावल प्रमुख रूप से खाया जाता था।[8]

दूध, दही, घृत (आज्य) तथा मक्खन का प्रयोग होता था। हवन में 'आज्य' (घृत) प्रमुख अग समझा जाता था। अन्न और दूध तथा दूध की सामग्री के अतिरिक्त शहद, नमक व मदिरा ('सोम रस') का भी प्रयोग उत्सव के समय या विशेष अवसरो पर किया जाता था।

मास व मदिरा निषेध नही था, ब्राह्मण भी इन वस्तुओ का सेवन खुल कर करते थे। गोमास भी खाया जाता था, यहाँ तक कि अतिथि के आने पर गाय का काटना, उनकी सेवा व आतिथ्य का विशेष अग समझा जाता था। श्राद्ध के समय तो मास अनिवार्य था।[11] हाँ विद्यार्थियो के लिए मास व मदिरा वर्जित था इससे स्पष्ट होता है कि मांस व मदिरा का परित्याग उत्तम समझा जाता था।[12] अन्नप्राशन-सस्कार (जो शिशु के जन्म से छठें मास किया जाता था) में शिशु को मास अनिवार्य रूप से खिलाया जाता था[13] ताकि शिशु बोल सके।

परिवार---सूत्र-काल में सयुक्त-परिवार की प्रथा थी। परन्तु परिवार-विच्छेद होने का भी प्रमाण प्राप्त है। सयुक्त परिवार के सभी सदस्य, गृह-स्वामी की आज्ञा का पालन करते थे। बडो का सत्कार होता था। छोटा-बड़ा आयु के हिसाब से

१ पारस्कर
२, ३ हरिण्य० गृ० सू०
४ सांख्यायन गृ० सूत्र०
५ हिरण्य गृ० सू०
६ आश्वलायन गृ० सूत्र०
७ गोभिल व आश्व० गृ० सू०
८, ९, आश्वलायन गृ०-सूत्र०
१० गोभिल
११ श्राद्धे मांसो नित्यं, मांसाभावे शाकम्।
१२ गृ० सूत्र०
१३ सांख्यायन गृ० सूत्र०

देखा जाता था। घर में जो सबसे अधिक आयु वाला विवाहित पुरुष होता था वह गृह-स्वामी समझा जाता था। उसके निधन पर उसका बड़ा लड़का उसका स्थान लेता था। गृह-स्वामी को बड़प्पन की मर्यादा निभानी पड़ती थी। भोजन के समय अतिथि का सत्कार सबसे पहले होता था, उसके बाद विद्यार्थी-भिक्षु को उसका भाग दिया जाता था, फिर गर्भवती स्त्री को। छोटे व बड़े की मर्यादा का उल्लंघन सामाजिक दृष्टि से हेय समझा जाता था।

परिवार में पुरुष का स्थान स्त्री से ऊँचा समझा जाता था। बालक का जन्म कन्या की अपेक्षा अधिक सुख-कर माना जाता था। यात्रा के बाद घर आए हुए परिवार के सदस्य बालक को उठा कर पहले प्यार करते थे कन्या का उसके बाद। यह भेद-भाव सम्भवतः उस काल की राजनैतिक व सामाजिक दशा के कारण था, क्योंकि परिवार में पुरुष का आगमन स्त्री की अपेक्षा अधिक उपयोगी व लाभ-दायक होता था।

१०

महाकाव्य-काल

महाकाव्य—रामायण और महाभारत भारतवर्ष के अति प्राचीन महाकाव्य हैं। भारतवासी की दृष्टि मे इनका वही महत्व है जो यूनानी की दृष्टि में उसके दो महाकाव्यो इलियड और आडेसी का। परन्तु विषय की विविता, तथ्य की ऐतिहासिकता, शैली की प्रकृष्टता और भाषा की सुसम्बद्धता के दृष्टिकोण से ये भारतीय महाकाव्य यूनानी महाकाव्यो की अपेक्षा कही अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन महाकाव्यों ने मानवी जीवन के लिए जिन उदात्त सिद्धातो और दृष्टान्तो को प्रस्तुत किया है उनके कारण ये भारतीय जीवन के प्रकाश-स्तम्भ बन गये हैं। ऐतिहासिक ग्रथ होने के साथ-साथ ये भारतवर्ष के धार्मिक ग्रथ भी हैं।

रचना-काल—दोनों महाकाव्यो में रामायण अधिक प्राचीन है। महाभारत की रचना रामायण के पश्चात् हुई। यही कारण है कि महाभारत में रामोपाख्यान मिलता है। उसमें रामायण के रचयिता वाल्मीकि का नामोल्लेख भी हुआ है।[1] इसके विरोध में रामायण में न महाभारत का उल्लेख है, न उसके रचयिता महर्षि व्यास का और न महाभारत की किसी घटना अथवा उसके किसी पात्र का। रामायण में वर्णित भारतवर्ष की भौगोलिक सीमायें भी महाभारत की अपेक्षा कही अधिक सीमित हैं। यह बात दोनो के मूल-रूप की विवेचना करके भी कही जा सकती है। इन समस्त आधारों पर यह कहा जा सकता है कि रामायण की रचना महाभारत की रचना से अधिक प्राचीन है।

परन्तु अब प्रश्न यह होता है कि रामायण की रचना हुई कब। वेबर महोदय का मत था कि रामायण की रचना बुद्ध-काल के पश्चात् हुई थी और वह बौद्ध परम्परा के ऊपर आधारित है।[2] परन्तु उनका यह मत नितान्त असंगत है। रामायण न महात्मा बुद्ध से परिचित है,[3] न उनके जीवन की किसी घटना से और न बुद्धकालीन अवस्था से। पाटलिपुत्र की स्थापना कालाशोक ने की थी। रामायण इस नगर से परिचित नही है। बौद्ध एव जैन ग्रन्थों में कोशल की राजधानी सदैव साकेत कही गई है। परन्तु रामायण इस नाम से पूर्णत. अनभिज्ञ है। वह इस नगर को प्राचीन नाम अयोध्या से ही पुकारती है। उधर, दूसरी ओर, दशरथ जातक में रामकथा का

१ महा० ७.१४ ३.६६

२ Uber das Rāmāyaṇa, P. 6

३ रामायण—१.१०९.३४—'यथा हि चोरस्तथा हि बुद्धः। तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि॥' —महात्मा बुद्ध को चोर और नास्तिक कहने वाला यह अंश निश्चित रूप से क्षेपक है।

उल्लेख मिलता है। इन समस्त साक्ष्यो से यही प्रतीत होता है कि रामायण का रचना-काल बुद्ध-काल से पूर्व का है। भाषा के आधार पर प्रसिद्ध योरपीय विद्वान् जैकोबी ने भी यही निष्कर्ष निकाला है।[1] अत रामायण के मूल अश की रचना ६०० ई० पू० के पूर्व हुई होगी। परन्तु मैकडानल्ड महोदय इस मूल का रचना-काल ५०० ई० पू० के लगभग मानते हैं।[2]

प्राय. प्रत्येक परम्परागत प्राचीन ग्रन्थ के अनुसार रामायण में भी प्रक्षेपों की सम्भावना है। जैकोबी महोदय का मत है कि इस महाकाव्य के प्रथम और सप्तम काण्ड पूर्णरूप से प्रक्षिप्ताश है। इस प्रकार यत्र-तत्र प्रक्षेपो को छोड़ कर रामायण में प्रारम्भ मे केवल ५ काण्ड थे। जैकोबी महोदय का मत इस बात पर आधारित है कि जिस समय वाल्मीकि ने रामायण लिखी थी उस समय राम एक महापुरुष ही माने जाते थे। रामायण के द्वितीय काण्ड से लेकर पाँचवें काण्ड तक उनका यही रूप मिलता है। परन्तु प्रथम और सप्तम काण्ड मे उन्हें ईश्वरावतार के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। अत यह बाद का विकास है। इस प्रकार प्रथम और सप्तम काण्ड प्रक्षिप्ताश ठहरते है। विन्टनिज का मत है कि रामायण का वर्तमान रूप निश्चित रूप से २०० ईसवी तक बन गया था।[3]

महाभारत का रचना-काल भी बडा विवाद-ग्रस्त है। अधिकाश विद्वानों का मत है कि महाभारत का युद्ध २००० ई० पू० और १००० ई० पू० के बीच में हुआ था।[4] इस युद्ध के पश्चात् ही चारणो ने इसकी घटनाओ और पात्रो की वीरता के सम्बन्ध में गीतों का निर्माण किया होगा। इस प्रकार महाभारत के लेखबद्ध होने के सैकडो वर्ष पूर्व महाभारत की मूल-घटनाये अव्यवस्थित चारण-गीतो के रूप में विद्यमान रही होंगी। कालान्तर में इन्हीं चारण-गीतो के आधार पर महर्षि व्यास ने महाभारत को लेखबद्ध किया होगा।

महाभारत को लेखबद्ध कब किया गया, इस पर विद्वानों में बडा मतभेद है। महाभारत ग्रन्थ का सर्वप्रथम उल्लेख आश्वलायन गृह्यसूत्र में हुआ है।[5] इसी प्रकार साख्यायन गृह्यसूत्र, महाभारत के उपदेशक वैशम्पायन, जैमिनि आदि का उल्लेख करता है। परन्तु इन गृह्यसूत्रो का रचना-काल स्वय ही सन्दिग्ध है। इसलिए इनकी सहायता से महाभारत का रचना-काल निर्धारित करना कठिन है। परन्तु इतना निश्चित है कि यह रचना-काल काफी प्राचीन है। हम पहले कह चुके हैं कि रामायण का रचना-काल लगभग ६०० ई० पू० माना जा सकता है। महाभारत इसके बाद की रचना है। अत यहाँ यही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महाभारत की रचना ६०० ई० पू० के बाद हुई होगी। मैकडानल्ड महोदय का मत है कि यह रचना ५०० ई० पू० के लगभग हुई थी।[6] विण्टरनिज इसका रचना-काल ४०० ई० पू० के लगभग मानते हैं।

परन्तु समय-समय पर महाभारत में अनेकानेक प्रक्षेप जुडते रहे और इस प्रकार उसका कलेवर बढ़ता रहा। आज इसमें एक लाख श्लोक हैं। परन्तु मैकडानल्ड के

१ विण्टनिज ने इस भाषा-साक्ष्य को सन्दिग्ध माना है। देखिये उनकी हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर भाग १ पृ० ५११

२ देखिये उनका ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर'

३ विटनिज, वही पृ० ५०३

४ देखिये पार्जिटर का Ancient Indian Historical Traditions

५ आश्वलायन गृह्य ३.३.१.

६ मैकडानल्ड, वही, पृ० २८५

मतानुसार मूल महाभारत में केवल २०,००० श्लोक थे। अब प्रश्न यह होता है कि महाभारत का वर्तमान रूप कब बन कर तैयार हुआ। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस प्रश्न पर बड़ी अनुदारता दिखाई है। उदाहरणार्थ होल्जमन के मतानुसार महाभारत का वर्तमान रूप पन्द्रहवी अथवा सोलहवी शताब्दी तक निश्चित हुआ था।[1] परन्तु समस्त उपलब्ध साक्ष्यो पर विचार करने से प्रतीत होता है कि यह मत नितान्त असगत है।

लगभग ७०० ई० में कुमारिल ने महाभारत को एक महान् स्मृति के रूप में उल्लेख किया है।[2] बाण उसे एक उत्तम काव्यकृति बताते हैं।[3] कम्बोडिया में प्राप्त लगभग ६०० ई० का एक अभिलेख महाभारत का एक धार्मिक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख करता है। इस महाकाव्य में बौद्ध धर्म विषयक अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। छठी और पाँचवी शताब्दियो के अनेक भारतीय अभिलेखो में भी महाभारत का उल्लेख मिलता है।[4] ऐसे ही अनेक साहित्यिक तथा अभिलेख सम्बन्धी साक्ष्यों के आधार पर सर आर० जी० भण्डारकर ने यह सिद्ध किया था कि ५०० ई० पू० तक महाभारत एक प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ माना जाता था। वर्तमान रूप में महाभारत में यूनानियो, शकों, पह्लवों आदि विदेशीय जातियों का वर्णन मिलता है। उसमें विष्णु और शिव की उपासना का उल्लेख है। अनेक स्थानो पर मन्दिरो और स्तूपो का वर्णन है। इन आधारो पर मैकडानल्ड महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इस महाकाव्य का परिवर्धन ३०० ई० पू० और १०० के बीच में हुआ था। डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार महाभारत पतजंलि के महाभाष्य (ई० पू० दूसरी शताब्दी) तक पूर्ण हो चुका था।[5]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान रूप में सम्पूर्ण रामायण और महाभारत किसी एक व्यक्ति अथवा एक काल की रचनायें नही हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न कालो में इन महाकाव्यो के मूल का परिवर्धन करते रहे। अत. जब हम महाकाव्यकालीन सभ्यता का नाम लेते हैं तो इससे किसी काल विशेष की सभ्यता का बोध नही होता। इससे केवल इन दोनों महाकाव्यो में चित्रित सभ्यता का ही अर्थ लेना चाहिए। यह सभ्यता भिन्न-भिन्न कालों की सभ्यता है। कभी-कभी तो ये महाकाव्य आदि मानवीय सभ्यता को लेकर उसका क्रमिक विकास उपस्थित करने की चेष्टा करते है। इसी तथ्य को दृष्टि में रख कर हाप्किन महोदय[6] ने कहा है कि इनमे सामाजिक अवस्थाओं का जो वर्णन है वह स्पष्टतया भिन्न-भिन्न तिथियों का है। वहाँ यह स्वीकार करना पडेगा कि इन दोनों महाकाव्यो में वर्णित अवस्थायें एव विचार-धारायें बहुत कुछ समान रूप हैं।

राजनीतिक व्यवस्था

राज्य की उत्पत्ति—महाभारत में राज्य की उत्पत्ति के विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। लाक (Locke) की भाँति महाभारतकार एक ऐसे स्वर्ण-युग की कल्पना करता है जब न राज्य था और न राजा, न दण्ड था और न दण्ड देने वाला।

१ Das Mahābhārata 1, 194

२ ब्यूलर, इन्डियन स्टडीज २; एस० डब्लू० ए० १८९२ पृ० ५

३ हर्षचरित—प्राक्कथन रूप में श्लोक ४-१०

४ विन्टर्निज, वही पृ० ४६४

५ देखिये उनकी Hindu Civilisation.

६ AOSJ Vol. 10, p. 70.

अपनी सहज धर्म-भावना से ही सब मनुष्य सुख, शान्ति और नीति के साथ रहते थे।[1] परन्तु यह स्थिति सदैव न रही। लोक धर्म से विमुख हो गए और चतुर्दिक मत्स्य-न्याय की स्थापना हो गई जिसके अनुसार सबल निर्बल का शोषण और उत्पीडन करने लगे। अराजकता की यह अवस्था हाब्स द्वारा वर्णित State of Nature से मेल खाती है।

इस दु:सह अवस्था को देखकर सब देवता ब्रह्मा के पास गए। उनकी प्रार्थना को सुनकर ब्रह्मा ने व्यवस्था स्थापित करने के लिये एक नीतिशास्त्र की रचना की और ससार में धर्माचरण प्रतिष्ठित कराने के लिए विरजा नामक एक मानस पुत्र उत्पन्न किया। इस प्रकार संसार में राज्य और राजा की उत्पत्ति हुई। आंशिक रूप से राज्य की दैवी उत्पत्ति (Divine origin of State) का सिद्धान्त था। परन्तु इसके पीछे प्रजा की भी सहमति थी। प्रजा ने एक व्यक्ति-विशेष को अपने ऊपर राज्य करने का अधिकार इसी शर्त पर दिया था कि वह धर्म और न्याय के साथ शासन करते हुए असाधु का विनाश और साधु का परित्राण करेगा।

राजा—महाकाव्य भी राजतन्त्र को ही प्रमुख शासन-तन्त्र मानते हैं। पूर्व-गामी साहित्य की भाँति महाकाव्य भी राजा को देवसम मानते है। महाभारत का कथन है कि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में राजा अग्निरूप, सूर्यरूप, मृत्युरूप, यमरूप और कुबेर रूप होता है।[2] परन्तु यह कथन धार्मिक राजा के लिए ही उपयुक्त था, अधार्मिक राजा के लिए नहीं। महाभारत एक स्थान पर स्पष्टता कहता है कि जो धर्म-समन्वित हो उसी को राजा समझना चाहिए।[3] धर्मशास्त्रों के अनुसार शासन करना ही उसका प्रमुख कर्त्तव्य था। प्रजा की हित-साधना ही उसका ध्येय था।[4] राजा का प्रधान धर्म लोकरंजन था।[5] राजा ही प्राणियों का रक्षक और विनाशक होता है। जो धर्मात्मा होता है वह कर्ता होता है और जो अधर्मात्मता होता है वह विनाशक।[6] विधिवत् शासनकार्य न करने से राजा की प्रजा विपत्ति मे पडती है और देश में अ-काल-मृत्यु होती है।[7] महाभारतकार ने प्रजा का उत्पीडन करने वाले राजा की हत्या कर डालने तक की अनुमति दी है।[8] वेण, नहुष, सुदास, सुमुख और निमि आदि अत्याचारी एव अधार्मिक राजाओ को प्रजा ने मार डाला था। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म राजा के ऊपर सब से बड़ा अकुश था।

राज-प्रतिज्ञा—राज्याभिषेक के समय राजा को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि मैं मन, कर्म और वचन से धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करूँगा और कभी भी स्वेच्छा-चारिता से काम न लूँगा।[9] इसी प्रतिज्ञा का उल्लंघन करने के कारण प्रजा ने वेण की हत्या की थी।

१ महा० शान्ति० ५९. १४—
नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजास्सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

२ महा० शान्ति० ६८.४१—४७

३ महा० शान्ति० ९०.१४—
यस्मिन् धर्मो विराजते तं राजानं प्रचक्षते।

४ महा० ५.११८.१३

५ महा० शान्ति० ५७.११

६ वही० शान्ति० ९१.९

७ रामा० उत्तर, ८६.१६:—
राजदोषैर्विपद्यन्ते प्रजा ह्यविधिपालिताः।
असद्‌वृत्ते हि नृपतौ अकाले म्रियते जनः

८ माह० अन० ६१.३२—
अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम् ॥

९ महा० १२.५८.१११-९—
प्रतिज्ञां चावरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्
यश्चात्र धर्म इत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन।

राज्याधिकार—सामान्यतया राज्याधिकार वंशानुगत होता था। राजा की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र स्वतः राज्याधिकारी बन जाता था।[1] परन्तु यदि ज्येष्ठ पुत्र के गम्भीर शारीरिक दोष हो तो उस अवस्था में वह राज्याधिकार से वञ्चित कर दिया जाता था। अन्धे धृतराष्ट्र का उदाहरण इस विषय में उल्लेखनीय है। इसी प्रकार कोढी होने के कारण देवापि का सिंहासनाधिकार जाता रहा था और उसके स्थान पर उसका छोटा भाई शान्तनु राजा बनाया गया था।

महाकाव्य-काल तक आते-आते हम देखते है कि राजा के निर्वाचन का अधिकार प्रजा के हाथ से जाता रहा था। इस कथन के विरोध में कुछ तर्क प्रस्तुत किये जाते है। परन्तु यदि हम उन तर्कों की परीक्षा करे तो वे असगत सिद्ध होगे। उदाहरणार्थ यह कहा जाता है कि रामायण मे 'राजकर्तारि'[2] का उल्लेख है जिनका तात्पर्य राजा का निर्वाचन करने वाले व्यक्तियों से है। परन्तु यदि रामायण के इस अश को देखा जाय तो प्रतीत होगा कि 'राजकर्तारि' का आशय एकमात्र उन ब्राह्मणो से है जो राज्याभिषेक के अवसर पर राजा का अभिषेचन कराते थे। बहुधा यह भी कहा जाता है कि राम को राज्याधिकार देने के पूर्व प्रजा की अनुमति प्राप्त करने के ध्येय से दशरथ ने सभा की थी। परन्तु यह सभा प्रजा की नहीं वरन् एकमात्र पडोसी राजाओ और अधीन सामन्तो की थी।[3] यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रजा की इच्छा के विरुद्ध राम को वन जाना पडा था। यदि वह राम का वनगमन न रोक सकी तो उन्हे सिंहासनासीन कैसे कर सकती थी? स्पष्ट है कि व्यावहारिक रूप मे प्रजा का राजा के निर्वाचन मे कोई हाथ न था।

पौर-जानपद—पीछे कहा जा चुका है कि वैदिक काल के पश्चात् सभा और समिति नामक सस्थाओ का ह्रास हो गया था। इनके ह्रास का कारण यही था कि देश मे छोटे-छोटे राज्यो के स्थान पर विशाल राज्यो की स्थापना हो चुकी थी। इन राज्यो मे परम शक्तिशाली नरेश राज्य करते थे जो प्राय पुरोहितो और अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा से ही काम चला लेते थे। बहुधा यही लोक-मत को प्रकट कर देते थे। जनमत के प्रतिनिधित्व को प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग न था। वैदिक काल के छोटे-छोटे ग्रामो और राज्यो मे तो जनता के प्रतिनिधि चुने जा सकते थे। परन्तु परवर्ती विशाल राज्यो मे जन-प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की कोई उपयुक्त विधि उस समय विदित न थी।

डाक्टर जायसवाल का मत था कि सभा और समिति के ह्रास के पश्चात् दो अन्य लोक-सभाओ का उदय हुआ था जो 'पौरजानपदम्' से प्रकट होता है। जायसवाल के मत मे जब 'पौर' और 'जानपद' का द्वन्द्व कर दिया जाता है और जब उसे नपुसक लिंग मे (यथा पौरजानपदम्) प्रयुक्त करते है जो उसका तात्पर्य उस शासन-तन्त्र से होता है जिसमे दो भवन हो—एक पुर-वासियो का और दूसरा जनपद-निवासियो का इस प्रकार जायसवाल के मतानुसार पौर राजधानी की सस्था थी और जानपद शेष देश की।

डा० अल्टेकर ने जायसवाल के मत का सम्यक् रूप से खण्डन किया है। जो

१ महा० १.८५.२२—इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः। कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयान् राज्यमर्हति रामा० २.११०.३६—
२ रामा० २.६७.२
३ रामा० २.१.४६-४८

निम्न प्रकार हैं[1]—

(१) यदि पौर-जानपद दो संस्थायें अथवा सभायें थी तो उसका उल्लेख-द्विवचन में होता। परन्तु जहाँ कही भी उसका उल्लेख हुआ है वहाँ या तो बहुवचन में या एक वचन में। इससे प्रकट होता है कि 'पौर-जानपद' का आशय एकमात्र पुर और जनपद के निवासियो से है, उनकी दो संस्थाओ से नही। उदाहरणार्थ, राम के अभिषेक के सम्बन्ध में 'पौरजानपद श्रेष्ठा'[2] का उल्लेख हुआ है। यहाँ इसका आशय एकमात्र पुर और जनपद के प्रमुख निवासियो से है, दो सभाओ के प्रतिनिधियों से नहीं। दूसरे स्थान पर राम को मना कर अयोध्या वापस लाने के लिए भरत के साथ 'पौरजानपद जन' के जाने का उल्लेख है।[3] यहाँ पर भी पुर-वासियों और जनपदनिवासियों का ही उल्लेख है।

(२) जायसवाल महोदय का मत है कि पौरजानपद सभाओ को राजा का निर्वाचन करने का अधिकार था। उदाहरणार्थ, राम के राज्याभिषेक के लिए 'पौर' की पूर्व सम्मति प्राप्त करना आवश्यक था। इसी से दशरथ ने उन्हे बुलाया था। परन्तु जायसवाल महोदय ने रामायण के तत्सम्बन्धी श्लोक का अशुद्ध अर्थ लगाया है। वहाँ 'आमन्त्र' का अर्थ 'बिदा लेकर' है 'सम्मति देकर' नही। वास्तविक अर्थ के अनुसार पुरनिवासी राजा दशरथ से 'बिदा लेकर' चले गए, 'सम्मति देकर' नही।[4]

(३) राम को राज्याधिकारी बनाने का जो निर्णय दशरथ ने किया था वह एकमात्र अपने सचिवों के साथ परामर्श करके किया था, किसी सभा के परामर्श से नही।[5]

(४) यदि 'पौरजानपद' को दो सभायें भी मान लिया जाय तो भी यह सिद्ध नही होता कि उनके पास कोई विशेष अधिकार था। वे इच्छा होते हुए भी राम के वनगमन को न रोक सकी थीं।

(५) राम ने भरत को समझा बुझा कर अयोध्या वापस किया और उन्हें यह सम्मति दी कि तुम मेरी अनुपस्थिति में 'अमात्यों', मित्रो और बुद्धिमान मन्त्रियो की सलाह से शासन-सचालन करना। यदि पौरजानपद वैधानिक सभायें थी और प्रत्येक राज-कार्य में उनका परामर्श आवश्यक था तो यहाँ राम ने उनका उल्लेख क्यो नही किया?

(६) जायसवाल महोदय का कथन है कि विकट परिस्थिति में जब राजा विशेष कर लगाना चाहता था तो उसे पौरजानपद सभाओ से पूर्व-अनुमति लेनी पड़ती थी। अपनी मत की पुष्टि के लिए उन्होंने महाभारत का एक श्लोक उद्धृत किया है और कहा है कि इसमें विशेष करो को लगाने के लिए राजा ने पौरजानपद सभाओं से याचना की है। परन्तु डा० अल्टेकर के मतानुसार उस श्लोक का वास्तविक अर्थ यह नहीं है। उसमें सभाओं का उल्लेख या उनके प्रति राजा की याचना

१ यहां पर हमने एकमात्र महाकाव्यों में आने वाले तत्सम्बन्धी उल्लेखों पर ही विचार किया है।

२ रामा० २.१४.४०—
पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह।
अभिषेकाय रामस्य तिष्ठन्ति ब्राह्मणैः सह॥

३ रामा० २.३—
आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम्।
उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यमनुशासथ॥

४ रामा० २.३.४८—
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा।

५ रामा० २.१.४१—
निश्चित्य सचिवैः सार्धं युवराजममन्यत॥

नहीं है। उसमें राजा न एकमात्र अपने दूतों को परामर्श दिया है कि वे इन तर्कों को प्रस्तुत करके प्रजा को विशेष कर लगाने की आवश्यकता समझायें।[1]

(७) पुनः, डाक्टर अल्टेकर का कथन है कि यदि पौरजानपद दो सभायें होती तो मेगास्थनीज के वर्णन, अशोक के अभिलेखों तथा गुप्तों के अभिलेखो एवं मुद्राओं आदि पर उनका अवश्य उल्लेख होता। भारतवर्ष में प्राप्त अगणित अभिलेखों एवं मुद्राओं में से एक में भी इन दो सभाओं का उल्लेख नहीं मिलता।

इन आपत्तियों के होते हुए हम पौरजानपद को दो सभाओं के रूप में ग्रहण नहीं कर सकते।[2]

राजा पर अंकुश—महाकाव्यों से प्रकट होता है कि राजा स्वेच्छाचारी न होता था। उसके ऊपर कई अंकुश होते थे। (१) सब से बड़ा अंकुश धर्म का था। राजा का प्रत्येक कार्य धर्मविहित होना चाहिए था। धर्मविरुद्ध आचरण करने वाले राजा की आज्ञा मान्य न थी। प्रजा उसके विरुद्ध विद्रोह कर सकती थी, उसे पदच्युत अथवा निर्वासित कर सकती थी। यही नहीं, व्यवस्थाकारों ने ऐसे राजा की हत्या कर डालने तक की अनुमति दी है। (२) राजा नवीन विधि-निषेध न बना सकता था। व्यवस्थाकारों ने उसे नवीन व्यवस्था बनाने का अधिकार न दिया था। कदाचित् उन्हें आशंका थी कि कहीं राजा मनमानी व्यवस्था बनाकर स्वेच्छाचारी और निरंकुश न हो जाय। अतः राजा एकमात्र पुरातन धर्म-शास्त्र के आधार पर ही शासन-संचालन करता था।[3]

(३) तीसरा अंकुश मन्त्रिपरिषद् का था। यहाँ हम उसी पर विचार करेंगे।

मन्त्रिपरिषद्[4]—महाभारत का कथन है कि राजा परतन्त्र होता था। सन्धि-विग्रह के विषयों में उसकी स्वतन्त्रता कहाँ? उसे तो प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य में अमात्यों से मन्त्रणा करनी पड़ती है।[5] इसी महाकाव्य में दूसरे स्थान पर कहा गया है कि जिस प्रकार पशु मेघों पर, ब्राह्मण वेदों पर और स्त्रियाँ अपने पति पर आश्रित होती है उसी प्रकार राजा अपने मन्त्रियों पर निर्भर रहता है।

साहित्य में मन्त्री, सचिव और अमात्य शब्दों का प्रयोग मिलता है। परन्तु बहुधा इनका अन्तर स्पष्ट नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में भी मिनिस्ट्री (Ministry) और कैबिनेट (Cabinet) दो संस्थायें थी। मिनिस्ट्री मन्त्रि-परिषद् थी। राज्य का प्रत्येक विषय इसके समक्ष रखा जाता था। इसके सदस्य अमात्य कहलाते थे। परन्तु राज्य के कुछ विषय अत्यन्त गुप्त और गम्भीर होते थे। वे बहुधा समस्त अमात्यों के समक्ष न रखे जाते थे। उन विषयों पर परामर्श करने के लिए राजा के अपने विश्वसनीय 'मन्त्री' होते थे। इसका मन्त्रिमंडल

१ महा० १२. ८७. ३४

२ विशेष विवरण के लिये देखिये डा० अल्टेकर कृत 'State and Government in Ancient India' पृ० १०१—१०९

३ महा० १२.९२. ११६—
यश्चापि धर्मं इत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥

४ महाकाव्यों में मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त 'सभा' का भी उल्लेख हुआ है। यह 'सभा' वैदिक काल से चली आ रही थी। परन्तु महाकाव्य-काल में इस सभा की शक्ति और महत्ता का ह्रास हो गया था। अब वह यदा-कदा युद्ध-सम्बन्धी विषयों पर ही विचार प्रकट करती थी।

५ महा० शान्ति० ३२.१३८-१३९—
परतन्त्रः सदा राजा स्वल्पेऽप्यपि प्रसज्जते
सन्धिविग्रहयोगे च कुतो राज्ञः स्वतन्त्रता?
मन्त्रे चामात्य सहितो कुतस्तस्य स्वतन्त्रता?

आधुनिक कैबिनेट के रूप में कार्य करता था। इस प्रकार अमात्य साधारण मन्त्री होता था और वह मन्त्रिपरिषद् (Council of Ministers) का सदस्य होता था। राजा का अन्तरग मन्त्री उसके मन्त्रिमडल (Cabinet) का सदस्य होता था। अमात्य मन्त्रिमडल (Cabinet) का सदस्य न होता था। आधुनिक प्रणाली की भाँति मन्त्रिमडल (Cabinet) के सदस्य कभी-कभी अमात्यो में से ही चुने जाते थे (अर्थशास्त्र १८)।

सचिव शब्द का प्रयोग कभी-कभी मन्त्री के अर्थ मे हुआ है।[१] परन्तु कभी-कभी इन दोनो मे अन्तर प्रतीत होता है।[२] हाँ, कर्म सचिव निश्चितरूप से भिन्न-भिन्न विभागो के अध्यक्ष होते थे।[३]

मन्त्रियो की सख्या समय और आवश्यकता के अनुसार भिन्न-भिन्न होती थी। महाभारत ने ८ मन्त्रियो की आवश्यकता बताई है।[४] कदाचित् यह मन्त्रि-मण्डल के सदस्यो की सख्या है। रामायण मे राम भरत को यह सम्मति देते हैं कि तुम ३-४ मत्रियों के परामर्श से नीति-निर्धारण करना।[५] यहाँ भी कदाचित् मन्त्रि-मडल की सख्या की ओर सकेत है। मन्त्रिपरिषद् के अमात्यो की सख्या अधिक होती थी। महाभारत के अनुसार यह सख्या ३६ थी। इसमे ४ ब्राह्मण, ८ क्षत्रिय, २१ वैश्य और ३ शूद्र होते थे।[६] महत्वपूर्ण राजकीय विषयों पर ये राजा को सलाह देते थे।

पुरोहित—देश मे राज-पुरोहित का बडा महत्व था। वह राजा का विशेष परामर्शदाता होता था। जहाँ राष्ट्र का योगक्षेम राजा के अधीन था वहाँ राजा का योगक्षेम पुरोहित के अधीन था।[७] यही कारण है कि सदैव सत् के रक्षक, असत् के निवारक, विद्वान, बहुश्रुत, धर्मात्मा मत्रविज्ञ व्यक्ति को ही राजपुरोहित का पद दिया जाता था।[८]

पदाधिकारी—प्रशासन-सचालन के लिये राजा के अधीन अनेक उच्चाधिकारी थे। रामायण में इनकी सख्या १८ बतलाई गई है—

(१) मन्त्री (२) पुरोहित (३) युवराज (४) चमूपति (सेनापति) (५) द्वारापाल (६) अन्तर्वेदिक (७) कारागाराधिकारी (८) द्रव्य-सचयकृत् (९) कृत्याकृतेषु चार्थाना विनियोजक (१०) प्रदेष्टा (न्यायाधीश) (११) नगराध्यक्ष (१२) कार्यनिर्माणकृत् (१३) धर्माध्यक्ष (१४) समाध्यक्ष (१५) दंडपाल (१६) दुर्गपाल (१७) राष्ट्रान्त-पालक (१८) अटवीपालक।

शासन-व्यवस्था और लोक-सग्रह के लिये ये १८ पदाधिकारी इतने महत्वपूर्ण थे कि इन्हे 'तीर्थ' की सज्ञा दी गई थी।[९] प्राय इन सभी पदाधिकारियो के नाम महाभारत में भी मिल जाते हैं। उसके सभापर्व मे भी प्रमुख पदाधिकारियो की सख्या १८ ही बताई गई है। इनके अतिरिक्त अन्यान्य छोटे-बड़े कार्यों के लिए भी अनेक राजकीय अधिकारी होते थे। सभापर्व और शान्ति पर्व मे ऐसे अनेक अधिकारियो के नाम मिलते हैं।

१ रामा० १. ११२. ७
२ वही १. ८. ४
३ जूनागढ़ अभिलेख—रुद्रदामन् का।
४ महा० १२.८५.७-८
५ रामा० २. १००. ७१
६ महा० १२. ८५. ७.८
७ महा, शान्ति० ७४. १
८ महा, शान्ति० ७२. १.२
९ अयोध्याकाण्ड १००

राजा के पास एक सुसगठित सेना होती थी जो आन्तरिक शान्ति बनाए रखती और देश की बाह्य आक्रमण से रक्षा करती थी। सेना में पदाति (पैदल), अश्वारोही, गजारोही और रथी होते थे। इन्ही ४ अगो के कारण इसे 'चतुरगिणी' कहा जाता था। राजा ही सेना का सर्वोच्च सेनापति था। युद्ध मे प्राय वही उसका नेतृत्व करता था। उसके अतिरिक्त सेना का एक प्रधान भी होता था। उसके साथ-साथ सेना मे अन्यान्य छोटे-बडे अधिकारी भी होने थे। इनके नाम महाभारत के सभापर्व मे मिलते है।[1] युद्ध मे धनुष-बाण, तलवार, फर्सा, बर्छी, भाला, गदा, ढाल, कवच और शिरस्त्राण आदि का प्रयोग होता था। इस समय का रण-विधान बडा नैतिक था। शस्त्रहीन, पतित, कवचहीन, द्रवमाण, भीत, स्त्री, स्त्रीनामधेय, एकपुत्रवान् तथा अप्रशस्त के साथ युद्ध करना निन्द्य समझा जाता था।[2] युद्ध मे वीरगति पाने पर स्वर्ग-लाभ होता था। लडते हुए प्राण-विसर्जन करना श्रेयस्कर था, परन्तु भाग कर प्राण-रक्षा करना नही। युद्ध-भूमि मे व्यूह-रचना एक सामान्य प्रथा थी। शत्रु-सेना मे अथवा शत्रु-प्रजा मे फूट फैला कर शत्रु को निर्बल कर देना राजनीति थी।[3] युद्ध मे मारे गये योद्धा की विधवा अथवा असहाय सन्तान को बहुधा पेन्शन के रूप मे राजकीय सहायता मिलती थी।

गणतन्त्रात्मक राज्य—राजतन्त्र के अतिरिक्त महाकाव्य गण-तन्त्र का भी उल्लेख करते है। महाभारत मे अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुर तथा भोज—इन ५ गणतन्त्रो का वर्णन है। इन सबने मिलकर अपना एक सघ बना लिया था। गणतन्त्र की उन्नति के लिए जिन बातो की आवश्यकता है उनका उल्लेख महाभारत ने भीष्म पितामह के मुख से करवाया है—

गण के लोगो को आपस मे मेल रखना चाहिए, बडे लोगो को तुरन्त ही फूट का अन्त कर देना चाहिए, शासको पर विश्वास रखना चाहिए, कोष भरा रखना चाहिए और सबसे बडी बात यह है कि एकता रखना चाहिए।'[4] गणतन्त्र मे सत्ता किसी एक व्यक्ति के हाथ मे केन्द्रित न होकर विविध जातियो अथवा वर्गो के अनेक प्रतिनिधियो के हाथ मे रहती थी। महाभारत का कथन है कि बहुसख्यक राजसत्ताधारी प्रतिनिधियो के होने के कारण ही गणराज्यो मे बहुधा भेद हो जाता है और वे अपनी मन्त्रणा गुप्त नही रख पाते है।[5]

ऐसा प्रतीत होता है कि सघ मे भी कई दलो के नेता होते थे जो बहुधा परस्पर-विरोधी होते थे। उदाहरणार्थ, अन्धको का नेता अक्रूर और वृष्णियो का नेता आहुक था।

सघ के विषय प्रतिनिधियो के पारस्परिक वाद-विवाद के पश्चात् निर्णीत होते थे। यही कारण है कि गणराज्यो मे जो व्यक्ति सगठन करने मे और भाषण देने में पटु होते थे उनके हाथ मे शीघ्र ही शक्ति आ जाती थी।[6]

वर्ण-व्यवस्था

ब्राह्मण वर्ण—महाकाव्यकालीन समाज मे भी वर्ण-व्यवस्था सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित थी। ऋग्वेद की भाँति रामायण में भी चतुर्वर्ण परम पुरुष से उत्पन्न बताये

१ शान्ति० ६९
२ महा० ६.१०७.७७-७९
३ सभा० ५, १२; शान्ति० २१
४ सभा० ५
५ महा० शान्ति० १०७.८, २४
६ महा० १२.८१-८-९

गए हैं।[1] उसमें ब्राह्मण की श्रेष्ठता पूर्ववत् वर्तमान थी। वह परम पुरुष के मुख से उत्पन्न हुआ था।[2] पृथ्वी पर सबसे पहले वही उत्पन्न हुआ था। कालान्तर में उसी ने अन्य वर्णों को जन्म दिया।[3] द्विपदों में वह सर्वश्रेष्ठ था।[4] वह भूचर के रूप में देवता है।[5] वह विद्वान् हो अथवा अविद्वान्, प्राकृत हो अथवा संस्कृत, वह कभी भी किसी अवस्था में अनादर के योग्य नहीं है।[6] वह अवध्य है।[7] वह कर-मुक्त है।[8]

ब्राह्मण के ये विशेषाधिकार उसकी साधना द्वारा अर्जित थे। समाज का वह मस्तिष्क था। त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुए वह सदैव अध्ययन-अध्यापन में लीन रहता था। समाज की बौद्धिक उन्नति उसी के तप का फल थी। उसकी अनेकानेक सेवाओं के प्रतिरूप में ही समाज ने कृतज्ञतापूर्वक उसे विशेष सुविधाये दे रखी थी।

परन्तु अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करने वाला ब्राह्मण अपनी सारी सम्मान्यता खो बैठता था। बिना पढा-लिखा ब्राह्मण काष्ठहस्ती अथवा चर्ममृग के समान है।[9] स्वधर्म छोड कर क्षत्रिय और वैश्य के कर्मों का अनुसरण करने वाला ब्राह्मण कुत्ते और भेडिये के समान है।[10] वर्ण-विरुद्ध कर्म करने वाला ब्राह्मण शूद्र से भी अधिक निन्दनीय है।[11] इन नियमों से स्पष्ट हो जाता है कि व्यवस्थाकार पूर्व-नियोजित कार्य-विभाजन में उलट-फेर नहीं चाहते थे। इसीलि ब्राह्मणों के लिए एकमात्र वेदाध्ययन और तपश्चर्या पर ही सदैव जोर दिया गया।[12]

ब्राह्मण के सम्बन्ध में जो नियम बनाये गए थे उनसे उसके त्यागमय एवं विशुद्ध जीवन पर प्रकाश पडता है। धन-सग्रह उसके लिए वर्जित था।[13] जिस ब्राह्मण में स्वाध्याय और तप नहीं होता वह दानादि ग्रहण करने के योग्य नहीं है।[14] ब्राह्मण में शम, दम, तप, शौच, शान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य होना चाहिए।[15]

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आर्थिक परिस्थिति, अभिरुचि अथवा सुविधा के कारण सर्वदा वर्ण-विहित कार्यों को करना सम्भव न था। समाज का प्रत्येक वर्ग इस समय अनेक ऐसे कर्म कर रहा था जो उसके वर्ण के प्रतिकूल थे। इस वस्तु-स्थिति को ध्यान में रख कर व्यवस्थाकारों ने अपने पूर्व-निर्मित नियमों में कुछ हेर-फेर किया। इसका साक्ष्य हमें महाकाव्यों में भी मिलता है।

महाभारत में ब्राह्मणों की ६ कोटियाँ बताई गई है—(१) ब्रह्मसम (२) देवसम (३) शूद्रसम (४) चाण्डालसम (५) क्षत्रसम और (६) वैश्यसम। इस कोटीकरण से प्रकट होता है कि अनेक कारणों से ब्राह्मण विविधकर्मा हो गए थे। व्यवस्थाकारों ने स्थिति को सभालने का प्रयास किया। उन्होंने यह नियम बनाया कि

१ रामा० ३. १४. २९-३०। मुखतो ब्राह्मण जाता उरसः क्षत्रियास्तथा। उरुभ्यां जज्ञिरे वैश्या पद्भ्यां शूद्रा...

२ रामा० ३. १४. २९; महा० ६. ६७. १८

३ महा० १२. ३४२. २१

४ महा० ४. ९. १५—द्विपदां ब्राह्मण वरः।

५ महा० १२.३९, १.—भूमिचराः देवः।

६ महा० ३.२००.८

७ महा० १.२८.३

८ महा० १२. ७६ १९.

९ महा० १२. ३६. ४१-४८

१० रामा० ७. २६. ३३

११ महा० ३. ३१३. १११

१२ महा० १२. १२. २४

१३ महा० अनुशासन ६१. १९

१४ महा० १२. ३६. ४१

१५ महा० ६. ४२. ४२

ब्राह्मण द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के कर्मों का अनुसरण कर सकता है।[1] अन्य कर्म उसके लिए गर्हित थे।[2]

ब्राह्मण-वर्ण क्षत्रिय-कर्मों का अनुसरण कर रहा था—इसके अनेक उदाहरण हमें महाभारत में मिलते हैं। द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य ब्राह्मण थे। फिर भी ये शस्त्र ग्रहण कर कौरव-पक्ष की ओर से युद्ध में भाग ले रहे थे। ब्राह्मण की विभिन्न कोटियों में एक कोटि क्षत्रसम ब्राह्मणों की भी थी। महाभारत में ही एक स्थान पर उल्लेख है कि क्षात्रधर्मानुसारी ब्राह्मण के बध में कोई पाप नहीं है।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि समाज में क्षात्रधर्मानुसारी ब्राह्मण थे। परन्तु ब्राह्मणों का क्षत्रिय-धर्मानुसरण असाधारण परिस्थिति का ही परिणाम होता था।

महाभारत के उल्लेखों से प्रकट होता है कि ब्राह्मण वैश्य-कर्म भी करते थे। वैश्यसम ब्राह्मणों की एक कोटि ही थी। कृषि-कर्म और पशुपालन द्वारा जीविकोपार्जन करते हुए ब्राह्मणों के उल्लेख महाभारत में मिलते हैं।[4] वे व्यापार-व्यवसाय भी करते थे। इसके साक्ष्य महाभारत में मिलते हैं।[5] स्वयं व्यवस्थाकारों ने कहा था कि आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण वैश्य-कर्म का अवलम्ब लेकर जीवन-निर्वाह कर सकता है।[6] परन्तु इस नियम के होते हुए भी साधारणतया विकर्मी ब्राह्मण अवज्ञा की दृष्टि से देखे जाते थे। एक स्थान पर महाभारतकार का कथन है कि जो ब्राह्मण स्वधर्म का परित्याग कर क्षत्रिय और वैश्य धर्म को अपनाता है वह कुत्ते और भेड़िए के समान है।[7]

यही नहीं, महाभारत के उल्लेखों से विदित होता है कि कदाचित् उद्यमविहीन और चरित्रविहीन ब्राह्मण अति निम्नातिनिम्न कर्मों में संलग्न थे। उन्हें चोरकर्मा, नटकर्मा, नर्तककर्मा आदि भी बताया गया है।[8] ऐसे ही ब्राह्मणों को महाभारतकार ने शूद्र-सम और चाण्डालसम कोटियों में रखा है।

क्षत्रिय वर्ण—क्षत्रिय-वर्ण शासक-वर्ग, संरक्षक-वर्ग, और योद्धा वर्ग, था। उसका प्रमुख कार्य चतुर्वर्णों की संरक्षा करना था।[9] व्यवस्था बनाये रखने के लिये वह असाधुओं का दमन करता था और साधुओं की रक्षा।[10] योद्धा और पालक होने के कारण उसमें शूरता, तेज, धृति, दक्षता, अपलायन (युद्ध से भागना) दान और आस्तिका के गुण आवश्यक थे।[11] क्षत्रियों के नैतिक युद्ध-विधान का उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रियों को भी अध्यापन का अधिकार था।[12] परन्तु रामायण के उल्लेखों से प्रकट होता है कि उन्हें अध्यापन अथवा याजन (यज्ञ कराने) का अधिकार न था।[13] इस कथन की पुष्टि महाभारत से भी होती है।[14]

इन महाकाव्यों में कहीं-कहीं एक नवीन विचारधारा का उदय आभासित होता

१ महा० १२. २९४. ३
२ महा० १२. ७६. २-३
३ महा० ७. १६०. ३८
४ महा० १३. ३३. १२-१४
५ महा० उद्योग० ३८.५; शान्ति० ७८. ४-६
६ महा० १२. २९. ४.३
७ महा० १२. ६२. ४-५
८ महा० अनुशासन० ३३. ११
९ रामा० २. १०६. १८-२१
१० महा० ५.१३९ १९-२२
११ महा० ६ ४२. ४३
१२ महा० ५.४०. २६; १२.६०, १३-२०
१३ रामा० १.५९.१३-१४
१४ महा० १२. ६० १३-२०

है। कुछ विचारक वर्ण-व्यवस्था को जन्मज न मान कर कर्मज मानने की चेष्टा कर रहे थे। उदाहरणार्थ, रामायण में एक स्थान पर कहा गया है कि (जन्म से नहीं)। वीरता से ही कोई क्षत्रिय होता है।[1] इसी प्रकार महाभारत का भी उल्लेख है कि शूद्र भी कर्म के अनुसार क्षत्रिय हो सकता है।[2] परन्तु महाकाव्यों के समस्त उदाहरण इस बात के साक्ष्य हैं कि जात्युत्कर्ष के सिद्धान्त कभी भी व्यवहार में नहीं लाये गए। राज्य प्राप्त करने के पश्चात भी कर्ण सूत-पुत्र ही रहा। भीम ने स्पष्ट कर दिया था कि अक्षत्रिय होने के कारण वह वस्तुतः राज्याधिकारी न था।[3] दुर्योधन ने एकमात्र उसका सहयोग प्राप्त करने के लिए ही उसे राजत्व दिया था। परन्तु इससे वह क्षत्रिय न हो सका था। द्रौपदी ने स्पष्टतः कह दिया था कि कर्ण सूत है और मैं उसके साथ विवाह न करूँगी।[4] परशुराम, द्रोण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य शस्त्र ग्रहण करने के पश्चात भी आजीवन ब्राह्मण ही रहे। इस प्रकार सुधारवादी वर्ग का जात्यापकर्ष अथवा जात्युत्कर्ष का सिद्धान्त महाकाव्यों में सम्मान्य न हो सका। इस प्रकार अन्य वर्णों की भाँति क्षत्रिय वर्ण भी पूर्णतया जन्मज ही रहा।

ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण प्रमुख वर्ण थे। एक देश का मस्तिष्क था तो दूसरा देश की भुजा। यद्यपि महाभारत के अधिकांश स्थलों पर क्षत्रिय को ब्राह्मण की अपेक्षा निम्न कहा गया[5] है तथापि इस बात की पूरी चेष्टा की गई है कि उन दोनों में प्रतिद्वन्द्विता न रहे। इन दोनों वर्णों को अन्य का मूल कहा गया है।[6] इन दोनों वर्णों की पारस्परिक कलह समाज के लिए विनाशकर है।[7] कदाचित ब्राह्मण और क्षत्रिय के बीच विद्यमान प्रतिद्वन्द्विता का शमन करने के निमित्त ही यह सामञ्जस्य-भावना प्रादुर्भूत हुई थी।

वैश्यवर्ण—यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्ययन, यजन और दान वैश्य वर्ण के भी अधिकार थे तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने कभी भी इन विषयों की ओर विशेष ध्यान न दिया था। महाभारत का उल्लेख है कि समाज के जिस वर्ग ने अध्ययन यजनादि कर्मों का परित्याग कर कृषि-कर्म और गो-पालन का अनुसरण किया वह वैश्य हो गया।[8] उनका प्रमुख ध्येय धनार्जन ही रहा।[9] कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य उनके स्वाभाविक कर्म थे।[10] यह वर्ण सबसे अधिक धनी था। इसी से सबसे अधिक राजकर यही देता था।[11] यद्यपि यह व्यापारी वर्ग था तथापि यह प्रत्येक वस्तु का क्रय-विक्रय न कर सकता था। उदाहरणार्थ, लोहे, चमड़े, मांस और मदिरा का व्यापार इसके लिए निषिद्ध था।[12] याजन-कर्म तो ब्राह्मणों का ही एकाधिकार था। अतः उसे भी वैश्य वर्ण न कर सकता था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आवश्यकता पड़ने पर वह शस्त्र-ग्रहण कर सकता था, क्योंकि महाभारतकार का कथन है कि समाज को उच्छृंखलता से बचाने के लिए प्रत्येक वर्ण शस्त्र ग्रहण कर सकता है।[13]

१ रामा० ७. २६. ३३
२ महा० ३. १३६. ११-१२
३ महा० १. १३६-३८
४ महा० १. १८७. २३—नाहं वारयामि सूतम्।
५ महा० भीष्मपर्व १२१. ३५, १२. ३४२, २१. १३. ७६. १९ शान्ति ७४, १–२
६ रामा० १२ ७३. ५
७ महा० १२. ७३. २
८ महा० १२. १८८. १-१८
९ महा० ५. १३२. ३०
१० महा० ६. ४२. ४४
११ महा० २. ४७. २८
१२ महा० १२. २९५. ५-६
१३ महा० शान्ति० ७८. १५

शूद्र वर्ण—शूद्र वर्ण समाज का सबसे अधिक निम्न वर्ग था। ऋग्वेद की भाँति रामायण भी उस परम पुरुष के पदों से उत्पन्न बताती हैं।[1] न उसे अध्ययन करने का अधिकार था और न यजन का।[2] अनाधिकारपूर्वक तप करते हुए शम्बूक शूद्र को रामचंद्र ने स्वयं अपने हाथों से मार डाला था।[3] उसका मूल धर्म सेवा था।[4] इसी प्रकार के कथन महाभारत में भी मिलते हैं। कोई भी शूद्र विद्याध्ययन के लिए कुलपति के आश्रम में न जा सकता था।[5] उसे अध्यापन का भी अधिकार न था। विदुर ने स्वयं कहा था कि शूद्र होने के कारण मैं शिक्षा नहीं दे सकता।[6] यही नहीं, शूद्र चतुराश्रम-व्यवस्था के भी बाहर था।[7]

विदेशीय आक्रमण का वर्ण-व्यवस्था पर प्रभाव—महाभारत में हम स्थान-स्थान पर वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोहात्मक प्रवृत्ति का क्षीण आभास पाते हैं। एक स्थान पर उल्लेख है कि 'सत्य, दान, द्रोहहीनता, नृशंसताहीनता, विनय, घृणा-हीनता और तप—जिसमें ये गुण होते हैं वही ब्राह्मण है। यदि ये लक्षण शूद्र में हों और ब्राह्मण में न हों तो शूद्र शूद्र नहीं है और ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है।'[8] इसी प्रकार अन्यत्र महाभारतकार का कथन है कि 'सत्य, दम, तप, दान अहिंसा, धर्म-नित्यता—मनुष्य में यही सिद्धिदायक है, जाति अथवा कुल नहीं।'[9] ऐसे ही अनेक उल्लेख महाभारत में पाए जाते हैं। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि समाज का एक सुधारवादी वर्ग मनुष्य का मूल्यांकन जाति के आधार पर न करके विशुद्ध कर्म और शील के आधार पर करना चाहता था। इस विचार-धारा के अन्तस्तल में कदाचित दो प्रभाव कार्य कर रहे थे—एक तो कर्मप्रधान बौद्ध-धर्म के प्रचार का प्रभाव और दूसरा विदेशीय आक्रमणों का प्रभाव। पहला प्रभाव तो सुस्पष्ट है। बौद्ध धर्म ने जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया था और उसके स्थान पर शील की प्रतिष्ठा स्थापित की थी। समाज के ऊपर इस क्रान्तिकारी विचार-धारा का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। उसी विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करते हुए यदि कतिपय विचारकों ने महाभारत में जाति को जन्मज न मान कर कर्मज माना हो, तो स्वाभाविक ही है। यहाँ अब हम दूसरे प्रभाव पर विचार करेंगे।

भारतवर्ष पर विदेशीय आक्रमण का जो क्रम २०६ ई० पू० के ऐण्टियाकस तृतीय के आक्रमण से प्रारम्भ हुआ वह ईसा की प्रथम शताब्दी तक जारी रहा। इस ३०० वर्षों के आक्रमण-काल में भारतवर्ष में इंडो-यूनानी, शक, पहलव और कुषाण नामक विदेशीय जातियाँ आईं। रामायण में यवन और शकों का वर्णन है।[10] महाभारत में यवन, शक, पहलव, किरात, चीन तथा बर्बर जातियों का उल्लेख है।[11] पतंजलि ने 'शकयवनम्' का उल्लेख किया है और यवन-आक्रमण के प्रत्यक्ष उदाहरण दिए हैं।[12] मनुस्मृति में पौंड्रक, द्रविड, काम्बोज, किरात, दरद, चीन, खश, यवन, शक, पारद तथा पहलव जातियों का उल्लेख मिलता है।[13]

१ रामा० ३. १४. २९-३०
२ रामा० १. ५९. १३-१४
३ रामा० ७. ७३. ७६
४ रामा० १. ५९. १३-१४
५ महा० १३. १०. १६
६ महा० ५. ४१. ५-६
७ महा० अनुशासन० १६५. १०
८ महा० शान्ति० १८९. ४, ८
९ महा० वन० १८१. ४२-४३
१० रामा०—योनिदेशाच्च यवनाः शकस्थानात्तथा शकाः।
महा० शान्ति० ३५. १७-१८
११ पाणिनि २. ४. १० पर पतंजलि का महाभाष्य
१२ अरुनद् यवनः साकेतम्। अरुनद् यवनः माध्यमिकाम्।
१३ मनु० १०. ४३-४५

अपने दीर्घकालीन सम्पर्क से इन अनार्य तथा विदेशीय जातियो ने भारत के आर्य-समाज पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डाला होगा, इसमें संदेह नही। अनेक विदेशीय जातियो ने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया था। उनमें से बहुतों का भारतीयकरण हो गया था। हेलिओडोरस ने भागवत धर्म स्वीकार कर लिया था और मीनेण्डर ने बौद्ध धर्म। रुद्रदामा आदि अनेक विदेशियों के नाम भी भारतीय हो गए थे। इस प्रकार अनार्य और विदेशीय जातियो का एक बहुत बडा समुदाय अपनी पृथक सत्ता छोड़कर भारतीय समाज का एक अग बन गया था। परन्तु भारतीय समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था। प्राचीन चतुर्वर्ण-व्यवस्था इतनी दृढ हो चुकी थी कि उसके साथ पचम वर्ण की कल्पना करना भी असम्भव था।[1] अत स्पष्ट था कि जब तक भारतीयकृत अनार्यों और विदेशियो को चतुर्वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत न रखा जाय तब तक वे भारतीय समाज मे खप न सकेंगे। कदाचित इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सुधारको ने जन्म के स्थान पर कर्म पुन प्रतिष्ठित करने की आवाज उठाई।

विदेशियो की विचित्र स्थिति थी। युद्ध-कर्मा होने के कारण एक ओर तो वे क्षत्रियों के समकक्ष रखे जा सकते थे। परन्तु दूसरी ओर अनार्य होने के कारण वे शूद्र थे। अत यदि भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत उन्हें स्थान मिलता तो क्षत्रिय और शूद्र वर्णों के अन्तर्गत ही। कदाचित यही हुआ भी। विदेशियो का ऐसा वर्ग जो सास्कृतिक एव सामाजिक दृष्टि से उच्चतर था क्षत्रिय समुदाय मे निमज्जित होने लगा। इसके विरुद्ध विदेशियों का वह वर्ग जो सास्कृतिक एव सामाजिक दृष्टि से हीन था भारतीय शूद्र समुदाय मे घुल-मिल गया। महाभारत तथा मनुस्मृति का यह कथन[2] कि किरात, शबर, दरद, द्रविड, कम्बोज, यवन और शकादि जातियाँ प्रारम्भ में क्षत्रिय थी, परन्तु कालान्तर मे ब्राह्मण-सम्पर्क से पृथक् हो जाने के कारण वे शूद्र हो गईं, कदाचित् यही सत्य प्रकट करता है। इस कथन से व्यवस्थाकारो की अनार्यों एव विदेशियो को चतुर्वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत खपाने की चेष्टा ही परिलक्षित होती है। इससे यह भी आभास मिलता है कि वे क्षत्रिय और शूद्र समुदायो में ही परिगणित हो सकती थी।

प्रारम्भ से ही शूद्र दो कोटियो में विभक्त थे—

(१) निरवसित और (२) अनिरवसित। पतजलि ने इन पर व्याख्या करते हुए कहा था कि निरवसित शूद्र अस्पृश्य है। उनके भोजन करने से पात्र सदा के लिए अशुद्ध और त्याज्य हो जाते है। इस कोटि के शूद्रों मे चण्डाल और मृतप आते है। दूसरी कोटि के शूद्र अनिरवसित थे। ये स्पृश्य थे। जिन पात्रो मे ये खाते थे वे सस्कार द्वारा शुद्ध हो सकते थे। अतएव वे पात्र सदैव के लिए अस्पृश्य और त्याज्य नही होते थे।[3] इस कोटि मे शक और यवन आते थे। इससे प्रकट होता है कि भारतीय व्यवस्थाकार विदेशीयो के साथ सामान्य अस्पृश्य शूद्रो का सा व्यवहार करने में सकोच कर रहे थे। विशेष परिस्थिति को समझते हुए वे उन्हे उच्चतर पद देना चाहते थे।

१ महा० अनुशासन० ४७. १८—स्मृताश्च वर्णाश्चत्वारः पंचमो नाभिगम्यते मनु० १०. ४—चतुर्थ एव जातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः।

२ महा० अनुशासन पर्व ३३.२१-२३, ३५.२७-१८ मनु० १०.४३-४५

३ पाणिनि २.४.१० पर पतंजलि—यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति तेऽनिरवसिताः। यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणापि न शुध्यति ते निरवसिता.।

निरवसित शूद्रों में भी बहुसख्यक शूद्र ऐसे होंगे जो अपने सदाचार के कारण समाज में विशेष आदरणीय समझे जाते होंगे। ऐसे ही सदाचारी शूद्रो को (निरवसित और कदाचित् अनिरवसित दोनो को ही) महाभारतकार ब्राह्मण-कोटि में रखने के लिए तैयार है।[1] दूसरे स्थान[2] पर जब महाभारत यह घोषित करता है कि शूद्र भी अपने सदाचार से वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण हो सकता है तो वह जन्म के ऊपर आधारित पुरातन वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध अवश्यम्भावी क्रान्ति की सूचना देता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अति प्राचीन काल से ही समाज का एक वर्ग जन्म के स्थान पर कर्म को अधिक प्रतिष्ठा देना चाहता था। यह सुधारात्मक विचारधारा महाभारत मे अधिक बलवती दिखाई देती है। कदाचित् विदेशीय सम्पर्क एव आगमन ने भारतीय समाज में जो एक नवीन स्थिति उत्पन्न कर दी थी उसने भी इस धारा के प्रवाह को जीवन-दान दिया था।

शूद्र समुदाय का उन्नयन—वर्ण-व्यवस्था का आधार क्या हो? जन्म अथवा कर्म? इस विषय पर बहुत प्राचीन काल से विरोध चल रहा था। कट्टरपन्थी वर्ग जन्म को आधार मान कर वर्ग एव वर्ण-विहित कर्मों को चिर-शाश्वत माने बैठा था। उसकी दृष्टि मे परिवर्तन हो ही नही सकता था। यह वर्ग बहुसंख्यक था। परन्तु समाज मे एक ऐसे सुधारपन्थी वर्ग का भी उदय हो गया था जो प्राचीन वर्ण-व्यवस्था को परिवर्तित परिस्थिति मे उपसाहास्पद समझता था और उसे आमूल नष्ट करके एकमात्र कर्म के आधार पर सामाजिक उच्चता और निम्नता का अकन करना चाहता था। यह वर्ग अल्पसख्यक था। इन दोनो परस्पर-विरोधी विचारधाराओ का सघर्ष हमें महाभारत मे दिखाई देता है। यद्यपि सुधारपन्थी वर्ग पुरातनवादी वर्ग को अपदस्थ न कर सका और वर्ण-व्यवस्था बहुत-कुछ जन्मज ही रही, तथापि उसके सतत् प्रयास का परिणाम यह अवश्य हुआ कि शूद्र-समुदाय की अवस्था पहले की अपेक्षा कुछ सुधर गई। महाभारत में हम देखते है कि सदाचारी शूद्रों का आदर-सत्कार होने लगा था। उदाहरण के लिए विदुर, कायव्य और मतग को लीजिए। जन्मना ये, शूद्र थे परन्तु कर्म के आधार पर ब्राह्मणो की भाँति ही सम्मान्य समझे जाते थे। व्यावहारिक रूप से शूद्रो के अधिकार भी अब बढ़ गए थे। अब राज्य के ३ प्रमुख पद शूद्रों को मिलने लगे थे।[3] अपने राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठिर ने शूद्र-प्रतिनिधियो को भी आमन्त्रित किया था।[4] अब एकमात्र सेवा कर्म ही उनका धर्म न था। अब वे वाणिज्य, पशुकर्म और अन्य उद्योग धन्धो का भी अनुसरण कर सकते थे।[5] यही नही, वे यज्ञादि धार्मिक क्रियायें भी कर सकते थे।[6] यह बात नही है कि ये अधिकार महाभारत में ही एकमात्र उल्लिखित हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख पूर्वगामी सूत्र-साहित्य में भी मिलता है। परन्तु यहाँ सम्पूर्ण महाभारत के वातावरण को देखते हुए जो महत्वपूर्ण अन्तर दृष्टिगत होता है वह यह है कि इसी ग्रन्थ में इन अधिकारो का अधिकाधिक व्यावहारिक रूप दिखाई देता है।

अन्य जातियां—महाभारत में चतुर्वर्णों के अतिरिक्त अन्य बहुसख्यक जातियो

१ वनपर्व २१६, १४-१५—
यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे सततोत्थितः
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेत् द्विजः।
२ महा० ३.२१२. ११-१२
३ महा० शान्ति० ७५-६-१०
४ महा० २.३३.४१
५ महा० १२.२९२.२-४
६ महा० १२.१३.२२.

के उल्लेख मिलते है। इनकी उत्पत्ति का विशेष कारण था अनुलोम और प्रतिलोम विवाह।[1] महाभारत का कथन है कि मनुष्य सवर्णता अथवा अवर्णता का विचार किए बिना ही प्रत्येक वर्ण की स्त्री से सन्तानें उत्पन्न कर रहे थे।[2] समाज में वर्ण-संकरता इतनी अधिक बढ गई थी कि व्यक्तियो की वास्तविक जाति बताना कठिन हो गया था।[3]

समाज की अनेक जातियों की उत्पत्ति के पीछे विचार किया जा चुका है। उन विविध कारणो से जातियो की सख्या उत्तरोत्तर बढती गई। महाभारत के अनुसार वर्णसकर जातियो की सख्या १३२ थी और उपजातियो की सख्या तो नगण्य थी।[4] इन जातियो में कुछ का नामोल्लेख भी महाभारत में मिलता है—

(१) **आयोगव**—शूद्र-पुरुष और वैश्य स्त्री की सन्तान।[5]

(२) **उग्र**—क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्री की सन्तान।[6]

करण—क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री की सन्तान।[7]

चाण्डाल—नापित पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की सन्तान।[8]

निषाद—ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री की सन्तान।[9] यह जाति रामायण में भी उल्लिखित है। निषादराज गुह ने रामचन्द्र को नदी के पार उतारा था।[10]

मागध—वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तान।[11]

वैदेहक—वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की सन्तान।[12]

परन्तु जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, वर्ण-सकर जातियो का यह नामकरण अधिकाशत कात्पनिक था और स्वय व्यवस्थाकारो में भी उनके नाम और उत्पत्ति के विषय में मतभेद था। उदाहरण के लिये, वैदेहक को गौतम शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तान मानते है। परन्तु महाभारतकार उसे वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की सन्तान कहते है। इसी प्रकार अन्य जातियो के विषय मे मतभेद था। अनेक प्रकार के अन्तर्जातीय विवाहो और सम्बन्धो से जो सन्तानें उत्पन्न हो रही थी उनका जाति-निर्धारण करना प्राय असम्भव हो गया था। परन्तु ब्राह्मण व्यवस्था-कार सम्पूर्ण समाज को नियम-बद्ध करके सदैव एक निश्चित योजना के अन्तर्गत रखना चाहता था। इसी से उसने इन समस्त जातियो और उपजातियो की भी विस्तृत व्याख्या की थी, इनकी उत्पत्ति निर्धारित की थी और इन्हे भिन्न-भिन्न नाम दिए थे। परन्तु यह स्वीकार करना पडेगा कि उसकी यह व्यवस्था सदैव पूर्णांश में व्यावहारिक न थी। फिर भी वर्ण-सकर समुदाय का थोडा-बहुत सगठन हो गया था, उसकी विविधता से समाज मे अस्त-व्यस्तता न फैल सकी और समाज की वर्ण-व्यवस्था पूर्ववत् चलती रही।

चार आश्रम

पूर्वगामी व्यवस्थाकारो की भाँति महाभारतकार ने भी मनुष्य की आयु १००

१ महा० १२-२९६.५-९
२ वनपर्व ८०.३१-३३
३ वही
४ महा० अनुशासन १४८.२९
५ महा० अनुशासन ४८.१३
६ महा० वही, ४८.७
७ महा० आदिपर्व० ११५-४३
८ महा० अनुशासन० २९-१७
९ महा० अनुशासन ४८.५
१० महा० अयोध्याकाण्ड ५०.३३
११ महा० अनुशासन ४८.१२
१२ महा० अनु० ४८.१०

वर्ष की मानी है।[1] इन्ही वर्षों को चार भागो में बाँट कर चार आश्रमो की कल्पना की गई थी।[2] सामान्यतया महाभारत के अनुसार भी प्रत्येक आश्रम २५ वर्ष का होता था। शूद्र को छोड़ कर प्रत्येक द्विजाति के लिए यह आश्रम-योजना बनाई गई थी। शूद्रों के निमित्त एकमात्र गृहस्थ आश्रम ही था।[3] शेष आश्रमो में प्रविष्ट होने का उसे अधिकार न था। अनधिकारपूर्ण सन्यासी की भाँति तपश्चर्या करने के कारण शम्बूक को राम ने स्वयं मृत्यु-दण्ड दिया था।

ब्रह्मचर्य आश्रम—यह काल मनुष्य के आगामी जीवन-संघर्ष के लिए, अपने व्यक्तिगत विकास के लिए तथा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वो को निभाने के लिए तैयारी का काल था। यह उसके लिए शिक्षा-दीक्षा, ब्रह्मचर्य और अनुशासन का काल था। संसार के जनरव से दूर, आमोद-प्रमोद से विरक्त ब्रह्मचारी अति सरलता, अल्प-भाषिता और शुद्धता का जीवन व्यतीत करते हुए अपने गुरु के अहर्निश निरीक्षण मे अध्ययन करता था। दंड, कमंडल और यज्ञोपवीत, यही उसकी सम्पत्ति थे। उसके वस्त्र मृगाजिन क्षौम अथवा काषायारक्त कार्पासिक होते थे।[4] उसकी कमर में मुंज-मेखला[5] शीश पर जटा[6] और मुख पर दाढी-मूँछ[7] होती थी। प्रतिदिन उसे तीन बार स्नान करना पडता था।[8] उसे नियमित भिक्षा-वृत्ति पर रहना पडता था। भिक्षा में मिली वस्तु का उपभोग भी वह अपने गुरु की आज्ञा से ही कर सकता था।[9] अपने गुरु के प्रति उसकी श्रद्धा, भक्ति तथा आज्ञाकारिता असीम थी।[10]

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवहाररूप में ब्रह्मचर्याश्रम का पालन प्रमुखतया ब्राह्मणो और साधारणतया क्षत्रियो के द्वारा ही होता था। अन्य वर्णों तथा नारी समुदाय मे ब्रह्मचारियो अथवा ब्रह्मचारिणियो के उदाहरण प्राय नही मिलते। ब्राह्मणो में वेद, शुक, उपमन्यु, द्रोण तथा क्षत्रियो में द्रुपद और लव-कुश के उदाहरण मिलते है। ये सब ब्रह्मचर्याश्रम में रहे थे। परन्तु इन सबने भी ब्रह्मचर्याश्रम के यम-नियमों को किस सीमा तक पालन किया था, यह नही कहा जा सकता। साराशतः महाभारत में उल्लिखित व्यवस्था और व्यवहार मे बडा अन्तर था।

गृहस्थाश्रम—यह काल विवाहित जीवन का काल था। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, ब्रह्मचर्याश्रम स्नान अथवा समावर्तन संस्कार के साथ समाप्त होता था। इसके पश्चात ब्रह्मचारी विवाह कर गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होता था। परन्तु कभी-कभी विवाह होने में कुछ देर हो जाती थी। अत ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम के बीच की इन अवस्था को स्नातकावस्था कहते थे। रामायण में विद्याध्ययन के पश्चात राम को स्नातक कहा गया है।[11]

रामायण के अनुसार गृहस्थाश्रम चतुराश्रमो में सर्वप्रमुख था।[12] इसी प्रकार महाभारत का कथन है कि गृहस्थाश्रम की गुरुता अन्य तीनो आश्रमो की गुरुता के सम्मिलित योग के बराबर है।[13] इसी ग्रथ मे पुन उल्लेख है कि अन्य तीनो आश्रम

१ महा० १३.१०४.१
२ महा० २.२४२.१५२१६, १२.२४२.४८
३ महा० अनुशासन० १६५.१०
४ महा० १४.४६.४-५
५ महा० १४.४६.६
६ महा० १.१.८
७ महा० १२.१६७.१७
८ महा० १४.४६.२-७
९ महा० १४.४६.२-७
१० महा० १२.२४२.१६-३०
११ रामा० २.८२.११
१२ रामा० अयोध्या० १०६.२२
१३ महा० शान्ति० १२.१२

गृहस्थाश्रम पर ही अवलंबित है।[1] यही नहीं, महाभारत में गृहस्थाश्रम के विविध कर्तव्यों के सम्यक् अनुसरण के द्वारा मोक्ष को भी प्राप्य बताया गया है। ब्राह्मण-व्यवस्था में गृहस्थाश्रम की सर्वोपरि महत्ता के कारण पीछे बताए जा चुके है।

गृहस्थाश्रम के पंचमहायज्ञ—जैसा कि कहा जा चुका है, ब्रह्मचर्याश्रम की भाँति गृहस्थाश्रम के भी विविध नियम थे। गृहस्थ को जो धार्मिक कर्म करने पडते थे उनमें पंचमहायज्ञ प्रधान है। इनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। रामायण और महाभारत में भी इनका उल्लेख मिलता है।[2] महाभारत के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ के लिए ये पंचमहायज्ञ अति आवश्यक थे।[3] इन यज्ञो के मूल मे आर्यों की पितरो, देवो, ब्राह्मणो अतिथियो और भूतो (प्राणियो) के प्रति श्रद्धा, भक्ति, ऋण अथवा उदारता की भावना ही थी। इस भावना का प्रकाशन महाभारत मे भी स्थान-स्थान पर मिलता है। एक स्थान पर कहा गया है कि मनुष्य को देवो, पितरो, ब्राह्मणों और अतिथियो के ऋण से मुक्त होने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।[4] दूसरे स्थान पर कहा गया है कि मनुष्य के समस्त कार्य-कलापो का एकमात्र उद्देश्य देवो, पितरो, भूतो और अतिथियों की सन्तुष्टि है।[5] इस प्रकार की भावना के कारण ही ब्रह्म-यज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ और मनुष्ययज्ञ नामक पंचमहायज्ञो की महाभारत मे भी प्रतिष्ठा थी। भारतीय सभ्यता मे उदात्त चरित्रो, विज्ञो एव उपकारी व्यक्तियो के प्रति श्रद्धा एव कृतज्ञता के प्रदर्शन को सदैव महत्व दिया गया है। भारतीयो का सम्पूर्ण प्रारम्भिक ज्ञान उनके ऋषियो की देन है। अत इन पुरातन ऋषियो के प्रति अपनी कृतज्ञता-भावना को प्रदर्शित करने के लिए भारतीयो ने 'ब्रह्मयज्ञ' की रचना की थी। भारतीय आदि-काल से ही धर्म-प्राण रहे है। अत. वे अपनी देवी-देवताओ की अपार अनुकम्पा के लिए उनके प्रति भी परम ऋणी थे। इस देव-ऋण से मुक्त होने के लिए ही 'देवयज्ञ' की कल्पना हुई थी। तीसरा यज्ञ 'पितृयज्ञ' था। इसके द्वारा मनुष्य अपने पितरो के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता था। प्रारम्भ में यही तीन यज्ञ प्रधान थे।[6] महाभारत में भी एक स्थान पर इन्ही तीन यज्ञो का उल्लेख किया गया है।

परन्तु भारतीयो के दृष्टिकोण के विस्तार के साथ दो यज्ञ और प्रतिष्ठित हुए। पहले उसने मनुष्यो के प्रति अपनी उदारता का प्रदर्शन किया और फिर सम्पूर्ण प्राणि-मात्र के प्रति। इस प्रकार समाज म मनुष्य-यज्ञ और भूत-यज्ञ का जन्म हुआ। अब महायज्ञो की सख्या ५ हो गई। इस प्रकार पंचमहायज्ञो के अन्तस्तल मे भारतीयो की नितान्त उदात्त सहृदयता की झलक मिलती है।

इन महायज्ञो से सम्बन्धित अथवा इनसे स्वतन्त्र अन्यान्य धार्मिक कृत्य भी थे जिनका करना गृहस्थ के लिए अति आवश्यक था। इनमे से कुछ का उल्लेख कर देना समीचीन प्रतीत होता है—

तर्पण—तर्पण देवो, पितरो अथवा ऋषियो को दिया जाता था। अत यह देव-यज्ञ और पितृयज्ञ के सिद्धान्तो पर ही अवलम्बित था। रामायण और महाभारत के उल्लेखो से प्रकट होता है कि समाज में यह भली-भाँति प्रतिष्ठित था। राम और सीता प्रतिदिन तर्पण करते थे।[7] इससे प्रकट होता है कि तर्पण का अधिकार स्त्रियों

१ महा० १२.२९५-३९
२ महा० शान्ति० २७०.१०-११
३ महा० १२.१४६.६-७
४ महा० १३.३७.१७
५ महा० १४.३२.२४
६ महा० १.१५.९
७ रामा० ७. ३७. १३; ३. १६. ४१-४२

को भी था। इसी प्रकार महाभारत का उल्लेख है कि पाण्डव तर्पण करते थे।[१]

सन्ध्या और अग्निहोत्र—सन्ध्या का अत्यधिक महत्व था। महाभारत का कथन है कि प्राचीन ऋषियो ने इसी के द्वारा दीर्घायु, बुद्धि, यश और आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति की थी।[२] अग्निहोत्र भी कम महत्वपूर्ण न था। महाभारत का उल्लेख है कि हविष्य अग्नि मे डालने से सूर्य को प्राप्त होता है। प्रसन्न होकर सूर्य जल-वृष्टि करता है जिससे ससार में अन्न उत्पन्न होता है।[३] रामायण में राम और लक्ष्मण सध्या और अग्निहोत्र दोनो ही करते हुए प्रदर्शित किए गए हैं।[४] इसी प्रकार महाभारत में युधिष्ठिर को सध्या और अग्निहोत्र करते दिखाया गया है।[५]

वानप्रस्थ आश्रम—अपनी आयु के तृतीय चरण मे मनुष्य वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ठ होता था।[६] साधारणतया मनुष्य अपने गृहस्थ जीवन के सम्पूर्ण उत्तर-दायित्वो को पूर्ण करने के पश्चात ही इस आश्रम को ग्रहण करता था। अपने पुत्रों के वयस्क तथा उनके बीच राज्य-विभाजन करने के पश्चात ही राम ने ससार-त्याग किया था।[७] इसी प्रकार पाण्डव परीक्षित का राज्याभिषेक करने के पश्चात ही गृहत्यागी बने थे। सामान्यतया ऐसी सामाजिक धारणा थी कि पौत्र उत्पन्न होने के पश्चात मनुष्य को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए।[८]

महाकाव्यो के उदाहरणो से प्रकट होता है कि वानप्रस्थ-आश्रम मे प्रवेश करने वाले व्यक्ति अधिकाशत ब्राह्मण और क्षत्रिय ही अधिक थे। व्यास, वसिष्ठ और अत्रि ब्राह्मण थ। महाभारत के अनुसार राजर्षियो में भी यह आश्रम प्रतिष्ठित था[९]। इसी ग्रन्थ में धृतराष्ट्र का कथन है कि हमारे वश की यह परम्परा रही है कि पुत्रो को उत्तरदायित्व सौंप कर हम वन-गमन करें।[१०]

वैश्य-समुदाय स्वभावत. प्रवृत्ति-प्रधान था। व्यावसायिक वैभव एव आर्थिक समृद्धि के विरोध में विराग एव ससार-त्याग के सिद्धान्त इसे कभी भी रुचिकर प्रतीत न हुए। यही कारण है कि वानप्रस्थ आश्रम वैश्यो मे कभी भी अधिक सम्मान्य न हो सका। महाकाव्यो में वानप्रस्थ वैश्यो मे एकमात्र श्रवणकुमार के पिता का ही उदाहरण दिया जा सकता है।

जहाँ तक शूद्रो का सम्बन्ध है, उनके लिए एकमात्र गृहस्थाश्रम की ही योजना थी। वे अन्य आश्रमो मे प्रविष्ट न हो सकते थे। परन्तु समाज की एक अन्य विचार-धारा के अनुसार शूद्र अपने गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वो का पालन करने के पश्चात राजाज्ञा से वानप्रस्थ आश्रम भी ग्रहण कर सकता था।[११] कभी-कभी यह सिद्ध करने के लिए कि शूद्र-समुदाय को वानप्रस्थ का अधिकार था, विदुर का दृष्टान्त दिया जाता है। परन्तु इसे हम एकमात्र अपवाद के रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं, नियम के रूप मे नही। विदुर के अतिरिक्त अन्य वानप्रस्थ-शूद्रो के उदाहरण नहीं मिलते।

ऐसा प्रतीत होता है कि वानप्रस्थ आश्रम को स्त्रियाँ भी ग्रहण कर सकती थी। महाभारत के अनुसार धृतराष्ट्र और पाण्डु के साथ उनकी पत्नियाँ भी वान-प्रस्थ हुई थी।

१ महा० १७. १. ११
२ महा० अनुशासन १०४, १८
३ महा० शांति० २६४. ११
४ रामा० १. २९. ३१-३२; २. ४६. १३; ७. ३६.६१
५ महा० ३. २६. ५
६ महा० १२. २४४. ५
७ रामा० ७. १०८. ४-५
८ महा० १२. ४४३. ४९
९ महा० १५. ४. ५
१० महा० १५. ३१.३८
११ महा० १२. ६३. १९-२२

वानप्रस्थ-मनुष्य का जीवन साधनामय होता था। उसे वन में भूमि, पाषाण-खंड अथवा धूलि-राशि पर सोना पड़ता था।[1] वह पूर्णत वनवासी था। अत नगर-प्रवेश उसके लिए निषिद्ध था।[2] वन के कन्द, मूल-फल और दूध, यही उसके स्वल्पाहार की सामग्री थी।[3] सामान्यतया वह वल्कलवसन होता था।[4] वल्कल के साथ-साथ वह कतिपय पशुओ के चर्म का भी प्रयोग कर सकता था।[5] प्राय वान-प्रस्थ में मनुष्य जटा धारण करता था।[6] नख-केश-कर्तन उसके लिए निषिद्ध था।[7]

संन्यास—मनुष्य अपनी आयु के अन्तिम चरण में सन्यास ग्रहण करता था। प्रथम तीन आश्रमो के समस्त उत्तरदायित्वो को पूर्ण करने के पश्चात मनुष्य सन्यासाश्रम मे सम्पूर्णत. ससार से विरक्त हो जाता था। परन्तु महाभारत मे ऐसे भी उदाहरण मिलते है जब कतिपय व्यक्तियो ने निर्धारित समय अथवा क्रम का व्यतिक्रम करके भी सन्यास ग्रहण किया था। उदाहरणार्थ, मेधावी और शुक ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर ही सन्यासी हो गए थे। वे गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमो मे प्रविष्ट ही न हुए थे। परन्तु ये उदाहरण अपवाद-स्वरूप है।

महाभारत में एक स्थान पर कथन है कि चतुराश्रम-व्यवस्था समस्त वर्णों के लिए है।[8] इस पर कुछ विद्वानो का मत है कि ब्राह्मणो के समान क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी सन्यासी होते थे। परन्तु महाकाव्यो मे हमे जो उदाहरण मिलते है उनसे तो यही प्रतीत होता है कि व्यावहारिक रूप मे यह आश्रम एकमात्र ब्राह्मण-वर्ण में ही प्रतिष्ठित था। रामायण और महाभारत में क्षत्रिय और वैश्य सन्यासियो के उदाहरण नही मिलते। जहाँ तक शूद्रो का प्रश्न है, तो उनके लिए केवल गृहस्थ आश्रम ही अधिक उपयक्त समझा गया था। रामायण मे राम द्वारा शूद्र तपस्वी के वध का वर्णन है। महाभारत मे विदुर के उदाहरण को प्रस्तुत करके टीकाकार नीलकठ ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि सन्यासाश्रम शूद्रो के लिये भी धर्म-विहित था।[9] परन्तु जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, विदुर का उदाहरण अपवाद-स्वरूप है। महाकाव्यो के प्राय समस्त सन्यासी ब्राह्मण ही है। यही नही महाभारत मे तो ब्राह्मण और सन्यासी पर्यायवाची शब्दो के रूप मे प्रयुक्त किए गए है।[10]

महाकाव्यो के साक्ष्य से प्रकट है कि कभी-कभी स्त्रियाँ भी सन्यासाश्रम मे प्रविष्ट होती थी। इनमे मेधावी, सुलभा और शबरी के उदाहरण विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु कालान्तर में स्त्रियो का सन्यासाश्रम-प्रवेश धर्म-विरुद्ध समझा जाने लगा।[11]

नारी-समाज

पुत्र—महाकाव्यो से भी यही प्रकट होता है कि भारतीय समाज मे पुत्री की अपेक्षा पुत्र ही अधिक प्रिय माना जाता था। उदक-दानादि के द्वारा वह अपने पितरों को 'पुत्' नामक नरक से त्राण देता था। इसी से उसका नाम 'पुत्र' पडा था।[12]

१ महा० १२. १९२. १-२
२ महा० १. ९१. ४
३ महा० १३. १४. ५६
४ रामा० २. ९५. ६-७
५ महा० ३. २००. ९६-६७
६ महा० ३. ३०३. ५, रामा० २.९५. ६७
७ महा० ३. २००. ९६-९७
८ महा० शाति० ६३. ११-१२
९ आश्रमवासिक २६. ३२. ३३
१० महा० १२. २४५. ६-२५
११ अत्रि० १३६-७
१२ महा० १. २२९. १४—पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते।

यह इहलोक और परलोक दोनो के लिए आवश्यक था।[1]

पुत्री—इसके विरुद्ध पुत्री तो साक्षात् 'आपत्ति' थी।[2] वह अपने माता, पिता और पति तीनो के कुलों के लिए सकट थी।[3] रामायणकार की दृष्टि में भी उसकी स्थिति निम्न थी।[4]

परन्तु इन उद्धरणों से यह न समझना चाहिए कि समाज में पुत्री नितान्त अनादृत और उपेक्षित थी। यद्यपि समाज में पुत्री की अपेक्षा पुत्र की कामना अधिक की जाती थी तथापि पुत्रियों में भी उसका अनुराग यथेष्ट था। महाकाव्यों में अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं जब पुत्रियाँ अपने माता-पिता के असीम अनुराग की केन्द्र थी। कुन्ती, देवयानी, द्रौपदी, उत्तरा और सीता के उदाहरण ऐसे ही हैं। सावित्री और दमयन्ती क्रमश: अपने पिता अश्वपति और भीम की विविध धार्मिक साधनाओं और क्रियायों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई थी।[5] मणिपुर-नरेश अपनी पुत्री को पुत्र के समान मानता था।[6] महाभारत में भीष्म का भी कथन है कि पुत्री पुत्र के समान होती है।[7] यही नही, कुछ मनुष्य तो पुत्रियों को पुत्र से भी अधिक प्रिय और वांछनीय समझते थे।[8]

बाल-विवाह का अभाव—महाकाव्यो के कुछ उद्धरणों को लेकर कुछ विद्वानो ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उस समय बाल-विवाह की प्रथा थी। उदाहरणार्थ, महाभारत मे एक स्थान पर कहा गया है कि ३० वर्ष का युवक १० वर्ष की कन्या के साथ और २१ वर्ष का युवक ७ वर्ष की कन्या के साथ विवाह कर सकता है। परन्तु समस्त उदाहरणो को देखने से प्रतीत होता है कि नियमतः विवाह वयस्क अवस्था में ही होते थे। भीष्म का स्पष्ट कथन है कि वयस्का कन्या के साथ विवाह करना चाहिए।[9] रामायण का कथन है कि विवाह के समय दशरथ के चारो पुत्र यौवनशाली थे।[10] विवाह के पश्चात् उनका अपनी पत्नियो के साथ एकान्त रमण करने का उल्लेख है।[11] इससे प्रकट होता है कि उनकी पत्नियाँ भी युवती थीं। महाभारत मे कुन्ती, द्रौपदी, देवयानी, शकुन्तला, सत्यवती, दमयन्ती सभी वयस्कावस्था मे ही विवाहित हुई थी।

रामायण में एक श्लोक मिलता है जिसमें अपहरण के निमित्त आये हुए रावण से सीता कहती है कि निर्वासन के समय मेरी आयु १८ वर्ष की थी और उसके १२ वर्ष पूर्व मेरा विवाह हुआ था।[12] इससे सिद्ध होता है कि विवाह के समय सीता की आयु केवल ६ वर्ष की थी। परन्तु उपर्युक्त श्लोक निश्चितरूप से प्रक्षिप्तांश है। रामायण में ही विवाह के पश्चात् सीता के साथ राम का एकान्त रमण का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि विवाह के समय सीता युवती थी। रामायण मे ही एक दूसरे स्थान पर सीता अनुसूया से कहती है कि विवाह के पूर्व 'पतिसयोगसुलभ

१ महा० ७. १९५. १७-१८

२ महा० आदि० १५९. ११—आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं हि दुहिता किल।

३ महा० ५. ९७. १५-१६—कुलत्रयं संशयितं कुरुते कन्यका सताम्।

४ रामा० ८. ९. ११

५ महा० ३. ५३. ५.८

६ महा० १. २१५. २३—पुत्रो ममायमिति।

७ महा १३. ४५. ११—पुत्रेण दुहिता समा।

८ महा० १. १५७. ३७—मन्यते केचिदधिकं स्नेहं पुत्रे पितुर्नराः। कन्यायां केचिदपरे मम तुल्यविभौ स्मृतौ।

९ रामा० १. ७२. ७

१० रामा० १. ७७. १४

११, १२ रामा० ३. ४७. ४; १०

वय' को प्राप्त मुझे देखकर मेरे पिता को उतनी चिन्ता थी जितना निर्धन को अपने धन-नाश पर।[1] इससे भी यही सिद्ध होता है कि विवाह के समय सीता पूर्णयौवना थी।

इसी प्रकार कुछ विद्वानो ने महाभारत के कुछ उद्धरणो के आधार पर विवाह के समय अभिमन्यु और उत्तरा को अल्पवयस्क सिद्ध करने की चेष्टा की है। महाभारत के एक श्लोक में अभिमन्यु को अल्पायु कहा गया है।[2] परन्तु वहाँ इसका आशय एकमात्र यही है कि अन्य योद्धाओ की अपेक्षा अभिमन्यु अल्पायु था। महाभारत का ही कथन है कि ६० वर्ष का पुत्र भी अपने गुरुजनो के समक्ष बालसम होता है।[3]

उधर उत्तरा को अल्पायु सिद्ध करने के लिए महाभारत का एक श्लोक उद्धृत किया जाता है जिसमे वह अपनी तथा अपनी सहेलियो की गुडियो को सजाने के लिए अर्जुन से वस्त्र लाने के लिए कहती है। परन्तु एकमात्र गुडियो के खेल में भाग लेने के कारण ही उत्तरा अल्पायु नही हो जाती।[4] महाभारत मे विवाह के समय वह युवती के रूप में प्रदर्शित की गई है।[5]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्यो मे बाल-विवाह के उदाहरण नही मिलते।

स्त्री-शिक्षा—दोनो महाकाव्य स्त्री-शिक्षा के ऊपर प्रचुर प्रकाश डालते है। दोनो के ही अनुसार तत्कालीन समाज में स्त्रियो को शिक्षा का पूर्ण अधिकार था। रामायण कौशल्या और तारा दोनो को ही 'मन्त्रविद्' कहती है।[6] इसी महाकाव्य में सीता सध्या करती हुई प्रदर्शित की गई है।[7] इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह मन्त्रविद् थी। रामायणकार अत्रेयी को वेदान्त का अध्ययन करते हुए प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार महाभारत का कथन है कि सुलभा आजीवन वेदान्त का अध्ययन करती रही थी। महाभारत में द्रौपदी को 'पण्डिता' कहा गया है।

ऐसा प्रतीत होता कि पुत्रियाँ बहुधा घर पर ही शिक्षा पाती थी। सीता ने घर पर ही अपने माता-पिता से शिक्षा पाई थी।[8] उत्तरा को अर्जुन ने उसके घर पर ही सगीत-नृत्य की शिक्षा दी थी। परन्तु उच्चशिक्षा के लिए कदाचित् पुत्रो की भाँति पुत्रियो को भी अन्यत्र शिक्षा-केन्द्रो मे जाना पडता था। उदाहरणार्थ, अत्रेयी वेदान्त के अध्ययन के लिए वाल्मीकि के आश्रम में रहती थी।

यत्र-तत्र सह-शिक्षा के भी उदाहरण मिलते है। रामायण के अनुसार वाल्मीकि के आश्रम में अत्रेयी लव-कुश के साथ ही अध्ययन करती थी। महाभारत अम्बा और शैखावत्य की सह-शिक्षा का उल्लेख करता है।

उपर्युक्त उदाहरणो से प्रकट होता है कि महाकाव्यो के अनुसार स्त्रियो को वैदिक एव दार्शनिक शिक्षा के साथ-साथ सगीत, नृत्यादि ललित कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी।

विवाह की संस्था—महाभारत के कुछ उदाहरणो के आधार पर कुछ विद्वानों

१ रामा० २. ११८. ३४
२ महा० ७. ४९. ३३
३ महा० १४. ९०. ६०
४ महा०
५ महा० ४. ७२. ४
६ रामा० २. २०. ७५; रामा० किष्किन्धा० १६. १२
७ रामा० ५. १५. ४८
८ रामा० २. २७. १०

ने यह मत प्रस्तुत किया है कि उस समय भी भारत में कुछ प्रदेश ऐसे थे जहाँ विवाह की संस्था का उदय ही न हुआ था। महाभारत में एक स्थान पर राजा पाण्डु अपनी पत्नी कुन्ती से कहते हैं कि प्राचीन काल मे स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी होती थीं और वे स्थायीरूप से किसी एक पुरुष के साथ न रहती थी। इस प्रकार की उच्छृंखल स्थिति अब भी (पाण्डु के समय मे) उत्तर कुरुदेश में पाई जाती है। उद्दालक के पुत्र महर्षि श्वेतकेतु ने सर्वप्रथम समाज में विवाह की प्रथा चलाई और इस प्रकार देश में मर्यादा स्थापित की।[१]

इसी प्रकार महाभारतकार दूसरे स्थान पर कहता है कि माहिष्मती की स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी थीं।[२]

परन्तु इन उदधरणों से यह न समझना चाहिए कि महाभारत-काल मे किसी प्रदेश में विवाह-सस्था प्रतिष्ठित न थी। यहाँ महाभारतकार किसी प्राचीन काल की कल्पना कर रहा है जब विवाह की सस्था का उदय न हुआ होगा। जहाँ तक महाभारत-काल का प्रश्न है, उसमें विवाह-सस्था भलीभाँति प्रतिष्ठित थी। पाण्डु के समय का विवाह-सस्थाविहीन उत्तरकुरु का देश कदाचित काल्पनिक है।

विवाह की अनिवार्यता—दोनों महाकाव्यकार समाज के लिए विवाह को अनिवार्य बताते है। रामायण के अनुसार पतिविहीन स्त्री का जीवन तन्त्रीविहीन वीणा तथा चक्रविहीन रथ के समान निरर्थक है।[३] महाभारत के अनुसार गृहिणी ही गृह है।[४] वह मनुष्य का अर्ध है, श्रेष्ठतम सखा है, त्रिवर्ग का मूल है और भवसागर से पार होने के लिए प्रमुख साधन है।[५] अपनी कन्या का उचित वर के साथ विवाह न करने वाला मनुष्य ब्रह्मघाती है।[६] कन्या के पिता का प्रस्ताव अस्वीकृत करने वाला मनुष्य भी निन्दनीय है।[७] महाभारतकार ने भी गृहस्थाश्रम को ही अन्य आश्रमो का आधार माना है।[८] इस प्रकार वैवाहिक जीवन को समाज मे दृढतापूर्वक प्रतिष्ठित किया गया था।

अन्तर्जातीय विवाह—नियमत महाभारत मे सजातीय विवाहो की ही प्रतिष्ठा है। परन्तु अनेकशः वह अन्तर्जातीय विवाहो का भी उल्लेख करता है। ये विवाह प्राय. अनुलोम विवाह ही थे। उदाहरणार्थ, भीम ने हिडिम्बा राक्षसी के साथ विवाह किया था और विदुर ने पारसवी-कन्या के साथ। राजा शान्तनु और सत्यवती का विवाह भी अन्तर्जातीय अनुलोम विवाह था। महाभारत पूर्व काल मे हुए च्यवन ऋषि और राजकुमारी सुकन्या के अनुलोम विवाह का भी उल्लेख करता है।

प्रतिलोम विवाहो में महाभारत एकमात्र ययाति और देवयानी के विवाह का उल्लेख करता है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण नही मिलते। इससे प्रकट होता है कि समाज की दृष्टि में प्रतिलोम विवाह अति निन्दनीय थे और उनकी प्रतिष्ठा न थी।

अष्ट प्रकार-विवाह—महाभारत मे भी आठ प्रकार के विवाह बताये गये हैं।[९]

१ महा० १. १२२. ४-११
२ महा० २. ३२. ४०
३ रामा० २. ३९. २९
४ महा० शान्ति० १४४. ६६
५ महा० १. ७४. ४१—
अर्धो भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः।
६ महा० १३. २४. ९
७ महा० ३. २९३. ३५
८ महा० १२. २९५. ३९
९ महा० १. ७३. ४-१३

इनमे (१) ब्राह्म (२) दैव (३) आर्ष और (४) प्राजापत्य धर्म्य तथा (५) गान्धर्व (६) असुर (७) राक्षस और (८) पैशाच अधर्म्य समझे जाते थे।

इनमे गान्धर्व-विवाह के विषय में व्यवस्थाकारों में मतभेद रहा है। कोई इसे धर्म्य और कोई अधर्म्य कहता है। महाभारतकार ने एक स्थान पर निश्चित रूप से इसे धर्म्य विवाह कहा है और इसे क्षत्रियों के लिए विशेष उपयुक्त बताया है।[1] यही नही, कही-कही उसे विवाहो मे सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।[2] महाभारत में गन्धर्व-विवाह का मबसे अधिक प्रसिद्ध उदाहरण दुष्यन्त और शकुन्तला का है।

परन्तु महाकाव्यों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि शनैः शनैः समाज युवक-युवतियों की स्वेच्छाचारिता का विरोध करने लगा था। नवीन विचार-धारा के अनुसार पुत्र-पुत्रियो के विवाह का उत्तरदायित्व उनके माता-पिता अथवा संरक्षको का था। यह ब्राह्म विवाह की प्रतिष्ठा थी। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, ब्राह्म विवाह के अन्तर्गत पुत्र-पुत्रियो का विवाह उनके माता-पिता द्वारा ही सम्पादित होता था। सम्पूर्ण महाकाव्य की विचार-धारा इसी ब्राह्म विवाह को सम्मानित करने की है। रामायण का कथन है कि कन्या का विवाह-कार्य पिता का उत्तरदायित्व है।[3] रावण, विभीषण, कुम्भकर्ण आदि राक्षसो के विवाह भी ब्राह्म-प्रणाली के अन्तर्गत हुए थे। स्वय सीता की तीनो बहनों का विवाह भी उनके पिता जनक ने अपनी इच्छा से किया था। महाभारत के उदाहरण भी इसकी पुष्टि करते हैं। देवयानी के पिता की अनुमति के बिना ययाति ने उसके साथ विवाह करना अस्वीकार कर दिया था।[4] राजा सवरण तपती नामक कन्या के साथ विवाह करना चाहता था। परन्तु उस कन्या ने यह कह कर राजा के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया कि मै स्वतन्त्र नही हूँ। मेरे पिता मेरे सरक्षक है। अत आप उन्ही से मेरे विवाह का प्रस्ताव कीजिये।[5] इस प्रकार गान्धर्व-विवाह को हतोत्साहित करके व्यवस्थाकारों ने माता-पिता के संरक्षण मे होने वाले ब्राह्म विवाह को ही प्रोत्साहित किया। इस प्रवृत्ति का एकमात्र ध्येय युवक-युवतियो की स्वेच्छाचारिता को मर्यादित करना था।

महाकाव्यों मे पैशाच विवाह का एक भी उदाहरण नहीं मिलता। यह पूर्वैतिहासिक काल की विवाह-प्रणाली रही होगी। ऐतिहासिक काल में इसका सम्पूर्णतः परित्याग हो गया था।

गान्धर्व विवाह की भाँति राक्षस विवाह भी विशेषतया क्षत्रियों मे प्रतिष्ठित था। इसे क्षात्र विवाह भी कहा गया है।[6] शूरकर्मा क्षत्रियो के लिए राक्षस विवाह में विशेष आकर्षण था। महाभारत मे स्वय श्रीकृष्ण इस विवाह प्रणाली की प्रशसा करते हैं।[7] इसी प्रथा के अन्तर्गत अर्जुन ने श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा का अपहरण किया था। उनके इस कार्य में श्रीकृष्ण की भी सहमति थी। भीष्म ने विचित्रवीर्य के विवाह के लिए काशीनरेश की पुत्री अम्बा का अपहरण किया था।

परन्तु महाभारत से ही प्रकट होता है कि समाज का एक वर्ग इस अपहरण-मूलक राक्षस विवाह का विरोधी था। वह असहाय एव वशीभूत कन्याओ के साथ

१ महा० १. ७३. २७
२ महा० १. १७२. १५—विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते।
३ रामा० ७७. २६
४ महा० १. ८१. २६
५ महा० १. १७२. २०
६ महा० १३. ४४. १०
७ महा० १. २४५. ५-६—क्षत्रियाणां तु वीर्येण प्रशस्तं हरणं बलात्।

उनकी इच्छा के विरुद्ध विवाह-पद्धति की निन्दा करता था।[1] शिशुपाल ने अम्बा के अपहरण के लिए भीष्म की कटु आलोचना की थी।[2]

महाकाव्यों में आसुर विवाह के भी उदाहरण मिलते हैं। यह विवाह आर्ष विवाह का ही एक रूप था। अन्तर केवल इतना था कि जहाँ आर्ष विवाह में कन्या के पिता को एकमात्र गाय-बैल का एक जोड़ मिलता था वहाँ आसुर विवाह में प्रचुर धन। रामायण के अनुसार कैकेयी के पिता ने अपनी कन्या के विवाह में विक्रय-मूल्य लिया था। महाभारत में ब्राह्मण ऋचीक ने गाधि को धन देकर ही उसकी कन्या के साथ विवाह किया था। इसी महाकाव्य के अनुसार शल्य ने अपनी बहन माद्री का पाण्डु के साथ विवाह करने के पूर्व भीष्म से कन्या-मूल्य माँगा था और उस सम्बन्ध में यह भी कहा था कि कन्या-मूल्य लेना हमारे वंश को चिर-प्रतिष्ठित प्रथा रही है।[3]

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि क्रय-विक्रय के सिद्धान्त पर आधारित आसुर-विवाह के प्रति विरोध बढ़ रहा था। महाभारत में स्वयं कहा गया है कि भार्या को न खरीदना चाहिए और न बेचना चाहिए।[4] कदाचित आसुर-विवाह की प्रथा अधिकांशत वैश्य और शूद्र वर्णों में ही अधिक प्रचलित थी।

महाकाव्यों में दैव विवाह के उदाहरण नहीं मिलते। वैदिक यज्ञों की समाप्ति के साथ-साथ इस विवाह की भी समाप्ति हो गई थी।

रहा प्राजापत्य विवाह, तो उसमें और ब्राह्म विवाह में कोई विशेष अन्तर नहीं है। यही कारण है कि आपस्तम्ब और वसिष्ठ जैसे व्यवस्थाकारों ने ब्राह्म-विवाह का तो उल्लेख किया है, परन्तु प्राजापत्य विवाह का नाम तक नहीं लिया है।

देव, आर्ष और आसुर विवाह-प्रणालियों के विलोप का एक कारण यह भी है कि वस्तुत: तीनों ही क्रय-विक्रय के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, आसुर विवाह मे पिता अथवा सरक्षक स्पष्टतया धन-धान्य लेकर अपनी कन्या का विवाह करता है। आर्ष विवाह मे कन्या का पिता धन-धान्य न लेकर एक मात्र गाय-बैल का जोडा लेता है। दैव विवाह में वह पुरोहित के याज्ञिक कार्य करने के बदले में उसे अपनी कन्या देता है। यह भी एक प्रकार का विक्रय ही था। महा-काव्य-काल तक इस क्रय-विक्रय पर आधारित कन्या-दान का विरोध किया जाने लगा था। अत उपर्युक्त तीनो विवाह-प्रणालियाँ निन्दनीय समझी जाने लगी।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि महाकाव्यो मे सबसे अधिक प्रतिष्ठित विवाह-प्रणाली ब्राह्म ही थी।

स्वयंवर—शूरकर्मा क्षत्रियों को दान के रूप में प्रदत्त कन्या का पाणिग्रहण करना अधिक रुचिकर प्रतीत न होता था। अतः उनकी अभिरुचि को सन्तुष्ट करने के लिए समाज ने एक ऐसी विवाह-प्रणाली को जन्म दिया जिसमें व्यक्तिगत शूरता और रोमास का सम्मिश्रण तो रहे परन्तु उसे मर्यादित रखने के लिए वर-वधू के पिता अथवा सरक्षक का निरीक्षण भी विद्यमान रहे। यह विवाह-प्रणाली स्वयवर के नाम से प्रख्यात हुई। यह राक्षस, गान्धर्व और ब्राह्म विवाह-प्रणालियों का सम्मि-श्रित रूप था। वस्तुत यह प्रणाली दीर्घकाल के क्रमिक विकास का परिणाम थी।

१ महा० १३. ४५. २२
२ महा० १.६४.२२
३ महा० १.१२२.९
४ महा० १३.४४.४६—न त्वेव भार्या क्रेतव्या न विक्रय्या कथंचन। महा० १.२२१.४; १३.४५.११

महाकाव्यों में इसकी पर्याप्त प्रतिष्ठा है। सीता, दमयन्ती, द्रौपदी आदि के विवाह इसी प्रणाली के अन्तर्गत हुए थे। इनमें दमयन्ती का विवाह वस्तुत गान्धर्व प्रणाली पर ही आधारित था, परन्तु उसके लिए स्वयम्वर-प्रणाली के अनुरूप राजमण्डली एकत्र की गई थी। सीता और द्रौपदी के स्वयम्बर में न तो कन्या की इच्छा-अनिच्छा प्रधान थी और न उसके संरक्षकों की। इन स्वयम्वरों मे तो सर्वोच्च शूरता का वरण किया गया था। अत यथार्थ में इन्हें स्वयम्वर कहना उपयुक्त नही है।

एकपत्नीकता—सामान्यतया समाज में एकपत्नीकता प्रतिष्ठित थी। एक पत्नी के होते हुए मनुष्य अन्यान्य विवाह न करता था। सीता को वनवास देने के पश्चात् भी दूसरा विवाह न करके राम ने एकपत्नीकता के आदर्श की स्थापना की थी।[1] महाभारत के अनुसार भी अपनी धर्मविहित भार्या का अकारण त्याग निन्दनीय समझा जाता था।[2]

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि राजवश मे बहुपत्नीकता प्रचलित थी। दशरथ, पाण्डु, अर्जुन, भीम आदि बहुपत्नीक थे। इस प्रथा को धर्म्य घोषित करते हुए महाभारतकार ने कहा है कि बहुविवाह अपराध नही है।[3]

सती-प्रथा—ऐसा प्रतीत होता है कि ३०० ई० पू० के लगभग भारतवर्ष में सती-प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। ओनेसिक्रिटस की सूचना के आधार पर स्ट्रैबो ने लिखा है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय कठ जाति के बीच सती-प्रथा प्रचलित थी। परन्तु यह प्रथा सर्वत्र लोक-मान्य न थी अन्यथा मेगास्थनीज, कौटिल्य अथवा अशोक के लेखो मे इस प्रथा का अवश्य उल्लेख होता।

महाकाव्यो मे सती-प्रथा के कतिपय उदाहरण मिलते है। रामायण मे ब्राह्मणी वेदवती की माता प्रज्वलित अग्नि मे प्रविष्ट हुई थी।[4] महाभारत मे अपने मृतक पति पाण्डु के साथ माद्री और वसुदेव के साथ देवकी, भद्रा, रोहिणी और मदिरा के सती होने का उल्लेख है। परन्तु इन दो-चार उदाहरणो से तत्कालीन समाज में सती-प्रथा की मान्यता सिद्ध नही होती। रामायण और महाभारत के अनुसार ही बहुसख्यक नारियाँ अपने पति की मृत्यु के पश्चात भी जीवित रही थी। इनमें कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी, सत्यवती, कुन्ती, उत्तरा आदि विशेष उल्लेखनीय थी।

नियोग-प्रथा—युद्ध प्रधान एव कर्मकाण्ड-प्रधान समाज में पुत्रो की आवश्यकता और भी अधिक होती है। यही कारण है कि महाकाव्य-काल में पुत्र-प्राप्ति के हेतु नियोग-प्रथा का सम्यक प्रचलन था। महाभारत का कथन है कि पति के अभाव में स्त्री अपने देवर को पतिरूप मे स्वीकार कर सकती है।[5] कुन्ती और माद्री ने नियोग के द्वारा क्रमश ३ और २ पुत्र प्राप्त किए थे। नियोग के द्वारा राजा व्युषिताश्व ने ७ पुत्र और राजा बलि ने १७ पुत्र प्राप्त किए थे। इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि पुत्र-प्राप्ति की कामना से स्त्रियाँ अन्य पुरुषो के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकती थी।

विधवा-विवाह अथवा पुनर्विवाह—महाकाव्यो से प्रकट होता है कि समाज में विधवा-विवाह अथवा अन्यान्य कारणो से नारी के पुनर्विवाह की भी प्रथा थी।

१ रामा० ७.९७.७—न सीतायाः परां भार्यां वव्रे स रघुनन्दनः।
२ महा० १२.२७८.३६; १२.५८.१३
३ महा० १४.८०.१४-१५—नापराधो भवेत्येष नराणां बहुभर्तृता।
४ रामा० ७.१७.३३—
५ महा० १३.१२.१९—नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम्।

बालि की मृत्यु पर उसकी विधवा पत्नी तारा ने सुग्रीव के साथ विवाह कर लिया था। रामायण में ही एक स्थान पर सीता ने लक्ष्मण पर अपना क्रोध प्रकट करते हुए यह कहा था कि तुम राम की रक्षा के लिए इसी लिये नहीं जाना चाहते कि जिससे उनकी मृत्यु के पश्चात तुम मुझे अपनी स्त्री बना सको।[1] इस कथन से प्रकट होता है कि तत्कालीन समाज में विधवा-विवाह की प्रथा थी। महाभारत में दमयन्ती के द्वितीय स्वयम्वर की घोषणा से प्रकट होता है कि अपने पति की दीर्घकालीन अनुपस्थिति से भी स्त्री पुनर्विवाह कर सकती थी। इरावत की पुत्र-वधू इरावती ने अर्जुन के साथ पुनर्विवाह किया था।[2]

परन्तु यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि समाज का एक वर्ग विधवा-विवाह अथवा नारी के पुनर्विवाह को निन्दनीय समझता था। इसी विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करते हुए महाभारत में सावित्री ने नारद से कहा था कि कन्या-दान केवल एक बार ही होता है।[3] इसी प्रकार दीर्घतमा ने पुनर्विवाह का जोर विरोध करते हुए कहा था कि नारी का एक ही पति होता है। उसने स्पष्ट कहा था कि एक स्त्री के अनेक पति कही नही सुने गए। यह लोकवेद विरुद्ध है।[4]

पर्दा—महाकाव्यो के कुछ उद्धरणों को लेकर कतिपय विद्वानो ने उससे पर्दा-प्रथा सिद्ध करने की चेष्टा की है। वन-गमन के अवसर पर रामायणकार का कथन है कि जिस सीता को आकाश के पक्षी भी न देख सकते थे उसी को आज राजमार्ग पर चलते हुए सामान्य जन देख रहे हैं।[5] इसी प्रकार महाभारत में धृतराष्ट्र के साथ वन को जाने वाली स्त्रियो के विषय में महाभारतकार ने कहा है कि जिन स्त्रियों को सूर्य और चन्द्रमा ने भी न देखा था वही आज राजमार्ग पर चल रही हैं।[6] परन्तु इन उद्धरणो से पर्दा-प्रथा सिद्ध नही होती। इनमें महाकाव्यकारों ने नारियो की सुकुमारता और अभिजातता को प्रकृष्टरूप देकर पाठको की दुःखानुभूति को तीव्र-तर करने की चेष्टा की है। यह भी सम्भव है कि समाज का उच्च और अभिजात वर्ग अपने महिला-वर्ग को प्राकृत वर्ग से पृथक रख कर अधिक प्रतिष्ठा देने का उप-क्रम कर रहा था।

साधारणतया महाकाव्यों में पर्दा-प्रथा नहीं मिलती। रामायण में राम स्वयं कहते हैं कि स्त्री के लिए गृह, वस्त्र, प्राकार और पार्थक्य निरर्थक हैं। उसका चरित्र ही आवरण है।[7] चित्रकूट में राम से मिलने के लिए जब उनकी तीनों मातायें गई थी तो उनके मुख पर भी किसी प्रकार का अवगुण्ठन न था। महाभारत में कुन्ती, गान्धारी, द्रोपदी आदि महिलाओ के मुखों पर भी कभी कोई आवरण नहीं देखा गया।

वेश्या-वृत्ति—समाज में वेश्या-वृत्ति प्रतिष्ठित थी। गर्भवती गान्धारी की सेवा-सुश्रूषा करने के लिए एक वेश्या नियुक्त की गई थी।[8] एक स्थान पर उल्लेख है कि शान्तिवार्ता के लिए आए हुए श्री कृष्ण का स्वागत वेश्याओं ने किया था।[9] युद्ध में जाने वाली पाण्डवो की सेनाओं में भी वेश्यायें थीं।[10] ऐसा प्रतीत होता है कि बहुसंख्यक वेश्यायें सेवा-सुश्रूषा, परिचर्या, सगीत, नृत्य आदि कलाओ में निपुण

१ रामा० ३.४५.५-७
२ महा० ६.००.७-१०
३ महा० ३.२९४.२५
४ महा० १. १९५. २७-२९
५ रामा० २. ३३. ८
६ महा० १५. १६. १३
७ रामा० ६. १७. ३२
८ महा० १. १११८.५.९
९ महा० उद्योग० ५१. ६४
१० महा० उद्योग० १५१.५८

होती थीं और इन कार्यों के लिए अनेक अवसरों पर वे नियोजित की जाती थीं।

एकपतिकता—द्रौपदी के अतिरिक्त महाकाव्यों में कोई भी स्त्री बहुपतिक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाण्डवों ने अपने पारस्परिक भ्रातृ-भाव को अविच्छिन्न रखने के लिए ही यह अधर्म्य कर्म किया था। युद्ध-काल में शूरकर्मा पाण्डवों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने की उत्कण्ठा से ही द्रुपद ने भी पाण्डवों के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था। परन्तु उनके इस प्रस्ताव को सुन कर द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न ने जो घोर विरोध किया था उससे स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रथा अभूतपूर्व पति की मृत्यु के पश्चात भी नारी को द्वितीय पति न ग्रहण करना चाहिए।[1] स्पष्ट है कि इस प्रकार की विचार-धारा का वर्ग पति-पत्नी के सम्बंध को अविच्छेदय समझती थी। अतः उसकी दृष्टि में सम्बन्ध-विच्छेद महान पातक था।

नारी की उच्चता—महाकाव्यों में नारी-समाज की स्थिति सन्तोषजनक थी। पत्नी के रूप में वह पुरुष का अनन्यरूप थी।[2] वह उसका अर्धभाग और श्रेष्ठतम सखा थी।[3] माता के रूप में वह भूमि से भी अधिक गुरु थी।[4] वह परम गुरु थी।[5] माता को क्लेश देने वाले व्यक्ति का कहीं भी त्राण नहीं है।[6]

स्त्री की महत्ता इसी बात से परिलक्षित होती है कि महाभारतकार ने उसे अवध्य बताया है।[7] स्त्री होने के कारण ही सीता का रावण ने बध नहीं किया था।[8]

नारी के प्रति नितान्त उदात्त भावना का प्रकाशन करते हुए ही महाभारतकार ने घोषित किया था कि आदर-सत्कार करने पर स्त्री साक्षात् लक्ष्मी बन जाती है।[9]

आर्थिक अवस्था

वार्ता—जैसा कि पीछे उल्लेख किया गया, प्राचीन भारत में वार्ता का विशेष महत्व था। वार्ता के अन्तर्गत कृषि, पशु-पालन और वाणिज्य आते थे। स्पष्ट है कि राष्ट्र की उन्नति के लिए ये विषय अत्यन्त आवश्यक थे। महाकाव्यों में भी वार्ता का विशेष महत्व प्रदर्शित किया गया है। भरत से मिलने पर राम ने वार्ता में संलग्न कृषि-गोरक्षाजीवी जन-समुदाय की कुशल ही पूछी थी।[10] महाभारतकार भी वार्ता को ही लोक का मूल मानता है।[11]

कृषि-कर्म—महाकाव्यों से कृषि-कर्म पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। उनमें कोशल, वत्स, मत्स्य आदि देशों की उर्वर भूमि की प्रशंसा की गई है।[12] राम-राज्य अपनी धान्य-समृद्धि के लिए प्रसिद्ध था।[13] कृषि की महत्ता इसी बात से प्रकट होती है कि स्वयं राजाओं को भी समय-समय पर हल चलाना पड़ता था। इसी प्रकार हल

१ महा० १. १०४. ३४-३७
२ रामा० ४. २४. ३४—अनन्यरूपा पुरुषस्य दारा।
३ महा० १. ७४. ४०—
४ महा० ४. ३१३. ७०—माता गुरुतरा भूमेः।
५ महा० १. १९६. १५—गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः।
६ महा० १. ३७. ४
७ महा० १. १५८. ३२
८ रामा० ६. ९३. ६०
९ महा० १३. ८१. १५
१० रामा० अयोध्या० १००.४८
११ महा० वन० ६७.३५
१२ रामा० २. ५०. ८-११, २. १००. ४४-४५, २. ५२. १०१ महा० ४. ३०. ८
१३ रामा० अयोध्या० ३. १४

चलाते हुए राजा जनक को खेत में सीता प्राप्त हुई थी।[1] वैष्णव यज्ञ के सम्बन्ध में दुर्योधन भी हल चलाते हुए प्रदर्शित किए गए हैं।[2]

महाकाव्यो के अनुसार कृषि-कर्म हल की सहायता से होता था। हल लकड़ी का होता था और उसका फाल लोहे का।[3] कृषि के अन्य उपकरणो में कुदाल, हँसिया (दात्र), सूप आदि का उल्लेख भी मिलता है।[4] आधुनिक भारतीय प्रथा की भाँति उस समय भी अनाज काट कर खलिहानो मे एकत्र किया जाता था और वहाँ बैलों की सहायता से उसका मर्दन करके धान्य और भूसा अलग किया जाता था।[5] कृषि-कर्म में सर्वत्र बैलों का प्रयोग किया जाता था[6] राज्य कृषि की ओर विशेष ध्यान देता था। महाभारत में दुर्योधन कहता है कि मेरे राज्य में कृषि को क्षति पहुँचाने वाला कोई भी तत्व नही है।[7] सिंचाई की व्यवस्था करना राजा का मुख्य कर्तव्य था।[8] महाभारत सिंचाई के लिए कुल्याओं (छोटी-छोटी नालियों) का उल्लेख करता है।[9] परन्तु सामान्यतया कृषक वर्षा के ऊपर ही निर्भर रहते थे। सौभाग्य-शाली राजा के राज्य में वर्षा समयानुकूल होती थी।[10]

सामान्यतया महाकाव्यों के अनुसार कृषकों को उपज का $\frac{1}{10}$ भाग से लकर $\frac{1}{6}$ भाग तक देना पड़ता था। अस्थान और अकाल में कर न लिया जाता था।[11] कर-सग्रह देश-काल का ध्यान रखकर ही किया जाता था। ब्राह्मण स्त्रियाँ और बच्चे कर-मुक्त थे।[12]

सम्पूर्ण उपज दो प्रकार की होती थी—

(१) वनेय (जंगली)—जो अपने आप होती थी, यथा श्यामक, नीवार इत्यादि।

(२) कृष्ट—जो परिश्रम करके उत्पन्न की जाती थी। इस कोटि में गोधूम (गेहूँ) यव (जौ), व्रीहि (चावल) माष (उड़द), चणक (चना), तिल, सर्षप, तूल, सण आदि उत्पन्न किए जाते थे।

उद्यान—महाकाव्यो मे अनेक स्थलों पर उद्यानो का भी वर्णन है। इनमें बहुधा स्त्री-पुरुष आमोद-प्रमोद के लिए जाते थे।[13] इनमें सुन्दर कुंज, वाटिकायें, घास के मैदान जल-कुंड स्फटिक-खंड आदि पाए जाते थे। अनेक उद्यानो में आम आदि विविध फल भी उत्पन्न होते थे।[14]

पशु-पालन—पीछे कहा जा चुका है कि पशु-पालन भी वार्ता का प्रमुख अंग था। राज्य की ओर से पशुओ की देख-रेख करने के लिए गोपाध्यक्ष की नियुक्ति होती थी। समाज में अनेक व्यक्ति पशु-विशेषज्ञ होते थे। वे पशुओं के स्वभाव, गुणों, रोगो और विशेषताओं को भली-भाँति समझते थे। पशु-विशेषज्ञो में सहदेव प्रमुख थे।[15] राजा नल घोड़ों के विशेषज्ञ थे।[16]

१ रामा० २. १८१. २८
२ महा० ३. २५५. २८
३ महा० १२. २६२. ४६—काष्ठ-मयोमुखम्।
४ रामा० २. ३२. २९. २. ८०. ७, महा० ५. १५५. ७-९
५ महा० १२. १६५. १२, ६. १०३. ३
६ महा० १७. ७६७. ४६
७ महा० ५. ६१. १७
८ महा० २. ५. ७७
९ महा० १२. २६०. २४
१० महा० ४. २८. १९
११ महा० १२. ३८. १२
१२ महा १२. ८८. २६
१३ रामायण, सुन्दर० ९
१४ महा० २. ५०. २५-२६
१५ महा० ४. १०. १३-१४
१६ महा० ३. ७१. १८

अन्यान्य-व्यवसाय—महाकाव्यों में शिल्पकारों की निपुणता का पर्याप्त प्रदर्शन हुआ है। रावण के राजप्रासाद के स्वर्णमय प्राचीर, हाथीदाँत और चाँदी के वातायन तथा मणि-मुक्ताओं एवं स्फटिक के विविध प्रयोग देखकर हनूमान को स्वर्ग का स्मरण हो आया था।[1] इसी प्रकार मयद्वारा निर्मित युधिष्ठिर के प्रासाद, सभा-भवन और सरोवरादि अद्वितीय थे।[2]

वस्त्राभरण के व्यवसाय की भी विशेष उन्नति हो चुकी थी। अभिजात एवं धनी वर्ग रेशमी वस्त्रों का ही प्रयोग करता था। राम और सीता घर पर भी रेशमी वस्त्र धारण करते थे।[3] सीता के विवाह के अवसर पर जनक ने विभिन्न उपहारों में रेशमी वस्त्र भी दिए थे।[4]

तन्तुवाय और कम्बलकार सूती और ऊनी वस्त्रों का भी व्यवसाय करते थे। जनता की आभूषण-प्रियता की सन्तुष्टि के लिए स्वर्णकार और मणिकार विविध आभूषणों का निर्माण करते थे।

इसके अतिरिक्त महाकाव्यों में वर्धकि, खनक, लोहकार, वंशकार, दन्तकार, कुम्भकार, कर्मान्तिक, चर्मकार, रजक, सुराकार, वैद्य, मालाकार, इषुकार, नापित, नट, शैलूष, सौण्डिक आदि अनेकानेक व्यवसाय-जीवियों का उल्लेख मिलता है।

देश के अधिकांश व्यवसायी श्रेणियों में संगठित थे। इन श्रेणियों के अध्यक्ष थे जो 'मुख्य' कहलाते थे। लंका से लौट कर जब राम ने अयोध्या में प्रवेश किया था उस समय श्रेणी-मुख्यों ने उनका स्वागत किया था।[5] युधिष्ठिर और दुर्योधन के उत्सवों में भी श्रेणी-मुख्य सम्मिलित होते थे।[6]

महाकाव्यों में वाणिज्य का भी अच्छा वर्णन मिलता है। पाण्डवों को उपहार में पूर्वी देशों के हाथी, काम्बोज, गान्धार, बाह्लीक तथा प्राग्ज्योतिष के घोड़े, पश्चिमी देशों के ऊँट, कम्बोज से ऊनी वस्त्र, बाह्लीक तथा चीन के रेशमी वस्त्र, सिन्धु के शालि तथा म्लेच्छ देश के मोती आदि मिले थे। ये वस्तुयें कृष्ण तथा पाण्डवों के सहयोगी एवं आश्रित राजाओं ने उन्हें दी थी।[7] रामायण के अनुसार भी काम्बोज और बाह्लीक अपने घोड़ों के लिए प्रसिद्ध थे।[8] इसी प्रकार विन्ध्य-प्रदेश अपने हाथियों के लिए प्रसिद्ध था।[9] अपरान्त के समुद्रों से देश को रत्न मिलते थे।[10]

महाभारत में समुद्र-यात्राओं का वर्णन है।[11] रामायण में यवद्वीप और सुवर्ण-द्वीप का उल्लेख है[12] उसमें पोत-भग होने का भी उल्लेख है।[13] नदियों में नौकाओं द्वारा यात्रा की जाती थी। अयोध्या काण्ड में गुहक पाँच सौ नावों को लेकर भरत का मार्ग अवरुद्ध करने चलता है।[14] गमनागमन की सुविधा के लिए नदियों के ऊपर पुल भी बनाए जाते थे।[15]

१ रामा० अयोध्या० ३७ तथा ७९
२ रामा० बाल० ७४
३ महा० ५. ४१. १५, ३. १५४. ४, २. ६७. १७
४ महा० ७. ४५. ३७, ८. ७४. १९
५ रामा० लंका० १२९
६ महा० वनल २४८
७ महा० आदि० १९९-२२१ सभा० २८.३०. ३१. ४९. ५१
८ रामा० बाल० ६
९ रामा० वही०
१० रामा० अयोध्या ८२
११ महा० ३. ६४. २३-२८
१२ रामा० ४. ८०. २३. २५
१३ महा० ९. ३. ५
१४ रामा० ४. १६. २४
१५ रामा० ६. २२. ५१.६८

शिक्षा

महाकाव्य शिक्षा के ऊपर भी विशेष प्रकाश डालते हैं।[1] महाभारत के अनुसार विद्याविहीन पुरुष शोचनीय होता है। रामायण मे शिक्षा के जिन विषयो का उल्लेख किया गया है उनसे प्रकट होता है कि शिक्षा का क्षेत्र कितना व्यापक था। ये विषय हैं[2] दर्शन, धर्मशास्त्र, राजनीति, इतिहास, अथर्ववेद, यजुर्वेद अर्थशास्त्र, पौराणिक उपाख्यान, तैत्तिरीय, काठक, मानव, आगिरस, कौशिक तथा लोकायतिक सिद्धान्त। विद्या ही मनुष्य का सबसे बड़ा नेत्र है।[3] महाभारत से भी शिक्षा के व्यापक पाठ्य-क्रम पर प्रकाश डालता है। उसके अनुसार ६ अगो के सहित वेद और १० अगो के सहित धनुर्वेद पढ़ाया जाता था।[4] अन्य स्थलो पर पाठ्य-विषयो के नाम भी मिलते हैं, यथा उपनिषद, साख्य, योग, इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, शल्य-चिकित्सा आदि।[5]

ललितकलाओ का भी कम महत्व न था। शिखण्डी चित्र-कला में निपुण था।[6] कच और अर्जुन सगीत और नृत्य के विशेषज्ञ थे।[7] युधिष्ठिर की दासियाँ चौसठ कलाओ मे पारगत थी।[8]

इनके अतिरिक्त अन्य विद्यायें भी थी। राम, सीता और तारा निमित्त-विद्या के ज्ञाता थे।[9] अर्जुन चक्षुषी विद्या जानते थे।[10]

इसी प्रकार शिक्षा का क्षेत्र अति विशाल था।

शिक्षा दो प्रकार से प्राप्त होती थी—गुरु-कुलो मे अथवा घर पर रखे गये आचार्यों द्वारा। महाकाव्यो में अनेकानेक ऋषियो का उल्लेख है। ये वनो मे आश्रमों मे रहते थे। यही आश्रम गुरुकुल थे जो उच्चतम शिक्षा के केन्द्र थे। भारद्वाज और वाल्मीकि के आश्रमो का रामायण मे उल्लेख है।[11] महाभारत में मार्कण्डेय और कण्व प्रसिद्ध आश्रमो का वर्णन है।[12] इन आश्रमो में बहुसख्यक शिष्य रहते थे जो अपने गुरु के सम्पर्क, सम्बन्ध और निरीक्षण में अपनी आध्यात्मिक एवं बौद्धिक उन्नति करते थे। कभी-कभी तो इन ऋषियो के अधीनस्थ शिष्यों की सख्या अत्यधिक हो जाती थी। महाभारत का वर्णन है कि जब ऋषि दुर्वासा कुरु-नरेश से मिलने गए थे तो उनके साथ १० हजार शिष्य थे।

आश्रम का ऋषि आचार्य कुलपति कहलाता था। विद्यार्थी का गुरुकुल उसके जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना होती थी। महाभारत मे कहा गया है कि वास्तव में यह उसका नवीन जन्म होता था।[13] कालान्तर मे विद्यार्थी अपने आचार्य के नाम से ही अपनी परम्परा चलाने लगे।[14] यह परम्परा ब्रह्मवश के नाम से प्रख्यात हुई।[15]

१ महा० ५. ३९. ७७

२ रामा० २. १००. ३८-३९

३ महा० १२. ३३९. ६—नास्ति विद्यासम चक्षुः।

४ महा० ७. ७. १; १. १००-३५-३९; ९. ६. १४

५ महा० ९. ६. १४, ३. १६८. ६६-६८, १२. १०४. १४६. १. ७. ११२. ३४१. ९, रामा० १. ४९. ६-८

६ महा० ५. १८९. १-२

७ महा० १. ७६. २४, ७. ११. १२

८ महा० २. ६१. ९-१०

९ रामा० ६. १०६ ३६, ३. २८०, १९, ३. ५२. ९

१० महा० १. १७२. ४३-४६

११ रामा० ६. १२३. ५१; २. ५५. ९-११

१२ महा० ३. २७१. ४८; १. ७०, १८

१३ महा० ५. ४४. ६.

१४ महा० १२. १०८: २०

१५ महा० १२. ११. १९

ऋषियों के द्वारा अध्यापित ज्ञानार्थी शिष्य ब्रह्मवंशीय हो गये। जाति के बन्धनो को तोड कर विशुद्ध ज्ञान के आधार पर निर्मित समाज का यह नवीन समुदाय अपना विशेष महत्व रखता था।

महाकाव्यों में गुरुकुलों में अध्यापित अनेक व्यक्तियों के नाम मिलते हैं। लव-कुश और आत्रेयी वाल्मीकि के गुरुकुल में पढते थे। द्रोण और द्रुपद ने भारद्वाज के आश्रम में रह कर शिक्षा पाई थी।

दूसरी शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत धनी-मानी व्यक्ति अपने सरक्षितो को शिक्षा देने के लिए प्रख्यात आचार्यों को नियोजित करते थे। ये आचार्य उनके घर पर आकर ही शिक्षा-दान करते थे। अर्जुन ने विराट की राजपुत्री उत्तरा को उसके घर पर ही सगीत-नृत्य की शिक्षा दी थी। द्रोणाचार्य हस्तिनापुर में रह कर ही कौरव और पाण्डव राजकुमारो को धनुर्विद्या सिखाते थे। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि घर मे रखे गए आचार्य को कोई निश्चित मासिक वृत्ति न मिलती थी। सामान्यतया छात्र का सरक्षक आचार्य की समस्त सुविधाओ और आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त सारा प्रबन्ध कर देता था। भीष्म ने कौरवो और पाण्डवो के लिए द्रोण को अध्यापक नियुक्त करते ही उन्हे धन-धान्य से पूर्ण एक घर दे दिया था।[1]

तीसरी परन्तु अधिक क्लेश साध्य तथा कम प्रचलित शिक्षा-प्रणाली स्वाध्याय की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि साधन-विहीन मनुष्य विवशतावश एकमात्र अपने पुरुषार्थ का अवलम्ब लेकर स्वाध्याय करते थे। इस दिशा में एकलव्य का उदाहरण सर्वविदित है। अधीत विषयो का मनन और गम्भीर विवेचन करने के लिए भी स्वाध्याय की आवश्यकता पडती थी। महाभारत मे 'स्वाध्यायी' का उल्लेख आदर के साथ किया गया है।[2]

महाकाव्यों से प्रकट होता कि समाज में नारी-शिक्षा और सह-शिक्षा भी प्रतिष्ठित थी। इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, साधारणतया शूद्र-समुदाय को शिक्षा का अधिकार न था। इसी लिये द्रोण ने निषाद एकलव्य को धनुर्विद्या सिखाना अस्वीकार कर दिया था।

महाकाव्यो में वैदिक शिक्षा का विशेष महत्व था। वेदो का अध्ययन किये बिना ब्राह्मण का कर्तव्य पूर्ण न होता था।[3] वेद-पाठ की शुद्धता को सरक्षित रखने के लिए महाकाव्यो में वैदिक शिक्षा मौखिक ही थी। इसी से महाभारत में वेद के विक्रेता, लेखक आदि की निन्दा की गई है।[4] इसी आशय से महाभारतकार ने घर पर वेदों का अध्ययन करने वाले व्यक्ति की भी निन्दा की है।[5] अधीत आचार्य का परम कर्तव्य है कि वह दूसरो को शिक्षा-दान करे। एक वर्ष तक अपने समीप रहने वाले शिष्य को भी जो आचार्य शिक्षा-दान नही करता वह शिष्य के सारे पापो का भागी बनता है।[6]

आचार्य के व्यक्तित्व का प्रभाव प्रच्छन्न रूप से शिष्यो पर पडता ही है। अतः महाभारतकार ने आचार्य की सच्चरित्रता पर विशेष जोर दिया है। यदि वह अभिमानी, उचित-अनुचित के प्रति निरपेक्ष तथा कुमार्गी हो तो शिष्य को चाहिए कि

१ महा० आदि० १३३. २-३
२ महा० ५. ४० २५
३ महा० शान्ति० २३९.१३
४ महा० १५. १०६. ९२.
५ महा० अन० ३६. १५
६ महा० द्रोण० ५०.२१

उसका परित्याग कर दे।[१]

शिष्य के लिए आचार्य अतीव श्रद्धा-भक्ति का पात्र है। महाभारतकार के अनुसार छोटे अपने बड़ों को नाम लेकर नहीं पुकार सकते और न उन्हें 'तुम' ही कह सकते हैं।[२] निश्चित है कि यह नियम आचार्यों के प्रति भी प्रयुक्त होता था। शिष्य-वर्ग के लिए अन्यान्य नियम भी थे। शिष्य को असत्य, गर्व, त्वरा और आत्म-प्रशंसा से बचना चाहिए।[३] यदि कोई शिष्य अपने गुरु के प्रति अशिष्टता अथवा दुराग्रह करता है तो वह ब्रह्म-हत्या के पाप का भागी होता है।[४] अपने गुरु का तिरस्कार करने वाला छात्र मृत्यु के पश्चात घोर यन्त्रणा पाता है।[५]

पूर्व काल में कभी-कभी ऐसा होता था कि अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् छात्र अपने आचार्य की पुत्री के साथ विवाह भी कर लेता था। परन्तु जैसे-जैसे आचार्य-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र के रूप में विकसित हुआ वैसे ही वैसे यह प्रथा पाप-पूर्ण समझी जाने लगी, क्योंकि आचार्य-पुत्री छात्र की बहन के समान हुई। इसी सम्बन्ध को दृष्टि में रखकर कच ने देवयानी के साथ विवाह करना अस्वीकार कर दिया था।[६] निश्चय ही आचार्य की दृष्टि में शिष्य पुत्र के समान था। द्रोणाचार्य ने दुर्योधन की धृष्टता यह कहते हुए क्षमा कर दी थी कि 'तुम मेरे लिए अश्वत्थ (द्रोण का पुत्र) के समान हो। इससे मैं तुम्हारे दुर्वचन पर ध्यान नहीं देता।[७]

महाकाव्यों से यह स्पष्ट नहीं होता कि विद्यारम्भ की निश्चित आयु क्या थी। कदाचित उपनयन-सस्कार के पश्चात् ही विद्यारम्भ होता था।[८] महाभारत में दो स्थलों पर उपनयन-सस्कार का सम्पादित होना लिखा है—एक बार युधिष्ठिर के पुरोहित धौम्य द्वारा द्रौपदी के पुत्रों का उपनयन और दूसरी बार व्यास द्वारा अपने पुत्र शुक का उपनयन। महाकाव्यों में कहीं पर भी यह नहीं लिखा है कि उपनयन-सस्कार किस आयु में होता था। अत विद्यारम्भ की भी आयु निर्धारित करना कठिन है। यही नहीं, व्यास ने अपने पुत्र शुक का उपनयन तो उत्पन्न होते ही कर दिया था और उसी समय से उसका विद्यारम्भ भी हो गया था। इसी प्रकार, भीष्म, द्रोण और युधिष्ठिर आदि यज्ञोपवीत धारण किए हुए तो प्रदर्शित किए गए है,[९] परन्तु उनका उपनयन-सस्कार किस आयु में सम्पन्न हुआ था, इस पर महाभारतकार कोई प्रकाश नहीं डालता। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनयन-सस्कार की न कोई निश्चित आयु थी और न विद्यारम्भ की। ये बातें व्यक्ति-विशेष की सुविधा और योग्यता पर निर्भर करती थी। कदाचित सर्वत्र उपनयन-सस्कार और विद्याध्ययन का सम्बन्ध भी जाता रहा था। कुछ व्यक्ति उपनयन-सस्कार के बिना ही विद्याध्ययन करते थे। क्षत्रियों और वैश्यों में कदाचित उपनयन सस्कार का विलोप हो रहा था।

अन्न-पान

अन्न-पान का मनुष्य की शारीरिक एव मानसिक स्थिति पर प्रचुर प्रभाव पड़ता है। छान्दोग्य उपनिषद में स्पष्टतया कहा गया है कि 'आहारशुद्धि से सत्त्व शुद्धि होती है और सत्त्वशुद्ध मनुष्य की स्मृति ध्रुव हो जाती है। स्मृति ध्रुव होने

१ महा० उद्योग० १७८-४८
२ महा० शान्ति० १९३-२५
३ महा० ६.४०.३
४ महा० ५.४०.३
५ महा० १२.३२१.२९
६ महा० १.७७.१४
७ महा० ७.९४.१९
८ महा० १.१३४.१९
९ महा० १.२२१.८८

से मनुष्य निर्ग्रन्थ हो जाता है।[1] महाकाव्यकार अन्न-पान के इस विपुल महत्व से अपरिचित न थे। इसी से उन्होने अन्न-पान के विषय में विविध विधि-निषेध बनाये थे।

ऋग्वेद में प्रात, मध्यान्त और सायकाल, तीन समय भोजन करने की प्रथा थी।[2] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में प्रात और सायंकाल, दो समय ही भोजन करना अधिक उपयुक्त समझा जाने लगा। शतपथ ब्राह्मण में इसी प्रथा का उल्लेख है।[3] महाकाव्यो मे भी दो बार भोजन करने की प्रथा को ही प्रतिपादित किया गया है।[4] परन्तु अन्तरा-भोजन (मध्यान्त-भोजन) के विरुद्ध बनाये गये नियम[5] से प्रकट होता है कि बहुत से मनुष्य ऋग्वैदिक आर्यों की भाँति तीन बार भोजन करते थे।

जिस स्थान पर भोजन किया जाय वह नितान्त शुद्ध और निर्मल होना चाहिए।[6] आपस्तम्ब की भाँति महाभारतकार ने भी पैर धोकर भोजन करने का नियम निर्धारित किया है।[7] भोजन करने के पूर्व तीन बार पानी से कुल्ला करना भी आवश्यक था।[8] मन-मस्तिष्क की अशान्ति पावन-कार्य में बाधक होती है। इस तथ्य को समझते हुये ही महाभारत ने कहा था कि भोजन करते समय मनुष्य को पूर्णरूपेण प्रकृतिस्थ रहना चाहिए।[9] एक ही पात्र मे दो व्यक्तियो को साथ-साथ नही खाना चाहिए।[10] न किसी का जूठा भोजन ही ग्रहण करना चाहिए।[11] भोजन ऐसा होना चाहिए जो सरलतापूर्वक पच जाय।[12]

महाकाव्यो में चतुर्विध अन्न-पान का उल्लेख[13] है—

(१) भक्ष्य—जो चबाकर खाया जाय
(२) चोष्य—जो चूस कर खाया जाय
(३) लेह्य—जो चाट कर खाया जाय
(४) पेय—जो पीकर खाया जाय

दूसरे प्रकार से अन्न-पान को दो कोटियो मे रखा गया है—(१) सामिष और (२) निरामिष।

सामिष आहार—महाकाव्यो से प्रकट होता है कि समाज में मासाहार का भी प्रचलन था। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-समुदाय का भी एक वर्ग मासाहारी था। रामायण[14] मे ब्राह्मणो और क्षत्रियो के खाने के उपयुक्त ५ पशुओं का मांस बताया गया है। ये पशु है—(१) शल्यक (स्याही) (२) श्वाविध (३) गोधा (छिप-

१ छान्दोग्य ७. २६. २—आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।

२ ऋ० ३. ५२. ३, ६

३ शतपथ २. २. २. ६—तस्मादु सायं प्रातराश्येव स्यात्।

४ महा० १३. १०४. ९५—सायं प्रातश्च भुंजीत
महा० १३. १०४. ९५, १२. १९३. १०, १३. १०९४

५ देखिए रामा० ३. ५६. २५

६ महा० १३. १०४. ९१

७ आप० ध० सू० १.५, ७३.६, महाभारत १३. १०४. ५५

८ महा० वही

९ महा० १३. १६२. ५०

१० महा० १३. १०४. ८९

११ महा० १३. १०४. ९९

१२ रामा० ३. ५०. १८

१३ रामा० २. ५०. ३९, २.९१.२०
महा० १. १२८. ३४, २, ३, १-३, ६. ३९. १४

१४ रामा० ४, १७.३९-४०

किली), (४) शश और (५) कूर्म। रामायण में अगस्त्य ऋषि मांस-भक्षण करते हुए दिखाए गए है।[१] महाभारत में उत्तरा के विवाहोत्सव मे ब्राह्मणो ने मास-भक्षण किया था।[२] परतु ये उदाहरण अधिक से अधिक यही सिद्ध करते है कि ब्राह्मणो का एक अल्प-संख्यक समुदाय ही मासाहारी था। आपत्काल में भी ब्राह्मणो के लिए मास-भक्षण अनुमत था। परन्तु साधारणतया ब्राह्मण निरामिषभोजी ही थे। महाभारतकार ने एक स्थान पर स्वय कहा है कि मनुष्य को सदा निरामिषभोजी होना चाहिए।[३] यह नियम विशेषतया ब्राह्मण-समुदाय पर ही लागू होगा। रामायण और महाभारत में सर्वत्र ऋषि-मुनि निरामिषभोजी ही प्रदर्शित किए गए है। अत. अनुमान किया जा सकता है कि मास-भक्षण ब्राह्मणो के अत्यल्पसख्यक वर्ग में ही प्रचलित था। परन्तु भरत, दुर्योधन, जयद्रथ, शल्य, युधिष्ठिर आदि मासाहारी क्षत्रियो के उदाहरणो से स्पष्ट होता है कि मांसाहार क्षत्रियो मे प्रतिष्ठित था। रजोगुणी और आखेटप्रेमी क्षत्रियो के लिए मासाहार स्वाभाविक प्रतीत होता था।

शूद्रों के लिए तो स्थान-स्थान पर निम्नातिनिम्न पशु के मास का भी भक्षण लिखा है। चाण्डाल तो कुत्ते तक का मास खाते थे।[४]

रहा वैश्य समुदाय, तो इसके विषय मे यह निश्चितरूप से नही कहा जा सकता कि इसमे मासाहार किस सीमा तक प्रचलित था। कदाचित बहुसख्यक समुदाय होने के कारण इसमे सामिषभोजी और निरामिषभोजी, दोनो प्रकार के मनुष्य सम्मिलित थे।

मासाहारी समाज में अनेक पशुओ का मास खाया जाता था। जयद्रथ के सत्कार में द्रौपदी ने हिरन, बारहसिंहा, भालू, खरगोश आदि विविध पशुओ का मास पकवाया था।[५] भारद्वाज ने भरत के सत्कार मे मोर, मुर्गा, बकरा, सुअर आदि का मास तैयार करवाया था।[६] इसी प्रकार उत्तरा के विवाह में प्रीतिभोज के अवसर अनेक प्रकार के पशुओ का मास प्रस्तुत किया गया था।[७]

इनके विरुद्ध कुछ ऐसे भी पशु थे जिनका मास निषिद्ध समझा जाता था। गौ अवध्य समझी जाती थी। रामायण मे राक्षसो को छोड कर और कोई भी गौ-मास खाते हुए प्रदर्शित नही किया गया है। महाभारत में रन्तिदेव का उदाहरण है जिसकी पाकशाला के लिए प्रतिदिन दो हजार गौयें मारी जाती थी।[८] परन्तु रन्तिदेव का उदाहरण महाभारतकालीन नही है। वह किसी ऐसे प्राचीनकाल की कहानी है जब गौ की अवध्यता पूर्णरूप से प्रतिष्ठित न हुई थी। महाभारत का कोई भी मासाहारी आर्य गौ-मांस-भक्षण करते हुए नही मिलता।

महाभारत में एक स्थान पर उल्लेख है कि सुअर, मुर्गा, गाय, गदहा और ऊँट का मास एकमात्र मद्रक जाति मे ही खाया जाता था। इस कुप्रथा के लिए कर्ण ने मद्रक नरेश शल्य की कटु आलोचना भी की थी।[९] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मुर्गे के मास की खाद्यता अथवा अखाद्यता के विषय में मतभेद था। रामायण में भारद्वाज द्वारा भरत के सत्कार मे प्रीतिभोज का जो प्रबन्ध किया गया था उसमें अन्यान्य पशुओ के अतिरिक्त मुर्गों का भी मास था।[१०]

१ रामा० ३. ११.५०-६४
२ महा० ४. ७२. २८
३ महा० १३. ११५. ७९
४ रामा० १.६२. १४-१७
५ महा० ३. २६५. १३-१५
६ रामा० २. ९१.६७-७०
७ महा० ४. ७२. २८
८ महा० ७. ६७. १६-१७
९ महा० ८. ४४. २८-२९
१० रामा० २. ९१. ७०

निरामिष आहार—सामान्य जनता निरामिषभोजी ही थी। वह गोधूम, यव, व्रीहि, माष, मुदग, चणक, तिल, सर्षप, तेल, घृत, दुग्ध, दधि, कन्द, मूल, फल, मसाले, लवण, गुड़ आदि की सहायता से अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ तैयार करती थी। महाकाव्यों में इन पदार्थों के विविध नाम मिलते हैं।

सर्वप्रिय पदार्थों में पूरिका, शष्कुलि, अपूप, मोदक, यावक और पायस की गणना होती थी। आधुनिक शब्दावली में पूरिका को पूड़ी और शष्कुलि को कचौडी कहेंगे।[1] धनिक वर्ग इन्हें घी से और निर्धन वर्ग तेल से पकाते थे।[2] अपूप आधुनिक पुआ था। इसके कई प्रकार थे। मांसाहारी गेहूँ अथवा जौ के आटे में मास मिला कर मांसापूप बनाते थे।[3] निरामिषभोजी एक मात्र गुड या चीनी मिश्रित आटे को गूँध कर उनके पुए बनाते थे। इनमें अनेक छेद कर दिए जाते थे और फिर इन्हें घी में तल लिया जाता था। इन्हें घानापूप कहते थे।[4] रस से भरे हुए पुओं को रसालापूप कहा जाता था।[5] मोदक आधुनिक लड्डू थे और साधारणतया विशेष अवसरों पर खाए-खिलाए जाते थे।[6] गेहूँ, जौ के आटे को घी और चीनी की सहायता से पकाकर[7] एक प्रकार का हलवा बनाया जाता था। इसे यावक कहते थे। कभी-कभी यह आधुनिक लपसी के रूप में बनाया जाता था। इसे संयावक पुकारते थे।[8] पायस खीर को कहते थे।[9] इसे क्षीरोदन भी कहा जाता था।[10] यह पदार्थ साधारणतया दूध में चावल पका कर बनाया जाता था। इसमें घी, चीनी अथवा शहद भी डाला जाता था।

सामान्य खाद्यों में ओदन (भात), कृषरोदन (खिचड़ी), गुडोदन (मीठा भात), सूप (दाल), सक्तु (सत्तू) आदि थे।

समाज प्याज और लहसुन से परिचित था, परन्तु इनका प्रयोग निन्दनीय समझा जाता था।[11]

भोजन में विशेषतया धनिक वर्ग के भोजन में, दूध[12], दही,[13] मट्ठा,[14] घी,[15] और शहद[16] का भी स्थान था।

अभाग्य से दोनो महाकाव्यो में कही पर भी तरकारियो के नाम नही मिलते। सर्वत्र 'शाक' शब्द का ही व्यापक प्रयोग हुआ है। फलों में महाकाव्यकार इक्षु (गन्ना) रसाल (आम), आमलिक (आमला), बिल्व (बेल), कपित्थ (कैथा), इगुद (हिंगोट) आदि का नाम लेते हैं। आहार मे फलो का महत्व था। उत्तम फलों को 'राजभोज्य' कहा गया है।[17]

समाज मे मद्यपान भी प्रचलित था।[18] राजाओं और धनिक वर्गों के प्रीति-

१ महा० ७. ६४. ८
२ महा० ५. ३४. ३९
३ महा० १४. ६३. २०
४ महा० १. ३. ६९
५ महा० १३. ५३. १८
६ महा० ७. ६४.८ १३. ५३. १८
७ महा० १२. २२५. २२
८ महा० ७. ७३. २८
९ रामा० २. ७५. ३०
महा० २. ४. २
१० महा० ८. ४१. १४
११ महा० ८. ४४. ११
१२ महा० ५. ३४. ४९
१३ महा० ४. १३. ९
१४ महा० १४. ८९. ४०, रामा० २.९१. ७२
१५ महा० ७. ६२. १५
१६ महा० १२.१७१.१६-१७
१७ महा० ८. ५३. १९
१८ रामा० २. ११४.३०

भोजों में भी इसका स्थान रहता था। उत्तरा के विवाहोत्सव और भारद्वाज द्वारा आयोजित भरत-सत्कार में हम सुरा देखते हैं। परन्तु ब्राह्मणों के लिए मद्यपान बुरा समझा जाता था। महाभारत में शुक्र के वचन इसी सत्य को प्रदर्शित करते हैं।[१]

वेश-भूषा

साधारणतया लोग दो वस्त्र धारण करते थे[२]—(१) अधोवस्त्र जिसे वास अथवा शाटी[३] कहते थे और (२) ऊर्ध्ववस्त्र जिसे उत्तरीय अथवा प्रावार[४] कहते थे। स्त्रियों के भी यही दो प्रधान वस्त्र थे। पुरुष अपने शीश पर उष्णीष (पगडी) बांधते थे।[५] महाभारत मे राजा और राजपुरुष भी उष्णीष धारण किये हुए मिलते हैं, परन्तु रामायण मे वे उष्णीष के स्थान पर मुकुट धारण करते हैं।[६]

समाज में रंगे हुए वस्त्र धारण करने की भी प्रथा थी। स्त्रियों को रंगीन वस्त्रों मे विशेष रुचि होती थी। रामायण सूर्योदय-कालीन पूर्व दिशा की तुलना कुसुमरस-रंजित वस्त्र-धारिणी नारी से करती है।[७] यही ग्रन्थ सीता को 'पीतकौशेयवासिनी' कहता है।[८]

महाकाव्यों में पुरुष भी रंगीन वस्त्र धारण किये हुए प्रदर्शित किए गए है। महाभारत में श्रीकृष्ण पीतकौशेय धारण किए गये दिखाए गए है।[९] रामायण में रावण को पीताम्बर कहा गया है।[१०] बलभद्र का महाभारतकार ने 'नीलवासा' के रूप मे उल्लेख किया है।[११] एक स्थान पर अश्वत्थामा के वस्त्र भी नीलवर्ण बताये गए हैं।[१२]

कुछ रंगो के वस्त्र विशेष अवसरों और मनोवृत्तियों के लिए उपयुक्त थे। मृत्यु-सम्बन्धी परिस्थितियों मे काले वस्त्र धारण किए जाते थे। समस्त सूर्यवंश के विनाश के लिए आयोजित परीक्षित के यज्ञ मे एकत्र सारे पुरोहित काले वस्त्र धारण किए हुए थे।[१३] सन्यासी और वीतराग काषाय वस्त्र धारण करते थे। वाल्मीकि के आश्रम में रहते समय सीता भी काषाय वासिनी थी।[१४] राम वन-गमन पर दशरथ शोक करते हैं कि राम काषाय-परिधान कैसे पहनेगे।[१५]

युद्ध और रौद्ररस पूर्ण परिस्थितियों पर बहुधा रक्तवर्ण के वस्त्र पहने जाते थे। मेघनाद इसी रंग के वस्त्र धारण किए हुए दिखाया गया है।[१६] सत्यवान के प्राण लेने के लिए आए हुए यम के वस्त्र भी रक्तवर्ण हैं।[१७] श्वेत वस्त्र मंगल और विजय के सूचक थे। त्रिजटा ने जब स्वप्न में श्वेत वस्त्रधारी राम और लक्ष्मण को आया हुआ देखा[१८] तो उसने उनकी विजय निश्चित समझ ली।

१ महा० १.७६.६७
२ महा० ४.३८.३१
३ रामा० २.३२.३७; महा० १२.२०.१
४ महा० ३.४६.१५; १.४९.९
५ महा० ५.१५३.१८-२०. ६.१६.२२; ६.७०.७
६ रामा० १.६.८-१०, ४.९.२६
७ रामा० ७.५९.२३
८ रामा० ३.६०.१३
९ महा० ६.१०६.६१
१० रामा० ७.१११.७९
११ महा० ९.३७.१९
१२ महा० ४.६६.१३
१३ महा० १.५२.१-२
१४ रामा० ७.९७.१३
१५ रामा० २.१२.९८
१६ रामा० ६.७३.२०
१७ महा० ३.२९७.८
१८ रामा० ५.२७.९-११

वस्त्र कई प्रकार के होते थे। सबसे अधिक प्रचलित वस्त्र-कार्पासिक (सूती) थे। ये कर्पास (कपास) के सूत से बनते थे। क्षौम[1] वस्त्र क्षुमा (अलसी) के धागों से बनता था। कौशेय रेशमी वस्त्र होते थे। धनी वर्ग प्रायः कौशेय वस्त्र ही धारण करता था।[2] और्ण ऊनी कपड़े को कहते थे।[3] कभी-कभी लोग ऊनी कम्बल धारण करते थे। परन्तु यह प्रथा अवज्ञा की दृष्टि से देखी जाती थी। महाभारत में कभी-कभी साधुओं और मद्रक नारियों को ऊनी कम्बल धारण किए हुए प्रदर्शित किया गया है।

इन विविध प्रकार के वस्त्रों को बुनने, सिलने और रँगने के लिए देश में निपुण तन्तुवाय, सूचीकार और रँगरेज थे। बुनाई का काम करघे (सुवेम[4]) और सिलने का काम सुई (सूची[5]) से होता था।

उपर्युक्त वस्त्रों के अतिरिक्त अजिन[6] (मृगचर्म), कुशीचीर,[7] शाणी[8] (सन का बना हुआ वस्त्र) आदि भी धारण किए जाते थे। निर्धन मनुष्य अथवा भिखारी एकमात्र कौपीन धारण करते थे।[9] अधोभाग को ढँकने के लिए यह वस्त्र अथवा वृक्ष की त्वचा का एक टुकड़ा होता था।

सामान्यतया पैरों में पादुका (खड़ाऊँ) अथवा उपानह (जूते) धारण करने की प्रथा थी।[10] प्रायः पादुकायें लकड़ी की होती थी, परन्तु उपानह चमड़े के बनाये जाते थे।

ब्रह्मचारी प्रायः जटाधारी होते थे।[11] योद्धा कभी भी अपना शीश मुण्डित न कराते थे। वे अपने बालों को अपने शीश के ऊपर बाँध लेते थे।[12] मुक्तकेश[13] अथवा मण्डितकेश[14] पराजित अथवा तिरस्कृत योद्धा का चिन्ह समझा जाता था। सामान्यतया मूँछों को कटवाने का रिवाज था।[15]

नारियों में केश-प्रसाधन बड़ा लोक-प्रिय था। राजवंशों और धनिक वर्गों की नारियाँ केश-प्रसाधन के लिए सेविकायें रखती थीं। इन्हें केशकारिणी कहते थे।[16] नारियों में प्रायः चोटी करने की प्रथा थी।[17] कभी-कभी अनेक चोटियाँ बनाई जाती थी। शोक और विरह में नारियाँ केवल एक ही चोटी धारण करती थी। कभी-कभी नारियाँ मुक्तकेश भी रहती थी। उस स्थिति में उनके केश कटि तक लटकते रहते थे।[18] अन्य अवसरों पर वे केश-विन्यास की विविध प्रणालियों के आधार पर शीश पर केश-ग्रन्थि बनाती थीं और उनमें पुष्प लगाती थीं।[19]

पुरुषों और स्त्रियों दोनों में आभूषण धारण करने की प्रथा थी। ये आभूषण

१ महा० २.२८.१६
२ महा० १.२२१.१९; रामा० ३.६०.१३
३ महा० ५१.२६.२७
४ महा० १.३.५८
५ महा० १२.२१७.३६
६ रामा० २.१६.२१-२३
७ महा० ७.१७.२२-२३
८ महा० १२.१९९.२२
९ रामा० १.४.२२, महा० ५.७३.१०
१० रामा० २.९१.७६
११ रामा० ७.९४.१३-१४ महा० ५.१७७.१६
१२ महा० २.२३.६०
१३ महा० ४.६७.३
१४ महा० १२.२३.४७
१५ महा० ८.१९.४९-५०
१६ महा० ४.१४.३४
१७ महा० ४.९.१-२;
१८ रामा० ६.३३.३१
१९ महा० १३.४२.८-९, ३.११२१ ९.३६.१८

सोने, चाँदी, मोती मूँगे, हीरा-जवाहरात आदि के होते थे। प्रमुख आभूषणों में चूणामणि, कुडल, हेम-माला, मुक्ताहार, कठसूत्र, मेखला, केयूर, अगद, वलय, अगलीयक और नूपुर विशेष उल्लेखनीय हैं। दोनो महाकाव्यो में अनेक स्थलो पर इन आभूषणो के नाम आये है। धनी व्यक्तियो के आभूषण सोने, चाँदी एव मणि-मुक्ताओं के होते थे, परन्तु सामान्य मनुष्य पीतल, मूँगा और कौड़ी आदि के आभूषणो से ही सन्तोष कर लेते थे। लोहे के आभूषण एकमात्र चाण्डाल और बहिष्कृत व्यक्ति ही पहनते थे।[1]

१ रामा० १.५८.११; महा० १३.४८.३२-३३

११

महाजनपद-काल

ऋग्वेद के वर्णन से प्रकट होता है कि आर्य अनेक जनो मे विभक्त थे। जन अपने को किसी एक पूर्वज की सन्तान मानते थे। प्रत्येक जन मे अनेक कुटुम्ब होते थे। अत एक ही जाति-पुरुष से उत्पन्न विभिन्न कुटुम्बो के समुदाय का नाम जन था। प्रारम्भ में इन जनों का कोई एक निश्चित स्थायी स्थान न था। ये एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमा करते थे। ऋग्वेद में जनो का उल्लेख आता है, परन्तु जनपदो (स्थायी राज्यो) का नही। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय तक जनो ने अपने स्थायी राज्य स्थापित न किए थे।

वैदिक सहिताओ मे भी जनपद शब्द का प्रयोग नही मिलता। सर्वप्रथम इसका प्रयोग ब्राह्मणो में हुआ है। अत यह निष्कर्ष निकलता है कि जनपदो का उदय ब्राह्मण-काल से हुआ। महात्मा बुद्ध के समय तक आते-आते इन जनपदो का पूर्ण विकास हो गया था।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कहते है कि "लगभग एक सहस्र ईसवी पूर्व से पाँच सौ ईसवी पूर्व तक के युग को भारतीय इतिहास मे जनपद या महाजनपद युग कहा जा सकता है। समस्त देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जनपदो का ताँता फैल गया था। एक प्रकार से जनपद राजनैतिक, सास्कृतिक और आर्थिक जीवन की इकाई बन गए थे।"

जिस प्रदेश में एक जन स्थायी रूप से बस गया वही उसका जनपद (राज्य) हो गया। प्रारम्भ में जनपद मे किसी एक वर्ग विशेष के मनुष्य ही रहते थे। अतः उनका जीवन एक ही जातीय, राजनीतिक एव सास्कृतिक परम्परा के ऊपर सगठित था। परन्तु कालान्तर में अन्य वर्गों और जातियो के लोग भी आकर उनके जनपदों में बसने लगे। इससे सास्कृतिक आदान-प्रदान तो हुआ परन्तु बहुत समय तक राजसत्ता एकमात्र आदि-जन के प्रतिनिधियो के हाथ में ही रही। उदाहरणार्थ, लिच्छवि-जन में ७७०७ कुल थे। राजसत्ता इन्ही के प्रतिनिधियो के हाथ मे केन्द्रित थी।

प्रत्येक जनपद में बहुसख्यक गाँव और नगर होते थे। काशिकाकार (४-२-८१) ने लिखा है कि ग्रामों का समुदाय ही जनपद है। यहाँ पर ग्रामो में नगरों की भी गणना कर लेनी चाहिए।

धीरे-धीरे जनपदो की सख्या कम होने लगी। छोटे जनपद बडे जनपदो में निमज्जित होने लगे। इस भाँति देश में महाजनपद-काल का उदय हुआ। महात्माबुद्ध के आविर्भाव के पूर्व भारतवर्ष १६ महाजनपदों में विभक्त था। बौद्ध ग्रन्थ अगुत्तर

निकाय में इनके नाम निम्नप्रकार मिलते हैं—(१) अग (२) मगध (३) काशी (४) कोशल (५) वज्जि (६) मल्ल (७) चेदि (८) वत्स (९) कुरु (१०) पचाल (११) मत्स्य (१२) सूरसेन (१३) अस्सक (१४) अवन्ती (१५) गान्धार (१६) कम्बोज। परन्तु जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र मे यह सूची कुछ भिन्न प्रकार से मिलती है—(१) अग (२) बग (३) मगह (४) मलय (५) मालव (६) अच्छ (७) बच्छ (८) कच्छ (९) पाध (१०) लाध (११) वज्जि (१२) मोलि (१३) काशी (१४) कोशल (१५) अवाह (१६) सम्मुत्तर।

दोनो सूचियो में (१) अग (२) मगध (मगह) (३) वत्स (वच्छ) (४) वज्जि (५) काशी और (६) कोशल समान है। जैन सूची के मालवा और मोलि सूची के कमश. अवन्ती और मल्ल हैं। परन्तु शेष जनपदो मे अन्तर है। जैन सूची बौद्ध सूची से बाद की प्रतीत होती है।

बौद्ध सूची के महाजनपदो के विषय में कुछ कह देना समीचीन प्रतीत होता है—

(१) **अंग**—यह मगध के पश्चिम मे था। दोनो जनपदो को पृथक् करती हुई बीच में चम्पा नदी बहती थी। चम्पा नदी के तट पर बसी हुई अग जनपद की राजधानी का नाम भी चम्पा था। बुद्धकालीन ६ बडे नगरो में चम्पा नगर की गणना की गई है। प्रारभ मे अग एक शक्तिशाली जनपद था। विधुर पण्डित जातक के अनुसार राजगृह प्रारभ मे अग का ही एक नगर था। कालान्तर में मगध राज्य की शक्ति बढी और अगराज्य उसी मे निमज्जित हो गया।

(२) **मगध**—वर्तमान बिहार के पटना और गया जिले इस राज्य के अन्तर्गत थे। प्रारभ मे इसकी राजधानी गिरिव्रज थी। महात्मा बुद्ध के पूर्व बृहद्रथ और जरासघ मगध के दो प्रसिद्ध राजा थे।

(३) **काशी**—इसकी राजधानी वाराणसी थी जो वरुणा और असी नदियो के सगम पर बसी थी। गुत्तिल जातक के अनुसार यह नगरी १२ योजन विस्तृत थी और भारतवर्ष की सर्वप्रधान नगरी थी। महावग्ग मे काशी राज्य की शक्ति और समृद्धि का वर्णन मिलता है। जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पिता अश्वसेन काशी के राजा थे।

(४) **कोशल**—इसके अन्तर्गत अवध का प्रदेश आता था। शाक्यो की राजधानी कपिलवस्तु इसी कोशल राज्य के अन्तर्गत थी। महात्मा बुद्ध के समय में श्रावस्ती कोशल की राजधानी थी। परन्तु रामायण-काल मे कोशल की राजधानी अयोध्या थी। कोशल और काशी का वैमनस्य परपरागत था। कोशल-नरेश कस ने काशी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।

(५) **वज्जि**—यह अष्ट राज्यो का संघ था। इन राज्यो में लिच्छवि, विदेह और ज्ञात्रिक विशेष महत्वपूर्ण थे। विदेह की राजधानी मिथिला, लिच्छवियों की राजधानी वैशाली और ज्ञात्रिकों की राजधानी कुडग्राम थी। ये सारे राज्य आधुनिक बिहार प्रान्त में स्थित थे। महात्मा बुद्ध के समय तक यह वज्जि सघ विद्यमान था। कालान्तर में मगध के राजा अजातशत्रु ने इसे अपने राज्य में मिला लिया था। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे वृजि का उल्लेख है। कौटिल्य ने वृजि को लिच्छवियो से पृथक् बताया है।

(६) **मल्ल**—वज्जि-राज्य की भाँति मल्ल-राज्य भी एक संघ-राज्य था। इस संघ-राज्य में मल्लों की दो शाखायें सम्मिलित थीं—एक कुशीनारा की मल्ल-शाखा

और दूसरी पावा की मल्ल-शाखा। महाभारत में भी मल्ल-राज्य का दो भागों में उल्लेख किया गया है—कुशावती का मल्ल राज्य और पावा का मल्ल-राज्य। कुशीनारा आधुनिक देवरिया जिले में कसिया और पावा आधुनिक पडरौना था।

(७) **चेदि**—आधुनिक बुन्देलखंड तथा उसका समीपवर्ती प्रदेश इसके अन्तर्गत था। इसकी राजधानी शक्तिमती थी। जातकों में वर्णित सोत्थवती यही नगरी थी। चेदि-राज्य का उल्लेख महाभारत में भी आता है। शिशुपाल यहीं का राजा था।

(८) **वत्स या वंश**—गंगा नदी के दक्षिण की ओर का वह प्रदेश जो यमुना नदी के तट पर स्थित था, वत्स-राज के अन्तर्गत आता था। इसकी राजधानी कौशाम्बी थी जो इलाहाबाद से ३० मील की दूरी पर है। ओल्डेनबर्ग महोदय ने ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित वशस को वश अथवा वत्स बताया है, परन्तु यह समीकरण सन्दिग्ध है। पुराणों में वत्स राज्य का वर्णन है। गंगा की भयानक बाढ़ से जब हस्तिनापुर नष्ट हो गया तो जनमेजय के प्रपौत्र निचक्षु ने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया था। स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञायौगन्धरायण नामक नाटकों में वत्सराज उदयन का उल्लेख है।

(९) **कुरु**—वर्तमान दिल्ली तथा मेरठ के समीपवर्ती प्रदेश कुरुराज्य के अन्तर्गत थे। इसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। महसुतसोम जातक के अनुसार इस राज्य में तीन सौ संघ थे। पाली ग्रन्थों के अनुसार यहाँ के शासक युधिष्ठिला गोत्र के थे। हस्तिनीपुर नामक एक अन्य नगर का भी उल्लेख इसी राज्य के अन्तर्गत आता है। महाभारतकाल का हस्तिनापुर सम्भवतः इसी का दूसरा नाम था।

जैनों के 'उत्तराध्ययन सूत्र' में इक्ष्वाकु नाम के राजा का उल्लेख मिलता है। वह कुरु देश का राजा था।

बौद्ध ग्रंथों में भी कुरु राजाओं का उल्लेख मिलता है। जातक कथाओं में सुतसोम, कौरव और धनंजय कुरुदेश के राजा माने गए थे। प्रथम कुरुदेश में राजतन्त्र-शासन था, परन्तु कुछ दिनों के पश्चात् यहाँ भी गणतन्त्र की स्थापना हुई। महात्मा-बुद्ध के समय यह एक गणतन्त्र राज्य के रूप में विद्यमान था।

(१०) **पांचाल**—पांचाल प्रदेश में वर्तमान रुहेलखंड तथा उसके समीप के कतिपय जिले सम्मिलित थे। प्राचीन काल में पांचाल देश दो राज्यों में विभक्त था। पहला उत्तरपांचाल जिसकी राजधानी अहिच्छत्र थी और दूसरा दक्षिणपांचाल जिसकी राजधानी काम्पिल्य थी। उत्तरपांचाल का राज्य दक्षिणपांचाल राज्य की भाँति अधिक शक्तिशाली नहीं था। अतएव उसे अधीन करने के लिए दक्षिण-पांचाल तथा कुरु-राज्य निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। चुलानी ब्रह्मदत्त पांचाल देश का एक महान शासक था जिसके बारे में महा उमग्ग जातक, उत्तराध्ययन सूत्र, स्वप्नवासवदत्ता तथा रामायण में चर्चा की गई है। उत्तराध्ययन सूत्र में ब्रह्मदत्त को पृथ्वी का एक महान राजा माना गया है। इसी ग्रंथ में यह भी वर्णित है कि काम्पिल्य के राजा संजय ने अपना राज-पाट छोड़कर जैनधर्म अपनाया था। कुरु देश की भांति पांचाल ने भी गणतन्त्र राज्य की स्थापना की।

(११) **मत्स्य**—इसकी राजधानी विराट नगर थी। यह राज्य जमुना नदी के पश्चिम तथा कुरु देश के दक्षिण में स्थित था। महाभारत में एक राजा शहाज का वर्णन है जिसने चेदि तथा मत्स्य दोनों राज्यों पर शासन किया था। बौद्ध साहित्य में इस राज्य के राजाओं का उल्लेख नहीं मिलता। प्रथम तो मत्स्य का राज्य चेदि

राज्य के अधीन और फिर बाद में मगध राज्य के अधीन हुआ।

(१२) **सूरसेन**—मथुरा इस राज्य की राजधानी थी। महाभारत के समय इस नगर की विशेष महत्ता थी। बौद्ध ग्रंथ में अवन्तिपुत्र का उल्लेख किया गया है। वह इसी सूरसेन देश का राजा था। यह राजा बुद्ध का समकालीन था। यहाँ पहले गणतन्त्र-राज्य था परन्तु बुद्ध के समय इसमें राजतन्त्र की स्थापना हुई।

महाभारत में इस राज्य के शासकों का उल्लेख है। वे यादव थे। काव्यमीमांसा में कुविन्द नाम के एक राजा का उल्लेख है। शूरसेन शासक उच्चकोटि के थे और मेगास्थनीज के समय तक शूरसेन के राजा शांतिपूर्वक राज्य करते रहे।

(१३) **अस्सक** (अस्मक)—दक्षिण भारत की प्रमुख सरिता गोदावरी के तट पर स्थित यह राज्य भारत का एक प्रमुख राज्य था। इस राज्य की राजधानी पोतन या पोटली थी।

पुराणों के अनुसार इस राज्य के शासक इक्ष्वाकु वश के थे। जातक कथाओ मे अस्सक देश के अनेक राजाओ के नाम मिलते हैं।

एक जातक से यह विदित होता है कि किसी समय यह काशी राज्य के अधीन था। अस्मक देश के नृपति प्रवर अरुण तथा उसके मत्री नन्दिसेन का उल्लेख चुल्लक-लिंग जातक मे मिलता है। वहाँ यह भी लिखा है कि इस राजा ने कलिंग देश पर विजय प्राप्त कर उस देश को अपने अधीन कर लिया था।

प्राग्‌बौद्धकाल मे अवती के साथ इस राज्य का सघर्ष निरतर चलता रहा, क्योंकि इसकी स्थिति अधिक महत्वपूर्ण थी। इस सघर्ष का यह परिणाम हुआ कि इस समय के पश्चात यह राज्य अवन्ति के अधीन हो गया।

(१४) **अवंति**—आधुनिक भारत का मालवा प्रान्त प्राचीन काल का अवन्ति राज्य था। प्रमुखतया इस राज्य के दो भाग थे—उत्तरी अवन्ति तथा दक्षिणी अवन्ति। इनकी राजधानी क्रमश: उज्जैनी तथा माहिष्मती थी। ये दोनों नगरी सास्कृतिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण से प्राचीन भारत की महान नगरी थी। माहिष्मती नर्मदा के तट पर बसी हुई थी।

महात्मा बुद्ध के समय में अवन्ति-राज्य अत्यन्त शक्तिशाली राज्य बन गया था। चड प्रद्योत इस राज्य का प्रसिद्ध शासक था। इस शासक ने कई बार वत्सराज उदयन को अपने अधीन करने का प्रयास किया था।

(१५) **गंधार**—गधार राज्य में तक्षशिला, काश्मीर तथा पश्चिमोत्तर-प्रदेश सम्मिलित था। कुंभकार जातक के अनुसार तक्षशिला इस राज्य की राजधानी थी। मगधराज के बिम्बिसार के पास अपना दूत भेजने वाला गंधारराज पुष-कुसाती बुद्ध का समकालीन था। अवन्ती के राजा प्रद्योत ने इससे अनेक युद्ध किए थे। इस युद्ध में यह प्रद्योत को परास्त करने में सफल सिद्ध हुआ था।

(१६) **कम्बोज**—गंधार और कम्बोज दोनों राज्यों के नाम बौद्ध ग्रथो में साथ साथ प्रयुक्त हुए हैं। अतएव यह गंधार राज्य का पड़ोसी राज्य रहा होगा। सम्भवत इसकी सीमा गंधार के उत्तर-पश्चिमीय भाग पर थी। हाटक इस राज्य की राजधानी थी। कुछ समय पश्चात् यहाँ भी गणराज्य की स्थापना हुई थी।

१२

महात्मा बुद्ध के समय की राजनीतिक अवस्था

यदि हम बुद्ध के पूर्व के षोडश महाजनपदो का यथेष्ट अध्ययन करे तो यह पता लगता है कि उन सब मे एक प्रकार की शासन पद्धति का अभाव था। कही तो राजतत्र था और कही जनतत्र, कही-कही पर न्यून अशो मे दोनो का समन्वय दिखलाई पडता था।

गणराज्यो मे शासन की बागडोर जनता के हाथो मे होती थी। इस प्रकार के राज्य राजाओ द्वारा शासित नही होते थे। महाजनपदो के वज्जी, मल्ल, सूरसेन इत्यादि राज्यो को गणतत्र राज्य की सज्ञा प्रदान की जा सकती है।

राजतत्र शासन में वशक्रमानुगत एक राजा शासक होता था जिसकी आज्ञा का पालन सब जनता करती थी।

षोडश महाजनपद महात्मा बुद्ध के आविर्भाव काल से पूर्व विद्यमान थे। उत्तरी भारत तथा दक्षिण के कुछ **प्रदेश** इन्ही जनपदो द्वारा शासित होते थे।

इनमे से कुछ तो स्वय नष्ट हो गए। कुछ राज्यो को प्रबल राष्ट्रो ने अपने चगुल मे समेट लिया और कुछ महात्मा बुद्ध के समय में भी सुरक्षित बने रहे।

बौद्ध साहित्य मे इनके अतिरिक्त अन्य बहुतेरे गणराज्यो का उल्लेख मिलता है। उन गणराज्यो की सूची निम्नलिखित है :—

१—कपिलवस्तु के शाक्य
२—रामगाम के कोलिय
३—पावा के मल्ल
४—कुशीनारा के मल्ल
५—मिथिला के विदेह
६—पिप्पलवन के मोरिय
७—सुसुमार पर्वत के भग्ग
८—अलकप्प के बुलि
९—केसपुत्त के कलाम
१०—वैशाली के लिच्छवि

इनमे से दो प्रमुख राज्यों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। ये हैं कपिलवस्तु **के शाक्य और वैशाली के लिच्छवि।**

शाक्य गण-राज्य—कपिलवस्तु का शाक्य-राज्य बौद्ध साहित्य में विशेष महत्व रखता है। महात्मा बुद्ध का जन्म इसी राज्य में हुआ था। शाक्य जाति के क्षत्रिय थे।

दीर्घ निकाय के अनुसार जब भगवान बुद्ध पञ्चत्व को प्राप्त हो गए तब इस शाक्य वश के लोगो ने अपने को भी उसी महात्मा से सम्बधित बताया और कहा कि महात्मा बुद्ध के भस्मावशेष के अधिकारी हम हैं, क्योंकि हम क्षत्रिय हैं और महात्मा बुद्ध भी शाक्य वश के क्षत्रिय थे। अन्य स्थानो पर इस शाक्य वश का सम्बन्ध इक्ष्वाकु वश के साथ जोड़ा गया है।

महावश तथा सुमगलविलासिनी के अनुसार जो कथाएँ प्रचलित हैं उनमें शाक्यो को ओक्काक (इक्ष्वाकु) का वशज बताया गया है। इस कथन की पुष्टि विष्णुपुराण से भी होती है।

महावस्तु के आदित्यबधु ये ही शाक्य लोग हैं। आदित्य सूर्य का पर्यायवाची शब्द है और भारतीय धर्म एव संस्कृति के अनुसार इक्ष्वाकु बश के लोग सूर्यवशी क्षत्रिय थे। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शाक्य गण-राज्य के शासक सूर्यवशी क्षत्रिय थे। इस गणराज्य की राजधानी कपिलवस्तु थी।

सामाजिक परिस्थिति—शाक्य लोगो का जीवन बहुत महत्वपूर्ण था। इनमें सच्चरित्रता की प्रधानता थी। इनमे स्त्रियो का बडा सम्मान था। इन लोगो को अपनी मर्यादा का विशेष ध्यान रहता था। धन का महत्व इनके जीवन मे उतना प्रभावशाली नही होता था जितना सम्मान और मर्यादा का। इनका दैनिक जीवन सुखमय था। विवाह के अवसर पर वर-वधू की योग्यता का विशेष महत्व होता था। इस वश के राजकुमारो को युद्ध-सचालन की शिक्षा दी जाती थी। शिल्पकला या साहित्य का ज्ञान यदि व्यक्तियो को न हो तो कोई बात नही थी, परन्तु उनके लिए धनुष-बाण प्रयोग, अश्वारोहण, खड्ग-युद्ध आदि मे कुशल होना आवश्यक था। ललित-विस्तार तथा महावस्तु मे इस प्रकार की कथाओ का उल्लेख है। सिद्धार्थ के विवाह के समय कुमारी गोपा के पिता दण्डपाणी की चिन्ता कि सिद्धार्थ युद्धसचालन की योग्यता मे पूर्ण हैं अथवा नही, इस बात को सिद्ध करती है कि युद्ध-विद्या का विशेष महत्व समझा जाता था।

शाक्यो का विवाह स्वजातीय व्यक्तियो में ही होता था। बाहरी राजाओ से सबन्ध स्थापित करना शाक्य लोग अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझते थे। इसी से शाक्यों ने कौशल-नरेश प्रसेनजित को अपनी राजकुमारी न देकर उसके साथ अपनी एक दासी का विवाह करवा दिया था। बौद्धसाहित्य में शिल्प-विद्यालयो का वर्णन है। दीर्घ निकाय में एक शिल्प-विद्यालय का उल्लेख आता है, जो शाक्य-राज्य में स्थित था। महिलाओ मे शिक्षा का प्रचार था। सघ में बहुत-सी बौद्धभिक्षुणियाँ भी थी। महाप्रजापति गौतमी शाक्य कुल की महिला थी जिसने गृहस्थ जीवन त्याग कर सन्यासाश्रम मे प्रवेश किया था।

शासन-व्यवस्था—शाक्यगण राज्य जनतंत्रात्मक पद्धति द्वारा शासित होता था। इस राज्य में शासन की बागडोर जनता के हाथो में होती थी। राजसत्ता ८० हजार कुलीन परिवारो के हाथ मे थी। राजा या मुखिया का निर्वाचन होता था। महात्मा बुद्ध के पिता शुद्धोदन इसी प्रकार के निर्वाचित राजा थे।

निर्वाचन के पश्चात वह राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता था। राज-संचालन लिए एक परिषद का निर्माण किया गया था जो परामर्शदात्री परिषद के रूप में कार्य करती थी।

कोई कार्य इस परिषद की सम्मति के बिना नही होता था। राज्य का प्रत्येक नागरिक राष्ट्र का सेवक माना जाता था। कपिलवस्तु मे जिस सथागार का वर्णन है वह यही परिषद है।

परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस परिषद के सदस्य केवल कुलीन वशानुगत धनवान ही हुआ करते थे।

ललितविस्तार में इन सदस्यों की सख्या पाँच सौ दी गई है।

रीज डेविड्ज ने अन्य नगरो के सथागारो का वर्णन किया है और कहा है कि सम्पूर्ण राज्य का शासन कपिलवस्तु के केन्द्रीय सथागार द्वारा सचालित होता था।

महात्मा बुद्ध के जीवन-काल में यह राज्य अपनी स्वतत्रता प्राप्त कर एक प्रबल राष्ट्र बन गया था। परन्तु कुछ दिनो पश्चात प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ ने इसकी स्वतत्र सत्ता का अपहरण कर लिया। आक्रमणकारी विरुद्धक (विडूडभ) के लिए कपिलवस्तु का द्वार खोला जाय अथवा नही, इस प्रश्न पर सथागार मे बडा वाद-विवाद हुआ था।

लिच्छवि गण-राज्य

लिच्छवि राज्य के शासक क्षत्रिय थे। महावीर के पिता सिद्धार्थ ने लिच्छवि-कन्या के साथ विवाह किया था। क्षत्रिय होने के आधार पर ही लिच्छवियो ने महात्मा बुद्ध के अवशेष माँगे थे। इस गणराज्य के राजाओ का दैनिक जीवन सरल और साधारण था और उनमे जनता की सेवा का अनुराग था।

लिच्छवि गण-राज्य की राजधानी वैशाली थी। प्राचीन काल के भारत के महान नगरो में इसकी गणना होती थी।

विष्णु पुराण मे यह कथा लिखी है कि इक्ष्वाकुवश के पुत्र विशाल ने इसे बसाया था। वह राजा तृणविन्दु का पुत्र था, परन्तु वाल्मीकि-रामायण के अनुसार राजा विशाल इक्ष्वाकु का पुत्र था।

अन्य सूत्रों के अनुसार यह अनुमान किया जाता है कि चूँकि यह नगर विस्तृत और समृद्ध था अतएव अपनी विशालता के कारण ही इसका नाम वैशाली पडा। अतएव चाहे जो इस राज्य का सस्थापक रहा हो परन्तु यह बात सर्वमान्य है कि वैशाली का नगर भारत का एक महान नगर था।

जातकग्रथो मे भी इस नगर की महानता का उल्लेख किया गया है। तिब्बती जनश्रुति के अनुसार यह नगर तीन भागो में विभक्त था—पहला जिसमे सोने के बुर्ज वाले प्रासादो की प्रधानता थी, दूसरे जिसमे चाँदी के बुर्ज थे और तीसरे जिसमें ताँबे तथा पीतल के। ये विभाग क्रमश उच्च, मध्य तथा निम्न श्रेणी के लोगों के थे।

ललितविस्तार में वैशाली का वर्णन अत्यन्त समृद्ध एव वैभवशाली नगरी के रूप मे किया गया है। यह नगर इस राज्य-सघ की राजधानी थी। यह वज्जिराज्य सघ की भी राजधानी थी। बौद्ध तथा जैन साहित्यो में वैशाली का उल्लेख बार बार आता है। आधुनिक मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ नामक ग्राम जो गण्डक नदी के तट पर स्थित है, प्राचीन समय का वैशाली नगर था।

सामाजिक जीवन—लिच्छवि राज्य के निवासी उच्चकोटि का जीवन-यापन करते थे। जीवन का उद्देश्य धन नही अपितु मर्यादा-रक्षा था। उनमे जाति-

संगठन, शिक्षा-दीक्षा, धार्मिक कृत्यों आदि का प्रचलन था। सामाजिक उत्सवों एवं संस्कारों में समारोह के साथ कार्य-क्रम प्रस्तुत किए जाते थे।

गण्डक की तलहटी में बसे इन व्यक्तियों का प्रमुख लक्ष्य सौन्दर्य की प्राप्ति था। प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी होने के साथ ही साथ इनमें वेशभूषा का भी विशेष ध्यान था।

महापरिनिर्वाण सूत्त तथा अंगुत्तर निकाय में भगवान बुद्ध के लिच्छवी राज्य में पहुँचने पर जो अभूतपूर्व स्वागत किया गया है उसका वर्णन है। उनके वस्त्र, आभूषण तथा रथ आदि विभिन्न रगो मे रँगे जाते थे। अधिकतर लोगो का जीवन अनुशासन-शील था। इनमे सहनशीलता थी। ये लोग युद्धकला में अदम्य साहसी होते थे। विद्याध्ययन करने के लिए यहाँ के लोग तक्षशिला एव अन्य केन्द्र-स्थानो में जाते थे। विवाह आदि उत्सवो मे धन की अपेक्षा कुलीन जाति का विशेष ध्यान रखा जाता था। परन्तु इनमे भी अन्तर्जातीय विवाह बुरे समझे जाते थे। विविध प्रकार के रगो का प्रयोग श्रेणि-भेद को सूचित करता था।

धार्मिक कृत्य इनके जीवन का विशेष कार्य-क्रम था। इनके तपस्यामय जीवन का उल्लेख महात्मा बुद्ध ने अनेक स्थलो पर किया है।

शासन-पद्धति

इस राज्य मे गणतत्र सरकार कार्य करती थी। जनता के हाथों मे ही राज्य की शक्ति निहित थी। कौटिल्य ने लिच्छवि राज्य को राजशब्दोपजीवी सघ के नाम से सबोधित किया है। इस राजशब्दोपजीवी शब्द का अर्थ ललितविस्तार मे वर्णित किया गया है—"वहाँ का प्रत्येक मनुष्य अपने को राज्य का राजा समझता है। न कोई किसी से छोटा है, न बडा, वरन सब समान है।" योग्य व्यक्तियो को ही अधिकार देने के लिए चुनाव किया जाता था। राज्य-सभा में प्रतिनिधियों का सम्मेलन होता था। ये प्रतिनिधि राजा कहे जाते थे। इनके अधिवेशन सथागार मे होते थे।

इन राजाओ की सख्या सात हजार सात सौ सात थी। उपराजाओ, सेनापतियों की भी सख्या लगभग इतनी ही थी।

चुल्लकलिग जातक तथा अट्ठकथा मे भी इस कथन की पुष्टि की गई है। परन्तु ऐतिहासिक तथ्यो के अनुसार यह कहा जा सकता है कि वैशाली में सात हजार सात सौ सात मूल कुटुम्ब थे।

वैशाली की जनसंख्या लाखो मे थी। यह केन्द्र-स्थान था जहाँ से समस्त प्रान्त का शासन होता था।

राज्य में एक पद नायक का होता था। इसकी नियुक्ति निर्वाचन द्वारा की जाती थी। सम्भव है यही राज्य का प्रधान या राष्ट्रपति माना जाता रहा हो। राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था का विशेष ध्यान रखा जाता थी। राज्य में अपराधो के लिए कठोर नियम लागू किए गए थे।

अभियुक्तो को बहुधा कारावास का दण्ड दिया जाता था। इनके राज्य में विनिश्चय महामात्र नामक कर्मचारी होता था। वही अपराध की जाँच करता था।

यदि व्यक्ति अपराधी सिद्ध होता था तो वह महामात्र उसे व्यावहारिक नामक अन्य पदाधिकारी के सामने प्रस्तुत करता था और व्यावहारिक पुनः अपने से उच्च अधिकार सूत्रधार नामक कर्मचारी के सम्मुख अभियुक्त को प्रस्तुत करता था।

इसके बाद भी यदि अभियुक्त अपराधी समझा जाता था तो वह अट्ठकुलक के सामने ले जाया जाता था। इस प्रकार अट्ठकुलक के पश्चात अभियुक्त को क्रमश सेनापति, उपराजा और राजा के सामने प्रस्तुत होना पडता था।

दंड का समावेश पवेणिपोत्थक नामक कर्मचारी देता था। दण्डपूर्णतया अपराध सिद्ध होने पर ही मिलता था।

लिच्छवि-राज्य इस प्रकार उत्तरी भारत का एक सुखी, समृद्ध एवं बलशाली राज्य था। लिच्छवि राज्य की स्थिति, उसका वैभव, धनसम्पत्ति, योग्य समाज आदि समीपवर्ती राज्यों की दृष्टि में सदैव खटकता था और कुछ समय पश्चात जिस समय मगध के पराक्रमी नृपवीरो ने अपनी भुजाओ के बल से अन्य राजाओ को परास्त करना प्रारम्भ किया तो उस समय लिच्छवि-को भी नतमस्तक होना पडा।

गणतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली

उपर्युक्त राज्यो मे गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली थी परन्तु राज-सत्ता समस्त परिवारो के हाथ मे न होकर एकमात्र राज्य के प्राचीन मूल कुलीन परिवारो के हाथ मे ही थी। इनके प्रतिनिधियो की सस्था को सथागार कहते थे। यह राज्य की व्यवस्थापिका सभा होती थी। सथागार का अधिवेशन तभी वैध हो सकता था जब उसमे सदस्यो की एक निश्चित सख्या (कोरम) उपस्थित हो। सभा भवन में सदस्यो के बैठने के लिए आसनो का प्रबन्ध आसनपञ्ञापक नामक एक पदाधिकारी करता था।

जो विषय विचार के लिए प्रस्तुत किया जाता था उसी पर प्रत्येक सदस्य को बोलना होता था। अन्य विषय पर बोलने की आज्ञा नही मिलती थी। इसे अनग्र-विरोध कहते थे। प्रस्ताव-पाठ को ज्ञप्ति का अनुमावन कहते थे। कभी-कभी प्रस्ताव-पाठ कई बार होता था। जो सदस्य प्रस्ताव के पक्ष में होते थे वे मौन रहते थे और जो विपक्ष में होते थे वे बोलते थे। विवादग्रस्त प्रश्न पर मत विभाजन (Voting) होता थी। मत-विभाजन भिन्न-भिन्न रगो की शलाकाओ के द्वारा होता था। एक रग की शलाका एक प्रकार के मत को सूचित करती थी। शलाकाओ को एकत्र करने वाला (Polling officer) शलाकाग्राहपक कहलाता था। कभी-कभी विवादग्रस्त प्रश्न अन्य राज्यसघो की सम्मति से भी हल कर लिया जाता था। अधिवेशन की पूर्ण कार्यवाही लेखबद्ध कर ली जाती थी। यह कार्य लिपिको (clerks) के द्वारा होता था।

सथागार ही राज्य की सबसे बडी सस्था थी। इसी के द्वारा राजा, उपराजा, सेनापति एव अन्य पदाधिकारी की नियुक्ति होती थी। यही सभा राजनीति को भी निश्चित करती थी।

सथागार के अतिरिक्त राजा को सलाह देने के लिए एक मत्रिमडल भी होता था। इसके सदस्यो की सख्या बहुत कम होती थी। लिच्छवियो के मत्रिमडल में नौ और मल्लों के मत्रिमडल में केवल चार सदस्य थे।

मोरिय, कोलिय आदि छोटे गणतन्त्रों में सम्पूर्ण प्रबन्ध एक केन्द्रीय संथागार के द्वारा ही होता था। परन्तु शाक्यों और लिच्छवियों के गणतन्त्र बडे थे, अतः केन्द्रीय संथागार के अतिरिक्त उनके प्रान्तीय सथागार भी होते थे जो प्रान्तीय शासन संचालन करते थे। केन्द्रीय और प्रान्तीय-शासन सत्ताओ में क्या सम्बन्ध था, इसका हमें विशेष ज्ञान नहीं है।

भारतीय गणतन्त्रो के पराभव का एक प्रधान कारण उनका पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष भी था। अनेक सथागारो में भारी दलबन्दी थी। भिन्न-भिन्न दलो के नेता गुट-बन्दी में पडकर बहुधा राष्ट्रीय हित भूल जाया करते थे। चाणक्य ने गणतन्त्रों के विनाश के लिए उनके बीच फूट उत्पन्न करने की शिक्षा दी है।

महात्मा बुद्ध के समय के राजतन्त्र

हम महात्मा बुद्ध के समय के गणराज्यो का उल्लेख कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त उस समय उत्तरी भारत मे ४ राजतन्त्र थे जो अन्य राजाओ को पराजित कर अपने अन्तर्गत साम्राज्य-स्थापना की चेष्टा कर रहे थे। ये राज्य थे—

(१) अवन्ती (२) वत्स (३) कोशल और (४) मगध। इस प्रकार ई० पू० छठी शताब्दी का काल साम्राज्यवाद के उदय का काल है। साम्राज्य-स्थापना की दौड में अन्ततोगत्वा मगध-राज्य सफल हुआ। उसने अन्य राज्यो को अपने भीतर समाविष्ट कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस प्रकार मगध का इतिहास सम्पूर्ण भारतवर्ष का इतिहास बन गया।

अब हम इन्ही चारो राज्यो का पृथक-पृथक वर्णन करेंगे—

(१) **अवन्ती**—इस राज्य की राजधानी अवन्ती थी। महात्मा बुद्ध के समय यहाँ प्रद्योत नामक राजा राज्य करता था। बौद्ध साहित्य मे उसे पज्जोत कहा गया है। महावग्ग उसे 'चण्ड' के नाम से सम्बोधित करता है और भास 'महासेन' के नाम से। अवन्ती और वत्स दोनो पडोसी राज्य थे। दोनो ही साम्राज्यवादी थे। अत दोनो के बीच वैमनस्य होना स्वाभाविक था। परन्तु अन्त मे वत्सराज उदयन ने अवन्ती नरेश प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता का अपहरण कर लिया और उसके साथ विवाह कर लिया। इस विवाह-सम्बन्ध के कारण इन दोनो देशो मे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया। यह कथा महावग्ग, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, वृहत्कथामजरी और कथासरित्सागर आदि ग्रन्थो मे पाई जाती है।

प्रद्योत एक महत्वाकाक्षी राजा था, इसमे कोई सन्देह नही है। पुराणो का उल्लेख है कि उसने अनेक निकटवर्ती राज्यो को अपने अधीन कर लिया था। मज्झिम निकाय के अनुसार उसके आक्रमण के भय से मगधराज अजातशत्रु ने अपनी राजधानी राजगृह का दुर्गीकरण करवाया था।

प्रद्योत ने २३ वर्ष तक राज्य किया था। उसके दो पुत्र थे—पालक और गोपाल। यद्यपि गोपाल बड़ा था तथापि उसने अपनी इच्छा से राज्याधिकार छोड दिया और अपने छोटे भाई पालक को राज्य-सिंहासन पर बैठा दिया। पर गोपाल के पुत्र आर्यक ने इसका विरोध किया। पालक की सहायता करने के लिए उदयन ने अपना सेनापति रूमण्वान् भेजा। आर्यक बन्दी बना लिया गया। परन्तु फिर भी षड्यन्त्र चलते रहे। अन्त में पालक मारा गया और आर्यक राजसिंहासन पर बैठा। आर्यक का नाम सूर्यक भी मिलता है। पुराण उसे अजक के नाम से पुकारते हैं। इसने २४ वर्ष तक राज किया था।

पुराण पालक और आर्यक के बीच एक अन्य राजा विशाखयूप का उल्लेख करते हैं जिसने ५० वर्ष तक राज्य किया था। परन्तु यह असगत प्रतीत होता है, क्योकि (१) कोई भी अन्य साक्ष्य इसका समर्थन नही करता और, (२) दो राजाओ के बीच गृह-युद्ध के काल में एक तीसरे राजा ने ५० वर्ष तक शासन किया हो, यह भी सम्भव प्रतीत नही होता।

यह सम्भव है कि गृह-युद्ध के अशान्तिपूर्ण काल से लाभ उठा कर अवन्ती-राज्य का कोई प्रदेश स्वतन्त्र हो गया हो और वहाँ विशाखयूप नामक किसी व्यक्ति ने स्वतन्त्र रूप से राज्य किया हो।

आर्यक के पश्चात उसके पुत्र अवन्ति वर्धन ने अवन्ती में ३० वर्ष तक राज्य किया। कथासरित्सागर उसे पालक का पुत्र बताता है।

अवन्तिवर्धन के पश्चात अवन्ती के ऊपर मगध ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

(२) **वत्स**—इस राज्य की राजधानी कौशाम्बी थी। महात्मा बुद्ध के समय यहाँ उदयन राज्य करता था। यह पौरव-वंश का नरेश था। भास इसे वैदेहीपुत्र कहते हैं। इससे प्रकट होता है कि इसकी माता विदेह की राजकुमारी थी। पीछे उदयन और प्रद्योत के वैमनस्य का उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु वासवदत्ता के साथ विवाह हो जाने के पश्चात दोनों की मित्रता हो गई। इस विवाह-सम्बन्ध के पश्चात उदयन के परम कुशल मन्त्री यौगन्धरायण ने अपने स्वामी का विवाह मगध-राज दर्शक की पुत्री पद्मावती के साथ भी करा दिया। भासकृतस्वप्नवासवदत्ता के अतिरिक्त वृहत्कथा-मंजरी और कथासरित्सागर भी इस विवाह का उल्लेख करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि अन्तिम दो ग्रन्थों के लेखक भूल से मगधराज का नाम 'प्रद्योत' लिख गए है।

अवन्ती और मगध के साथ उदयन ने मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने के पश्चात काशी के ऊपर आक्रमण करने की योजना बनाई। परन्तु भयभीत होकर काशी नरेश ब्रह्मदत्त ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। भास के अनुसार काशी-नरेश का नाम आरुणि था। तिब्बती साक्ष्य उसका नाम आरनेमि बताते हैं।

तत्पश्चात् प्रियदर्शिका और कथासरित्सागर में उदयन की दिग्विजय का वर्णन है। पूर्व में उसने वंग और कलिंग को और दक्षिण में चोल-राज्य और कोल-राज्य तक के प्रदेश को जीता। पश्चिमी भारत में उसने म्लेच्छों, तुरुष्कों, पारसीकों और हूणों को पराजित किया। परन्तु स्पष्ट है कि इस वर्णन में ऐतिहासिकता बहुत कम है।[१] कथासरित्सागर विदेह-राज्य और चेदि-राज्य के ऊपर भी वत्स का अधिकार बताता है।

उदयन बहुपत्नीक था। हम उसकी दो पत्नियों—वासवदत्ता और पद्मावती का उल्लेख कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त उसने सम्भवत अंगनरेश दृढवर्मा की पुत्री से भी विवाह किया था। इसका उल्लेख प्रियदर्शिका में हुआ है। धर्मपाल टीका से उदयन की चौथी पत्नी मागन्दीया का बोध होता है। यही नहीं, रत्नावली के अनुसार उदयन का अपनी पत्नी वासवदत्ता की कंचुकी सागरिका के साथ भी प्रेम था।

परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उदयन के कुछ विवाहों का महत्व राजनीतिक था। उसने अवन्ती, मगध और अंग के राजाओं के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें मित्र बना लिया था। यदि वह ऐसा न करता तो उसका वत्स-राज्य संरक्षित न रह पाता। वह उपर्युक्त तीनों राज्यों की साम्राज्यवादिता का शिकार बन जाता।[२]

१ डा० भण्डारकर—कारमाइकेल लेक्चर्स, पृ० ५८

२ B. C. Law—Geography of Early Buddhism p. 23

यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि उदयन के पश्चात वत्स का उत्तराधिकारी कौन हुआ। पुराण 'वहीनर' का नाम लेते है। बौद्ध ग्रन्थ उदयन के पुत्र का नाम बोधि बताते हैं। कथासरित्सागर और बृहत्कथामजरी उसका नाम नरवाहनदत्त बताते है।

जो भी हो, इतना निश्चित है कि उदयन के पश्चात कोई भी राजा ऐसा शक्तिशाली न हुआ जो वत्स-राज्य को अक्षय रख सकता। पुराण वहीनर के पश्चात क्रमशः दण्डपाणि, निरामित्र और क्षेमक के शासन का उल्लेख करते है। परन्तु इनके समय में उत्तरोत्तर वत्स-राज्य की अवनति होती गई और अन्त मे वह मगध-राज्य में मिल गया।

(३) **कोशल**—महात्मा बुद्ध के समय कोशल मैं प्रसेनजित राज्य करता था। बौद्ध साहित्य मे इसका नाम पसेनदी मिलता है। कही-कही इसका नाम अग्निदत्त भी मिलता है। यह इक्ष्वाकुवश का था। इसकी राजधानी श्रावस्ती थी।

साहित्यिक साक्ष्यो से प्रकट होता है कि कोशल और काशी के राज्यो मे बहुत दिनो से शत्रुता चल रही थी। कोसाम्बी जातक, कुनाल जातक और महावग्ग जातक मे काशीनरेशो द्वारा कोशल-राज्य पर आक्रमण किए जाने के उल्लेख मिलते है। दीघीति कोसल जातक से प्रकट होता है कि एक बार काशीराज ने कोशल को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया था।

प्रारम्भ मे काशी-नरेश अधिक शक्तिशाली था। परन्तु कालान्तर में कोशल-राज्य ने अपनी शक्ति का सगठन कर काशी से अपने पूर्व पराभवों का बदला लिया। घट जातक का कथन है कि कोशल-नरेश बक ने काशी पर आक्रमण करके उसे अपने अधीन कर लिया था। प्रसेनजित के पिता महाकोशल के समय मे भी काशी का कुछ भाग कोशल के अधीन था। महाकोशल ने जब अपनी पुत्री का विवाह बिम्बिसार के साथ किया तो उसे काशी का एक ग्राम दिया था।

कोशल-राज्य भी साम्राज्यवादी था। बौद्ध साहित्य से प्रकट होता है कि शाक्यों और मल्लो के गण-राज्य उसके अधीन थे। बौद्ध साहित्य में पाँच अन्य राज्यों के भी उल्लेख आते है जिन्होने प्रसेनजित की अधीनता स्वीकार कर ली थी। परन्तु ये राजा किन प्रदेशो के थे, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता।

शीघ्र ही कोशल-राज्य को मगध-राज्य से लोहा लेना पड़ा। बात यह थी कि कोशल-नरेश प्रसेनजित को बहन कोशलदेवी का विवाह मगधराज बिम्बिसार के साथ हुआ था। कोशलदेवी अपने साथ काशी का एक ग्राम भी लाई थी। कुछ समय के बाद अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार की हत्या कर दी और मगध का राज्य स्वय हस्तगत कर लिया। अपने पिता के शोक में कोशलदेवी का भी कुछ समय बाद देहान्त हो गया। अजातशत्रु के इस जघन्य कार्य से असन्तुष्ट होकर प्रसेनजित ने काशी के ऊपर अपना अधिकार कर लिया। बस, इसी से कोशल और मगध के बीच युद्ध का प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में कई बार अजातशत्रु ने कोशलनरेश प्रसेनजित को पराजित किया, परन्तु अन्त मे आजतशत्रु की पराजय हुई और वह बन्दी बना लिया गया। अन्त में प्रसेनजित ने परम शक्तिशाली मगध-राज्य के साथ सन्धि कर लेना ही श्रेयस्कर समझा। अतः उसने अपनी कन्या वाजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ कर दिया और काशी-ग्राम उसे फिर दे दिया।

प्रसेनजित को सलाह देने के लिए राज्य में एक मन्त्रिपरिषद थी। इसमें ५०० सदस्य थे। उसके अनेक मन्त्रियों के नाम भी मिलते हैं। मज्झिम निकाय एक मन्त्री

श्री वृद्ध का उल्लेख करता है। उपसगदसाओ एक अन्य मन्त्री मृगधर का नाम लेता है। अन्यत्र बौद्ध साहित्य में प्रधानमन्त्री दीर्घचारायण का नामोल्लेख है।

प्रसेनजित भी बहुपत्नीक था। बौद्ध साहित्य से प्रकट होता है कि एक बार उसने एक मालाकार के मुखिया की पुत्री मल्लिका को देखा। वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। यद्यपि वह वृद्ध हो चुका था तथापि उसने उस १६ वर्ष की कन्या के साथ विवाह कर लिया।

उसके विवाह के सम्बन्ध में एक दूसरी घटना का भी उल्लेख मिलता है। वह कपिलवस्तु के शाक्यों के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। परन्तु शाक्य अपनी कन्या का विवाह उसके साथ न करना चाहते थे। परन्तु भय के कारण वे प्रसेनजित के प्रस्ताव को स्पष्टतया अस्वीकार भी न कर सकते थे। अत उन्होंने एक चाल चली। उन्होंने राजकुमारी के बदले एक दासी का विवाह प्रसेनजित के साथ करवा दिया। इस दासी का नाम वासवक्षत्तिया था। इसी से प्रसेनजित को विडूडभ (विरुद्धक) नामक पुत्र प्राप्त हुआ। तिब्बती जनश्रुति के अनुसार विरुद्धक की माता का नाम मल्लिका था जो शाक्यो की दासी थी। यह साक्ष्य प्रसेनजित की दूसरी रानी का नाम वर्षिका बताता है। जो भी हो, इसमें सन्देह नही कि सब साक्ष्य विरुद्धक को दासीपुत्र कहते हैं।

बडे होने पर विरुद्धक ने मन्त्रिपरिषद के ५०० मन्त्रियो को प्रलोभन एव छल-छद्म से अपनी ओर मिलाकर प्रसेनजित को पदच्युत कर दिया और स्वय राजा बन बैठा। निराश्रित होकर प्रसेनजित अपने दामाद अजातशत्रु के राज्य मगध में शरण लेने के लिए चल पडा। परन्तु मार्ग के अनेकानेक कष्टो के परिणामस्वरूप राजगृह की सीमा पर पहुँच कर प्रसेनजित की मृत्यु हो गई।

अब विरुद्धक ने शाक्यो से बदला लेने का निश्चय किया। प्रारम्भ में उसे सफलता न मिली। अत. उसके प्रधान मन्त्री अम्बरीश ने कूटनीति से काम लिया। उसने शाक्यो को अपनी द्वेषहीनता का विश्वास दिलाया और उनसे अपने दुर्ग-द्वारों को खुलवा दिया। परन्तु द्वारो के खुलते ही विरुद्धक की सेनाओ ने शाक्यो पर आक्रमण कर दिया। इस बार उसकी विजय हुई। ७७००० शाक्य मारे गए और इस प्रकार शाक्यों के राज्य की स्वायत्त सत्ता जाती रही।

परन्तु अपनी इस विजय के पश्चात विरुद्धक अधिक समय तक जीवित न रहा। शीघ्र ही उसका अन्त हो गया। यह अन्त किस प्रकार हुआ, इसका हमे निश्चित ज्ञान नही है। रत्नावली का उल्लेख है कि वत्स के राजा उदयन ने कोशलराज पर आक्रमण कर उसे मार डाला था। सम्भव है कि यह कोशलराज विरुद्धक ही रहा हो।

पुराणो में विरुद्धक का नाम क्षुद्रक मिलता है। उसके पश्चात कुलक, सुरथ और सुमित्र कोशल के सिंहासन पर बैठे। परन्तु ये निर्बल राजा थे। इनका शासन-काल सम्भवत कोशल-राज्य का अवनति-काल था। अन्त में यह राज्य भी मगध-राज्य में मिला लिया गया।

(४) **मगध**—महात्मा बुद्ध के समय में मगध-राज्य में क्रमश. बिम्बिसार और अजातशत्रु ने राज्य किया था। इनके शासन-काल की प्रमुख घटनाओ पर हम 'मगध राज्य का उत्कर्ष' नामक एक स्वतन्त्र अध्याय में विचार करेंगे।

१३

महात्मा बुद्ध के समय की सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था

वर्ण-व्यवस्था—जैन तथा बौद्ध धर्म-ग्रन्थो से भी समाज के प्राचीन चार वर्णों का बोध होता है, यद्यपि इनमें वर्ण-व्यवस्था की सदैव कटु आलोचना ही की गई है। दोनो धर्म जन्म के आधार पर मनुष्य की उच्चता अथवा निम्नता के निर्धारण का घोर विरोध कर रहे थे। उन्होने कर्म को ही मनुष्य के मूल्याकन का वास्तविक माप-दण्ड माना था। महात्मा बुद्ध ने स्वय कहा था कि आग जलाने के लिए लकड़ी का भेद नहीं देखा जाता। उसी प्रकार निर्वाण के लिए भी मनुष्यो मे कोई भेद-भाव नही हो सकता। उनकी दृष्टि मे कर्म से ही प्रत्येक मनुष्य छोटा-बडा होता है। वे अपने आप को ब्राह्मण भी कहते थे। यहाँ ब्राह्मण की व्याख्या जन्म के आधार पर नही वरन कर्म के आधार पर की गई है। जो भी व्यक्ति ज्ञानी, सदाचारी और निःस्पृह इत्यादि हो वही ब्राह्मण है। नवीन धर्मों और पुरातन ब्राह्मण धर्म के दृष्टि कोणो में यही मौलिक भेद था। ब्राह्मण-धर्म ने मनुष्य का माप-दण्ड जन्म को माना था, परन्तु नवीन धर्मों ने कर्म को।

यह बात नही है कि विरोधी धर्म-ग्रन्थो ने ब्राह्मणो की सदैव निन्दा ही की हो। वे विज्ञ एव त्यागी ब्राह्मण तपस्वियो और ऋषियो की प्रसशा भी करते हैं। इस प्रकार के ब्राह्मणो को वे 'वास्तविक ब्राह्मण' की सज्ञा देते थे। परन्तु इनके विरुद्ध समाज में बहुसख्यक ऐसे भी ब्राह्मण थे जो सब प्रकार से गिर गये थे और नाना-प्रकार के जाल-जजालो में फँसे थे। आर्थिक विषमताओं के कारण ब्राह्मण बहु-सख्यक वर्ण-विरोधी कर्म भी करने लगे थे। जातको मे ब्राह्मण कृषि, पशु-पालन, आखेट, बढ़ई, जुलाहे, सँपेरे आदि के कामों को करते हुए दिखाए गए है। दस-ब्राह्मण-जातक में ब्राह्मणो के १० कर्मों का उल्लेख है—(१) वद्य (२) नौकर और गाडी हाँकने वाले (३) कर-सग्रह करने वाले (४) भूमि खोदने वाले (५) फल, मिठाई आदि बेचने वाले (६) कृषक (७) पुजारी (८) अगरक्षक, प्रति-हारी तथा पथप्रदर्शक (९) शिकारी और (१०) राजा के नौकर-चाकर। निश्चित है कि निम्नकर्मा ब्राह्मण सामाजिक दृष्टि से हीन समझे जाते होगे।

ई० पू० छठी शताब्दी तक भारतवर्ष के पूर्वी भाग में आर्य-सम्यता भली भाँति न फैली थी। अत ब्राह्मणों की दृष्टि में यह प्रदेश उन पश्चिमी प्रदेशो की अपेक्षा हीन था जहाँ आर्य-सम्यता भली भाँति फैल चुकी थी। यही कारण है कि पश्चिमी प्रदेश के ब्राह्मण पूर्वी प्रदेश के ब्राह्मणो की अपेक्षा उच्चतर माने जाते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय ब्राह्मणो और क्षत्रियों की पारस्परिक प्रति-स्पर्धा अधिक जोर पकड़ चुकी थी। बौद्ध एव जैन ग्रन्थो में अनेकशः पहले क्षत्रिय

वर्ण का उल्लेख हुआ है और बाद को ब्राह्मण वर्ण का। ब्राह्मणो की भाँति क्षत्रिय भी वर्ण-विरुद्ध कर्मों का अनुसरण करते हुए मिलते हैं। बौद्ध साहित्य मे शाक्य क्षत्रिय कृषि-कर्म करते हुए दिखाए गए है। जातको मे मालाकार, नलकार, कुम्भ-कार आदि के काम करते हुए क्षत्रियो के उल्लेख है। ब्राह्मणो की भाँति क्षत्रियो को भी अपनी रक्त-शुद्धता का ध्यान था। जब प्रसेनजित को यह पता चला कि उसकी रानी दासी थी तो उसे बड़ा दु ख हुआ था, परन्तु महात्मा बुद्ध के समझाने से उसने अन्त मे उसे वैध रानी का पद देना स्वीकार कर लिया था।

वैश्य वर्ण बहुसख्यक और समृद्धिशाली वर्ग था। इसी वर्ग के व्यक्तियो के लिए बौद्ध साहित्य में गृहपति, वणिक, श्रेष्ठी, कुटुम्बिक आदि सज्ञाओ का प्रयोग किया गया है। परन्तु अन्य वर्णों की भाँति यह वर्ण भी वर्ण विरुद्ध कार्य करने लगा था। वे जातको में दर्जी, कुम्हार आदि के कर्मों का अनुसरण करते हुए भी दिखाए गये है।

इस समय शूद्रो की दशा सब से खराब थी, वे प्राय अधिकार विहीन थे। वे नाना प्रकार के अभावो और अकुशो से पीड़ित थे। मातग जातक का कथन है कि एक चडाल का घर एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर केवल इसी लिए कर दिया गया था कि अपने घर के किनारे से बहती हुई नदी मे उसने अपनी दातून फेंक दी थी और वह बहती बहती आगे चलकर किसी नहाते हुए ब्राह्मण की शिखा मे उलझ गई थी। चित्त सभूत जातक मे एक भीड क्रुद्ध होकर दो चडाल भाइयो को इसलिए मारपीट रही है कि उनके मार्ग में आ जाने से दो सम्भ्रान्त महिलाओ ने मदिर जाने का विचार छोड़ दिया जिसके परिणाम स्वरूप भीड उनके प्रमाद वित-रण से वचित रह गई। शूद्रो के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य मे हीन जाति और हीन-सिपनि का भी उल्लेख आता है। प्रथम वर्ग के अतर्गत बहेलिया, स्वाकार आदि आते है। और दूसरे वर्ग के अन्तर्गत कुम्हार, चमार, नाई इत्यादि। इन वर्गो के अतिरिक्त समाज मे एक दास-वर्ग भी था। परन्तु दासो के साथ सामान्यतया दुर्व्यवहार न किया जाता था। इस विषय मे रीज डेविड्ज महोदय लिखते है कि—

'We hear nothing of such later (Western) development of slavery as rendered the Greek miner, the Roman latifundia or the plantations of Christian slave-owner, scenes of misery and oppression. For the most part, the slaves (in India) were household servants, and not badly treated, and their numbers seem to have been insignificant.'[1]

स्त्री-समाज—बौद्ध साहित्य से प्रकट होता है कि इस समय स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी न थी। महात्मा बुद्ध ने प्रारभ मे स्त्रियो को सघ-प्रवेश की आज्ञा नही दी थी। बाद को अपने परमप्रिय शिष्य आनन्द के बहुत कहने-सुनने पर उन्होंने यह आज्ञा दे दी। परन्तु इसके साथ ही साथ उन्होने सघ मे प्रवेश करने वाली स्त्रियो के लिए आठ कठोर प्रतिबध भी बना दिए। इस पर भी उन्होने कहा था कि "आनन्द अब धर्म चिरस्थायी न रह सकेगा। जहाँ स्त्रियाँ गृहस्थ जीवन का परित्याग कर गृहविहीन जीवन में प्रवेश करने लग जाती है वहाँ धर्म चिरस्थायी न रह सकेगा। जिस प्रकार धान के खेत पर पाला पड जाता है तब वह अधिक नही टिक सकता, अथवा गन्ने की फसल लाल बीमारी से, जिसमे पौधो में कीडे लग जाते है, मारी जाती है, उसी प्रकार आनन्द, इस सूत्र और विनय की दशा होती है जहाँ स्त्रियों

१ Buddhist India, p. 55

को गृह छोड़ कर गृहविहीन जीवन में प्रवेश करने का अधिकार मिल जाता है वह धर्म चिरस्थायी नहीं रह सकता।" इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा बुद्ध का स्त्रियों पर अधिक विश्वास नहीं था। परन्तु यह कटु आलोचना स्त्री के कामिनी-रूप की ही है। बौद्ध साहित्य में हम अनेक सुयोग्य और सुशिक्षित स्त्रियों के भी उदाहरण पाते हैं। भिक्षुणी खेमा अपने समय की अत्यन्त विदुषी स्त्री थी। उनकी विद्वत्ता की प्रशसा सुन कर स्वय कोशलराज प्रसेनजित उसकी सेवा में गया था। सुभद्रा नाम की दूसरी भिक्षुणी का सयुक्त निकाय में उल्लेख है। वह अपने व्याख्यान के द्वारा अमृत की वर्षा करती थीं। जातक, अमरा और उदुम्बरा नामक विदुषी स्त्रियों का उल्लेख करते हैं। भद्राकुड केशा राजगृह के एक धनी श्रेष्ठी की पुत्री थी। भिक्षुणी-धर्म स्वीकार करने के पश्चात उसने अपनी विद्वत्ता के कारण बड़ी ख्याति पाई थी। थेरीगाथा में बौद्ध भिक्षुणियों द्वारा रचित गीतों का संग्रह है। इनसे उनकी विद्वत्ता, नि स्पृहता, पवित्रता और अन्त.सतुष्टि प्रकट होती है। इन भिक्षुणियों में सुमा, सुमेधा और अनोपमा प्रसिद्ध है। जैन ग्रन्थों में कौशाम्बी-नरेश की विदुषी पुत्री जयन्ती का उल्लेख है। इसने महावीर स्वामी के साथ वाद-विवाद किया था। तदुपरान्त यह जैन धर्म में दीक्षित होकर भिक्षुणी हो गई थी।

बौद्ध साहित्य से प्रकट होता है कि तत्कालीन वेश्यायें भी पर्याप्तरूप से शिक्षित और सुसस्कृत होती थी। इस सम्बन्ध में आम्रपाली का उल्लेख विशेष महत्वपूर्ण है।[१] यह वैशाली की प्रसिद्ध गणिका थी। वैशाली के गण की सम्मति में यह स्त्री-रत्न थी। इसकी ख्याति को सुनकर स्वय मगध-नरेश बिम्बिसार इससे मिलने वैशाली गया था। जब महात्मा बुद्ध वैशाली गए तो आम्रपाली ने उन्हें अपने घर पर भोजन के लिए आमन्त्रित किया। महात्मा बुद्ध ने इसका आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। भोजन करने के पश्चात महात्मा बुद्ध ने इसे उपदेश दिया। तदुपरान्त आम्रपाली ने महात्मा बुद्ध को एक आराम भेंट किया।

विवाह :—बौद्ध साक्ष्यों से प्रकट होता है कि इस समय विवाह अधिकाशत. वयस्कावस्था मे ही होते थे। लडकियो के लिए यह अवस्था लगभग १६ वर्ष पर मानी जाती थी। धम्मपद टीका का उल्लेख है कि इसी आयु में कन्यायें विवाह के लिए उत्सुक होती है।

यद्यपि बौद्ध साहित्य मे सगोत्र विवाह, मामा की पुत्री के साथ विवाह तथा स्वय अपनी बहन के साथ विवाह के कतिपय उदाहरण भी मिलते है, प्ररन्तु इन सब को अपवाद-रूप ही समझना चाहिए। साधारणतया इस प्रकार के विवाह निन्दनीय समझे जाते थे।

विवाह के ८ प्रकारो में सबसे अधिक लोक-प्रतिष्ठित प्रकार प्राजापात्य-विवाह का था। इसमें लड़के-लड़की का विवाह माता-पिता के द्वारा नियोजित होता था। परन्तु इस प्रणाली के अतिरिक्त अन्य प्रणालियो के भी उदाहरण मिलते हैं। कट्ठ-हारि जातक का कथन है कि वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त ने एक कन्या के रूप पर

१ 'No discussion of the position of wom̃en would be complete without reference to a class of courtesans who enjoyed a social standing not accorded to them anywhere else in the world, save perhaps in Athens. The great prestige attached to this class of women appears vividly from the story of Āmrapālī in the Vinaya Texts of Mūlasarvāstivādas.'—Dr. R. K. Mookerji.

मुग्ध होकर उसके साथ गान्धर्व-विवाह कर लिया था। इसी प्रकार धम्मपद टीका पादच्चरा नामक कन्या के गान्धर्व-विवाह का वर्णन करती है। वत्स नरेश उदयन का अवन्ती-नरेश प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता के साथ जो विवाह हुआ था वह भी गान्धर्व था। कुछ स्वयम्वर-विवाहों के भी उदाहरण मिलते है। उच्च जातक में एक कन्या के स्वयम्वर का वर्णन है। कुलाल जातक में कण्ह नामक कन्या अपना स्वयम्बर करती है। धम्मपद टीका के अनुसार असुरराज वेपचिति की कन्या ने अपना स्वयम्वर विवाह किया था।

बुद्ध-काल में भी सजातीय विवाहो की ही प्रधानता थी, परन्तु यदा-कदा अन्तर्जातीय विवाहो के भी उदाहरण मिलते हैं। दिव्यावदान एक शूद्र-पुरुष और एक ब्राह्मण-कन्या के विवाह का उल्लेख करता है। यह प्रतिलोम विवाह का उदाहरण है। कौशल-राज प्रसेनजित ने श्रावस्ती के मालाकार की कन्या मल्लिका के साथ अनुलोम विवाह किया था।

शिक्षा—बौद्ध धर्म निवृत्तिमार्गी था। अत. उसने भिक्षु-जीवन कल्याणकर बताया था। बौद्ध भिक्षु स्थान-स्थान पर बने अपने विहारो में रहते थे। ये विहार उनकी समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति करते थे। यही उनके शिक्षा-केन्द्र भी थे। इनमें भिक्षु अपने धर्म का अध्ययन-अध्यापन, मनन, पाठ आदि करते थे।[१] यह शिक्षा नितांत साम्प्रदायिक थी।

बौद्धों की सघ-शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत शिष्य को 'सद्धिविहारिक' और आचार्य को 'उपाध्यय' कहते थे। उपाध्याय होने के लिए प्रत्येक के लिए यह आवश्यक था कि वह कम से कम १० वर्ष तक भिक्षु-जीवन व्यतीत कर चुका हो। शिष्यत्व ग्रहण करने के समय नवागत का एक सस्कार होता था। जिसे 'प्रवज्या कहते थे। साथ में उसे बुद्ध, धम्म और सघ में अपना विश्वास प्रकट करना पडता था। महावग्ग में गुरु-शिष्य के परस्पर-सम्बन्ध पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। शिष्य नियमित रूप से अपने गुरु की सेवा-शुश्रूषा करता था तथा गुरु पूर्ण रूप से उसके शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास के लिए उत्तरदायी था। गुरु को अपने शिष्यों को शारीरिक दण्ड देने का भी अधिकार था। जातको से प्रकट होता है कि उद्दण्ड अथवा अपराधी शिष्य को गुरु छड़ी, लात अथवा थप्पड से भी मारता था।

जातको तथा अन्यान्य बौद्ध ग्रन्थो में लौकिक शिक्षा के विषय पर भी काफी प्रकाश पडता है। इस समय वाराणसी और तक्षशिला अपनी शिक्षा-सस्थाओ के लिए विशेष प्रसिद्ध थे। इन नगरों के आचार्य वेदो तथा अठारह शिल्पो की शिक्षा देते थे। जातकों से प्रकट होता है कि तक्षशिला मे चिकित्साशास्त्र, धनुर्विद्या, राजविद्या, पशु-भाषा-ज्ञान, आखेट तथा अनेक शिल्पादि की शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थी दोनों प्रकार के होते थे—छात्रावास में रहकर पढने वाले (Hostellers) और अपने घरों में रहते हुए एकमात्र पढ़ने के समय विद्यालय आने वाले (Day-scholars)। आचार्य पढाने के लिए प्रत्येक विद्यार्थी से फीस लेता था। ऐसे विद्यार्थियो को आचार्य भागदायका कहते थे। परन्तु अनेक निर्धन विद्यार्थी

१ 'In the Buddhist system, education was imparted in the vihāra or monastery, giving scope to a collective life and spirit of brotherhood and democracy among the many resident monks, who came under a common discipline and instruction.'—Dr. R. K. Mookerji.

ऐसे भी होते थे जो फीस के बदले दिन को अपने आचार्य का सेवा-कार्य करते थे और रात को उनसे पढ लेते थे। ऐसे विद्यार्थी धम्मन्तवासिका कहलाते थे। शिक्षा-संस्थाओं में छात्रों का जीवन सरल और अनुशासन-शील था। वहाँ निर्धन और धनी विद्यार्थियों का आचार-आहार एक-सा ही होता था। शिक्षा-संस्थाओं को राजकीय सहायता भी मिलती थी। परन्तु अधिकांशतः उनका अस्तित्व सार्वजनिक दान-दक्षिणा के ऊपर निर्भर था। बहुधा पड़ोसी निवासी शिक्षा-संस्थाओं के विद्यार्थियों को भोजन-वस्त्रादि देते रहते थे। कुछ शिक्षा-सस्थायें सार्वजनिक न होकर वर्ग-विशेष के लिए ही होती थी। जातकों से ब्राह्मणों, क्षत्रियों और राजकुमारों की पृथक-पृथक शिक्षा-सस्थाओ के उल्लेख मिलते हैं।

जातकों से प्रकट होता है कि तक्षशिला अथवा वाराणसी के विद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए विद्यार्थी की आयु कम से कम १६ वर्ष की होनी चाहिए थी। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन विद्यालयो में पाठ्य-क्रम कितने वर्ष का होता था। महावग्ग से प्रकट होता है कि जीवक ने तक्षशिला में ७ वर्ष तक चिकित्साशास्त्र में शिक्षा पाई थी।

जातको से प्रकट होता है कि प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्रों में अध्ययन करने वाले विद्यार्थी अधिकांशत ब्राह्मण और क्षत्रिय ही होते थे। वैश्य विद्यार्थियो की संख्या बहुत कम थी। चण्डालो के लिए तो प्रवेश पूर्णरूप से निषिद्ध था। प्रमुख विद्यालयो में प्रधान आचार्य के अतिरिक्त सहायक आचार्य भी होते थे। उन्हें पिट्ठी आचरिया कहते थे। कभी-कभी पुराने और अनुभवी विद्यार्थी (जेट्ठन्तेवासिका) भी पढ़ाने में अपने आचार्य की सहायता करते थे।

ग्राम—बौद्ध साहित्य से प्रकट होता है कि इस समय तक भारतवर्ष में स्थान-स्थान पर समृद्धिशाली ग्रामों का उदय हो चुका था। ग्रामो में ईंट, मिट्टी, पत्थर और लकडी की सहायता से बने हुए बहुसख्यक मकान होते थे। इन मकानो में सम्मिलित परिवार रहते थे। मकानो के अतिरिक्त गाँवों मे खेत होते थे। सामान्यतया खेत मनुष्य की व्यक्तिगत सम्पति समझा जाता था। परन्तु बहुधा ग्राम-पचायत की आज्ञा के बिना वह मनुष्य उसे बेच नही सकता था। ग्रामो का जीवन सरल और सतोषमय था। वहाँ के मनुष्य न अधिक धनी होते थे और न अधिक निर्धन। प्राय प्रत्येक ग्राम आत्म-निर्भर था। उसकी आवश्यकताएँ कम थीं और उनकी पूर्ति उसी की सीमाओं के भीतर हो जाती थी। सहकारिता और वस्तुविनिमय के आधार पर मनुष्यों ने अपना जीवन सुविधाजनक बना लिया था। ग्रामों में लड़ाई-झगडे तथा अन्यान्य अपराध कम होते थे और उनका निर्णय ग्राम पचायतों में ही हो जाता था।

ग्राम के चारो ओर चारागाह होते थे। ये सम्पूर्ण ग्राम की सम्पति समझे जाते थे। यहाँ ग्राम निवासियों के पशु निर्बाध रूप से चरते थे। इन्हें चराने के लिए ग्वाले होते थे। चारागाह के आगे बहुधा वन होते थे। परन्तु ई० पू० छठी शताब्दी तक आते-आते वन का विस्तार कम होता जा रहा था। उन्हें काट-काट कर मनुष्य अपने ग्रामों की स्थापना करते जा रहे थे।

बुद्ध-काल में हम साधारण ग्रामों के अतिरिक्त व्यावसायिक ग्रामो का भी उल्लेख पाते हैं। समान व्यवसाय का अनुसरण करने वाले मनुष्य बहुधा एक ही ग्राम में रहते थे। बौद्ध-साहित्य कुम्हारो, बढ़ईयों, शिकारियों, चंडालों आदि के ग्रामों का उल्लेख करता है।

नगर—इस समय तक भारतवर्ष में नागरीय सभ्यता का भी पर्याप्त उदय

हो रहा था। स्थान-स्थान पर नगरों का उदय हो रहा था। नगरों में कच्चे मकानों के स्थान पर पक्के मकानों का बाहुल्य होता था। बहुधा ये मकान कई मंजिल ऊँचे होते थे। सात मंजिल वाले मकानों को सप्तभूमक प्रासाद कहते थे। बड़े मकानों में स्तम्भ, गवाक्ष, वातायन, नालियाँ, कुएँ, पाकशाला, स्नानगृह तथा शौचालय आदि की पृथक-पृथक व्यवस्था होती थी। बहुधा दीवारो पर प्लास्तर भी होता था। कभी-कभी दीवारों को अनेक प्रकार के चित्रों से सजाया जाता था।

दीर्घ-निकाय निम्न ६ नगरो का उल्लेख करता है—(१) चम्पा (२) राजगृह (३) श्रावस्ती (४) साकेत (५) कौशाम्बी और (६) वाराणसी। इनके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य मिथिला, वैशाली, काम्पिल्य, पाटलिपुत्र, उज्जैन, साकल, पैठान और महिषमती आदि नगरों का उल्लेख करता है। बड़े-बड़े नगरो की निर्माण-योजना बड़े ढग से बनाई जाती थी। उनमें सुन्दर भवन, उद्यान, बाजार तथा सड़कें होती थी। कभी-कभी नगरों के चारों ओर चहरदीवारी भी होती थी। किसी-किसी नगर मे दुर्ग भी होता था।

विभिन्न व्यवसाय—बुद्ध-काल में कपड़े का व्यवसाय काफी समृद्ध था जातको से प्रकट होता है कि सूत कातने का काम प्राय स्त्रियाँ करती थी। कपडा बुनने वाले को तन्तुवाय कहते थे। कपडे सूती, ऊनी और रेशमी सभी प्रकार के होते थे। विनय-पिटक से प्रकट होता है कि शिवि-देश अपने सूती कपडो के लिए प्रसिद्ध थ।। गान्धार में ऊनी कपडो का व्यवसाय अधिक समृद्ध था और वाराणसी में रेशमी कपडो का। लोहे का काम करने वाले कम्मार कहलाते थे। ये हल, कुदाल, फावडे, हथौडे, हँसियाँ, छुरे, चाकू तथा अन्यान्य प्रकार के लोहे के बर्तन बनाते थे। स्त्री और पुरुष दोनो ही आभूषण-प्रेमी थे। अत आभूषण बनाने का व्यवसाय भी बडा उन्नत था। बौद्ध साहित्य, माला, मेखला, कुण्डल, केयूर, चूडामणि, मुद्रिका आदि आभूषणो का उल्लेख अनेकश करता है। ये आभूषण सोने, चाँदी, मोती, हीरे, हाथीदाँत आदि से बनते थे। काठ का काम करनेवाले बर्धकी (बढ़ई) कहलाते थे। ये गाडियाँ, दरवाजे, खिड़कियाँ तथा विविध फर्नीचर तैयार करते थे। जातको में वर्धकी-ग्राम का भी वर्णन आता है। हाथीदाँत का काम करने वाले हस्तिदन्तकार कहलाते थे। इनकी अपनी वीथियाँ (streets) थी। इस काम के लिए वाराणसी विशेष प्रसिद्ध था। पत्थर का काम करने वाले पाषाण 'कोट्टक' कहलाते थे। कुम्भकार आधुनिक कुम्हार था। यह चाक की सहायता से अनेक प्रकार के मिट्टी के बर्तन बनाता था। सूख जाने पर ये आग मे पकाये जाते थे। बहुधा कुम्भकार गाँवो के बाहर रहते थे। बुद्ध-काल पुष्पो, मालाओ, इत्र और तेल आदि के लिए बडा प्रसिद्ध है। अत स्वाभाविक था कि इस समय मालाकार (माली) का व्यवसाय बडा उन्नत था। वह उद्यानों की देख-रेख करता, पुष्प-चयन करता, उनके गुलदस्ते तथा मालायें बनाना और सुगन्धित इत्र-तेल बनवाने के लिए चन्दन, पुष्प-पत्र तथा मूल आदि गन्धिको के पास भेजता था। नलकार अपनी बाँस की टोकरियों आदि के लिए और चर्मकार कमड़े के काम के लिए प्रसिद्ध थे। रगरेज हिंगुलक, हरताल आदि के प्रयोग से अनेक रगो में कपड़े रँगते थे। इसके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य निम्न-लिखित अन्यान्य व्यवसायो का भी वर्णन करता है—

(१) वैद्य

(२) ज्योतिषी

(३) नट

(४) नापित
(५) सूद (हलवाई)
(६) रजक (धोबी)
(७) शिकारी
(८) बूचड
(९) नाविक
(१०) गायक
(११) लेखक
(१२) पुरोहित आदि

बहुधा व्यवसायियों ने अपने-अपने संगठन (श्रेणी) बना लिए थे। प्रत्येक श्रेणी के अपने-अपने नियम थे जिन्हें राज्य भी मानता था। ये श्रेणियाँ अपने सदस्यों की सामग्री के निर्माण, क्रय-विक्रय, लाभ-हानि आदि के विषय में अनेक प्रकार के नियम बनाती थीं। झगड़ों का निर्णय करने के लिए श्रेणियों के अपने-अपने न्यायालय थे। श्रेणी के मुखिया को प्रमुख अथवा जेट्ठक कहते थे। एक जातक का कथन है कि पाँच सौ बढ़ई परिवारों का एक जेट्ठक था। इसी प्रकार एक दूसरे जातक में १०० कम्मार परिवारों का एक जेट्ठक बतलाया गया है। जातकों में १८ श्रेणी-समूहों का उल्लेख मिलता है। धीरे-धीरे श्रेणी के सदस्यों ने अपने भीतर ही खान-पान और विवाह-सम्बन्ध करना प्रारम्भ कर दिया। तभी से उनकी व्यावसायिक जातियाँ बनने लगीं। इस समय तक व्यवसायों का स्थानीयकरण हो चुका था। समान व्यवसाय के अनुसरण करने वाले व्यक्ति एक ही स्थान पर रहते थे। एक जातक में एक बढ़ई-ग्राम का वर्णन है। इसमें बढ़ईयों के १००० परिवार रहते थे। भिन्न भिन्न नगरों में कुम्हारों, लुहारों और हाथीदाँत का काम करने वालों की अपनी अपनी गलियाँ थीं। इन्हें वीथी कहते थे। बहुधा व्यवसाय परम्परागत होते थे। उदाहरण के लिए एक लुहार अपने पुत्र को बचपन से ही अपने व्यवसाय की शिक्षा देने लगता था। इस प्रणाली का परिणाम यह होता था कि वयस्क होते-होते वह पुत्र अपने पैतृक व्यवसायों की बारीकियों को भलीभाँति समझ जाता था। इस प्रकार व्यवसाय प्रत्येक परिवार की पतृक सम्पत्ति समझा जाता था।

व्यापार—बौद्ध साहित्य इस समय के व्यापार के ऊपर भी अच्छा प्रकाश डालता है। वह व्यापार स्थलीय और जलीय दोनों मार्गों से होता था। देश के प्रमुख व्यापारिक केन्द्र मार्गों द्वारा एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। इन पर व्यापारियों के काफिले अपने सामान के साथ आते-जाते रहते थे। यह सामान बैलगाड़ियों द्वारा ढोया जाता था। कभी-कभी ये अपने साथ रक्षक भी रखते थे। निश्चित स्थानों पर इन्हें चुंगी देना पड़ता था। स्थल-मार्गों के अतिरिक्त नदी-मार्ग भी यातायात के साधन थे। इन पर छोटी-बड़ी नावों के सहारे माल ढोया जाता था।[१] रीज

१ .... there were merchants who conveyed their goods either up and down the great rivers or along the coasts in boats; or right across country in carts travelling in caravans. These caravans, long lines of small two-wheeled carts each drawn by two bullocks, were a distinctive feature of the times. There were no made roads and bridges. The carts struggled along, slowly, through the forests, along the tracks from

डेविड्ज महोदय ने अपने 'बुद्धिस्ट इण्डिया' नामक ग्रन्थ में ३ प्रमुख व्यापारिक मार्गों का उल्लेख किया है। प्रथम मार्ग श्रावस्ती से प्रारम्भ होकर माहिष्मती, उज्जैन, विदिशा, कौशाम्बी और साकेत होता हुआ प्रतिष्ठान जाता था। दूसरा मार्ग श्रावस्ती से प्रारम्भ होकर कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा, वैशाली और पाटलिपुत्र होते हुए राजगृह जाता था। तृतीय मार्ग गंगा और यमना नदियों का जल-मार्ग था। इनके अतिरिक्त अन्य भी मार्ग थे। इनमें एक मिथिला से काश्मीर और गान्धार तक जाता था। दूसरा मार्ग राजपूताना से मरुस्थल होता हुआ सौवीर प्रदेश को जाता था। पूर्व में एक अन्य मार्ग वाराणसी से सुवर्णभूमि को जाता था। व्यापारिक मार्ग सदैव सुरक्षित न होते थे। सत्तिगुम्ब जातक में एक चोरों के ग्राम का उल्लेख है। इसमें ५०० चोर रहते थे। ये मार्ग में व्यापारियों को लूट लेते थे। इसी से अपनी रक्षा के लिए कभी-कभी व्यापारी अपने साथ सशस्त्र रक्षक रखते थे। बलाहस्स जातक ताम्रपर्णि की, महाजनक जातक सुवर्णभूमि की और सुपारक जातक वैबिलोन तथा मिस्र आदि पश्चिमी देशों की व्यापारिक यात्राओं का वर्णन करते हैं। पश्चिमी भारत में भरुकच्छ (भड़ौच) और सुपारक (सोपारा) विदेशी व्यापार के दो प्रमुख बन्दरगाह थे। कभी-कभी व्यापारी ५००-५०० गाड़ियों को लेकर चलते थे। इतने बड़े कारवाँ का नेता 'सार्थवाह' कहलाता था। व्यापार द्वारा अपार धन पैदा करते हुए अनेक श्रेष्ठियों का बौद्ध साहित्य में वर्णन है। अनाथपिण्डक श्रावस्ती का एक प्रसिद्ध श्रेष्ठी था। सम्भवतः वह व्यापारी-वर्ग की ओर से राजसभा में भी प्रतिनिधित्व करता था। 'नेगमगाम' व्यापारिक केन्द्र थे जहाँ अनेकानेक स्थानों की उत्पन्न की हुई वस्तुएं विक्रय के लिए आती थी। बड़े-बड़े बजारों के अतिरिक्त फेरी वाले अपने सामान को गधे, गाड़ियों आदि पर लादे हुए गली-गली घूमते रहते थे।

अर्थ-नीति—ई० पू० छठी शताब्दी का काल अर्थ-नीति (Money Economy) का काल है। इस समय तक आते-आते वस्तु-विनिमय (Barter) की पद्धति बड़े पैमाने पर होने वाले व्यापार-व्यवसाय के लिए अनुपयुक्त हो गई, अतः मुद्रा के माध्यम का प्रचार हुआ। मुद्राओं में कार्षापण प्रमुख है। यह ताँबे का होता था और इसकी तौल १४६ ग्रेन होती थी। इस समय मनुष्यों के व्यापारिक जीवन में जटिलता आ गई थी। अतः हम बैंक, ब्याज, साझा आदि पद्धतियों के उदय के भी उल्लेख पाते हैं।

दैनिक जीवन—मनुष्य सम्मिलित परिवारों में रहते थे। उनका जीवन सामान्यतया सरल, सुस्वादु और सन्तोषपूर्ण था। परिवार में माता-पिता का आदर होता था। उन्हें पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबन्ध करने के लिए सदैव ध्यान रहता था। जातकों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए पिता द्वारा पुत्रों के विदेश भजने के उल्लेख मिलते हैं। बहुधा वह उनके विवाह भी नियोजित करते थे। साधारण

village to village kept open by the peasants. The pace never exceeded two miles an hour. Smaller streams were crossed by gullies leading down to fords, the larger ones by cart ferries. There were taxes and octroi duties at each different country entered, and a heavy item in the cost was the hire of volunteer police who let themselves out in bands to protect caravans against robbers on the way. The cost of such carriage must have been great, so great that only the more costly goods could bear it'—Buddhist India, p. 60-61

मनुष्य एकपत्नीक होता था, यद्यपि राजवश और धनी वर्ग में बहुपत्नीकता प्रतिष्ठित थी। स्त्रियो में पर्दा की प्रथा न थी। बौद्ध-साहित्य में पुरुषो के साथ भिक्षुणियो के नहाने के उदाहरण मिलते हैं। जयन्ती ऐसी विदुषी स्त्रियाँ तो सार्वजनिक विवादों मे भी भाग लेती थी।

साधारणतया मनुष्य सूती कपडे पहनते थे, यद्यपि ऊनी और रेशमी कपड़ों का भी प्रचुर प्रचार था। कपडे प्राय बिना सिले हुए पहने जाते थे। इस समय तक स्त्री-पुरुषो की वेष-भूषा मे विशेष अन्तर न था। दोनो ही शिरो-भूषा और आभूषण धारण करते थे। बौद्ध साहित्य मे अनेक प्रकार की मेखलाओ और जूतो के उल्लेख मिलते है। निर्धन मनुष्य लकडी के खडाऊँ पहनते थे परन्तु धनी वर्ग मे अनेक पशुओ के चमडे, बाल और ऊन के जूते धारण करते थे। कभी-कभी जूतो मे सोने-चाँदी का काम भी किया जाता था अथवा उन पर मोती-मूँगे जड दिए जाते थे।

साधारणतया दैनिक भोजन मे गेहूँ, जौ, चावल, तिल, दाले, फल, दूध, दही, घी, मट्ठा, मधु, तेल, मास और मछली का प्रयोग किया जाता था। देश मे मदिरा का भी प्रचलन था।

धनी घरो मे अनेक प्रकार की विलास की सामग्री भी पाई जाती थी। उनकी छतो पर आच्छादन और खिडकियो तथा दरवाजो पर पर्दे होते थे। दीवारे नाना प्रकार के चित्रो से अलकृत रहती थी। कमरो में मेज, कुर्सी, तिपाई, पलग, सोफा आदि पाए जाते थे। इन पर गद्दे-गद्दियाँ, दरियाँ, चटाइयो आदि का भी प्रयोग होता था। घरो मे सोने, चाँदी, ताबे, कासे, सीसे, तथा हाथी दाँत के अनेकानेक वर्तन होते थे।

मनोविनोद के लिए मनुष्य उत्सव और समाज करते थे। बहुधा वे विहार-यात्राओ पर जाते थे। वे घुडदौड़, रथदौड, मलयुद्ध और तीरदाजी मे भाग लेते थे। घरेलू खेलो मे पाँसे का प्रयोग अधिक प्रचलित था। साधारण व्यक्ति नटो, मदारियो और जादूगरो आदि के खेल देख कर अपना मनोरजन करते थे। नगरो में नृत्य सगीत और नाटको के सामूहिक आयोजन भी होते थे। इस प्रकार हम देखते है कि निवृत्ति-मार्गी धर्मो के प्रचार के होते हुए भी साधारण जनता का जीवन के प्रति अनुराग था और वह अनेक प्रकार के खेल-कूदो और मनोविनोदो से अपने जीवन के उल्लास को बढाने के प्रयत्न करती थी।[1]

१ 'In spite of the pessimistic view on life in the religious literature, causing a strong tendency towards asceticism, common people had a liking for the enjoyment of the good things in life.'—Dr. R. K. Mookerji.

१४

महात्मा बुद्ध के समय की धार्मिक अवस्था—धार्मिक क्रान्ति

ईसा पूर्व छठी शताब्दी—यह शताब्दी एकमात्र भारतवर्ष के लिए ही नहीं वरन् ससार के अनेकानेक देशों के लिए एक विपुल धार्मिक क्रान्ति का काल थी। चारो ओर मनुष्य की जिज्ञासा युग-युग के पुंजीभूत विश्वासो के आवरण को चीर कर प्रत्येक वस्तु के अन्तस्तत्व को देखना चाहती थी। मनुष्य की उद्‌भूत तर्कशीलता अब किसी भी पुरातन मत को ग्रहण करने के पूर्व पहले उसे भलीभाँति परख लेना चाहती थी। उनकी सत्यान्वेषिणी दृष्टि के समक्ष प्राचीनतम अन्धविश्वास काँप रहे थे, कर्मकाण्ड की विशाल दीवारें जर्जरित हो रही थी और अन्ध-श्रद्धा के आधार पर सरोपित पुरातन मान्यतायें अपने जीवन के प्रति निराश-सी दिखाई देने लगी थी। वास्तव मे यह काल एक प्रबल गवेषणा का काल था, सत्यानुसधान का काल था, रहस्योद्‌घाटन की दुर्घर्ष उत्कण्ठा का काल था। इस समय मानवी बुद्धि तर्क का सबल लेकर इहलोक और परलोक के गहनातिगहन विषयो की समीक्षा कर अपनी अन्तस्तुष्टि चाहती थी। इस जिज्ञासा और तर्कशालिता का परिणाम यह हुआ कि ई० पू० छठी शताब्दी में विश्व के अनेक स्थानों पर युग-प्रवर्तकों का जन्म हुआ, नवीन धर्मों की स्थापना हुई और मनुष्य के जीवन की मान्यताओं का पुन. मूल्याकन करने का प्रबल प्रयास हुआ। जिस समय फारस जरथस्ट्र, यूनान पाइथागोरस और चीन कन्फ्यूशिअस के सन्देशो से निनादित हो रहे थे उसी समय भारतवर्ष की पुण्यस्थली मे भी दो युग-पुरुषो के धर्मोद्‌घोष सुनाई दे रहे थे। ये थे महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध—भारतवर्ष की धार्मिक क्रान्ति के अग्रदूत उसके बौद्धिक आप्लावन के गम्भीर स्रोत।

भारतवर्ष की धार्मिक क्रान्ति के कारण—अन्य देशो की भाँति भारतवर्ष की धार्मिक क्रान्ति न आकस्मिक थी और न इसका कोई एक कारण था। अनेक शताब्दियो से अनेक कारण इसके आगमन का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। सुगमता के लिए हम इन कारणो पर निम्न प्रकार से विचार कर सकते हैं :—

(१) **आर्य और अनार्य विचार-धाराओं का संघर्ष**—६०० ई० पू० तक पजाब और मध्य देश आर्य-सस्कृति के अन्तर्गत आ चुके थे। परन्तु उत्तरी भारत का पूर्वी भाग अब भी बहुत-कुछ उससे अप्रभावित था। यही कारण है कि ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने बहुत दिनो तक मगध और विदेह जैसे पूर्वी प्रदेशो को आर्यावर्त की सीमाओं से बाहर रखा और उन प्रदेशो को आर्यों के निवास के लिए अनुपयुक्त

बताया। अन्य वर्गों की कौन कहे, पूर्वी प्रदेश के ब्राह्मण भी 'उदीच्य' ब्राह्मणों की अपेक्षा हीन समझे जाते थे। इसका कारण यही था कि पूर्वी प्रदेश में अनार्य सभ्यता अब भी अवशिष्ट थी और यह आर्य-सभ्यता के साथ मेल न खाती थी।

आर्य और अनार्य सभ्यताओं का प्रमुख अन्तर था जीवन के प्रति उनके परस्पर-विरोधी-दृष्टिकोण में। आर्य-सभ्यता ऋग्वैदिक काल से ही नितान्त प्रवृत्तिमार्गी थी। ससार-त्याग, वैराग्य अथवा काया-क्लेश के सिद्धान्तो के लिए उसमें कोई स्थान न था। ऋग्वेद में एक-आध स्थान पर तपस्वियों और संन्यासियों का वर्णन मिलता है। परन्तु उन्हें पढने से स्पष्ट हो जाता है कि वे निन्दा और घृणा के पात्र थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे तपस्वी आर्य नही, अनार्य थे और इसी से उनकी लोक-विरुद्ध मलयुक्त तपश्चर्या की भर्त्सना की गई है। सम्पूर्ण ब्राह्मण व्यवस्थाकारो ने गृहस्थाश्रम को ही चतुराश्रमो में सर्वोपरि माना है। यह तथ्य भी आर्य-सभ्यता की प्रवृत्ति-प्रधानता की सूचना देता है। आर्य-सभ्यता में कालान्तर में जो निवृत्तिमूलक अंग दृष्टिगत होते है वे कदाचित् अनार्य-सभ्यता के परिणाम है। सिन्धु-सभ्यता में प्राप्त योगिराज की मुद्रा कदाचित यही प्रकट करती है कि अनार्य-सभ्यता में तपस्या, काया-क्लेश और वैराग्य आदि की सम्मान्यता थी।

आर्य अपनी प्रवृत्ति-प्रधान सभ्यता को लेकर भारत मे आये। यहाँ निवृत्ति-मूलक अनार्य-सभ्यता के साथ सम्पर्क-सघर्ष हुआ। आर्य-अनार्य एकमात्र जातीय सघर्ष ही न था वरन् वह सास्कृतिक सघर्ष भी था। दीर्घकालीन सघर्ष और सहवास के परिणामस्वरूप एक सभ्यता ने दूसरी सभ्यता को न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित किया, इसमे कोई सन्देह नही। यह अनुमान स्वाभाविक प्रतीत होता है कि अनार्यों की निवृत्तिमूलक सस्कृति बहुत प्राचीन काल से अदृष्ट रूप से वृत्तिमूलक आर्य सस्कृति का विरोध करती आ रही थी। इस विरोध का सबसे अधिक प्रबल केन्द्र मगध मे ही था जो ई० पू० छठी शताब्दी तक पूर्ण रूप से आर्य-सस्कृति के प्रभाव में न आया था। अतः इसी प्रदेश में पुरातन आर्य-धर्म के विरुद्ध विद्रोह हुआ और यह विद्रोह निवृत्तिमूलक था। जैन और बौद्ध धर्म हो प्राचीन ब्राह्मण धर्म की प्रवृत्ति-प्रधानता के विरोधी थे और दोनो हो वैराग्य में मनुष्य का परम कल्याण देखते थे। उनके धर्म की निवृत्ति-परायणता सैद्धान्तिक रूप में आर्य धर्म का अग नहीं कही जा सकती। वह तो अनार्य धर्म का ही प्रच्छन्न प्रभाव थी।

ब्राह्मण-क्षत्रिय-संघर्ष—अपने साधनामय जीवन और ज्ञान के कारण वैदिक काल में ब्राह्मण वर्ण की सर्वोपरि प्रभुता स्थापित हुई थी। वह समाज का मस्तिष्क था और पठन-पाठन तथा यजन-याजन के द्वारा समाज की बौद्धिक एव धार्मिक आव-श्यकताओ की पूर्ति करता था। अपने इन्ही उदात्त कर्मों के कारण वह सम्पूर्ण समाज की अनन्य श्रद्धा-भक्ति और दया-दान का अधिकारी था। इसके अतिरिक्त उसे अनेकानेक अन्य विशेषाधिकार प्राप्त थे। समाज के चतुर्वर्णों में दूसरा वर्ण क्षत्रिय का था। इसके हाथ में देश की सरक्षा और शासन-व्यवस्था का भार था। अत यह कम महत्वपूर्ण न था। स्वय ब्राह्मण भी अपनी संरक्षा और जीवन-निर्वाह के लिए क्षत्रिय पर निर्भर थे। ऐसी अवस्था में स्वाभाविक ही था कि एक समय ऐसा आया जब क्षत्रिय-वर्ण को ब्राह्मण-वर्ण की सर्वोपरि प्रतिष्ठा खलने लगी। आखिर क्षत्रिय ब्राह्मण की अपेक्षा किस प्रकार हीन था? इस प्रकार की भावना ने क्षत्रियो को ब्राह्मणो के विरुद्ध स्वय अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए प्रेरित किया। इसका सर्व प्रथम उदाहरण हमें शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। इस ग्रन्थ में सर्व प्रथम यह कहा गया है कि क्षत्रिय ब्राह्मण से भी ऊँचा है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय का अन्तर्वर्गीय संघर्ष उपनिषद-काल में और भी अधिक बढ़ गया। बात यह थी कि क्षत्रियो ने देखा कि ब्राह्मणो के विशेष सम्मान का कारण उनका पठन-पाठन है। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से क्षत्रियों को भी इन कार्यों को करने का अधिकार था तथापि उन्होने राजनीतिक कार्यों में व्यस्त होकर साधारणतया इन कार्यों को छोड दिया था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पठन-पाठन के कार्यों को आत्यन्तिक प्रतिष्ठा का प्रदाता समझकर क्षत्रिय वर्ण पुन. इन कर्मों में अधिकाधिक रूप में प्रवृत्त हुआ। उपनिषद्-काल में हम देखते हैं कि बहुसंख्यक क्षत्रिय नरेश सुप्रसिद्ध विद्वान और दार्शनिक हैं। भारतीय दर्शन की एक विशेष शाखा ब्रह्मविद्या के सस्थापक भी वही हैं। महती विद्वत्ता ने उन्हें अपरिमित कीर्ति प्रदान की। स्वय अनेक ब्राह्मणो को भी हम क्षत्रियो के पास ब्रह्मविद्या पढ़ने के हेतु जाते देखते है। इस प्रकार क्षत्रियवर्ण ने ब्राह्मणो के समकक्ष अपनी सम्मान्यता स्थापित की।

ब्राह्मण-क्षत्रिय प्रतिस्पर्धा के अनेक प्रमाण बौद्ध एव जैन साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य में जहाँ कही भी चतुर्वर्णों का उल्लेख है वहाँ सदैव पहले ब्राह्मण वर्ण का ही उल्लेख है, फिर उसके बाद क्षत्रिय वर्ण का। परन्तु बौद्ध साहित्य में यह क्रम बदल दिया गया है। उसमें सदैव पहले क्षत्रिय वर्ण आता है और फिर ब्राह्मण वण। ब्राह्मण-विरोधी धर्म-ग्रन्थो मे सर्वत्र यही क्रम देख कर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह किसी आकस्मिक घटना अथवा भूल का परिणाम न था, वरन् यह पूर्वनिर्धारित योजना के फलस्वरूप ही था। इस परिवर्तित क्रम के द्वारा क्षत्रिय वर्ण ब्राह्मण वर्ण की अपेक्षा अपनी अधिकतर प्रतिष्ठा, महत्ता और सम्मान्यता स्थापित करने की चेष्टा कर रहा था।

क्षत्रियो की इस चेष्टा के अन्य साक्ष्य भी मिलते हैं। ब्राह्मण-विरोधी दोनो ही धर्म यह दावा करते हैं कि उनके बद्ध और तीर्थंकर सदैव क्षत्रिय वर्ण में ही उत्पन्न हुए, ब्राह्मण वर्ण में कदापि नहीं। यही नही, जैन धर्म-ग्रन्थो के अनुसार पहले महावीर स्वामी एक ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न होने जा रहे थे लेकिन बाद को देवताओं ने उन्हें त्रिशला नामक क्षत्राणी के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया। कदाचित् ब्राह्मण-विरोधी धर्मों की दृष्टि में ब्राह्मण-कुल में तीर्थंकर का उत्पन्न होना महान् अनिष्टकर होता।

इस सम्पूर्ण पृष्ठभूमि मे ब्राह्मण-विरोधी दोनो नवीन धर्मों के महान् प्रचारकों का क्षत्रिय होना एक विशेष महत्व रखता है। हमारा निष्कर्ष है कि नवीन धर्मों की संस्थापना और प्रचार में ब्राह्मण-क्षत्रिय प्रतिस्पर्धा ने काफी योग दिया था। यह योग सबसे अधिक पूर्वी भारत में ही सम्भव था जहाँ ब्राह्मण-धर्म और ब्राह्मण सभ्यता का बल शेष भारत की अपेक्षा सबसे कम था। इस दृष्टि से पूर्वी भारत में ही दोनों नवीन धर्मों का उदय विशेष विचारणीय है।

३ **धार्मिक असन्तोष**—ई० पू० छठी शताब्दी तक आते-आते समाज के एक बडे भारी भाग में ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध घोर असन्तोष फैल गया था। बात यह थी कि उस समय तक ब्राह्मण-धर्म अपनी वैदिक सरलता छोडकर नितान्त जटिल एवं यान्त्रिक बन गया था। उसमें शुद्ध आचार अथवा आत्मनिवेदन के स्थान पर कर्मकाण्ड ही अधिक था। कर्मकाण्ड की क्रियायें इतनी जटिल और सविस्तार थीं कि उन्हें सम्पादित करने के लिये एक विशेषज्ञ-वर्ग-पुरोहितवर्ग की आवश्यकता अनिवार्य हो गई। इस प्रकार आराधक और आराध्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष न रह गया। उनके बीच में पुरोहितों की मध्यस्थता आ गई। बहुधा अपनी आस्था और कभी

कभी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए इस वर्ग ने समाज में जो धार्मिक मान्यतायें स्थापित कीं उन्हें समाज का एक भारी भाग असत्य और अनिष्टकर समझता था। ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध व्याप्त असन्तोष को हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अधिक स्पष्टतया समझ सकते हैं—

(१) **वेद-वाद**—वेद ब्राह्मण-धर्म की आधार-शिला थे। उनकी दृष्टि में ये सम्पूर्ण मानवी ज्ञान के अक्षय आगार थे। इन्हीं से उनकी सारी मान्यतायें निकली थीं। उनके समस्त ग्रन्थ इन्हीं वेदों पर आधारित थे। उनकी दृष्टि में वेद अपौरुषेय, अनादि और पूर्ण थे। वे ईश्वर-प्रदत्त अथवा ईश्वर के मुख से निकले थे।[१] उन्हें स्वयंभू के निश्वास से उद्भूत माना जाता था।[२] अतः ब्राह्मण संसार के समस्त सत्यों, विधियों और निषेधों तथा कर्म और अकर्म का निरूपण वेद-प्रामाण्य के आधार पर ही करते थे। वेदों को वे धर्म-मूल समझते थे। वेदों में जो कुछ कहा गया है वही धर्म है; उसके विरुद्ध जो कुछ भी है वह अधर्म है। इस प्रकार ब्राह्मणों ने समस्त ज्ञापक-हेतुओं और धर्म-प्रमाणों में वेदों को सर्वोपरि और निर्विवाद माना था।

यदि तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो ब्राह्मणों के उपर्युक्त विचारों में कोई अनर्थ नहीं था। 'वेद' का अर्थ ज्ञान होता है और ज्ञान परम सत्ता की भाँति ही अनादि, अक्षय और पूर्ण होता है। पूर्व ऋषियों का वास्तविक मन्तव्य यही था। पुनः ब्राह्मणों की अपने वेदों में अखण्ड आस्था यही प्रमाणित करती है कि प्रत्येक मनुष्य सदैव अपनी-अपनी निर्बल और सीमित गवेषणा से सत्य निरूपण नहीं कर सकता। बौद्धिक वाद-विवादों से जब हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते तो हमारे लिए एक मार्ग रह जाता है कि अपने प्राचीन मनीषी ऋषियों की आध्यात्मिक अनुभूतियों का ही प्रश्रय लें। वेद-प्रामाण्य के पीछे यही व्यावाहरिक तथ्य छिपा हुआ है[३] जिसे कालान्तर में न केवल ब्राह्मण-व्यवस्थाकार ही भूल गये बल्कि उनके आलोचक भी।

अस्तु, समाज में धीरे-धीरे एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो वेदों को पूर्ण अथवा उनके रचयिता ऋषियों को सर्वज्ञ मानने के लिय तैयार न था। उनकी दृष्टि में वैदिक प्रज्ञान भी सीमित और त्रुटिपूर्ण था। एक मात्र वेदों में आस्था और मन्त्र-पाठ मानवी प्रकर्ष के लिए पर्याप्त न थे। इस प्रकार के विचार हमें उपनिषदों में भी प्राप्त होते है। एक स्थान पर नारद कहते है 'भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद को जानता हूँ। भगवन्! मैने इतिहास-पुराण-रूप पचम वेद को, वेदों के वेद व्याकरण को, श्राद्ध कल्प, गति और उत्पाद ज्ञान को भी पढ़ा है। विधिशास्त्र, तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र को मै जानता हूँ। देवविद्या ब्राह्मविद्या, भूत-विद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या भी मै जानता हूँ। सर्पविद्या, देवजनविद्या, नृत्य, सगीत आदि का भी मैने अच्छी तरह अध्ययन कर लिया है, भगवन्! किन्तु यह सब जानकर भी, हे भगवन्! मैं केवल मन्त्रों को जानने वाला हूँ, आत्मा को जानने वाला नहीं हूँ।'[४]

१ ऋग्वेद, पुरुष सूक्त, १. ३७. ४. ३. १८' ३.

२ बृहदारण्यक० २.४.१०

३ The acceptance of the Veda is a practical admission that spiritual experience is a greater light in these matters than intellectual reason... It means only a serious attempt to solve the ultimate mystery of experience- Radhkrishnan—Indian Philosophy, Vol. II, p. 20

४ छान्दोग्य० ७-२

एक मात्र पुस्तक-ज्ञान के प्रति असन्तोष अन्यत्र भी प्रकट होता है।[1]

फिर भी समाज में वेदादि की अत्यधिक प्रतिष्ठा थी, इसके साक्ष्य बौद्ध साहित्य में भी मिलते हैं। वहीं वेदों के प्रति अन्ध-श्रद्धा का विरोध भी किया गया है। दीर्घ-निकाय के अम्बट्ठ-सुत्त में स्वयं महात्मा बुद्ध एक व्यक्ति से कहते हैं, 'द्रोण, जो तेरे पूर्व के ऋषि मन्त्रों के रचयिता, मन्त्रों के प्रवक्ता, जिनके पुराने मन्त्रपद (वेद) को इस समय ब्राह्मण गीत के अनुसार गान करते है, प्रोक्त के अनुसार प्रवचन करते हैं, भाषित के अनुसार भाषण करते हैं, स्वाध्यायित के अनुसार स्वाध्याय करते हैं, वाचित के अनुसार वाचन करते हैं, जैसे कि अट्ठक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भारद्वाज, वसिष्ठ, काश्यप, भृगु।'[2] इस उद्धरण से वेदों के प्रवचन भाषण, स्वाध्याय और वाचन में ब्राह्मणों की श्रद्धा झलकती है। इसी प्रकार का कथन अन्यत्र मिलता है 'हे गौतम, जो यह ब्राह्मणों का पुराना मन्त्रपद (वेद) है जिसमें ब्राह्मण पूर्ण रूप से निष्ठा रखते हैं, 'यही सत्य है और सब झूठ', इस विषय में, गौतम, आप क्या कहते हैं?'[3]

बौद्ध साहित्य में ऐसे बहुसख्यक उल्लेख हैं जिनसे प्रकट होता है कि समाज का एक भाग वेद प्रामाण्य के विषय को लेकर ब्राह्मण-धर्म की कटु आलोचना कर रहा था। महावीर स्वामी तथा महात्मा बुद्ध ने इसी भाग के विचारों का प्रकाशन किया था।

(२) **बहुदेववाद**—ब्राह्मण-धर्म नितान्त दैवतमय था। उसमें बहुसंख्यक देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। सृष्टि का कोई ऐसा भाग नहीं था जिसका अधिष्ठाता कोई-न-कोई देवी अथवा देवता न हो। मनुष्य के वाह्य एवं आन्तरिक जगत्, सभी देवाच्छन्न थे। इनमें कुछ देवता प्रकृति की, कुछ वानस्पतिक जगत् की, कुछ पाशविक जगत् की, भिन्न-भिन्न शक्तियों के रूप थे, कुछ अतिमानव और देवीकृत मानव थे तथा कुछ मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियों के साकार स्वरूप थे। ब्राह्मण ग्रन्थ ही क्या, बौद्ध एवं जैन धर्म-ग्रन्थों में भी बहुदेववाद का स्पष्ट चित्रण मिलता है। उदाहरणार्थ, बौद्ध ग्रन्थ चुल्लनिद्देस में देवी-देवताओं की निम्नलिखित कोटियाँ मिलती हैं—

(१) सम्मुतिदेवा—यथा राजा, रानियाँ, राजकुमारादि

(२) उपपत्तिदेवा—यथा साधारणरूप से समझे जाने वाले देवी-देवता

(३) विसुद्धिदेवा—यथा धर्माचार्य एवं उनके प्रमुख अनुयायी

इस कोटि में सर्वप्रमुख कोटि है 'उपपत्ति देवा' की। इसमें ३ उपकोटियाँ भी की गई हैं—

(१) भुम्माये—भूमिवासी देवी-देवता, यथा पशु, नाग आदि

(२) अन्तरिक्खचरा—अन्तरिक्षवासी देवी-देवता, यथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि

(३) आकासट्ठा—आकाशवासी देवी-देवता, यथा ब्रह्मा, इन्द्र आदि।

इसी प्रकार जैन औपपातिक सूत्र में भी देवी-देवताओं की एक लम्बी सूची मिलती है—

(१) वैमानिक—यथा ब्रह्मा, इन्द्र आदि

(२) ज्योतिषी—यथा सूर्य, चन्द्र आदि

१ बृहदारण्यक ३.५.१, ४.४.४.२१; तैत्तिरीय० २.४, कठ० २.२२

२ अम्बट्ठ सुत्त (दीघ० १।३)

३ चंकि-सुत्तन्त (मज्झिम० २.५.५.)

(३) वाणमन्तर—यथा भूत, प्रेत, किन्नर, गन्धर्व आदि

(४) भवनवासी—यथा अग्नि, वायु, समुद्र आदि

इनके अतिरिक्त बहुसख्यक (५) क्षितिशरीरी (६) जलशरीरी और (७) वायु-शरीरी देवी-देवता भी इस सूची मे सम्मिलित है। स्पष्टतया ये समस्त देवी-देवता युग-युग तक भारतवर्ष की लौकिक श्रद्धा-भक्ति के केन्द्र थे। इनके चतुर्दिक जनता अनेक प्रकार के यज्ञ, होम, उपासना, आराधना, जप-तप आदि करती थी। ब्राह्मण-धर्म प्रमुखतया लौकिक एव कर्मकाण्डी धर्म बन गया था। अत उसमे यह बहुदेववाद और उसकी महत्ता अधिक प्रचलित थी।

इसमे कोई सन्देह नही कि ऋग्वैदिक काल मे ही आर्यों ने एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर लिया था। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के नानारूपो के भीतर वे एक अखण्ड सत्ता का अस्तित्व स्वीकार कर चुके थे।[1] आगे चलकर उपनिषदो मे तो एकेश्वरवाद का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। इस एक ईश्वर को उन्होंने 'ब्रह्म' अथवा 'तत्' नाम से सम्बोधित किया।[2] सारे देवी-देवता और प्रकृति की विभिन्न शक्तियाँ इसी परम देव के अधीन है।[3] इस प्रकार की भावना औपनिषद साहित्य मे सर्वत्र व्याप्त है।

परन्तु इतना होते हुए भी यह मानना पडेगा कि समाज मे एकेश्वरवाद का सिद्धान्त कभी भी लोकप्रिय न हो सका। जनता अनेकानेक देवी-देवताओ मे ही अपनी आस्था बनाये रही। परन्तु समाज का चिन्तनशील वर्ग अति प्राचीनकाल से ही बहुदेववाद की निस्सारता का प्रतिपादन करता रहा था। उपनिषद-काल के ऋषियो ने यह स्पष्ट घोषणा की थी कि जब सर्वत्र ब्रह्म व्याप्त है तो फिर विभिन्न देवी-देवताओ की उपासना व्यर्थ है।

पुन समाज का एक वर्ग विशुद्ध मानव की स्वतन्त्र गरिमा की स्थापना का पक्ष-पाती था। वह मनुष्य को बहुसख्यक देवी-देवताओ की अधीनता से मुक्त करना चाहता था। उसका विचार था कि विशुद्ध मानव देवताओ से ऊपर है। आत्मो-त्कर्ष के लिए देवताओ की अधीनता आवश्यक नही। मनुष्य का कर्म ही उसका भाग्य-विधाता है। इस प्रकार के विचार सर्वप्रथम हमे स्वय ब्राह्मण-साहित्य मे ही मिलते है।[4] यद्यपि महात्मा बुद्ध ने सत्ता-सम्बन्धी प्रश्नो पर विचार नही किया तथापि उन्होंने ब्राह्मण-धर्म मे प्रतिपादित बहुदेववाद को मानवी उत्कर्ष के लिए निरर्थक बताया।

(३) **यज्ञवाद**—यजन-याजन ब्राह्मण-धर्म का एक प्रमुख अग था। ब्राह्मणो की दृष्टि मे यही श्रेय और प्रेय का दाता था। अपने अनेकानेक देवी-देवताओ की सन्तुष्टि के लिए ब्राह्मण-धर्म मे जिन यज्ञो, होमो एव धार्मिक क्रियाओ की कल्पना की थी उन्होने सम्पूर्ण धर्म को कर्मकाण्डी बना दिया। कर्मकाण्ड की विशेषज्ञता ने समाज में एक प्रबल पौरोहित्य को जन्म दिया। पुरोहितो की महत्ता इतनी बढी कि वे भी देवताओ के समान समझे जाने लगे।[5]

परन्तु इस कर्मकाण्ड का विकास ब्राह्मण (ग्रन्थ)-काल मे ही हुआ। ऐसा

१ ऋ० १. १२५,५, १०.८८.१५, १०.१०७.२

२ बृहदारण्यक० ९.१.

३ कठ० २.३.३, बृहदारण्यक० १.४६; १.४.७; १.४.१०; मुण्डक० १.१.१.

४ तैत्तिरीय ब्रा० ३।१२।३; शतपथ ब्रा० २।६; १२।९।११.

५ शतपथ ब्रा० २.२.२.६; २.४.३.१४

प्रतीत होता है कि इसके पूर्व ऋग्वैदिक काल में यज्ञ अत्यन्त विशुद्ध, सरल और व्यक्तिगत थे।[1] कोई भी व्यक्ति स्वतः मन्त्रो की सहायता से विशुद्ध यज्ञ सम्पन्न कर सकता था। उसमे न जटिलता थी, न हिंसा थी और न पुरोहितों की आवश्यकता।

परन्तु कालान्तर में यज्ञों की जटिलता और सख्या में विपुल वृद्धि हो गई। यज्ञ में भाग लेने वाले एक पुरोहित के स्थान पर सात पुरोहित आये और फिर उनकी सख्या १७ हो गई—होतृ और उसके तीन सहायक, उदगातृ और उसके तीन सहायक, अध्वर्यु और उसके तीन सहायक, ब्राह्मण और उसके तीन सहायक तथा ऋत्विज। इन सत्रह-सत्रह व्यक्तियो के द्वारा किये जाने वाले यज्ञ कितने जटिल, दीर्घकालीन और अपव्ययात्मक होते होगे, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। कोई-कोई यज्ञ तो वर्षों चलते थे। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ नामक पचमहायज्ञो के अतिरिक्त अग्न्याधेय, दर्शपूर्णमास, पिण्डपितृयज्ञ, चातुर्मास्य, वैश्वदेव, वरुणप्रघास, अतिरात्र, अप्तोर्याम अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञ प्रचलित थे। यज्ञो के साथ-साथ नाना प्रकार के होम, तर्पण एव धार्मिक क्रियायें भी जुडी हुई थी। बौद्ध साहित्य में भी 'अग्नि-हवन' दर्वी-होम, तुष-होम, कण-होम, तण्डुल-होम, घृत-होम, मुख मे घी लेकर कुल्ले से होम, और रुधिर-होम के उल्लेख मिलते है।[2] अन्यत्र विविध अग्निहवन और अग्नि-परिचरण के दृष्टान्त मिलते हैं।[3] अनेकानेक यज्ञो में पशु-हिंसा एक प्रधान अग थी। यज्ञ पितृलोक अथवा स्वर्गलोक को देने वाले भी समझे जाते थे। यज्ञों में प्रयुक्त सोमरस को पीकर ही मनुष्य अमरता प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार की ब्राह्मण-धारणाओ ने उनके यज्ञो को काफी मान्यता दे रखी थी। कहना न होगा कि ई० पू० छठी शताब्दी तक आते-आते ब्राह्मण-धर्मावलम्बी ऋग्वैदिक यज्ञों की सरलता, शुभ्रता और उदात्तता को बहुत-कुछ भूल चुके थे।

बौद्ध साहित्य में यज्ञसम्बन्धी अनेकानेक महत्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं। महाविजित नामक एक प्राचीनकाल राजा के एक विशुद्ध यज्ञ का वर्णन करते हुए महात्मा बुद्ध ने स्वय कहा है, 'ब्राह्मण, उस यज्ञ मे गाये नही मारी गई, बकरे-भेडें नही मारी गई, मुर्गे-सुअर नही काटे गये, न नाना प्रकार के प्राणियो की ही हत्या की गई। न यूप के लिए वृक्ष काटे गए, न परहिंसा के लिए दर्भ काटे गए। जो भी उसके दास, प्रेष्य, कर्मकर थे उन्होने दण्डाजित, भयर्ताजित हो, अश्रुमुख, रोते हए सेवा नही की। जो चाहा उसे किया, जो चाहा उसे नही किया। घी, तैल, मक्खन, दही, मधु और गुड से ही वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ।'[4] अन्य बौद्ध उद्धरणो से भी प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यज्ञ विशुद्ध रूप में होते थे। सुत्तनिपात (२ ७) के अनुसार सर्वप्रथम राजा ओक्काक (इक्ष्वाकु) के समय में ही स्वार्थी ब्राह्मणो ने हिंसात्मक यज्ञो की प्रथा चलाई। इसी प्रकार मज्झिमनिकाय-अट्ठकथा २ ५.५ का उल्लेख है कि 'अट्ठक आदि ऋषियो ने . मन्त्रो को परहिंसाशून्य ग्रथित किया था। उसमें दूसरे ब्राह्मणो ने प्राणिहिंसा आदि डाल कर तीन वेद बना बुद्ध-वचन से विरुद्ध किया। इन उद्धरणो से प्राचीनकालीन यज्ञ की शुभ्रता और बुद्धकालीन यज्ञ की विकृतता प्रकट होती है।

अतः कर्मकाण्ड की जटिलता और विकृतता को देखते हुए यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि उसके विरुद्ध समाज में प्रतिक्रिया होती। चिन्तनशील मनुष्यों

१ ऋ० १२.९.२
२ ब्रह्मजाल सुत्त (दीघ० १.१)
३ संयुत्त० ७.१.९
४ कूटदन्त-सुत्त (दीघ० १।५)

ने इन यान्त्रिक यज्ञो की अपेक्षा आचार-शुद्धि को ही अधिक महत्वपूर्ण समझा। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण-धर्म प्रणोदित कर्मकाण्ड आत्मोत्कर्ष के लिए अनावश्यक ही नही वरन् मोहपूर्ण और अनिष्टकर था।

स्वयं ऋग्वेद में ही कहीं-कहीं बाह्य यज्ञों की अपेक्षा श्रद्धामयी प्रार्थना को अधिक महत्व दिया गया है। उसमें एक स्थान पर कथन है कि 'इन्द्र से प्रार्थना करो। वह घृत अथवा मधु से अधिक मधुर होगी।'[1] सामवेद में जो स्पष्ट घोषणा की गई है कि 'देवताओं! हम यज्ञ-यूपों का प्रयोग नही करते। हम पशु-बलि नही देते। हम एकमात्र मन्त्रोच्चार से उपासना करते हैं।'[2] यह घोषणा हिंसात्मक यज्ञो का प्रतिपादन नहीं करती। ब्राह्मण-युग के पश्चात् जिन मनीषियो ने 'आरण्यकों' की रचना की वे निश्चित रूप से बाह्य यज्ञ-यागादि की अपेक्षा अरण्यों में रह कर आत्म-चिन्तन के द्वारा आन्तरिक शुद्धि में अधिक विश्वास करते थे। यही नही, स्वय ब्राह्मणो में भी श्रेष्ठतम कर्म को ही यज्ञ कहा गया है।[3] शतपथ ब्राह्मण का पुन. कथन है कि *ज्ञान के बिना यज्ञ करना भी मृत्यु के आवर्त में ही चक्कर लगाना है।*[4] कुछ काल पश्चात् उपनिषद-काल में हम यान्त्रिक यज्ञों के विरुद्ध अनेक उल्लेख पाते हैं। औपनिषद मनीषियो की दृष्टि में बाह्य यज्ञ निरर्थक थे।[5] उनसे पितृलोक की प्राप्ति भले ही हो जाय, परन्तु उनसे चरम लक्ष्य (ब्रह्म ज्ञान) की प्राप्ति नहीं हो सकती।[6] औपनिषद मनीषियो ने यज्ञों की यान्त्रिक अथवा भौतिक व्याख्या को छोड कर उन्हे आध्यात्मिक व्याख्या दी। उनके *'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म'* (श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है), *'यज्ञो वै ब्रह्म' (ब्रह्म ही यज्ञ है), 'यज्ञो वै विष्णु' (यज्ञ ही विष्णु है), 'आत्मा वै यज्ञ' (आत्मा ही यज्ञ है)* आदि अनकानेक उद्घोषो में यज्ञो की यही आध्यात्मिक व्याख्या छिपी है।

महात्मा बुद्ध ने इन्ही मनीषियो की आध्यात्मिक व्याख्या को और आगे बढाया और उसे नैतिक स्तर प्रदान किया। इस विषय पर वे एक स्थान पर स्वय कहते हैं कि 'ब्राह्मण, लकड़ी जलाकर शुद्धि मत मानो, यह बाहरी वस्तु है। कुशल लोग उससे शुद्धि नही बतलाते जो बाहर से भीतर की शुद्धि है। ब्राह्मण, मैं लकडी जलाना छोडकर भीतर ही ज्योति जलाता हूँ। नित्य आग वाला, नित्य एकाग्र चित्त वाला हो मैं ब्रह्मचर्य पालन करता हूँ। ब्राह्मण, यह तेरा अभिमान खरिया का भार है, क्रोध धुआ है, मिथ्या-भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के दमन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण, शीलरूपी तीर्थ वाला, जनों से प्रसन्तशसित निर्मल धर्म हृद है जिसमें वेदगू (वेदज्ञ) पुरुष नहाकर बिना भीगे शरीर पार उतरते हैं। ब्रह्म-प्राप्ति सत्य, धर्म, सयम, ब्रह्मचर्य पर आश्रित है। सो तु ऐसे हवन करने वालो को नमस्कार कर। उनको मैं पुरुष दम्य सारथी कहता हूँ।'

इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने ब्राह्मणों के यज्ञों हवनो और तीर्थ स्थानो का विरोध कर आचार की महत्ता पर जोर दिया।

४ सामाजिक एवं आर्थिक असन्तोष—ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत सम्पूर्ण सामा-

१ ऋ० २.२४.२०; ६.१५.४७
२ सामवेद १; २.९.२
३ ऐतरेय २.०११.२.६; शतपथ २.० १.७.१.५
४ शतपथ ब्रा० ६०.४.३.१०, १०.२. ६.१९.
५ प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः— मुण्डक० १.२.७.८
६ छान्दोग्य० १.१.१०; बृहदारण्यक० १.५.१६; मुण्डक० १.२.१०

जिक व्यवस्था चतुर्वर्ण पर निर्भर थी। परन्तु हम देखते हैं कि ई० पू० छठी शताब्दी तक आते-आते यह चतुर्वर्ण-व्यवस्था अपनी जटिलता के कारण बहुत-कुछ अव्यावहारिक हो गई थी। स्थान-स्थान पर मनुष्य उसके विरुद्ध आचरण कर रहे थे। वह सामाजिक परिवर्तनों के साथ कदम न बढ़ा सकी थी। परन्तु फिर भी ब्राह्मण-व्यवस्थाकार उसे समाज पर लादे रहने का प्रयत्न कर रहे थे। वे मनुष्य के समस्त अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण इसी प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के आधार पर कर रहे थे। जिस समय यह व्यवस्था प्रतिष्ठित की गई थी उस समय उसमें एकमात्र ४ ही वर्ण थे। परन्तु छठी शताब्दी तक आते-आते भिन्न-भिन्न व्यवसायों के अनुसरण करने, भिन्न-भिन्न प्रदेशों में रहने और अन्तर्जातीय विवाह करने के कारण समाज में बहुसंख्यक नई जातियाँ और उपजातियाँ उत्पन्न हो गई थीं। फिर आखिर इन नई जातियों और उपजातियों को चतुर्वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत कहाँ रखा जाय? उनके अधिकार और कर्तव्य कैसे निर्धारित किये जायँ? ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने कोई अन्य उपाय न देखकर इन नये कारणों से उद्भूत अधिकांश जातियों की गणना शूद्र वर्ग में की। अत. परिवर्तित परिस्थित में उत्पन्न भारतवर्ष का एक विशाल जन-समूह प्राय अधिकार-विहीन हो गया। उच्च वर्णों के प्रति उनके कर्तव्य-मात्र ही शेष रहे। शूद्रों की तत्कालीन हीन अवस्था का वर्णन त्रिपिटक में अनेक स्थलों पर मिलता है। इसी सम्बन्ध में मज्झिम निकाय में एक स्थान पर कथन है कि 'पहले हम ऐसा जानते थे, कहाँ इम्य (नीच), काले, ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न (शूद्र) मुण्डक श्रमण और कहाँ धर्म का जानना।'[1] निश्चय है कि यह ब्राह्मण-व्यवस्था तथा-कथित शूद्रों, स्वतन्त्र विचारकों और प्रगतिवादी सुधारकों को घोर असन्तोषजनक प्रतीत हो रही थी और वे ब्राह्मणों की इस व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करना चाहते थे।

अन्तर्जातीय अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के कारण वर्ण-व्यवस्था कितनी जटिल हो गई थी, यह एक उदाहरण से समझा जा सकता था। वैश्य पुरुष और ब्राह्मणी स्त्री का विवाह निन्दनीय था। परन्तु यदि ये धार्मिक प्रतिबन्ध का उल्लघन करके विवाह कर ही ले तो इनकी सन्तान न वैश्य रहेगी और न ब्राह्मण। वह 'वैदेहक' कहलायेगी। इसी प्रकार यदि कोई शूद्र किसी वेश्या के साथ विवाह कर ले तो उनकी सन्तान 'आयोगव' कहलायेगी। इन अन्तर्जातीय विवाहों से समाज में जो दो वर्ण-संकर जातियाँ हुई उनका पृथक-पृथक नामकरण किया गया। अब यदि ये दो वर्ण-संकर जातियाँ (वैदेहक और आयोगव) अन्तर्जातीय विवाह कर लें तो उनसे जो वर्ण-सकर सन्तान होगी वह 'मैत्रेयक' कहलायगी। इसी प्रकार यह चक्र न जाने कब तक चलता रहेगा। अनुलोम, प्रतिलोम और फिर इनमें उत्पन्न वर्ण-संकर जातियों के अनुलोम और प्रतिलोम, विवाहों ने मौलिक वर्ण-व्यवस्था को अव्यावहारिक बना दिया था। परन्तु फिर भी ब्राह्मण-व्यवस्थाकार उस मृतप्राण व्यवस्था के परित्याग के लिए तैयार न थे।

उधर, वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य के व्यवसाय भी निश्चित थे। परन्तु जातियों की अधिकता, आर्थिक समस्याओं और व्यक्तिगत अभिरुचि के कारण मनुष्य वर्ण-विरुद्ध व्यवसायों का भी अनुसरण करने लगे थे। स्वय ब्राह्मण भी बहु-संख्यक 'अधर्म्य' व्यवसायों के द्वारा अपना जीविका-निर्वाह कर रहे थे। दीर्घनिकाय में भूमिधर, कृषक, पशु-पालक, ज्योतिषी, गायक, चारण, चिकित्सक आदि ब्राह्मणों का वर्णन मिलता है। एक जातक में ब्राह्मणों के १० व्यवसायों का उल्लेख है।

१ मज्झिम, २.५.५

ब्राह्मण व्यवस्थाकारो ने वर्ण-विरुद्ध व्यवसाय के अनुसरण करने वाले व्यक्तियों के लिए जो दड-विधान बनाया था उससे भी यही प्रकट होता है कि समाज का बहुसख्यक वर्ग अनेक कारणो से अपने वर्ग के प्रतिकूल व्यवसायो को भी कर रहा था। इस प्रकार चतुर्वर्ण-व्यवस्था विच्छृखल हो गई थी और बहुत अशो मे समाज के लिए उसकी प्राचीन उपयोगिता जाती रही थी। परन्तु फिर भी परिवर्तित परिस्थिति मे, ब्राह्मण-व्यवस्थाकारों का समाज पर उसके बलात् आरोपण का सुदीर्घ प्रयत्न जन-मत के घोर असन्तोष का कारण बन गया था।

शूद्र-समुदाय की भाँति स्त्री-समुदाय भी नितान्त अधिकार-विहीन हो गया था। उसका अध्ययन का पुरातन अधिकार छिन चुका था।

(५) **ब्राह्मणों का नैतिक पतन**—ब्राह्मण देश के व्यवस्थाकार थे। उनके द्वारा निर्मित विधि-निषधो से ही समाज का सचालन हो रहा था। अपनी विद्वत्ता उदात्तता और साधनशील जीवन-प्रणाली के कारण उन्हें समाज मे मूर्धन्य स्थान मिला था। उसके साथ-साथ उन्हे अनेकानेक विशेषाधिकार और सुविधायें भी प्राप्त थी। परन्तु छठी शताब्दी तक आते-आते हम देखते हैं कि उनका घोर नैतिक पतन हो जाता है। वे अपने साधनामय जीवन से विमुख होकर बहुमुखी सासारिकता में प्रवृत्त होते हैं। बौद्ध और जैन साहित्य में वे 'अपेता', 'पथ भ्रष्ट' और 'धिक-जाति' कहे गए है।

ब्राह्मण-व्यवस्था के विरुद्ध एक ओर तो व्यवसायानुसरण के सम्बन्ध मे निर्मित उसके विधि-निषेधो के प्रति आर्थिक असन्तोष था और दूसरी ओर उसके अपव्ययात्मक यज्ञो के प्रति भी। हम पीछे कह चुके है कि इहलोक और परलोक मे परम कल्याण के लिए यज्ञयागादि आवश्यक समझे जाते थे। परन्तु ये यज्ञ मनुष्य करे कैसे? उनके लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता थी और यह विशेष ज्ञान पुरोहित-वर्ग में ही सन्निहित था। अत यज्ञ कराने के लिए पुरोहित की आवश्यकता थी—और पुरोहित भी सदैव एक-दो नही वरन अनेक, कभी-कभी तो सत्रह-सत्रह। फिर यज्ञ भी बहुधा दीर्घकालीन होते थे। इन सब बातो के कारण यज्ञ अत्यन्त अपव्ययात्मक हो गए थे और उनका कराना सामान्य मनुष्य के सीमित साधनो के परे था। अत. आर्थिक दृष्टिकोण से भी यज्ञों का विरोध अनिवार्य था।

इन समस्त सामाजिक एव आर्थिक कारणो से उत्पन्न चतुर्दिक असन्तोष को ही नवीन धर्मों के प्रचारको ने प्रकट किया था। बौद्ध साहित्य में अनेक स्थलो पर महात्मा बुद्ध ने वर्ण-भेद और जाति-भेद की निरर्थकता को प्रतिपादित करते हुए एकमात्र शुद्ध आचार पर बल दिया है।[1] वे स्पष्टतया कहते है कि जो कोई जाति-वाद में फँसे हैं, गोत्रवाद में फँसे हैं, मानवाद मे फँसे हैं, आवाह-विवाह मे फँसे हैं, वे अनुपम विद्याचरण सम्पदा से दूर हैं।[2] दूसरे स्थान पर वे आदेश देते हैं कि 'जाति मत पूछ, आचरण पूछ।'[3]

धार्मिक सुधारणा का बीज—इन छोटे-बडे अनेक कारणों को लेकर ई० पू० छठी शताब्दी में धार्मिक क्रान्ति हुई। हम देख चुके हैं कि इस क्रान्ति के बीज ब्राह्मणों (ग्रन्थो) में ही विद्यमान थे। आरण्यक मनीषियो ने अपने आत्म-चिन्तन से उन

१ मज्झिम नि० २.४.१०; १.४.१०; संयुत्त- नि० ७. १. ९

२ अम्बट्ठ सुत्त (दीघ नि० १।३)

३ सुन्दरिका-भारद्वाज सुत्त (संयुक्त नि० ७. १. ९)

बीजों को अंकुरित किया। कालान्तर में औपनिषद काल की महनीय तत्व-जिज्ञासा ने तो उन अंकुरो को पल्लवित करना भी प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार धार्मिक सुधारणा की लहर तो उपनिषद-काल मे ही दौड चली थी। वास्तव में उपनिषद-काल ने ई० पू० छठी शताब्दी की धार्मिक क्रान्ति के आगमन के हेतु पहले से ही मार्ग प्रशस्त कर दिया था। उन्हीं पुरातन तन्तुओं को अपनी बुद्धि एव आवश्यकता के अनुसार परिगृहीत, सशोधित, सवर्धित एव परित्यक्त कर नवीन धर्माचार्यों ने अपने-अपने मतो का ताना-बाना तैयार किया।[1] प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म तो बहुत-कुछ उपनिषदों पर ही आधारित है।

अन्तर्जातीय योग—यहाँ यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि धार्मिक सुधारणा में ब्राह्मणो और क्षत्रियो का समान रूप से योग था। ब्राह्मण (ग्रन्थ)-काल के सुधारवादी मनीषी प्राय ब्राह्मण ही थे। उपनिषद्-काल मे जहाँ क्षत्रिय तत्वज्ञ विद्यमान थे वहाँ याज्ञवल्क्य, भारद्वाज, शाण्डिल्य ऐसे मनीषी ऋषि भी दिखाई देते है। यही नही तत्वान्वेषण में गार्गी और मैत्रेयी ऐसी ब्राह्मणी विदुषियो ने भी पर्याप्त योग दिया। उधर, छठी शताब्दी में भी हम यही परिस्थिति देखते है। उदाहरणार्थ, बौद्ध धर्म के प्रचारक गौतम बुद्ध तो स्वय क्षत्रिय थे, परन्तु उनके सब से अधिक प्रख्यात एव विद्वान् शिष्य सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और महाकाश्यप ब्राह्मण थे जिन्होने नवजात बौद्ध धर्म को जीवन-दान देकर परिपुष्ट किया। अत पुरातन अथवा नवीन धर्म का विवेचन हम किसी सकीर्ण जातीय आधार पर नही कर सकते।

चतुर्दिक हलचल—जैसा कि पीछे अनेक बार कहा गया है, ई० पू० छठी शताब्दी भारतवर्ष के लिए धार्मिक हलचल का काल थी। इस समय देश मे विविध मत-मतान्तरो का प्रादुर्भाव हो रहा था। स्थान-स्थान पर श्रमण, भिक्षु और परिव्राजक घूम-घूम कर अपने-अपने 'वादो' का प्रचार कर रहे थे। सारा वातावरण धार्मिक वाद-विवाद से गूँज रहा था। इस उत्तेजनामयी परिस्थिति का सम्यक् ज्ञान बौद्ध साहित्य से हो जाता है। महात्मा बुद्ध के समकालीन वात्सायन नामक परिव्राजक ने इन धार्मिक वाद-विवादो का उल्लेख करते हुए ठीक ही कहा था कि 'मैं देखता हूँ कि बाल की खाल निकालनेवाले, दूसरो से वाद-विवाद मे सफल, निपुण कोई-कोई क्षत्रिय पण्डित मानो प्रज्ञा मे स्थित तत्व से दृष्टिगत को खण्डा-खण्डी करके चलते हैं—सुनते है श्रमण गौतम अमुक ग्राम या निगम मे आयेगा। वे प्रश्न तैयार करते है 'इस प्रश्न को हम श्रमण गौतम के पास जा पूछेंगे। 'ऐसा हमारे पूछने पर यदि वह ऐसा उत्तर देगा तो हम इस प्रकार शास्त्रार्थ करेंगे।'[2] मज्झिम निकाय मे ही अन्यत्र सच्चक निगण्ठ-पुत्र की गर्वोक्ति थी कि मैं ऐसे किसी श्रमण या ब्राह्मण. . . या अपने को सम्यक सम्बद्ध कहने वाले को भी नही देखता जो मेरे साथ शास्त्रार्थ करके कम्पित न हो जाय, जिसकी काँख से पसीना न छूटने लगे। यदि मैं अचेतन स्तम्भ से भी शास्त्रार्थ प्रारम्भ करूँ तो वह मेरे वाद के कारण कम्पित हो जायेगा, मनुष्य को तो बात ही क्या!' उसी ग्रन्थ मे उपाल गृहपति का अभिमान देखिये—'तो जैसे बलवान पुरुष किसी लम्बे बालो वाली भेड को बालो से पकड कर निकाले और हिलावे-डुलाये, उसी प्रकार मैं श्रमण गौतम के वाद को निकालूँगा, घुमाऊँगा और

१ 'The code of duties of the upanishads and early Buddhism are not different in essentials'—Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol. I. p. 429

२ चूल हत्थिपदोपम सुत्त (मज्झिम० १। ३। ७)

हिलाऊँ-डुलाऊँगा, अथवा जैसे कोई बड़ा पहलवान शौण्डिक कर्मकर (शराब बनाने वाला) भट्टी के बड़े पीपे को पानी वाले तालाब में फेंक कर कानों को पकड़ कर निकाले घुमाए, हिलाए-डुलाए, उसी प्रकार मैं श्रमण गौतम को करूँगा . . . अथवा जैसे साठ वर्ष का पटठा हाथी गहरे पोखरे में घुस कर 'सनधोवन' नामक खेल को खेले, उसी प्रकार मैं श्रमण गौतम को खिलाऊँगा।"[1]

इन तथा ऐसे ही अनेकानेक उद्धरणो से प्रकट होता है कि ई० पू० छठी शताब्दी का काल घोर तार्किक वाद-विवाद का काल था। चारों ओर समण ब्राह्मण, परिव्राजक तक्की (तार्किक) और वीमसी (मीमांसक) आदि के धर्मोद्घोष सुनाई पड़ रहे थे। महाबोधिजातक आदि बौद्ध ग्रन्थों में तत्कालीन ५ दार्शनिक सम्प्रदायो का उल्लेख किया गया है :—

(१) उच्छेदवादी—इसका विश्वास था कि मृत्यु के पश्चात सब कुछ नष्ट हो जाता है। अतः पुनर्जन्म और पुनर्लोक के सिद्धान्त मिथ्या हैं।

(२) अहेतुवादी—इसमें ससार की किसी भी वस्तु की उत्पत्ति का कोई हेतु अथवा कारण नही माना गया है। प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति आकस्मिक और अकारण है।

(३) पुव्वेकतावादी—इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्व जन्म का फल इस जन्म में भोगना पडता है।

(४) इस्सरकारणवादी—इसका मत था कि ईश्वर ही प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का कारण है।

(५) खत्तविज्जावादी—यह सम्प्रदाय स्वार्थ-सिद्धि को ही मनुष्य का चरम लक्ष्य मानता था। इसके मतानुसार अपने हित के लिए अपने माता-पिता की हत्या कर देना भी उपयुक्त है।

बौद्ध साहित्य में विभिन्न मतो के प्रचारक छह तेत्थिया(६ तैर्थिको) का वर्णन भी मिलता है।[2] ये सब महात्मा बुद्ध के समकालीन थे।[3] इनके निम्नलिखित नाम थे—

(१) पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप)—सुमंगल विलासिनी के अनुसार ये दास-पुत्र थे और कालान्तर में अपने स्वामी के घर से भाग गए थे। मार्ग में चोरों ने इनके कपड़े छीन लिए। अतः एक ग्राम में ये नंगे ही पहुँचे। वहाँ इन्होंने अपना परिचय देते हुए कहा कि 'मेरा नाम पूर्ण काश्यप बुद्ध है। पूर्ण इसलिए कि मैंने सारी विद्याओं को पढ़ा है, काश्यप इसलिए कि मैं ब्राह्मण हूँ और बुद्ध इसलिए कि मैंने सारी बुरी इच्छाओं का दमन किया है।' बौद्ध जनश्रुति के अनुसार इन्होंने बुद्ध के परिनिर्वाण के १६वें वर्ष कोशल की राजधानी श्रावस्ती के समीप जल-समाधि द्वारा अपना शरीर छोड़ दिया था।

महात्मा बुद्ध के सिद्धान्तों से इनका घोर विरोध था, क्योंकि जहाँ बौद्ध धर्म पूर्ण रूप से कर्म' के ऊपर निर्भर था वहाँ पूर्ण काश्यप नितान्त अक्रियावादी थे। इनका

१ उपालि सुत्त (मज्झिम० २. १. ६)
२ महासकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम० २.३.७)
३ अट्ठकथा पर आधारित इन ६ तैर्थिकों की जीवनी के लिए देखिए 'बुद्धिस्टिक स्टडीज' में डा० बी० सी० ला का 'सिक्स हेरेटिकल टीचर्स' नामक लेख।

मत था कि चोरी, डकैती, बेइमानी, हत्या, झूठ आदि में कोई पाप नहीं है और दान, जप, तप, सत्य, सयम आदि में कोई पुण्य नहीं है। सारांशतः इनके मतानुसार मनुष्य के कर्मों का कोई फल नहीं होता।[१]

(२) मक्खलिपुत्त गोसाल (मस्करीपुत्र गोशाल)—सुमगलविलासिनी के अनुसार ये भी दास-पुत्र थे। स्पष्ट है कि इनके पिता का नाम मस्करी था। गोशाला में उत्पन्न होने के कारण इनका नाम गोशाल पड़ा। युवावस्था में ये महावीर स्वामी के सम्पर्क में आए और इन्होंने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। परन्तु कुछ काल पश्चात् मतभेद हो जाने के कारण इन्होंने उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और 'आजीवक सम्प्रदाय' की नींव डाली। बहुत दिनों तक यह भारतवर्ष का एक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय बना रहा। अशोक ने इस सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए बराबर की पहाड़ियों में गुहा-निर्माण कराया था। इस सम्राट के ७वें स्तम्भ-लेख में ब्राह्मणो, निर्ग्रन्थो तथा अन्य पाषण्डों के साथ आजीवक-सम्प्रदाय का भी उल्लेख है। मौर्य-सम्राट दशरथ ने भी आजीवकों के प्रति अपनी उदार नीति सक्रम रखी। उसने भी नागार्जुनी पहाड़ियों में आजीवको के निवास के लिए तीन गुफायें बनवाईं। ऐसा प्रतीत होता है कि आजीवको की परम्परा बहुत दिनो तक चलती रही। छठी शताब्दी में वराहमिहिर ने आजीवक सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। कदाचित् नवीं शताब्दी तक आते-आते दिगम्बर जैन और आजीवको में बहुत-कुछ समानता आ गई थी। इसी से सूत्र कृतान्त के टीकाकार शीलाक ने दोनो सम्प्रदायो को एक ही समझा था।

बौद्ध और जैन दोनों धर्म-ग्रन्थो ने आजीवक सम्प्रदाय की घोर निन्दा की है। उनके अनुसार इसके अनुयायी नगे, मलयुक्त और एकाकी रहते थे तथा जिस प्रकार मछुआ मछलियो को फँसाता है उसी प्रकार ये मनुष्यों को फँसाया करते थे। परन्तु विरोधी ग्रन्थो के ये कथन एकपक्षीय एव अतिरंजित हैं। समाज मे आजीवको का काफी प्रभाव है। स्वय महात्मा बुद्ध गोशाल को अपना सबसे प्रबल विरोधी समझते थे।

बौद्ध साहित्य में इस सम्प्रदाय के संस्थापक मस्करिपुत्र गोशाल के मौलिक विचारों के विषय में अनेक उल्लेख मिलते हैं। उनमे वे अकर्मण्यतावादी बताए गए हैं। उनके मतानुसार समस्त प्राणी नियति के अधीन हैं। न उनमें बल है, न पराक्रम। वे अपनी शक्ति से कुछ भी नहीं कर सकते। वे भाग्य और सयोग के चक्कर में पड़कर ही उत्पन्न होते और दु ख-सुख भोगते हैं।[२] इन विचारों के कारण मस्करीपुत्र गोशाल नियतिवादी, दैववादी और अहेतुवादी भी कहे जा सकते हैं। स्पष्ट है कि उनके विचारों से महात्मा बुद्ध का पूर्ण मतभेद था। महात्मा बुद्ध के सिद्धान्तों के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों के कारण ही दु ख पाता था और कर्मों के कारण ही उस दु ख से विमुक्ति भी। अत. उनकी दृष्टि में नियतिवाद एक मिथ्या दर्शन था।

(३) अजित केस-कम्बलि (अजित केशकम्बलि)—इसका वास्तविक नाम केवल अजित था। परंतु मनुष्यों के बालो का कम्बल पहनने के कारण इन्हें केकम्बलि की उपाधि मिली। ये नितान्त भौतिकवादी थे। इनका मत था कि शरीर चार भूतो (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) से निर्मित है। मृत्यु पर ये चारो भूत विघटित हो जाते हैं और फिर कुछ भी शेष नहीं रहता। अत संसार में न कोई माता है और न कोई पिता। पाप-पुण्य, सत्य-असत्य, यज्ञ, होम, दान आदि की बातें तो झूठी हैं।[३]

१ सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० १.२)
२ सामञ्ञफल (दीघ० १.२)
३ सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० १.२)

(४) पकुध कच्चायन (प्रकुध कात्यायन)—ये घोर अकृततावादी थे। इनके मतानुसार संसार की ७ वस्तुएँ—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन—अकृत, अनिर्मित, अचल और अवध्य होती हैं। अतः संसार में न कोई किसी को मारता है और न कोई मारा ही जाता है। यदि कोई किसी को हथियार से काट भी डाले तो भी वह व्यक्ति नहीं मरता। इसी प्रकार यहाँ न कोई सुनने वाला है और न सुनाने वाला। इस प्रकार यह मत आध्यात्मिक और नैतिक जीवन की आवश्यकता नहीं समझता।

(५) संजय वेलट्ठिपुत्त (संजय वेलष्ठिपुत्र)—ये अनिश्चिततावादी अथवा सन्देहवादी थे। ये न तो यह कहते थे कि परलोक है और न यह कहते थे कि परलोक नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन-सम्बन्धी प्रत्येक प्रश्न पर इनका अनिश्चय था।

(६) निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र)—ये महावीर स्वामी थे। इनके विषय में हम आगे कहेंगे।

उपर्युक्त धर्माचार्यों के अतिरिक्त बहुसंख्यक अन्य धर्म-प्रचारक भी थे। इनमें से बहुतों के साथ तो महात्मा बुद्ध का शास्त्रार्थ भी हुआ था। बौद्ध साहित्य में इनके भी नाम मिलते हैं। इनमें से कुछ ये हैं—

(१) निग्रोध—दीर्घनिकाय के अनुसार इसके ३ हजार शिष्य थे। इसने महात्मा बुद्ध के साथ भिक्षु-जीवन पर विवाद किया था।

(२) वच्छगोत्त—इसने महात्मा बुद्ध के साथ 'गृहस्थ को मोक्ष-प्राप्ति का अधिकार' विषय पर शास्त्रार्थ किया था।

(३) कुण्डलिय—इसकी और महात्मा बुद्ध के बीच हुई वार्ता का विषय 'उपारम्भ' था।

(४) अजितो—'चेतन की ५०० अवस्थाओं' को विषय बना कर इसने महात्मा बुद्ध के साथ वाद-विवाद किया था।

(५) वरधारो—इसके साथ महात्मा बुद्ध की वार्ता का विषय 'चत्तारि धम्मपदानि' था।

बौद्ध ग्रन्थ उस समय प्रचलित ६२ मतो का उल्लेख करते हैं। विरोधी होने के कारण इन्हें 'मिथ्या दृष्टियाँ' अथवा 'मिथ्या धारणायें' कहा गया है। इनमें १८ मत ऐसे थे जो लोक और आत्मा के आदि के विषय में अपना विचार प्रकट करते थे। इन्हे 'पुब्बन्त कप्पिका' (पूर्वान्त कल्पिक) कहते थे। शेष ४४ मत लोक और आत्मा के अन्त के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते थे। इन्हे 'अपरन्तकाप्पिका' (अपरान्त-कल्पिक) कहते थे।

पुनः समस्त पूर्वान्त कल्पिक मत ५ विभागो में विभक्त थे—(१) शाश्वतवाद (२) नित्यता-अनित्यतावाद (३) सान्त-अनन्तवाद (४) अमरविक्षेपवाद और (५) अकारणवाद।

इसी प्रकार अपरान्तककल्पिक मत भी ५ विभागों में विभक्त था—(१) उद्धमाघातनिक-सञ्जीवाद (२) उद्धमाघतनिक-असञ्जीवाद (३) नेव सञ्जी-नासञ्जीवाद (४) उच्छेदवाद और (५) दिट्ठधम्मनिब्बाणवाद।

बौद्ध साहित्य की भाँति जैन साहित्य में भी ई० पू० छठी शताब्दी में व्याप्त भारतीय धार्मिक क्रान्ति का अच्छा चित्रण किया गया है। उससे भी यही प्रकट

होता है कि देश में नाना विषयों पर चिन्तन मनन अथवा जिज्ञासा करनेवाले तार्किकों और प्रचारकों का तांता लगा हुआ था। सब अपने-अपने मतो का विज्ञापन एवं प्रचार करते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूम रहे थे। उनके बीच बहुधा होनेवाले पारस्परिक वाद-विवाद की प्रतिध्वनियाँ भी जैन साहित्य में संरक्षित हैं। जैन साहित्य समस्त तत्कालीन मत-मतान्तरों में साधारणतया ४ सम्प्रदायों को विशेष महत्व देता है।[१]

(१) क्रियावादी—यह आत्मा के अस्तित्व एव मनुष्य के कर्म-फल में विश्वास करता था। इसकी १८० शाखाओ का उल्लेख है।

(२) अक्रियावादी—यह न आत्मा को मानता था और न कर्म-फल को। इसकी धारणा थी कि प्रत्येक वस्तु नश्वर है। इसकी ८४ शाखायें थी।

(३) अज्ञानवादी—ससार में जितने भी ज्ञान हैं वे सब परस्पर-विरोधी हैं। कोई भी ज्ञान पूर्ण अथवा शाश्वत् नही है। फिर मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञान की आवश्यकता ही क्या ? इस प्रकार यह मत मनुष्य के लिए आध्यात्मिक उन्नति की कोई आवश्यकता ही न समझता था। जैन साहित्य के अनुसार इस सम्प्रदाय की ६७ शाखायें थी।

(४) विनयवादी—इस सम्प्रदाय की दृष्टि में मनुष्य के लिए ज्ञान की अपेक्षा विनीत-भाव अधिक आवश्यक था। विनय से ही मनुष्य का परम कल्याण हो सकता है। इसकी ३२ शाखाओं का उल्लेख है।

इसके अतिरिक्त जैन साहित्य चण्डिदेवग, भूयकम्पिय, धम्मचिन्तक, पिण्डोलग, वारिखल, वाणीमग आदि अनेकानेक अन्य सम्प्रदायों का भी उल्लेख करता है।

देश में घूमने वाले सक्क समणों, तावस समणो, गेरुय समणों, आजीविय समणों तथा ऐसे ही अन्य बहुसख्यक श्रमणो का वर्णन मिलता है। फिर इन श्रमणो में भी अनेकानेक उपकोटियाँ थी। इन सबसे प्रकट होता है कि तत्कालीन भारत में तत्व-चिन्तन एव धार्मिक जिज्ञासा की कितनी प्रबल लहर आई हुई थी।

उपर्युक्त नाना सम्प्रदायो ने भारतीय तत्व-चिन्तन और धार्मिक गवेषण को अपने-अपने ढग से परिपुष्ट किया और अपनी उपयोगिता के समाप्त हो जाने पर वे स्वय इसी धरा में विलुप्त हो गए। इस महती धार्मिक क्रान्ति के गर्भ से निकले हुए समस्त धर्मों में बौद्ध धर्म और जैन धर्म सबसे सबल सिद्ध हुए। अपनी जीवनी-शक्ति, धार्मिक सगठन और लोकोपयोगिता के कारण ये आज भी विद्यमान हैं।

जैन और बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के आधार पर लौकिक धर्म

बौद्ध एव जैन धर्म-ग्रन्थ अपने विशुद्ध धर्म-तत्वो का तो प्रतिपादन करते ही हैं, साथ में वे जनता में प्रचलित अनेक विचार-पद्धतियो, पूजा-विधियो, अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों का भी वर्णन करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय समाज का शिक्षित और चिन्तनशील वर्ग धार्मिक क्रान्ति से उद्भूत सत्य-निरूपण में व्यस्त था, उस समय सामान्य लोक-समुदाय उस क्रान्ति से अपेक्षाकृत अस्पृष्ट अपनी पुरातन मान्यताओ को ही अपनाए हुए था। हम उसकी इन धार्मिक मान्यताओं पर 'लौकिक धर्म' के अन्तर्गत विचार करेंगे।

बहुदेववाद—जो बहुदेववाद ब्राह्मण-ग्रन्थो में उल्लिखित है उसका दिग्दर्शन हमें

१ सूयगडंग १. १२. १

बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी होता है। बौद्ध ग्रन्थ चुल्ल निद्देस में देवताओं को ३ कोटियों में रखा गया है—(१) सम्मुतिदेवा (२) उपपत्तिदेवा और (३) विसुद्धि-देवा। इनका वर्णन पीछे किया जा चुका है। जैन साहित्य में भी जिन वैमानिक, ज्योतिषी, वाणमन्तर, भवनवासी आदि देवताओं का वर्णन है उनका भी उल्लेख पहले हो चुका है।

इन समस्त देवताओं में इन्द्र का स्थान सर्वोपरि था। उसे सक्क और मघवा के नाम से भी पुकारा गया है। एक जातक में उल्लेख है कि वह तावतिंस नामक सर्वोच्च स्वर्ग के ३३ देवताओं का राजा है।[1] वहाँ वह मसक्कसार नामक अपने प्रासाद में रहता है।[2] जैन ग्रंथ कल्पसूत्र के अनुसार इन्द्र सदैव अनेकानेक देवताओ, आठ रानियो, तीन सभाओ, सात सेनाओ, उनके सात सेनापतियो और बहुसंख्यक अग-रक्षको से घिरा रहता है।[3]

बौद्ध चुल्ल निद्देश और जैन औपपातिक सूत्र में बम्मा (ब्रह्मा) का उल्लेख मिलता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह देवता अधिक लोकप्रिय न था। दोनों नवीन धर्मों के ग्रथो मे वैदिक देवता वायु, सोम और वरुण के उल्लेख भी मिलते हैं। परन्तु नवोदित देवताओं के समक्ष इन पुरातन देवताओ की महिमा घट गई थी। समाज में रुद् (रुद्र) की भी पूजा होती थी।[4] यह देवता शिव के नाम से भी प्रसिद्ध था।[5]

पाणिनि के कतिपय सूत्रो से प्रकट होता है कि उनके समय में वासुदेव-सम्प्रदाय प्रतिष्ठित था।[6] महाभारत में कृष्ण की पूजा का उल्लेख है। वहाँ उनके भाई बलदेव लागुलिन् के नाम से विख्यात हैं। जैन साहित्य में बलदेव-पूजा का वर्णन मिलता है।[7] जैन निशीथ चूर्णि में खंदमह (स्कन्द-महोत्सव) का वर्णन मिलता है।[8] इससे प्रकट होता है कि उस समय शकर के पुत्र स्कन्द की उपासना भी प्रचलित थी।

वेदो, ब्राह्मणो और उपनिषदों में नाग-पूजा अथवा सर्पपूजा का उल्लेख नही मिलता। परन्तु छठी शताब्दी तक आते-आते इनकी पूजा प्रतिष्ठित हो जाती है। ऐसा अनुमान होता है कि नाग-पूजा अनार्य-पूजा थी जो कालान्तर में आर्य-पूजा-पद्धति के भीतर प्रविष्ट हो गई थी। जैन धर्म नायाधम्मकहा में नागोत्सव का वर्णन भी मिलता है।[9] बौद्ध जातको के वर्णनानुसार नाग भूगर्भ में रहते थे जहाँ उनके बड़े-बड़े प्रासाद थे।[10] एक जातक में एक नाग-माता कहती है कि मेरी सन्तान जल-प्रकृति है।[11]

नागों के चिर-शत्रु गरुड की भी पूजा होती थी। यह देवता सुपण्ण (सुपर्ण) के नाम से भी प्रख्यात था। औपपातिक सूत्र में यह भवनवासी देवताओ की कोटि में रखा गया है।[12] बौद्ध जातकों में भी सुपण्ण का वर्णन आता है।[13]

बौद्ध और जैन साहित्य में यक्ष-पूजा के भी दृष्टान्त मिलते हैं। यक्षों के राजा

१ जातक १. २०२
२ जातक ६. २८९ गा० १२५५
३ कल्पसूत्र १. १३
४ निशोथचूर्णि १९. २३६
५ आवश्यक निर्युक्ति ५०९
६ पाणिनि ४.३.९९, १००
७ आवश्यक निर्युक्ति ४८१
८ निशोथ चूर्णि १९.११७४
९ नाया० ८.९५
१० जातक ६.१६७, जातक ६.२६९-७० गा० ११६४-७१
११ जातक ६.१६०
१२ औपपातिक सूत्र ३२-३७
१३ जातक ३.९१ गा० १०५८

का नाम वेस्सवन था।[1] यक्ष बहुधा मांसाहारी और क्रूर होते थे। इनके शरीर बड़े लम्बे-चौड़े होते थे। ये अपलक देखते थे।[2] जैन साहित्य में उदार और परोपकारी यक्षों का भी वर्णन मिलता है। एक बार समिल्ल नामक नगर में चेचक का भयंकर प्रकोप हुआ। वहाँ के असहाय निवासियों ने मणिभद्र नामक यक्ष की उपासना की। इस यक्ष ने करुणार्द्र होकर चेचक के प्रकोप को शान्त कर दिया।[3] कभी-कभी नारियाँ पुत्र-प्राप्ति की कामना से यक्षों की पूजा करती थी।[4]

समाज में भूतों की भी प्रतिष्ठा थी। उन्हें प्रसन्न करने के लिए बहुधा बलि-कर्म होता था।[5] बौद्ध साहित्य में भूतों की कोटि में पिशाचों, दानवों, राक्षसों आदि को रखा गया है।[6] नायाधम्मकहा[7] के अनुसार पिशाच मांसाहारी होते थे और ये प्राय. श्मशानों में रहते थे।

जैन और बौद्ध साहित्य में विज्जाहरो (विद्याधरों) का वर्णन मिलता है। ये प्रकृत्या अतिकामी होते थे। कभी-कभी ये पर-कन्याओं का अपहरण भी करते थे।[8] धजविहेठ जातक का साक्ष्य है कि रात भर वे काम-क्रीड़ाओं में निमग्न रहते थे और दिन को पाप-मोचन के निमित्त भाँति-भाँति प्रायश्चित्त करते थे।

जन-समुदाय वृक्षों की भी पूजा करता था। उन पर बलि और पुष्पादि चढ़ाते थे।[9] यह भी विश्वास प्रचलित था कि वृक्षों पर देवता निवास करते हैं।[10]

बौद्धों की कामवचर देव-कोटि में चार लोकपालों का वर्णन मिलता है—

(१) धतरट्ठ—यह पूर्व दिशा का अध्यक्ष था।
(२) विरुपक्ख—यह पश्चिम दिशा का अध्यक्ष था।
(३) विरुल्ह—यह दक्षिण का अध्यक्ष था।
(४) वेस्सवन—यह उत्तर दिशा का अध्यक्ष था।

जैन औपपातिक सूत्र में इनकी गणना वैमानिक देवताओं में की गई है।

देवताओं के साथ-साथ देवियों की भी पूजा होती थी। जातकों[11] का कथन है कि शक्क (इन्द्र) के ४ पुत्रियाँ थीं—आसा, सद्धा, सिरी और हिरी। वास्तव में ये मनुष्य की चार मनोवृत्तियों (आशा, श्रद्धा, श्री और ह्री) का दैवीकरण था। इन सब देवियों में प्रमुख थी श्री। यह लक्ष्मी के नाम से भी प्रख्यात थी। इसे लोकपाल धतरट्ठ की पुत्री भी कहा गया है। कालकण्णि जातक में दुर्भाग्य और दुःख की देवी कालकणि का भी वर्णन मिलता है। यह पश्चिम दिशा में लोकपाल विरुपक्ख की पुत्री थी। लक्ष्मी और कालकर्णि में सहज विरोध था। जैन साहित्य में अन्य देवी चण्डिया (दुर्गा) का भी वर्णन मिलता है। इसे प्रसन्न करने के लिए हिंसात्मक यज्ञ किए जाते थे।[12] अन्य देवियों में गगा[13] और मणिमेखला[14] (समुद्रदेवी) प्रमुख थीं।

१ जातक १.२२८
२ जातक ६.२०७. जातक ४.४९१
३ पिण्ड निर्युक्ति १४५
४ नायाधम्मकहा २.४९, आवश्यक चूर्णि २.१९२
५ आवश्यक चूर्णि २.१६२.
६ जातक ३,५२७, जातक १,३०३, जातक २.३९७ इत्यादि
७ नाया० ८.९९
८ उत्तराध्ययन टीका ९.१३७
९ जातक १.१६९
१० जातक ४.१५२
११ जातक ६.२९२
१२ आचारांग चूर्णि ६१
१३ जातक २.४२२
१४ जातक ६—३५.

अपने देवी-देवताओं की पूजा-उपासना करने के साथ-साथ जन-समुदाय अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों में आस्था रखता था। वह मन्त्र, भूतविद्या, दिव्यमाया आदि के द्वारा अपने दुःखों से छुटकारा पाने का प्रयास करता था।[1] समाज में अनेकानेक नैमित्तिक, नक्खत्तजाननक, लक्खन-पाठन आदि थे जो पहले से ही अपनी श्रद्धालु जनता को सुख-दुःख की सूचना दे देते थे।[2] जैन ग्रन्थ नायाधम्मकहा में बहुसंख्यक जन्त्र-मन्त्रों का उल्लेख है जिनके द्वारा मनुष्य वशीकरण, रोगनिवारण, सौन्दर्य-प्राप्ति आदि करता था। अपनी योग-विद्या के द्वारा भिक्षु जल और वायु के ऊपर चल सकते थे।[3] दक्षिण दिशा में यदि किसी को मछली, शृंगाल अथवा पताका का दर्शन हो तो वह शुभ माना जाता था।[4] परन्तु यदि कोई बाँयीं दिशा से किसी कुत्ते, वृद्धा, लकड़हारे अथवा गर्भिणी स्त्री को आते देखे तो वह अशुभ समझा जाता था।[5] प्रत्येक पक्ष की चतुर्थी, षष्ठी, अष्ठमी, नवमी और द्वादशी पवित्र और शुभ तिथियाँ मानी जाती थीं।[6] मनुष्य अपने शुभ एवं मांगलिक कर्म बहुधा इन्हीं तिथियों पर करते थे। देश में प्रयाग, दोण, तिम्बरु आदि अनेक पवित्र तीर्थ थे। वहाँ जाकर लोक स्नान करते थे।[7]

इस प्रकार जैन और बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में वर्णित धार्मिक मान्यताओं से प्रकट होता है कि साधारण जनता पर बौद्धिक क्रान्ति का विशेष प्रभाव न पड़ा था। यह क्रान्ति कदाचित् समाज के उच्च एवं शिक्षित वर्ग को ही अधिक प्रभावित कर पाई थी। गाँवों में रहने वाला परम्परानुरागी भारतीय बहुत-कुछ उसके प्रति उदासीन ही रहा। वह अपने पुरातन बहुदेववाद, यज्ञवाद, रूढ़िवाद और अन्धविश्वासों को सहसा छोड़ देने के लिए प्रस्तुत न था। प्रारम्भ में नवीन धर्मों ने उसके इस पुरातनवाद का विरोध किया और उसे आमूल नष्ट कर देने का प्रबल प्रयास किया। परन्तु उसे अधिक सफलता न मिली। अन्त में लोक-प्रिय होने के लिए इन धर्मों ने शनैः शनैः लोक-धर्म की उन अनेकानेक पद्धतियों और प्रणालियों को अपना लिया जिनका प्रारम्भ में उन्होंने विरोध किया था।

१ जातक १.१२०, १२२; जातक २, ५९
२ जातक १.२९०; २.२१; ४.१२४
३ निशीथ चूर्णि ७४८, ८७४.
४ ओघ भाष्य १०८
५ बृहत्कल्प भाष्य १.१५४५, ओघ भाष्य ८२.७४
६ व्यवहार भाष्य १.१२५
७ जातक ५.२८८ गा० १९९, जातक ६.४५८ गा० १६२२-४, जातक ३.५११, जातक १.२९६-९.

१५

जैन धर्म

ई० पू० छठी शताब्दी की धार्मिक क्रान्ति में जैन धर्म ने विशेष योग दिया। वह तत्कालीन उन धर्मों में एक प्रमुख स्थान रखता है जिन्होंने भारतवर्ष के धार्मिक जीवन पर प्रचुर प्रभाव डाला है। यद्यपि बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म कभी भी देश-व्यापी धर्म न बन सका, उसका विदेशों में भी प्रचार प्रायः नगण्य ही रहा, तथापि यह महत्वपूर्ण बात है कि वह अपनी जन्मभूमि भारत में बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक चिरस्थायी हुआ। आज बौद्ध धर्म इस देश में लुप्तप्राय हो गया है, परन्तु फिर भी जैन धर्म के अनुयायी यहाँ बहुसख्या में पाये जाते हैं। देश में स्थान-स्थान पर उनके मन्दिर हैं। समय-समय पर उनके धार्मिक पर्व और त्योहार मनाये जाते है। इस सब कारणों से भारतवर्ष में आज भी जैन धर्म की सुदीर्घ परम्परा पर्याप्तरूप से सबल है।

प्राचीनता—यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जैन धर्म ई० पू० छठी शताब्दी की देन नहीं है। उसका इतिहास बहुत पुराना है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि जैन धर्म पूर्वैतिहासिक है। वे इसका सम्बन्ध मोहनजोदड़ों में प्राप्त योगि-मूर्ति के साथ जोड़ते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वान् ऋग्वेद[1] में उल्लिखित तपस्वियों और जैन श्रमणों में सम्बन्ध-स्थापना करते हैं। वैदिक साहित्य में प्राचीन जैन तीर्थंकरो के नामो का भी आभास मिलता है[2] जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा। इसमें कोई सन्देह नही कि भारतवर्ष में श्रमण-विचार-धारा अति प्राचीन है, परन्तु यह कहना बड़ा ही सन्दिग्ध है कि इस धारा के उपलब्ध समस्त स्रोत जैन विचार-धारा के ही स्वरूप है। हम पहले कह चुके हैं कि यह श्रमण-विचार-धारा मूलतः अनार्य प्रतीत होती है। जैन धर्म इसी प्राचीन अनार्य विचार-धारा के प्रभाव से प्रादुर्भूत हुआ था।

जैन तीर्थंकर—जैन धर्म के सस्थापक एव जितेन्द्रिय तथा ज्ञानप्राप्त महात्माओं की उपाधि 'तीर्थंकर' है। यह शब्द 'तीर्थ' से बना है जिसका अर्थ उस निमित्त से है जो मनुष्य को ससार-सागर से पार उतारे।[3] ऐसे निमित्त को निर्मित करने वाले को 'तीर्थंकर' कहते हैं। जैन साहित्य के अनुसार जैन धर्म में २४ तीर्थंकर हुए हैं—(१) ऋषभ (२) अजीत (३) सम्भव (४) अभिनन्दन (५) सुमति (६) पद्म-प्रभ (७) सुपार्श्व (८) चन्द्रप्रभ (९) सुविधि (१०) शीतल (११) श्रेयांस (१२)

१ ऋग्वेद का केशी-सूक्त—१०. १३६

२, ३ तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति।

वासुपूज्य (१३) विमल (१४) अनन्त (१५) धर्म (१६) शान्ति (१७) कुन्थ (१८) अर (१९) मतिल (२०) मुनिसुव्रत (२१) नेमि (२२) अरिष्ट नेमि (२३) पार्श्व (२४) महावीर स्वामी। इनमें से बहुतों की इतिहासवेत्ता अभी तक निश्चित नहीं हो सकी है।

प्रथम तीर्थंकर-ऋषभदेव—जैन अनुश्रुति के अनुसार उनके प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे। ये जिस समय उत्पन्न हुए थे उस समय भारतवर्ष प्रायः असभ्य और बर्बर था। यहाँ के निवासी भोजन पकाने के लिए अग्नि का प्रयोग तक न जानते थे। वे पूर्ण रूप से निरक्षर थे। उस समय तक विवाह की संस्था का भी प्रादुर्भाव न हुआ था। लोग मृतकों के शवों को न गाड़ते थे और न जलाते थे। वे पशु-पक्षियों के खाने के लिए यों ही छोड़ दिए जाते थे। ऐसी बर्बर अवस्था में ललित कलादि का पाया जाना तो असम्भव ही था। इस प्रकार के असभ्य समाज को सभ्यता का प्रथम पाठ ऋषभदेव ने ही पढ़ाया। जैन अनुश्रुति के अनुसार ये इक्ष्वाकुभूमि (अयोध्या) में उत्पन्न हुए थे। ये चक्रवर्ती राजा थे। ये सैंकड़ों वर्षों तक जीवित रहे। दीर्घ-कालीन शासन-काल के पश्चात् इन्होंने अपने पुत्र भरत को राज्याधिकारी बनाया और ये स्वयं तीर्थंकर हो गए। इनकी मृत्यु अष्टापद(कैलाश)पर्वत पर हुई थी।[1] कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद में एक स्थान पर इनका नामोल्लेख मिलता है।[2] यजुर्वेद में एक स्थान पर यह लिखा हुआ है कि 'ऋषभ धर्म प्रवर्तकों में श्रेष्ठ है।' इस पर कुछ विद्वानों का मत है कि यहाँ ऋषभ से ऋषभ का ही अर्थ समझना चाहिए। अथर्ववेद[3] और गोपथ ब्राह्मण[4] में स्वयम्भू काश्यप का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानों ने इनका समीकरण ऋषभदेव से किया है। परन्तु ये समस्त निष्कर्ष असन्दिग्ध नहीं है। हाँ, यह सम्भव है कि श्रीमद्भागवत[5] में उल्लिखित भगवान् ऋषभदेव प्रथम जैन तीर्थंकर ही हों।

अन्य तीर्थंकरों के उल्लेख—कुछ विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि यजुर्वेद में एक स्थान पर दूसरे जैन तीर्थंकर अजितनाथ का नामोल्लेख है। इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद १.१८०. १० और १०. १७८.१ में बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का भी उल्लेख है।

तेईसवें तीर्थंकर—पार्श्वनाथ—प्राय प्रत्येक विद्वान् यह मानता है कि ये ऐतिहासिक पुरुष थे। जैन साहित्य के अनुसार ब्राह्मण साहित्य में भी इनका उल्लेख है। ब्राह्मण पौराणिक परम्परा में इन्हें भगवान् के २४ अवतारों में स्थान दिया गया है। हिन्दी साहित्य के कवि-चूड़ामणि तुलसीदास ने इनकी भगवान के रूप में ही वन्दना की है।[6]

पार्श्वनाथ तेईसवे तीर्थंकर थे और इनका जन्म महावीर से लगभग २५० वर्ष पूर्व हुआ था। ये काशीनरेश अश्वसेन (आससेन) के पुत्र थे। इनकी माता का नाम वामा था। इनका विवाह कुशस्थल देश की राजकुमारी प्रभावती के साथ हुआ था। ३० वर्ष की आयु तक इन्होंने राजकीय सुख-समृद्धि के बीच जीवन व्यतीत किया। तत्पश्चात् इन्होंने वैराग्य ग्रहण किया। ८३ दिवसों की घोर तपस्या के पश्चात्

१ कल्पसूत्र ७. २०६-२२८
२ ऋ० १०. १६६. १
३ अथर्व० ११. ५. २४-२६
४ गोपथ ब्रा० पूर्व २. ८
५ श्रीमद्भागवत ५. २८
६ जिहि नाथ पारस जुगल
पंकज चित चरनन जास।
रिधि सिद्धि कमला अजिर
राजित भजत तुलसीदास॥

८४वें दिन इन्होंने सम्मेय पर्वत पर ज्ञान प्राप्त किया।[१] ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् इन्होंने ७० वर्ष तक धर्म-प्रचार किया। इस बीच ये राजगृह, साकेत, कौशाम्बी हस्तिनापुर, श्रावस्ती आदि नगरों में गए। इनके सर्वप्रथम अनुयायी स्वयं इनकी माता और पत्नी थी। १०० वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हुई।

जैन साहित्य में पार्श्व के अनेक अनुयायियो के नाम मिलते हैं। स्वय महावीर स्वामी के मता-पिता भी इन्हीं पार्श्व के अनुयायी थे। पार्श्व के अनेक अनुयायी महावीर स्वामी के समय में भी विद्यमान थे। ये निर्ग्रन्थ कहलाते थे। सांसारिक बन्धनो (ग्रन्थियो) से विमुक्त हो जाने के कारण ही उनकी यह उपाधि थी। इनमें से बहुतो के साथ महावीर स्वामी का मिलन और विवाद भी हुआ था। उदाहरणार्थ, गांगेय नामक पार्श्वानुयायी ने महावीर स्वामी के साथ वाद-विवाद किया था और तदुपरान्त वह उनका शिष्य बन गया था।[२] यही हाल कालासवेसियपुत्त नामक दूसरे पार्श्वानुयायी का हुआ।[३] इसी प्रकार उदय पेढालपुत्त भी पार्श्व का अनुयायी था। कालान्तर में वह भी महावीर स्वामी का शिष्य बन गया।[४] यही नही, पार्श्व की कुछ अनुयायिनी स्त्रियो का भी उल्लेख मिलता है। इनमे पुष्पचूला पार्श्व के भिक्षुणी-संघ की अध्यक्षा थी।[५]

जैन साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि पार्श्वनाथ के समय में निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय भलीभाँति संगठित था। उन्होंने ४ गणो (सघो) की स्थापना की थी। प्रत्येक गण एक-एक गणधर के निरीक्षण में कार्य करता था।[६] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पार्श्व के अनुयायियो में स्त्री और पुरुष दोनों थे।

पार्श्वनाथ के सिद्धान्त—जैन साहित्य पार्श्वनाथ के कुछ सिद्धान्तो पर प्रकाश डालता है। ये ब्राह्मणो के देववाद और यज्ञवाद के विरोधी थे। ये वेद-प्रामाण्य को न मानते थे। साथ ही इन्होने ब्राह्मणो की हिंसात्मक यज्ञो का भी घोर विरोध किया था। इन्हें जाति-व्यवस्था पर विश्वास न था। इनकी दृष्टि में प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी जाति का क्यो न हो, मोक्ष का अधिकारी है। अपने धर्म मे नारियो को दीक्षित करके इन्होने अपनी उदार मनोवृति का परिचय दिया था। अहिंसा के ऊपर इन्होने विशेष बल दिया था। इनके मतानुसार तपश्चर्या, कायाक्लेशादि मोक्ष-प्राप्ति के लिए एकमात्र साधन हैं। इन्होने अपने भिक्षुओ के लिए चतुर्व्रतो की व्यवस्था की थी—

(१) मै जीवित प्राणियो की हिंसा न करूँगा
(२) मै सदा सत्य बोलूँगा
(३) मै चोरी नही करूँगा
(४) मै कोई सम्पत्ति नही रखूँगा

चौबीसवें तीर्थंकर—महावीर स्वामी—उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि महावीर स्वामी जैन धर्म के सस्थापक न थे। जैन धर्म उनके प्रादुर्भाव के पूर्व ही भलीभाँति सगठित था। उसकी अपनी व्यवस्था, भिक्षु-भिक्षुणियो के लिए विधि-निषेध थे। उनके जीवन-यापन की एक निश्चित प्रणाली आविर्भूत हो चुकी थी। उनके संघो की स्थापना हो चुकी थी जो पृथक्-पृथक् गणधरो के निरीक्षण मे कार्य कर रहे थे। ऐसी स्थिति में हम महावीर स्वामी को प्राचीन जैन धर्म के सुधारक

१ कल्पसूत्र ६. १४९-१६९
२ भगवती सूत्र ९.२२
३ वही १. ९.
४ सूयगडंग २. ७
५ नायाधम्मकहा २. १
६ कल्पसूत्र ६. १६०

के रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं। हम आगे उल्लेख करेंगे कि इन्होने प्राचीन जैन धर्म के सिद्धान्तो में कुछ -कुछ सवर्धन और परिवर्तन करके उसे पुन. सगठित किया और अपनी योग्यता, सगठन-शीलता और पुनीत प्रतिभा की सहायता से उसकी अभूतपूर्व उन्नति की। परन्तु यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि महावीर स्वामी के जीवन-काल मे जैन धर्म मगध और अग में ही प्रचलित था। हाँ, उनको मृत्यु के पश्चात् उनके अनुयायियो ने उसे भारत के अन्य भागो में भी प्रचलित किया। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन धर्मावलम्बियो ने कालान्तर मे विदेशो में भी अपने धर्म के प्रचार का कुछ प्रयत्न किया, परन्तु यह प्रचार नगण्य ही रहा। सम्राट् अशोक के पुत्र महेन्द्र और संघ-मित्रा धर्म-प्रचार के निमित्त जब लका गए थे तो उन्होने वहाँ पहले से ही स्थापित निर्ग्रन्थ सघ को पाया।[1] महावश के कथनानुसार सिहली नरेश ने प्राचीन नगर अनुराधपुर में निग्रन्थो के लिए भी आश्रम बनवाये थे।

महावीर स्वामी की जीवनी—प्राचीन काल में उत्तरी बिहार मे एक वज्जि संघ था। इसमे ८ गणतन्त्रात्मक राज्य सम्मिलित थे। इसकी राजधानी वैशाली थी। इसी वज्जिसघ में कुण्डग्राम के ज्ञातृक क्षत्रियो का एक छोटा सा राज्य था। इसके सरदार का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ का विवाह वैशाली की लिच्छवी राजकुमारी त्रिशला के साथ हुआ था। यह लिच्छवियो के सरदार चेटक की बहन थी। चेटक अपने समय का प्रसिद्ध व्यक्ति है। इसी की पुत्री मगध-नरेश बिम्बिसार की पत्नी और अजातशत्रु की माता थी। इस प्रकार ज्ञातृक सिद्धार्थ का सम्बन्ध अपने समय के प्रतिष्ठित क्षत्रिय-वशो से था। इसी सिद्धार्थ के अपनी पत्नी त्रिशला से तीन संतानें हुई—दो पुत्र और एक पुत्री—सब से छोटे पुत्र का नाम वर्धमान था। यही कालान्तर में महावीर स्वामी के नाम से इतिहास प्रसिद्ध हुआ। महावीर स्वामी के पिता सिद्धार्थ के दो नाम और भी मिलते है—श्रेयाम्स और यसाम्स। इसी प्रकार इनकी माता त्रिशला कही कहीं पर प्रियकारिणी और विदेहदत्ता के नाम से भी सम्बोधित हुई हैं।

जैन साहित्य का कथन है कि महावीर स्वामी पहले ब्राह्मण ऋषभदत्त की पत्नी देवानन्दा के गर्भ मे आए, परन्तु देवताओ को यह अभीष्ट न था कि जैन तीर्थंकर किसी ब्राह्मण के घर मे उत्पन्न हों, क्योकि अभी तक सभी तीर्थंकर क्षत्रिय-वश मे ही उत्पन्न हुए थे। अत इन्द्र ने महावीर स्वामी को ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ से हटाकर क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया।[2] इस कथानक से पुन. ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गो की सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये पारस्परिक प्रतिस्पर्धा पर प्रकाश पड़ता है।

महात्मा बुद्ध के समान महावीर स्वामी के जन्म पर भी देवज्ञो ने भविष्यवाणी की कि यह शिशु बड़ा होकर या तो चक्रवर्ती राजा बनेगा या परमज्ञानी भिक्षु।[3]

प्रारम्भ में वर्धमान का जीवन राजकीय समृद्धि और विलासिता के बीच में बीता। उन्हें सर्वप्रकार की राजोचित विद्याओ की शिक्षा दी गई। युवा होने पर उनका यशोदा नाम की एक राजकुमारी के साथ विवाह कर दिया गया। कालान्तर में उनके एक पुत्री उत्पन्न हुई। इसका विवाह जमालि नामक क्षत्रिय के साथ हुआ था। महावीर स्वामी का यह दामाद भी कालान्तर में उनका शिष्य बन गया था।

जब वर्धमान ३० वर्ष के हुए तो उनके पिता सिद्धार्थ की मृत्यु हो गई। अब

१ महावंश १०. ९७
२ कल्पसूत्र और सूत्रकृतंग के अनुसार।
३ वही

वर्धमान का बड़ा भाई नन्दिवर्धन 'राजा' हुआ। इधर, वर्धमान का स्वभाव प्रारम्भ से ही चिन्तनशील था। इस समय तक उनकी निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति और भी अधिक दृढ़वती हो गई थी। अतः उन्होंने अपने बड़े भाई की आज्ञा लेकर गृह-त्याग कर दिया और वे जैन भिक्षु बन गए। इसके पश्चात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने घोर तपस्या करनी प्रारम्भ की। कल्पसूत्र में इसका सविस्तार वर्णन मिलता है—

'भिक्षु महावीर ने एक वर्ष और एक मास तक वस्त्र धारण किए, परन्तु इसके पश्चात् वे पूर्णरूप से नगे रहने लगे। वे भोजन भी हथेली पर ही ग्रहण करने लगे। १२ वर्ष तक वे अपने शरीर की पूर्णतः उपेक्षा कर सब प्रकार के कष्ट सहते रहे।... उन्होंने ससार के समस्त बधनो का उच्छेद कर दिया। ससार से वे सर्वथा निर्लिप्त हो गए। आकाश की भाँति उन्हे किसी आश्रय की आवश्यकता न रही। वायु की भाँति वे निर्बाध हो गए। शरद् काल के जल की भाँति उनका हृदय शुद्ध हो गया। कमल-पत्र की भाँति वे किसी मे भी लिप्त न होते थे। कछुए की भाँति उन्होने अपनी इन्द्रियो को वशीभूत कर लिया। गैंडे के सीग की भाँति वे एकाकी हो गए। पक्षी की भाँति वे स्वतन्त्र हो गए।'[1]

इसी प्रकार आचाराग सूत्र का कथन है कि वे एक वर्ष और एक मास तक एक ही वस्त्र पहने रहे। परिणाम यह हुआ कि जीर्ण-शीर्ण होकर गिर गए। अब वर्धमान ने नगे रहना प्रारम्भ किया। उनके नग्न शरीर पर अनेक प्रकार के कीट-कीटाणु चढ़ने लगे और उन्हे काटने लगे। परन्तु वे पूर्णत उदासीन रहे। जब वे ध्यानमग्न और नग्न इतस्ततः घूमते थे तो उन्हें देखकर लड़को के झुण्ड उनके पीछे दौड़ते, शोर मचाते और उन्हें मारते थे। बहुत से दुष्ट उन्हें डण्डो से पीटते भी थे। परन्तु फिर भी वे निर्लिप्त-से पूर्ण मौन और शान्त रहते थे।

इस प्रकार १२ वर्ष की कठोर तपश्चर्या के पश्चात् जम्भियगाम (जृम्भिका) के समीप उज्जुवालिया (ऋजुपालिक) सरिता के तट पर महावीर को कैवल्य (ज्ञान) प्राप्त हुआ। तभी उन्हें 'केवलिन्' की उपाधि मिली। उन्होने अपनी इन्द्रियो को जीत लिया था। अत. वे 'जिन'[2] भी कहलाए। अतुल पराक्रम दिखाने के कारण वे 'महावीर'[3] के नाम से भी प्रख्यात हुए। बौद्ध साहित्य में वे 'निगण्ठ नाटपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) कहे गए हैं—निर्ग्रन्थ इसलिए कि उन्होने समस्त सासारिक बन्धनों (ग्रन्थियो) को तोड़ दिया था, ज्ञातृपुत्र इसलिए कि वे ज्ञातक राजा के पुत्र थे।

महात्मा बुद्ध की भाँति महावीर स्वामी को भी अपने धर्म-प्रचार में अनेक राज-वशों से सहायता मिली। पीछे कहा जा चुका है कि वे स्वय राजपुत्र थे और उनका वश तत्कालीन अनेक राजवशो से भी सम्बन्धित था। महावीर स्वामी को अपने मातृ-वश से बडा योग मिला। पहले उल्लेख किया जा चुका है कि उनकी माता लिच्छवी राजा चेटक की बहन थी। यह चेटक अपने समय का एक प्रख्यात पुरुष था। वैवाहिक सम्बन्धो के द्वारा इसने अनेक राजवशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध

१ कल्पसूत्र।

२ यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि 'जिन' शब्द की उपाधि एकमात्र महावीर स्वामी के लिए ही नहीं थी। महात्मा बुद्ध भी इस नाम से प्रख्यात थे। उन्होंने स्वयं कहा था कि 'मैंने पाप-कर्मों को जीत लिया है। इसलिए हे उपक! मैं जिन हूँ।'

—विनय-पिटक-महावग्ग

३ इसी प्रकार महाप्रजापती गौतमी ने महात्मा बुद्ध को 'वीर' कहा है

—थेरी गाथा, गाथा १५७

स्थापित कर रखा था। इसके पाँच पुत्रियाँ थी जो निम्न प्रकार राजवंशों में विवाहित थी—

(१) छलना का विवाह मगध-नरेश बिम्बिसार के साथ हुआ था।
(२) प्रभावती का विवाह सिन्धु-सौवीर के राजा उदयन के साथ हुआ था।
(३) मृगावती का विवाह कौशाम्बी-नरेश स्तानिक के साथ हुआ था।
(४) शिवा का विवाह अवन्ती-नरेश प्रद्योत के साथ हुआ था।
(५) पद्मावती का विवाह चम्पा-नरेश दधिवाहन के साथ हुआ था।

इन सब राजवशो ने महावीर स्वामी को धर्म-प्रचार मे सहायता दी होगी, इसमे कोई सदेह नही। इसके प्रमाण जैन-साहित्य में भी मिलते है। आवश्यक चूर्णि (पृ० १६४) का कथन है कि स्वय चेटक महावीर का भक्त था। इसी ग्रथ के अनुसार प्रद्योत का भी महावीर स्वामी के प्रति परम श्रद्धालु होना विदित है।[१] यही नही, इस नरेश की ८ रानियाँ भी जैन धर्मावलम्बिनी थी।[२] उत्तराध्ययन सूत्र[३] सेणिय (बिम्बिसार) की और अन्तगडदसाओ[४] उसकी १० रानियो की जैन धर्म में आस्था घोषित करते हैं। ओवाइय सूत्र (२२) बिम्बिसार के पुत्र कूणिय (अजातशत्रु) को भी महावीर का भक्त बताता है। चम्पानरेश दधिवाहन भी महावीर स्वामी में प्रभूत श्रद्धा रखता था।[५] इसकी पुत्री चन्दना तो महावीर की प्रथम भिक्षुणी थी। भगवती सूत्र सिन्धु-सौवीर के राजा उदयन को जैन धर्मावलम्बी बताता है।[६] जैन-साहित्य कौशाम्बी-नरेश की पत्नी मियावई (मृगावती) को भी जैन धर्मावलम्बिनी बताता है। गणराज्यो मे वैशाली-राज्य से महावीर स्वामी का प्रभाव अत्यधिक था। यहाँ उन्होंने अपने भ्रमण-काल के १२ वर्ष व्यतीत किए थे। महावीर स्वामी का ज्ञातृक-राज्य वज्जिसघ के ही अन्तर्गत था। अत उनके साथ इस सघ की सहानुभूति होना स्वाभाविक था। मल्ल-राज सस्तिपाल भी। उनका बडा आदर करते थे। उन्ही के राजप्रासाद मे महावीर स्वामी की मृत्यु हुई थी।

परन्तु जैन-साहित्य के समस्त उल्लेखो को हमें अक्षरश स्वीकार न करना चाहिए। ऊपर जिन राजाओ के नाम दिए हुए हैं, वे सब जैन धर्म मे दीक्षित नही थे। उनमे से कुछ-एक की सहानुभूति और श्रद्धा—उदाहरणार्थ, बिम्बदसार और प्रद्योत की—महात्मा बुद्ध के भी साथ थी। इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से अधिकाश राजाओ का दृष्टिकोण बडा उदार और सहिष्णु था। वे कट्टरपन्थी न थे और प्रत्येक प्रख्यात साधु सन्त, महात्मा अथवा धर्माचार्य का सम्मान करते थे। उनकी इस सहृदयता के कारण ही दोनो धर्मों (जैन और बौद्ध) ने उनमे से अधिकाश को अपना-अपना अनुयायी घोषित किया है।

पार्श्व और महावीर स्वामी में मतभेद—पार्श्वनाथ का जैन धर्म तो पहले से ही विद्यमान था और विद्यमान थे उनके अनुयायी भी। फिर क्या कारण था जिससे महावीर स्वामी ने पार्श्वनाथ के विरुद्ध अपना एक पृथक् धर्म चलाया? जैन-साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि कुछ विषयो के ऊपर महावीर स्वामी का पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ के सिद्धान्तो से मतभेद था। ये कौन से विषय थे, इस प्रश्न पर उत्तराध्ययन सूत्र मे दिए हुए पार्श्वनाथ के अनुयायी केशी और महावीर के अनुयायी गौतम के बीच हुए सम्वाद से प्रकाश पडता है। इसे पढ़ने से प्रकट होता

१ आवश्यक चूर्णि पृ० ४०१
२ वही, पृ० ९१
३ उत्तरा० २०
४ अन्तगड० ७, पृ० ४४
५ आवश्यक चूर्णि पृ० २०७
६ भगवती सूत्र १.३.६

है कि जहाँ पार्श्वनाथ जैन भिक्षु के लिए ४ व्रतों को आवश्यक समझते थे वहाँ महावीर स्वामी एक पाँचवें व्रत (ब्रह्मचर्य) के जोड़ देने के पक्षपाती थे। अत. महावीर की शिक्षाओं में हमें पचव्रत की व्यवस्था मिलती है। मतभेद का दूसरा विषय यह था कि पार्श्व ने जैन भिक्षुओं को वस्त्र धारण करने की आज्ञा दी थी। परन्तु महावीर स्वामी पूर्ण नग्नता के पक्षपाती थे।

जैन धर्म के सिद्धान्त

निवृत्तिमार्ग—बौद्ध धर्म की भाँति जैन-धर्म भी निवृत्तिमार्गी था। ससार के समस्त सुख दु खमूलक हैं।[1] वे व्याधिरूप हैं।[2] मनुष्य जरा और मृत्यु सपीड़ित है।[3] गृहस्थ-जीवन में भी उसके लिए कोई सुख-शान्ति नहीं है।[4] ससार में मनुष्य आजीवन तृष्णा से घिरा रहता है। यदि सारी पृथ्वी भी किसी एक व्यक्ति की हो जाय तो भी उसे सतोष प्राप्त नही हो सकता।[5] 'जितना तुम प्राप्त करोगे उतनी ही तुम्हारी कामना बढ़ती जायेगी। तुम्हारी सम्पत्ति के साथ-साथ तुम्हारी कामनायें भी बढ़ती जायेंगी।[6] 'ये काम-भोग विष के समान हैं। बाद मे इनका फल बड़ा कड़ुवा होता है। वे निरन्तर दु.खावह हैं।[7] एक स्थान पर ससार की नश्वरता का उल्लेख करते हुए पुत्र अपने माता-पिता से कहता है 'कि यह शरीर फेन के बुलबुले के समान क्षणभगुर है। इसे पहले या पीछे अवश्य छोड़ना पड़ता है। इस अशाश्वत शरीर में मुझे तनिक भी आनन्द नही मिलता।'[8]

इस प्रकार के दु खवादी उद्धरणो से जैन-साहित्य भरा पड़ा है। बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म की भी मुख्य समस्या दु ख और दु ख-निरोध है। दु ख के मूल मे मनुष्य की कभी तृप्त न होने वाली तृष्णा है। इसी तृष्णा के कारण पचालनरेश ब्रह्मदत्त को नरक प्राप्त हुआ था।[9] मनुष्य का आत्यन्तिक सुख ससार-त्याग में ही निहित है। उसे 'सम्पत्ति ससार, परिवार आदि सब का परित्याग कर, कभी अन्त न होनेवाले दु ख को छोड़कर, ससार से कोई भी सम्बन्ध न रख, भिक्षु बनकर इतस्तत परिभ्रमण करना चाहिए।'[10] जैन धर्म भी मूलत भिक्षु-धर्म ही है।

कर्म और पुनर्जन्म

जैन धर्म भी ईश्वर को सृष्टिकर्ता नही मानता, क्योकि ऐसा करने से उसे संसार के पापो और कुकर्मों का कर्ता भी मानना पड़ता। जैन धर्म ने मनुष्य को ईश्वरीय हस्तक्षेप से मुक्त करके स्वय अपना भाग्य-विधाता माना है। अपने सासारिक एवं आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य अपने प्रत्येक कर्म के लिए उत्तरदायी है। उसके सारे सुख-दु ख कर्म के कारण ही हैं। 'कर्म करने से जो आनन्द प्राप्त होते है उनमें फँसे हुए लोग कभी दु ख और पाप से नही बच सकते।'[11] 'कर्म ही मनुष्यो की मृत्यु का कारण है। मनुष्य अपने जिन कुटुम्बियो के लिए कर्म करता है, वे तो उसकी मृत्यु के

१ उत्तराध्ययन १३. ६. १७
२ वही १४. १३
३ वही १३.२६
४ वही १४.७
५ सूत्रकृतंग (जैन-सूत्र जिल्द २ पृ- ३०१-४-जकोबी)
६ वही
७ उत्तराध्ययन १९. १२
८ वही १९. १४
९ वही १३. ३४-
१० सूत्रकृतंग (जैन सूत्र जिल्द २ पृ० ३०१-जंकोबी)
११ वही

पश्चात उसकी सम्पत्ति के स्वामी बन बैठते हैं और उस मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है।'[1] जिन कर्मों से बँधा हुआ यह जीव संसार में परिभ्रमण करता है वे संख्या में ८ हैं।[2]—

(१) ज्ञानावरणीय (आत्मा के ज्ञान को ढँकने वाले)

(२) दर्शनावरणीय (आत्मा की सम्यक् दर्शन-शक्ति को रोकने वाले)

(३) वेदनीय (दु.ख-सुख के सम्यक् ज्ञान को रोकने वाले)

(४) मोहनीय (जीव को मोह मे डालने वाले)

(५) आयु-कर्म (जो कर्म मनुष्य की आयु को निर्धारित करे)

(६) नाम-कर्म-(जो कर्म मनुष्य की गति, शरीर, परिस्थिति आदि को निर्धारित करे)

(७) गोत्र-कर्म--(जो मनुष्य के गोत्र-ऊँच-नीच स्तर को निर्धारित करे।)

(८) अन्तराय कर्म–(जो कर्म सत्कर्मों मे बाधा डाले।)

इस जगत मे जितने भी प्राणी है वे सब अपने-अपने सचित कर्मों से ही ससार भ्रमण करते है और उन्ही के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियाँ पाते है। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना जीव का छुटकारा नही होता।[3] इस प्रकार कर्म ही पुनर्जन्म का कारण है। कर्म-फल से विमुक्ति ही निर्वाण-प्राप्ति का साधन है।

अत मोक्ष-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने पूर्व जन्म के कर्म-फल का नाश करे और इस जन्म मे किसी प्रकार का कर्म-फल सगृहीत न करे।[4] यह लक्ष्य 'त्रिरत्न' के अनुशीलन और अभ्यास से प्राप्त है।

त्रिरत्न—पूर्व जन्म के कर्म-फल को नष्ट करने तथा इस जन्म के कर्म-फल से बचने के लिए जैन धर्म 'त्रिरत्नो' के पालन करने का आदेश देता है। ये त्रिरत्न है—सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण। 'सत् मे विश्वास सम्यक् श्रद्धा है; सद्रूप का शकाविहीन और वास्तविक ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। बाह्य जगत के विषयो के प्रति सम-दु.ख-सुख भाव से उदासीनता ही सम्यक् आचरण है।'[5]

परन्तु अब प्रश्न यह होता है कि जैन धर्म के अनुसार 'सत्', 'असत्' और 'बाह्य जगत् के विषय' से तात्पर्य क्या है?

जैन धर्म के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नाना प्रकार के जीवो (प्राणियो) से भरा पड़ा है। कही पर कोई भी ऐसा पदार्थ नही जहाँ जीव न हो, जिसमे चेतना न हो, आत्मा न हो। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीडे-मकोड़े, पादप-लता, ईंट-पत्थर सभी सचेतन है, आत्मायुक्त है। दूसरे शब्दो मे सभी जीव है। ससार मे कुछ भी निर्जीव, चेतना-विहीन अथवा अनात्म नही है।

प्रत्येक जीव[6] में दो अश होते है—आत्मा और भौतिक तत्व। दूसरे शब्दो में भौतिक तत्व से आवृत आत्मा ही जीव है। आत्मा को इस भौतिक तत्व से मुक्त कर देना ही निर्वाण प्राप्त करना है। जीव का परम लक्ष्य भौतिक तत्व का परित्याग करना ही है।

१ वही
२ उत्तराध्ययन ३३.१-२
३ सूत्र कृतांग १, २।१:४
४ उत्तराध्ययन २२:३५
५ पंचास्तिकाय समयसार पृ० ११५
६ 'It is material-spiritual'—Jaini, Outlines of Jainism p. 77.

आत्मिक तत्व अनन्त असीम और सर्वव्यापी है। यही सत् है। भौतिक तत्व असत् है। इससे संयुक्त होने के कारण जीव को आत्मिक तत्व—सत्—का ज्ञान नहीं होता। जैसा कि अभी कहा गया है, आत्मिक तत्व अनन्त, असीम और सर्वव्यापी है। परन्तु जीव सान्त, ससीम और एक पृथक व्यक्ति है, क्योकि वह भौतिक तत्व से आच्छन्न है। इसका अर्थ यह है कि असत् ही व्यापकता, अनन्तता और असीमता के ऊपर पर्दा डाले रहता है। असत् ही पृथक व्यक्तित्व का मूल कारण है। अतः सत् में विश्वास रखना ही जैन धर्म के अनुसार सम्यक् श्रद्धा है। सत् और असत् का भेद समझ लेना ही सम्यक् ज्ञान है।

इन्द्रियाँ जीव के बाह्य उपकरण हैं। इन्ही से वह बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना विषय होता है, यथा आँख का विषय है दृश्य। दृश्य सुन्दर भी हो सकता है, असुन्दर भी। सराग जीव सदैव सुन्दर पदार्थों को ही देखना चाहता है। सुन्दर विषयो में उसकी आसक्ति होती है। परन्तु जो जीव सुन्दर-असुन्दर के भेद के प्रति उदासीन होकर अनासक्त हो जाता है उसे फिर उस विषय से न दुःख होता है और न सुख। यही बात अन्य इन्द्रियो और अन्य विषयो के बारे में भी कही जा सकती है। जैन धर्म के अनुसार जीव का समस्त इन्द्रिय-विषयों में अनासक्त होना, उदासीन होना, समदुःख-सुख होना ही सम्यक् आचरण है।

ज्ञान का सिद्धांत—जैन धर्म के अनुसार ज्ञान ५ प्रकार का होता है—

(१) मति—यह सामान्य ज्ञान है जो इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त होता है, जैसे नाक के द्वारा गन्ध का ज्ञान।

(२) श्रुति—यह वह ज्ञान है जो सुनकर अथवा वर्णन के द्वारा प्राप्त होता है।

(३) अवधि—यह अतिमानवी ज्ञान है, दिव्य ज्ञान है। अवधि-युक्त मनुष्य किसी भी काल और किसी भी स्थान की किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

(४) मन पर्याय—यह अन्य व्यक्तियो के मन-मस्तिष्क की बात जान लेने का ज्ञान है।

(५) केवल—यह पूर्ण ज्ञान है जो निर्ग्रन्थो को, जितेन्द्रियो को प्राप्त होता है।

जीव की आत्मा में पूर्ण ज्ञान रहता है। परन्तु भौतिक तत्व के आवरण के कारण उसका प्रकाश नही हो पाता, जैसे मेघों के आवरण के कारण सूर्य का प्रकाश नही हो पाता। जिस समय जीव भौतिक तत्व का नाश कर डालता है, उस समय वह विशुद्ध हो जाता है और उसे आत्मा में निहित पूर्ण ज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है। तभी वह विमुक्त हो जाता है, निर्ग्रन्थ हो जाता है।

स्याद्वाद—जैन धर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से देखे जाने के कारण प्रत्येक ज्ञान भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। ज्ञान की यह विभिन्नता ७ प्रकार की हो सकती है—

(१) है (२) नहीं है (३) है और नही है (४) कहा नही जा सकता (५) है किन्तु कहा नही जा सकता (६) नही है और कहा नहीं जा सकता (७) है, नही है और कहा जा सकता। जैन धर्म में इसे स्यावाद, अनेकान्तवाद अथवा सप्तभगी का सिद्धान्त कहते हैं। शंकर और रामानुज ने कालान्तर मे इसका घोर विरोध किया था। उनके अनुसार भाव और अभाव परस्पर-विरोधी है और ये एक साथ सम्भव नहीं हैं, अर्थात् यह असम्भव है कि किसी एक ही समय कोई वस्तु 'हो' और 'न हो'।

परन्तु जैन इसे सम्भव मानते हैं। वे कहते हैं कि यह परस्पर-विरोध जटिलता अथवा भिन्न दृष्टिकोण के कारण सम्भव प्रतीत हो सकता है। उदाहरणार्थ, यह कहा जा सकता है कि वृक्ष हिलता है—क्योंकि उसकी पत्तियाँ और शाखायें हिलती है। इसके साथ यह भी कहा जा सकता है कि वह नही हिलता है—क्योंकि वह एक स्थान पर दृढतापूर्वक खड़ा है।

अनेकात्मकवाद—जैन धर्म के अनुसार जिस प्रकार जीव भिन्न-भिन्न होते हैं उसी प्रकार उनमें आत्मायें भी भिन्न-भिन्न होती हैं। यह धर्म आत्मैक्य के ऊपर विश्वास नही करता। 'यदि समस्त जीवो में केवल एक ही आत्मा होती तो वे एक-दूसरे से पृथक् रूप में न पहचाने जा सकते और न उसकी भिन्न-भिन्न गति-विधि होती, पृथक् पृथक् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, कीडे-मकोडे, पक्षी और सर्प न होते; सभी मनुष्य और देवता होते। हमारी दृष्टि में इस ससार में जीवन व्यतीत करनेवाले और सदाचार करने वाले, दोनो प्रकार के जीव समान होते।'[1]

परन्तु जैन धर्म का यह अनेकात्मवाद का सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण और असंगत प्रतीत होता है। पदार्थों और व्यक्तियों की जो विभिन्नता है वह एकमात्र भौतिक है। भौतिक तत्व ही भिन्न-भिन्न वस्तुओ और जीवो को भिन्न-भिन्न रूप देता है। उनके भीतर आत्मिक अश तो एक ही है। स्वय जैन धर्म ही भौतिक तत्व के विनाश का उपदेश देता है, क्योंकि यह असत्य है और आत्मा का अविच्छन्न अश नही है। जैन धर्म ही कहता है कि इसी भौतिक तत्व के कारण ससार मे विविधरूपता है और विमुक्त की आत्मा भौतिक अश से छुटकारा पा लेती है। जैन धर्म की ये दोनों बातें परस्पर विरोधी है। जब विविधरूपता का कारण भौतिक तत्व असत् कहा गया है तो फिर जीवो की विविधरूपता सत् कैसे हो सकती है? पुन: निर्वाण व्यक्तित्व का विनाश कर देता है, उसमे अपने-पराये के लिए कोई स्थान नही। उसे पाकर जीव अपने पृथक् और व्यक्तिगत अस्तित्व का विनाश कर देता है। इससे भी यही प्रकट होता है कि भिन्न-रूपता सत्य नही है, पृथक् व्यक्तित्व सत्य नही है, क्योकि निर्वाण पाने पर उसका विलय हो जाता है। विविधरूपता असत्य है। उसी के कारण संसार में दु:ख है। अत जैन धर्म का अनेकात्मवाद का सिद्धान्त उसकी निर्वाण की परिभाषा से भी मेल नही खाता। निर्वाण का आधार तो एकाकारिता है, उसमें अनेकत्व के लिए स्थान कहाँ?

निर्वाण—बौद्ध धर्म की भाँति निर्वाण ही जैन धर्म का चरम लक्ष्य है। जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, जीव के भौतिक अश का नाश ही निर्वाण है। यह अश तब तक नष्ट नही हो सकता जब तक मनुष्य कर्म-फल से मुक्त नही होता। सम्पूर्ण कर्म-फल-निरोध ही निर्वाण-प्राप्ति का साधन है। मनुष्य पूर्व जन्म के कर्म-फल से विमुक्त हो और इस जन्म के कर्म-फल से अस्पृष्ट रहे, तभी निर्वाण प्राप्य है। निर्वाण पूर्ण निर्बन्धता है। निर्वृत्त सभी प्रकार के कर्म-फलो और कामना से छूट जाता है। उसे अनन्त शान्ति मिल जाती है। उसका ज्ञान असीम, अनन्त और विशुद्ध हो जाता है। इस प्रकार निर्वाण शरीर के विनाश का, भौतिक अश के विनाश का, नाम है, अस्तित्व के विनाश का नही। निर्वाण से आत्मिक तत्व का नाश नही होता।

जीव में भौतिक और आत्मिक तत्व होते हैं। ये परस्पर-विरोधी हैं। इनमें सदैव सघर्ष चलता रहता है। आत्मिक तत्व ऊर्ध्वगामी होता है, वह ऊपर उठना

१ सूत्रकृतांग २.७.४८ और ५१

चाहता है। परन्तु भौतिक तत्व अधोगामी है। वह अपने भार से जीव को सदा नीचे की ओर दबाये रहता है। परन्तु जब निर्वाण प्राप्त हो जाता है तो भौतिक तत्व विनाश हो जाता है और आत्मिक तत्व ऊपर चढ़ता है। इस प्रकार मोक्ष चिर-शा शाश्वत ऊर्ध्वगामिनी गति है।[१] निर्वाण शून्यता, अकर्मण्यता अथवा निष्क्रियता नहीं है। निवृत्त भी विशुद्ध रूप में देख-सुन सकता है। प्रत्येक वस्तु का सत ज्ञान प्राप्त करना आत्मिक तत्व की ही क्षमता है।

ईश्वर और सृष्टि—जैन धर्म अनीश्वरवादी कहा गया है, क्योंकि उसने ईश्वर को सृष्टिकर्ता-रूप में स्वीकार नहीं किया। ससार है और वास्तविक है। इसका कभी भी मूलत विनाश नहीं होता। जो वस्तु है (भाव) वह कभी न रहे (अभाव), ऐसा सम्भव नहीं। फिर यह पदार्थों का विनाश क्यों होता है ? जैन धर्म का मत है कि पदार्थों का मूलत विनाश नहीं होता। जिसे सामान्य जन विनाश कहते हैं वह एकमात्र परिवर्तन है। बात यह है कि ससार में ६ द्रव्य हैं—जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ससार इन्ही ६ द्रव्यों का समुदाय है। परन्तु ये द्रव्य तो शाश्वत हैं, नित्य है, अनश्वर हैं। अत इनसे निर्मित ससार भी मूलत शाश्वत, नित्य और अनश्वर है। परन्तु इन द्रव्यो में जो उत्पाद-व्यय होता है, इनका जो सघटन-विघटन होता है, उसी के कारण इनसे निर्मित पदार्थों में रूप-परिवर्तन होता है। परिवर्तित रूपो को ही देखकर हम अज्ञानतावश उत्पत्ति और विनाश समझने लगते हैं। परन्तु तत्वत. ऐसा नही है। भाव का अभाव कभी नही होता। वस्तुओं का 'अस्तित्व' और 'अनस्तित्व' उनके गुणो और विशेषताओ से ही प्रकट होता है।'[२] सृष्टि की इस परम्परा में, उसके इस विधान में किसी 'ईश्वर' की सहायता अथवा हस्तक्षेप की आवश्यकता नही है।

पुन., इस ससार में आत्मा को छोड़कर कुछ भी असीम नही है। अत यदि हम जैन धर्म का सूक्ष्म विवेचन करे तो अधिक-से-अधिक 'ईश्वर' को 'आत्मा' ही कह सकते है, क्योंकि यदि वह आत्मा से इतर कुछ है तो फिर वह असीम नही हो सकता। इसी तथ्य के आधार पर डॉक्टर राधाकृष्णन ने कहा है कि 'ईश्वर मनुष्य की आत्मा में अन्तर्निहित शक्तियो का उच्चतम, श्रेष्ठतम और पूर्णतम व्यक्तीकरण मात्र है।'[३]

ब्राह्मण-धर्म का विरोध—जैन धर्म ने सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्राह्मण-धर्म के वेदवाद, यज्ञवाद और जातिवाद का विरोध किया है। जब ज्ञान सप्तभगी के आधार पर दुर्गम और दुर्बोध है तो यह विश्वास करने का कोई कारण नही कि वैदिक प्रज्ञान ही एकमात्र पूर्ण और निर्विवाद है। अत. महावीर स्वामी ने वेद-प्रामाण्य को अस्वीकृत कर दिया। परम अहिंसावादी होने के कारण महावीर स्वामी का हिंसात्मक यज्ञों का विरोध करना स्वाभाविक ही था। अन्य प्रकार के अहिंसात्मक परन्तु कर्मकाण्डीय यज्ञ भी उन्हें अभीष्ट न थे, क्योंकि वे बाह्य थे, यान्त्रिक थे और मनुष्य की अन्त शुद्धि में किसी प्रकार भी उपयोगी न थे। आचार-प्रधान जैन-धर्म में भी यज्ञ निरर्थक थे।

१ So Moksha is said to be eternal upward movement'—Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol. I, p. 333

२ पंचास्तिकायसमयसार, १५

३ God is only the rightest and fullest manifestation of the powers which lie latent in the soul of man.'—Radhakrishnan—Indian Philosophy, Vol. I,. p. 331.

चूँकि निर्वाण पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्य था, और पुरुषार्थ कोई भी व्यक्ति कर सकता था, इसलिए जैन धर्म ने निर्वाण का द्वार सबके लिए खोल दिया था। उसमें जाति भेद न था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी भिक्षु-धर्म स्वीकार कर सकते थे। सूत्रकृतांग में जात्यभिमान को १८ पापों में एक पाप माना गया है। अतः जैन-धर्म और जैन-सघ में सिद्धान्ततः जाति-भेद न था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे इस सिद्धान्त को कभी भी पूर्णत. व्यवहार में न लागू कर सके। जैन-समुदाय की अन्तश्चेतना में जाति-भेद के संस्कार प्रायः सदैव विद्यमान रहे। अत. व्यावहारिक रूप से जैन-धर्म शूद्रों को न अपना सका।

नारी-स्वातन्त्र्य—महावीर नारी-स्वातन्त्र्य के पक्षपाती थे। महात्मा बुद्ध की भाँति उन्होंने भी नारियो के लिए अपने सघ का द्वार खोल दिया था। इस दिशा में उन्होंने अपने पूर्वगामी तीर्थंकर पार्श्वनाथ का ही अनुसरण किया था। अत. महावीर स्वामी की दृष्टि में भी नारियाँ निर्वाण-प्राप्ति की अधिकारिणी थी। पीछे बताया जा चुका है कि जैन-धर्म में अनेकानेक नारियाँ दीक्षित हुई थी। जैन धर्म मे श्रमणी और श्राविकाओ के दो वर्ग नारियों के ही वर्ग थे।

अहिंसा—जैन धर्म परम अहिंसावादी था। पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रस-जीव (चलने-फिरने वाले)—इन ६ प्रकार के जीवो के प्रति सयमपूर्ण व्यवहार ही अहिंसा है।[1] अहिंसा की इस परिभाषा के अनुसार प्राणिमात्र के प्रति मन, वचन और कर्म से किया गया कोई भी असयत आचरण हिंसा है। निश्चय ही यह बड़ी उदात्त परिभाषा है। परन्तु जैन धर्म यह भूल गया कि ससार मे पूर्ण अहिंसा का व्रत असम्भव है। अत्यधिक प्रयत्नशील होने पर भी प्रतिदिन ही अज्ञान मे अनेक अदृश्य कीटाणुओं की हत्या हो ही जाती है। जहाँ कुछ अनुयायियों ने अहिसा के इस व्यापक सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया वहाँ वह उपहासास्पद बन गया। उदाहरणार्थ, इस भय से कि कही कोई कीटाणु साँस लेते समय वायु के साथ भीतर जाकर मर न जाय, कुछ जैन अपने नाक-मुँह पर पट्टी बाँधने लगे। इसी प्रकार अन्य जैन चलते समय भूमि पर झाड़ू लगाते थे जिससे कि कोई कीट उनके पैरो के नीचे पडकर मर न जाय। अन्यान्य ने कीटाणु-हिंसा के भय से शहद का परित्याग कर दिया और पानी को छान-छान कर पीना प्रारम्भ किया। जैन अनुयायियो की इन अतिवादी क्रियाओं को देखकर ही हाप्किन्स नामक विद्वान् ने यह कहा था कि जैन धर्म वह धर्म है जो अन्य कार्यों के साथ कीट-कीटाणुओ का पोषण करता है।[2] बौद्ध धर्म ने कभी भी अहिंसा को इस अव्यावहारिक सीमा तक न खींचा।

काया-क्लेश—जैन धर्म का विश्वास है कि जीव के भौतिक तत्व का दमन करने के लिए काया-क्लेश आवश्यक है। इसी से उसमें तपस्या, व्रत, अनशन और आत्म-हत्या तक का विधान है। स्वयं महावीर स्वामी ने भीषण काया-क्लेश के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया था। अत. उसकी सार्थकता और उपयोगिता का प्रतिपादन करना उनके लिए स्वाभाविक था।

नग्नता—नग्नता के प्रश्न पर महावीर स्वामी का पार्श्वानुयायियो से मतभेद

१ दसवैकालिक सूत्र ६.९

२ 'A religion in which the chief points insisted upon are that one should deny God, worship man and nourish vermin'—Hopkins, The Religions of India, p. 297.

हो गया था। पार्श्व ने अपने अनुयायियों को वस्त्र-धारण करने की अनुमति दी थी। परन्तु महावीर स्वामी पूर्ण नग्नता के पक्षपाती थे। कदाचित् इसके पीछे लज्जा-निरोध, अपरिग्रह और काया-क्लेश की भावनायें थी। जैन धर्म के अनुसार सम-दुख-सुख होने के लिए मनुष्य को लज्जा आदि की भावनाओं से ऊपर उठना चाहिए। जिस वस्तु को मनुष्य ग्रहण करता है अथवा धारण करता है उसमें उसकी आसक्ति सम्भव है। यही बात वस्त्राभरण के विषय में भी कही जा सकती थी। अतः महावीर स्वामी ने उनका पूर्ण परित्याग ही उचित समझा। पुन. नग्न रह कर मनुष्य अपने शरीर को अधिक कष्ट दे सकता है। अपनी तपश्चर्या में सम्पूर्ण वस्त्रों के विशीर्ण हो जाने पर स्वयं महावीर स्वामी के शरीर को ऋतुओं के अभिशापो और कीट-कीटाणुओ के दंशनो से कितना कष्ट हुआ था, इसका उल्लेख जैन-साहित्य में मिलता है। काया-क्लेशवादी धर्म के लिए पूर्ण नग्नता का सिद्धान्त स्वाभाविक था।

पंचमहाव्रत—जैन धर्म ने भिक्षु वर्ग के लिए निम्नलिखित पचमहाव्रतों की व्यवस्था की थी—

(१) **अहिंसा महाव्रत**—जान-बूझ कर अथवा अनजान में भी किसी भी प्रकार की हिंसा न होनी चाहिये। इसका सम्यक् रूप से पालन करने के लिए निम्नलिखित उपनियमो का पालन करना आवश्यक है।

(१) ईर्यासमिति—ऐसे मार्गो से चले जहाँ कीट-कीटाणुओ के पैर से कुचलने का भय न हो।

(२) भाषासमिति—सदैव मधुर वाणी बोले जिससे वाचसिक हिंसा न हो।

(३) एषणा समिति—भोजन द्वारा किसी भी प्रकार के कीट-कीटाणु की हिंसा न हो।

(४) आदान-क्षेपक्षा समिति-भिक्षु को अपनी सम्पूर्ण सामग्री का उपयोग करते समय यह देख लेना चाहिए कि उसके द्वारा किसी कीट-पतंग की हिसा तो नही होती।

(५) व्युत्सग समिति—ऐसे ही स्थान पर मल-मूत्र-त्याग करना चाहिए जहाँ किसी भी कीट-कीटाणु की हिसा न हो सके।

(२) **असत्य त्याग महाव्रत**—भाषण सदा सत्य हो और साथ मे मधुर भी। इसमें निम्नलिखित पाँच बातो का ध्यान रखना चाहिए—

(१) अनुविम भाषी—बिना सोचे-समझे नही बोलना चाहिए।
(२) कोह परिजानाति—क्रोध आने पर मौन रहना चाहिए।
(३) लोभ परिजानाति—लोभ की भावना जाग्रत होने पर मौन रहना चाहिए।
(४) भय परिजानाति—भयभीत होने पर भी असत्य न बोलना चाहिए।
(५) हास परिजानाति—हँसी-मजाक में भी असत्य न बोलना चाहिए।

(३) **अस्तेय महाव्रत**—अनुमति बिना किसी अन्य की वस्तु न ग्रहण करे और न ग्रहण करने की इच्छा ही करे। इस विषय में भी पाँच बातें ध्यान में रखने योग्य हैं—

(१) बिना आज्ञा किसी के घर के भीतर न जाना चाहिए।
(२) गुरु की आज्ञा बिना भिक्षार्जित भोजन को ग्रहण न करना चाहिए।
(३) बिना अनुमति किसी के घर में निवास न करना चाहिए।
(४) किसी के घर में रहते समय बिना गृहस्वामी की आज्ञा के उसकी किसी भी वस्तु का प्रयोग न करना चाहिए।

(५) यदि कोई भिक्षु किसी घर में निवास कर रहा हो तो उस समय भी गृह-स्वामी की अनुमति के बिना उस घर में न रहना चाहिए।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—भिक्षु के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना अति आवश्यक है। इस विषय में भी पाँच बातें ध्यान रखना चाहिए—

(१) किसी नारी से बात न करे।

(२) किसी नारी को न देखे।

(३) नारी-संसर्ग का ध्यान भी न करे।

(४) सरल और अल्प भोजन करे।

(५) जिस घर में कोई नारी रहती हो वहाँ न रहे।

(५) **अपरिग्रह महाव्रत**—इस व्रत के अनुसार भिक्षुओं को किसी भी प्रकार का सग्रह न करना चाहिए, क्योंकि उससे आसक्ति की उत्पत्ति होती है। धन,-धान्य, वस्त्राभरण सभी परित्याज्य हैं। इनके अतिरिक्त इन्द्रियो के विभिन्न विषयों में भी सर्वथा अनासक्ति-भाव होना आवश्यक है।

पंच अणुव्रत—जैन गृहस्थों के लिए भी पाँच व्रत प्रतिपादित किए गए। परन्तु यह समझ कर कि भिक्षुओं की भाँति गृहस्थ अति कठोर व्रतों का पालन न कर सकेंगे, इन गृहस्थ-व्रतों की कठोरता, बहुत कुछ छोटी कर दी गई। ये व्रत पूर्ववर्णित महाव्रतों की भाँति आत्यन्तिक नहीं हैं। इन्हें 'अणुव्रत' की सज्ञा दी गई है। ये निम्न प्रकार हैं—

(१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अस्तेयाणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत (५) अपरिग्रहाणुव्रत। इनके आधारभूत सिद्धान्त पूर्वोल्लिखित महाव्रतों के समान ही हैं, केवल उनकी कठोरता और अतिवादिता ही इनमें नहीं है।

आचार तत्व—महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित जैन धर्म भी विशुद्ध आचार-तत्व से समन्वित है। उन्होंने स्पष्टरूप से ब्राह्मणो के यज्ञयागादि का विरोध करते हुए कहा है कि 'हे ब्राह्मणो ! अग्नि का प्रारम्भ कर और जल-मजन कर बाह्य-शुद्धि के द्वारा अन्त -शुद्धि क्यों करते हो ? जो मार्ग केवल बाह्य-शुद्धि का है, उसे कुशल पुरुषों ने इष्ट नहीं बतलाया है। कुशा, यूप, तृण, काष्ठ और अग्नि तथा प्रातः और सायकाल जल का स्पर्श कर प्राणी और भूतो का विनाश कर, हे मन्द बुद्धि पुरुष ! तुम केवल पाप का ही उपार्जन करते हो।'[1] इस प्रकार बाह्य-शुद्धि एवं कर्मकाण्ड को निरर्थक बताकर उन्होंने विशुद्ध आचरण की प्रतिष्ठा पर बल दिया। 'धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है, आत्मा की प्रसन्न लेश्या मेरा निर्मल घाट है जहाँ स्नान कर आत्मा विशुद्ध होता है।'[2] तीर्थ-स्थान की यह नैतिक व्याख्या तत्सम्बन्धी बौद्ध-व्याख्या से पूर्णत. मेल खाती है। उनका विचार था कि 'जो चरित्राचार के गुणों से संयुक्त है, जो सर्वोत्तम सयम का पालन करता है, जिसने समस्त आश्रवो को रोक दिया है, जिसने कर्मों का नाश कर दिया है, वह विपुल उत्तम और ध्रुवगति मोक्ष को पाता है।'[3] ब्राह्मणों की जन्मज वर्ण-व्यवस्था को अस्वीकार करते हुए उन्होंने कर्म के आधार पर उसकी व्याख्या की। उनका स्पष्ट उद्घोष था कि 'कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय। कर्म से ही

१ उत्तराध्ययन० १२.३८-३९
२ वही १२.४६
३ उत्तराध्ययन २०.५२

मनुष्य वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र भी।'[१] अपने धर्म को नैतिक आधार देते हुए उन्होंने पुन. कहा कि 'जो अग्नि में तपाकर शुद्ध किए गए और घिसे गए सोने की भाँति पाप-मल-रहित है और जो राग-द्वेष और भय से मुक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'[२] निर्वाण-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी निम्न प्रवृत्तियों का दमन करे। 'जो न अभिमानी है और न दीनवृत्ति वाला है, जिसका पूजा-प्रशसा में उन्नत भाव नहीं है और न निन्दा में अवनत भाव है, वह ऋजुभाव को प्राप्त सयमी महर्षि पापों से विरत होकर निर्वाण-मार्ग को प्राप्त करता है।'[३] 'आत्मा को तपाओ, सुकुमारता का त्याग करो। कामना को दूर करो। निश्चय ही दु:ख दूर होगा। सयम के प्रति द्वेषभाव को छिन्न करो। विषयों के प्रति राग-भाव का उच्छेद करो। ऐसा करने से ससार में सुखी बनोगे' इस प्रकार का उपदेश निश्चय ही आचार-तत्व को ग्रहण कर मानवी कल्याण के लिए स्वय उसके पुरुषार्थ पर जोर देता है। इस प्रकार अपने नैतिक दृष्टिकोण मे जैन धर्म बौद्ध धर्म से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

अठारह पाप—जैन धर्म के अनुसार १८ प्रमुख पाप हैं। आवश्यक सूत्र मे इनके नाम मिलते है—

(१) प्राणातिपात (हिंसा) (२) झूठ (३) चोरी (४) मैथुन (५) द्रव्य-मूर्च्छा (परिग्रह) (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) दोषारोपण (१४) चुगली (१५) असयम मे रति और सयम मे अरति (असुख) (१६) परपरिवाद (निन्दा) (१७) माया-मृषा (कपट-पूर्ण मिथ्या) और (१८) मिथ्यादर्शनरूपी शल्य।

इसी ग्रंथ का पुन. कथन है कि इन पापों के भार से ही जीव भारी हो जाता है और वह नीचे नरक की ओर गिरता है। जब इन पापो का मूलोच्छेद हो जाता है तो जीव हलका हो जाता है और गगनतल की ओर ऊपर उठता है।[५] यही उसका निर्वाण-मार्ग पर अग्रसर होना है। पीछे बताया जा चुका है कि निर्वाण चिर-शाश्वत ऊर्ध्वगामिनी गति है।

जैन-संघ—जम्भियग्राम मे ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् महावीर स्वामी पावा आए। उस समय इस नगरी में ब्राह्मणों का एक महायज्ञ हो रहा था। महावीर स्वामी के आगमन पर इन्द्रभूतिप्रभृति ११ याज्ञिक ब्राह्मण उनसे मिलने और विवाद करने आये। महावीर स्वामी ने एक-एक करके ग्यारहो ब्राह्मणों को परास्त किया, तत्पश्चात् वे अपने शिष्यों के साथ जैन धर्म में दीक्षित हो गए। यही महावीर स्वामी के सर्वप्रथम अनुयायी थे। इनमें स्त्री-पुरुष दोनो थे। अब महावीर स्वामी ने समस्त साधुओं को एकत्र करके ११ समूहों में बाँट दिया। ये गण कहलाये। इनका एक-एक अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इस प्रकार ११ गणधर नियुक्त हुए। ये गणधर उपर्युक्त ११ ब्राह्मण ही थे। अत जैन धर्म के प्राथमिक सगठन और प्रचार के कार्य में ब्राह्मणों ने यथेष्ट योग दिया। जैन भिक्षुणियों का कार्य प्रथम जैन भिक्षुणी चन्दन (चम्पा नरेश दधिवाहन की पुत्री) के सिपुर्द किया गया। स्वयं महावीर स्वामी उच्चतम धर्माध्यक्ष थे। सब गणधर उन्हीं के निरीक्षण में कार्य करते थे। महावीर की ख्याति बढती गई और अब अनेक गृहस्थ भी उनके शिष्य बन गए। इन्हें श्रावक

१ वही २५.३३
२ वही २५.२१
३ वही २१.२०
४ दसवैकालिक सूत्र २.५
५ ज्ञाता धर्मकथा ६

और श्राविका की संज्ञा दी गई। इस प्रकार महावीर ने पावा में चतुर्विध संघ की स्थापना की।

सघ के समस्त सदस्य ४ कोटियों में विभक्त थे—(१) भिक्षु, (२) भिक्षुणी (३) श्रावक, (४) श्राविका। प्रथम दो कोटियां ससार-त्यागी व्यक्तियों की थीं और द्वितीय दो गृहस्थ व्यक्तियों की।

महावीर स्वामी का मत था कि ससार में ३ प्रकार के मनुष्य होते हैं—

(१) अव्रती[1]—वे मनुष्य जो हिंसा, परपीडन आदि कुकर्मों में फँसे रहते हैं और जिनके मन मे आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का विचार तक नही उठता। इनकी जीवन-प्रणाली अनार्य, असाधु और असयत होती है। ये अधर्म-पक्षी अथवा कृष्ण-पक्षी भी कहे गए हैं।

(२) अणुव्रती[2]—वे मनुष्य जिनमें अल्पारम्भ होता है, जो आंशिक रूप से हिंसादि दूषित कर्मों से विरत हो जाते हैं। इन्हें मिश्रपक्षी भी कहा गया है।

(३) सर्वव्रती[3]—वे मनुष्य जो पूर्ण रूप से अनासक्त हो जाते हैं, जिनका जीवन पूर्णत आर्य, शुद्ध, साधु और सयत होता है। इन्हें धर्मपक्षी भी कहा गया है।

सघ-प्रवेश के लिए प्रथम कोटि के मनुष्य सर्वथा अनुपयुक्त थे। उनको छोडकर अन्य दोनों कोटियो के मनुष्य सघ में रह सकते थे। साधारणतया द्वितीय कोटि के अणुव्रती व्यक्ति गृहस्थ श्रावक और श्राविकायें होते थे और तृतीय कोटि के सर्वव्रती व्यक्ति गृहत्यागी भिक्षु और भिक्षुणियाँ। पहले बताया जा चुका है कि गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओ के लिए पच अणुव्रतो की और गृहत्यागी भिक्षु-भिक्षुणियो के लिए पच महाव्रतो की व्यवस्था की गई थी।

निष्क्रमण-संस्कार—जिस दिन मनुष्य ससार-त्याग करता था उस दिन उसका निष्क्रमण-सस्कार होता था। यह किसी शुभ दिवस पर ही होता था। प्राय. चतुर्थी अथवा अष्टमी के दिन इसके लिए अशुभ समझे जाते थे।[4] निष्क्रमण के पूर्व प्राय अपने सरक्षको से अनुमति लेनी पडती थी। स्वय महावीर स्वामी ने अपने बडे भाई की आज्ञा लेने के पश्चात् ही ससार-त्याग किया था। उपर्युक्त ११ ब्राह्मणो ने भी अपने घरवालो से आज्ञा लेकर ही ससार-त्याग किया था। उत्तराध्ययन में एक युवक बहुत समझाने-बुझाने के पश्चात ही अपने माता-पिता से ससार-त्याग करने की अनुमति प्राप्त कर पाता है।[5] नायाधम्मकहा में राजा मेघकुमार को भी संसार-त्याग के पूर्व अपनी दोनो माताओ की अनुमति लेनी पडती है।[6]

अपने माता-पिता अथवा संरक्षको से आज्ञा लेने के पश्चात् निष्क्रमणार्थी को अपना शीश मुडवाना पडता था। महावीर स्वामी ने तो स्वयं अपने हाथों से ही अपने केश नोच डाले थे।[7] ११ ब्राह्मणों और पूर्वोल्लिखित मेघकुमार ने नाई के द्वारा अपने शीश मुडवाए थे। इसके पश्चात् स्नान करके तथा वस्त्र धारण करके निष्क्रमणार्थी रयोहरण और पडिग्गह (भिक्षा-पात्र) ग्रहण करता था। तत्पश्चात् वह किसी जैन धर्माचार्य के पास जाकर धर्म में दीक्षित होता था।[8] यह एक पुनीत

१ सुत्रकृतांग २.५६-५७
२ वही २. ७५-७७
३ वही ४.६९-७४
४ बृह.कल्प भाष्य पोठिका, ४१३
५ उत्तराध्ययन १९. ११-८८
६ नायाधम्मकहा १. २४-३४
७ आवश्यक निर्युक्ति गाथा २२७-२३६
८ नायाधम्मकहा १.२४-३४, भगवती सूत्र १५-२०

समारोह समझा जाता था और बहुधा निष्क्रमणार्थी के साथ उसके माता-पिता, बन्धु-बान्धव और अन्य जन भी दीक्षा देखने जाते थे।

भिक्षु-जीवन—भिक्षु-जीवन आत्यन्तिक रूप से नियमित और अनुशासनशील था। उसके व्रत को भग करने की अपेक्षा अग्नि में जलकर मर जाना अधिक श्रेयस्कर समझा जाता था।[1] भिक्षु को पूर्णतः अनासक्त रहने की शिक्षा दी जाती थी। वह न किसी प्रकार का व्यापार-व्यवसाय कर सकता था[2] और न किसी प्रकार की सम्पत्ति रख सकता था।[3] सीमित और संयत भिक्षा-वृत्ति ही उसकी जीविका थी।[4] भिक्षान्न भी समस्त भिक्षुओं में बाँट कर ही ग्रहण किया जाता था।[5] यह नियम जैन संघ के सामूहिक जीवन का एक उदाहरण है। वे तेल, गन्ध, विलेपन आदि का प्रयोग न कर सकते थे।[6] उनके लिए सामान्यत जूते और जाता आदि का प्रयोग भी वर्जित था।[7] भिक्षु प्रायः ३ वस्त्र धारण करते थे—दो अन्तरवासक (श्रोम-चेल) और एक उत्तरासग। सामान्यता शीतकाल में ये ऊनी (और्णिक) और शेष ऋतुओं में सूती (क्षौमिक) होते थे। भिक्षुणिला कचुक, उवकच्छी, खन्दहकरणि, सघाट आदि वस्त्र धारण करती थी।[8] दसवकालिक सूत्र[9] भिक्षु को निम्नलिखित असत्कर्मों से बचने का आदेश दिया गया है—(१) हिसा (२) असत्य-भाषण (३) चोरी (४) सम्भोग (५) सम्पत्ति (६) रात्रिकालीन भक्षण (७) क्षिति-शरीरी जीव-पीडन (८) जल-शरीरी जीव-पीडन (९) अग्निशरीरी-जीव पीडन (१०) वायुशरीरी जीव-पीडन (११) वानस्पतिक जीव-पीडन (१२) जगम जीव-पीडन (१३) वर्जित वस्तु (१४) गृहस्थों के पात्रों मे भक्षण (१५) पलंग-चारपाई-कुर्सी आदि का प्रयोग (१६) विस्तर-तकिया आदि का प्रयोग (१७) स्नान (१८) अलकरण।

वाह्य आचार के साथ-साथ जैन धर्म ने भिक्षुओ के अन्त. आचार पर भी बडा जोर दिया था। उनके लिए आवश्यक था कि वे अपने भौतिक अश का दमन करें। 'आत्मा के द्वारा आत्मा को जीत'[10] का जैन उद्घोष मानवी पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा करता है। भिक्षुओ को मनसा-वाचा-कर्मणा पूर्णत अहिंसाव्रतधारी होने की शिक्षा दी गई थी।[11] प्रत्येक नवागन्तुक जैन भिक्षु किसी-न-किसी अनुभवी भिक्षु के निरीक्षण मे ही शिक्षा-दीक्षा पाता था। अत. जैन समुदाय मे गुरु-प्रतिष्ठा का बडा महत्व था। गुरु चाहे आयु और शिक्षा मे छोटा ही क्यो न हो, फिर भी वह आदर-सत्कार का पात्र है।[12] महावीर स्वामी ने कहा था कि 'जो गुरु के प्रति विनय करते है उनकी शिक्षा उसी भाँति फलती-फूलती है जैसे जल से सींचा हुआ पौदा।'[13] 'जो गुरु के प्रति विनय नहीं करता उसके गुण उसी भाँति भस्म हो जाते है जैसे अग्नि से काष्ठ-राजि।'[14] उत्तराध्ययन सूत्र में अनुशासनपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए भिक्षु को निम्नलिखित विधि-निषेधो का पालन करने की सम्मति दी गई है—

(१) उल्लास-निषेध (२) सयम (३) परनिन्दा-निषेध (४) अनुशासन-शीलता (५) लोभ-निषेध (६) सत्य-भाषण।

१ बृहत्कल्प भाष्य ५.४९४९
२ उत्तराध्ययन ३५.१४-१५
३ वही० ३५.१३
४ वही ३५.१६
५ दसवैकालिक ५.१.९४
६ सूत्रकृतांग १.९.१३
७ दसवैकालिक ३.४
८ आचारांग २.५.१.३६४
९ दसवैकालिक ६.८
१० उत्तराध्ययन ९. ३४, ३५
११ दसवैकालिक ६.९
१२ वही, ९.१.२-३
१३ वही ९.२.१२
१४ वही ९.१.२

जैन संघ में भी सिद्धान्ततः जाति-भेद के लिए कोई स्थान न था। समस्त जातियों के लिए प्रव्रज्या का द्वार खुला था।[1] महावीर स्वामी भी स्त्री-समाज के समानाधिकार के पूर्ण पक्षपाती थे। उन्होंने उनके मोक्षाधिकार को माना था। बहुसंख्यक स्त्रियाँ उनके संघ में प्रविष्ट हुई थीं। इनसे भी अतिसंख्यक श्राविकाय थीं।

जमालि प्रथम संघविच्छेदक—जमालि क्षत्रिय कुण्डग्राम का क्षत्रिय था। वह महावीर स्वामी की बड़ी बहन सुदर्शना का पुत्र था। इसे महावीर स्वामी की पुत्री प्रियदर्शना ब्याही थी। इस प्रकार जमालि उनका भाञ्जा और दामाद दोनों था। उसने महावीर स्वामी का धर्म स्वीकार कर लिया था। परन्तु महावीर स्वामी के कैवल्य प्राप्त करने के बारहवें वर्ष उसका महावीर स्वामी के साथ 'क्रियमाणकृत' से सिद्धान्त पर मतभेद हो गया। महावीर स्वामी का मत था कि कार्य प्रारम्भ होते ही समाप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति चोरी करने की भावना से किसी के घर में प्रविष्ट हुआ। परन्तु उस घर के लोग जाग गए और वह चोरी न कर सका। महावीर स्वामी के मतानुसार फिर भी यही समझना चाहिए कि उसने चोरी की। चोरी की भावना का उदय होते ही वह चोर हो गया, फिर चाहे कार्यतः उसने चोरी की हो अथवा न की हो। परन्तु जमालि इस मत से सहमत न था। उसका मत था कि कार्य की समाप्ति पर ही कार्य सम्पादित हुआ समझना चाहिए। अतः जब मनुष्य कार्यतः चोरी कर ले तभी उसे चोर कहा जा सकता है, केवल भावनामात्र के आधार पर नहीं।

जमालि इसी सैद्धान्तिक मतभेद पर महावीर स्वामी के संघ से अलग हो गया और उसने 'क्रियमाण कृत' के स्थान पर 'बहुरतवाद' चलाया। 'बहु' का अर्थ है समाप्त और 'रत' का अर्थ है नाम। इस आधार पर किसी कार्य के समाप्त होने पर ही उसे 'समाप्त' का नाम देना चाहिए। जमालि के इस 'वाद' के बहुसंख्यक समर्थक भी उसी के साथ महावीर स्वामी के संघ से अलग हो गए। इनमें जमालि की पत्नी प्रियदर्शना (महावीर स्वामी की पुत्री) प्रमुख थी। जैन परम्परा का कथन है कि यह १००० भिक्षुणियों के साथ महावीर स्वामी के संघ से पृथक् हुई थी। परन्तु कालान्तर में वह अपनी समस्त अनुयायिनियों के साथ संघ में वापस लौट गई।[2]

इस प्रकार महावीर स्वामी के जीवन-काल में ही प्रथम संघ-विच्छेद हुआ। इस घटना से जैन-धर्म-प्रचार को कुछ-न-कुछ धक्का अवश्य लगा होगा, इसमें सन्देह नहीं। फिर भी महावीर स्वामी के जीवन-काल में जैन धर्म काफी प्रचलित हो गया था। जैन-परम्परा के अनुसार उसके १४ हजार श्रमण, ३६ हजार श्रमणियाँ, १ लाख ५९ हजार श्रावक और ३ लाख १८ हजार श्राविकायें थीं।[3] इस उल्लेख में महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके द्वारा जैन संघ में पुरुषों की अपेक्षा नारियों की संख्या अधिक बताई गई है।

जैन धर्म का प्रचार सीमित—परन्तु फिर भी जैन धर्म का प्रचार बौद्ध धर्म की अपेक्षा सीमित ही रहा। महावीर स्वामी के जीवन-काल में प्रमुखतः वह मगध और अंग में ही विशेषरूप से प्रसारित हुआ था। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी वह कभी देशव्यापी अथवा अन्तर्देशीय धर्म बन सका। उसके इस सीमित विकास के कई कारण थे—

(१) महावीर स्वामी के अहिंसा, नग्नता, केशलुंचन, आमरण अनशन तथा

१ सूत्रकृतांग २.१.३५
२ विशेषावश्यक गाथा २३०७
३ कल्पसूत्र १३४-३७; आवश्यक निर्युक्ति गा० २५९: २६३

विविध कठोरातिकठोर काया-क्लेशो के सिद्धान्त इतने आत्यन्तिक थे कि वे साधारण *जनता के लिए कभी व्यावहारिक न हो सकते थे। यही कारण है कि जैन धर्म व्यापक आधार पर कभी भी लोक-धर्म न बन सका।*

(२) महावीर स्वामी ने यद्यपि जाति-भेद का विरोध किया था और अपने सघ का द्वार सब के लिए खोल दिया था तथापि उनके अनुयायियो ने इस जाति-विहीनता के सिद्धान्त को कभी हृदयतः न अपनाया। सघ-प्रवेश के समय उच्च-जातीय व्यक्तियो को ही प्राथमिकता दी जाती रही। परिणामतः समाज का शोषित अथवा शूद्र वर्ग कभी भी बहुसख्या मे जैन धर्म न अपना सका।

(३) ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध जैन धर्म अधिक काल तक अपनी अपूर्ण पृथक् सत्ता न कायम रख सका। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-ही-वैसे जैन-धर्म मे ब्राह्मण-धर्म के अनेकानेक सिद्धान्त घुसने लगे। ब्राह्मण धर्म की जाति-व्यवस्था, उसके अनेक धार्मिक एव सामाजिक सस्कार, उसका भक्तिवाद, उसके बहुसख्यक देवी-देवता सभी कालान्तर मे जैन धर्म मे प्रवेश पा गए। यही नही, एक दिन ऐसा आया जब जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि स्वय ब्राह्मण धर्म के कृष्ण हो गए। ब्राह्मण धर्म का जैन धर्म पर निमज्जनकारी प्रभाव हम इसी बात से समझ सकते है कि आज जैन धर्मावलम्बियो मे वैष्णव जैन भी विद्यमान है। प्रत्येक धर्म तभी तक आकर्षक रहता है जब तक उसमे अन्य धर्मों के विरोध मे अपनी निजी नूतनता हो, अपनी पृथक् सत्ता हो। परन्तु ब्राह्मण धर्म के विरोध मे जैन धर्म अपनी प्राचीन नूतनता और पृथक् सत्ता को उत्तरोत्तर खोता चला गया। यही कारण है कि उसका प्रभाव और प्रचार व्यापक न बन सका।

(४) जैन-सघ का सगठन इतना जनतन्त्रात्मक न था जितना कि बौद्ध सघ का। जैन सघ मे प्रारम्भ से ही शक्ति धर्माचार्य अथवा गणधरो के हाथ मे केन्द्रित थी। उसमे न बौद्ध सघ जैसी कोई विकसित वैधानिक व्यवस्था थी और न व्याव-हारिक जीवन-प्रणाली। परिणामत. एक ओर तो उसे वह बल न मिल सका जो प्रत्येक जनतन्त्रात्मक सस्था के पीछे होता है और दूसरी ओर जब भिक्षुओ में उच्छृ-खल एव विरोधी प्रवृत्तियाँ जाग्रत हुई तो वह उन्हें किसी पूर्वप्रतिष्ठित वैधानिक अथवा व्यावहारिक आधार पर दबा न सका।

हम ऊपर कह चुके हैं कि बौद्ध सघ का निर्वाह जनता की उदारता और दान-शीलता से होता था। परन्तु जैन धर्म को कभी भी जनता की व्यापक सहृदयता न मिल सकी। अत. जैन सघ को अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए एकमात्र भिक्षुवृत्ति अथवा कतिपय धनिक श्रद्धालुओ की दानशीलता पर निर्भर रहना पड़ा। इन सीमित साधनो के कारण जैन धर्म सघ का विकास न हो सका।

(५) बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म ने ऐसे प्रतिभाशाली प्रचारको और उद्भट विद्वानो को भी कम जन्म दिया जो व्यापक रूप में विभिन्न विरोधी मतो का खण्डन करते और उनके समक्ष अपने धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित करते। जैन धर्म में अश्वघोष, नागार्जुन, असग, वसुबंध, धर्मकीर्ति, दिङ्नाग, बुद्धघोष, धम्मपाल और कुमारजीव कम हुए। परिणामत वह अन्यान्य धर्मों की दौड में बहुत-कुछ पीछे रह गया।

(६) जैन धर्म को किसी भारतीय सम्राट ने राजधर्म के पद पर प्रतिष्ठित न किया। उसके प्रति बहुसंख्यक भारतीय नरेशों की सहिष्णुता और उदारता अवश्य रही, परन्तु यह उसे देश-व्यापकता और अन्तर्देशीयता देने के लिए पर्याप्त न थी।

भारतीय इतिहास ने किसी जैन अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त अथवा हर्ष को जन्म न दिया।

(७) विदेशों में बौद्ध प्रचार वस्तुत: भारतीय नरेशों का नहीं वरन् बौद्ध भिक्षुओं और प्रचारकों का महनीय कार्य था। जिस प्रकार बौद्धो ने भारतवर्ष में एक कोने से दूसरे कोने तक घूम-घूम कर अपने धर्म को व्यापकता दी उसी प्रकार उन्होने दुर्गम मर्गों, बीहड वनों, उत्तुग पर्वतों और उत्ताल तरगों को पार कर विदेशों में भी अपने धर्म और अपनी सस्कृति की स्थापना की। बौद्धो की यह कर्मठता, साहसिकता हमें जैन-प्रचारको मे नही मिलती। उन्होने विदेशो मे अपना धर्म-प्रचार प्राय: किया ही नहीं और यदि लका-ऐसे एक-आध देशो मे किया भी तो वह नगण्य रहा।

धर्म-ग्रन्थो के अनुसधान, शोधन और अध्ययन के लिए एक विदेशीय का आगमन जन साधारण पर कितना बडा मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है, यह फाह्यान, हुएन-साँग आदि की भारतीय यात्राओ मे निहित है। परन्तु जैन-धर्म ने किसी विदेशी श्रद्धालु को आकर्षित न किया जिसके आगमन से जनता जैन धर्म की महत्ता के प्रति जागरुक हो सकती, जो जैन धर्म के प्रति जनता की मनोवैज्ञानिक उत्कण्ठा को झकझोर देता, जो जैन ग्रन्थो को अपने देश में ले जाता और वहाँ उन्हें विदेशीय अध्ययन, अध्यापन और अनुसन्धान का विषय बनाता।

(८) भारतीय इतिहास साक्षी है कि धर्म प्रचार जितना लेखनी से होता है उससे कही अधिक छेनी और तूलिका से। बौद्ध धर्म के अनुयायियो ने इस रहस्य को भली-भाति समझा था। अत एक ओर जहाँ वे धर्म-प्रचारक और धर्म-ग्रन्थकार थे। वहाँ दूसरी ओर वे कलाकार भी थे। महात्मा बुद्ध के जीवन की घटनाओ एव शिक्षाओ को जिस कुशलता से बौद्ध कलाकार ने प्रसारित किया वे आज भी पाषाण-खण्डो पर विद्यमान है। परन्तु जैन-प्रचारक ने अपने धर्म-प्रचार के हेतु कला के माध्यम को अधिक व्यापक रूप मे ग्रहण न किया। अत जनता के उस भाग के जो जैन ग्रन्थो और जैन प्रवचनो से दूर था, जैन परम्पराओ एव विचार-पद्धतियो से अवगत कराने का कोई अन्य माध्यम न रहा। बौद्ध कला जीवन और धर्म को जोडने वाली कड़ी थी। जैन-इतिहास मे इस कडी का प्राय: अभाव है।

(९) जैन साहित्य भी जनता के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित न कर सका, क्योकि वह सस्कृत भाषा मे लिखा जाने लगा। सस्कृत लोक-भाषा न थी। फिर उसे साधारण जनता कैसे समझती? अपने साहित्य की दुर्बोधता के कारण जैन धर्म जनसाधारण के पास अधिक न पहुँच सका।

भारत में स्थायित्व—इसमे कोई सन्देह नही कि बौद्ध धर्म का देश-विदेश में खूब प्रचार हुआ। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि आज जहाँ विश्व का पाँचवा भाग बौद्ध धर्मानुयायी है, वहाँ यह धर्म अपनी जन्म-भूमि मे प्राय: विलुप्त हो गया है। परन्तु इसके विरुद्ध जैन धर्म यद्यपि विदेशो में नही है तथापि अपनी जन्म-भूमि भारत में वह आज भी फल-फूल रहा है। उसके बहुसख्यक अनुयायी हैं, उनके मन्दिर हैं, उनके धार्मिक पर्व और त्योहार हैं। जैन धर्म के स्थायित्व के कुछ विशेष कारण हैं,—

(१) जैन धर्म के अनुयायी सदैव कम रहे। अल्पसख्यक समुदाय में एकता, सगठन और सम्पर्क अधिक सुगम होता है और ये गुण ऐसे हैं कि इनके सहारे अल्पसख्यक समुदाय नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओ के रहते हुए भी अपना अस्तित्व कायम रखता है। यही बात जैन-समुदाय के विषय में भी चरितार्थ हुई।

(२) जिस प्रकार प्राचीन भारतवर्ष के अनेक व्यावसायिक वर्ग जाति के रूप

में परिवर्तित हो गए उसी प्रकार जैन धर्म के अनुयायी भी कालान्तर में एक जाति के रूप में सगठित हो गए। अपने समुदाय के भीतर ही विवाह और अन्न-पान की प्रथा प्रतिष्ठित करने के कारण जैन अनुयायी धार्मिक आधार के साथ-ही-साथ जातीय आधार पर एक पृथक् इकाई हो गए। इकाईबद्ध समुदाय में जीवनी-शक्ति अधिक होती है। यह सत्य भारतवर्ष की जातियों के इतिहास से भली भाँति प्रकट होता है। अतः जैन धर्म के स्थायित्व का आधार उसमे प्रतिष्ठित एक-जातीयता भी है।

(३) पीछे कहा जा चुका है कि ब्राह्मण धर्म के अनेकानेक सिद्धान्त जैन धर्म में प्रविष्ट हो गए थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन धर्म बहुत सी बातों में ब्राह्मण धर्म से अभिन्न दिखाई पड़ने लगा। जैन-धर्म की यह निर्बलता ही उसके आपद्-काल में उसकी सरक्षिका बनी। जैन धर्म का मूलोच्छेदन करने पर तुले हुए अतिवादी ब्राह्मण-धर्मावलम्बी समुदाय में अन्तर्निहित जैन-समुदाय को देख ही न सके। परिणामतः बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म को उत्पीडन और अत्याचार से बहुत कम क्षति पहुँची।[1]

1 'So, when storms of persecution swept over the land, Jainism simply took refuge in Hinduism, which opened capacious bosom to receive it, and to the conquerors it seemed an indistinguishable part of that great system.' Mrs. Stevenson, The Heart of Jainism.

१६

बौद्ध धर्म

महात्मा बुद्ध की जीवनी—कोशल देश के उत्तर मे कपिलवस्तु शाक्य क्षत्रियो का एक छोटा-सा गणराज्य था। यहाँ शुद्धोदन नामक एक राजा राज्य करते थे। ५६३ ई० पू० अथवा ६२४[1] ई० पू० इन्ही शुद्धोदन की कोलियवशीया पत्नी महामाया अथवा मायादेवी के गर्भ से गौतम (जो बाद को महात्मा बुद्ध कहलाये) का जन्म हुआ था। यह जन्म नेपाल की तराई में स्थित लुम्बिनी वन मे हुआ था जो कपिलवस्तु से लगभग १४ मील की दूरी पर है। कालान्तर में यही पर सम्राट अशोक ने एक स्तम्भ स्थापित करवाया था जिस पर आज भी हिद बुधे जाते साक्यमुनिति हिद भगवा जातेति (यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थ—यहाँ भगवान उत्पन्न हुए थ) पढा जा सकता है।

गौतम के जन्म के सातवे दिन उनकी माता महामाया का देहान्त हो गया। अत उनका पालन-पोषण उनकी मौसी महाप्रजापती गौतमी ने किया। क्षीरदायिका होने के कारण महाप्रजापती गौतमी का नाम इतिहास मे अमर हो गया है। कालान्तर म इन्ही के विषय को लेकर महात्मा बुद्ध के प्रधान शिष्य आनन्द न स्त्रियो का प्रव्रज्या ग्रहण करने की आज्ञा दिलाने के लिए महात्मा बुद्ध से कहा था कि भन्ते जा अभिभाविका पोषिका क्षीरदायिका हो भगवान की मौसी महाप्रजापती गौतमी क बहुउपकारिणी हो जननी के मरने पर जिसने भगवान को दूध पिलाया हो। भन्ते अच्छा हो यदि स्त्रियो को भी प्रव्रज्या मिले।[2] महात्मा बुद्ध की आज्ञा मिल जाने पर महाप्रजापती गौतमी ने प्रव्रज्या ग्रहण की और भारत की तत्वान्वेषिणी नारियो म अपनी गणना कराई।

गौतम के जन्म पर कालदेवल नामक एक तपस्वी ने भविष्यवाणी की थी कि यह बाल आग चल कर बुद्ध होगा। यही बात एक दूसरे भविष्यवेत्ता ब्राह्मण कौण्डिन्य ने भी कहा थी। कालान्तर में ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् महात्मा बुद्ध ने सारनाथ में जिन ५ ब्राह्मणो को सब प्रथम धर्मोपदेश दिया था उनमें यह ब्राह्मण कौण्डिन्य

१ अधिकांश विद्वानों ने महात्मा बुद्ध की मृत्यु की तिथि ४८३ ई० पू० मानी है। बौद्ध साहित्य से प्रकट होता है कि महात्मा बुद्ध ८० वर्ष तक जीवित रहे थे। अत उनकी जन्मतिथि ५६३ ई० पू० हुई। परन्तु सिंहली परम्परा के अनुसार उनकी मृत्यु ५४४ ई० पू० हुई थी। इस आधार पर उनकी जन्म-तिथि ६२४ ई० पू० ठहरती है।

२ प्रजापती पब्बज्जा सुत्त (अंगुत्तर० ४ २ १ १)

भी था। इस प्रकार 'न धर्मवृद्धेषु वय समीक्ष्यते' की उक्ति इतिहास में एक बार फिर सार्थक हुई।

बालक गौतम को पुस्तकीय शिक्षा के अतिरिक्त क्षत्रियोचित सामरिक शिक्षा भी दी गई। शीघ्र ही वे घुड़सवारी, तीरदाजी, मल्ल-कला आदि मे सिद्धहस्त हो गए। परन्तु प्रकृत्या चिन्तनशील होने के कारण गौतम का मन इन सब सासारिक विषयों में अनुरक्त न होता था। वे सदैव किसी चिन्ता मे व्यग्र रहते थे। बहुधा लोगों ने उन्हें अपने घर से दूर एक जम्बू वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न अवस्था में बैठे देखा था। उनकी चिन्ता का विषय क्या था, यह तो बाद को ही ससार को ज्ञात हुआ।

गौतम का प्रारम्भिक जीवन बडी सुख-समृद्धि के बीच बीता। उनके रहने के लिए तीन ऋतुओं के अनुरूप पृथक-पृथक् तीन प्रासाद बनवाये गए थे जिनमें ऐश्वर्य की समस्त सामग्री एकत्र की गई थी। इसी प्रकार राजकुमार के घूमने-फिरने के लिए अनेक रम्य उपवनों का निर्माण हुआ था जिनमें अति मनोहारी कुंज और निर्झरादिक थे। राजा शुद्धोदन का पूर्ण प्रयास यही था कि राजकुमार की प्रवृत्ति वैभवपूर्ण वातावरण में रम जाय और उसके ससार-त्याग की सम्भावना का निराकरण हो जाय। इसी उद्देश्य से उन्होंने एक अति सुन्दर एव विविध गुणसम्पन्न क्षत्रिय कन्या के साथ १६ वर्ष की अवस्था में ही गौतम का विवाह भी कर दिया। बौद्ध साहित्य में गौतम की पत्नी के अनेक नाम मिलते हैं। बुद्धवश के अनुसार उसका नाम भद्दकच्छा था। परन्तु जातक टीका और महावदान सुत्त में उसे बिम्बा के नाम से सम्बोधित किया गया है। यही नही, ललितविस्तर उसका नाम गोपा बताता है। परन्तु जो नाम सबसे अधिक लोकविदित है वह है यशोधरा। अधिकाश बौद्ध ग्रन्थों में हम यही नाम पाते है। कुछ समय के पश्चात् यशोधरा से गौतम के एक पुत्र हुआ। परन्तु पुत्र-जन्म से चिन्तनशील गौतम को कोई प्रसन्नता न हुई। कहते हैं कि जब उन्हें पुत्र-जन्म का समाचार मिला तो उनके मुख से सहसा निकला कि 'राहु' (बन्धन) उत्पन्न हुआ। इसी से नवजात शिशु का नाम राहुल पड़ा।

त्रिपिटक मे अनेक ऐसे दृश्यों और घटनाओं का उल्लेख है जिनसे गौतम के वैराग्य-प्रधान स्वभाव को उद्दीपन मिला। कहते हैं कि नगर-दर्शन के हेतु भिन्न-भिन्न अवसरो पर बाहर जाते हुए गौतम को मार्ग में पहले जर्जरशरीर वृद्ध, फिर व्यथापूर्ण रोगी, फिर मृतक और सबसे बाद को वीतराग प्रसन्नचित्त सन्यासी के दर्शन हुए। इन दृश्यों ने भावप्रवण गौतम के हृदय में प्रवृत्तिमार्ग की निस्सारता और निवृत्ति मार्ग की सन्तोष-भावना को दृढ़ीभूत कर दिया।

संसार से गौतम का मन उचटता देख कर शुद्धोदन को चिन्ता हुई और उन्होंने एक बार फिर गौतम को विलासिता की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया। एक रात वे अति सुन्दर वेश्याओं के मध्य में अकेले छोड़ दिए गए। उन रमणियो ने अनेक हाव-भावों से गौतम को रिझाने का प्रयत्न किया। उन्मन गौतम के ऊपर उनका कोई प्रभाव न पड़ा और वे वही सो गए। उन्हें सोया हुआ देख कर रमणियाँ भी सो गईं। कुछ देर बाद गौतम की नीद खुली और उन्होंने देखा कि जो रमणियाँ कुछ देर पूर्व अति कान्तिवती और रूपवती दृष्टिगोचर हो रही थी वे ही सुषुप्तावस्था में अति विरूप हो गई हैं। किसी के बाल बिखरे हैं तो किसी के वस्त्राभरण अस्त-व्यस्त हो गए हैं। कोई भयावह खर्राटे भर रही हैं तो कोई दुःस्वप्न देख कर घबरा रही हैं। ऐसे भयावह दृश्य को देख कर गौतम का हृदय फिर किसी घोर चिन्ता में निमग्न हो गया और वे वहाँ से अपने कक्ष में चले आये। अन्त में उन्होंने सांसा-

रिक दु:खों से निवृत्ति का मार्ग खोजने के लिए अपनी भार्या तथा शिशु को सोते हुए ही छोड़ कर २९ वर्ष की अवस्था में गृहत्याग कर दिया।

आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी का मत है कि आकस्मिक भावावेश में गौतम ने गृहत्याग न किया होगा। अत. उपर्युक्त दृश्य उनके गृह-त्याग के विशेष कारण नहीं हो सकते। उसके लिए कोई और भी गम्भीर कारण रहे होंगे। इन गम्भीर कारणों में प्रधान था गौतम की चिन्ताशील प्रवृत्ति और दु.ख से जलते हुए संसार की संरक्षा का उपयुक्त उपाय खोज निकालने की प्रबल उत्कण्ठा। गौतम ने दीर्घकाल तक सभी समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया होगा और तत्पश्चात् प्रवृत्ति में सरक्षा का कोई मार्ग न देखकर निवृत्ति-मार्ग का अवलम्ब लिया होगा। इस कारण उनका गृह-त्याग दीर्घकालीन अनुभव और चिन्तन का परिपक्व फल होगा, उपर्युक्त दृश्यों से सहसा उद्भूत वैराग्य-भावना का आकस्मिक फल नही। हाँ, इसमें कोई सन्देह नही कि इन दृश्यो ने गौतम के बुद्धिजनित निष्कर्ष को उद्दीप्त अवश्य किया होगा।

आचार्य कोसम्बी गौतम के गृहत्याग का एक राजनीतिक कारण भी बताते हैं। उनका कथन है कि शाक्यों के पडोसी और सम्बन्धी कोलिय राजा थे। इन दोनो क्षत्रिय जातियो में रोहिणी नदी के पानी के विषय पर बहुधा युद्ध हुआ करता था। इसी प्रकार के एक अवसर पर कोलियो के दमन का भार शाक्यो ने गौतम को देना चाहा। परन्तु गौतम इस पारस्परिक शत्रुता से खिन्न थे। अत. उन्होने शस्त्र ग्रहण से इनकार कर दिया, परन्तु इस इनकार से भयकर परिणाम हो सकता था। सम्भव था कि शुद्धोदन के समस्त परिवार को राज्य से बाहर निकाल दिया जाता। इस सकट से अपने परिवार की रक्षा करने के हेतु गौतम ने स्वय गृह-त्याग कर दिया।[1] परन्तु हम इस राजनीतिक कारण को गौतम के गृह-त्याग का प्रमुख कारण नही मान सकते। स्पष्टतया गौतम के गृह-त्याग के पीछे एकमात्र पारिवारिक सरक्षा की चिन्ता न थी। वे तो सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए व्याकुल थे।

ज्ञान की खोज में—गृहत्याग करने के पश्चात् गौतम ने ७ दिन अनूपिय नामक ग्राम के बाग मे व्यतीत किये। इसके पश्चात् एक लम्बी यात्रा पार करके वे राजगृह पहुँचे। वहाँ के नरेश ने उन्हें भारी ऐश्वर्य प्रदान करना चाहा, परन्तु गौतम ने उसे अस्वीकार कर दिया और आगे चल दिए।

कालान्तर में वे आलार कालाम नामक एक तपस्वी के पास पहुँचे। ये किसी सीमा तक साख्योपदेशक थे। इनके ३०० शिष्य थे। गौतम उन्ही के पास रह कर ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करने लगे। परन्तु अन्त में यह जान कर कि आलार कालाम का 'यह धर्म न निर्वेद के लिए है, न वैराग्य के लिए, न निरोध के लिए, न उपशम के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न सम्बोधि के लिए और न निर्वाण के लिए'[2], गौतम ने उनका साथ छोड़ दिया।

चलते-चलते वे रामपुत्त नामक एक अन्य आचार्य के पास पहुँचे। इनके ७०० शिष्य थे और यह 'नैव संज्ञा-नासंज्ञायतन' नामक योग का उपदेश करता था।[3] परन्तु यह आचार्य भी गौतम को सन्तोष न दे सका। अतः उन्होंने उसका साथ भी छोड़ दिया।

१ विश्ववाणी 'बौद्ध संस्कृति' विशेषांक (मई, १९४२), पृष्ठ ५०४-५

२ बोधिराजकुमार सुत्त (मज्झिम० २. ४. ५)

३ बोधिराजकुमार-सुत्त (मज्झिम० २. ४. ५)

आगे चलते हुए वे उरुवेला की सुरम्य वनस्थली में पहुँचे। यहाँ उन्हें कौण्डिन्य आदि ५ साधक और मिले। अन्य व्यक्तियों की सहायता से सफलता मिलती न देख कर गौतम ने अब स्वयं आत्म-पौरुष (प्रधान) का अवलम्ब लिया। उन्होंने पूर्व परम्परा के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति के निमित्त घोर तपस्या करना प्रारम्भ कर दिया। इसका वर्णन उन्होंने स्वयं इस प्रकार किया है—'तब राजकुमार! मेरे मन में हुआ-क्यों न मैं दाँतों के ऊपर दाँत रखकर, जिह्वा द्वारा तालू को दबा, मन से मन को निग्रह करूँ, दबाऊँ, सन्तापित करूँ। तब मेरे दाँत पर दाँत रखने, जिह्वा से तालू दबाने, मन से मन को पकडने, दबाने, तपाने में, काँख से पसीना निकलता था। उस समय मैंने अदम्य वीर्य प्रारम्भ किया था, स्मृति मेरी बनी थी, काया भी तत्पर थी।' 'तब मुझे यों हुआ—क्यों न मैं श्वासरहित ध्यान धरूँ? सो मैंने राजकुमार! मुख और नासिका से श्वास का आना-जाना रोक दिया। तब राजकुमार! मेरे मुख और नासिका से आश्वास-प्रश्वास के रुक जाने पर कान के छिद्रों से निकलती हवाओं का बहुत अधिक शब्द होने लगा ... मूर्धा में बहुत अधिक हवा टकराने लगी ... सिर में बहुत अधिक पीडा होने लगी, बहुत अधिक हवा पेट को छेदने लगी, शरीर में बहुत अधिक जलन होने लगी। ..

गौतम के अल्पाहार का परिणाम यह हुआ कि वे सूखकर बिल्कुल काटा हो गए। उनमें इतनी भी शक्ति न रही कि वे दो-चार कदम इधर-उधर चल सकें। परन्तु इस कठोर तपस्या के पश्चात् भी गौतम को ज्ञान प्राप्त न हुआ। अत इसे निरर्थक समझ कर उन्होंने इसका परित्याग कर दिया और भोजन ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। इस पर उनके सहवासी पाँचो ब्राह्मण तपस्वियों ने यह समझा कि गौतम पद-च्युत हो गया है। अत वे उनका साथ छोडकर ऋषिपतन (सारनाथ) चले गए।

अब गौतम ने गया के एक वट वृक्ष के नीचे बैठ कर ध्रुव समाधि लगाई और यह निश्चय किया कि चाहे मेरा प्राणान्त भले ही हो जाय, परन्तु जब तक मुझे ज्ञान प्राप्त न हो जायगा तब तक मैं अपनी समाधि भग न करूँगा। तत्पश्चात् वे सात दिन और सात रात अखण्ड समाधि में स्थित रहे। आठवें दिन वैशाख पूर्णिमा पर गौतम को ज्ञान प्राप्त हुआ और इस प्रकार उनकी दीर्घ साधना सफल हुई। उस दिन से वे 'तथागत' हो गए। परन्तु ससार उन्हें 'बुद्ध (जिसे बोध अथवा ज्ञान प्राप्त हो गया हो) के नाम से ही अधिक जानता है। उनके बोध-प्राप्ति से सम्बन्धित होने के कारण गया 'बोध गया' और वह वट वृक्ष जिसके नीचे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था, बोधि-वृक्ष के नाम से प्रख्यात हुए। आज भी ये विश्व के एक विशाल जन-समूह की प्रगाढ श्रद्धा-भक्ति के केन्द्र हैं।

गौतम को ज्ञान प्राप्त हो गया था, परन्तु अभी उन्होंने सघ की स्थापना न की थी। एक दिन वे बोध गया में एक वृक्ष के नीचे बैठे थे, तभी उनके समक्ष तपस्सु और भल्लिक नामक दो बनजारे उपस्थित हुए। महात्मा बुद्ध ने इन्हें उपदेश दिया और अपना उपासक बना लिया। दलित मानवता के लिए यह बडे गौरव की बात है कि उसी के दो प्रतिनिधि विश्वविदित बौद्ध धर्म के सर्वप्रथम अनुयायी बने।

कुछ सकोच के पश्चात् भगवान बुद्ध ने यह निश्चय किया कि पीडित मानवता के उद्धार के लिए उनका उपदेश आवश्यक है। अत. उन्होंने धर्म-प्रचार करने का निश्चय किया। वे बोध गया से ऋषिपतन (सारनाथ) पहुँचे और वहाँ उन्होंने सर्व प्रथम धर्मोपदेश अपने पुराने साथी उन्हीं पाँच ब्राह्मणों को दिया जो गया में

महात्मा बुद्ध का साथ छोड़ कर चले आ थे। यह धर्मोपदेश धर्म-प्रचार में महात्मा बुद्ध का प्रथम कार्य था। इसी को बौद्ध परम्परा में 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' (धर्मरूपी चक्र का चलना) कहते हैं। कालान्तर में इस पुनीत घटना को अमरत्व देने के लिए सम्राट अशोक ने सारनाथ में एक विशाल स्तूप बनवाया।

अब महात्मा बुद्ध काशी पहुँचे। वहाँ यस नामक एक धनवान अपने समस्त परिवार के साथ बौद्ध हो गया। इसी प्रकार धीरे-धीरे महात्मा बुद्ध के अनुयायियों की सख्या बढती गई और शीघ्र ही वह ६० हो गई। तब महात्मा बुद्ध ने उन सबको बुलाकर आदेश दिया, 'भिक्षुओं, बहुजनहितार्थ, बहुजनसुखार्थ, लोक पर अनुकम्पा करने के लिए, हित के लिए, सुख के लिए, विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। हे भिक्षुओ, आदि मे कल्याणकर, मध्य में कल्याणकर, अन्त मे कल्याणकर इस धर्म का उपदेश करो'।[१]

इस प्रकार बौद्ध भिक्षुओ द्वारा भी धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम महात्मा बुद्ध उरुवेल पहुँचे। यह भाग अपने ब्राह्मण-धर्मसम्मत कर्मकाण्ड के लिए प्रसिद्ध था। यहाँ लगभग १००० ब्राह्मण रहते थे जो प्रत्येक समय अग्नि-कुण्ड को प्रदीप्त रख कर मन्त्रोच्चार के साथ हवन किया करते थे। यहाँ कश्यपगोत्रीय तीन याज्ञिक ब्राह्मण बौद्ध धर्म के अनुयायी हो गए। इनमें काश्यप सवप्रथम था। कालान्तर मे यह महात्मा बुद्ध का एक प्रमुख शिष्य सिद्ध हुआ।

काशी से चल कर महात्मा बुद्ध राजगृह आए। उनके आगमन का समाचार पाकर मगध-नरेश बिम्बिसार अपनी प्रजा के साथ उनके दर्शनार्थ उपस्थित हुआ। बौद्ध ग्रन्थो का कथन है कि वे सब महात्मा बुद्ध के अनुयायी बन गए। राजकीय सहायता ने बौद्ध धर्म के प्रचार को काफी योग दिया।

उसी समय की बात है कि सारिपुत्र और मौद्गल्यायन नामक दो अत्यन्त तेजस्वी विद्वान काशी की एक गली मे बैठे किसी विषय पर वार्ता कर रहे थे। तभी अस्सजी नामक क बौद्ध भिक्षु भिक्षाटन करते हुए उस मार्ग से निकला। उसकी शान्त, प्रसन्न और कान्ति पूर्णमुखमुद्रा को देख कर ये दोनो ब्राह्मण इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होने उससे परिचय प्राप्त किया और तदनन्तर महात्मा बुद्ध के पास आए। तथागत ने उन्हें अपने धर्म मे दीक्षित किया। ससार जानता है कि कालान्तर में ये दोनो ब्राह्मण महात्मा बुद्ध के परमप्रिय शिष्य और अत्यन्त तेजस्वी धर्म-प्रचारक सिद्ध हुए।

इसी प्रकार महात्मा बुद्ध की चारिका चलती रही। घूमते-घूमते वे अपनी राजधानी कपिलवस्तु में भी पहुँचे थे। उनका यह आगमन चिरस्मरणीय रहेगा। यहाँ उनकी क्षीरदायिका महाप्रजापती गौतमी ने प्रव्रजित होने की इच्छा प्रकट की। तभी सर्वप्रथम बौद्ध सघ में नारी-प्रवेश का प्रश्न उठा। मानवी स्वभाव की दुर्बलताओं से परिचित महात्मा बुद्ध की सर्वप्रथम प्रतिक्रिया धर्म में नारियों को दीक्षित करने के प्रतिकूल ही थी। इसी अभिप्राय से उन्होने महाप्रजापती गौतमी से कहा था 'नहीं, गौतमी! मत तुझे रुचे कि स्त्रियाँ भी तथागत के दिखाए धर्म-विनय में घर से बेघर हो प्रव्रज्या पावें।' परन्तु विश्व में नारी के समानाधिकार के सर्वप्रथम प्रचारक तथा महात्मा बुद्ध के परम प्रिय शिष्य आनन्द के आग्रह पर तथागत ने गौतमी को प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति दे दी। साथ में समस्त नारी-समाज को यह अधिकार प्राप्त हो गया। इस अधिकार से लाभ उठाकर महाप्रजापती गौतमी की पुत्री नन्दा

१ संयुक्त ४. १. ४, विनय पिटक, महावग्ग १

तथा स्वयं महात्मा बुद्ध की भार्या यशोधरा ने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

कपिलवस्तु में गौतमी के पुत्र नन्द और स्वय महात्मा बुद्ध के पुत्र राहुल ने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

कपिलवस्तु से राजगृह लौटते समय महात्मा बुद्ध ने अनुपिय नामक स्थान पर शाक्य 'राजा' भद्रिक तथा उसके सहगामी आनन्द, अनुरुद्ध, उपालि और देवदत्त को भी धर्म में दीक्षित किया। कालान्तर में ये सब बौद्ध धर्म के प्रबल प्रचारक निकले।

प्रारम्भ में महात्मा बुद्ध गृह-त्याग को दुःखनिरोध के लिए आवश्यक समझते थे। उनका विचार था कि विशुद्धतम ब्रह्मचर्य गृहवास में सम्भव नही।[1] परन्तु यदि महात्मा बुद्ध अपने धर्म को एकमात्र परिव्राजकों और भिक्षुओं का ही धर्म रखते तो उनका धर्म कभी भी बहुसंख्यक अनुयायियो को आकर्षित न कर पाता और जनता का व्यापक सहयोग न मिलने पर वह अल्पकाल मे ही शिथिल अथवा विलुप्त हो जाता। अत बौद्ध धर्म की व्यापक अभ्युन्नति के लिए यह आवश्यक था कि उसे गृहस्थो का भी योग प्राप्त होता। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि बौद्ध धर्म में गृहस्थों को भी स्थान दिया जाता। इस अपरिहार्य परिस्थिति को देखते हुए महात्मा बुद्ध ने गृहस्थो को भी बौद्ध धर्म स्वीकार करने की आज्ञा दे दी, परन्तु उन्हें आजीवन ब्रह्मचर्य और गृहत्याग के कठोर नियमों से मुक्त कर दिया। इन गृहस्थ बौद्धो को गृहत्यागी भिक्षुओ की कोटि से पृथक रखा गया और उन्हें 'उपासक' की सज्ञा दी गई। यद्यपि भिक्षु की अपेक्षा उपासक का स्थान गौण था तथापि महात्मा बुद्ध को दोनो का ही व्यापक सहयोग प्राप्त हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि दार्शनिक आधार पर महात्मा बुद्ध ने गृहस्थाश्रम को निन्द्य और त्याज्य बताया परन्तु व्यावहारिक रूप में उसे ही अपने धर्म की आधार-पीठिका बताया। इस प्रकार उन्हें परोक्ष रूप से ब्राह्मण धर्म के गृहस्थाश्रम की सर्वोपरि महत्ता और अनिवार्यता को स्वीकार करना पडा।

अब महात्मा बुद्ध के समस्त अनुयायी ४ भागों में विभाजित हो गए—(१) भिक्षु (२) भिक्षुणी (३) उपासक और (४) उपासिका। इन सब अनुयायियों में ८ अनुयायी अपनी विद्वत्ता और सदाचारिता के लिए प्रमुख थे[2]—

(१) सारिपुत्त और (२) महामौद्गल्यायन—ये अग्रश्रावक थे (३) क्षमा और (४) उत्पलवर्णा—ये अग्रश्राविकायें थी (५) चित्र गृहपति और (६) हस्तक आमलक—ये अग्रश्रावक उपासक थे (७) वेलुकटकी नन्दमाता और (८) खुज्ज उत्तरा—ये अग्रश्राविका उपासिकायें थी।

पर्यटन—महात्मा बुद्ध ८० वर्ष की अवस्था तक घूम-घूम कर धर्म प्रचार करते रहे। 'जैसे कोई औंधे को सीधा कर दे, ढँके को खोल दे, भूले को मार्ग दिखा दे, अधकार में तेल का दीपक रख दे जिससे कि आँख वाले रूप को देखें, वैसे ही भगवान ने अनेक पर्याय से धर्म को प्रकाशित किया।'[3] उनके शिष्य भी उन्ही के समान भिन्न-भिन्न टुकड़ियों में बँट कर यत्र-तत्र घूमते और धर्म-प्रचार करते थे। प्रत्येक टुकड़ी में भिक्षुओं की सख्या लगभग ३०० से ५०० तक रहती थी। ऐसी ही एक टुकड़ी महात्मा बुद्ध के साथ भी रहती थी। महात्मा बुद्ध के अनवरत धर्म-प्रचार की बात स्वय उन्हीं के कथन से विदित हो जाती है। उन्होंने एक बार सारिपुत्र से कहा

१ रट्ठपाल सुत्त (मज्झिम० २.४.२) पृ० ४७३-४
२ धम्मपद-अट्ठकथा ४.३; बुद्धचर्या ३ तेविज्ज सुत्त (दीघ० १.१३)

था 'सारिपुत्र ! अशन, पान, खादन, शयन के समय को छोड़, मल-मूत्र त्याग के समय को छोड, निद्रा थकावट के समय को छोड़ तथागत की धर्म-देशना सदा अखण्ड ही रहेगी [1]।'

वर्षाकाल को छोड कर वर्ष के शेष काल में महात्मा बुद्ध तथा बौद्ध भिक्षु लगातार पर्यटन किया करते थे। वर्षाकाल में मार्ग दुर्गम हो जाते थे। अत सारे बौद्ध भिक्षु अपना दौरा स्थगित कर देते थे। स्वय महात्मा बुद्ध भी किसी एक स्थान पर रह कर वर्षाकाल के तीन मासों में विश्राम लेते थे। इस समय प्रायः उनके सभी प्रधान शिष्य उनके पास आ जाते थे और उनसे धर्म-चर्चा करते थे। यह काल वास्तव में धर्म के रूप-निरूपण एव आगामी कार्य-निर्धारण का काल होता था। वर्षाकाल में भगवान बुद्ध जिन स्थानो में रुकते थे उनमें दो विशेष उल्लेखनीय हैं—वेलुवन और जेतवन। बौद्ध भिक्षुओ के निवास के लिए बिम्बिसार ने सर्वप्रथम वेलुवन—बिहार बनवाया था। दूसरा, जेतवन प्रारम्भ में जेत-राजकुमार की निजी सम्पत्ति था। इसे सुदत्त अनाथपिण्डिक नामक एक धनी व्यापारी तथा श्रद्धामय बौद्धानुयायी ने बडे भारी मूल्य पर राजकुमार से खरीद कर बौद्ध सघ को दे दिया था। इस दान का उल्लेख भरहुत की पाषाण-मूर्ति पर इस प्रकार किया गया है—

'जेतवन अनथपेदिको देति कोटि समूव्ययेन केता',

जिस समय महात्मा बुद्ध किसी नगर में जाते थे तो उनके दर्शन के लिए भीड़ लग जाती थी। इस भीड में राजा-रक, धनी-निर्धन, ऊँच-नीच सभी रहते थे। महात्मा बुद्ध उन सबको धर्मोपदेश देते थे। कभी-कभी महात्मा बुद्ध तथा बौद्ध भिक्षुओ को व्यक्तिगत रूप से नगर के धनी-मानी अथवा प्रतिष्ठित व्यक्ति अपने घर पर भोजन के लिए निमन्त्रित करते थे। भोजन करने के उपरान्त महात्मा बुद्ध अथवा आमन्त्रित बौद्ध भिक्षु अपने आतिथ्यदाता गृहस्थ को उपदेश देता था। महात्मा बुद्ध एव उनके सघ की आवश्यकताओं की पूर्ति प्रतिष्ठित भारतीय जनसमुदाय की उदारता और दान-शीलता से ही होती थी।

अन्तिम दिवस और महापरिनिर्वाण—४५ वर्ष के अनवरत धर्मोपदेश के पश्चात् महात्मा बुद्ध की वृद्धावस्था आ पहुँची। उनके शरीर पर जरा के समस्त लक्षण प्रकट हो गए। इस विषय पर महात्मा बुद्ध के परम प्रिय शिष्य आनन्द (जो तथागत की परिचर्या का सारा भार अपने ऊपर लिए थे) का निम्नलिखित कथन है—'भगवान के चमडे का रग उतना परिशुद्ध, उतना पर्यवदात नही है। गात्र शिथिल है। सम्पूर्ण शरीर पर झुर्रियाँ पडी हुई हैं। शरीर आगे की ओर झुका है। इन्द्रियों में भी विकार दिखाई पड़ता है। [2]

अपना अवसान-काल आया देख कर एक दिन महात्मा बुद्ध ने आनन्द से कहा—आनन्द मै जीर्ण, वृद्ध, अध्वगत, वयःप्राप्त हूँ। अस्सी वर्ष की मेरी आयु है। आनन्द ! जैसे पुरानी गाड़ी बाँध-बूँधकर चलती है, वैसे ही आनन्द ! तथागत का शरीर बाँध-बूँध कर चल रहा है।.. ..इसलिए आनन्द ! आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्यशरण, धर्मदीप, धर्मशरण, अनन्य शरण होकर विहरो'। [3]

वैशाली में भिक्षुओं को बुलाकर तथागत ने फिर उपदेश दिया और कहा कि

१ महासीहनाद-सुत्तन्त (मज्झिम० १.२.२)
२ जरा-सुत्त (संयुक्त० ४६.५.१)
३ महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २.३)

'अचिर काल में ही तथागत का परिनिर्वाण होगा। आज से तीन मास बाद तथागत परिनिर्वाण प्राप्त करेंगे।'[1]

वैशाली से महात्मा बुद्ध पावा गए और वहाँ चुन्द कर्मार-पुत्र (सोनार) के घर पर भोजन किया। इसके पश्चात् पेचिश हो गई। किन्तु उस वेदना को किसी प्रकार सहन करते हुए वे कुशीनारा पहुँचे। अब उनका निर्वाण अति सन्निकट था। इसलिए उन्होंने भिक्षुओं को बुलाकर अन्तिम उपदेश दिया, 'आनन्द! शायद तुम ऐसा सोचो कि हमारे शास्ता चले गए, अब हमारा शास्ता नही है! आनन्द! इसे ऐसा मत समझना। मैने जो धर्म और विनय उपदेश किए हैं, प्रज्ञप्त किए हैं, मेरे बाद वे ही तुम्हारे शास्ता होंगे।'[2]

आनन्द और भिक्षुओं को इस प्रकार उपदेश देते हुए महात्मा बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके पुनीत अवशेष आठ भागों में विभक्त किए गए और उन पर भिन्न-भिन्न स्थलों पर आठ स्तूप बनवाये गये। बौद्ध साहित्य में स्तूप-निर्माताओं के नाम इस प्रकार हैं—

(१) मगधनरेश अजातशत्रु (२) वैशाली के लिच्छवि (३) कपिलवस्तु के शाक्य (४) अल्लकप्प के बुलिय (५) रामगाम के कोलिय (६) वेठदीप के ब्राह्मण (७) पावा के मल्ल और (८) पिप्पलीवन के मौर्य।

महात्मा बुद्ध के प्रमुख शिष्य—महात्मा बुद्ध के बहुसंख्यक अनुयायियों में कुछ ऐसे थे जिन्होंने अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता, सदाचारिता और अनन्य श्रद्धा के कारण तथागत के ऊपर स्थायी प्रभाव डाला था और वे तथागत के परमप्रिय शिष्य बन गए थे। अपनी अनवरत साधना और कार्य-परायणता से इन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार में महनीय योग दिया था। इनमें से कुछ के नामोल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) आनन्द—यह शाक्यवंशीय था और महात्मा बुद्ध का चचेरा भाई होता था। यह प्राय महात्मा बुद्ध के साथ ही रहता था। अपनी श्रद्धा-भक्ति से यह तथागत के उन्मुक्त प्रेम का भाजन बन गया था। सदैव समीप रहने के कारण महात्मा बुद्ध के बहुसंख्यक उपदेश इसी को सम्बोधित करके दिए गए हैं। अपने शास्ता के सुख-दुख में जितना भागी यह रहा था कदाचित् उतना कोई भी अन्य शिष्य नही। अपने अन्य प्रमुख शिष्य सारिपुत्र की मृत्यु पर जिस समय महात्मा बुद्ध शोक-विह्वल हो उठे थे उस समय उन्हें सान्त्वना देने का भार आनन्द पर ही आ पडा था। तथागत के अवसान-काल को सन्निकट देखकर वह जिस करुणा के साथ विलख-विलख कर रोने लगा था वह महात्मा बुद्ध के प्रति उसके निष्कलुष एवं असीम अनुराग की परिचायिका थी। पुरुष के समकक्ष नारी के समानाधिकार की वकालत करके तथा अन्त में तथागत के विरोध पर विजय पाकर आनन्द ने अपनी जिस उदात्त एवं उदार मनोवृत्ति तथा तर्कशीलता का प्रमाण प्रस्तुत किया था वह विश्व-इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेगा।

(२) सारिपुत्र—यह ब्राह्मण था और महात्मा बुद्ध के व्यक्तित्व एवं लोकोपकारी धर्म से प्रभावित होकर बौद्ध भिक्षु हो गया था। यह तथागत का महाप्रज्ञ, महाश्रद्धालु एवं वीतराग शिष्य था। इसके विषय में स्वयं महात्मा बुद्ध ने कहा था कि मेरे द्वारा संचालित चक्र, अनुपम धर्मचक्र को तथागत का अनुजात सारिपुत्र अनु-

१ वही २ वही

चालित कर रहा है[1]। इसकी निर्दोषिता के विषय में मिलिन्दपन्हो इस प्रकार उल्लेख करता है, 'देवताओं के सहित इस सारे लोक को उलट जाने, सूर्य और चन्द्र के पृथ्वी पर टूट पड़ने और पर्वतराज सुमेरु के चूर-चूर हो जाने पर भी स्थविर सारिपुत्र किसी के दुःख की इच्छा मन में नहीं ला सकते थे।'[2] इसकी मृत्यु पर स्वयं महात्मा बुद्ध शोक से अत्यन्त व्याकुल हो उठे। उस समय भिक्षुओं से उन्होंने इस प्रकार कहा था, 'यह भिक्षु संतुष्ट प्रविविक्त, असंसृष्ट, उद्योगी, पापनिन्दक था।.... उस वीतराग, जितेन्द्रिय, निर्वाणप्राप्त सारिपुत्र की वन्दना करो।'[3] इत्यादि

(३) मौद्गल्यायन—यह भी ब्राह्मण था और सारिपुत्र के साथ ही बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ था। अपने अभिन्न मित्र सारिपुत्र की भाँति यह भी प्रगाढ विद्वान और जितेन्द्रिय था। इसकी मृत्यु भी महात्मा बुद्ध के जीवन-काल में ही हो गई थी।

(४) उपालि—यह नापित पुत्र था। इसका पिता शाक्य-वंश में नापित-कर्म करता था। भिक्षु-धर्म ग्रहण करने के पश्चात् अपनी साधना और श्रद्धा से शीघ्र ही यह महात्मा बुद्ध का परम प्रिय शिष्य हो गया था।

(५) सुनीति—यह भंगी था और इसी से समाज इससे अत्यधिक घृणा करता था। एक बार इसने अपने शिष्यों के साथ महात्मा बुद्ध को जाते देखा। यह दौड़ कर उनके पैरों पर जा पड़ा। महात्मा बुद्ध तो सभी पर दयालु थे। उन्होंने तत्काल सुनीति को बौद्ध संघ में दीक्षित कर लिया।

(६) देवदत्त—यह आनंद का बड़ा भाई था और प्रारम्भ से ही महात्मा बुद्ध का घोर विरोधी था। फिर भी महात्मा बुद्ध ने इसे संघ में दीक्षित कर लिया। वहाँ रह कर भी यह तथागत के विरुद्ध सदैव षड्यन्त्र करता रहा। उनके विरुद्ध कभी यह प्रजा को भड़काने का प्रयत्न करता और कभी भिक्षुओं को। यही नहीं इसने महात्मा बुद्ध की हत्या कराने के भी प्रयत्न किए। परन्तु उसे सफलता न मिली।

(७) अनुरुद्ध—यह एक अति धनाढ्य व्यापारी का पुत्र था। परन्तु महात्मा बुद्ध के उपदेशों से इसके मन में इतना बड़ा वैराग्य उत्पन्न हुआ कि यह समस्त सुख समृद्धि को छोड़ कर भिक्षु हो गया।

(८) अनाथपिण्डिक—यह एक धनी व्यापारी था। यद्यपि यह बौद्ध भिक्षु न था फिर भी महात्मा बुद्ध एवं उनके धर्म के प्रति इसकी प्रगाढ श्रद्धा थी। इसी ने जेतकुमार से जेतवन खरीद बौद्ध संघ को समर्पित कर दिया था।

(९) बिम्बिसार और प्रसेनजित—ये क्रमशः मगध और कौशल के राजा थे। ये भी महात्मा बुद्ध के प्रबल शासकों में से थे। इनकी राजकीय सहायता से महात्मा बुद्ध को अपने धर्म-प्रचार में काफी सहायता मिली।

बौद्ध धर्म के सिद्धांत

विशेषतायें—विशुद्ध बौद्ध धर्म के सिद्धांत त्रिपिटक के मूल अंश में सन्निहित है। उन अंशों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म की कितनी अधिक नैतिक व्याख्या की थी। इसी से कुछ विद्वानों का यह मत है कि बौद्ध धर्म वास्तव में धर्म नहीं वरन् आचार-शास्त्र है। परन्तु यह परिभाषा उन्हीं देशों की चिन्तन-प्रणाली से संगति खाती है जहाँ धर्म की परिभाषा अत्यन्त संकुचित अर्थ में

१ सेल सुत्त (मज्झिम० २. ५. ३)
२ मिलिन्द पन्हो पृ० १२८
३ चुन्द सुत्त (संयुत्त० ४५.२. ३) पर अट्ठकथा, बुद्धचर्या, पृ० ५१७

की गई है और जहां धर्म एकमात्र बाह्य कर्मकाण्डों एवं सत्ता-सम्बन्धी दार्शनिक विचारों अथवा सृष्टिनिर्माण-सम्बन्धी विवादों का समन्वित रूप समझा जाता है।

परन्तु भारतवर्ष मे धर्म को बडे व्यापक रूप में ग्रहण किया गया था। उसके धर्म ने जीवन के समस्त कार्य-कलापो को अपनी शीतल छाया मे ढक लिया था। फिर आखिर भारतीय दृष्टि में धर्म और आचार-शास्त्र में विभेद ही कैसे रहता? अतः जो विद्वान बौद्ध धर्म को 'धर्म' न मान कर एकमात्र आचार-शास्त्र ही मानते हैं वे 'धर्म' की भ्रान्त धारण के ही वशीभूत हैं। वास्तव में विदेशीय भाषाओं में कोई ऐसा शब्द ही नही है जो भारतीय धर्म की सम्पूर्ण विशेषताओं को अपनी परिभाषा में समेट ले।

मूल बौद्ध धर्म कोई पृथक् दर्शन भी नही है क्योकि महात्मा बुद्ध ने सत्ता-संबधी किसी प्रश्न पर कभी अपना विचार ही प्रकट नही किया। वे इस प्रकार के प्रश्नो पर होने वाले वाद-विवादों को अनावश्यक समझते थे। अपने समय के तार्किको के वाद-विवाद के पचडे को देख कर महात्मा बुद्ध ने स्वय अपने अनुयायियों से कहा था कि 'भिक्षुकों! इसे कहते हैं मतो मे जा पडना मतों की गहनता मतों का कान्तार, मतो का दिखावा, मतो का फन्दा तथा मतो का बन्धन। इन मतो के बन्धन में बँधा हुआ आदमी जिसने सदधर्म को नही सुना वह जन्म, बुढ़ापे, तथा मृत्यु से मुक्त नही होता। शोक से, रोने-पीटने से, पीडित होने से, चिन्तित होने से भी वह मुक्त नहीं होता। मै कहता हूँ कि वह दुःख से पार नही होता।'[1] अत, आज जो कुछ भी बौद्ध दर्शन के नाम से प्रख्यात है वह महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात का विकास है। वह विशुद्ध मौलिक बौद्ध धर्म के अन्तर्गत नही आता।

इसी प्रकार बौद्ध धर्म अध्यात्म-शास्त्र (Metaphysics) भी नही है, क्योंकि महात्मा बुद्ध ने इस विषय मे भी अपने विचार व्यक्त नही किये। सृष्टि का परम तत्व क्या है उसकी व्याख्या क्या है, सृष्टि का निर्माण किन तत्वो से होता है, उन तत्वो का धर्म क्या है, इत्यादि, ये ऐसे प्रश्न थे जिन्हें महात्मा बुद्ध मानवी उत्कर्ष के लिए व्यर्थ समझते थे। अत उन्होने कभी भी अपने अनुयायियो को इनका सूक्ष्म विवेचन करने के लिए प्रोत्साहित नही किया।

महात्मा बुद्ध का धर्म अत्यन्त व्यावहारिक था। वह मानव के चरमोत्कर्ष का साधन था। वह इहलोक और परलोक की समग्र मान्यताओं का माप-दण्ड था। महात्मा बुद्ध ने स्वय धर्म की आवश्यकता और महत्ता को अनेकश व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि मे धर्म ही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, इस जन्म में भी और परजन्म मे भी।[2] वह जीवन का विषय है, मृत्यु का नही। अनेकानेक अन्य धर्मों के प्रतिकूल वह इसी जीवन में निर्वाण दिलाता है।[3] वह नितान्त बुद्धिवादी है। उसमें कहीं भी अन्धविश्वासों अथवा अन्ध-परम्पराओं के लिए स्थान नहीं। महात्मा बुद्ध ने कालाम क्षत्रियों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि कालामों! न तुम श्रुत के कारण किसी बात को मानो, न तर्क के कारण, न नय-हेतु से, न वक्ता के आकार के विचार से, न अपने चिर-विचारित मत के अनुकूल होने से, न वक्ता के भव्य रूप होने से और न इसलिए कि 'श्रमण हमारा गुरु है' यह सोचकर। बल्कि कालामों! जब तुम स्वय ही जानो कि ये बातें अच्छी, अदोष, विज्ञों से अनिन्दित हैं, यह ग्रहण करने पर हित सुख के

१ मूल परियाय सुत्त (मज्झिम० १. १. १)
२ अग्गञ्ञ-सुत्त (दीघ० ३.४)
३ वही

लिए होंगी, तो कालामों! तुम उन्हें स्वीकार करो।'[1] धर्म का इतना उदात्त आधार शायद ही किसी अन्य धर्म में पाया जाता हो। महात्मा बुद्ध धर्म और अधर्म का स्पष्टीकरण करते हुए महाप्रजापती गौतमी को जो उपदेश दिया था वह विचारणीय है—'हे गौतमी! जिन धर्मों को तू जाने कि ये सराग के लिए हैं, विराग के लिए हैं, सयोग के लिए हैं, वियोग के लिए नहीं, संग्रह के लिए हैं, असंग्रह के लिए नहीं, इच्छाओं को बढ़ाने के लिए हैं, कम करने के लिए नहीं, अनध्यवसाय के लिए हैं, अध्यवसाय के लिए नहीं, . . . तो तू गौतमी! सोलहों आने जानना कि वे न धर्म हैं, न विनय हैं, न शास्ता के शासन हैं, किन्तु इनसे विपरीत जो धर्म हैं, अर्थात् जो विराग के लिए हैं, अध्ययसाय के लिए हैं, उन्हें जानना कि ये सोलहों आने तथागत के धर्म हैं, विनय हैं, शासन हैं। अत इस उपदेश से स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध का धर्म किसी यान्त्रिक कर्मकाण्ड, सूक्ष्म दार्शनिकता अथवा पौराणिक अन्ध-मान्यता के ऊपर आधारित न था[2]। उसका आधार तो विराग, असंग्रह, सन्तोष और अध्यवसाय जैसे उदात्त सिद्धान्त ही थे जो जनसाधारण के लिए भी सुबोध थे। तथागत का धर्म जनवादी था। वह किसी वर्ग-विशेष की सम्पत्ति न था। उसके द्वार सबके लिए खुले थे। वह 'एहिपस्सिको'[3] था अर्थात सबसे कहता है कि 'आओ और देखो'। यही इस धर्म का प्रत्यक्षवाद है। वह व्यक्ति-निरपेक्ष है और तथागत की भी अपेक्षा नहीं करता। इसी से उन्होंने कहा था कि 'तथागत चाहे उत्पन्न हों, चाहे न हों, धर्म-नियमता तो रहती ही है।'[4] वह 'आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है और अन्त मे कल्याणकारी है।'[5] जड़ मतवादो से परे वह विश्व-धर्म था। वह बहुजनहितार्थ, बहुजनसुखार्थ, लोकानुकम्पा के लिए, सुख के लिए था।[6] डाक्टर सुनीतकुमार चटर्जी के शब्दों में वह 'आदर्श का एक महासागर' है 'जिसमें पूर्वीय विचार-धारा की भिन्न-भिन्न नदियां मिली हैं।'[7] यह बौद्ध धर्म अपने मौलिक रूप में मानवता की उच्चतम प्रतिष्ठा का सस्थापक है। इसकी दृष्टि में मानव देव से भी ऊँचा है।[8]

अब हम मौलिक बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो पर विचार करेंगे।

चार आर्य सत्य—बौद्ध धर्म की आधार-शिला है उसके ४ आर्य सत्य। उसके मौलिक अथवा विकसित सभी सिद्धान्त इन आर्य-सत्यों के ऊपर ही निर्भर हैं अथवा उनसे किसी न किसी रूप में सम्बन्धित हैं। ऋषिपतन (सारनाथ) में इन्ही सत्यो को लेकर तथागत ने धर्म-चक्र प्रवर्तित किया था। ये ४ आर्य-सत्य हैं :—

(१) दुःख (२) दुःख-समुदय (३) दुःख-निरोध और (४) दुःख-निरोध, गामिनी-प्रतिपदा।

१ दुःख—इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म दुःखवाद को लेकर चला। महात्मा बुद्ध ने सारी मानव-जाति को दुःखी देखा। चारों ओर दुःख ही दुःख है। स्वयं महात्मा बुद्ध के शब्दों में 'जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रिय-मिलन भी दुःख है; प्रिय-वियोग भी दुःख है, इच्छित वस्तु

१ अंगत्तर-निकाय ३.६.५
२ पजापती पब्बज्जा सुत्त (अंगुत्तर० ८२.१.३)
३ वत्थूपम-सुत्त (मज्झिम १.१.६)
४ संयुक्तनिकाय—'उप्पादा वा तथागतानं अनुप्पादा वा तथागतानं ठिता व सा धातु धम्मट्ठितता धम्मनियामता।'
५ मज्झिम १.३.७
६ संयुक्त ४.१.४
७ ऋतम्भरा पृ० १८७
८ यवमान सुत्त (इतिवुत्तक)

की अप्राप्ति भी दुःख है।'[१] तथागत ने उपदेश देते हुए अपने भिक्षुओं से कहा कि 'भिक्षुओं, (मनुष्यों ने) चिर काल तक माता के मरने का दुःख सहा है, पिता के मरने का दुःख सहा है, लडकी के मरने का दुःख सहा है, रिश्तेदारों के मरने का दुःख सहा है, सम्पत्ति के विनाश का दुःख सहा है, रोगी होने का दुःख सहा है। उन माता के मरने का दुःख सहने वालो ने, पिता के मरने का दुःख सहने वालो ने, पुत्र के मरने का दुःख सहने वालों ने, लडकी के मरने का दुःख सहने वालो ने, रिश्तेदारो के मरने का दुःख सहने वालो ने, सम्पत्ति के विनाश का दुःख सहने वालों ने, रोगी होने का दुःख सहने वालो ने, संसार में बार-बार जन्म लेकर प्रिय के वियोग और अप्रिय के सयोग में रो-पीट कर जो आँसू बहाये हैं, वे ही अधिक हैं, इन चारो महासमद्रो का जल नही।'[२]

दुःख-समुदय—यह चतुर्दिक जो दुःख दिखाई देता है, आखिर उसका कारण क्या है? इसे महात्मा बुद्ध ने दुःख-समुदय के अन्तर्गत बताया। उनकी दृष्टि में दुःख का मूल कारण तृष्णा (इच्छा) थी। 'यह है, हे भिक्षुओ! दुःख-समुदय आर्य सत्य। जो यह तृष्णा पुनर्भव को करने वाली, आसक्ति और राग के साथ चलने वाली और यत्र-तत्र रमण करने वाली है, वह जैसे कि काम-तृष्णा, भव-तृष्णा, विभव-तृष्णा।'[३] परन्तु यह तृष्णा कहाँ उत्पन्न होती है? महात्मा बुद्ध ने बताया कि रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श तथा मानसिक वितर्क और विचारो में मनुष्य आसक्ति करने लगता है और यही तृष्णा का जन्म होता है।[४] सतृष्ण मनुष्य कभी भी दुःख से उद्धार नही पा सकता।[५]

(३) **दुःख-निरोध**—जिस प्रकार ससार में दुःख है, दुःख-समुदय है, उसी प्रकार दुःख-निरोध (दुःख से छुटकारा) भी सम्भव है। यह कैसे हो? जो दुःख का कारण तृष्णा है उसी के मूलोच्छेदन से दुःख-निरोध सम्भव है। महात्मा बुद्ध स्वय कहते हैं—'यह है हे भिक्षुओ! दुःख-निरोध आर्य सत्य जो इस तृष्णा का हो अशेष विराम, निरोध, त्याग, प्रतिनिस्सर्ग और छोडना।'[६] अत भिक्षुओं को उनका उपदेश था कि 'ससार में जो कुछ भी प्रिय लगता है, ससार में जिसमें रस मिलता है, उसे जो भी श्रमण-ब्राह्मण दुःख-रूप समझेंगे, रोगरूप समझेंगे, उससे डरेंगे, वही तृष्णा को छोड सकेंगे।[७] उन्होने भिक्षुओ को फिर समझाया कि रूप, वेदना, सज्ञा सस्कार और विज्ञान का निरोध ही दुःख का निरोध है।[८]

(४) **दुःख-निरोधगामिनी-प्रतिपदा—अष्टांगिकमार्ग**—परन्तु तृष्णा एव अन्यान्य दूषित मनोवृत्तियो एव सस्कारो का निरोध किया कैसे जाय? इस ध्येय की प्राप्ति के लिए महात्मा बुद्ध ने जो मार्ग बताया वह 'दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा' के नाम से प्रख्यात है। इसमें ८ अगो का अनुवर्तन है। अत इसे आर्य अष्टागिक मार्ग भी कहते हैं। ये ८ अग हैं—(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् सकल्प, (३) सम्यक् वाणी (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीव (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि। यह अष्टागिक मार्ग अत्यन्त कल्याणकर है। महात्मा बुद्ध ने स्वय कहा है कि आनन्द! इस समय मैने भी यह कल्याणवर्त्म स्थापित किया है जो कि एकान्त निर्वेद के लिए, विराग के लिए, निरोध के लिए, उप-

१ धम्म-चक्कपवत्तन सुत्त (संयुक्त २.९) निकाय)
२ संयुक्त १४.३
३ धम्म-चक्कपवत्तन-सुत्त
४ महासति पट्ठान-सुत्त (दीघ०
५ संयुक्त २१.१०
६ धम्मचक्कपवत्तन सुत्त
७ संयुक्त १२.७
८ संयुक्त २१.३

शम के लिए, अभिज्ञा के लिए, सम्बोधि के लिए और निर्वाण के लिए है और वह यही आर्य अष्टांगिक मार्ग है।'[1] अन्यत्र इसी मार्ग का उल्लेख करते हुए तथागत ने पुन कहा कि 'जिस प्रकार भिक्षुओं! गगा, यमुना, अचिरवती, सरभू (सरयू) और मही नदियाँ पूर्व की ओर बहने वाली, समुद्र की ओर अभिगामिनी होती हैं, उसी प्रकार भिक्षुओ! अभ्यास करने पर आर्य अष्टांगिक मार्ग निर्वाण की ओर ले जाने वाला होता है, निर्वाण की ओर अभिमुख होने वाला है।[2]

बौद्ध व्यवस्था[3] में आठो अग ३ स्कन्धों के अन्तर्गत रखे गए हैं—

(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् सकल्प (३) सम्यक् वाणी	प्रज्ञा-स्कन्ध में
(४) सम्यक् कर्मान्ति (५) सम्यक् आजीव	शील-स्कन्ध में
(६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि	समाधि-स्कन्ध मे

प्रज्ञा सहृदय ज्ञान को कहते हैं। कोरा ज्ञान जड़ता का द्योतक हो सकता है। परन्तु श्रद्धा और भावना से युक्त होने पर वह अति कल्याणकर होता है। प्रज्ञा इसी प्रकार के ज्ञान-विशेष का पर्यायवाची है। शील चारित्रिक प्रकृष्टता और सदाचारिता का नाम है। समाधि चित्र की एकाग्रता को कहते हैं। अब हम इन स्कन्धो के अन्तर्गत परिगणित अगों का उल्लेख करेंगे —

(१) सम्यक् दृष्टि—क्षीर-नीर-विवेक-दृष्टि को ही कहते हैं। इससे मनुष्य सत्य और असत्य, पाप और पुण्य, सदाचार और दुराचार में भेद कर लेता है। चार आर्य सत्यों को पहचानना सम्यक दृष्टि का ही काम है।

(२) सम्यक् सकल्प—जो संकल्प कामना और हिसा से मुक्त होता है उसे सम्यक् सकल्प कहते है।

(३) सम्यक् वाणी—जो वाणी सत्य, विनम्रता और मृदुता से समन्वित होती है उसे सम्यक् वाणी कहते है। इसका प्रधान विषय धर्म-वार्ता होता है।

(४) सम्यक् कर्मान्त—इसका अर्थ सत्कर्मों से है।

(५) सम्यक् आजीव—इसका तात्पर्य है जीवन-यापन की विशुद्ध प्रणाली।

(६) सम्यक् व्यायाम—बौद्ध पारिभाषिक अर्थ मे इसे 'प्रधान' भी कहते हैं। इसका आशय होता है विशुद्ध एव ज्ञानयुक्त प्रयत्न।

(७) सम्यक् स्मृति—इसका साधारण अर्थ हुआ भलीभाँति स्मरण रखना। व्यापक रूप में इसका यह तात्पर्य है कि मनुष्य को सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि उसके समस्त कार्य बड़े विवेक और सावधानी के साथ होने चाहिए।

बौद्ध व्यवस्था में यह स्मृति ४ रूपो में उल्लिखित है—

(१) काया में कायानुपश्यना—शरीर के प्रत्येक सस्कार और उसकी प्रत्येक

१ महावेद-सुत्तन्त (मज्झिम० २. ४. २)

२ संयुक्त निकाय जिल्द पांचवीं पृ० ३९-४० (पाली टेक्स्ट सोसाइटी)

३ चूलवेदल्ल-सुत्तन्त (मज्झिम १. ५. ४)

चेष्टा के प्रति जागरूक रहना, उन्हें समझते रहना।

(२) वेदना में वेदनानुपश्यना—दुःख और सुख दोनों की अनुभूतियों के प्रति सजग रहना।

(३) चित्त में चित्तानुपश्यना—चित्त के राग-द्वेष और अराग-अद्वेष को पहचानते रहना।

(४) धर्म में धर्मानुपश्यना—शरीर, मन और वचन की प्रत्येक चेष्टा को भलीभाँति समझते रहना।

सम्यक स्मृति के इन चारो रूपों को चार स्मृति-प्रस्थान कहते हैं।

(८) सम्यक् समाधि—यह चित्त की एकाग्रता है।

महात्मा बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय भिक्षुओं को जो उपदेश दिया था उसमें बौद्ध धर्म के अन्यान्य सिद्धान्त सन्निहित है—

'भिक्षुओ ! वे कौन-से धर्म हैं जिन्हें स्वय जान कर, स्वय साक्षात्कार कर पहचान कर, मैंने तुम्हे उपदेश किया है, जिन्हें तुम अच्छी तरह सीख कर बढाना ? वे हैं—चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच बल, सात बोध्यग और आर्य अष्टागिक मार्ग।'[1] इस प्रकार चाहे आर्य सत्यो को छोड कर मूल बौद्ध धर्म में ३७ सिद्धान्त थे। अब हम इन्ही का साराश में उल्लेख करेंगे।

चार स्मृत-प्रस्थान—इनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

चार सम्यक् प्रधान—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बौद्ध परिभाषा में 'प्रधान' और 'प्रबल' पर्यायवाची शब्द हैं। कर्मवादी धर्म होने के कारण बौद्ध धर्म मे 'प्रधान' का विशेष महत्व है। चारो प्रधान निम्न प्रकार हैं—

(१) प्रथम प्रधान—दोषपूर्ण संस्कारों को उत्पन्न न होने देना।

(२) द्वितीय प्रधान—जो दोषपूर्ण सस्कार उत्पन्न हो गए हैं उनका विनाश करना।

(३) तृतीय प्रधान—उचित सस्कारों को उत्पन्न करना।

(४) चतुर्थ प्रधान—जो उचित सस्कार उत्पन्न हो गये हैं उनकी वृद्धि और रक्षा करना।

चार ऋद्धिपाद—ऋद्धिपाद आत्मोत्कर्ष के लिए आवश्यक समझे गए थे। छन्द, वीर्य, चित्त और विमर्श की प्रधानता के आधार पर क्रमश इनके चार रूप हो जाते हैं।

पांच इन्द्रियां—यहाँ 'इन्द्रिय' शब्द का वह अर्थ नही हैं जो साधारणतया ग्रहीत होता है। यहां इसका अर्थ है 'शक्ति'। बौद्ध साहित्य में पाँच इन्द्रियों का उल्लेख है—

(१) श्रद्धा (चित्त की प्रसादमयी अवस्था)
(२) वीर्य—प्रयास, पुरुषार्थ
(३) स्मृति—सजगता
(४) समाधि—एकाग्रता
(५) प्रज्ञा—सहृदय ज्ञान.

1 महापरिनिब्बाणसुत्त (दीघ० २.३)

इन्ही पञ्च इन्द्रियो से मनुष्य का आध्यात्मिक विकास सम्भव है।

पांच बल—जितनी इन्द्रियाँ हैं उतने ही बल हैं—

(१) श्रद्धा बल
(२) वीर्य ,,
(३) स्मृति ,,
(४) समाधि ,,
(५) प्रज्ञा ,,

सात बोध्यग—बोध्यग दो शब्दो से बना है बोधिय + अग। बोधि का अर्थ होता है ज्ञान। निम्नलिखित अग ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होते हैं। इसी से उन्हें बोध्यग कहा गया है—

(१) स्मृति।
(२) धर्म-विचय।
(३) वीर्य।
(४) प्रीति।
(५) प्रश्रब्धि।
(६) समाधि।
(७) उपेक्षा।

आर्य अष्टागिक मार्ग—इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

बौद्धधर्म की समीक्षा

दुख और दुख-निरोध—उपर्युक्त सिद्धान्तो से स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध-मन्तव्य अतिसरल और सुबोध था। उन्होने ससार को दुखी देखा और उसे दुख से मुक्ति दिलाने का मार्ग बताया। वास्तव में दुख और दुख-निरोध ही बौद्ध धर्म के दो पाद हैं। वे एक स्थान पर स्वय कहते हैं कि 'भिक्षुओ! दो ही वस्तुएँ मैं सिखाता हूँ—दुख और दुख से विमुक्ति।'[१]

मध्यमा प्रतिपदा—दुख-निरोध के लिए उन्होने जो अष्टागिक मार्ग बताया वह भी नितान्त विशुद्ध आचार-तत्वो से निर्मित था। उसमें न आत्यन्तिक शारीरिक सुख के लिए अवकाश था और न आत्यन्तिक शारीरिक दुख के लिए। वस्तुत वह दोनो अतियो के बीच का मार्ग था। इसी से उसे मध्यमा प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) भी कहा गया है।

अतिहीनता—वे स्वय कहते हैं— हे भिक्षुओ! ये दो अतियाँ प्रव्रजित के द्वारा सेवन करने योग्य नहीं हैं। एक तो यह काम-सुख में लिप्त होना जो हीन है ग्राम्य है, पृथग्जनो के योग्य है, अनार्य है और अनर्थ से सयुक्त है, और दूसरा यह जो अपने को कष्ट देना है वह भी दुख है, अनार्य है और अनर्थ से भरा हुआ है।'

'हे भिक्षुओ! इन दोनो मार्गों से अलग रह कर तथागत ने मध्यमा प्रतिपदा का साक्षात्कार किया है'[२]

महात्मा बुद्ध की मध्यमार्गी मनोवृत्ति उनके प्रत्येक कार्य में परिलक्षित होती है। उन्होंने न एकमात्र अन्धश्रद्धा को स्वीकार किया और न एकमात्र जड विवादिता को। जनवादी होने के कारण उन्होने अपने अनुयायियो को पूरी विचार-स्वतन्त्रता दे रखी

१ सयुक्त निकाय २ धम्मचक्कपवत्तन सुत्त (सयुक्त)

थी। पीछे बताया जा चुका है कि उन्होंने अपने अनुयायियो से स्पष्ट कहा था कि वे प्रत्येक धर्म-तत्व को स्वय सोच-समझ कर ग्रहण करें। वे उसे केवल इसलिए ग्रहण न करें कि उसे तथागत ने कहा है। विचार-स्वातन्त्र्य के पोषक होने के साथ ही उन्होंने तत्कालीन तार्किकों की अनवरत विवादिता को भी हानिकर समझा और उसे हतोत्साहित किया। पसूर-सुत्त में उनका कथन कि 'तुम्हारे साथ विवाद करने को यहाँ कोई नहीं है,' तार्किको के प्रति उनकी उदासीनता ही सिद्ध करता है।

कारणवाद—बौध धर्म नितान्त कारणवादी है और उसकी यही विशेषता उसे अहेतुवादियों, नियतिवादियो और निराशावादियों से पृथक करती है। बौद्ध धर्म के अनुसार संसार में 'जो धर्म है वे हेतु से उत्पन्न होते हैं। उनके हेतु को तथागत ने कहा है और उनका जो निरोध है उसे भी बताया है)।[1] अन्यत्र उन्होंने आनन्द को उपदेश देते हुए फिर यही सकारणा बताई थी—'आनन्द! क्या जरा-मरण सकारण है?' यदि यह पूछा जाय तो कहना चाहिए 'है'। 'किस कारण से जरा-मरण है? यदि यह पूछा जाय तो कहना चाहिए 'जन्म के कारण जरा-मरण है'[2] आदि।

प्रतीत्य समुत्पाद—इसी कारणवाद को लेकर बौद्ध धर्म के प्रातीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया था। प्रतीत्य (इसके होने से) समुत्पाद (यह उत्पन्न होता है) प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति का दर्शन है। 'इस धर्म (प्रतीत्य समुत्पाद) को न जानने, न प्रतिवेध करने से ही ये प्रजायें उलझे सूत सी, गाँठ पड़ी रस्सी सी, मूँज वल्बज सी दु:ख, दुर्गति, पतन, विनिपात को प्राप्त हो संसार से पार नहीं हो सकती।'[3] रोग के कारण को समझे बिना निदान नहीं हो सकता—यही महात्मा बुद्ध का मन्तव्य था।

अन्तः शुद्धि—मानवी उत्कर्ष के लिए महात्मा बुद्ध ने सभी वाह्य आडम्बरो का परित्याग कर एकमात्र अन्त शुद्धि पर जोर दिया। उनका कथन था कि 'जैसे पानी में पड़े हुए भीगे काठ को गलाया नहीं जा सकता, ऐसा करने से वह पुरुष थकावट और पीडा का ही भागी होता है, ऐसे ही राजकुमार! जो श्रमण-ब्राह्मण काया द्वारा कामवासनाओं में लग्न हो विचरते है और जो कुछ भी उनका काम में कामरुचि, काम-स्नेह, काम-मूर्च्छा, काम-पिपासा और काम-परदाह है, वह यदि भीतर से छूटा नहीं है, शमित नहीं है, तो प्रयत्नशील होने पर भी वे श्रमण-ब्राह्मण दु:खद तीव्र कटु वेदना मात्र सह रहे है।[4] तथागत ने वाह्य यज्ञो और हवनो का विरोध करते हुए अन्यत्र भी कहा था, 'ब्राह्मण! लकड़ी जलाकर शुद्धि मत मानो, यह बाहर की चीज है। कुशल लोग उससे शुद्धि नहीं बतलाते जो कि बाहर से भीतर की शुद्धि है। ब्राह्मण! मैं दारुदाह छोड कर भीतर की ज्योति जगाता हूँ। .आत्मा के दमन करने से पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है।'[5]

कर्म—बौद्ध धर्म में कर्म का अर्थ वैदिक कर्मकाण्ड न होकर मनुष्य की समस्त कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओं से है। यही कर्म मनुष्य के दु:ख-सुख का दाता है। बुद्ध धर्म कर्मप्रधान धर्म है। जो महत्व आस्तिक धर्मों में ईश्वर का है वही महत्व बौद्ध धर्म में कर्म का है। उपर्युक्त ३७ बौद्ध सिद्धान्त इसी कर्म की समन्तात् गरिमा प्रस्तुत करते है। ज्ञान-प्राप्ति कर्म के ऊपर ही आधारित है। इस तथ्य को प्रकट करते हुए महात्मा बुद्ध ने कहा था। कि 'राहुल! जिन किन्हीं श्रमणों या

१ विनय-पिटक (महावग्ग)
२ महापरिनिब्बान सुत (दीघ २.२)
३ वही
४ उपालिसुत्तन्त (मज्झिम० २.२. ६)
५ सुन्दरिकभारद्वाज-सुत्त (संयुत्त०)

ब्राह्मणों ने अतीत काल में कार्य-कर्म, वचन-कर्म और मन कर्म परिशोधित किए, उन सब ने इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण कर कार्य-कर्म, वचन-कर्म और मन कर्म परिशोधित किए जैसे मैंने.....।'[१] इसी प्रकार तथागत अन्यत्र भी कहते कि 'जाति मत पूछ, आचरण पूछ ...नीच कुल का भी पुरुष धृतिमान्, ज्ञानवान और पापरहित मुनि होता है। जो सत्य से दान दमनयुक्त वेद के अन्त को पहुँचा है और जिसने ब्रह्मचर्य पूरा किया है, उसे यज्ञ में प्राप्त यज्ञ-उपवीत कहो।'[२] कर्म के आधार पर ही महात्मा बुद्ध ने चतुर्वर्णी शुद्धि का प्रतिपादन किया था। उनका उपदेश था कि जो भी मनुष्य, चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो अथवा शूद्र हो, सम्यक् कर्म करेगा वह मोक्ष का अधिकारी होगा।[३] बौद्ध धर्म के अनुसार प्रधान मनुष्यों में विभेद नहीं करता।[४] एक बार एक ब्राह्मण विद्यार्थी माणवक ने महात्मा बुद्ध से पूछा कि 'हे गौतम ! यहाँ मनुष्य अल्पायु देखने में आते है और दीर्घायु भी, बहुरोगी-अल्परोगी, कुरूप-सुरूप, असमर्थ-समर्थ, दरिद्र-धनी, निर्बुद्धि-प्रज्ञावान् मनुष्य यहाँ दिखाई पड़ते हैं। हे गौतम ! क्या कारण है कि यहाँ प्राणियों में इतनी हीनता और उत्तमता दिखाई देती है ? इस पर महात्मा बुद्ध ने उत्तर दिया कि 'माणवक ! प्राणी कर्म-स्वक हैं, कर्म-दायाद, कर्म-योनि, कर्म-बन्धु और कर्मप्रतिशरण है। कर्म ही प्राणियों को इस हीनता और उत्तमता में विभक्त करता है।'[५] तथागत का यह उत्तर कर्मवाद का भारी प्रतिपादक है। इस प्रकार हम देखते है कि अन्त शुद्धि और सम्यक् कर्म के ऊपर जोर देकर महात्मा बुद्ध ने समाज में नैतिक आदर्शवाद स्थापित करने की चेष्टा की।

प्रयोजनवाद—महात्मा बुद्ध नितान्त प्रयोजनवादी थे। अत उन्होंने उन्ही विषयों पर उपदेश दिया जो मनुष्य के परम कल्याण के लिए आवश्यक थे। लोक, जीव और परमात्मा सम्बन्धी अनेक विवादो को उन्होंने व्यर्थ समझा। इसी से उन्होंने दस अकथनीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। निम्नलिखित १० विषय ऐसे थे जिन पर मौन रहने के लिए महात्मा बुद्ध ने अपने अनुयायियो को सलाह दी—

लोकसम्बन्धी:
(१) क्या लोक नित्य है ?
(२) क्या लोक अनित्य है ?
(३) क्या लोक सान्त है ?
(४) क्या लोक अनन्त है ?

जीवसम्बन्धी:
(५) क्या जीव और शरीर एक हैं ?
(६) क्या जीव और शरीर भिन्न-भिन्न है ?

तथागत के पुनर्जन्म-सम्बन्धी:
(७) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत होते हैं ?
(८) क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत नहीं होते हैं ?
(९) क्या मृत्यु के पश्चात तथागत होते भी हैं और नहीं भी होते हैं ?
(१०) क्या मृत्यु के पश्चात न तथागत होते ही हैं, न नहीं ही होते हैं ?

निर्वाण—निर्वाण बुद्ध धर्म का परम लक्ष्य है। परन्तु इस धर्म में निर्वाण का

१ अम्बलट्ठिक-राहुलवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० २.२.१)

२ सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त (सुत्त-निपात)

३ अस्सलायन सुत्त (दीघ० ३.४)

४ कण्णत्थलक सुत्त (मज्झिम० २.४.१०)

५ मज्झिम० ३.४.५

जो रूप निर्धारित किया गया है वह अन्यान्य धर्मों में प्रतिपादित निर्वाण से बहुत कुछ भिन्न है। अन्यान्य धर्मों के अनुसार निर्वाण मृत्यु के पश्चात् ही प्राप्त हो सकता है। परन्तु बौद्ध धर्म के अनुसार यह इसी जीवन में सम्भव है।[१] इस प्रकार बौद्ध धर्म के प्रायः समस्त सिद्धान्तों की भाँति निर्वाण भी जीवन की समस्या है। महात्मा बुद्ध निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात् बहुत दिनों तक जीवित रहे। वस्तुत. बौद्ध धर्म में अर्थ परम ज्ञान है। वह जीवन की पूर्ण विशुद्धि है।[२] वह विमुक्ति का दूसरा नाम है।[३] उसे पा जाने पर मनुष्य जरा-मरण के चक्कर से छूट जाता है।[४] यह अमृत है।[५] इसे पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। जिस प्रकार पार चले जाने पर मनुष्य को नाव की आवश्यकता नहीं रहती उसी प्रकार निर्वृत्त मनुष्य को धर्म की भी आवश्यकता नहीं।[६]

अनीश्वरवाद—महात्मा बुद्ध ने ईश्वर को सृष्टिकर्ता रूप में स्वीकार नहीं किया, क्योंकि ऐसा करने पर उन्हें ईश्वर को दु.ख की सृष्टि करने वाला भी मानना पड़ता। इस आधार पर अधिकांश विद्वानों ने महात्मा बुद्ध को अनीश्वरवादी माना है। परन्तु अन्य विद्वानों का कथन है कि वे अनीश्वरवादी न थे। नितान्त कर्मवादी होने के कारण उन्होंने मानव के कल्याण के लिए ईश्वर-सम्बन्धी प्रश्नों को अनावश्यक समझा। इसी से उन पर वे मौन रहे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे अनीश्वरवादी थे। यदि ईश्वर को अनिर्वचनीय परम तत्व के अर्थ में लिया जाय तो चार्वाकदर्शन को छोड़ कर कोई भी भारतीय दर्शन अनीश्वरवादी सिद्ध न होगा। बौद्ध धर्म भी परम तत्व के अस्तित्व की ओर परोक्ष रूप से संकेत करता है।[७] अत. इस दृष्टि से वह भी अनीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता।

अनात्मवाद—महात्मा बुद्ध की दृष्टि में आत्मा के प्रश्न को लेकर भी तत्कालीन समाज में भ्रांतिपूर्ण धारणाओं का प्रचार हो रहा था। एक वर्ग शाश्वतवादियों का था। उसका मत था कि 'यह जो मेरी आत्मा अनुभवकर्ता और अनुभव होने योग्य है और जहाँ-तहाँ अपने भले-बुरे कर्मों के विपाक को अनुभव करता है, यह मेरी आत्मा नित्य ध्रुव, शाश्वत, अपरिवर्तनशील है और अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा।'[८] महात्मा बुद्ध ने इस मत को अस्वीकार कर दिया। आत्मासम्बन्धी प्रश्न को लेकर सारनाथ में उन्होंने पंचवर्गीय भिक्षुओं को जो उपदेश दिया था वह विनय-पिटक के महावग्ग में अनत्त लक्खण-सुत्त के रूप में सुरक्षित है। इसमें तथागत ने पाँचों स्कन्धों—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—का विश्लेषण करके यह मत प्रस्तुत किया कि इनमें से कोई भी आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि ये सब अनित्य है, रोग के अधीन हैं। अत. ये सब अनात्म हैं।

दूसरा वर्ग उच्छेदवादियों का था जो 'विद्यमान सत्त्व का उच्छेद, विनाश, प्रज्ञापित करते हैं।'[९] यदि मृत्यु के पश्चात् जीव अथवा प्राणी का पूर्ण विनाश हो जाता

१ अंगुत्तर निकाय (तिक निपात), सुत्त निपात (पारायण वग्गो)
२ चूल वियूह सुत्त (सुत्त निपात)
३ संयुक्त निकाय जिल्द तीसरी पृ० १८७ (पाली टेक्स्ट सोसाइटी)
४ सुत्त निपात ५.१०
५ विनय -पिटक (महावग्ग)
६ मज्झिम० १.३.२
७ 'Budhistic metaphysics become satisfactory and intelligible only if it is complemented by some form of absolute idealism'—Indian Philosophy by Radhakrishnan, Vol. I, p. 117
८ सब्बासव-सुत्तन्त (मज्झिम० १.१.२)
९ ब्रह्मजाल सुत्त (दीघ० १.१)

है और कुछ भी शेष नही रहता तो फिर पुनर्जन्म किसका होता है ?' कर्म का फल कौन भोगता है ? अतः स्पष्ट है कि यदि महात्मा बुद्ध उच्छेदवाद को स्वीकार कर लेते तो फिर उनके कर्मवाद और पुनर्वाद के सिद्धान्त निराधार, निरर्थक हो जाते।

यही कारण है कि उन्होने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के बीच का मार्ग लिया। इस विषय में भी उन्होंने मध्यमा प्रतिपदा का अनुगमन किया। उन्होंने न यह कहा कि आत्मा है और न यह कहा कि आत्मा नही है। जहाँ वे अनात्मवाद का उल्लेख करते है वहाँ उनका अर्थ केवल यही है कि सम्पूर्ण अनुभूत जगत मे आत्मा नही है, क्योकि यह जगत नश्वर है, रोग के अधीन है। वास्तव में उन्होने आत्मा के विषय पर विचार करना मना किया है, इसे 'अमनसिकरणीय' धम बताया है।[1] यदि महात्मा बुद्ध आत्मवाद का प्रचार करते तो सम्भव था कि इससे जनता में 'अपने' प्रति आसक्ति उत्पन्न होती और आसक्ति दुख का मूल कारण थी। इसके विरुद्ध यदि वे अनात्मवाद का प्रचार करते तो कदाचित मनुष्य यह सोचकर कि मृत्यु के पश्चात् मेरा कुछ भी शेष न रहेगा, घोर मानसिक त्रास को प्राप्त होते। दोनो ही बाते अवाछनीय थी। अत महात्मा बुद्ध ने उन पर विवाद करना ही मना कर दिया। आत्मवाद और अनात्मवाद के झगडे को निश्चित किए बिना भी उनका धर्म निर्वाणदायक था।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, महात्मा बुद्ध ने अपने अनुयायियो को यह उपदेश दिया था कि 'आत्मदीप होकर विहार करो, आत्मशरण, अनन्यशरण हो?' इस पर डा० राधाकृष्णन् ने यह निष्कर्ष निकाला है कि महात्मा बुद्ध 'आत्मा' मे विश्वास करते थे।[2] यदि आत्मा न होती तो वे उसे दीपक बनाने के लिए क्यो कहते ? उसकी शरण में जाने के लिए क्यों कहते ? परन्तु डा० राधाकृष्णन् का यह मत अनुपयुक्त है। यहाँ 'आत्मा' का प्रयोग लौकिक भाषा में किया गया है। यहाँ 'अपने को दीपक बनाओ' का तात्पर्य एकमात्र यह है कि आत्म-निर्भर हो अपने ज्ञान को अपना पथ-प्रदर्शन बनाओ। लौकिक भाषा मे 'अपने' शब्द का प्रयोग करने वाला मनुष्य सदैव आत्मवाद का प्रचारक नही होता।

पुनर्जन्मवाद—पहले उल्लेख किया जा चुका है कि बौद्ध धर्म कर्म के फल मे विश्वास करता है। अपने कर्मो के फल से ही मनुष्य अच्छा-बुरा जन्म पाता है।[3] परन्तु जब महात्मा बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व के विषय मे कुछ कहा ही नही तो फिर कर्मानुसार जन्म किसका होता है ? मृत्यु के पश्चात् कर्म का फल कौन भोगता है ? इन प्रश्नो का उत्तर मिलिन्दपन्हो मे आचार्य नागसेन द्वारा दिया गया है। जिस प्रकार जल-प्रवाह मे एक लहर के पश्चात् दूसरी लहर आती है और वह सक्रम रहता है, उसमें कही व्यवधान नही पडता, उसी प्रकार एक जन्म की अन्तिम चेतना के विलय होते ही दूसरे जन्म की प्रथम चेतना का उदय होता है। वह परिवर्तन इस प्रकार होता है कि विलय और उदय के बीच कोई व्यवधान नही पडता। ऐसी अवस्था में यह नही कहा जा सकता कि जो जीव उत्पन्न हुआ है वह नितान्त पहला ही है अथवा नितान्त दूसरा ही है।

इसी तथ्य को नागसेन के शब्दो में इस प्रकार कह सकते है—'राजन् ! मृत्यु के समय जिसका अन्त होता है वह तो एक अन्य नाम-रूप होता है और जो पुनर्जन्म

१ सब्बासव सुत्तन्त (मज्झिम १.१.२)

२ Gautam, the Buddha, p. 40 कुमारस्वामी और हार्नर आदि कुछ विद्वान् भी तथागत को आत्मवादी मानते हैं।

३ मज्झिम १.४.५-६

ग्रहण करता है वह एक अन्य। परन्तु द्वितीय (नाम-रूप) प्रथम (नाम-रूप) में से ही निकलता है।[१]

इस प्रकार आत्मवाद की स्पष्ट व्याख्या किए बिना भी पुनर्जन्मवाद को अक्षत रखने का प्रयत्न किया गया।

महात्मा बुद्ध के समय में बौद्ध धर्म की सफलता के कारण

बौद्ध धर्म की सफलता के अनेक कारण थे। इन सब का सामूहिक प्रभाव यह हुआ कि चिर-प्रतिष्ठित ब्राह्मण-धर्म के विरोध में और अनेकानेक मत-मतान्तरों के मध्य में भी यह धर्म अपने उत्कर्ष के सुदीर्घ पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होता रहा। यह कथन कोरा प्रलाप नहीं है कि 'जिस प्रकार सूर्योदय होने पर जुगनू लुप्त हो जाते है उसी प्रकार बुद्ध के उत्पन्न होने पर धर्माचार्यों का लाभ-सत्कार नष्ट हो गया।'[२] महात्मा बुद्ध के जीवन-काल में ही इस धर्म की पर्याप्त प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उन्होने स्वयं कहा था कि 'मैं तब तक परिनिर्वाण को प्राप्त नहीं होऊँगा जब तक मेरे भिक्षु श्रावक निपुण, विनययुक्त, विशारद, बहुश्रुत[३] . .' न हो जायेंगे। फिर उन्होंने अपना सन्तोष प्रकट करते हुए कहा था कि आनन्द! तथागत को मालूम है कि इस भिक्षु-संघ में एक भी भिक्षु ऐसा नहीं है, जो. . . नियत सम्बोधि-परायण न हो।'[४] इन उक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म महात्मा बुद्ध के जीवन-काल में ही सुसरोपित हो चुका था। उसकी उन्नति की प्रारम्भिक अवस्था की समाप्ति हो चुकी थी। महात्मा बुद्ध की चारिकाओं एवं उनके शिष्यों के परिभ्रमण के क्षेत्र से प्रकट होता है कि तथागत के जीवन-काल में ही बौद्ध धर्म 'कोसी से कुरुक्षेत्र और हिमालय से विन्ध्याचल के बीच के प्रदेश'[५] में फैल चुका था।

बौद्ध धर्म की इस सत्वर प्रगति में जिन कारणों ने योग दिया उनमें बुद्ध, धम्म और संघ की अन्तःशक्ति प्रथमतः उल्लेखनीय है।

(१) **महात्मा बुद्ध का व्यक्तित्व**—महात्मा बुद्ध की रोमांचकारी जीवनी तथा उनके प्रबल व्यक्तित्व ने उनके धर्म को एक विशेष ओज प्रदान किया था। वे राजा के पुत्र थे। अतः यदि चाहते तो वे बड़े ही सुख-समृद्धि के बीच अपना जीवन-यापन कर सकते थे। परन्तु उन 'किंकुसल-गवेसी' को नितान्त दुःख-निपीड़ित संसार को देख कर सुख कहाँ था? समस्त जनसमुदाय को रोगग्रस्त देख कर उन 'उत्तम भिषक्' को चैन कहाँ था? परिणामतः उन्होंने 'बहुजनहिताय' राज-पाट, स्त्री-पुत्र, माता-पिता तथा बन्धु-बांधव, सभी से नाता तोड़ कर वैराग्य का मार्ग अपनाया। इसके पश्चात् उन्होंने जिन-जिन दुष्कर एवं रोमांचकारी परिस्थितियों से गुजरते हुए अन्त में ज्ञान प्राप्त किया वह इतिहास की लोमहर्षक कहानी है। राजकुमार की रोमांचकारी जीवनी ने उन्हें जनता का आकर्षण बना दिया था और वह कभी मुमुक्षा, कभी जिज्ञासा और कभी एकमात्र कौतूहलवश ही उनकी ओर चुम्बकाकृष्ट लौह की भाँति खिंचने लगी। 'आज वह मुण्डितशीश काषायवस्त्र इसी गाँव में आ रहा है?' 'कौन?' 'वही जिसने त्रस्त मानवता का करुण-क्रन्दन सुन अपनी राजकीय विभूति का लोष्ठवत् परित्याग कर दिया जिसे नवयौवना भार्या का प्रेम और नवजात शिशु का स्नेह भी घर की चहार-दीवारी के भीतर न रख सका, जिसकी

१ मिलिन्दपन्हो (लक्खणपन्हो)
२ बावेरु जातक
३ महापरिनिब्बाण सुत्त पृ० १७
४ वही पृ० २०
५ राहुल सांकृत्यायन—बुद्धचर्या पृ० १८८

भयावह तपस्या से देवगण भी कांप उठा था और जो अतिमानव की भाँति निर्द्वन्द्व, निःस्पृह, निरभिमान निरालम्ब, प्रशान्त, प्रज्ञात अहर्निश धर्मोपदेश करता घूम रहा है। सुनते हैं, उसकी वाणी में जादू है, उसके मुख-मण्डल पर अद्भुत तेज है। तभी तो सर्वत्र जनता आँधी की भाँति उसके पीछे उमड रही है।' इस प्रकार का जनाख्यान महात्मा बुद्ध के आगमन के पूर्व ही गाँव-गाँव में होने लगता। परिणाम यह होता कि स्त्री, पुरुष, बालक-वृद्ध, ऊँच-नीच, राजा-रक, सभी उनके दर्शन के निमित्त एकत्र हो जाते।

पुन, महात्मा बुद्ध का सम्पूर्ण व्यक्तित्व भी बडा प्रभावोत्पादक था। उद्धत से उद्धत व्यक्ति भी उनके समक्ष आकर विनीत हो जाता था। संबोधि प्राप्त करने के पश्चात् महात्मा बुद्ध के सारनाथ-आगमन पर पचवर्षीय भिक्षुओ ने निर्णय कर लिया था कि वे तथागत का सत्कार न करेंगे। परन्तु महात्मा बुद्ध के मुख-मण्डल पर अनुपम तेज देख कर उनका पूर्व निर्णय छू-मन्तर हो गया और किसी अन्तर्भावना से प्रेरित वे सहज ही उनका आदर-सत्कार कर बैठे। तथागत के गुणाख्यानो से बौद्ध साहित्य भरा पडा है। 'वे भगवान अर्हत् सम्यक सम्बुद्ध हैं, विद्या और आचरण से सम्पन्न है, सुगत है, लोकविद है, सयम-योग्य पुरुषो के अद्वितीय सारथी-स्वरूप हैं, देव और मनुष्यो के शास्ता हैं।'[1] विषम से विषम परिस्थिति में भी वे उद्विग्न, क्षुब्ध अथवा क्रुद्ध न होते थे। देवदत्त ने कई बार उन्हे गालियाँ दी, उन पर ईंट-पत्थर फिकवाये, उनके विषय मे अनेकश. अपवाद फैलाए और अन्त में उनकी हत्या करवाने की कुचेष्टा की, परन्तु फिर भी कारुणिक शास्ता का मन सदैव निर्मल ही रहा। यह उनके आदर्श व्यक्तित्व का ही प्रभाव था कि उनके अनुयायी उनमें अपार श्रद्धा रखते थे। महाभिक्षु सारिपुत्र का कथन था कि 'मार-सेना का दमन करने वाले एक बुद्ध ही के प्रति श्रद्धा रखना, एक उन्ही की शरण जाना, एक उन्ही को प्रणाम करना भवसागर से तार सकता है'।[2] वे आदर्श रूप मे 'वेदगू' थे। अपने ही शब्दों में, वे 'ब्राह्मण' भी थे। परम तत्व के प्रज्ञाता के लिए ये शब्द यथार्थत सार्थक थे। परन्तु फिर भी विनीत इतने थे कि उन्होने किसी के ऊपर भी अपने मत का अरुचिपूर्ण आरोपण न किया। उन्हें सदैव यही आशका रहती थी कि कही कोई उनके गौरव के अभिभूत होकर ही तो उनके मत को स्वीकार नहीं कर रहा है। इसी से वे बहुधा पूछते थे कि 'भिक्षुओ! क्या तुम शास्ता के गौरव से तो 'हाँ' नही कह रहे हो?'[3] उन्होने प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः पर्यवेक्षण के पश्चात ही कोई बात ग्रहण करने की सलाह दी थी। ससार के उस युग में विचार-स्वातन्त्र्य को धार्मिक क्षेत्र में भी इस सीमा तक प्रतिष्ठित करना विरले ही मनीषियो का काम था। बौद्ध धर्म और बौद्ध सघ के सम्पूर्ण सगठन में हम महात्मा बुद्ध के व्यक्तित्व को आदर्श नैतिकता और जनतन्त्रवादिता की ही छाया देखते है। अपनी इन्ही विशेषताओं के कारण वे लोकप्रिय बन गए थे। सर्वहारा और शोषित वर्ग के उद्धारक के रूप में उन्होने जिस विशाल सहृदयता का परिचय दिया था वह आज भी हमारे समाज-सुधारकों के लिए आदर्श बना हुआ है। वस्तुत उनका व्यक्तित्व चिन्तक, सुधारक, उपदेशक, जन सेवक और आदर्शवादी नीति-प्रचारक के विभिन्न गुणों का सम्मिश्रण था। इसी विशालता मे उनकी सफलता अन्तर्निहित थी।

(२) **धर्म**—महात्मा बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म अति सरल और सुबोध था।

१ **सामञ्जफल-सुत्त** (दीघ १.२)
२ **मिलिन्दपञ्हो** पृ० २९६
३ **महा तण्हा संखय-सुत्तन्त** (मज्झिम १. ४. ८)

न उसमें कर्मकाण्ड की जटिलता थी और न दर्शन-शास्त्र की दुर्बोधता। यह आदर्श नैतिकवाद के आधार पर उन सिद्धांतों को लेकर उठा था जो समस्त मानवता के लिए कल्याणकारी थे। 'दुःख' और 'दुःख का निरोध' यही उनके धर्म के दो पाद थे। परन्तु ये समस्यायें साम्प्रदायिक समस्या नहीं कही जा सकतीं। ये तो सार्वभौम समस्यायें हैं—प्रत्येक धर्म की समस्यायें हैं। दुःख-निरोध का जो मार्ग तथागत ने बताया वह वस्तुतः नैतिक मार्ग था, सदाचार का मार्ग था। तपस्या और यज्ञ की नैतिक व्याख्या करके महात्मा बुद्ध ने जिस विशुद्ध धर्म की स्थापना की वह सर्व-ग्राह्य था। कर्मवाद की पूर्ण गरिमा स्थापित कर उन्होंने मानव को समस्त बाह्य अकुशों से मुक्त कर दिया। मनुष्य ही अपना भाग्यविधाता है। उसके कर्म ही उसे मोक्ष दिला सकते हैं। दुष्कर्मा मनुष्य का कोई भी उद्धार नहीं कर सकता। इस प्रकार के विचार व्यक्त कर उन्होंने एक ओर तो भारतीय नैतिक जीवन को बल दिया और दूसरी ओर मानव और मोक्ष के बीच खड़े हुए शत-शत अवरोधों को गिरा-कर एकमात्र कर्म की ही मध्यस्थता स्वीकार की। वेदवाद, ब्राह्मणवाद, यज्ञवाद एवं समस्त रूढ़िवादो का परित्याग कर उन्होंने अपने धर्म के प्रति प्रगति शील होने का परिचय दिया। मोक्ष का द्वार स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, बालक, युवा, वृद्ध आदि सभी के लिये खोलकर उन्होंने अपने धर्म को विशुद्ध मानव-वादी बताया। 'जाति मत पूछ, आचरण पूछ' का उदघोष युग-युग तक बौद्ध धर्म के निर्विशेष मानववाद की दुहाई देता रहेगा। महात्मा बुद्ध ने यह कहकर कि 'जो कोई जातिवाद में फँसे हैं, गोत्रवाद में फँसे हैं, मानववाद में फँसे हैं, आवाह-विवाह में फँसे हैं, वे अनुपम विद्याचरण सपदा से दूर हैं'[1], मनुष्य-मनुष्य के बीच खड़े सारे कृत्रिम अवरोधों के विरुद्ध आवाज उठाई थी। उनका एहिपस्सिको (आओ और देखो) धम्म किसी एक वर्गविशेष की सम्पत्ति न था। वह तो समस्त त्रस्त मानवता का त्राण था। महात्मा बुद्ध का धर्म मतवादी न था। वह तो जीवन-निर्वाह की एक विशुद्ध प्रणाली थी। उनका धर्म किसी आत्मश्लाघा की भावना से उद्भूत न था। यदि वे धर्म-स्थापना के द्वारा आत्म-प्रतिष्ठा चाहते होते तो कभी भी यह न कहते कि 'आनन्द! तथागत की शरीर-पूजा से तो तुम सदा बेपर्वाह ही रहा।'[2] जिस धर्म का आदि कल्याणकारी है, मध्य कल्याणकारी है और अन्त भी कल्याणकारी है, वह जनता में कैसे प्रसरित न होता? बौद्ध धर्म की सफलता उसके सरल, सुबोध, विवादहीन और सर्वोपकारी रूप में भी निहित थी।

(३) संघ—समस्त बौद्ध 'संघ' में संगठित थे। यह संघ संसार में परिव्राजकों का सर्वप्रथम संगठन था। इसकी कार्य-प्रणाली अत्यन्त जनतन्त्रात्मक थी। महात्मा बुद्ध ने संघ के अन्तर्गत भिक्षु-जीवन को जिस कुशलता के साथ संगठित किया था, वह कालान्तर में सुफल हुई। संघ ने संगठित रूप से समाज के सामने जिस त्याग-परता, सदाचारिता, अध्ययनशीलता और अध्यवसायशालिता का दृष्टान्त उपस्थित किया उससे बौद्ध धर्म जनता की अपूर्व श्रद्धा का केन्द्र बन गया। एक सम्यक् आयो-जित कार्य-प्रणाली के आधार पर संघ ने भिक्षुओं के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करते हुए उसे 'बहुजनहिताय' लगाया। घड़ी की सुइयों की भांति नियमबद्ध एवं सुसंचा-लित भिक्षु-वर्ग धर्म-प्रचार करने लगा। बौद्ध धर्म अपने व्यापक प्रचार के लिए वस्तुतः संघ का ही ऋणी है। इसने बौद्धों को जीवन-प्रणाली दी, संगठन दिया, निर्वाह के साधन दिए और धर्मप्रचार की एक विकसित योजना। संघ की रूप-रेखा का विस्तृत वर्णन आगे किया जायेगा।

१ दी० १.३ २ महापरिनिब्बाण सुत्त

(४) **अनुयायियों की धर्मपरता**—सौभाग्य से बौद्ध धर्म के इतिहास के प्रारम्भिक चरण में ही उसे ऐसे अनुयायी-भिक्षु और गृहस्थ उपासक, दोनों ही प्राप्त हुए जिन्होंने अपनी धर्मपरता और निःस्वार्थ साधना से आत्म-गौरव तो पाया ही, साथ-साथ अपने धर्म की भी महनीय सेवा की। महात्मा बुद्ध का स्वयं का सिद्धान्त कि 'अशन, पान, खादन, शयन के समय को छोड़, मल-मूत्र त्याग के समय को छोड़, निद्रा थकावट के समय को छोड़ तथागत की धर्म-देशना सदा अखण्ड रहेगी'। उनके अनुयायियों के लिए आदर्श बन गया था। वे भी तन-मन-धन से धर्म-प्रचार में तल्लीन हो गए। बौद्ध साहित्य में स्थान-स्थान पर हम बौद्ध भिक्षुओं की टुकड़ियों को इतस्ततः धर्मोपदेश और धर्म-चर्चा करते देखते हैं। 'भिक्षुओं! बहुजनहितार्थ, बहुजनसुखार्थ, लोक पर अनुकम्पा के लिए, हित के लिए, सुख के लिए, विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ' ऐसा तथागत का आदेश भिक्षुओं के लिए ब्रह्म-वाक्य बन गया था। सारिपुत्र मौद्गल्यायन, महाकाश्यप, आनन्द आदि भिक्षुओं, क्षेमा, उत्पलवर्णा आदि भिक्षुणियों, बिम्बिसार, अनाथपिण्डिक आदि दायकों, विशाखा, सुप्रवासा आदि दायिकाओं ने जिस श्रद्धा-भक्ति के साथ बौद्ध धर्म के प्रसार में योग दिया वह चिरस्मरणीय रहेगा। बौद्ध प्रचारकों ने जिस चारित्रिक आदर्श की स्थापना की थी वह शताब्दियों तक जनता के तीव्र आकर्षण का कारण बना रहा। 'यदि मेरी आँतें भूख से निकल कर बाहर भी चली आएँ तो भी मैं अपनी जीविका नहीं तोड़ सकता, प्राण चाहे भले ही निकल जाँय'[1]—इस प्रकार का सारिपुत्र का कथन बौद्ध भिक्षुओं की व्रत-परायणता का परिचायक है। महात्मा बुद्ध का यह कथन कि 'इस भिक्षु-संघ में एक भी भिक्षु ऐसा न हो जो ... नियत सम्बोधि-परायण न हो'[2] सिद्ध करता है कि बौद्ध भिक्षुओं ने अपनी सदाचारिता, प्रज्ञा, विद्वत्ता और धर्मपरायणता से तथागत का पूर्ण विश्वास प्राप्त कर लिया था। ऐसे योग्य प्रचारकों के रहते हुए बौद्ध धर्म का उत्कर्ष अवश्यम्भावी था।

(५) **चतुर्वर्णों का सहयोग**—बौद्ध धर्म को भिन्न-भिन्न कारणों से चारों वर्णों का अल्पाधिक मात्रा में सहयोग प्राप्त हुआ। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ब्राह्मण-काल से ही ब्राह्मण-वर्ग का एक चिन्तनशील वर्ग कोरे वेदपाठ और हिंसात्मक यज्ञवाद की उपयोगिता के विषय पर संशयात्मा हो उठा था। पूर्वोद्धृत नारद का कथन इस बात का प्रमाण है। कालान्तर में औपनिषद ऋषियों ने तो यज्ञ की एक नितान्त नवीन आध्यात्मिक व्याख्या ही प्रस्तुत की। यही नहीं, यज्ञों के करनेवाले मूर्ख भी कहे गए। इन सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं ब्राह्मण-वर्ग का भी एक चिन्तनशील एवं प्रगतिशील वर्ग विकृत ब्राह्मण-धर्म का विरोधी हो गया था। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उस वर्ग ने विशुद्ध आचारवादी बौद्ध धर्म का साथ दिया। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन इसी ब्राह्मण-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

महात्मा बुद्ध को क्षत्रिय-वर्ग का सहयोग मिलना तो स्वाभाविक ही था। वे स्वयं क्षत्रिय थे। फिर, बौद्ध धर्म के उदय में जहाँ अन्यान्य कारण थे वहाँ ब्राह्मणों और क्षत्रियों की प्राचीन काल से चली आनेवाली प्रतिस्पर्धा भी एक कारण थी। अतः जिस समय एक क्षत्रिय राजकुमार ने विकृत ब्राह्मण-धर्म का विरोध किया उस समय निश्चित रूप से असन्तुष्ट क्षत्रिय वर्ण ने उनका हृदय से स्वागत किया होगा। सारे बौद्ध ग्रन्थों में वर्णों में क्षत्रियों को सर्वोपरि स्थान देने की निरपवाद रूप से चेष्टा यही प्रकट करती है कि बौद्ध साहित्यकारों की दृष्टि में क्षत्रियों का विशेष

1 मिलिन्दपञ्हो पृ० ४५५. 2 महापरिनिब्बान सुत्त पृ० २०

महत्व था। ऐसा क्यों? कदाचित् इसलिए कि बौद्ध धर्म के आविर्भाव और प्रसार में सबसे अधिक उन्हीं का हाथ था।

अन्य कालों की भाँति इस काल में भी वैश्य वर्ण शान्तिप्रिय जनसमुदाय था। बौद्ध प्रचार ने अपनी अहिंसा, सदाचारिता और लोकोपकारिता से समाज में जिस शान्ति और संरक्षा का वातावरण उत्पन्न करने में महनीय योग दिया था वह वैश्य वर्ण की मनोवृत्ति और व्यापार-वृत्ति के सर्वथा अनुकूल था। अतः निश्चित ही इस वर्ण ने तथागत के शान्तिमूलक अहिंसा-प्रधान उपदेशों का भलीभाँति आदर किया होगा। महात्मा बुद्ध की सदाचार-प्रधान शिक्षाओं ने युग की उच्छृंखल एवं हिंसात्मक प्रवृत्तियों के दमन में विशेष योग दिया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। देश के व्यापारिक एवं व्यावसायिक वर्ग ने इसका हृदय से स्वागत किया होगा।

शूद्र वर्ण तो परिस्थितजन्य कारणों से ही बौद्ध धर्म के साथ था। ब्राह्मण-धर्म में उसके लिए कोई स्थान न था, और यदि था भी तो वह अति निम्न और गर्हित। ब्राह्मण-व्यवस्था ने उसके कर्तव्यों का ही निरूपण किया था। उसके अधिकार तो नाममात्र के ही थे। द्विजातियों के बीच में वह शिक्षाविहीन, संस्कारविहीन और अधिकार-विहीन था। पग-पग पर उसे धार्मिक अवरोधों का सामना करना पड़ता था। प्रतिक्षण उसे सामाजिक विषमता सताती रहती थी। राजनीतिक अवस्था भी उसके अनुकूल न थी। अतः जातिविहीन निर्विशेष मानववादी बौद्ध धर्म में उसे विशेष आकर्षण दिखाई दिया। मातंग, उपालि और सुनीति आदि शूद्रों ने बौद्ध धर्म के अन्तर्गत जो प्रतिष्ठा पाई थी वह समस्त शूद्र-समुदाय के लिए कौतूहल और सन्तोष का विषय बन गई होगी। इस समुदाय ने उन्मुक्त हृदय से बौद्ध धर्म स्वीकार किया होगा।

(६) **पूर्वी भारत का सहयोग**—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, ई० पू० छठी शताब्दी तक ब्राह्मण-प्रधान आर्य-सभ्यता भारतवर्ष के धुर पूर्वी प्रदेश में सम्यक रूप से प्रसारित न हुई थी। परिणामतः यहाँ ब्राह्मण-धर्म और ब्राह्मण-व्यवस्था का अधिक जोर न था। उनकी दृष्टि में यही उनका सबसे अधिक निर्बल क्षेत्र था। अतः अन्य प्रदेशों की अपेक्षा इस पूर्वी प्रदेश में ब्राह्मण-वर्ण एवं ब्राह्मण-धर्म को अपदस्थ करना सरल था। ऐसी परिस्थिति में यह नितान्त स्वाभाविक था कि इसी पूर्वी प्रदेश में ब्राह्मण-धर्म के विरोधी बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव और प्रचार हुआ। यदि यहाँ ब्राह्मण-संस्कृति सबल होती तो कदाचित् बौद्ध धर्म को इतनी अधिक सफलता न मिलती। परन्तु परिस्थिति ठीक इसके विपरीत थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस प्रदेश ने बौद्ध धर्म के अंकुरित और प्रस्फुटित होने के लिए उसे प्रारम्भिक जीवन-दान दिया।

(७) **राजकीय प्रश्रय**—महात्मा बुद्ध शाक्य-नरेश के पुत्र थे। अतः शाक्य जाति सदैव उन्हें अति सम्मान की दृष्टि से देखती रही। इस जाति के सहयोग से महात्मा बुद्ध को अपने धर्म के प्रचार में काफी सहायता मिली होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। शाक्यों ने अपने नवनिर्मित संथागार का उद्‌घाटन महात्मा बुद्ध से ही कराया था। उस संथागार में जो सर्वप्रथम कार्यक्रम सम्पन्न हुआ था वह था महात्मा बुद्ध, आनन्द और मौद्‌गल्यायन के प्रवचन। समस्त शाक्य जाति के प्रतिनिधि रात भर इन प्रवचनों को सुनते रहे थे।[1] महात्मा बुद्ध के प्रति शाक्यों की अपार श्रद्धा का यह एक उदाहरण है।

दूसरा पड़ोसी लिच्छवि-गणराज्य वैशाली यद्यपि महावीर स्वामी की जन्म-

१ रीज डेविड्स-बुद्धिस्ट इण्डिया पृ० २०

भूमि थी, तथापि यहाँ महात्मा बुद्ध का भी बड़ा आदर-सत्कार होता था। वे कई बार इस राज्य में अपने धर्म-प्रचार के लिए आए थे। जिस समय महात्मा बुद्ध अन्तिम बार वैशाली गए थे तो उस समय लिच्छवियों ने उनका भारी स्वागत किया था। महापरि-निर्वाण सूत्र में इस स्वागत का इस प्रकार उल्लेख किया गया है—'उन्होंने अपने शानदार और सुन्दर रथों को तैयार करने की आज्ञा दी और उन पर चढ़ कर वैशाली से बाहर निकले। उनमे से कुछ नीले रंग के थे, उन्होंने कपड़े भी नीले रग के पहने थे उनके आभूषण भी नीले रग के थे। कुछ श्वेत रग के थे, उनके वस्त्र और आभूषण भी श्वेत रग के थे ....।'

शाक्यो और लिच्छवियों की भाँति मल्लों का गणराज्य भी महात्मा बुद्ध में अपार श्रद्धा रखता था। अपने परिनिर्वाण के समय महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द को विशेष रूप से कुशीनारा के मल्लो को सूचना देने के लिए भेजा था। महात्मा बुद्ध पावा में ही बीमार हो गए थे। परन्तु फिर भी वे चलकर महापरि-निर्वाण के लिए कुशीनारा मे ही आए। ऐसा प्रतीत होता है कि मल्लों के प्रति उनका विशेष प्रेम था।

इनके अतिरिक्त बुली, कोलिय, मोरिय, भग्ग और कालाम आदि जनो के लघु गण-राज्यो ने महात्मा बुद्ध के अवशेषों के लिए अपनी-अपनी माँग प्रस्तुत की थी। इससे प्रकट होता है कि ये गणराज्य महात्मा बुद्ध के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थे। इन गणराज्यों की श्रद्धा-भक्ति और सहायता को पाकर महात्मा बुद्ध को अपने धर्म-प्रचार में निश्चित रूप से बडी सुगमता हो गई होगी।

गणराज्यो की भाँति राजतन्त्रात्मक राज्य भी महात्मा बुद्ध के प्रति आदर-भाव रखते थे। इस दृष्टि से सर्वप्रथम उल्लेखनीय है मगध-राज्य। यहाँ का राजा बिम्बि-सार महात्मा बुद्ध का विशेष भक्त था। इसका उल्लेख बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलता है। उधर, कोशलराज प्रसेनजित भी महात्मा बुद्ध मे अपार श्रद्धा रखता था। तथागत अनेक बार उसकी राजधानी श्रावस्ती गए थे। दोनो के बीच समय-समय पर जो धर्म-चर्चा हुई थी, वह बौद्ध साहित्य मे 'कोशल-संयुक्त' में सकलित और सरक्षित है। वत्स का नरेश उदयन प्रारम्भ में बौद्ध धर्म का विरोधी था। बौद्ध साहित्य का उल्लेख है कि एक बार उसने अपने राजधानी कौशाम्बी में महा-त्मा बुद्ध के परम प्रिय शिष्य 'पिण्डोल भारद्वाज' को निपीडित किया था।[1] परन्तु अपने जीवन के अन्तिम चरण में वह महात्मा बुद्ध में श्रद्धा करने लगा था। चीनी जनुश्रुति के अनुसार उदयन ने तथागत की एक स्वर्ण-प्रतिमा भी बनवाई थी।[2] अवन्ती-राज्य यद्यपि काफी दूर था, तथापि महात्मा बुद्ध की कीर्ति वहाँ पहुँच चुकी थी। यहाँ पर भी बौद्ध संघ की स्थापना हो चुकी थी।[3] महाकच्चायन, सोण, अभयकुमार आदि प्रसिद्ध भिक्षु अवन्ती के ही निवासी थे।

इस प्रकार के संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट हो जायेगा कि बौद्धकालीन अनेक राज्य महात्मा बुद्ध के सहायक हुए थे। इस राजकीय सहायता एव प्रश्रय से तथागत के धर्म को एक सुदृढ़ प्रस्तर-स्तम्भ मिल गया था। इसी के सहारे वह अनेक दिशाओं में प्रस्फुटित और पल्लवित होने लगा था। प्रजा राजा की अनुगामिनी होती है, यह तथ्य ई० पू० छठी शताब्दी में बहुत-कुछ सार्थक था। अपने राजाओं को बौद्ध

१ मातंग जातक p. 49.
2 Edkins—Chinese Buddhism.
३ विनय-पिटक (चुल्ल वग्ग)

धर्म के प्रति उदार और श्रद्धालु देख कर प्रजा भी उस धर्म के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुई होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(८) लोक-भाषा का प्रयोग—यदि हम ललितविस्तार पर विश्वास करें तो महात्मा बुद्ध को अनेक भाषाओं का ज्ञाता मानना पड़ेगा। परन्तु उनका धर्म लोक-धर्म था। उसका प्रचार 'बहुजन हिताय' था। अतः उस जनवादी प्रचारक ने जनता की भाषा में ही अपना धर्म-प्रचार किया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस स्वाभाविक निष्कर्ष की पुष्टि बौद्ध साहित्य से भी होती है। महात्मा बुद्ध के कुछ ब्राह्मण अनुयायी यह चाहते थे कि बुद्ध-वचन वैदिक भाषा में अनुवादित कर दिए जायें। परन्तु महात्मा बुद्ध ने उनके इस विचार का विरोध किया। क्यों? इसीलिए कि वे भलीभाँति जानते थे कि संस्कृत एकमात्र समाज के एक अभिजात (बौद्धिक दृष्टि से) वर्ग की ही भाषा थी और जनसाधारण के साथ उसका सम्पर्क और सम्बन्ध छूट चुका था। अत वह जनकार्य के लिए उपयुक्त न थी। इसी दृष्टि से महात्मा बुद्ध ने अपने अनुयायियों से यह कहा था कि भिक्षुओ, बुद्ध-वचन को अपनी भाषा में सीखने की अनुमति देता हूँ।'

परन्तु अब प्रश्न यह होता कि महात्मा बुद्ध की 'अपनी भाषा' क्या थी। जिसमें उन्होंने उपदेश दिए थे। विण्टर्निज, कीथ, ओल्डेनबर्ग, ग्रियर्सन आदि विद्वान् इस भाषा को मागधी भाषा मानते हैं—अर्थात् वह भाषा जो तथागत के समय में मगध अथवा मध्यदेश में जनता की भाषा थी।

अब दूसरा प्रश्न यह होता है कि इस मागधी और त्रिपिटक की पाली-भाषा में क्या सम्बन्ध है। कुछ विद्वान् दोनों को एक नहीं मानते हैं क्योंकि—

(१) त्रिपिटक की भाषा एकरूप नहीं है। वह अनेक भिन्नताओं से भरी है। अत. उसे एकमात्र मागधी का रूप कैसे दिया जाय?

(२) अशोक के शिलालेख मागधी भाषा में है। परन्तु उस भाषा और त्रिपिटक की भाषा में अन्तर है। उदाहरण के लिए, अशोक के अभिलेखों की मागधी में प्रथम विभक्ति में 'ए' का प्रयोग हुआ है, परन्तु त्रिपिटक मे उसके लिए 'ओ' मिलता है। इसी प्रकार अशोक के अभिलेखों मे 'ल' मिलता है, परन्तु उसके स्थान पर त्रिपिटक में 'र' है। अत त्रिपिटक की भाषा मागधी कैसे हो सकती है?

परन्तु यदि विचार किया जाय तो ये आपत्तियाँ बहुत सबल नहीं हैं। बौद्ध धर्म महात्मा बुद्ध के समय में ही कोसी से कुरुक्षेत्र और हिमालय से विन्ध्याचल तक फैल चुका था। उसके अनुयायी और प्रचारक भिन्न-भिन्न प्रदेशों के निवासी थे। अतः महात्मा बुद्ध ने जिस मूल भाषा (मागधी) में प्रचार किया था उसमें अनेक प्रकार की भिन्नतायें आ गईं। उनकी मूल भाषा मे अन्य प्रादेशिक शब्दों और विशेषताओं का सम्मिश्रण हो गया। इसी से उसका कोई एक स्थिर रूप न रहा। एक बात और है। बुद्ध-वचन महात्मा बुद्ध के समय में तो लिखे नहीं गए थे। उन्हें तो पिटकधर भाणकों ने एकमात्र मौखिक रूप से याद कर रखा था। इसी प्रकार यह मौखिक संगायन की परम्परा चलती रही और अन्त में अशोक के समय की तीसरी बौद्ध संगीति मे स्मृति-सरक्षित उन्हीं बुद्ध-वचनों को यथासम्भव अपने वास्तविक रूप में संकलित किया गया। परन्तु इस समय तक भी उनका लिखितरूप न था। लिखे तो वे गए ई० पू० प्रथम शताब्दी में लंका में—वहाँ के राजा वट्ट गामणि के समय में। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्ध-वचन महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् लगभग ५०० वर्षों तक मौखिक रूप में ही चलते रहे। अतः यदि दीर्घ काल में उनके सिद्धान्तों और

शब्दों में यत्र-तत्र कुछ हेर-फेर हो गया हो तो बहुत स्वाभाविक है। इस दीर्घकाल में बुद्ध-वचन की प्राचीन भाषा भी पूर्णरूप से संरक्षित न रह सकी होगी और उसमें अनेक प्रादेशिक शब्द तथा विशेषतायें आ गई होंगी। इस दृष्टि से भाषा की कुछ विभिन्नता के आधार पर हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि त्रिपिटक की भाषा और मागधी भाषा दो पृथक्-पृथक् भाषायें हैं। बुद्धघोष ने 'अपनी भाषा' (सकाय निरुत्तियाँ) पर व्याख्या करते हुए उसे मागधी भाषा ही माना है। उनके इस कथन पर अविश्वास करने का कोई विशेष कारण नहीं है। त्रिपिटक का मूल रूप मागधी ही था। दीर्घकाल के व्यवहार और बहुसंख्यक प्रादेशिक जनों के सम्पर्क में आने से उसमें अनेकरूपता आ गई है।

हमारा निष्कर्ष है कि महात्मा बुद्ध ने जनसाधारण की भाषा में ही अपने उपदेश किए थे और यह भाषा पाली (अथवा मूल रूप में मागधी) थी। संस्कृत का परित्याग कर जन-भाषा में धर्म-चर्चा करना एक क्रान्तिकारी परिवर्तन था। परन्तु बौद्ध धर्म के लिए यह अति उपयोगी सिद्ध हुआ। अपनी भाषा में कहे गए धर्म को समझना जनता के लिए सुगम था। इस प्रकार जनता और धर्म के बीच का व्यवधान मिट गया। इस विशेषता ने बौद्ध धर्म की लोकप्रियता को बढ़ाने में बड़ा योग दिया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(९) **प्रचार-शैली**—महात्मा बुद्ध जिस शैली में अपना धर्म-प्रचार करते थे वह बड़ी ही प्रभावोत्पादक थी। वे कभी भी दार्शनिक पदावली का प्रयोग न करते थे। उनके सिद्धान्त जीवन से सम्बन्धित होने के कारण सरल भी थे। उन्हें समझना-समझाना कठिन न था। सत्ता आदि के गहन और विवादग्रस्त विषयों को वे मानवी प्रगति के लिए अनावश्यक समझते थे। अतः उन पर वे प्रायः मौन ही रहते थे। दार्शनिक वाद-विवाद में पड़ कर वे पहले श्रोताओं में बुद्धि-विभ्रम उत्पन्न न करना चाहते थे। विषय की इस सरलता ने उनके उपदेशों को बड़ा ही सुबोध बना दिया था।

बहुधा वे अपने सिद्धांतो का निरूपण प्रश्नोत्तर के रूप में ही करते थे। शिक्षण की यह प्रत्यक्ष शैली मानी जाती है और इस शैली में कठिन से कठिन विषय भी सुगम बनाया जा सकता है।

पुनः, महात्मा बुद्ध की प्रचार-शैली की एक विशेषता और थी। वे वार्ता प्रारम्भ होते ही अपने विपक्षी का मत स्वीकार कर लेते थे और फिर धीरे-धीरे प्रश्न करना प्रारम्भ करते थे। वे प्रश्न इतने सरल, सीधे और सबल होते थे कि विपक्षी धीरे-धीरे यह अनुभव करने लगता था कि उसके मत में अनेक त्रुटियाँ और दोष हैं। प्रश्नोत्तरों का यह क्रम चलता रहता था और अन्त में अवस्था यह आ जाती थी कि विपक्षी स्वयं अपने मुँह से यह कह उठता था कि मेरा मत निराधार है। तब फिर महात्मा बुद्ध उसी वार्ता से सूत्र ग्रहण कर अपना मत प्रतिपादित करते थे। क्रम-बद्ध और तर्कशील होने के कारण यह प्रचार-शैली बड़ी प्रभावोत्पादक थी।

महात्मा बुद्ध अपने उपदेशों में उपमाओं और उदाहरणों का प्रचुर प्रयोग करते थे। इनसे उनका विषय एक ओर तो रोचक बन जाता था और दूसरी ओर सुबोध। इसके अतिरिक्त उनके प्रवचनों में हम लोकोक्तियाँ और मुहावरे भी पाते हैं। ये भी जनता के ऊपर काफी प्रभाव डालती थीं।

परन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली विशेषता थी महात्मा बुद्ध की मृदु वाणी और शान्त स्वभाव। विवाद अथवा वार्ता में वे कभी क्रुद्ध न होते थे और न कभी कठोर

शब्दों का प्रयोग करते थे। सदैव शान्तिपूर्वक ही अपने विपक्षी को सुपथ पर लाने का प्रयास करते थे। ऐसे प्रशान्त मनीषी को देवदत्त की गालियाँ, ईंटें और हत्या की कुमन्त्रणायें भी न डिगा सकीं। एक बार की बात है कि एक विरोधी ब्राह्मण ने महात्मा बुद्ध को सैकड़ों गालियाँ दीं। महात्मा बुद्ध शान्त भाव से उन्हें सुनते रहे। अन्त में उन्होंने उस ब्राह्मण से पूछा, 'ब्राह्मण, क्या तुम्हारे घर कभी कोई अतिथि आया है?' ब्राह्मण ने उत्तर दिया 'हाँ'। महात्मा बुद्ध ने फिर प्रश्न किया, 'क्या कभी तुमने उसके भोजनादि की व्यवस्था की थी?' उत्तर मिला 'हाँ'। महात्मा बुद्ध ने फिर पूछा कि 'यदि अतिथि तुम्हारे द्वारा आयोजित भोजन को ग्रहण न करे तो वह भोजन किसका होगा?' ब्राह्मण ने उत्तर दिया 'मेरा'। अब महात्मा बुद्ध की बारी थी। उन्होंने ब्राह्मण से कहा कि 'उसी प्रकार तुम्हारे द्वारा दी गई इन गालियों को मैंने ग्रहण नहीं किया है। अब यह किसकी है?' ब्राह्मण निरुत्तर हो गया। बेचारा क्या कहता? नतमस्तक होकर वह कारुणिक शास्ता से क्षमा माँगने लगा। इस प्रकार की अनेक घटनायें बौद्ध साहित्य में भरी पड़ी हैं जिनसे महात्मा बुद्ध के शान्त, संयत और तर्कशील स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है। उनके ये सब गुण उनके सुमहत् कार्य में बड़े सहायक सिद्ध हुए।

१७

बौद्ध संघ

गणतन्त्रात्मक संगठन—महात्मा बुद्ध की सगठनात्मक प्रतिभा का सर्वप्रमुख उदाहरण उनके द्वारा बौद्ध सघ की स्थापना है। यह बौद्ध भिक्षुओं की जीवन-प्रणाली का नियामक और बौद्ध धर्म का सर्वश्रेष्ठ प्रचारक था। महात्मा बुद्ध का जन्म एक गणतन्त्रात्मक राज्य मे हुआ था। अत गणतन्त्रात्मक प्रणाली के सस्कार उनके मस्तिष्क पर भलीभाँति दृढ हो चुके थे। यही कारण है कि उन्होने अपने भिक्षु-सगठन का नाम भी गणतन्त्रात्मक प्रणाली पर 'सघ' रखा। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नही कि तत्कालीन राजनीति में 'सघ' एक सुविख्यात सगठन समझा जाता था, यथा वज्जि-सघ। महात्मा बुद्ध ने उस राजनीतिक प्रणाली को धार्मिक क्षेत्र मे भी कार्यान्वित किया। उनका भिक्षु-सघ वस्तुत एक धार्मिक गणतन्त्र था। उसमें समस्त सदस्यो के अधिकार समान थे। वहाँ न कोई छोटा था और न कोई बडा। महात्मा बुद्ध ने अपना कोई उत्तराधिकारी भी नियुक्त न किया था। उन्होंने अपने निर्वाण के समय स्वय कहा था कि 'आनन्द! शायद तुम ऐसा सोचो कि हमारे शास्ता चले गए, अब हमारा शास्ता नही! आनन्द! इसे ऐसा मत समझना। मैने जो धर्म और विनय उपदेश किये हैं, प्रज्ञप्त किये हैं, मेरे बाद वे ही तुम्हारे शास्ता होंगे।'[१] इसी सम्बन्ध में वस्सकार ने आनन्द से यह पूछा था कि क्या तथागत ने अपना कोई उत्तराधिकारी नहीं चुना? आनन्द के 'नही' कहने पर उसने भारी आश्चर्य प्रकट किया और अपना यह भय प्रकट किया कि किसी नेता के अभाव में सघ की एकता नष्ट न हो जाय। इस पर आनन्द ने महात्मा बुद्ध के आशय को ही प्रकट करते हुए उसे आश्वासन दिया कि 'ब्राह्मण! हमें किसी नेता की आवश्यकता नही है। धर्म ही हमारा नेता है।'[२] इन उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता है कि गण-तन्त्रात्मक प्रणाली के आधार पर ही महात्मा बुद्ध किसी धार्मिक गद्दी की अथवा 'गुरुडम' की स्थापना नही करना चाहते थे। उन्होने समस्त भिक्षु-समुदाय को ही अपना धर्म सौंपा, किसी एक भिक्षु को नहीं।

महापरिनिब्बाण सुत्तान्त का कथन है कि महात्मा बुद्ध ने सम्पूर्ण भिक्षु-सघ को एकत्र कर उन्हें ७ अपरिहरणीय धर्मों का उपदेश दिया था—

(१) भिक्षुओं! जब तक भिक्षु-लोग एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभायें करते रहेंगे, तब तक भिक्षुओ! भिक्षुओं की वृद्धि समझना, हानि नहीं।

(२) 'भिक्षुओ! जब तक भिक्षु लोग एक हो बैठक करते रहेंगे, एक हो

१ महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २.३)   २ गोपक-मोग्गल्लान-सुत्तन्त (मज्झिम०)

उत्थान करते रहेंगे और एक ही संघ के कार्यों को सम्पन्न करते रहेंगे, तब तक भिक्षुओं की वृद्धि समझना, हानि नहीं।

(३) 'भिक्षुओं! जब तक भिक्षु लोग संघ-विहित नियमों का उल्लंघन नहीं करेंगे, संघ-विरुद्ध नियमों का अनुसरण नहीं करेंगे, पुरातन भिक्षु-नियमों का पालन करते रहेंगे तब तक उनकी वृद्धि होगी, हानि नहीं।

(४) भिक्षुओं! जब तक भिक्षु लोग उच्चतर धर्मानुरागी, चिर प्रव्रजित, संघ के जन्मदाता, संघ के नायक स्थविर भिक्षुओं का सत्कार करते रहेंगे, उनका आदर कर उनकी पूजा करते रहेंगे, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि होगी, हानि नहीं।

(५) 'भिक्षुओं! जब तक भिक्षु लोग पुन पुन उत्पन्न होने वाली तृष्णा के वश में नहीं पड़ेंगे, तब तक उनकी वृद्धि होगी, हानि नहीं।

(६) भिक्षुओं! जब तक भिक्षु लोग वन-कुटीरों में निवास करने की इच्छा वाले रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि होगी, हानि नहीं।

(७) 'भिक्षुओं! जब तक भिक्षु लोग यह स्मरण रखेंगे कि भविष्य में अच्छे ब्रह्मचारी संघ में सम्मिलित हों और सम्मिलित हुए लोग ब्रह्मचारी रहते हुए सुखपूर्वक निवास करें, तब तक भिक्षु-संघ की वृद्धि होगी, हानि नहीं।'

ये धर्म न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ वही है जिनका उपदेश महात्मा बुद्ध ने अजातशत्रु के मन्त्री वस्सकार को दिया था। अजातशत्रु वज्जि-संघ के ऊपर आक्रमण करना चाहता था। अत उसने अपने मन्त्री वस्सकार को महात्मा बुद्ध के पास सलाह लेने के लिए भेजा था। महात्मा बुद्ध ने उस मन्त्री से यह कहा कि जब तक वज्जिसंघ ७ बातों का अनुसरण करता रहेगा तब तक उसका (वज्जिसंघ का) पतन असम्भव है।[1] वे ७ बातें प्राय उपर्युक्त ७ धर्मों के ही समान थीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा बुद्ध ने राजनीतिक संघों को अपने धार्मिक संघ के लिए आदर्श समझा था। दोनों का ही संगठन गणतन्त्रात्मक था। बौद्ध संघ की कार्य-प्रणाली के जो उदाहरण बौद्ध साहित्य में मिलते है उनसे भी इस कथन की पुष्टि होती है।

कार्य-प्रणाली—संघीय कार्यों में प्रत्येक भिक्षु के अधिकार समान थे। प्रत्येक संघकम्म के लिए संघ की उपस्थिति आवश्यक थी अन्यथा वह कार्य अवैधानिक समझा जाता था।[2] अनुपस्थिति व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के द्वारा अपना मत प्रकट करा सकता था।[3] संघ की सभा में सब के बैठने की व्यवस्था करने वाले पदाधिकारी को 'आसन-प्रज्ञापक' कहते थे।[4] प्रस्ताव रखने के पूर्व उसकी सूचना दे दी जाती थी। इस सूचना को 'ज्ञप्ति' कहते थे। प्रस्ताव को 'नत्ति' कहा जाता था। प्रस्ताव का प्रस्तुत करना 'अनुस्सावन' अथवा 'कम्मवाचा' कहलाता था।[5] तत्पश्चात् प्रस्ताव पर विवाद होता था। जिस विषय पर सदस्यों में मतभेद होता था उसे अधिकरण कहते थे। प्रत्येक सदस्य स्वतन्त्रतापूर्वक अपना मत (छन्द) दे सकता था। जो व्यक्ति प्रस्ताव को स्वीकार करते थे वे मौन रहते थे। कभी-कभी मत-विभाजन शलाकाओं के द्वारा होता था। ये शलाकाये भिन्न-भिन्न रंग की होती थीं। जो अधिकारी शलाकाओं का वितरण और संग्रह करता था उसे 'शलाकाग्राहापक' कहते

१ महापरिनिब्बान सुत्तन्त १.६
२ महावग्ग २. ११-२५
३ चुल्लवग्ग १२. २-७
४ महावग्ग ९. ३.२

थे। मत-दान दो प्रकार का होता था—गुप्त (गुल्हक) और प्रत्यक्ष (विवतक)। निर्णय बहुमत से होता था। बहुमत द्वारा हुए निर्णय को 'ये भूयस्सिकम्' अथवा 'ये भयसीयम्' कहते थे। प्रत्येक प्रस्ताव तीन बार प्रस्तुत और स्वीकृत किया जाता था। तभी वह अधिनियम बनता था। कभी-कभी प्रस्ताव विशेष विचार के लिए किसी उप-समिति (उब्बाहिका) के सिपुर्द कर दिया जाता था।[1]

संघ के अधिवेशन के लिए कम से कम २० भिक्षु-सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य थी।[2] यह 'कोरम' (quorum) था। इसके बिना प्रत्येक अधिवेशन और अधिनियम अवैध समझा जाता था।

संघ का संगठन—बौद्ध संघ का विकास शनैः शनैः हुआ था। उसका एक दीर्घकालीन इतिहास है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रारम्भ में बौद्ध धर्म के सिद्धान्त लिखित रूप में न थे। बौद्धों की सम्पूर्ण धार्मिक व्यवस्था निम्नलिखित चार आधारों (महोपदेशों) पर अवलम्बित थी[3]—

(१) भगवतो सम्मुखा सुत्तम—स्वयं भगवान् बुद्ध के मुख के सुने हुए उपदेश
(२) किसी स्थानीय संघ द्वारा ग्रहीत व्यवस्था
(३) महास्थविरों द्वारा ग्रहीत व्यवस्था
(४) किसी बौद्ध धर्माचार्य द्वारा की गई धर्म-व्याख्या

पीछे कहा जा चुका है कि बौद्ध भिक्षु वर्षा-काल को छोड़ कर प्रायः वर्ष पर धर्म प्रचारार्थ परिभ्रमण किया करते थे। वर्षा-ऋतु में ये जिन स्थानों में निवास करते थे वे 'आवास' के नाम से प्रख्यात हुए। यही आवास कालान्तर में स्थानीय संघों के रूप में विकसित हुए। ऐसा अनुमान है कि कालान्तर में इन्ही स्थानीय संघों ने बौद्ध मत-मतान्तरों को जन्म दिया। इन सब स्थानीय संघो के ऊपर 'चातुद्दिस' संघ था। यह अखिलदेशीय संगठन था।

प्रारम्भ में कोई भी व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु हो सकता और संघ में प्रवेश पा सकता था। परन्तु कालान्तर में इस उन्मुक्त और निस्सीम अधिकार का दुरुपयोग होने लगा। उदाहरणार्थ, बहुत से अपरिपक्व अवस्था के तरुण क्षणिक भावना के वशीभूत होकर गृह त्याग कर देते और संघ में प्रविष्ट हो जाते थे। कालान्तर में वे संघ के कठोर एवं अनुशासनशील जीवन को अपनाने में अपने को पूर्णतः अयोग्य पाते थे। महावग्ग का कथन है कि मगध की जनता अपने बहुसंख्यक नवयुवकों को प्रव्रज्या ग्रहण करते देख कर व्यग्र हो उठी थी।[4] इसी प्रकार इसी ग्रंथ में अन्यत्र उल्लेख है कि बौद्ध संघ में अनेक अज्ञान और अनधीत व्यक्ति घुस आए थे।[5] बहुत से व्यक्ति संघ में इस लिए प्रविष्ट हुए थे कि जिससे वे जनता के दान की सहायता के संघ में सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकें।[6] इस प्रकार उनका संघ-प्रवेश जीविकार्जन का एक साधन बन गया था। चुल्लवग्ग में ऐसे कलहप्रिय एवं अपभाषी भिक्षुओं का उल्लेख है जो संघ के अधिवेशनों में व्यर्थ का वाद-विवाद करते थे। मिलिन्दपन्हो ऐसे परिव्राजको का उल्लेख करता है जो राजा के अत्याचारों से पीड़ित होकर, डाकुओं से भयभीत होकर, ऋणी होने के कारण अथवा जीविको-

१ चुल्लवग्ग १२.२-८
२ महावग्ग ९.४.१
३ महापरिनिब्बाण सुत्तन्त ४.७
४ महावग्ग १.२४
५ महावग्ग २.१७
६ डायलाग्ज आफ दि बुद्ध १.१५

पार्जन के निमित्त प्रव्रज्या ग्रहण करते थे।[1] मगध-नरेश बिन्दुसार ने यह आज्ञा प्रसारित की थी कि कोई भी व्यक्ति बौद्ध भिक्षुओं को हानि न पहुँचाए।[2] इस आज्ञा से लाभ उठाने के लिए चोर, डाकू, हत्यारे, ऋणी आदि बौद्ध भिक्षु बन गए होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस प्रकार के संघ-प्रवेश के पीछे कोई धार्मिक भावना न थी।

इस प्रकार संघ की असन्तोषजनक अवस्था न्यूनाधिक मात्रा में स्वयं महात्मा बुद्ध के जीवन-काल में भी हो गई होगी। अतः परिस्थिति-सुधार करने के लिए यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि संघ-प्रवेश के लिए कुछ शर्तें बना दी जायें और वास्तव में ऐसा ही किया गया। नई नियमावली के अनुसार १५ वर्ष की अवस्था से कम का युवक संघ-प्रवेश न पा सकता था।[3] चोर, हत्यारों और ऋणी व्यक्तियों के लिए संघ-प्रवेश की आज्ञा न रही।[4] युवक के लिए अब यह आवश्यक हो गया कि गृह-त्याग के पूर्व वह अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर ले।[5] क्लीव, दास और रोगी भी अब संघ-प्रवेश न पा सकते थे।[6]

नारियों का संघ-प्रवेश—नारियों को भी बौद्ध संघ में प्रविष्ट होने की आज्ञा मिल गई थी। परन्तु जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, महात्मा बुद्ध ने यह आज्ञा अनिच्छापूर्वक और कतिपय शर्तों के आधार पर ही दी थी। ये शर्तें ८ थी[7]—

(१) उन्हें अपने कर्तव्यों को भलीभाँति समझना चाहिए।

(२) प्रति अर्धमास उन्हें एक भिक्षा लानी चाहिए।

(३) भिक्षु-विहीन स्थान पर उन्हें वर्षा-काल न व्यतीत करना चाहिए।

(४) उन्हें भिक्षुओं से पृथक् रहना चाहिए जिससे वे उन्हें न देख सकें और न सुन सकें।

(५) वे भिक्षुओं को विपथ न करें।

(६) वे क्रोध, अपशब्दता और पाप से मुक्त रहें।

(७) प्रति अर्धमास वे किसी भिक्षु के सम्मुख अपने पापों को स्वीकार कर लें।

(८) चाहे वे शतायु ही क्यों न हों, उन्हें भिक्षु के प्रति—नवीन भिक्षु के प्रति भी—आदर-प्रदर्शन करना चाहिए उनके आगमन पर खड़ा हो जाना चाहिए और अभिवादन करना चाहिए।

आनन्द के आग्रह पर नारियों को संघ-प्रवेश की आज्ञा देने के पश्चात् भी महात्मा बुद्ध ने कहा था कि 'आनन्द! यदि तथागत-प्रवेशित धर्म-विनय में नारियाँ घर से बेघर हो प्रव्रज्या न पाती तो यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता, सद्धर्म एक हजार वर्ष ठहरता। परन्तु चूँकि आनन्द! नारियाँ घर से बेघर हुई है, इसलिए अब यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा।'[8]

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि महात्मा बुद्ध नारी-द्रोही थे। वे केवल

१ मिलिन्दपन्हो पृ० ३२
२ महावग्ग १.४१
३ महावग्ग १.५०
४ वही १.४१, ४२, ४४, ४६, ६४, ६५. ६६
५ महावग्ग १.४५
६ वही, १. ६१; १. ७६
७ जातक ५ पृ० ३६८-गाथा ११९-२०
८ विनय-पिटक-चुल्लवग्ग

मानवी दुर्बलताओं से परिचित थे और न दुर्बलताओं के प्रस्फुटन के लिए अवकाश ही न देना चाहते थे। दीर्घनिकाय में एक स्थान पर वे स्वय कहते हैं कि नारी में कोई क्षुद्रता नही है।[1] एक बौद्ध साधिका सोमा का यह कथन कि 'जब चित्त समाधि में स्थित है, ज्ञान विद्यमान है, धर्म का सम्यक् दर्शन कर लिया गया है, तो स्त्रीत्व हमारा क्या करेगा?'[2] महात्मा बुद्ध की नारी के प्रति विशुद्ध विचार-धारा से पूरा मेल खाता है। कालान्तर मे अनेकानेक भिक्षुणियो ने धर्म-प्रचार में महत्वपूर्ण योग देकर महात्मा बुद्ध के इस विश्वास को सार्थक बनाया। इस योग के कारण खमा, पटाचारा, किसा गौतमी, विशाखा आदि नारियाँ भारतीय इतिहास में अमर हैं।

उपसम्पदा—संघ-प्रवेश को उपसम्पदा कहते थे। बौद्ध धर्म में इसका वही महत्व था जो ब्राह्मण धर्म में उपनयन-सस्कार का। प्रारम्भ में महात्मा बुद्ध स्वयं उपसम्पदा सम्पादित करते थे, परन्तु जब सघ में प्रवेशार्थियों की संख्या बहुत बढ़ने लगी तो उन्होंने उपसम्पदा सम्पादित करने का अधिकार भिक्षुओ को दे दिया।[3] सघ में प्रविष्ट हो जाने पर भिक्षु को किसी आचार्य के निरीक्षण मे रह कर कुछ वर्षों तक अध्ययन करना पडता था। इस काल को 'निस्साय' कहते थे। इसका वही महत्व था जो ब्राह्मणो में ब्रह्मचर्याश्रम का।

आवास—देश के भिन्न-भिन्न भागो में भिक्षुओ की बस्तियाँ (उपनिवेश) थी। इन्हें आवास कहते थे। प्रत्येक आवास मे अनेक भिक्षु-विहार होते थे और प्रत्येक विहार में भिक्षुओं के निवास के लिए अनेक कक्ष (कमरे) बने होते थे।

आवासो का जीवन सामूहिक था। प्रत्येक भिक्षु की सामग्री सघ की सामग्री समझी जाती थी। भिक्षु को व्यक्तिगत रूप से भी जो सामग्री भिक्षा आदि में मिलती थी वह भी सघ मे जाकर वितरित हो जाती थी।[4]

संघ के पदाधिकारी—सघ की विविध आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए वहाँ अनेक पदाधिकारी रहते थे यथा—

(१) भवन, कक्ष, प्राचीर, कूप, आदि के निर्माण-कार्य के लिए नव-कम्मिक
(२) खाद्यान्न सग्रह करने के लिए भण्डागारिक
(३) विविध सामग्री खरीदने के लिए कप्पियकारक
(४) वस्त्र-सग्रह करने के लिए चीवरपतिग्गाहपक
(५) आराम का प्रधान निरीक्षक आरामामिक पुसक

भिक्षुओं के नियम—बौद्ध भिक्षु केवल तिचीवर (तीन वस्त्र) धारण कर सकता था—अन्तर्वासक, उत्तरसग और सघाटि। ये गेरुआ रग मे रंग दिए जाते थे। भिक्षुओ को वस्त्र देने के लिए एक समारोह का आयोजन किया गया था। इसे 'कन्थिन' कहते थे। भिक्षुओं को आदेश था कि वे दिन भर भिक्षाचारण करें और रात्रि में अपने आवास में आ जायें। रात मे वे अध्ययन-अध्यापन, धार्मिक चर्चा और मनन आदि करते थे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वर्षा-काल में में भिक्षु अपने आवास में ही रहते थे। वर्ष के शेष ८-९ मास वे घूम-घूम कर धर्म-प्रचार करते थे।

समय-समय पर सारे भिक्षु एक स्थान पर एकत्र होते थे और 'पातिमोक्ख' का

१ दीर्घनिकाय ४
२ थेरीगाथा ६१
३ महावग्ग १. १२-१३
४ महापरिनिब्बाण सुत्त १.११

पाठ करते थे। पातिमोक्ख बौद्ध भिक्षुग्रो के निमित्त विधि-निषेधो का सग्रह था।[1] कालान्तर में 'उपोसथ' का विकास हुआ। कुछ विशेष पवित्र दिवसो पर सारे भिक्षुग्रों का एकत्र होकर धर्म-चर्चा करना ही 'उपोसथ' था। इस उपोसथ मे 'पातिमोक्ख' भी पढा जाने लगा। उपोसथ में सम्मिलित होने के पूर्व पूर्वकृत अपराधो की स्वत स्वीकृति के द्वारा प्रत्येक भिक्षु को 'परिशुद्धि' करनी पडती थी।

संघ को अपने भिक्षु सदस्यों के ऊपर पूरा अधिकार था। उसने उनके जीवन को नियन्त्रित करने के लिये तथा नियम विरुद्ध कार्य करने वाले भिक्षुग्रो को दण्डित करने के लिए एक विस्तृत विधान बनाया था। उसका विधान राज्य को भी मान्य था।[2] अस्तु सघ अपने अपराधी सदस्य को सामाजिक बहिष्कार तक का दण्ड दे सकता था। यह दण्ड 'ब्रह्मदण्ड' कहलाता था।[3] दूसरा गम्भीर दण्ड सघ-बहिष्कार का था।[4] एक सीमित अथवा निश्चित काल तक का सघ-बहिष्कार 'मानन्त' कहलाता था। सदैव के लिए किया गया सघ-बहिष्कार 'परिवास' कहलाता था परन्तु दण्ड देने के पूर्व सघ अपराधी को अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने का पूरा अवसर देता था। अपराधी भिक्षु की ओर से इस प्रकार के अवसर-दान की जो प्रार्थना होती थी उसे 'सतिविनय' कहते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ बौद्ध सघ का सगठन भी उत्तरोत्तर अधिक विकसित होता गया और एक समय ऐसा आया जब कि उसने भिक्षु-जीवन को आपूर्ण ढक लिया। बौद्ध सघ विश्व मे परिव्राजकों का सर्वप्रथम सगठन था और कदाचित् सबसे अधिक जनतन्त्रात्मक और विकासात्मक भी।

१ महापदान सुत्त ३. २८
२ कौटिल्य पृ० १७३; मनु ८. ३१९
३ महापरिनिब्बाण सुत्तन्त ६.४
४ चुल्ल वग्ग १.३

१८

ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्मों की तुलनात्मक समीक्षा

ब्राह्मण धर्म और दोनो नवीन धर्म—दोनो नवीन धर्मों पर पुरातन ब्राह्मण-धर्म की स्पष्ट छाप है। दोनो ही धर्मों ने थोडे-बहुत परिवर्तनो के साथ ब्राह्मण-धर्म के अनेक सिद्धान्तो एव कार्य-प्रणालियो को ग्रहण किया है। धर्म को ही लीजिए। ब्राह्मण व्यवस्थाकारो ने 'धर्म' की बडी व्यापक और उदात्त परिभाषा की थी। उनकी दृष्टि मे सम्पूर्ण लोक ही धर्म पर आधारित है।[1] बृहदारण्य धर्म और सत्य को पर्याय-वाची मानता है।[2] महाभारतकार का 'यतो धर्मस्तत सत्यम्' का उद्घोष भी यही बताता है। अत ब्राह्मण-व्यवस्था के अन्तर्गत भी धर्म की नैतिक व्याख्या की गई थी। जैन एव बौद्ध धर्मों ने आचार-तत्व को अपने धर्मों का आधार मानकर उसी नैतिक व्याख्या को अग्रसर किया। जब हम महाभारतकार का यह कथन सुनते हैं कि इन्द्रियो और मन का दमन ही मोक्ष है[3] तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे स्वय महात्मा बुद्ध अथवा महावीर स्वामी ही उपदेश दे रहे हो। 'सत्य वद धर्म चर स्वा-ध्यायान्मा प्रमद धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्।' इत्यादि तैत्तिरीय उपनिषद् के शब्द क्या जैन एव बौद्ध धर्मों के आचार-तत्व के समान ही नही हैं? उपनिषद्कार, महाभारतकार, महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध सभी भारतीय चेतना में आरूढ ब्राह्मण धर्म के विशुद्ध तत्व का ही प्रकाशन कर रहे हैं। जैन धर्म और बौद्ध धर्म के प्राय समस्त आचार-तत्व—अहिंसा, दमन, सत्य, क्षमा आदि—ब्राह्मण ग्रथो मे कही-न-कही अवश्य मिल जायेगे और इनमें से बहुत से ग्रथ दोनो नवीन धर्मों के प्रादुर्भाव के पूर्व के होगे। अन्तर केवल रह जाता है उनके व्यावहारिक पक्ष पर बल देने का। इसमें कोई सन्देह नही कि आचारवादी जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियो ने इन आचार-तत्वो को अपने जीवन मे व्यावहारिक रूप से अधिक प्रयुक्त किया, कम-से-कम कुछ काल के लिए अवश्य ही।

यह कहा जाता है कि बौद्ध धर्म वेद-निन्दक, यज्ञविरोधी और ब्राह्मणविरोधी है। परन्तु यदि तात्विक दृष्टि से हम इसकी समीक्षा करें तो यह असत्य निकलेगा। जिन शास्ता ने अपने शिष्यो को आत्म-प्रशसा और पर-निन्दा से बचने का उपदेश

१ ध्रियते लोकः अनेन इति धर्म. अर्थात् जिससे लोक धारण किया जाय अथवा धरति धारयति वा लोकं इति धर्मः अर्थात् जो लोक को धारण करे।

२ 'यो वै स धर्मः वै तत्—बृहदा० १.४.१४

३ दमस्योपनिषन्मोक्षः—शान्तिपर्व

दिया वे स्वयं किसी की निन्दा कर सकते थे, यह सम्भव नहीं है। बात यह थी कि वे विभज्जवादी थे—प्रत्येक मत में सत्य और असत्य का विभाजन करके ही उसके अशों को ग्रहण अथवा परित्याग करते थे। उन्होंने अपने शिष्यों को भी 'वीमसक' (मीमासक) होने की सलाह दी थी।[१] ऐसी सत्यान्वेषिणी दृष्टि किसी को भी एकमात्र श्रद्धा के आधार पर पूर्ण, चिरसत्य मानने के लिए तैयार न थी। इसी आधार पर उन्होंने वेद-प्रामाण्य को भी अस्वीकार कर दिया था। क्या एकमात्र वेदज्ञान से औपनिषद मनीषियों को सन्तुष्टि थी? यदि ऐसा होता तो वेदज्ञ नारद यह कभी न कहते कि "मैं केवल मन्त्रों को जानने वाला हूँ, आत्मा को जानने वाला नहीं हूँ।"[२] महात्मा बुद्ध ने नारद जैसे औपनिषद मनीषियों के मार्ग का ही अनुगमन किया था। परन्तु वेदों में जो कुछ भी सत्यसम्मत था वह अवश्य उनके लिए ग्राह्य था। उन्होंने स्वयं अपने को 'वेदगू' (वेदज्ञ)[३] कहा था। यही नहीं, ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने कहा कि 'मैं ही ब्राह्मण हूँ'[४] और इस प्रकार 'ब्रह्म जानाति इति ब्राह्मण.' की परिभाषा सार्थक की। वास्तव मे उन्हे ब्राह्मणो की जाति-व्यवस्था मान्य थी, परन्तु जन्म के आधार पर नही वरन कर्म के आधार पर। उनकी चातुवर्णी शुद्धि के पीछे यही तथ्य निहित था। उन्होंने उपनिषद्-काल की यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या को किस प्रकार नैतिक व्याख्या दी, यह पहले बताया जा चुका है। वे यज्ञ के विरोधी न थे। उन्होने स्वयं पुरातन ब्राह्मणो से विशुद्ध यज्ञो की प्रशंसा की थी। वे तो एकमात्र हिंसात्मक एव कर्मकाण्डीय यज्ञो के ही विरोधी थे। ब्राह्मण धर्म के प्रति बिल्कुल यही दृष्टिकोण महावीर स्वामी का भी था। 'पर निन्दा पापकारिणी होती है'[५]—ऐसी घोषणा करने वाले महावीर स्वामी वेद अथवा ब्राह्मणो की निन्दा नही कर सकते थे। 'कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय। कर्म से ही मनुष्य वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र'।[६] जैन धर्म के इस उद्घोष मे ब्राह्मणो की जाति-व्यवस्था के ही आमूल उच्छेद का प्रयास है। यहाँ उसे कर्म के आधार पर ही व्यवस्थित करने की चेष्टा है। जैन धर्म की दृष्टि मे 'जो लोलप नही है, जो पेट के लिए सग्रह नही करता, जो घरबार रहित है, जो अकिंचन है और जो गृहस्थों से परिचय नही करता, उसे ब्राह्मण कहते हैं।'[७] इस परिभाषा के अन्तर्गत निःस्पृह ब्राह्मण को जो मान्यता दी गई है वह स्पष्ट है। 'तप अग्नि है, जीव ज्योति-स्थान है। मन, वचन और काया का योग कुड है, शरीर कारिषाग है, कर्म इंधन है, सयम योग शान्तिपाठ है। ऐसे ही होम से मैं हवन करता हूँ। ऋषियो ने ऐसे ही होम को प्रशस्त कहा है'।[८] 'धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है, आत्मा की प्रसन्न लेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ स्नान कर आत्मा विशुद्ध होती है।'[९] जैन धर्म के ऐसे उद्गार औपनिषदिक मनीषियो के उद्गारों से मेल खाते हैं। इनमें यज्ञ, होम, पवित्र स्नान आदि का खण्डन नही वरन् विशुद्ध सवर्धन निहित है। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म मे प्रख्यात यज्ञादि को ग्रहण कर बौद्ध और जैन दोनो धर्मों ने उन्हें नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित किया। इनका सूत्र वैदिक ही है।

जैन और बौद्ध दोनो धर्मों मे तप की महिमा गायी गई है। परन्तु क्या तप ब्राह्मण धर्म में प्रतिष्ठित न था। ऋग्वेद का कथन है कि तप से ही ऋत और सत्य की

१ वीमंसक-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।७)
२ छान्दोग्य० ७-२
३ सुत्तनिपात ५.१-१६
४ वरंजक-ब्राह्मण सुत्त (अंगुत्तर निकाय)
५ सूत्रकृतांग १. १३. १०, १५
६ उत्तराध्ययन २५. ३३
७ वही, २५, ८८
८ उत्तराध्ययन १२.४४
९ वही, १२.४६

उत्पत्ति हुई।[1] उपनिषदो का कथन है कि तपस्या द्वारा ही ब्रह्म को ढूंढा जाता है।[2]

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य की महत्ता भी ब्राह्मण धर्म में प्रतिष्ठित थी। कठोपनिषद् का उल्लेख है कि ब्रह्म-प्राप्ति की कामना करने वाले ब्रह्मचर्य का अनुसरण करते है।[3] छान्दोग्य उपनिषद का कथन है कि ब्रह्मचर्य द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।[4] कालान्तर का ब्राह्मण-साहित्य तो तप और ब्रह्मचर्य की महिमा से भरा पड़ा है। नवीन धर्मों ने ब्राह्मण-धर्म द्वारा प्रतिपादित तप और बलचर्य को ही अपनी-अपनी व्याख्या में डाल कर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया था।

ब्राह्मण धर्म ने चतुराश्रमो की व्यवस्था की थी। जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था द्वारा ब्राह्मण-धर्म ने समाज में कार्य-विभाजन किया था उसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था द्वारा पद्धति-निरूपण। आश्रम-व्यवस्था के द्वारा ब्राह्मणों ने समाज के प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्य एव उन्हें सम्पादित करने का सर्वोत्तम काल निर्धारित कर दिया था। इस चतुराश्रम-व्यवस्था मे एक ओर लोक-सग्रह की भावना थी और दूसरी ओर व्यक्ति के निजी निष्कर्ष की। ब्राह्मण ने सामान्यतया सन्यास का अधिकार उसी को दिया था जो प्रथम तीनों आश्रमो-ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ-के कर्तव्यों का सम्यक् रूप से वहन कर सके। समाज-सचालन के लिए यह आवश्यक था। पुन, व्यक्ति भी तीनो आश्रमो के जीवन का व्यतीत करने के पश्चात् परिपक्व बुद्धि हो जाता था और तब वह अन्तिम आश्रम मे जाकर अधिक प्रौढता के साथ अध्यात्म-चिन्तन कर सकता था। परन्तु जैन और बौद्ध धर्मो ने इस चतुराश्रम-व्यवस्था का अस्वीकार कर दिया और प्रत्येक व्यक्ति को, बिना आयु और काल के विचार के, संसार-त्याग का अधिकार दे दिया। इसका कैसा दुष्परिणाम हुआ, इसका उल्लेख हम पीछे कर चुके है। बाद का उन्हें ससार-त्याग के अधिकार का नियन्त्रित करना पडा। उनका यह नियन्त्रण परोक्ष रूप से ब्राह्मण व्यवस्थाकारों की परिपक्व व्यवस्था की ही मान्यता स्थापित करता है।

ब्राह्मण व्यवस्थाकारो ने चतुराश्रमो मे गृहस्थाश्रम का ही सर्वोच्च माना था। परन्तु नवीन धर्मों ने उसे समस्त दु खों का मूल माना और उसका शीघ्रातिशीघ्र परित्याग कर देने का आदेश दिया। परन्तु फिर दोनों ही धर्मों ने गृहस्थो को भी अपने-अपने धर्म मे दीक्षित क्यो किया ? इसीलिए कि एक मात्र ससार-त्यागी व्यक्तियों से उनके धर्म नही चल सकते थे। पुन., बौद्ध एव जैन भिक्षुओ के भरण-पोषण एवं उनके सघो के जीवन-निर्वाह का सम्पूर्ण भार भी गृहस्थो के ऊपर ही था। अत जिस आश्रम को दोनो धर्मों ने धराशात् करने का प्रयास किया वही उनका त्राता बना। क्या यह ब्राह्मणो के सर्वोच्च आश्रम-गृहस्थाश्रम की मान्यता को स्वीकार करना न था।

बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण धर्म द्वारा प्रतिपादित वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमो की जीवन-पद्धति के काया-क्लेश की निन्दा की है। परन्तु स्वय उसने क्या किया ? बौद्ध भिक्षुओं के लिए जिन यम-नियमों अथवा विधि-निषेधों का प्रतिपादन बौद्ध धर्म ने किया है वे वानप्रस्थ अथवा सन्यास आश्रमों के नियमों से कम कठोर नहीं है।[5]

१ ऋ० १०. १९०.१
२ तपसा चीयते ब्रह्म—मुण्डक १.१.८
३ कठ० १.२.१५
४ छान्दोग्य ८.४.३
५ Though the Buddha condemned morbid ascetic practices, it is a surprise to find the discipline demanded of the Buddhistic brethren is more severe in some points than, any referred

यदि ब्राह्मण-धर्मानुयायी ब्रह्मचारियों और सन्यासियों तथा बौद्ध और जैन भिक्षुओं की जीवन-पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो बहुत-कुछ पारस्परिक समता दिखाई देगी। उनके वस्त्र, उपकरण, भिक्षा-सम्बन्धी नियम, पर्यटन, दिन-चर्या, धर्म-प्रचार आदि बहुत-कुछ एकसमान दृष्टिगत होंगे।

दोनों जैन और बौद्ध धर्म कर्मप्रधान हैं। इनकी दृष्टि में मनुष्य अपने समस्त कर्मों के लिए उत्तरदायी है। कर्म के अनुरूप ही उसे फल मिलेगा। कर्म के कारण ही उसका पुनर्जन्म होता है और कर्म के कारण ही मोक्ष। परन्तु ये सम्पूर्ण सिद्धान्त ब्राह्मण-धर्म में पहले से ही व्याख्यात हो चुके थे। वृहदारण्यक उपनिषद् का कथन है कि 'पुण्य-कर्म से पुण्य और पाप-कर्म से पाप की उत्पत्ति होती है।'[1] छान्दोग्य उपनिषद् में उल्लिखित है कि 'पुरुष कर्मप्रधान है। जैसा वह इस लोक में करता है उसी के अनुरूप वह मृत्यु के पश्चात् होता है।'[2] क्या इस उद्धरण में कर्मवाद पुनर्जन्म से सम्बन्धित नहीं है? इस प्रकार के बहुसंख्यक उद्धरण ब्राह्मण-साहित्य में मिल जायेंगे।

अब मोक्ष को लीजिए। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार विमुक्त आवागमन के चक्कर से छूट जाता है।[3] कठोपनिषद् के अनुसार 'ब्रह्मप्राप्त मनुष्य अनासक्त और अमर हो जाता है।'[4] ये भावनायें बौद्ध एवं जैन धर्मों की मोक्ष-सम्बन्धी भावनाओं से मेल खाती है।

जहाँ तक आत्मा, परमात्मा, सृष्टि आदि विषयों का सम्बन्ध है ब्राह्मण ग्रन्थों में इनके विषय में बहुत-कुछ कहा जा चुका था। अतः नवीन धर्मों को एक पुरातन दार्शनिक परम्परा मिली। उसका उन्होंने अपनी अभिरुचि के अनुसार खण्डन, मण्डन, परिवर्तन और परिवर्धन किया।

सारांशत हम यह कह सकते है कि नवीन धर्म पुरातन ब्राह्मण धर्म के बहुत ऋणी है। उनके अधिकांश सिद्धान्त ब्राह्मण धर्म पर ही आधारित हैं। वस्तुतः जैन और बौद्ध धर्मों ने ब्राह्मण धर्म के सूत्रों को लेकर ही अपना ताना-बाना बुना है। यही कारण है कि अनेक विद्वान् इन धर्मों को 'Protestant Brahmanism' के नाम से पुकारते हैं।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म—दोनों नवीन धर्मों में महती समता दृष्टिगत होती है—

(१) दोनों ही वेद-प्रामाण्य को नहीं मानते।

(२) दोनों ही ब्राह्मण धर्म के यज्ञवाद, बहुदेववाद और जातिवाद का विरोध करते है।

(३) दोनों ही ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार नहीं करते।

(४) दोनों ही निवृत्तिमार्गी हैं और संसार-त्याग पर जोर देते हैं।

(५) इतना होते हुए भी दोनों ही गृहस्थों को भी अपने धर्म में दीक्षित करते हैं।

to in the Brahmanical texts.—Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol. I, p. 436.

१ वृहदारण्यक ४.४.५.

२ 'अथ खलु ऋतुमयः पुरुषः। यथा ऋतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति'—वृहदारण्यक ३.१४.१

३ 'न स पुनरावर्तते'—छान्दोग्य ८.१५.१

४ 'ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः'—कठ० २.३.१८

(६) दोनो के अपने सघ है।

(७) दोनो ही के सघ चतुर्विध हैं—अर्थात् उनमें भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका के ४ वर्ग है।

(८) दोनो ही कर्मवाद और पुनर्जन्मवाद पर विश्वास करते हैं।

(९) दोनो का ही चरम लक्ष्य निर्वाण है।

(१०) दोनो के अपने-अपने त्रिरत्न हैं। जैन धर्म में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र की प्रतिष्ठा है और बौद्ध धर्म में बुद्ध, धम्म और सघ की।

(११) दोनो ही अपने सस्थापको और प्रचारको की उपासना करते हैं—जैन तीर्थकरो की और बौद्ध बुद्धों की।

(१२) दोनो ही धर्मों मे आचार-तत्व की प्रतिष्ठा है।

(१३) दोनो ही अहिंसामूलक है।

(१४) दोनो ही प्रारम्भ मे बुद्धिवादी मत थे। उनमें भक्ति के लिए स्थान न था। परन्तु कालान्तर मे दोनो मे ही भक्तिवाद का उदय हुआ।

(१५) दोनो ही प्रारम्भ मे शरीर-पूजा-विरोधी और मूर्तिपूजा-विरोधी थे। परन्तु कालान्तर मे दोनो मे ही इस प्रकार की पूजा आ गई।

(१६) दोनो दुखवाद लेकर चले और अन्त में निर्वाण पर पहुँच कर सुखवादी बन गए। इस प्रकार अन्ततोगत्वा दोनो ही आशावादी हैं।

(१७) दोनो धर्म मानवतावादी है और मानव को देव से भी ऊँचा समझते है।

(१८) दोनो ही जनवादी हैं। इसी से दोनों ने संस्कृत भाषा का विरोध किया, क्योकि यह जनता की भाषा न थी। जैन धर्म ने प्राकृत और बौद्ध धर्म ने पाली को अपनाया। परन्तु बाद को दोनो धर्मों मे सस्कृत भाषा ने स्थान पा लिया।

(१९) यही नही दोनो धर्मों के सस्थापकों की जीवनी में भी बहुत-कुछ समता है। दोनों क्षत्रिय है। दोनों ही राजकुमार है। दोनो ही पूर्वी भारत में उत्पन्न हुए। दोनो ने ही कुछ काल तक विवाहित जीवन व्यतीत किया। कालान्तर मे दोनो ने ही गृहत्याग किया। दोनो ही बहुत दिनो तक ज्ञान की खोज में इतस्तत भटकते रहे। अन्त मे दोनो को ही ज्ञान की प्राप्ति हुई। दोनो ने ही अपने ज्ञान से जनता का कल्याण करने का निश्चय किया। अत दोनों ने सघ-स्थापना की।

इन उपर्युक्त समानताओ को देख कर बहुत से प्रारम्भिक विद्वानो ने महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध को एक ही व्यक्ति माना था। परन्तु ग्युरिनो ने दोनों सस्थापको की जीवनी की निम्नलिखित विभिन्नताओ को दिखा कर उन विद्वानों का भ्रम दूर किया—

(१) वर्धमान का जन्म ५९९ ई० पू० वैशाली में हुआ था और गौतम का ५६७ ई० पू० कपिलवस्तु मे।

(२) वर्धमान के माता-पिता दीर्घकाल तक जीवित रहे परन्तु गौतम की माता की मृत्यु उनके जन्म के पश्चात् ७वे दिन ही हो गई थी।

(३) वर्धमान ने अपने भाई की आज्ञा लेकर वैराग्य लिया था, गौतम ने अपने पारिवारिक जनो की इच्छा के विरुद्ध।

(४) वर्धमान ने १२ वर्ष को तपस्या के पश्चात् ज्ञान प्राप्त किया, गौतम ने ७

वर्ष की तपस्या के पश्चात्।

(५) वर्धमान की मृत्यु ५२७ ई० पू० पावा में हुई, गौतम की ४८८ ई० पू० कुशीनारा में।

परन्तु दोनों धर्मों की समानता देख कर बहुत से विद्वान् बहुत दिनों तक यही समझते रहे कि इनमें से एक दूसरे की शाखा अथवा अनुकृति है। इसी आशय से बार्थ महोदय ने कहा था कि 'यदि हम सिद्धान्त, संगठन धार्मिक क्रियाओं और पराम्पराओं की इन समस्त समताओं को साथ-साथ रखें तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि दोनों में से एक धर्म सम्प्रदाय है और किसी सीमा तक दूसरे की अनुकृति है।'

सर्वप्रथम योरोपीय विद्वान् जैकोबी ने प्रबलतापूर्वक इस मत का खण्डन किया और दोनों धर्मों की विभिन्नताओं के आधार पर उन्हें स्वतन्त्र और भिन्न धर्म कहा। आज कोई भी विद्वान् दोनों धर्मों को एक मानने के लिए तैयार नहीं है।

इन दोनों धर्मों में निम्नलिखित विभिन्नतायें मिलती हैं—

(१) जैन धर्म बौद्ध धर्म से कहीं अधिक प्राचीन है।

(२) जैन धर्म आत्मवादी है, परन्तु बौद्ध धर्म अनात्मवादी।

(३) जैन धर्म काया-क्लेश पर विश्वास करता है, परन्तु बौद्ध धर्म मध्यमा प्रतिपदा करता है। उसकी दृष्टि में अति भोग भी अवांछनीय है और अति काया-क्लेश भी।

(४) दोनों के निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। जैन धर्म त्रिरत्न का अनुसरण करने के लिए कहता है, बौद्ध धर्म अष्टांगिक मार्ग का।

(५) जैन धर्म ने बौद्ध धर्म की अपेक्षा अहिंसा के सिद्धान्त पर कहीं अधिक जोर दिया है।

(६) जैन धर्म के अनुसार मोक्ष मृत्यु के पश्चात् ही सम्भव है, परन्तु बौद्ध धर्म के अनुसार वह इस जीवन में ही मिल सकता है।

(७) जैन धर्म ने सृष्टि-निर्माण-सम्बन्धी विषय पर अपने विचार व्यक्त किए, परन्तु बौद्ध धर्म ने (महात्मा बुद्ध के समय में) उसे अव्याकृत कहकर छोड़ दिया।

(८) बौद्ध धर्म ने जाति-भेद को मान्यता नहीं दी। जैन धर्म ने भी उसका विरोध किया, परन्तु व्यवहार में वह उसे न ला सका। जैन-धर्मावलम्बियों के समक्ष जाति का भेद-भाव सदैव रहा।

(९) जैन अपने तीर्थंकरों की उपासना करते हैं और बौद्ध अपने बुद्धों की।

(१०) दोनों के धर्म ग्रन्थ भिन्न भिन्न हैं। बौद्धों के प्रधान ग्रन्थ त्रिपिटक और जैनों के आगम कहलाते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है, दोनों धर्मों के ग्रन्थ भिन्न भिन्न भाषा में लेखबद्ध हुए।

१६

मगध राज्य का उत्कर्ष

हर्यंक-कुल—महात्मा बुद्ध के समय में बिम्बिसार मगध में शासन कर रहा था। यह कौन और किस वश का शासक था, इस प्रश्न पर विद्वानों में बडा मतभेद है। इस विषय में दो साक्ष्य विशेषतया उल्लेखनीय हैं—

(१) पुराण बिम्बिसार को शिशुनाग-वश का शासक बताते हैं। उनके अनुसार शिशुनाग नामक राजा पहले हुआ जिसने एक नवीन वश की स्थापना की। बिम्बिसार उसी के वश का था और वह बाद को सिंहासनासीन हुआ।

(२) बौद्ध साहित्य बिम्बिसार को पहले बताता है और कहता है कि बिम्बिसार का शिशुनाग से कोई सम्बन्ध नही था। बिम्बिसार हर्यंक-कुल का था और उस कुल के पतन के पश्चात् ही शिशुनाग नामक एक व्यक्ति ने अपने नवीन कुल (शिशुनाग-कुल) की स्थापना की।

अधिकाश विद्वानो ने दूसरे मत को ही अधिक उपयुक्त माना है। अपने मत की पुष्टि में उन्होने निम्नलिखित प्रमाण दिए हैं—

(१) पुराणो के अनुसार अवन्ती के प्रद्योत वश का नाश शिशुनाग ने किया था।[1] अवन्ती का राजा प्रद्योत था। वह बिम्बिसार का समकालीन था। पुराणो के अनुसार उसके बाद भी अवन्ती में पालक आर्यक, अवन्तिवर्धन और विशाखयूप नामक राजा हुए। अत स्पष्ट है कि बिम्बिसार के पश्चात् भी अवन्ती का प्रद्योत-वश चलता रहा। अब यदि हम शिशुनाग को बिम्बिसार के पूर्व मान लें तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि उसने अवन्ती के प्रद्योत वश का नाश किया था ?

(२) वैशाली की सर्वप्रथम विजय बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने की थी। महालकारवत्थु नामक एक पाली ग्रन्थ के अनुसार शिशुनाग ने राजगृह को छोड कर वैशाली को अपनी राजधानी बनाया था। अत निश्चित है कि शिशुनाग को अजातशत्रु के बाद होना चाहिए। इस प्रकार वह बिम्बिसार के पहले नही हो सकता।

(३) उपर्युक्त ग्रन्थ महालकारवत्थु का यह भी कथन है कि जब से शिशुनाग ने राजगृह का परित्याग किया तब से उत्तरोत्तर उसकी अवनति होती गई और वह फिर कभी भी पनप न सका। परन्तु हम जानते हैं कि बिम्बिसार और अजातशत्रु

१ अष्टात्रिंशच्छतं भाव्याः प्रद्योताः पंच ते सुताः।
हत्वा तेषां यशः कृत्स्नं शिशुनागो भविष्यति॥

के समय राज्यगृह अपनी उन्नति और समृद्धि की पराकाष्ठा पर था। अतः शिशुनाग इन दोनों राजाओं के पूर्व कैसे हो सकता था?

(४) शिशुनाग के पुत्र कालाशोक (काकवर्ण) ने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया था। परन्तु यदि वह बिम्बिसार के पूर्व का राजा था तो उस समय तक पाटलिपुत्र का अस्तित्व ही नहीं था। पाटलिपुत्र की स्थापना तो बिम्बिसार के पश्चात् उसके वंशज उदायिन ने की थी।

अतः यही निष्कर्ष उचित प्रतीत होता है कि बिम्बिसार शिशुनाग से पूर्व हुआ था और वह शिशुनाग-वंश का न था वरन् हर्यंक-वंश का था, जैसा कि बौद्ध-साहित्य में लिखा हुआ है।

बिम्बिसार—डा० भण्डारकर का मत है कि बिम्बिसार प्रारम्भ में एक सेनापति था। परन्तु उसने वज्जियों को पराजित करके अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और एक नवीन राज-वंश की स्थापना की।[1] परन्तु यह मत न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि महावंश के अनुसार बिम्बिसार के पिता ने उसे अपना राज्य दिया था। उस समय बिम्बिसार की आयु १५ वर्ष की थी। बिम्बिसार के पिता के नाम के विषय में भी बड़ा मतभेद है। पुराण उसका नाम हेमजित् क्षेत्रोजा अथवा क्षत्रौजा बताते है। तिब्बती साक्ष्यों के अनुसार उसका नाम महापद्म था। टर्नर आदि कुछ विद्वानों के अनुसार उसका नाम भातिय अथवा भट्टिय था।

वैवाहिक सम्बन्ध—बिम्बिसार एक कुशल राजनीतिज्ञ था। वह तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति को भलीभाँति समझता था। साम्राज्य-विस्तार के उस युग में मगध के लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी शक्ति को भलीभाँति संगठित करे। निर्बल मगध किसी भी समय कोशल, वत्स अथवा अवन्ती की विस्तारकारिणी उग्र नीति का शिकार हो सकता था। अतः बिम्बिसार ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए कई महत्वपूर्ण विवाह-सम्बन्ध किये—

(१) उसने कोशल के राजा महाकोशल की पुत्री कोशलदेवी से विवाह कर लिया। कोशलदेवी प्रसेनजित की बहन थी। इस विवाह से न केवल कोशल-राज्य मगध का मित्र बन गया वरन् इसके साथ ही साथ मगध को एक लाख की वार्षिक आय का काशी-ग्राम भी प्राप्त हुआ जो कोशलदेवी को विवाह के समय उसके पिता ने दिया था।

(२) उसने वैशाली के लिच्छवि 'राजा' चेटक की पुत्री चेल्लना (छलना) के साथ भी विवाह किया और इस प्रकार उसने परम विख्यात लिच्छवियों की मित्रता प्राप्त की।

(३) उसका तीसरा विवाह मद्र देश की राजकुमारी खेमा के साथ हुआ था।

(४) महावंश के अनुसार बिम्बिसार के ५०० रानियाँ थी। सम्भव है कि उसने तत्कालीन कुछ अन्य राजवंशों के साथ भी विवाह-सम्बन्ध स्थापित किए हों।

इन विवाहों के परिणामस्वरूप बिम्बिसार की स्थिति काफी दृढ़ हो गई थी।

साम्राज्य-विस्तार—सर्वप्रथम बिम्बिसार ने अंग-राज्य के ऊपर आक्रमण किया उसका राजा ब्रह्मदत्त मारा गया और अंग का राज्य मगध राज्य में मिला लिया गया। साम्राज्य-स्थापना की ओर यह दूसरा कदम था। पहला कदम विवाह-सम्बन्ध के

१ Carm. Lec. 1918

द्वारा काशी-प्राप्त का था। इन दो प्रदेशों की प्राप्ति से मगध की शक्ति और समृद्धि दोनों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। महावग्ग के कथनानुसार बिम्बिसार की अधीनता में ८०,००९ ग्राम थे। सम्भव है कि उसने कुछ अन्य प्रदेश भी जीते हों। बुद्धचर्या से प्रकट होता है कि बिम्बिसार के राज्य का विस्तार ३०० योजन था। बिम्बिसार के राजनीतिक प्रभाव का पता इस बात से भी चलता है कि उसकी राजसभा में गान्धार-नरेश पुष्करसारी ने अपना एक दूत भेजा था।

मगध की प्राचीन राजधानी कुशाग्रपुर थी। इसे गिरिव्रज भी कहते थे। यह नगर उत्तर में स्थित वज्जि-संघ के आक्रमणों के कारण सुरक्षित न था। वज्जियों के कारण ही एक बार इस नगर में आग लग गई और यह बहुत-कुछ नष्ट हो गया। अत वज्जियों का सामना करने के लिए बिम्बिसार ने पुरानी राजधानी के कुछ उत्तर मे राजगृह नामक एक दूसरी राजधानी की स्थापना की। ह्वेनसांग इसका उल्लेख करता है, यद्यपि फाह्यान के कथनानुसार नये राजगृह की स्थापना बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने की थी। इस घटना के बाद वज्जियों की शत्रुता का मूलतः निराकरण करने के लिए बिम्बिसार ने उनकी राजकुमारी चेल्लना से विवाह भी कर लिया। इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

शासन—साम्राज्य-स्थापना के साथ ही साथ बिम्बिसार ने सुदृढ़-संचालन की ओर भी विशेष ध्यान दिया था। उसे सहायता देने के लिए राज्य में छोटे-बड़े अनेक पदाधिकारी थे। इनमें उप-राजा, माण्डलिक राजा, सेनापति, सेनानायक, महामात्र, व्यावहारिक महामात्र और ग्रामभोजक प्रमुख थे।

(१) उप-राजा—सम्भवत. बिम्बिसार अपने बड़े पुत्र दर्शक की सहायता से राज्य करता था। इसे हम उप-राजा के रूप मे समझ सकते हैं।

(२) माण्डलिक राजा—ये सम्भवत राजवंशीय और सामन्तवंशीय थे। इन्हें अनेक भू-प्रदेश दे दिये गए थे जहाँ ये राजाज्ञा से शासन करते थे।

(३) सेनापति—उस संघर्ष-काल में सुसगठित सेना का कितना महत्व रहा होगा, यह सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। अतः सेनापति का पद किसी विश्वस्त और अनुभवी व्यक्ति को ही मिलता होगा।

(४) सेनापति महामात्र—ये सेनापति के नीचे सेना के अन्य पदाधिकारी थे।

(५) व्यावहारिक महामात्र—ये आधुनिक भाषा में न्यायाधीश थे।

(६) ग्राम-भोजक—ये गाँव के मुखिया होते थे जो गाँव मे राज-कर वसूल करने में योग देते थे।

सम्पूर्ण राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी राजा ही था तथापि प्रान्तों और ग्रामों को अपने स्थानीय शासन में काफी अधिकार प्राप्त थे। महावग्ग से प्रकट होता है कि बिम्बिसार की राजसभा में समस्त ग्रामों के प्रतिनिधियों (ग्रामिकों) का स्थान प्राप्त था।

न्याय-व्यवस्था—राज्य की न्याय-व्यवस्था कठोर थी। कारावास के अतिरिक्त कोड़े लगाने, लोहे से दागने, जिह्वा काटने, पसुलियाँ तोड़ने, अंगच्छेद और मृत्यु-दण्ड देने की भी व्यवस्था थी। गलत सलाह देने के अपराध में बड़े से बड़ा पदाधिकारी भी पद-च्युत कर दिया जा सकता था। राज्य की उचित सेवा करने पर पदाधिकारियों को पुरस्कार भी मिलते थे।

विद्या-कला—राज्य में विद्या-कला को प्रोत्साहन मिलता था। जीवक राज्य

का प्रमुख वैद्य था। उसने तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त की थी और आयुर्वेद की कौमार-भृत्य शाखा का विशेषज्ञ था। राजगृह में भवनों का निर्माण प्रसिद्ध वास्तुकार महागोविन्द ने किया था।

बिम्बिसार की शासन-अवधि—महावंश के अनुसार बिम्बिसार ने ५२ वर्ष तक राज्य किया था। परन्तु पुराणों में उसकी शासन-अवधि केवल २८ वर्ष बताई गई है। इस विरोध का समाधान एक प्रकार से हो सकता है। बौद्ध साहित्य बिम्बिसार का उत्तराधिकारी अजातशत्रु को बताता है। वह दर्शक का नाम नहीं लेता। परन्तु कई पुराणों में दर्शक को बिम्बिसार का उत्तराधिकारी बताया गया है और उसका शासन-काल २४ वर्ष का। भास के स्वप्नवासवदत्ता में भी दर्शक का नाम आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बिम्बिसार के अन्तिम २४ वर्षों में राज्य का सक्रिय भार दर्शक के ऊपर ही रहा। वह बिम्बिसार के जीवन-काल में ही उपराजा के रूप में २४ वर्ष तक राज-कार्य सँभालता रहा। अतः पुराणों ने बिम्बिसार का शासन-काल केवल २८ वर्ष माना है और उसके २४ वर्ष दर्शक के नाम लिख दिए हैं। दोनों का योग ५२ वर्ष होता है। बौद्ध साहित्य ने पूरे ५२ वर्ष एकमात्र बिम्बिसार के नाम से दिखाये हैं, क्योंकि अपेक्षाकृत निष्क्रिय होते हुए भी बिम्बिसार ही वास्तविक राजा था।

ऐसा प्रतीत होता है कि सिंहासन के लिए दर्शक और उसके भाई अजातशत्रु में वैमनस्य था। अन्त में अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार की हत्या कर बलात् सिंहासन पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् सम्भवतः उसने बिम्बिसार के कृपापात्र दर्शक को भी पद-च्युत कर दिया।

अजातशत्रु—बिम्बिसार के अनेक पुत्र थे। हम दर्शक और अजातशत्रु का उल्लेख कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त महावग्ग अभय का और थेर-गाथा शीलवन्त तथा विमल कोण्डज्ज का उल्लेख करते हैं। दर्शक तथा अन्तिम तीन भाइयों ने सम्भवतः अजातशत्रु के भय से भिक्षु-धर्म ग्रहण कर लिया था।

अजातशत्रु की माता का क्या नाम था, इस प्रश्न पर मतभेद है। संयुक्त निकाय से प्रकट होता है कि वह प्रसेनजित् की बहन कोशलदेवी का पुत्र था। परन्तु जैन साहित्य उसे वैशाली के राजा चेटक की पुत्री चेल्लना का पुत्र बताता है।

बौद्ध साहित्य का कथन है कि अपने चचेरे भाई देवदत्त के भड़काने पर अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार को बन्दी बना लिया था और कारागार में ही अन्न-जल के बिना बिम्बिसार की मृत्यु हो गई थी। परन्तु इस कुकृत्य के करने के पश्चात् अजातशत्रु की आँखें खुली और उसे बड़ा भारी पश्चाताप हुआ।

साम्राज्य-विस्तार

कोशल से युद्ध—अजातशत्रु दुर्धर्ष साम्राज्यवादी था। उसने अपने सफल युद्धों के परिणामस्वरूप मगध-राज्य की शक्ति को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। उसका सर्वप्रथम युद्ध कोशल के साथ हुआ। यह युद्ध बिम्बिसार और कोशलदेवी की मृत्यु के पश्चात् काशी के प्रश्न पर हुआ था। हम पीछे इसका वर्णन कर चुके हैं। अन्ततोगत्वा कोशल-नरेश प्रसेनजित् ने अजातशत्रु के साथ सन्धि कर ली, अपनी पुत्री वजिरा का विवाह उसके साथ कर दिया और काशी-ग्राम दहेज के रूप में फिर उसे दे दिया।

वैशाली से युद्ध—अजातशत्रु का दूसरा युद्ध वैशाली के लिच्छवियों से हुआ। वैशाली वज्जिसंघ का एक शक्तिशाली गण-राज्य था। भूतकाल में इस संघ से मगध

सशंकित रहता था। इस संघ से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ही बिम्बिसार ने इसके साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित किया था।

परन्तु अजातशत्रु के समय एक नया झगड़ा खड़ा हो गया। जैन साहित्य का कथन है कि बिम्बिसार के वैशाली की लिच्छवि राजकुमारी से दो पुत्र उत्पन्न हुए—हल्ल और वेहल्ल। बिम्बिसार ने इन्हें अपना प्रसिद्ध हाथी सेचनक और अपनी एक बहुमूल्य मुक्तामाला उपहार-रूप में दिए थे। परन्तु राजा होते ही अजातशत्रु ने इन उपहारों को वापस माँगा। हल्ल और वेहल्ल ने इन्हें वापस देने से इनकार कर दिया और अपने भाई से अपनी रक्षा करने के लिए अपने नाना चेटक के पास चले गए। अत: कुपित होकर अजातशत्रु ने चेटक के राज्य वैशाली पर धावा बोल दिया।

बौद्ध साहित्य में युद्ध का दूसरा कारण बताया गया है। उसके अनुसार मगध और वज्जि-राज्य के बीच गंगा नदी बहती थी। इस नदी पर एक बन्दरगाह था और उसी के समीप एक खान थी। पुराने समझौते के अनुसार बन्दरगाह और खान के आधे-आधे भाग पर दोनों राज्यों का अधिकार था। परन्तु बहुत दिनों से वज्जि-संघ मगध को इनका उपयोग न करने दे रहा था। अत: अजातशत्रु ने इस झगड़े का निपटारा शस्त्र-बल से किया।

परन्तु वज्जि-संघ को पराजित करना कठिन कार्य था। अत: मगध के महामन्त्री वस्सकार ने कूटनीति से काम लिया। उसने अपने गुप्तचरों को भेज कर वज्जि-संघ में फूट उत्पन्न कर दी। परिणाम यह हुआ कि जब अजातशत्रु ने आक्रमण किया तो लिच्छवियों ने सम्मिलित और संगठित रूप से उसका सामना न किया और वे पराजित हुए।

जैन ग्रन्थ निरयावलिसुत्त का कथन है लिच्छवि-राज चेटक ने अपनी सहायता के लिए काशी और कोशल के राजाओं को भी आमन्त्रित किया था। डा० रायचौधरी का अनुमान है कि पूर्वोल्लिखित कोशल-युद्ध और यह वैशाली-युद्ध पृथक्-पृथक् घटनायें न थीं। वास्तव में वे एक ही महायुद्ध के परिणाम थे। अजातशत्रु के समस्त शत्रुओं ने मिल कर उसकी शक्ति को चूर्ण करने की योजना बनाई थी। परन्तु उस अजातशत्रु की प्रबल वीरता और वस्सकार की प्रबल कूटनीति के समक्ष शत्रु-समुदाय सफल न हो सका।

इस विजय के परिणामस्वरूप अजातशत्रु ने वैशाली पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। काशी-प्राप्ति और अंग-विजय के पश्चात् वैशाली-विजय के रूप में मगध ने साम्राज्य-स्थापना की ओर तीसरा कदम उठाया। अब एकमात्र अवन्ती का राज्य ही ऐसा था जो मगध का सामना कर सकता था। वस्तुतः अजातशत्रु को शक्तिशाली अवन्तीराज से भय भी था। मज्झिम निकाय का कथन है कि अवन्तिराज प्रद्योत के आक्रमण की आशंका से अजातशत्रु ने अपनी राजधानी राजगृह का दुर्गीकरण करवाया था।

परन्तु एकच्छत्र राजा की उपाधि के लिए इन दो प्रतियोगियों का निर्णायक युद्ध न हो सका। इस निर्णय के पूर्व ही आजतशत्रु की मृत्यु हो गई। अत: उसके उत्तराधिकारी को अवन्ती राज्य से लोटा लेना पड़ा।

अजातशत्रु के राज्य में मगध, अंग, वाराणसी और वैशाली के प्रदेश सम्मिलित थे।

पुराणो के अनुसार अजातशत्रु ने २५ वर्ष तक राज्य किया। परन्तु बौद्ध साक्ष्य उसका शासन-काल ३२ वर्ष का बताते है।

अजातशत्रु के शासन-काल में ही दो युग-प्रवर्तको—महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुआ था।

अजातशत्रु का धर्म—ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे अजातशत्रु का झुकाव जैन धर्म की ओर था। इसके कुछ साक्ष्य उपलब्ध होते है—

(१) जैन साहित्य मे पितृहन्ता के रूप में अजातशत्रु की निन्दा नही की है।

(२) जैन ग्रन्थों का उल्लेख है कि अजातशत्रु अपनी पत्नी के साथ महावीर स्वामी के दर्शन के लिए वैशाली गया था और वहाँ उसने जैन शिक्षाओ तथा जैन भिक्षुओं की मुक्त-कण्ठ से प्रशसा की थी।

हमें यह भी विदित है कि प्रारम्भ मे अपने चचेरे भाई देवदत्त के कुप्रभाव में अजातशत्रु महात्मा बुद्ध से ईर्ष्या-द्वेष रखता था। परन्तु अपने पिता की हत्या करने के पश्चात् उसे भारी पश्चाताप हुआ और उसने महात्मा बुद्ध से अपने अपराधो की क्षमा भी माँगी थी।

कुछ साक्ष्यो से यह ही अनुमान लगाया जाता है कि अपने जीवन के उत्तरार्ध मे अजातशत्रु का झुकाव सम्भवत बौद्ध धर्म की ओर हो गया था।

(१) महापरिनिर्वाण सूत्र के अनुसार महात्मा बुद्ध के दाह-सस्कार के पश्चात् अजातशत्रु ने उनके कुछ अवशेषो को लेकर राजगृह में उन पर एक स्तूप का निर्माण करवाया।

(२) महात्मा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् बौद्धो की प्रथम बौद्ध सगीति के अधि-वेशन के लिए अजातशत्रु ने वैभार की पहाडी की एक गुहा में एक सभा-भवन बनवा दिया।

(३) ई० पू० द्वितीय शताब्दी के एक भरहुत लेख से प्रकट होता है कि महात्मा बुद्ध और अजातशत्रु की भेट हुई थी। इस सम्बन्ध में उस लेख मे 'अजाशत्रु भगवतो बन्दते' लिखा हुआ है।

परन्तु इन समस्त उल्लेखो के बाद भी यह नही कहा जा सकता कि अजातशत्रु ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था।

उदायिन—पुराणो के अनुसार अजातशत्रु के पश्चात् दर्शक मगध का राजा हुआ। परन्तु बौद्ध और जैन साक्ष्य उदायी को अजातशत्रु का पुत्र और उत्तराधिकारी बताते हैं। अधिकाश विद्वान् इसी मत को स्वीकार करते हैं। फिर आखिर यह दर्शक कौन था? महावश और दीपवश में बिम्बिसार-वश के अन्तिम राजा नाग-दासक का उल्लेख है। कुछ विद्वान् दर्शक का समीकरण इसी नाग-दासक के साथ करते है। इसके विरुद्ध डा० राय चौधरी दर्शक को एक माण्डलिक राजा मानते है जो बिम्बि-सार के समय राज्य कर रहा था। परन्तु हमने दर्शक को बिम्बिसार का पुत्र और सहयोगी माना है। इसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।

महावश के अनुसार उदयीभद्द (उदायी) ने अपने पिता अजातशत्रु की हत्या करके सिहासन प्राप्त किया था। डा० जायसवाल इस कथन पर विश्वास नही करते। उनका तर्क है कि गार्गी सहिता में उदायी के लिए 'धर्मात्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः वह पितृघाती नही हो सकता था।

परिशिष्टपर्वन, गार्गी संहिता और वायु पुराण के अनुसार उदायी ने नई राज-

धानी पाटलिपुत्र की स्थापना की। साम्राज्य-विस्तार के साथ व्यापारिक, सैनिक और प्रशासनिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त राजधानी की आवश्यकता थी। पाटलिपुत्र की स्थापना गंगा और सोन के संगम पर हुई थी। यह प्रत्येक दृष्टि से राजगृह चम्पा (जिसे सम्भवत. अजातशत्रु ने बाद को अपनी राजधानी बनाया था) की अपेक्षा अधिक उपयुक्त था। कौटिल्य के मतानुसार राजधानी नदियों के संगम पर ही होनी चाहिए।

उदायी भी अपने पिता के समान साम्राज्यवादी शासक प्रतीत होता है। स्थविरावलिचरित का उल्लेख है कि उसने एक पड़ोसी राज्य पर आक्रमण किया और उसके राजा को मार डाला। राजा के पुत्र ने अवन्ती की राजधानी उज्जैनी में शरण ली। कालान्तर में उस राजकुमार ने जैन साधु का वेश धारण किया और पाटलिपुत्र में जाकर धोखे से सोते हुए उदायी की हत्या कर दी। इस प्रकार उसने अपने पिता की हत्या का बदला लिया।

इस समय मगध राज्य के मुकाबिले मे अवन्ती का राज्य सिर उठाये खड़ा था। कथासरित्सागर और आवश्यक कथानक से प्रकट होता है कि इस समय तक अवन्ती ने सम्भवत वत्स-राज्य को भी अपनी छत्रच्छाया में कर लिया था। उदायी के विरुद्ध उपर्युक्त राजकुमार को शरण देकर अवन्ती के राज्य ने सूचित कर दिया था कि साम्राज्य-स्थापना के लिए वह मगध-राज्य से लोहा लेने के लिए निरन्तर उद्यत है। परन्तु उदायी के समय में भी मगध और अवन्ती का निर्णायक युद्ध न हो सका।

पुराणों का कथन है कि उदायी ने ३३ वर्ष तक राज्य किया। परन्तु इसके विरुद्ध महावंश उसका शासन-काल केवल १६ वर्ष ही बताते है।

उदायी के उत्तराधिकारी—उदायी के पश्चात् मगध के राजसिंहासन पर कौन-कौन उत्तराधिकारी बैठे, इस प्रश्न पर बड़ा मतभेद है। साराशत भिन्न-भिन्न मत निम्न प्रकार है—

पुराण—नन्दिवर्धन और उसके पश्चात् महानन्दिन्।

दीपवंश और महावंश—अनुरुद्ध, मुण्ड और उनके पश्चात् नागदासक ये तीनों क्रम से अपने पिता को मार कर राजा बने थे।

दिव्यावदान—मुण्ड और फिर काकवर्ण।

इन परस्पर-विरोधी मतों के साक्ष्य उदायी के पश्चात् मगध का उत्तराधिकार-क्रम असंदिग्ध रूप से निश्चित नहीं किया जा सकता।

शिशुनाग-वंश का उदय—दीपवंश और महावंश का कथन है कि पौरों, अमात्यों और मन्त्रियों ने नागदासक को सिंहासन से उतार दिया और उसके स्थान पर अमात्य शिशुनाग को राजा बनाया। डा० राय चौधरी का मत है कि शिशुनाग अन्तिम मगध-नरेश के शासन-काल में सम्भवत. बनारस का वायसराय था। अपनी योग्यता के कारण ही सम्भवत. इसने अन्यान्य पदाधिकारियों और मन्त्रियों को अपने प्रभाव में कर लिया होगा और उन्हीं की सहायता से अपने स्वामी को पद-च्युत करवा कर स्वयं सिंहासन पर बैठा होगा।

इस प्रकार बिम्बिसार-वंश का अन्त और शिशुनाग-वंश का उदय हुआ। पुराणों में शिशुनाग का नाम बिम्बिसार के पूर्व आता है। परन्तु हम पीछे कह चुके हैं कि यह गलत है।

महावंश टीका का कथन है कि शिशुनाग वैशाली के एक लिच्छवि राजा तथा एक स्थानीय 'नगर-शोभिनी' की सन्तान था। वैशाली से सम्बन्धित होने के कारण ही शिशुनाग ने उस नगर को अपनी राजधानी बनाया था। इसके पश्चात् निरन्तर राजगृह की अवनति होती गई।

अवन्ती से युद्ध—पुराणो का कथन है कि शिशुनाग प्रद्योतो की शक्ति का विनाश करेगा। प्रद्योत की मृत्यु के पश्चात् अवन्ती के सिंहासन पर कोई भी ऐसा प्रतिभाशाली राजा न बैठा जो मगध की साम्राज्यवादिता से अपने राज्य की रक्षा कर सकता। सम्भवत सिंहासन के लिए होने वाले गृह-युद्ध ने भी अवन्ती राज्य को निर्बल कर दिया था। डा० राय चौधरी का मत है कि शिशुनाग द्वारा पराजित अवन्ति-राज्य अवन्तिवर्धन था। इस विजय के पश्चात् मगध-राज्य उत्तरी भारत में परम शक्तिशाली राज्य बन गया।

कालाशोक या काकवर्ण—सिंहली महाकाव्यो के अनुसार शिशुनाग ने १८ वर्ष तक राज्य किया और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र कालाशोक मगध-का राजा हुआ। पुराण उसका नाम काकवर्ण बताते है। दिव्यावदान मे भी इसका नाम काकवर्ण मिलता है। प्राय सभी विद्वान् दोनो को एक ही राजा मानते है। यह अपने पिता के समय सम्भवत काशी प्रदेश का शासक रह चुका था।

कालाशोक ने वैशाली का परित्याग कर फिर पाटलिपुत्र को मगध-राज्य की राजधानी बनाया। इस समय से लेकर भविष्य में दीर्घ समय तक पाटलिपुत्र मगध-साम्राज्य की राजधानी बना रहा।

सिंहली महाकाव्यो के अनुसार कालाशोक के शासन-काल के १०वें वर्ष मे बौद्धों की द्वितीय सगीति हुई।

दीपवश और महावश के अनुसार कालाशोक ने २८ वर्ष तक राज्य किया था। बाण के हर्षचरित से प्रकट होता है कि काकवर्ण शिशुनाग की नगर के बाहर गले में छुरा भोक कर हत्या कर दी गई थी। अत. स्पष्ट है कि इस राजा का अन्त भी किसी षड्यन्त्र के परिणामस्वरूप हुआ था।

काकवर्ण के उत्तराधिकारी—बौद्ध साहित्य से प्रकट होता है कि काकवर्ण के पश्चात् उसके दस पुत्रों ने सम्मिलित रूप से २२ वर्ष तक राज्य किया। इनके पश्चात् शिशुनाग-वश की समाप्ति हो गई और नन्दवश का राज्य प्रारम्भ हुआ।

नन्द-वंश—पुराणो के अनुसार प्रथम नन्द राजा महापद्म था और वह शूद्रमाता के गर्भ से उत्पन्न हुआ था, (शूद्रागर्भोद्भव)। जैन ग्रथ परिशिष्टपर्वन् के अनुसार वह नापित पिता और वेश्या माता की सन्तान था। अग्रमीज (औग्रसैन्य) का उल्लेख करते हुए कर्टियस लिखता है कि 'उसका पिता वस्तुत नापित था और अपनी दैनिक आय से बड़ी कठिनाई के साथ अपनी उदर-पूर्ति करता था। परन्तु देखने में वह बड़ा सुन्दर था। इसलिए वह रानी का प्रेम-पात्र बन गया था और इस रानी के ऊपर अपने प्रभाव के कारण ही वह उस समय के राजा का विशेष विश्वासपात्र बन गया था। बाद को विश्वासघात करके उसने अपने राजा की हत्या कर दी और इसके बाद राजकुमारों के सरक्षक के रूप में काम करने के बहाने उसने वास्तविक राजसत्ता स्वय हथिया ली। आगे चलकर वह इन राजपुत्रो को मार कर वर्तमान राजा बन बैठा।'

इस उद्धरण को पढ़ने से प्रकट होता है कि कर्टियस के शब्द में औग्रसैन्य ने जिस राजा का धोखे से वध किया था वह हर्षचरित का काकवर्ण ही था। काकवर्ण के

१० पुत्र ही इस विश्वासघाती उग्रसेन के सरक्षण में कुछ समय तक राज्य करते रहे। तत्पश्चात् औग्रसैन्य ने उन राजकुमारो की भी हत्या करके शिशुनाग-वश का अन्त कर दिया।

यह औग्रसैन्य कौन था? हम पहले लिख चुके हैं कि पुराणों के अनुसार नन्द-वश का पहला राजा महापद्म था। परन्तु महाबोधि वश में उसका नाम उग्रसेन मिलता है। महापद्म-उग्रसेन ने ही नन्दवश की स्थापना की थी और उसका पुत्र (औग्रसैन्य—यूनानियो का अग्रमीज अथवा जैन्द्रमीज) सिकन्दर और चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था।

महापद्म-उग्रसेन—भागवत पुराण की टीका का कथन है कि नन्दराज के पास दस पद्म सेना अथवा इतनी ही सम्पत्ति थी। इसी से इसका नाम महापद्म पड़ा।[1] उसके 'उग्रसेन' नाम से भी प्रकट होता है कि उसके पास एक बडी विशाल सेना थी।

महापद्म एक प्रबल विजेता था। मगध के पूर्व राजाओं ने राज्य-विस्तार का कार्य प्रारम्भ किया था उसे महापद्मनन्द ने पूर्ण किया। नन्दकाल विशाल मगध-साम्राज्य की स्थापना का काल था। अनेक साक्ष्यों से महापद्म की सफलताओं के उल्लेख मिलते है। पुराणो मे वह 'एकच्छत्र पृथ्वी' का राजा, 'अनुल्लघितशासन', 'भार्गव (परशुराम) के समान', 'सर्वक्षत्रान्तक' 'एकराट्' आदि कहा गया है। इन विशेषणो से प्रकट होता है कि उसने तत्कालीन समस्त राजवशो—शैशुनाग, इक्ष्वाकु, पचाल, काशी, हैहय, कलिंग, अश्मक, कुरु, मैथिल, शूरसेन, वीतिहोत्र आदि—का उन्मूलन कर दिया था। इन राज्यो के नन्द द्वारा पराजित होने की बात कलियुगराजवृत्तान्त मे भी लिखी है।[2] जैन परिशिष्टपर्वन् ने भी नन्द-साम्राज्य की विशालता का पता लगता है।[3] अवान्ति-राज्य तो पहले ही मगध-राज्य मे मिल गया था। कोशल-राज्य भी सम्भवत इस समय मगध-साम्राज्य के भीतर निमज्जित हो गया। कथासरित्सागर से प्रकट होता है कि अयोध्या (कोशल) में नन्द-राज्य का शिविर लगा था। हाथीगुम्फा अभिलेख से विदित होता है कि नन्द-राज्य ने कलिंग पर आक्रमण किया था, और वहाँ पर एक नहर अथवा बाँध का निर्माण किया था और उस देश से एक जिनकी मूर्ति ले आया था। इन सब बातो से कलिंग-राज्य पर नन्द का शासन प्रकट होता है। डा० राय चौधरी का अनुमान है कि दक्षिणापथ का कुछ भाग भी सम्भवत नन्द-साम्राज्य के अन्तर्गत था। अपने अनुमान की पुष्टि मे उन्होने गोदावरी के तट पर स्थित नउ नन्द देहरा नामक एक नगर का उल्लेख किया है।

स्थविरावलिचरित नन्द के एक मन्त्री कल्पक का उल्लेख करता है। यह अपनी बुद्धि और अपने प्रपचो के लिए प्रसिद्ध था। इसने मगध-विस्तार में काफी योग दिया था।

हम पीछे नन्दराज की विशाल सेना का उल्लेख कर चुके हैं। इसकी पुष्टि

१ नन्दो नाम कश्चिन्महापद्मसंख्यायाः सेनायाः धनस्य वा पतिर्भविष्यति अत एव महापद्म इत्यपि तस्य नाम।

२ ऐक्ष्वाकांश्च पांचालान् कौरव्यांश्च हैहयान् कालकानेकलिंगांश्च शूरसेनांश्च मथिलान् जित्वा चान्यांश्च भूपालान् द्वितीय इव भार्गवः।

३ समुद्रवसनेशेभ्य आसमुद्रमपिश्रियः। उपाय हस्तैराकृष्य ततः सोऽकृतनन्दसात्॥

कर्टिग्रस से भी होती है। उसके अनुसार नन्द की सेना में २० हजार अश्वारोही, २ लाख पैदल, २ हजार रथ और २ हजार हाथी थे।

नन्दों की अपार धन-राशि का उल्लेख पहले किया जा चुका है। ह्वेनसांग भी इसका उल्लेख करता है। महावंश टीका से प्रकट होता है कि सम्भवतः उसने यह धन-राशि छोटी-छोटी वस्तुओं के ऊपर भारी-भारी कर लगा कर एकत्र की थी। कदाचित् अपने शोषण के कारण भी नन्द-वंश अधार्मिक था।

वायु पुराण के अनुसार प्रथम नन्दराज महापद्म ने २८ (अष्टाविंशति) वर्ष तक राज्य किया। परन्तु मत्स्य पुराण में उसका शासन-काल ८८ (अष्टाशीति) वर्ष का दिया है। ऐसा प्रकट होता है कि उसमें अष्टाविंशति के स्थान पर अष्टाशीति गलती से लिख गया है। तारानाथ के अनुसार नन्दराज ने २९ वर्ष तक राज्य किया। परन्तु सिंहली महाकाव्य समस्त नन्द राजाओं के शासन-काल को २२ वर्ष का बताते हैं।

पुराणों के अनुसार महापद्मनन्द के पश्चात् उसके ८ पुत्रों ने १२ वर्ष तक भी राज्य किया। महाबोधिवंश के अनुसार अन्तिम नन्दराज का नाम धन था। यही सम्भवतः यूनानियों का अग्रमीज (औग्रसैन्य) था। इसका विनाश चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने किया था।

२०

१—पारसीक आक्रमण २—यूनानी आक्रमण—सिकन्दर

(१) पारसीक आक्रमण

राजनीतिक अवस्था—जिस समय उत्तर-पूर्वी भारत मे एक साम्राज्य की स्थापना होने जा रही थी और इस दिशा के छोटे-छोटे राज्यो की एक सूत्र मे सगठित होने की प्रक्रिया प्रारम्भ थी उस समय भारत का पश्चिमोत्तर प्रान्त राजनैतिक विशृखलता का अद्वितीय रगस्थल बन रहा था। इस भाग में स्थित सीमित-सत्ता-सम्पन्न किसी भी नरेश के पास इतनी शक्ति न थी कि वह सार्वभौम बनने का साहस करता। यह कहना अनुचित न होगा कि इस भाग में विराजमान राज्यो के सम्मुख कोई एमा राजनैतिक आदश भी न था जिससे उद्वेलित हो कर वे राजनैतिक ऐक्य की ओर अपना पग बढाते। उनम न तो एक प्रभु-सत्ता-सम्पन्न विशाल साम्राज्य स्थापना की शक्ति थी और न प्रवृत्ति थी। एसे अवसरो का लाभ जैसा कि प्राय दखा जाता है विदेशी शक्तियाँ पूर्णरूप से उठाती हैं। उत्तर-पश्चिम भारत मे गान्धार और कम्बोज दो राज्यो की शक्तियो पर कुछ विश्वास रखा जा सकता था किन्तु उनमे इस मात्रा में न तो शक्ति ही थी और न राजनैतिक बुद्धिमत्ता ही थी कि वे किसी महत्त्वाकाक्षी विदेशी आक्रान्ता के अभियान को अवरुद्ध कर सकें। पारसीक नरेशो ने इस अवसर से भरपूर लाभ उठाया।

कुरुष महान्—इसी समय पारसीक राज-सत्ता का अभ्युदय कुरुष महान् (Cyrus the great) के नेतृत्व मे हो रहा था जिसने लगभग ५५८ ई० पू० से ५३० ई० पू० तक राज्य किया। कुरुष इतिहास के उन प्रतापी सम्राटों में स्थान रखता है जिन्होने अपनी कीर्ति का प्रसार स्वय अपन पुरुषार्थ के स्तम्भ पर खडा किया है। हेलेस्पाण्ट से लेकर मध्य एशिया तक उसने अपनी प्रभुता स्थापित की। उसकी लोलुप दृष्टि से उत्तर-पश्चिमी भारत बच न सका। स्ट्रैबो से हमें ज्ञात होता है कि कुरुष ने भारत विजयार्थ एक सेना जेड्रोशिया से होकर भेजी थी किन्तु माग की दुर्दान्त कठिनाइयो के कारण वह नष्ट हो गई। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी महत्त्वाकाक्षा को यहाँ पर धक्का लगा और उसे विवश हो कर भारत-विजय का स्वप्न त्याग देना पडा। एरियन हमे बतलाता है—

"The Indian tribes known as Astanikois and the Assakenois who inhabited the districts west of the Indus as far as Cophen

were subject to Persians and paid tribute to Cyrus as their master.'

उपर्युक्त कथन में निश्चित ही अष्टको और अश्वको की चर्चा है और बिना किसी शंका के कोफेन का समीकरण काबुल से किया जा सकता है। प्रसिद्ध रोमन इतिहासकार प्लिनी का कहना है कि कपिशा नगर का विध्वंश हुआ। इन साहित्यिक प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काबुल घाटी का अधिकाश भाग कुरुष की प्रभुता को स्वीकार करता था। दारयवौष (Darius I) के एक अभिलेख से जो बेहिस्तून में प्राप्त हुआ है अभिलेखिक साक्ष्य की प्राप्ति होती ही है जो हमारे निष्कर्ष को और भी पुष्ट कर देता है। इस अभिलेख मे पारसीक साम्राज्य को २३ भागो मे विभक्त किया गया है और इन २३ प्रान्तो में गान्धार सम्मिलित है। इन २३ प्रान्तों को दारयवौष ने कुरुष से प्राप्त किया था। स्पष्ट है कि गान्धार कुरुष के अधीन था। दक्षिणी अफगानिस्तान, पश्चिमी बलूचिस्तान और पश्चिम मकरान कुरुष के आधिपत्य को स्वीकार करते थे, किन्तु इस बात का प्रमाण हमारे पास नही है कि कुरुष ने कभी भी अपने जीवन मे सिन्धु नदी को पार किया। बेहिस्तून अभिलेख में जिस शतगु का उल्लेख है उसका समीकरण हर्ज़फेल्ड ने पजाब-निवासियो से किया था। किन्तु इस मत के लिए कोई आश्रय नही है। एच० सी० चट्टोपाध्याय ने उसका समीकरण 'गुनल' नदी के पार्श्ववर्त्ती लोगो से किया है। तात्पर्य यह है कि हमारे पास इस समय कोई ऐसा प्रमाण नही है जिसके आधार पर हम यह कह सके कि कुरुष की विजय-वाहिनी सिन्धु के इस पार विजय-पताका फहरा सकी। तथापि कतिपय उद्धरणो के कारण विद्वानो को भ्रम हो गया है। जेनाफन के विश्वकोष मे कुछ पक्तियाँ हैं—

"The Indian king a very wealthy man, sent his son with money in tribute."

इससे जैक्सन को धोखा हुआ है। उन्होंने कैम्ब्रिज माडर्न हिस्ट्री मे इस मत को प्रतिपादित किया है कि भारत का राजा कुरुष के अधीन सामन्त था। किन्तु उपर्युक्त इतिहासकार इस बात की ओर ध्यान नही देता कि यह वह समय था जब कि किसी को भारत का नरेश कहा ही नही जा सकता था। उस समय तक किसी भी सार्वभौम सत्ता का पूर्ण उदय नही हुआ था। अत ऐसा सोचना भ्रमात्मक है कि भारत-नरेश कुरुष का सामन्त था। और फिर उद्धृत पक्ति से इस बात का निष्कर्ष कदापि नही निकाला जा सकता कि जो धन भेजा गया, यदि भेजा भी गया तो, वह किसी सामन्त के द्वारा। क्या यह सभव नही कि आदान-प्रदान मित्रता के धरातल पर हुआ हो? साथ ही यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि उस समय तक कुरुष भी अपनी उन्नति के मार्ग पर ही था। जैक्सन के मत के विपरीत डॉक्टर मजूमदार का कथन है कि चूँकि बौद्ध ग्रन्थो में हमें यह मिलता है कि गान्धार के अश्वक और अष्टक पुष्कर-सारी के समय में स्वतन्त्र थे, इससे उपर्युक्त मत का खण्डन हो जाता है और प्लिनी की पुस्तक में कुरुष द्वारा कपिश के विध्वंश होने की जो बात मिलती है, वह बाद में जोड़ दी गई है। किन्तु, कदाचित् गान्धार उस समय दो भागो में विभक्त था। तक्षशिला का राजा पुष्कर-सारी था और पश्चिमी गान्धार में अश्वक और अष्टक थे जो कुरुष के अधीन रहे होंगे।

दारयवौष प्रथम—कुरुष के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी काम्बुजीय प्रथम, कुरुष द्वितीय और काम्बुजीय द्वितीय अपने पश्चिमी भाग में ही इतने सलग्न रहे

कि उनको पूर्व की ओर आँख उठाने का अवसर ही नहीं मिला। किन्तु दारयवौष प्रथम (Darius I) ने, जिसने लगभग ५२२ ई० पू० से ४८६ ई० पू० तक राज्य किया, पूर्व की ओर ध्यान दिया और अपने पूर्वज कुरुष के प्रारम्भ किए हुए अध्याय को पूरा करने का प्रयास करने लगा। उसके बेहिस्तून (Behastun), पर्सीपोलिस (Persepolis) और नक्शे-रुस्तम अभिलेखों से ज्ञात होता है कि भारतीय अभियान में दारयवौष को कुरुष से कहीं अधिक सफलता मिली। बेहिस्तून अभिलेख में हम पाते हैं कि गान्धार का उल्लेख उन देशों में है जो उसके अधीन थे। उसके पर्सीपोलिस और नक्शे-रुस्तम अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सिन्धु भी गान्धार के साथ उल्लिखित है। विद्वानों के अनुसार पर्सीपोलिस और नक्शे-रुस्तम अभिलेख ५१८ ई० पू० और ५१५ ई० पू० के हैं। अतः सिन्धुघाटी की विजय इसी मध्य हुई। हेरोडोटस के वर्णन से भी उक्त अभिलेखिक प्रमाण की पुष्टि होती है। हेरोडोटस भारतीय विजयों को २०वें प्रान्त में रखते हुए कहता है कि भारतीय प्रान्त ३६० टैलेण्ट स्वर्ण देता था जो कि अवशिष्ट सभी प्रदेशों के प्रदान से अधिक था। एक दूसरे स्थान पर हेरोडोटस बतलाता है कि लगभग ५१७ ई० पू० दारा ने स्काइलैक्स की अधीनता में सिन्धु नदी का पता लगाने के लिए भेजा। इसका अभिप्राय राजनैतिक न होकर वैज्ञानिक था, किन्तु यह असम्भव नहीं कि अधिकारियों ने भविष्य की विजयों की पृष्ठभूमि इसी प्रसंग में तैयार कर दी हो।

दारा की विजय-सीमा का निर्धारण विवादस्पद है। किन्तु इतना तो निश्चित है कि उससे केवल सिन्धुघाटी से तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वही प्रदेश अकेला ३६० टैलेण्ट नहीं दे सकता था और यह भी हम जानते हैं कि २० प्रान्तों में वही प्रान्त सब से अधिक जन-बहुल था।

"When Alexander reached Beas and was forced by his generals to return, he had touched the eastern most point of the region previously under Persians."

इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि व्यास तक दारा पहुँच चुका था।

जर्गजीज (Xerxes) (४८६ ई० पू० ४६५ ई० पू०) ने भारतीय प्रदेशों को पैतृक रूप में प्राप्त किया। यूनान के विरुद्ध जर्गजीज के अभियान में गान्धार निवासी सैनिक के रूप में पारसीकों की ओर से लड़े। जर्गजीज के भारतीय सेना का निम्न प्रकार वर्णन है—

"Gandharians with bows of reed and short spears and Indians clad in cotton garments bearing cane-bows with arrows tipped with iron."

इससे यह प्रमाण प्राप्त हो जाता है कि जर्गजीज के समय तक पारसीकों के अन्तर्गत भारत का यह पश्चिमी प्रान्त था। डा० मजूमदार का कहना है कि ये सैनिक भाड़े के सैनिक भी हो सकते हैं। किन्तु द्वितीय पर्सीपोलिस अभिलेख से इसका खण्डन हो जाता है। डा० रायचौधरी का कहना है कि भारत कदाचित् उन देशों में था जिन्हें पारसीक नरेश जर्गजिज के धार्मिक क्रोध का कुपरिणाम सहन करना पड़ा था। जर्गजिज ने देवों के स्थान पर 'ऋतम्' की पूजा करने को विवश किया था। थर्मापली के युद्ध के पश्चात् पुञ्जीभूत पारसीक राजनैतिक शक्ति बिखरने लगी किन्तु किसी न किसी रूप में भारत के इस अभागे भाग पर पारसीक आधिपत्य जर्गजिज के पश्चात् भी बहुत काल तक बना रहा। इतिहासकार हेरोडोटस अर्टाजर्गजीज

(Artaxerxes) का समकालीन था और यद्यपि हेरोडोटस दारा के समय के साम्राज्य-विभाजन का वर्णन करता है तथापि कतिपय विद्वानों का यह कथन है कि यह विभाजन उसके (हेरोडोटस के) समय ही का है। अर्टाजर्गजोज के South Tombs अभिलेख में 'भारत (India) उन प्रदेशों में है जो पारसीक अधिराट् को कर देते थे। दारा तृतीय ने ३३० ई० पू० में अराबेला के युद्ध में भारतीय सैनिकों को अपनी सेना में रखा था। भारतीय सैनिकों के तीन दल थे—

"Indians who were the neighbours of Bactrians fought under Bessus. The Indian mountaineers fought under the Satrap of Arachosia. The third group consisted of the Indian soldiers who lived this side of the Indus and formed the body-guard of the emperor."

इससे एक बात स्पष्ट है कि जितने सैनिक थे वे सभी सिन्धु नदी के पश्चिम-वर्ती थे। पूर्व वर्तियों का क्या हुआ ? कदाचित् उन पर अब पारसीक आधिपत्य सशक्त न था। स्ट्रैबो बतलाता है—

"The views set forth by Eratosthenes in the third book of Geography regarding the country known as India at the time of Alexander's invasion are reliable, for the Indus formed the boundary between Inde and Ariana which lay to the immediate west of the river and was subject to Parsie."

किन्तु उस भाग पर भी अधिकार बहुत प्रबल नहीं दिखलाई पड़ता। कारण स्पष्ट है, क्योंकि भारतीय सैनिक दूसरों के अधीन लड़े। डा० मजूमदार का कथन उचित प्रतीत होता है—

"The fact that Indians fought under the Satraps of other provinces shows that there was no longer a Persian satrap of India proper and the hold of Persia over that region was becoming relaxed."

पारसीक आधिपत्य शनैः शनैः उस भाग से भी समाप्त हो गया। उस तिथि विशेष का पता लगाना तो दुर्लभ है जब पारसीकों के डेरे ने कूच किया। किन्तु यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि जब ३२७ ई० पू० में सिकन्दर की सेना ने प्रवेश किया तो उसका सघर्ष किसी पारसीक-वाहिनी से न हो कर भारतीय सेना ही से हुआ।

प्रभाव—एडवर्ड मेयर कहता है कि अराबेला के संग्राम में पारसीक साम्राज्य की इतिश्री हो गई किन्तु उसके परिणाम समाप्त नहीं हुए। पारसीक प्राधिपत्य के प्रभाव भारतीय राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहे। किन्तु उसका प्रभाव हमारी सभ्यता और संस्कृति पर भी पड़ा। उसका भौगोलिक प्रभाव भी महत्व में कुछ कम न था। पश्चिम से भारत का सम्पर्क बढ़ा। कला और संस्कृति में महत्वपूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। यूनानियों को पारसीकों से ही भारत-विजय की प्रेरणा प्राप्त हुई। भारत प्राचीन काल में स्वर्ण-प्राचुर्य के ही लिए नहीं, प्रत्युत् पदाति-बल के लिए भी प्रख्यात था और विजयाकांक्षियों के लिए वाञ्छनीय था। विद्वानों का अनुमान है कि मौर्य सम्राटों ने पारसीक सभ्यता का अनुकरण किया। साम्राज्य का प्रान्तों में विभाजन, केन्द्रीय सेना, राज्यारोहण में आनुवंशिक सिद्धान्त का आगमन, धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धान्त—ये कतिपय ऐसी बात मौर्ययुग में हमें

मिलती हैं जिनसे इस बात का संदेह तुरन्त होता है कि इन पर पारसीक प्रभाव निःसन्देह पड़ा होगा। किन्तु किसी ठोस प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में ये प्रभाव अनुमान की कोटि में ही रह जाते हैं। यह कहना वर्तमान अवस्था में अत्यन्त कठिन है कि उन उपादानो में कौन-कौन से तत्व पारसीक साम्राज्य के अवशेष हैं और किन-किन का उद्भव और विकास इसी भारत-भूमि पर हुआ। अर्थशास्त्र मे कौटिल्य कानून का स्रोत बतलाते हुए राजाज्ञा को धर्म की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान करता है—

धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्र राजशासनम्,
विवादार्थश्चतुष्पादा पश्चिमः पूर्व-बाधकः।

क्या इस विचार पर पारसीक साम्राज्य का प्रभाव देखना अनुचित अथवा अप्रासगिक है? ईरान में सम्राट् भूमि और उदक का स्वामी समझा जाता था। हमारे यहाँ तो राजा कर का अधिकारी इसीलिए था कि वह प्रजा की रक्षा करता था और प्रजा का सेवक समझा जाता था। अर्थशास्त्र में हमें एक स्थान पर इस विचार-धारा की भी झलक मिलती है कि मौर्य सम्राट् भूमि और उदक के स्वामी समझे जाते थे। हमे एक बार पुन पारसीक-प्रभाव का अनुमान करना पडता है।

मौर्य-साम्राज्य के कतिपय अधिकारियो के नाम में पारसीक प्रभाव की झलक मिलती है। गोप और क्षत्रप के अर्थों में पारसीक अफसरो की भारत मे नकल दिखलाई पडती है। इसी प्रकार 'अक्षपटल' कहते ही पारसीक नरेशो के 'नेत्र एव कर्ण' (eyes and ears) का स्मरण आ जाता है। केश-सिंचन की प्रथा का उल्लेख मेगस्थनीज करता है। यह प्रथा पारसीक लगती है। अशोक के अभिलेखो की शैली बहुत-कुछ पारसीक-शैली से मिलती-जुलती है। अशोक के कुछ शब्द तो पारसीक शब्दो के इतने निकट है कि वे केवल अनुवाद से दिखाई पड़ते हैं, यथा दिपि के स्थान पर लिपि, निपिस्त के स्थान पर लिखित। पश्चात्कालीन भारतीय नरेशों की उच्च-ध्वनिकारक उपाधियाँ भी कदाचित् पारसीक सभ्यता का ही चिरकालिक परिणाम रही हो, यथा महाराजाधिराज इत्यादि। अशोक के अभिलेखो का 'देवाना प्रिय प्रियदर्शी राजा आह' दारा के-'थातिय दारयवौष क्षयाथिय' से मिलता है।

कतिपय विद्वानो का अनुमान है कि तक्षशिला मे प्राप्त अरेमिक अभिलेख भी पारसीकों के प्रभाव का अवशेष है, यद्यपि हर्जफेल्ड का कथन है कि चूँकि 'प्रियदर्शन' शब्द का उसमे उल्लेख है अत. यह अभिलेख अशोक के समय का प्रतीत होता है। कहा जाता है कि उत्तर-पश्चिम भारत में प्रचलित 'खरोष्ठी' लिपि भी पारसीको की देन थी। यद्यपि आनन्द कुमार स्वामी का कहना है कि मौर्य-स्तम्भो में अधोमुख कमल (inverted lotus) है तथापि अभी बहुत से विद्वान् है जो उसको पर्सीपोलिस का घटा ही मानते है।

(२) यूनानी आक्रमण—सिकन्दर

राजनीतिक अवस्था—पारसीक आक्रमण के पश्चात् भारतवर्ष को यूनानी आक्रमण का सामना करना पड़ा। इस यूनानी आक्रमण का नेता सिकन्दर महान् था। जिस समय सिकन्दर महान् ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया उस समय इस देश में मध्यदेश और प्राच्यदेश में तो विशाल नन्द-साम्राज्य स्थित था। सम्भवत दक्षिणापथ का भी कुछ प्रदेश इस साम्राज्य के अन्तर्गत था। परन्तु पश्चिमोत्तर भारतवर्ष की दशा बड़ी असन्तोषजनक थी। वे सम्पूर्ण प्रदेश छोटे-छोटे अनेक राज्यो में विभक्त थे। इनमें कुछ गणतन्त्रात्मक थे और कुछ राजतन्त्रात्मक। परन्तु इन सभी में

पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष था। अत: विदेशी आक्रमण के समय ये संयुक्त रूप से न लड़ सके। यही नहीं, कुछ-एक ने तो अपने पड़ोसी राज्य के विरुद्ध सिकन्दर को सहायता भी दी। इस राजनीतिक परिस्थिति ने सिकन्दर का कार्य सुगम कर दिया। उसने कुछ ही समय में सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। सिकन्दर के आक्रमण के समय पश्चिमोत्तर प्रदेश में निम्नलिखित प्रमुख राज्य थे—

१. अस्पेसियन—यह जाति अबिसंग, कुनार और बजौर नदियों की घाटियों में थी। विद्वानो ने इस जाति के नाम का समीकरण भारतीय अश्वक नाम से किया है।

२. गुरेइअन—यह जाति पंजकौर नदी की घाटी में रहती थी।

३. अस्सेकेनोज—यह सिन्धु नदी के पश्चिम में थी। कुछ विद्वानो ने इसका समीकरण अश्वक जाति से किया है। इसकी राजधानी मस्सग थी।

४. नीसा—यह राज्य काबुल नदी और सिन्धु नदी के बीच में स्थित था।

५. प्यूकेलाटिस—इसका समीकरण पुष्करावती के साथ किया गया है जो पश्चिमी गान्धार की राजधानी थी।

६. तक्षशिला—यह राज्य सिन्धु और झेलम नदियों के बीच में स्थित था। यहाँ का राजा अम्भी था।

७. असकेज—यह उरशा-राज्य था। इसके अन्तर्गत आधुनिक हजारा आता था।

८. अभिसार—इसके अन्तर्गत काश्मीर का पश्चिमोत्तर भाग सम्मिलित था।

९. पुरुराज्य—यह झेलम और चिनाब नदियो के बीच में स्थित था। यहाँ के राजा को यूनानियो ने पोरस कहा है।

१०. ग्लौगनिकाइ—इस जाति का राज्य चेनाब नदी के पश्चिम में था।

११. गैण्डरिस—यह राज्य चेनाब और रावी नदियो के बीच में स्थित था।

१२. अड्रेस्टाइ—यह रावी नदी के पूर्व में था।

१३. कठ—कुछ विद्वानों के अनुसार यह झेलम और चेनाव के बीच में और कुछ के अनुसार रावी और चेनाव के बीच में था।

१४. सौभूमि-राज्य—यह झेलम के तट पर स्थित प्रतीत होता है।

१५. फेगलस—यह रावी और व्यास के बीच में था। इसका समीकरण भगल से किया गया है।

१६. सिबोइ—सम्भवत: यह शिवि जाति थी। सम्भवत. यह झेलम और चेनाब के बीच में स्थित थी।

१७. क्षुद्रक—यह जाति झेलम और चेनाव के संगम के नीचे की भूमि में रहती थी।

१८. मालव—यह रावी के निचले भाग के दाहिनी ओर रहती थी।

१९. अम्बष्ठ—यह मालवों की व[illegible] जाति थी।

२०. जैथ्राइ—इसका समीकरण क्षत्रि से किया गया है। यह चेनाव और रावी के बीच में रहती थी।

२१. ओस्सेडिआइ—इसका समीकरण वसाति से हुआ है। यह चेनाव और

सिन्धु नदियों के बीच में थी।

२२. मौसिकेनोज—यह मूषिक जाति थी जो आधुनिक सिन्ध में बसी थी।

२३ पैटलीन—यह नगर सिन्ध नदी के डेल्टा पर स्थित था।

उपर्युक्त राज्यों मे अधिकाश गणराज्य थे। राजतन्त्रात्मक राज्यों में तक्षशिला-राज्य अभिसार-राज्य और पुरु-राज्य प्रमुख थे। परन्तु जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, अधिकाश राज्यो में भारी पारस्परिक कटुता थी। कर्टिअस के लेख से प्रकट होता है कि तक्षशिला-राज्य और पुरु-राज्य म अत्यधिक द्वेष-भाव था। अभिसार-नरेश पुरु का मित्र था। अत तक्षशिला के राजा अम्भी से उसकी शत्रुता थी। एरियन के कथन से प्रकट होता है कि पुरु और उसके भतीजे (जो उसी का पडोसी राजा था) में भी अनबन थी। ये राजतन्त्रात्मक राज्य गणतन्त्रात्मक राज्यो के भी शत्रु थे। उदाहरणार्थ पुरु और अभिसार-नरेशो ने क्षुद्रक और मालव राज्यो से भी शत्रुता कर रखी थी। उधर शाम्ब जाति और मूषिक जाति मे वैमनस्य था। ऐसी परिस्थिति में सिकन्दर का काय बडा सरल हो गया था।

सिकन्दर का प्रस्थान

बो बल—कहा जाता है कि सिकन्दर ने भारतीय-विजय की अभिलाषा अपने पिता फिलिप से पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त की थी यद्यपि उस तथ्य के ऐतिह्य की पुष्टि पूर्णरूपेण नही होती। महत्त्वाकाक्षी सिकन्दर ने बैक्ट्रिया की विजय के पश्चात ई० पू० ३२७ के बसत काल मे हिन्दूकुश को पार कर कोही-दामन (Koh-i-Daman) की शस्यश्यामला घाटी में प्रवेश किया। बैक्ट्रिया के आक्रमण के पूर्व ही यहाँ पर सिकन्दर ने अलेकजण्ड्रिया नाम के नगर की स्थापना की थी। सैनिक दृष्टिकोण से अभीष्ट विजय की प्राप्ति में इस स्थान का अपना योग था। यहाँ पर अपनी स्थिति दृढ करने के पश्चात् सिकन्दर ने आधुनिक जलाला-बाद के पश्चिम मे स्थित निकाइ नामक नगर की ओर प्रस्थान किया। सिकन्दर द्वारा यहाँ पर सेना का विभाजन हुआ। पर्डिक्कस(Perdikkas)को पर्याप्त सैन्यबल के साथ काबुल नदी की घाटी के द्वारा सिन्ध नदी तक सीधे पहुँचने का आदेश मिला। मार्ग में हस्ती (Astes) को छोडकर प्राय समस्त कबीलो के प्रधानो ने आत्म-समर्पण कर दिया और पर्डिक्कस को इस कार्य में तक्षशिला नरेश अम्भी से पर्याप्त सहायता मिली थी। जब सिकन्दर निकाइ में ही था उसी समय तक्षशिला-नरेश अम्भी ने हाथियो के सहित अनेक बहुमूल्य उपहार नतमस्तक होकर सिकन्दर की सेवा में अर्पित किए थे और बिना किसी सकोच के उसकी अधीनता स्वीकार की थी। भारतीय लिखित इतिहास में यह प्रथम भारतीय देश-द्रोही है जिसने अपने तुच्छ स्वार्थ के हेतु देश के साथ प्रवञ्चना की। सिकन्दर ने भारत का प्रवेश-द्वार खुला पाया।

अवशिष्ट-सैन्य-बल के साथ सिकन्दर ने अपने साहस का परिचय देते हुए पार्वतीय दुर्गम पथ का अनुसरण किया। इस प्रकार की गति कष्ट-साध्य अवश्य थी, किन्तु गमनागमन का प्रमुख मार्गसुतरा सुरक्षित था। एरियन से ज्ञात होता है कि इन पार्वतीय प्रदेशो में एस्पेसियन (Aspasians), गौराइयन (Gaurains) तथा अस्सकेनी (Assakenians) रहते थे। कदाचित् एस्पेसियन और अस्सके‍नी एक ही शब्द अश्मक के रूपान्तर हैं। यह अश्मक वराहमिहिर में भी हम पाते हैं। कतिपय विद्वान् अश्मक के स्थान पर अश्वक मूल रूप बतलाते हैं। इसकी पुष्टि इस

तथ्य से भी होती है कि यूनानियो ने इस शब्द का अनुवाद हिप्पसिआइ (Hippasioi) से किया है। गौराइयन लोगो के विषय मे कुछ निश्चित ज्ञात नही है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनका नाम गौरी नदी (पञ्जकोर) पर पडा हो और वे अश्मक अथवा अश्वक लोगो से घनिष्टतया सम्बन्धित थे। यूनानी पुस्तको में गौरी नदी गौरेमोस शब्द से अभिहित है।

अज्ञातनाम जाति—अक्षरश सिकन्दर ने किस मार्ग का अनुसरण किया—यह बतलाना दुष्कर है किन्तु घटना के काल-कुहर के आच्छादित होने पर भी इतना निश्चित है कि कुनर की विशाल घाटी मे जितनी बार रणभेरियाँ बजी उतनी बार सिकन्दर के चुने हुए यारोपीय सैनिको के दाँतो तले पसीना आया। इसी प्रदेश में एक अज्ञाननामा नगर के विरुद्ध रणस्थल मे स्वय सिकन्दर की भुजा को भेदता हुआ शत्रु का एक शल्य निकल गया। प्रतिक्रिया स्वभावत भीषण होती। समस्त नगर धराशायी कर दिया गया और सभी निवासी तलवार के घाट उतार दिए गए केवल वे ही अवशिष्ट रह सके जिन्होंने पर्वतमालाओ मे जाकर शरण ली। इस जिले के पूर्व विजय के लिए क्रेटरम (Craterus) और कतिपय अन्य पदाति उच्च पदाधिकारियो को छोडते हुए अश्वको के दमन के लिए सिकन्दर और आगे बढा। अश्वको ने सिकन्दर के इस आक्रमण का समाचार पाते ही अपनी राजधानी त्याग कर गिरिकन्दराओ की शरण ली।

तत्पश्चात् सिकन्दर ने बजौर की घाटी में प्रवेश किया। दूसरे मार्ग से भेजे हुए सैन्यदल का सिकन्दर से यही पर पुनर्मिलन हुआ। कर्टियस हमें बतलाता है कि अश्वको को पराभूत करने के पश्चात् सिकन्दर न्यासा नगर की ओर बढा। न्यासा नगर के निवासियो ने सिकन्दर का किञ्चित्मात्र भी विरोध न किया, प्रत्युत् उसकी सहायता की। उनके नेता अकुफिस (Akuphis) ने सिकन्दर को अनेक उपहारो को समर्पित करते हुए अपनी उत्पत्ति और स्थिति का कारण यूनानी डियानिसस को बतलाया और इस प्रकार आक्रान्ता से रक्त-सम्बन्ध स्थापित किया। सिकन्दर और उसके सैनिक इस वार्ता से काफी सन्तुष्ट हुए और सन्तुष्टि का परिणाम यह हुआ कि न्यासा नगर ज्यो का त्यो रह गया, उसे नष्ट-भ्रष्ट नही किया गया। सिकन्दर ने न्यासा-निवासियो से तीन सौ अश्वारोही और एक सौ उच्च कोटि के व्यक्तियो को माँगा और अन्त मे केवल अश्वारोहियो को ही लिया, क्योकि व्यक्ति निम्नकोटि के मिल रहे थे। सिकन्दर ने मेरोस पर्वत—सम्भवत कोहेमूर—की ओर प्रस्थान किया।

मस्सग—गौरी नदी (पञ्जकोर) अपनी गहराई तथा गति की तीव्रता के कारण सिकन्दर के लिए समस्या थी फिर भी इस प्रकार की कठिनाई को कठिनाई न समझने वाले सिकन्दर ने उस नदी को पार किया और वह मस्सग (Massaga) नगर के सम्मुख पहुँच गया। मस्सग नगर उस तरफ का सब से बडा नगर था। मस्सग पर चार दिनो तक घेरा पडा रहा। प्रारम्भ में ही सिकन्दर के पैर में साधारण शल्य-व्रण हुआ किन्तु यूनानी युद्ध-कला और यूनानी शस्त्रास्त्र अन्ततोगत्वा सफल हुआ। मस्सग का प्रधान चौथे दिन एक यूनानी अस्त्र का शिकार बना। पराजित पक्ष की ओर सात सहस्त्र भाडे के सैनिक थे जो प्रधान की मृत्यु के पश्चात् युद्ध को बन्द कर देना चाहते थे। सिकन्दर के साथ युद्ध-विराम वार्ता प्रारम्भ की गई। किन्तु विराम के अनन्तर जब वे अपने-अपने गृह जाने को उद्यत ही रहे थे सिकन्दर ने इसका समाचार पाया और निर्दयतापूर्वक उनमें से अधिकांश को मौत के घाट उतार दिया गया। विश्व-विजय की वीणा उठाए हुए वीर के लिए यह कलक की बात थी, क्योकि सिकन्दर ने इन धनार्जित-सैनिको द्वारा की जाने वाली अभूत

क्षति से बचने के लिए इनसे एक सन्धि की थी और बाद में प्रवञ्चनापूर्वक उनकी हत्या करवा दी। उस अप्रतिम वीर के इस कायरतापूर्ण कार्य का समर्थन किसी भी देश के किसी भी काल के नैतिक नियमों द्वारा नहीं किया जा सकता। डियोडोरस और प्लूटार्क दोनों ने इस हृदयहीन कार्य की इन शब्दों से निन्दा की है:—Alexander's conduct on the occasion was a 'foul blot on his martial fame.'

रक्षकों के नष्ट हो जाने के पश्चात् मस्सग का पतन कोई कठिन कार्य नहीं था। एरियन के अनुसार मस्सग की महारानी और राजकुमारी को बन्दी बनाया गया।

पुष्कलावती—स्वात की घाटी में युद्ध का अन्तिम चरण बजिरा (बीरकोटि) तथा ओरा (उदेग्रम) पर केन्द्रित था। कुछ परेशानियों के पश्चात् उपर्युक्त दोनों स्थानों पर अधिकार कर लिया गया और सिकन्दर पेशावर की घाटी की ओर अग्रसर हुआ। सिकन्दर ने सिन्ध के पश्चिम के समस्त भाग का क्षत्रप निकेनार (Nicanor) को नियुक्त किया और यहीं पर पुष्कलावती (Peucelaotis) की, जो गान्धार की प्राचीन राजधानी थी, अधीनता की स्वीकृति सिकन्दर को मिली।

सिकन्दर ने अभी सिन्ध को पार नहीं किया था। सके पूर्व अभी उसको आर्नो (Aornos) पर स्थित अस्सकेनोई लोगों से निपटना था। स्टीन (Stein) ने इस स्थान का समीकरण पर्वतमालाओं के मध्य में स्थित पीर-सार (Pir-Sar) तथा उनसार (Un-sar) से किया है। आर्नो पर अधिकार करना कोई सरल कार्य नहीं था। एरियन ने इस स्थान का विस्तृत वर्णन किया है। वह बतलाता है कि ६,६०० फीट ऊँचे चट्टान पर यह स्थान स्थित था और इसका घेरा २२ मील था। दक्षिणी सीमा पर सिन्ध की नदी किलोल करती थी। इस पर पहुँचना अत्यन्त कठिन था, क्योंकि पहुँचने के लिए एक ही मार्ग था, वह भी दुर्गम। एरियन बतलाता है—'It was ascended by a single path cut by the hand of man, yet difficult.''. इस प्रकार की किंवदन्ती प्रचलित थी कि उस स्थान को अधिकृत करने में हरक्युलिस को भी निराश होना पड़ा था। कदाचित् इस प्रचलित लोक-गाथा ने सिकन्दर की उत्सुकता को और भी बढ़ाया हो। किन्तु सिकन्दर की सारी योजनाएँ आर्नो की चट्टान से टक्कर लेकर चूर होती दिखाई पड़ रही थी। सिकन्दर किंकर्तव्यविमूढ हो गया था। ऐसी भयानक परिस्थिति में पड़ोस के कुछ लोगों ने स्वयं सिकन्दर की अधीनता स्वीकार की और पथ-प्रदर्शन के लिए उद्यत हो गए। टालेमी (Ptolemy) उन लोगों की सहायता से एक सुविधाजनक चट्टान पर पहुँचा और उसने वहाँ पर युद्ध की तैयारी की। सिकन्दर को सूचना देने के लिए टालेमी ने एक उच्च स्थान पर प्रकाश-स्तम्भ का प्रबन्ध किया। सिकन्दर ने इस सूचना का अर्थ समझ लिया, किन्तु साथ ही साथ आर्नो के सैनिकों ने भी इसको समझ लिया और इसके पूर्व कि सिकन्दर टालेमी से मिल सके, उन लोगों ने सिकन्दर को मार्ग में रोका। इस कार्य में वे लोग सफल रहे किन्तु टालेमी द्वारा निर्मित किलेबन्दी को वे नष्ट न कर सके। फल यह हुआ कि रात्रि में उनको लौटना पड़ा। उसी रात्रि में सिकन्दर को आर्नोपक्ष के ही किसी प्रवञ्चक भारतीय की सहायता मिली और सिकन्दर ने टालेमी के पास एक पत्र लिखा कि उसको भारतीय सेना पर पृष्ठ भाग से उस समय आक्रमण करना चाहिए जब वे सिकन्दर की सेना का ऊपर जाने में प्रतिरोध कर रहे हों। दूसरे दिन ऐसा ही हुआ और सिकन्दर की मुख्य सेना को टालेमी के व्यक्तियों से संयुक्त होने में आर्नो के रक्षक बाधक न बन सके। इतनी सफलता

पाने पर भी पीर सार की स्थिति इतनी पुष्ट थी कि उस पर आक्रमण सरल कार्य नहीं था। सिकन्दर के आदमियों को एक विशाल मिट्टी का टीला तैयार करना पड़ा। यह कार्य तीन दिन तक होता रहा और चौथे दिन जाकर यूनानी सेना ने एक छोटे से चट्टान को अपने अधीन कर लिया। टीला-निर्माण का कार्य सतत चल रहा था, भारतीयों का विरोध भी सततरूपेण होता रहा किन्तु अन्त में टीले का निर्माण हो ही गया और उसको यूनानियों ने अधीनस्थ चट्टान को धरातल से संयुक्त किया। भारतीयों ने इस असाधारण कार्य की सफलता तथा अपने प्रतिरोध की विफलता देख कर सिकन्दर के साथ युद्ध-विराम-वार्ता प्रारम्भ की। वार्ता समाप्त भी न हुई थी कि रात्रि में उन्होंने स्वगृह लौटने का प्रयास किया। सिकन्दर को इसका पता चल गया। पहले तो सिकन्दर ने सब को बिना किसी रोक के बढ़ने दिया, अन्त में चुने हुए सात सौ सैनिको के सहित उसने उन पर अप्रत्याशित आक्रमण किया। अधिकांश काल के गाल में समा गए और सिकन्दर का पूर्ण अधिकार आर्नो पर हुआ। "Alexander thus become master of the rock which had baffled Herakles himself" सिकन्दर ने वहाँ पर देवताओ की पूजा की और एक दुर्ग का निर्माण कराया। यह घटना ईसा पूर्व ३२६ के आसपास रखी जा सकती है।

अम्भी का आत्म-समर्पण—एरियन हमें बतलाता है कि आर्नों से सिकन्दर ने भगे हुए उन आर्नों-निवासियों का अनुसरण किया जिसका नेतृत्व मस्सग में मृत्यु को प्राप्त किसी प्रधान का भ्राता कर रहा था। जब सिकन्दर ड्यर्टा (Dyrta) जिसका समीकरण पूर्णरूपेण नही हो पाया है, पहुँचा तो नेता हस्तियो को छोड़ कर सिन्ध के पार आ गया था। बाद में सिकन्दर ने हाथियों को पकड़वा मँगाया। ओहिन्द के पुल पर १६ पड़ाओ के पश्चात् पहुँचने पर सिकन्दर ने पूर्ण एक मास का विश्राम अपने सैनिकों को दिया। देश की कायरता का प्रतीक तक्षशिला-नरेश अम्भी यहाँ पर सिकन्दर के आगमन की प्रतीक्षा थाल मे पुष्प और रोली सजाए कर रहा था। जो उपहार अम्भी ने भेजे थे उनमें २०० रजत-मुद्राएँ ३०९० पुष्ट वृषभ, १,००० मेष और ३० हाथियाँ एवं ७०० अश्वारोही उल्लेखनीय हैं। सिन्ध की प्रभूत जल-राशि भारतीयो की नासमझी से ही सिकन्दर के लिए अबाधित राजमार्ग बनी। सिकन्दर, लिखित इतिहास में प्रथम योरोपीय था जिसने भारत-भूमि पर पदार्पण किया। तक्षशिला पहुँचने पर स्वागतार्थ आते हुए ससैन्य अम्भी को प्रवंचक समझ कर सिकन्दर ने युद्ध की भेरी बजाने की आज्ञा दी। अन्त में आम्भी कतिपय मित्रों के साथ, सैन्यरहित होकर सिकन्दर के पास गया। और अपनी दीनता तथा अधीनता उसके सामने स्वीकार की। राजनीति के दाँव में कुशल सिकन्दर ने उसका राज्य उसके पास ही रहने दिया।

तक्षशिला में तीन दिनों तक सिकन्दर ने मनोरंजन किया और चौथे दिन सिकन्दर तथा उसके साथियों को स्वर्ण और रजत के सिक्कों को निवेदित किया गया। सिकन्दर ने प्रत्युत्तर में फारस में प्राप्त अनेक बहुमूल्य सामग्रियों तथा अश्वों को प्रदान किया। अनेक भारतीय नरेशों ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली, किन्तु वीर-शिरोमणि पोरस ने सिकन्दर के पास प्रति-सन्देश भेजा कि वह सिकन्दर से साक्षात् अवश्य करेगा किंतु सशस्त्र और रणस्थल में। पोरस का राज्य विस्तृत था और उसके अभ्युदय ने पास-पड़ोस के राजाओं के हृदय में खलबली मचा रखी थी। सिकन्दर ने कोनोस (Konos) को सिन्ध नदी के पुल को तोड़ कर, झेलम पर लगाने की आज्ञा दी। फिलिप को तक्षशिला का क्षत्रप बनाया गया। सिकन्दर

स्वयं सेना को लेकर तक्षशिला के पाँच सहस्र सैनिकों के स्वामी अम्भी के साथ झेलम की ओर आगे बढ़ा। मार्ग में सिकन्दर ने पोरस के भतीजे स्पिटेसीज (Spitaces) को अभिभूत किया और वितस्ता अथवा झेलम (यूनानी लेखको की Hydaspes) के तट पर पहुँचा।

पुरु की तैयारी

सिकन्दर की सेना—झेलम के दक्षिण-तट पर सिकन्दर ने अपना शिविर स्थापित किया। तट की दूसरी ओर दूर तक पोरस ने अपनी समस्त सेना को एकत्र कर रखा था। पोरस की ओर से इस बात का प्रबन्ध था कि जिस क्षण सिकन्दर नदी को पार करने की चेष्टा करे, उसी क्षण पोरस को समाचार मिल जाय जिससे दूर तक विस्तृत सैन्य बल को शत्रु-प्रतिरोध में लगाया जा सके। पौरव की सेना साधारण एवं अल्प न थी। उसके राज्य के जितने समृद्धिशाली ग्राम थे, उन सभी के चुने हुए उत्साही सैनिक इस राष्ट्रीय सकट का सामना करने के लिए वहाँ उपस्थित थे। झेलम नदी बर्फ के पिघलने के कारण इस समय मई के महीने में बाढ़ पर थी। एरियन से हमें ज्ञात होता है कि ४००० अश्वारोही, ३०० रथ, २०० हस्ती तथा ३०,००० पदाति पोरस की सेना में उस समय थे जब वह अन्तिम बार युद्ध-स्थल में सिकन्दर से लडा। २००० पदाति और १२० रथ उसके पुत्र की सेना में थे जो पहले ही सिकन्दर से युद्ध करने के लिए भेजी गई थी। प्रचुर मात्रा में पोरस ने सेना शिविर में ही छोड रखी थी। इतनी विशाल सेना के सम्मुख सिकन्दर का साहस नही हुआ कि वह नदी पार कर सके। सिकन्दर की सेना अनेक तत्त्वों का सम्मिश्रण थी। उसमें मकदूनिया के दीर्घभालाधारी पदाति, कुशल अश्वारोही, सिकन्दर के साथी (Companions) जो मकदूनिया के अभिजात वर्गीय थे, तथा कुछ भाडे पर सैनिक थे। बेवन (Bevan) ने इन विभिन्न तत्त्वों का वर्णन बड़े सुन्दर ढग से किया है—

'But mingled with the Europeans were men of many nations. Here were troops of horsemen, representing the chivalry of Iran, which had followed Alexander from Bactria and beyond, Pashtus and men of the Hindukush with their highland bred horses, central Asiatics who could ride and shoot at the same time; and among the camp-followers one could find groups representing the older civilizations of the world, Phoenicians inheriting an immemorial tradition of ship-craft and trade, bronze Egyptians, able to confront the Indians with an antiquity still longer than their own.'

वितस्ता का युद्ध सचमुच राष्ट्रों का युद्ध था। जहाँ तक अश्वारोही सेना का प्रश्न है, सिकन्दर की सेना में पोरस की सेना की अपेक्षा निश्चय ही अधिक अश्वारोही थे किन्तु अन्य अग संख्या में पोरस की ओर अधिक थे। परम्परानुसार कहा जाता है कि १२०,००० व्यक्ति सिकन्दर के शिविर में थे किन्तु इस संख्या में भृत्य, व्यापारी, वैज्ञानिक, मकदूनिया के सैनिकों की एशियाई पत्नियाँ और उनकी सन्तानें सम्मिलित हैं। टार्न (Tarn) के अनुसार युद्ध करने वाले सैनिको की सख्या ३५००० थी।

सिकन्दर की कूटनीति—सिकन्दर इसको भली-भाँति समझता था कि पोरस जैसे सावधान और शक्तिशाली शत्रु के सामने नदी को पार करना प्राय: असम्भव था।

अतः जैसा कि एरियन कहता है, सिकन्दर को मार्ग चुराना पड़ा प्रथम, तो उसने अपनी सेना को कई भागों में विभक्त कर दिया जिससे पोरस का ध्यान बँट जाय। सिकन्दर शत्रु को इस प्रकार दिखलाना चाहता था कि वह नदी पार करने के लिए किसी सरल मार्ग के अन्वेषण में था। वह यह भी दिखलाना चाहता था कि शत्रु को इस बात का विश्वास हो जाय कि सिकन्दर नदी उसी समय पार करेगा जब पर्वत तुषार का पिघलना बन्द हो जायगा और जब नदी की उद्दाम-धारा कुछ प्रशान्त होगी। सिकन्दर की इस प्रकार की योजना सफल हुई और शत्रु को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि सिकन्दर रात्रि में नदी नहीं पार करेगा। पोरस की सेना उदासीन हो गई—

"Alexander had thus quieted the suspicions of Porus about his nocturnal attempts." एरियन कहता है कि—"All this prevented Porus from resting and concentrating his preparations at any one point selected in preference to any other as the best for defending the passage."

इतना करने के पश्चात् सिकन्दर ने अपने शिविर से १६ मील ऊपर नदी की ओर एक स्थान चुना जहाँ से नदी को पार किया जाय। नदी का घुमाव कुछ ऐसा था कि जो स्थान सिकन्दर ने चुना था वह पोरस के शिविर से दृष्टिगोचर नहीं होता था। मध्य में एक झाड झखाड़मय द्वीप पड़ता था और नदी का दूसरा तट भ्रमोत्पादक था। इसके अतिरिक्त सिकन्दर के सैनिकों द्वारा उस पार प्रतिदिन रंगरेलियाँ मनाई जाती थीं जिनके कारण पर्याप्त शोरगुल होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि नदी पार करने के लिए जो तैयारियाँ करनी पड़ी उनसे जनित अशान्ति पोरस के सैनिकों के लिए कोई असामान्य घटना न थी—ऐसा तो प्रति रात्रि को हुआ ही करता था। प्रकृति का सहयोग अन्य कारण था जिसने पोरस के सैनिकों को अधिक जागरूक न बनने दिया। प्रभूत वर्षा, बिजली की कड़क तथा झञ्झावात के कारण शस्त्रों की खनखनाहट तथा सैनिकों को दी गई सैनिक-आज्ञाएँ श्रवणगत न हो सकी।

सिकन्दर अपने क्रिया-कलाप में फूँक-फूँक कर पैर रखता था। प्रमुख शिविर में तक्षशिला की सेना तथा क्रेटरस के नेतृत्व में एक विश्वसनीय सेना छोड़ दी गई थी। इन पीछे छोड़े हुए सैनिकों को यह आज्ञा दी गई थी कि वे वहाँ तब तक रहें जब तक नदी की दूसरी ओर हाथी दिखाई पड़े और ज्यों ही हाथी हटाए जायँ वे शीघ्रातिशीघ्र पार करने की चेष्टा करें। द्वीप और प्रमुख शिविर के मध्य में तीन सेनापतियों—मिलीगर (Meleager), एटलस (Attalus) और जार्जियस (Gorgias) के अधीन अर्थाजित अश्वारोही तथा पदाति रखे गए थे। उनको यह आज्ञा थी कि ज्यों ही वे भारतीयों को युद्धरत देखें त्योंही नदी को पार करें।

झेलम पार—इतनी तैयारियों के पश्चात् सिकन्दर लगभग १२००० सेना के साथ पार उतरा। जब वह उतरने से थोड़ी दूर रह गया तब भारतीय प्रहरियों को इस घटना का परिज्ञान हुआ। अब झञ्झावात का शमन हो चुका था। वितस्ता के तट पर प्रकृतिजन्य झञ्झावात समाप्त हो चुका था, मानवजन्य झञ्झावात शेष था। सिकन्दर ने उतर कर अश्वारोहियों का नेतृत्व किया और आगे बढ़ा किन्तु उसका पथ अभी सकट-शून्य नहीं था। उसको अविलम्ब पता चला कि नदी को पूर्णतया पार करना अभी शेष था। बीच में एक नाला था जिसको बड़ी कठिनाई से

सेना ने पार किया। पदातियो के वक्षस्थल तक जल में घुस कर तथा अश्वारोहियों के अश्व को आकण्ठ प्रवेश करा कर इसको पार करने के बाद सिकन्दर के कण्ठ से यह वाक्य प्रस्फुटित हो पडा था—

'O' Athenains, can you believe what dangers I undergo to earn your applause ?"

सिकन्दर ने इसके पश्चात् अपनी सेना को एक क्रम में खडी किया। दक्षिण पार्श्व में अगरक्षक तथा अश्वारोही, उनके आगे वे अश्वारोही जो शर-सन्धान करने वाले थे और उनके पश्चात् पदाति थे। छोर पर धनुर्धारी और भालायुक्त सैनिक खड़े किए गए।

राजकुमार की वीर-गति

झेलम का युद्ध—तत्पश्चात् अपने ५००० द्रुतशाली अश्वारोही सेना के साथ सिकन्दर शीघ्रता से आगे बढा। उसे अपने अप्रतिमवीर अश्वारोहियों के ऊपर पूर्ण विश्वास था और उसे यह भी विश्वास था कि वह उनकी सहायता ही से पोरस की समस्त सेना को पराभूत कर देगा और यदि नही, तो कम से कम इतना तो वह अवश्य कर सकता है कि पदाति सेना के आने तक शत्रु को युद्ध-रत रखे, और यदि उसके अचानक इस पार आने की सूचना पर शत्रु ने पलायन किया तो वह शत्रु की पर्याप्त क्षति कर सकेगा। किन्तु पौरव कायर नही था। नदी पार करने का समाचार पाते ही उसने शत्रु से पूर्ण रूपेण स्थल पर आने के पूर्व ही मुठभेड करने की चेष्टा की और उसने तुरन्त अपने पुत्र के नेतृत्व में २००० अश्वारोही तथा १२० रथ भेजे। किन्तु उसके पहुँचने के पूर्व ही सिकन्दर नाले को भी पार कर चुका था। सघर्ष में पौरव-पुत्र की पराजय निश्चित थी। ४०० भारतीय धराशायी हुए। इनमें राजकुमार भी सम्मिलित था। वर्षा से अभिषिक्त भूमि पर रथ अधिक कार्य न कर सके। यह समाचार जब पोरस को मिला कि सिकन्दर ने स्वय नदी पार कर ली तो क्षण मात्र के लिए पोरस को चिन्ता हुई कि क्रेटरस और सिकन्दर दोनों को किस प्रकार रोके। किन्तु शीघ्र ही उसने निर्णय किया कि कुछ हाथियो को क्रेटरस का प्रतिरोध करने के लिए छोड दिया जाय शेष के सहित सिकन्दर की ओर प्रस्थान किया जाय। पोरस को अपने हाथियो पर पूर्ण भरोसा था। अत उसने हाथियो को सब से आगे रखा था। उसके पीछे पदाति-सैन्य था। दोनो ओर अश्वारोही थे जिनके आगे रथ स्थित थे। सिकन्दर ने इस व्यूह को देख कर पदाति की प्रतीक्षा की और इसी समय यह सोचता रहा कि वह अपने अश्वारोही दल का पूर्ण लाभ उठावे, साथ ही युद्ध इस प्रकार से करे कि पोरस की जो आशा अपने हाथियो और अपने पदाति से थी वह पूरी न होने पावे। अश्वदल के साथ वह दक्षिण पार्श्व में खडा हुआ और कोनोस को दो टुकडियो के सहित वाम-पार्श्व की ओर खडा किया। उसकी योजना थी कि वह शत्रु के वाम पार्श्व पर आक्रमण करेगा, और जब वामपार्श्व की रक्षा के लिए दक्षिण पार्श्व का अश्वदल आएगा तो कोनोस पृष्ठभाग से टूट पड़ेगा। सेल्यूकस मुख्य दल के सहित तब तक युद्ध में भाग नही लेगा जब तक भारतीय अश्वदल तथा पदाति अस्त-व्यस्त न कर दिए जायें। सग्राम की गति, पग-पग पर सिकन्दर की योजना को सफल बना रही थी। सिकन्दर ने जैसी गणना की थी वैसा ही हुआ। भारतीय अश्वदल को दो मोर्चों पर लड़ना पड़ा सिकन्दर तथा कोनोस दोनों से। उनकी पक्ति नष्ट हो गई। उसी समय सिकन्दर ने घोर आक्रमण किया। अश्वदल

को विवश होकर हाथियों के पीछे शरण लेना पड़ा। अब हाथी आगे थे। उधर सेल्यूकस ने आक्रमण किया। पहले तो इन विशालकाय जीवों ने शत्रु के पक्ष में कुहराम मचा दिया और अपने पक्ष के अश्वदल को सँभलने का एक स्वर्ण अवसर प्रदान किया, किन्तु सिकन्दर के शीघ्र पुनराक्रमण ने पुनः अश्वदल की पंक्ति को नष्ट कर दिया। इस बार संघर्ष और अधिक सीमित स्थान में हुआ और हाथी व्रणों से व्याकुल होकर मित्र और शत्रु को समानरूप से हानि पहुँचाने लगे। यूनानी सेना अधिक खुले स्थान में थी और हाथियों के आक्रमण पर स्थान छोड़ देती थी। पीछे घूमने पर ये ही आक्रामक विशाल द्विप उनके शर का लक्ष्य बनते, अन्ततोगत्वा अधिकांश हाथी मारे गए और परिश्रम एवं व्रण से जर्जरित अवशिष्ट हाथी व्यर्थ हो गए। अन्तिम बार सिकन्दर ने अश्वारोही और पदाति को आक्रमण करने की आज्ञा दी। विजय-श्री ने सिकन्दर का वरण किया। इस समय तक यूनानी सेना उस पार से भी आ गई थी और उसने शत्रुपक्ष को प्रभूत क्षति पहुँचाई।

ग्रीक वर्णनों से तो ऐसा आभास मिलता है कि भारतीय क्षति के सम्मुख शत्रु-क्षति उसी प्रकार थी जिस प्रकार समुद्र के सम्मुख एक जलबिन्दु किन्तु बाद की घटनाओं से पता चलता है कि वस्तुस्थिति कुछ इससे विपरीत थी। इसमें तो किञ्चित्मात्र भी सन्देह नहीं कि भारतीयों की क्षति प्रचुर मात्रा में हुई। किन्तु शत्रु-हानि भी उनकी संख्या के अनुसार कम नहीं हुई और उन्हें झेलम के तट पर भारतीय वीरता का प्रमाण मिल गया था। वितस्ता-तट के संग्राम के पश्चात् सिकन्दर के जिन सेनापतियों ने उसके अग्रसर होने का खुलकर विरोध किया उनके नेत्रों के सामने अवश्य ही भारतीय हाथियों द्वारा रौंदी जाती हुई अपनी सेना का दृश्य नाचता रहा होगा और वर्षों पश्चात् जिस सेल्यूकस ने केवल ५०० हाथियों के बदले प्रान्त के प्रान्त (एरियाना अराकोशिया, पौरिपेनिसदाई) देने को प्रस्तुत हो गया था, उसने इन हाथियों की करामात इसी झेलम के युद्ध में देखी थी।

पुरु की पराजय—पुरु से मैत्री—एक विशालकाय हाथी पर आसीन पोरस युद्ध के अन्तिम क्षण तक 'संग्रामेष्वनिवर्तत्व' का पालन करता रहा। दक्षिण हस्त के आहत होने पर वह युद्धस्थल को छोड़ रहा था, किन्तु सिकन्दर ने उसकी वीरता की सराहना की थी और उसकी इच्छा थी कि इस वीर का जीवन नष्ट न हो। उसने अम्भी को भेजा। इस प्राचीन शत्रु को देखकर पोरस की भुजा एक बार फड़क उठी और बिना कुछ सुने उसने प्रहार किया। गुणग्राही सिकन्दर इस पर भी क्रुद्ध न हुआ और उसने दूसरे दूतों को भेजा। अन्त में उसने सिकन्दर का सन्देश सुना। प्यास और श्रम से क्लेशित पोरस हाथी से उतरा और एक घूँट जल पीने के पश्चात् सिकन्दर के सामने लाया गया। सिकन्दर ने पोरस के व्यक्तित्व की प्रशंसा की। ग्रीको-रोमन लेखक बतलाते हैं कि जिस साहस और विश्वास के साथ पोरस उपस्थित हुआ उससे सिकन्दर आश्चर्याभिभूत हो गया। सिकन्दर ने पोरस से पूछा कि वह किस प्रकार के व्यवहार की आशा करता था। अदम्य साहस और निःसंकोच के साथ पोरस ने उत्तर दिया 'नृपोचित व्यवहार की।" और दूसरी बार पुनः पूछे जाने पर पोरस ने निःशंक कहा कि उसे जो कुछ कहना था, उसने सब कुछ उसी एक वाक्य में कह दिया। इस निर्भीकतापूर्वक उत्तर से सन्तुष्ट होकर सिकन्दर ने न केवल उसको उसका राज्य प्रत्यावर्तित कर दिया वरन् उसे और भी आस-पास के राज्यों का स्वामी बना दिया। इस प्रकार तक्षशिला-नरेश का प्रबल प्रतिद्वन्दी वह बना ही रहा। सिकन्दर की इसमें कदाचित् यही नीति थी कि वे दोनों एक दूसरे को अनुचित कार्य करने से सदैव रोकेंगे। आखिर सिकन्दर भी एक प्रबल कूटनीतिज्ञ था। यह युद्ध सम्भवतः

ई० पू० ३२६ के मई मास में हुआ यद्यपि यह तिथि निश्चित नहीं है। सिकन्दर ने देवों को बलि प्रदान किया और निकाइ (Nikaia) तथा बुकेफेला (Boucephela) नामक दो नगरों की स्थापना की। उसकी यह हार्दिक इच्छा थी कि उसका सुदूर विस्तृत साम्राज्य इन्हीं नगरों के माध्यम से एक सूत्र में आबद्ध रहे। क्रेटरस को दुर्ग बनाने तथा इन नगरों के नवनिर्माण के लिए कुछ सेना के साथ छोड़ दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि सिकन्दर ने इस महत्वपूर्ण संग्राम की स्मृति में एक प्रकार की मुद्रा का प्रचलन किया जिस पर पोरस के हाथी का पीछा करते हुए उसको उछलते हुए अश्व पर प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार की दो मुद्राएँ प्राप्त हुई है।

ग्लौन निकाइ : निकेनोर की हत्या—चिनाब के पश्चिमी तट पर स्थित ग्लौगनिकाइ (ग्लौचुकायन) को, जो लोग स्वतन्त्र थे तथा जो ३७ नगरों में निवास करते थे, पराजित कर सिकन्दर ने पौरस के अधीन कर दिया। इस स्थान से अम्भी को अपनी राजधानी प्रत्यावर्तित कर दिया गया। अभिसार के राजा ने अपने भ्राता को बहुमूल्य उपहारों के सहित सिकन्दर के पास भेजा, किन्तु सिकन्दर ने उसको स्वयं आने की आज्ञा भेजी। यहीं पर पार्थिया का क्षत्रप फ्रेटफर्नीज (Phratapharnes) थ्रेस की सेना के साथ सिकन्दर से मिला। इसी समय आर्नों के शशिगुप्त ने यह सन्देश भेजा कि अस्सकेनोइ लोगों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और गवर्नर निकेनार को मार डाला। टिरिस्पेज (Tyrispes) और फिलिप को विद्रोह दमन का आदेश मिला। यह सिकन्दर को प्रथम सूचना थी कि उसका साम्राज्य इतना विस्तृत हो रहा था कि उसका शासन असम्भव सा प्रतीत होने लगा। चिनाब पार करने में भी सिकन्दर को पर्याप्त क्षति उठानी पड़ी। कहा जाता है कि चिनाब का द्वितीय भारतीय नाम 'चन्द्रभागा' (Alexandrophagus—सिकन्दर का भक्षक) यूनानियों को बड़ा अशुभ और अमंगलदायक प्रतीत हुआ। इसी हेतु सिकन्दर ने कोनोस को पीछे छोड़ दिया और पौरव को नवीन सैन्य लेने उसकी राजधानी भेजा। सिकन्दर रावी (Hydraotes) की ओर बढ़ा जो चिनाब से कम चौड़ी न थी किन्तु गति की तीव्रता में अवश्य उससे कम थी। सिकन्दर ने हिफेशन (Hephaestion) को भेजा कि वह एक अन्य पौरव तथा अन्य स्वतन्त्र कबीलों के राज्यों को पौरव महान् के राज्य में मिला दे।

कठ—रावी को पार करने के पश्चात् सिकन्दर की मुठभेड़ कठों से हुई जो प्रसिद्ध योद्धा थे और जिन्होंने अपनी राजधानी सगल की रक्षा के हेतु अनेक मित्रों की सहायता प्राप्त कर ली थी। अधृष्ट लोगों (Adraistai), जायसवाल के अनुसार, अरिष्ट) ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली थी किन्तु कठों ने नीति और वीरता से सिकन्दर का जम कर सामना किया, यहाँ तक की सिकन्दर के अश्वारोही वहाँ पर निष्फल से होने लगे। सिकन्दर ने अन्त में पदाति सेना की सहायता से बड़ी कठिनाई एवं घोर संग्राम के पश्चात् भारतीयों को नगर की दीवालों में शरण लेने के लिए विवश किया। इसी समय पोरस भी ५००० भारतीय सैन्य तथा अनेक हाथियों के साथ आ पहुँचा। सिकन्दर ने नगर को घेर लिया। रात्रि में कठों ने एक झील के द्वारा भागने का निश्चय किया। सिकन्दर को परिज्ञात हो गया और उसने छापा मार कर बहुतों को मौत के घाट उतार दिया। नगर धराशायी कर दिया गया। कठों के ऊपर विजय सिकन्दर को बहुत महँगी पड़ी क्योंकि ग्रीक लेखकों के वर्णनों से भी यह ज्ञात होता है कि इस युद्ध में असामान्य रूप से यूनानी

काल के गाल में समाविष्ट हुए और आहत हुए।

नन्द-साम्राज्य

वापस लौटने की मांग—व्यास (Hyphasis) के तट पर पहुँचने पर सिकन्दर से भगल (यह नाम पाणिनि में आता है) नामक एक सर्दार ने नन्द-साम्राज्य की सीमा और विस्तार का वर्णन किया जिसका समर्थन पोरस ने भी किया। ऐसा समाचार मिला था कि व्यास के उस पार एक अत्यन्त उर्वरा भूमि वाला राज्य था जहाँ पर उत्कृष्ट शासन-प्रणाली थी और जहाँ समृद्धिशाली वीर कृषक निवास करते थे। नन्द-साम्राज्य के वर्णन ने सिकन्दर की इच्छा और अभिलाषा को और भी जागृत किया किन्तु उसकी सेनाओ का, विशेषत मकदूनिया की सेना का, दिल दहल गया—उनके सम्मुख वे सभी आपत्तियाँ साकार हो उठी जिनको उन्हें भारत-प्रवेश के पश्चात् उठानी पडी थी। इसके अतिरिक्त उन्हें घर छोड़े कई वर्ष हो गए थे। सिकन्दर ने पदाधिकारियों की एक सभा का आह्वान किया और अनेक प्रकार के प्रलोभनो को दे कर उनके सुषुप्त उत्साह एव अभिलाषा को जागृत करने का भगीरथ प्रयत्न किया, किन्तु सब व्यर्थ। सभा में शान्ति छाई रही। अन्त में कोनोस ने सभी का प्रतिनिधित्व करते हुए सिकन्दर को समझाया कि बहुत से मकदूनिया के निवासी नवीन नगरो मे छोड दिए गए थे। बहुत से युद्ध में समाप्त हो गए थे। बहुत से रोग ग्रस्त हो कर इस ससार से चल बसे थे तथा जो अवशिष्ट थे उनके हृदय में अपने पुत्र, भार्या पिता, माता, अपने गृह और अपनी मातृभूमि को देखने की उद्दाम लालसा थी। अन्त मे कोनोस ने स्पष्ट कहने का साहस किया—

"Seek not, to lead them against their inclination, for you will not find them the same men in the face of dangers, if they enter without heart into their contests with the enemy."

कोनोस ने यहाँ तक कहा कि प्रथमत सिकन्दर मातृभूमि लौट चले और यदि इच्छा हो तो पुन आए। कोनोस के इस लम्बे भाषण का समर्थन सारी सेना ने किया। सिकन्दर अपनी सेना की इस साहसहीनता पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और आवेश में आ कर उसने अपने सैनिको से कहा कि वह तो आगे बढ़ेगा, जिसकी इच्छा हो चले और जिसकी इच्छा न हो वह लौट जाय और जा कर अपने मित्रो से कह दे कि वह अपने राजा को शत्रुओ के बीच छोड आया है। सिकन्दर पूरे तीन दिनों तक अपने शिविर मे बन्द रहा, किन्तु सैनिको ने अपना विचार न छोडा। सिकन्दर को स्पष्ट हो गया कि झेलम और सगल के युद्धों के पश्चात् उसके सैनिको का दिल हार गया था और वे अब किसी भी प्रकार आगे नही बढ सकते थे। अन्त मे विवश हो कर सिकन्दर को प्रत्यावर्तन की घोषणा करनी पडी। सेना ने इस घोषणा का स्वागत प्रसन्नता के अश्रुओ से किया।

प्रत्यावर्तन—व्यास के पश्चिम का भाग पोरस के अधीन किया गया था। जब सिकन्दर चिनाव पर तैयारियाँ कर रहा था तब अभिसार-नरेश ने एक दूत भेजा। वह स्वय अस्वस्थ था, जैसा कि सिकन्दर के सेनापतियो ने भी बतलाया। अभिसार-नरेश को अपने राज्य का स्वामी बना दिया गया। चिनाव पार करके सिकन्दर झेलम पर लौटा। कठों के पास ही कही सौभूति नामक नरेश का राज्य था जिसके सिकन्दर से नाटकीय साक्षात्कार का वर्णन कर्टिअस ने किया है। वहाँ के शिकारी कुत्तों ने विदेशियों को अत्यन्त प्रभावित किया। झेलम के तट पर सिकन्दर ने बहुत सी नौकाओ का निर्माण करवाया। अन्त में ८०० नौकाएँ हो गई। इसी समय कोनोस बीमार पड़ा

और मर गया। ई० पू० ३२६ के नवम्बर मास मे यहाँ प्रत्यावर्तन प्रारम्भ हुआ। सेना तीन भागो मे होकर लौटी। जल-सेना का नेतत्व नियार्कस (Nearchus) कर रहा था। सिकन्दर की सेना ने जब प्रस्थान किया तो वहाँ के निवासी बडे कुतूहल से इस दृश्य को देख रहे थे।

तृतीय दिवस सिकन्दर एक स्थान पर रुका जहाँ क्रेटरस और हिफेशन ने अपना शिविर स्थापित किया था। दो दिनो मे फिलिप भी वहीं आ गया। उधर मल्लाई और ओकसीड्रेकाइ (मालव और क्षुद्रक) आक्रान्ता का रणस्थल मे स्वागत करने के लिए तैयारियाँ कर रहे थे। सिकन्दर उन पर परस्पर सयुक्त होने से पूर्व आक्रमण कर देना चाहता था। प्रारम्भ करने के पाँचवे दिन सिकन्दर झेलम और चिनाव के सगम पर पहुँचा। यहाँ पर दोनो नदियो के जल ने भीषण रूप धारण किया था। आवर्त उत्पन्न हो रहे थे जिनसे नौकाओ की कुछ हानि भी हुई। दो तो जल-गर्भ में प्रविष्ट हो गई। किन्तु शीघ्र ही वेग शान्त हो गया और नौकाएँ धारा से दूर पर पहुँचाई गई। नियार्कस को मालवो की सीमा पर पहुँचने का आदेश मिला।

अग्रश्रेणी—सिकन्दर के पहुँचने पर शिबि (Siboi) लोगो ने आत्म-समर्पण कर दिया। किन्तु अलगस्सोइ (अग्रश्रेणी) लोगों ने ४०००० पदाति तथा ३००० अश्व-दल के साथ जमकर सिकन्दर का मोर्चा किया। युद्ध मे कई मकदूनिया के सैनिक चल बसे। इसने सिकन्दर के क्रोध मे आहुति का कार्य किया। उसने नगर मे आग लगवा दी और बहुतो की हत्या करवा दी। बहुत को दास बना लिया। केवल ३००० व्यक्ति जिन्होने सन्धि की इच्छा दिखलाई अवशिष्ट रहे। अब मालवो और क्षुद्रको की बारी थी। सिकन्दर की योजना थी कि सर्वप्रथम वह इन शत्रुओ पर आक्रमण करता तथा हेफशन जो कि पहले ही आगे पहुँच गया था और टालेमी जो कि बाद मे आता दोनो शत्रु को किसी भी दिशा मे पलायन करने से रोकने, नियार्कस जल-सैन्य को चिनाब तथा रावी से सगम पर ले जाता जहाँ आक्रमण के अन्त मे सभी सेनाएँ एकत्र होती।

मालव और क्षुद्रक : अम्बष्ठ क्षत्रप और बसाति—सिकन्दर ने ५० मील जल-रहित मरुभूमि के बाद मालवो के नगर पर अचानक आक्रमण किया। मालवगण अचम्भित रह गए। नि.शस्त्र लोग निर्दयतापूर्वक तलवार के घाट उतार दिए गए। अवशिष्ट को नगर मे घेर लिया गया। पडिक्कस को आगे का नगर घेरने के लिए भेजा गया किन्तु वहाँ पहुँचने पर उसने देखा कि लोग नगर को रिक्त करके भाग रहे थे। उसने पीछा किया और कुछ को समाप्त किया किन्तु अधिकाश भाग गए। इसी समय सिकन्दर भी वहीं आ गया और उसने रावी पार करते समय अनेक मालवो के प्राण लिए। अब एक ब्राह्मणों के नगर पर आक्रमण करना था जहाँ पर अनेक मालवो ने शरण ली थी। यहाँ पर घनघोर सग्राम हुआ। इसमें भी सिकन्दर विजयी हुआ। सिकन्दर ने सुना कि मालवो ने पुन· रावी को पार कर लिया है और वे उसके मार्ग को अवरुद्ध करेंगे। एरियन से ज्ञात होता है कि लगभग ५०,००० सैनिक रावी के दक्षिण तट पर एकत्र हुए थे। सिकन्दर अपने अल्प सैन्य के साथ धारा मे कूद पडा। मालवो को उसकी सेना की कमजोरी का परिज्ञान न था। उन्होने नदी तट छोड़ दिया। बाद में जब उन्हे ज्ञात हुआ कि सिकन्दर की सेना अत्यन्त अल्प थी तो उन्होने युद्ध किया किन्तु सिकन्दर ने उनको साधारण आक्रमणों से तब तक फँसाए रखा, जब तक कि उसकी पदाति सेना न आ गई। मालवों ने समीप के दुर्ग में शरण ली। दूसरे दिवस सिकन्दर का आक्रमण सफल रहा। किन्तु दीवाल पार करते समय सिकन्दर मालवो की बाण-

वर्षा से आहत हो गया। पडिक्कस ने जब बाण को शरीर से निकाला तो सिकन्दर के शरीर में प्रभूत रक्त के निकल जाने से वह मूच्छित हो गया। इस दृश्य को देख कर यूनानी उन्मत्त से हो गए। और अन्त में जब दुर्ग पर अधिकार हुआ तो आबाल, नर और नारी मार डाले गए। सिकन्दर के व्रण के अच्छा हो जाने पर एक बार ऐसी वार्ता उड़ी कि वह मृत्यु को प्राप्त हो गया। अन्त में उसने स्वय अश्व पर आरूढ हो कर अपने को दिखलाया, तब सैनिको के जान में जान आई। क्षुद्रक मालवों से नही मिल पाए। अब उन्होंने विशाल व्यक्तित्व वाले एक सौ रथारूढ़ दूतो को सन्धि के लिए भेजा। मालव और क्षुद्रक अभिभूत तो किए गए किन्तु सिकन्दर के सैनिकों को लोहे के चने चबाने पड़े। कदाचित् मालव शल्य द्वारा किया गया गम्भीर व्रण अप्रत्यक्षरूपेण सिकन्दर की मृत्यु का एक कारण था। पजाब के ब्राह्मणो तथा मालव नगरों ने जो विरोध किया वह इस बात का सूचक था कि सिकन्दर का अभीप्सित साम्राज्य भारत पर नहीं जम सकता था। प्रत्यावर्तन मार्ग पर अम्बष्ठ (Abastamoi), क्षत्रप (Xathaoi) तथा वसाति (ossadioi) लोगों ने अधीनता स्वीकार की। फिलिप जिस भाग का क्षत्रप नियुक्त किया गया था, उसकी दक्षिणी सीमा पर सिन्ध और चिनाव का सगम था। वहाँ पर एक नगर की स्थापना की गई।

सिन्ध के राज्य—सिन्ध नदी के निम्न भाग में जितने राज्य थे वे गणराज्य न थे। उन पर ब्राह्मणो का असाधारण प्रभाव था। इस भाग का प्रसिद्ध शासक मुसिकेनस (Musecanus) था, जैसा कि ग्रीक लेखको से ज्ञात होता है। उसने सिकन्दर के पहुँचने पर अधीनता स्वीकार कर ली। ओक्सीकेनस तथा सैम्बस (Sambus, शम्भुर) भी अधीनस्थ हुए। किन्तु इस प्रान्त मे सिकन्दर के प्रबल प्रतिरोधी ब्राह्मण ही थे। पतञ्जलि भी ब्राह्मणक नामक जनपद का निर्देश करते है। (ब्राह्मण को नाम जनपदः)। राष्ट्रीय विपत्ति के समय ब्राह्मणो ने अपना कर्त्तव्य समझा कि वे लोगो को इस विदेशी आक्रान्ता के विरुद्ध भडकाएँ। अत मे उनके एक नगर पर धावा बोला गया और इसके समस्त निवासी मार डाले गए। उसी समय मुसिकेनस ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। पीथान (Peithon) ने दमन किया और मुसिकेनस अपने साथियो के साथ मार डाला गया। अन्त मे पाटल नरेश का राज्य आया। यदि यहाँ पर दो शासक थे तो ऐसा प्रतीत होता है कि एक तो सिकन्दर से सन्धि-वार्ता के लिए गया था और दूसरा युद्ध की तैयारी कर रहा था, क्योकि सिकन्दर ई० पू० ३२५ के जुलाई मास में यहाँ पहुँचा तो उसने नगर को रिक्त पाया। अन्त मे भागे हुए लोग समझा बुझाकर लौटाए गए।

सिकन्दर ने अपनी गृह-यात्रा दक्षिणी जड्रोशिया (मकरान) से होकर की। मार्ग में सिकन्दर को अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा। कहा जाता है कि केप मलान में समाप्त होने वाली पर्वत श्रेणी के कारण सिकन्दर को मार्ग परिवर्तित करना पडा और यह मार्ग और भी यातना-पूर्ण था। एरियन बतलाता है—"The blazing heat and the want of water destroyed a great part of the army and specially the beasts of burden, which perished from the great depth of the sand, and the heat which scorched like fire while a great many died of thirst.'

फिलिप की हत्या : सिकन्दर की मृत्यु—अन्त में जेड्रोशिया की राजधानी पुरा (Pura) पहुँचने पर सैनिकों ने विश्राम पाया। सिकन्दर जब कर्मानिया पहुँच रहा था तो उसे समाचार मिला कि क्षत्रप फिलिप की हत्या कर दी गई। उस समय वह इससे अधिक और कुछ न कर सका कि अम्भी और यूडेमस (Eude-

mus) जो कि क्रोस निवासी एक सेनापति था, को कार्य-भार सँभालने का आदेश दे दें। इसी समय क्रेटरस अपनी सैन्य-शाखा तथा हाथियों के सहित आ मिला। नियार्कस ने बतलाया कि चार नौकाएँ मार्ग में नष्ट हो गई। सम्पूर्ण सेना के सहित सिकन्दर ३२४ ई० पू० सूसा पहुँचा। ३२३ ई० पू० में बैबीलोनिया में सिकन्दर की अचानक मृत्यु हो गई और उसकी विश्व साम्राज्य की कल्पना कार्य-रूप में परिणत न हो पाई। मानव-योजना कितने शिथिल आधार पर स्थित रहती है।

सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव

विजित प्रदेशों का संगठन—सिकन्दर के आक्रमण के प्रभाव के सम्बन्ध में इतिहासकारों में अनेक भ्रमात्मक धारणाएँ बन गई हैं। कुछ लोग तो इसको आवश्यकता से अधिक महत्व प्रदान करते हैं और कुछ किञ्चित्मात्र भी महत्व नहीं देते। ये दोनों दृष्टिकोण अतिवादी हैं—सत्यता इन दोनो के मध्य में प्रतीत होती है। जिस प्रकार स्थान-स्थान पर सिकन्दर ने नगरो, तथा उपनिवेशों की स्थापना की थी उससे यही स्पष्ट होता है कि सिकन्दर अपनी भारतीय विजयो को अपने विश्व-साम्राज्य में समाविष्ट करना चाहता था। एरियन से ज्ञात होता है कि जिन प्रान्तों के ऊपर सिकन्दर ने आधिपत्य स्थापित किया था उनको सिकन्दर ने पाँच भागों में विभक्त किया था। प्रथम पैरोपेनिसडाइ था, द्वितीय अम्भी का राज्य तथा काबुल की निम्न घाटी का प्रदेश था जिसका क्षत्रप फिलिप था और तृतीय पौरव का विस्तृत राज्य था। चतुर्थ पश्चिम मे हब नदी तक विस्तृत सिन्धु की घाटी का राज्य था जिसका क्षत्रप पैथान था और अंतिम काश्मीर स्थित अभिसार का राज्य था। सिकन्दर ने अपने जीवन-काल में ही इन विजित प्रदेशों पर अधिकार बनाए रखना कठिन समझा था। उसकी असामयिक मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य का जो विभाजन हुआ उससे स्पष्ट होता है कि उसके सेनापतियों में यह योग्यता न थी कि वे इन समस्त विजित प्रदेशो को एक सूत्र में पिरोए रख सकें। सिकन्दर द्वारा स्थापित नगरो और उपनिवेशों से यूनानी सैनिकों ने अवसर पाते ही प्रस्थान कर दिया। यूडेमस भी जो उनका भारत में नेता था ३१७ ई० पू० तक भारतीय रंगमञ्च से अदृष्ट हो गया। जब कुछ वर्षों पश्चात् हाथियो के बदले सिल्यूकस ने सुदूरवर्ती प्रान्तों (एरिया, अराकोशिया, जेड्रोशिया, पेरोपनिसडाई) को चन्द्रगुप्त को प्रदान कर दिया तो इस नाटक का पटाक्षेप हो जाता है।

किन्तु सिकन्दर का आक्रमण नितान्त महत्वशून्य नही था—

"But the invasion itself, though it lasted less than two years, was too great an occurrence to leave things as they were."

लघु राज्यों का विलय—सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत का समस्त पश्चिमोत्तर प्रदेश अनेकानेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। इनमें से कुछ तो अपनी स्वतन्त्रता को अपने प्राणो से भी अधिक मूल्यवान् समझते थे। परन्तु सिकन्दर के आक्रमण ने इन राज्यो की शक्ति विचूर्ण कर दी। परिणामतः इस प्रदेश में सर्व-प्रथम राजनीतिक एकता के उदय का सूत्रपात हुआ। इससे चन्द्रगुप्त मौर्य का कार्य काफी सरल हो गया था—

चंद्रगुप्त मौर्य का कार्य सुगम—'It left the warrior tribes of the Indian river system weakened and broken thus paving the way for the easy extension of Mauryan rule. It demonstrated the

need for wiser political policy on the part of the Indian ruler.'

उपर्युक्त तथ्य को सूचित करते हुए डा० राय चौधरी कहते है कि जिस प्रकार उग्रसेन-महापद्म ने पूर्वी भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य का मार्ग प्रशस्त किया था उसी प्रकार सिकन्दर ने पश्चिमोत्तर प्रदेश में।[1]

व्यापारिक मार्ग—सिकन्दर के आक्रमण ने भारत और पश्चिमी देशों के बीच जलीय और स्थलीय मार्ग खोल दिये। इनके द्वारा दोनों पक्षों में व्यापारिक एव सास्कृतिक आदान-प्रदान की सुविधायें बढ़ी। पश्चिमोत्तर प्रदेश में प्राप्त बैबीलोनिया की प्राचीन मुद्रायें व्यापारिक सम्बन्ध की प्रमाण है। स्ट्रैबो का कथन है कि कैस्पिअन सागर और काला सागर के मार्ग से योरप को भारतीय माल भेजने की एक महत्वपूर्ण शृखला में आमू सरिता एक कड़ी के समान थी। यह मार्ग ई० पू० तीसरी शताब्दी तक चलता रहा।

यूनानी उपनिवेश—सिकन्दर ने अपने मार्ग में अनेक यूनानी उपनिवेश—मिस्र में सिकन्दरिया, बैक्ट्रिया, निकाय, हिन्दूकुश में सिकन्दरिया—स्थापित किए थे। ये व्यापारिक एव सास्कृतिक कड़ियाँ होने के साथ ही साथ यूनानियों की सैनिक छावनियाँ भी थी। कालान्तर में बैक्ट्रिया के यूनानियों ने भारत-विजय की और भारतवर्ष में अपने साम्राज्य की स्थापना की।

सांस्कृतिक प्रभाव—अभी तक यूनानी अपने अतिरिक्त ससार की अन्य जातियों को सास्कृतिक दृष्टि से हीन समझते थे। परन्तु भारतीय ब्राह्मणों, दार्शनिकों और श्रमणों के सिद्धान्तों को जान कर उनकी आँखें खुली। इस भावना-परिवर्तन ने दोनों देशों में परस्पर-जिज्ञासा उत्पन्न की।

सिकन्दर अपने साथ सैनिकों और सेनापतियों के साथ-साथ विद्वान् और लेखक भी लाया था। इन्होंने भारतवर्ष में प्राप्त अपने अनुभवों को लेखबद्ध किया। इनके लेखों ने सर्वप्रथम ससार को प्राचीन भारत के विषय में वस्तुस्थिति का थोड़ा-बहुत ज्ञान कराया।

'Not a few of Alexander's officers and companions were men of high attainments in literature and science, and some of their number composed memoirs of his wars, in the course of which they recorded the impressions of India and the races by which they found it inhabited'—Mccridle

इस आक्रमण के पूर्व पाश्चात्य निवासियों को भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति के विषय में नितान्त भ्रामक धारणायें थी। सिकन्दर के आक्रमण ने इन्हें बहुत-कुछ दूर किया। यद्यपि सिकन्दर को कोलम्बस और वास्कोडिगामा की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता तथापि सिन्धु नदी को नाव्य बना कर तथा अपने पदाधिकारी नियार्कस द्वारा मकरान और फारस की खाड़ी की परिक्रमा करवा कर उसने ससार के भौगोलिक ज्ञान को अवश्य बढ़ाया।

मुद्रा—मुद्रा-निर्माण-कला में भारतीयों ने यूनानियों से अवश्य सीखा। अभी

१ If Ugrasena Mahapadma was the precursor of Chandragupta Maurya in the east, Alexander was the precursor of that Emperor in the north-west.

तक भारत की मुद्रायें बेडौल, असुन्दर और लेख-विहीन होती थी। परन्तु यूनानी प्रभाव के अन्तर्गत बनी सौभूमि की मुद्रायें नितान्त नई परम्परा की सूचना देती हैं।

परन्तु फिर भी यह स्वीकार करना पडेगा कि सिकन्दर का आक्रमण अधिक प्रभावशाली न था। थोडे दिनों म ही लोग इसे भूल गये। भारतीय साहित्य में इसका नामोल्लेख तक नही है।

२१

मौर्य-साम्राज्य—चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार

मौर्य-साम्राज्य की स्थापना का महत्व—भारतीय इतिहास में मौर्य-साम्राज्य का विशेष महत्व है। इसकी स्थापना के साथ ही हम 'इतिहास' की सुदृढ धरा पर अवतरित होते हैं। इसके पूर्व किसी निश्चित तिथि के अभाव मे भारतीय इतिहास का ज्ञान बहुत कुछ अस्पष्ट रहा है। परन्तु मौर्यों के शासन-काल से उसमें अपेक्षाकृत एक निश्चित तिथि-क्रम (Chronological Order) का प्रारम्भ होता है। देशीय एव विदेशीय साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों ने प्रथम मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण की जिन-जिन विभिन्न तिथियो का प्रतिपादन किया है वे सभी सत्य के निकट कही जा सकती है। अत चन्द्रगुप्त मौर्य के सिंहासनारोहण की तिथि भारतीय इतिहास के काल-क्रम मे एक ज्योतिर्मय स्तम्भ है। पुन, मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत भारत ने विदेशीय राज्यो के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध (Diplomatic Relations) स्थापित किए। परिणामत भारतीय इतिहास की घटनाओं का काल-क्रम अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ के आधार पर भी निर्धारित किया जा सकता है। यही नही, मौर्य साम्राज्य का एक और महत्व है। राजनीतिक एकीकरण का जो कार्य हर्यकवशीय नरेशो ने प्रारम्भ किया था उसे मौर्यों ने पूर्ण किया। इनके समय मे भारतवर्ष का अधिकाश भाग एक सुदृढ राजनीतिक सूत्र मे बँध गया। इस एकच्छत्र एकता के कारण हमारा इतिहास वास्तविक अर्थ मे भारतीय हो गया।

चन्द्रगुप्त मौर्य—मौर्य साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त था। यूनानी लेखो मे इसके नाम के भिन्न-भिन्न रूपान्तर मिलते है। स्ट्रैबो, एरियन और जस्टिन इसे सैण्ड्रोकोटस (Sandrocottus) के नाम से पुकारते हैं। एपियन और प्लटार्क इसे ऐण्ड्रोकोटस (Androcottus) कहते है। फिलार्कस के लिए यह सैण्ड्रोकोप्टस (Sandrokoptos) है। सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स ने सन् १७९३ मे इन नामो का समीकरण भारतीय साहित्य मे उल्लिखित चन्द्रगुप्त (मौर्य) के साथ किया। यह गवेषणा भारतीय इतिहास मे अति महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। यूनानियों का सैन्ड्रोकोप्टस (अथवा उसको दूसरे रूपान्तर) चन्द्रगुप्त ही है, यह समझ लेने के पश्चात् यूनानियो के तत्कालीन एव तत्सम्बन्धी अन्य उल्लेखों को समझना सरल हो गया। यदि हम भारतीय साहित्य का अवलोकन करे तो उसमें भी चन्द्रगुप्त को भिन्न-भिन्न नामो से सम्बोधित किया गया है। इस विषय पर सर्वप्रथम उल्लेखनीय है विशाख दत्तकृत मुद्राराक्षस नाटक। इसमे चन्द्रगुप्त के लिए चन्दसिरि (चन्द्रश्री), पियदसण (प्रियदर्शन) और वृषल अथवा वृषभ शब्दो का प्रयोग मिलता है। चन्दसिरि के विषय मे कोई महत्वपूर्ण बात नही है। इसमें विशेषता यही है कि आदरसूचक 'श्री'

नाम के पूर्व मे न लग कर उसके बाद लगा हुआ है। 'श्री' शब्द का इस रूप में प्रयोग अन्यत्र भी दृष्टिगत होता है। पुराणों मे यज्ञ-श्री और अभिलेखो में स्कन्द-श्री, शक्ति-श्री, आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। प्रियदर्शन कल्याणसूचक अथवा स्नेहसूचक शब्द है। यह विरुद के रूप में धारण किया गया था। मुद्राराक्षस की भाँति सिंहली साहित्य में भी एक स्थान पर यह शब्द चन्द्रगुप्त के लिए प्रयुक्त हुआ है। कालान्तर में इस विरुद को उसके पौत्र अशोक ने धारण किया। अशोक के अभिलेखों में उसके लिए 'पियदसि' (प्रियदर्शिन्) का प्रयोग ही प्रमुख है। सिंहल के दीपवश मे भी अशोक के लिए 'पियदस्सि' अथवा 'पियदस्सन' का प्रयोग मिलता है। इसी दीपवश की सहायता से ही टर्नर महोदय ने सर्वप्रथम अभिलेखों के 'पियदसि' और साहित्य के 'अशोक' का समीकरण स्थापित किया था। इसी ग्रथ मे प्रकट होता है कि 'प्रियदर्शन' और 'प्रियदर्शिन्' दोनो शब्दो का प्रयोग समान अर्थ में होता था। चन्द्रगुप्त के लिए 'वृषभ' शब्द का प्रयोग निश्चित रूप से बलसूचक है। रहा 'वृषल' का प्रयोग इस पर विद्वानों मे बडा मतभेद है। अनेक विद्वानो का मत है कि 'वृषल' शब्द का प्रयोग 'शूद्र' के लिए होता है। इसी आधार पर वे चन्द्रगुप्त को शूद्रजातीय मानते हैं। हम चन्द्रगुप्त की जाति पर विचार करते समय इस शब्द पर विचार करेगे।

चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति एवं प्रारम्भिक जीवनी—चन्द्रगुप्त मौर्य का उल्लेख अनेकानेक देशीय तथा विदेशीय लेखो मे मिलता है। परन्तु अभाग्यवश उसकी जाति एव प्रारम्भिक जीवनी के विषय पर जो कथन है वे या तो अत्यल्प और अस्पष्ट है या परस्पर-विरोधी। यही कारण है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में अनेक प्रकार के भ्रान्तिपूर्ण मत प्रतिपादित किए जा चुके है।

चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति के सम्बन्ध मे प्राय तीन मत प्रतिपादित किये गये है। प्रथम स्पूनर महोदय का है। चन्द्रगुप्तकालीन भारत एव फारस की कतिपय सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रथाओ एव विधियो मे साम्य देख कर स्पूनर महोदय ने मौर्यो को पारसीक घोषित किया था।[1] इसमे कोई सन्देह नही कि इस प्रकार का साम्य तत्कालीन भारत मे अवश्य दृष्टिगत होता है। परन्तु साम्य के आधार पर ही मौर्यों को पारसीक कहना असगत प्रतीत होता है। अस्तु, स्पूनर महोदय के इस मत पर आज अधिकाश विद्वान् विश्वास नही करते। भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त स्मिथ, कीथ और टामस आदि पाश्चात्य विद्वानो ने भी स्पूनर के मत का खण्डन किया है।[2]

ब्राह्मण-साहित्य—द्वितीय मत प्राय. ब्राह्मण साहित्य पर अवलम्बित है। इसका प्रतिपादन करने वाले विद्वान् मौर्यों को शूद्र मानते है। इन्होंने अपने मत के पोषण में जिन उद्धरणो का अवलम्ब लिया है, हम अब उन्ही पर विचार करेगे।

पुराण—सर्वप्रथम आते है पुराण। शैशुनाग वश के विनाश और नन्दवश की स्थापना के साथ पुराणो का उल्लेख है कि 'इसके आगे शूद्र राजा होगे।'[3] इस पर कुछ विद्वानो का कथन है कि यह वाक्य नन्दों के समान मौर्यों के ऊपर भी लागू होता है। अत. नन्दो के समान मौर्य भी शूद्र थे। परन्तु यह धारणा सर्वथा असगत है।

१ J. R. A. S 1915 pp. 63-89, 'The Zoroastrian Period of Indian History.

२. Smith, J. R. A. S. 1915, pp. 800-2, Keith, J. R. A. S, 1916 pp. 138-43, Thomas, J. R. A. S. 1916, pp. 362-6.

३ ततःप्रभृति राजानो भविष्याः शूद्रयोनय.।

पुराणो के इस वाक्य का सम्बन्ध एकमात्र नन्दों से ही है, न कि नन्दो के पश्चात् आने वाले समस्त राजवशो से। हम जानते हैं कि शुग, कण्व और सातवाहन वशो का उदय भी शैशुनाग वश के पश्चात् ही हुआ था। परन्तु आज यह कोई नही कहता है कि उपर्युक्त पौराणिक वाक्य इन सभी वशों पर लागू होता है। ये समस्त वश ब्राह्मण-वश थे। अत इनके शूद्र होने का कोई प्रश्न ही नही उठता। स्पष्ट है कि पुराणो का उपर्युक्त उद्धरण एकमात्र नन्दवश के लिये ही है, न कि शैशुनाग वश के पश्चात् आनेवाली समस्त वशावलियो के लिए। नन्दवश को पुराण सर्वत्र 'शूद्रागर्भोद्भवः', 'क्षत्रविनाशकृत्' 'सर्वक्षत्रान्तक' तथा 'अधार्मिक' कहते हैं, परन्तु मौर्यों को वे कही पर भी निम्नजातीय, निम्नस्तरीय अथवा अनादृत नही बताते।

पुराणों की टीका—मौर्यों को शूद्र मनाने वाले विद्वान् पुराणो की टीका का भी अवलम्ब लेते है। उदाहरणार्थ, १८ वी शताब्दी के रत्नगर्भ ने विष्णुपुराण पर टीका करते हुए चन्द्रगुप्त को नन्दराज की पत्नी मुरा की सन्तान माना है।[1] इस टीकाकार का मत है कि 'मुरा' शब्द से ही 'मौर्य' शब्द बना। इस टीकाकार को यह कहाँ से ज्ञात हुआ कि चन्द्रगुप्त की माता नन्द की पत्नी अथवा रखैल थी और उसका नाम मुरा था? कम से कम पुराणो में तो इस प्रकार का कोई कथन उपलब्ध नही होता। कही पर भी पुराण यह नही कहते कि चन्द्रगुप्त नन्दो का वशज था अथवा उसकी माता का नाम मुरा था जो नन्द की पत्नी थी। पुराण तो एकमात्र यही कहते हैं कि कौटिल्य समस्त नन्दो का उन्मूलन करेगा और तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक करेगा।[2] वे चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति के विषय में सर्वथा मौन है। सामान्यतया जाति-वर्णन करना उनका विषय नही था। यही कारण है कि यद्यपि उनमे बहुसंख्यक राजवशो का वर्णन है तथापि उनको जातियो के उल्लेख बहुत कम मिलते है। हाँ, इतना निश्चित है कि नन्दों की भाँति मौर्य भी यदि शूद्र होते तो पुराण-कार स्पष्टतया शूद्र कह कर उनका वर्णन करते। ऐसी परिस्थिति में चन्द्रगुप्त की माता का नाम मुरा बताना और उसे नन्दराज की पत्नी कहना कल्पनाजन्य ही है। कम से कम पुराणो मे इस प्रकार का कोई कथन नहीं है। यदि हम 'मौर्य' शब्द की व्युत्पत्ति के ऊपर भी विचार करे तो भी पुराण के टीकाकार का मत निराधार प्रतीत होता है। पाणिनि के व्याकरण के अनुसार मुरा शब्द से मौर्य शब्द नही बन सकता। मुरा नामक स्त्री की सन्तान 'मौरेय' होंगी। 'मौर्य' शब्द की व्युत्पत्ति तो पुल्लिग 'मुर' से ही हो सकती है। अत स्पष्ट है कि टीकाकार इतिहास से तो अनभिज्ञ था ही, साथ ही साथ वह व्याकरण के नियमों से भी भलीभाँति परिचित न था। चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध मे टीका करते हुए उसने वास्तविक तथ्यो की उपेक्षा की है और अपनी कल्पना से अधिक कार्य लिया है। कदाचित् बहुत बाद का टीकाकार (१८ वी शताब्दी का) होने के कारण हम ऐतिहासिक तथ्यो के लिये उसकी टीका पर असन्दिग्ध रूप से सर्दैव विश्वास भी नही कर सकते।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक पुराणों का सम्बन्ध है, वे नन्दो को तो शूद्र कहते है परन्तु मौर्यों को कदापि नही। उनमे एक भी वाक्य नही जो मौर्यो को निम्नजातीय सिद्ध कर सके। रहे पुराणो की टीका की बात, तो वह मौलिक पौराणिक कथनों की उपेक्षा कर रही है। टीकाकार ने अपनी अनर्गल कल्पना

१ चन्द्रगुप्त नन्दस्यैव पत्यन्तरस्य मुरासज्ञस्य पुत्र मौर्याणां प्रथमम्।

२ उद्धरिष्यति तान् सर्वान् कौटिल्यो वैद्विरष्टिभिः। कौटिल्यश्चन्द्रगप्त तु ततो राज्येऽभिषेक्ष्यति।

का सहारा लेकर ही चन्द्रगुप्त मौर्य को निम्नजातीय माना है।

मुद्राराक्षस—ब्राह्मण-साहित्य का तीसरा ग्रन्थ है मुद्राराक्षस जिसकी सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य को शूद्र सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। मुद्राराक्षस एक नाटक है। कदाचित् ६ठी और ८वी शताब्दियों के बीच में किसी समय विशाखदत्त नामक एक विद्वान् ने इस नाटक की रचना की थी परन्तु इस नाटक में इतनी परस्पर-विरोधी और अनैतिहासिक बातों का समावेश किया गया है कि किसी महत्वपूण विषय पर उसे साक्ष्य के रूप मे उद्धृत करने का बहुधा साहस नहीं होता। इसी नाटक मे सर्व-प्रथम नन्दराज और चन्द्रगुप्त मे सम्बन्ध-स्थापना की गई है। यह चन्द्रगुप्त मौर्य को नन्द का पुत्र मानता है। परन्तु सम्पूर्ण नाटक के पढने से यही ध्वनित होता है कि चन्द्रगुप्त नन्दराज का वैध पुत्र न था—कदाचित् वह उसकी किसी निम्नजातीय पत्नी का पुत्र था। नाटक मे एक स्थान पर लिखा है—'नन्दकुलमनेन पितृकुलभूत कृत-घ्नेन घातितम्।' यहाँ पर 'पितृकुलभूत' शब्द महत्वपूर्ण है। यदि चन्द्रगुप्त नन्दराज की वैध पत्नी का पुत्र होता तो नाटककार 'पितृकुलभूतम्' के स्थान पर 'पितृकुलम्' शब्द का प्रयोग करता। 'पितृकुलभूतम्' का तो अर्थ यह होता है कि नन्द का कुल यथार्थ मे चन्द्रगुप्त का पितृकुल नही था, वह किसी प्रकार हो गया था अथवा बना लिया गया था। यही अर्थ मुद्राराक्षस मे अन्यत्र प्रयुक्त 'नन्दान्वयाय एवायमिति' (यह नन्द वश के लिए ही है।) शब्दो से प्रकट होता है। यहाँ चन्द्रगुप्त को 'नन्दवशीय' न मान कर 'नन्दवश का पक्षपाती' मात्र माना गया है। पुनश्च एक अन्य स्थल पर विशाख-दत्त ने लिखा है कि नन्दराज 'सान्वय' नष्ट हो गये थे।[1] यदि स्वय चन्द्रगुप्त मौर्य को नन्दवशीय मान लिया जाय तो नन्दराज के सान्वय (सम्पूर्ण वशसहित) विनाश का कोई अर्थ ही नही होता। उस दशा मे चन्द्रगुप्त के रूप मे एक नन्दवश का अवशिष्ट रहना उल्लिखित होता। अत इस नाटक में जहाँ कहीं चन्द्रगुप्त को नन्द-राज का पुत्र[2] कहा गया है वहाँ एकमात्र यही समझना चाहिए कि वह नन्द की किसी निम्नजातीय पत्नी का पुत्र था। इस निष्कर्ष की पुष्टि इस बात से भी होती है कि नाटक-कार ने नन्दो का शूद्रजातीय न मान कर 'प्रथितकुलजाः' और 'उच्चैरभिजनम्' कहा है। इसके विपरीत चन्द्रगुप्त को 'अप्रथितकुल' की संज्ञा दी है। इस विषमता से स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रगुप्त नन्द का वैध पुत्र था। परन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि क्या हम मुद्राराक्षस के साक्ष्य के अनुसार नन्दों को उच्चवशीय और चन्द्र-गुप्त को निम्नवशीय मान सकते हैं? इसका एकमात्र उत्तर है—कदापि नही। एकमात्र पुराण ही नही, वरन् निष्पक्ष यूनानियो के लेख भी नन्दों को शूद्र बताते हैं। अत यह सर्वथा असगत होगा यदि हम इनके प्रबल साक्ष्य का परित्याग कर बहुत बाद को लिखी गई कल्पना-मिश्रित एक साहित्यिक कृति को पूर्णरूपेण ऐतिहासिक मान लें।

मुद्राराक्षस मे चद्रगुप्त के लिए 'वृषल' शब्द का प्रयोग मिलता है। कुछ विद्वानो का मत है कि इस शब्द का प्रयोग शूद्र के लिये होता था। परन्तु समस्त साक्ष्यो के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द एकमात्र सामाजिक हेयता अथवा अप्र-तिष्ठा का ही द्योतक है, जन्मजात शूद्रता का नहीं। बहुधा वर्णाश्रम-धर्म की उपेक्षा करने वाले व्यक्तियो के लिए इसका प्रयोग मिलता है। मनु का कथन है कि

१ इष्टात्मज. सपदि .सान्वय एव देवः शार्दूलपोतमिव यं परिपुष्य नष्टः।

२ मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः।

'क्रियालोप' और 'ब्राह्मणदर्शन' से क्षत्रिय वृषलत्व को प्राप्त हुए।[1] मनु पर टीका करते हुए मेधातिथि ने लिखा है कि मिथ्यादर्शी ब्राह्मण को वृषल समझना चाहिए।[2] इससे स्पष्ट होता है कि क्रियाविहीन क्षत्रिय ही नहीं वरन् ब्राह्मण भी वृषल शब्द से सम्बोधित होता था। महाभारत में इस शब्द का प्रयोग सामान्यतया विधर्मियों के लिए किया गया है। स्वयं कौटिल्य भी वृषल को हेयता की दृष्टि से देखते थे। अर्थशास्त्र का कथन है कि देवपितृ कार्य में शाक्य (बौद्ध), आजीविक, वृषल और प्रव्रजित को आमन्त्रित करने वाले व्यक्तियों पर १०० पण जुर्माना हो।[3] इन समस्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वृषल शब्द का प्रयोग जन्मजात शूद्रता को सिद्ध नहीं करता। वह कदाचित् जात्यपकर्ष अथवा सामाजिक अनादरता को सिद्ध करता है।[4]

१ शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च।।
तथा
वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद् धर्मं न लोपयेत्।

२ मनु० ८.१६ पर मेधातिथि—मिथ्यादर्शी ब्राह्मण एव वृषलशब्देन व्याहितव्यः।

३ शाक्याजीविकादीन् देवपितृकार्येषु वृषलप्रव्रजितान् भोजयेत्। शत्यो दण्डः।

४ यद्यपि हम 'वृषल' शब्द के आधार पर चन्द्रगुप्त को शूद्र नहीं मानते, तथापि हम उन विद्वानों के मतों से भी सहमत नहीं हैं जिन्होंने चन्द्रगुप्त के पक्ष में 'वृषल' शब्द के अनर्गल अर्थ निकाले हैं। उदाहरणार्थ, श्री एच० सी० सेठ का मत है कि 'वृषल' शब्द यूनानी शब्द Basileus (राजा) का रूपान्तर है। यह मत नितान्त काल्पनिक है। इसी प्रकार हरित कृष्ण देव का मत है कि चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के लिए 'वृषल' और 'भवत्' (आप) दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। अतः यदि 'वृषल' शूद्रार्थक होता तो चाणक्य उसके लिए आदरसूचक 'भवत' का प्रयोग न करते। इस कथन में कोई तथ्य नहीं है। मुद्राराक्षस में सामान्यतया चन्द्रगुप्त के लिए 'युष्मद्' (तुम) शब्द का प्रयोग ही अधिक मिलता है। 'भवत्' (आप) शब्द का प्रयोग अत्यल्प एवं अपवाद है। पुनश्च संस्कृत साहित्य में 'भवत्' और 'युष्मद्' शब्दों में भारी अन्तर नहीं है। अनेक स्थलों पर दोनों शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में हुआ है। कभी-कभी राजा अपने सेवक के लिए 'भवत्' शब्द का प्रयोग करता है; यथा, राजा—(परिजनं विलोक्य) अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेशम्।

पुनः श्री देव और डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी ने यह भी मत दिया है कि मुद्राराक्षस में 'वृषल' शब्द का प्रयोग कदाचित् 'वृषभ' के अर्थ में हुआ है। अतः वह बलसूचक है। परन्तु यह भी कोरी कल्पना है। मुद्राराक्षस में एक स्थान पर एक ही पंक्ति में 'वृषल' और 'वृष' शब्दों का प्रयोग मिलता है—
नन्दैर्वियुक्तमनपेक्षितराजराजै
र्ध्यासितं च वृषलेन वृषेण राज्ञाम्

यहां निश्चितरूप से 'वृषल' 'वृषभ' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसके आगे 'वृष' का प्रयोग है। दो बार 'वृष' कहने का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। पुनः एक अन्य स्थान पर स्वयं राक्षस चन्द्रगुप्त को 'वृषभ' कहता है।
पति त्यक्त्वा वा देवं भुवनपतिमुच्चैरभिजनं
गता छिद्रेण श्रीर्वृषलमविनीतेन वृषली।

स्पष्ट है कि यहां राक्षस ने अपने शत्रु चन्द्रगुप्त के लिए जो 'वृषल' शब्द का प्रयोग किया है वह आदरसूचक न होकर घृणासूचक ही होगा। अतः इसके स्थान पर बलसूचक 'वृषभ' पढ़ना असंगत प्रतीत होता है।

इसी प्रकार मुद्राराक्षस मे प्रयुक्त 'कुलहीन' शब्द पर विवाद है। कुछ विद्वानों ने इसे 'शूद्रजातीय' के अर्थ में लिया है। अन्य विद्वानों ने इसका खण्डन किया है और कहा है कि यह शब्द 'वैभवहीन' अथवा 'असम्पन्न' कुल का बोधक है। इसी अर्थ में जस्टिन ने चन्द्रगुप्त को Humble origin का बताया है। इन विद्वानों का कथन है कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय राजवश का था। परन्तु जिस समय उसका जन्म हुआ था उस समय उसके वश की दुर्दशा थी, वह राजत्व खो चुका था। अत. 'कुलहीन, अथवा 'Humble origin' उसके वश की असम्पन्नता और दुरवस्था के द्योतक हैं, उसकी शूद्र जातीयता के नही।

मुद्राराक्षस पर टीका . ढुण्ढिराज—मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुण्ढिराज ने चन्द्रगुप्त की जीवनी और जाति के प्रश्न को और भी जटिल बना दिया है। इसके अनुसार सर्वार्थसिद्धि नाम का एक क्षत्रिय राजा था। उसके दो पत्नियाँ थी—सुनन्दा और मुरा-सुनन्दा क्षत्राणी थी परन्तु मुरा शूद्रा। कालान्तर में सुनन्दा से ९ पुत्र हुए जो नव नन्द कहलाये और मुरा से एक जो मौर्य कहलाया। चन्द्रगुप्त इसी मौर्य की सन्तान था। इस प्रकार पुराणों के टीकाकार और मुद्राराक्ष के टीकाकार दोनों इस विषय पर एक मत है कि नन्दराज के मुरा नामक एक शूद्रा रखैल थी। परन्तु दोनों मे अन्तर यह है कि जहाँ पुराणो के टीकाकार चन्द्रगुप्त को नन्द का पुत्र बताता है वहाँ मुद्राराक्षस का टीकाकार उसे नन्द का पौत्र मानता है। पुन पुराणो का टीकाकार नन्दो को शूद्र मानता है जब कि मुद्राराक्षस का टीकाकार उन्हें क्षत्रिय कहता है। पुन ढुण्ढिराज की टीका मे स्थान-स्थान पर अविश्वसनीय एव कपोलकल्पित कथायें मिलती है। अत. इतिहास-निर्माण के निमित्त वह प्रामाणिक ग्रन्थ नही ठहरता।

कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी—इनकी रचना क्रमश सोमदेव तथा क्षेमेन्द्र नामक विद्वानो ने की थी। कथासरित्सागर मे वर्णित कथा साराश में इस प्रकार है—

नन्दराज की अकस्मात् मृत्यु हो गई। यह सुनकर इन्द्रदत्त नामक एक व्यक्ति योगविद्या की सहायता से उसके मृत शरीर मे प्रवेश कर गया और इस प्रकार राजा बन बैठा। इस घटना के कारण वह कालान्तर मे योगनन्द के नाम से प्रख्यात हुआ उसने विगत नन्द की रानी को ग्रहण कर लिया और उससे उसके हिरण्यगुप्त नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। परन्तु वास्तविक नन्द के पहले से ही एक पुत्र था। उसका नाम था चन्द्रगुप्त। योगनन्द अपने तथा अपने पुत्र हिरण्यगुप्त के मार्ग मे चन्द्रगुप्त को बाधक समझता था। अत. दोनो मे द्वेष अवश्यम्भावी था। विगत नन्दराज के पुराने मन्त्री शकटार ने राज्य के वास्तविक उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त का पक्ष लिया और अपने कौशल तथा चाणक्य नामक एक ब्राह्मण की सहायता से योगनन्द तथा उसके पुत्र हिरण्यगुप्त का अन्त कर डाला। तत्पश्चात् उसने चन्द्रगुप्त को राजा बनाया और चाणक्य को उसका महामन्त्री बनाकर स्वय वन में चला गया।

बृहत्कथामजरी के उल्लेख भी बहुत कुछ इसी कथा से मिलते-जुलते हैं।

इस प्रकार 'वृषल' शब्द को लेकर व्यर्थ में खींचा-तानी की गई है। इस शब्द का प्रयोग अन्यत्र चाहे जिस अर्थ में किया गया हो, परन्तु मुद्राराक्षस में इसका प्रयोग स्पष्टतया चन्द्रगुप्त की निम्नता अथवा हेयता सिद्ध करने के लिए ही किया गया है। सम्पूर्ण मुद्राराक्षस ही चन्द्रगुप्त को निम्नजातीय मानता है। अतः वृषल शब्द को भिन्न अर्थ में ग्रहण करने से भी कोई लाभ नहीं है। हम तो इस नाटक को ही चन्द्रगुप्त की जाति के विषय में प्रामाणिक नहीं मानते।

श्री हरितकृष्ण देव तथा डाक्टर जायसवाल का मत था कि मगध में दो राजवंश हुए थे—पूर्वानन्द जो पुराना राजवंश था और क्षत्रियजातीय था। नवनन्द जो नया राजवंश था और शूद्रजातीय था। चन्द्रगुप्त पूर्वनन्दवंशीय होने के कारण क्षत्रिय था। परन्तु यह मत नितान्त असंगत है। नवनन्द का अर्थ नये नन्दों से न होकर ९ नन्दों से है। पुन कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी में कोई भी ऐसा कथन नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि पूर्वनन्द और नवनन्द में भारी अन्तर था।

अस्तु, कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी के अनुसार भी चन्द्रगुप्त नन्दवंशीय सिद्ध होता है। परन्तु ये ग्रन्थ दन्तकथाओं से इतने भरे पड़े है कि इन्हें पूर्णरूप से ऐतिहासिक कहना असंगत होगा। पुन ये दोनों ग्रन्थ लगभग ११वीं शताब्दी के है। इतने बाद के होने के कारण इनमें प्रामाणिकता का अंश कम है। इनके कथानकों को महत्व देने के लिए कुछ विद्वानों ने यह कहा है कि ये दोनों ग्रन्थ तथा मुद्राराक्षस एक प्राचीन ग्रन्थ बृहत्कथा पर आधारित है। बृहत्कथा की रचना प्रथम शताब्दी के लगभग प्राकृत भाषा में हुई थी। इसके रचयिता थे गुणाढ्य। प्राचीनकालीन ग्रंथ होने से यह नन्दवंशीय एवं मौर्यवंशीय, घटनाओं से भलीभाँति परिचित होगा। अतः इसके वर्णन ऐतिहासिक रहे होगे। हम बृहत्कथा की ऐतिहासिकता पर आपत्ति नहीं करते। सम्भव है कि उसमें जो कुछ लिखा हो वह यथार्थ हो। परन्तु अभाग्य से वह ग्रन्थ विलुप्त हो गया है। अत आज हम यह नहीं कह सकते कि मुद्राराक्षस, कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी के कथानकों ने कहाँ तक बृहत्कथा का मूल लिया है। प्रोफेसर सी० डी० चटर्जी का तो कथन है कि मूल बृहत्कथा में कहीं पर भी चन्द्रगुप्त को नन्दवंशीय अथवा शूद्रजातीय नहीं कहा गया था।[1] फिर आखिर इस प्रकार का वर्णन अन्य तीन ग्रन्थों ने किस आधार पर किया है, यह आज हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते।

कुछ भी हो, उपर्युक्त ब्राह्मण-साहित्य के ग्रन्थ परस्पर-विरोधी, दन्तकथासम्मिश्रित और बहुत बाद के है। अत चन्द्रगुप्त की जाति के प्रश्न पर वे अत्यधिक भ्रामक हो गए है।

अर्थशास्त्र—अब हमें यह देखना है कि स्वयं कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त की जाति के प्रश्न पर क्या प्रकाश डालता है। अर्थशास्त्र के अन्त में एक श्लोक[2] है जिसमें लिखा है कि इस ग्रन्थ की रचना उस व्यक्ति ने की है जिसने अतिशीघ्र बलवत् मातृभूमि तथा उसके शास्त्र और शस्त्र को नन्दों की दासता से मुक्त कराया। इस श्लोक से ऐसा ध्वनित होता है कि चाणक्य की दृष्टि में नन्दों का आधिपत्य राष्ट्र के लिए कल्याणकर न था। कदाचित् उसके लिए ऐसा सोचना स्वाभाविक ही था। चाणक्य ब्राह्मण व्यवस्था का पोषक था। उसके लिए वर्णाश्रम-धर्म का अनुमोदन स्वाभाविक था। इस धर्म के दृष्टिकोण से शूद्र नन्दों को राज्य करने का अधिकार न था। यह तो क्षत्रियों का धर्म-विहित कर्म था। अत नन्दों के नाश करने के पीछे जहाँ चाणक्य के व्यक्तिगत द्वेष और प्रतिशोध की भावना काम कर रही थी वहाँ वर्णाश्रम-धर्म की पुन: प्रतिष्ठा की भावना भी। अत यह अनुमान नितान्त असंगत प्रतीत होता है कि शूद्र नन्दों का विनाश कर चाणक्य ने पुन अन्य कोटि के शूद्रों को सिंहासनासीन किया होगा। यदि चन्द्रगुप्त शूद्र रहा होता तो चाणक्य कभी उसे राजसत्ता

१ Indian Culture, I, page 221

२ येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः। अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्।

न देता। राज्य देने के पूर्व ब्राह्मण-व्यवस्थाकार ने चन्द्रगुप्त के गुण और शील के साथ-साथ उसकी कुलीनता की भी परीक्षा कर ली होगी। इस प्रकार परोक्षरूप से अर्थ-शास्त्र चन्द्रगुप्त की कुलीनता की ही सूचना देता है।

अर्थशास्त्र में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि जनमत अभिजात दुर्बल नरेश का तो आदर करता है किन्तु अनभिजात बलवान् का नहीं।[1] इससे स्पष्ट है कि यदि चन्द्रगुप्त अनभिजात (निम्नजातीय) होता तो उसका महामन्त्री उसके विरुद्ध कभी इस प्रकार का कथन न करता। अतः यदि अर्थशास्त्र मे चन्द्रगुप्त की जाति के सम्बन्ध मे कुछ उल्लेख है तो वह उसकी उच्चजातीयता के ही द्योतक है।

ब्राह्मण-साहित्य की आलोचना।—चन्द्रगुप्त की जाति के विषय मे ब्राह्मण-साहित्य से उपलब्ध होने वाले सम्पूर्ण उल्लेखो और विवरणो का अवलोकन करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि पुराणो और अर्थशास्त्र के अतिरिक्त प्रायः प्रत्येक में ही अविश्वसनीय बातें भरी पडी है। जहाँ तक पुराणो और अर्थशास्त्र का प्रश्न है, इनमे कही एक भी सकेत नही मिलता जिसके आधार पर चन्द्रगुप्त को शूद्र कहा जा सके। अन्य तीन ग्रन्थ मुद्राराक्षस, कथासरित्सागर और बृहत्कथामजरी तथा दोनो टीकाये—रत्नगर्भ की विष्णु पुराण पर टीका और ढुण्ढिराज की मुद्राराक्षस पर—बहुत बाद की रचनाये है। चन्द्रगुप्त के जीवन-काल से सैकडो वर्ष दूर होने के कारण ये लेखक वास्तविकता से बहुत-कुछ अनभिज्ञ थे। पुनः इन लेखको के विवरण भी परस्पर विरोधी है। एक ओर पुराण नन्दो को शूद्र मानते है, परन्तु चन्द्रगुप्त की जाति के विषय मे कोई उल्लेख नही करते। परन्तु दूसरी ओर मुद्राराक्षस है जो नन्दो को अभिजातवर्गीय और चन्द्रगुप्त को निम्नवर्गीय बताता है। पुराण ९ नन्दो से परिचित है, परन्तु मुद्राराक्षस ने एक दसवें नन्द—सर्वार्थसिद्धि—का भी उल्लेख किया है। कथासरित्सागर और बृहत्कथामजरी मे न ९ नन्दो का वर्णन है और न दसवे सर्वार्थसिद्धि का। इन ग्रन्थो ने दो नवीन विभूतियो—पूर्वनन्द और योगनन्द—को कलेवरता दी है, परन्तु न तो उनकी जाति का स्पष्ट उल्लेख किया है और न पारस्परिक सम्बन्ध का। मुद्राराक्षस के टीकाकार के अनुसार नन्दराज के दो पत्नियाँ थी—सुनन्दा और मुरा। मुरा शूद्र थी और उसके पुत्र का नाम मौर्य था। इस मौर्य के १०० पुत्र थे। इनमे से चन्द्रगुप्त एक था। इस प्रकार चन्द्रगुप्त नन्दराज का पौत्र सिद्ध होता है जो समस्त अनुश्रुतियो के सर्वथा प्रतिकूल है। पुनः इन ब्राह्मण-ग्रन्थो के कथानक इतने कपोल-कल्पित है कि उन पर कोई भी विश्वास नही कर सकता। स्थान-स्थान पर दन्तकथायें आती है जिनमें इतिहास का कोई सम्बन्ध नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमे एक मात्र तीन ऐतिहासिक नामो—चाणक्य, चन्द्रगुप्त और नन्दराज—की ही समता है। इनके चतुर्दिक जो कथानक गढे गए है वे नितान्त-परस्पर विरोधी और अविश्वसनीय है। अतः चन्द्रगुप्त के जाति-निर्धारण मे हमे उनसे विशेष सहायता नही मिलती। ऐसी परिस्थिति में हमें अन्य साक्ष्यो की सहायता लेनी होगी।

बौद्ध साहित्य—इस साहित्य के अन्तर्गत सबसे अधिक महत्वपूर्ण है महावंश। इसमें लिखा हुआ है कि ब्राह्मण चाणक्य ने नवे धननन्द का विनाश कर चन्द्रगुप्त को

१ दुर्बलमभिजातं प्रकृत्यः स्वयमुपनमन्ति।
बलवतश्चा नभिजातस्योपजाप्यं विसंवादयन्ति॥

सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का सम्राट् बनाया। यह चन्द्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय था।[1] महावंश पर लिखित टीका में चन्द्रगुप्त को मौर्यनगर के राजवंश का राजकुमार बताया है। यह वंश क्षत्रिय शाक्यों की ही एक उपशाखा था। इस विषय पर महावंश का वर्णन इस प्रकार है—'जब महात्मा बुद्ध जीवित थे तभी विडूडभ राजा ने शाक्यों के राष्ट्र पर आक्रमण किया। शाक्य-वंश के कुछ व्यक्ति इस आक्रमण से अपना देश छोड़ कर हिमवंत पर आ बसे। वहाँ उन्हें निवास के लिए एक अत्यन्त सुन्दर और रमणीक स्थान मिला। यह स्थान घने वृक्षों के बीच और शुद्ध जल के समीप था। यहीं बसने की उनकी इच्छा हुई। एक प्रदेश में जहाँ अनेक मार्ग मिलते थे, एक सुरक्षित नगर बनाया गया। इन नगर के भवनों का निर्माण मयूर की ग्रीवा (गर्दन) के समान था। पुनः यह नगर मयूर-ध्वनि से प्रतिध्वनित रहता था। इसीलिये इस नगर का नाम 'मयूरनगर' पड़ा और इसीलिये इस नगर के निवासी और उनकी सन्तान जम्बूद्वीप में 'मौर्य' कहलाती थी। इस समय से उन्हें 'मौर्य' कहने लगे। इस विवरण से भी चन्द्रगुप्त का क्षत्रिय होना सिद्ध होता है।

चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय बताने वाले अन्य बौद्ध ग्रन्थ भी हैं। महापरिनिब्बानसुत्त का उल्लेख है कि जब महात्मा बुद्ध का देहावसान हो गया तो पिप्पलीवन के मौर्यों ने भी कुशीनगर के मल्लों के पास यह सन्देश भेजा कि 'आप लोग भी क्षत्रिय हैं, हम क्षत्रिय हैं। इसलिए हमें भी भगवान् बुद्ध के शरीर के भाग प्राप्त करने का अधिकार है।'[2]

इसी प्रकार महाबोधिवंश का कथन है कि कुमार चन्द्रगुप्त 'नरिन्द कुल सम्भव' (राजवंशीय) था। यह राजवंश शाक्यपुत्रों द्वारा निर्मित 'मोरिय नगर' का था।

दिव्यावदान में चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार और पौत्र अशोक को स्पष्टतया क्षत्रिय कहा गया है।[3]

बौद्ध साक्ष्यों की ऐतिहासिकता—इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध साहित्य चन्द्रगुप्त की जाति के प्रश्न पर एक मत है। उसमें ब्राह्मण साहित्य की भाँति परस्पर विरोधी विवरण नहीं है। पुनः वह ब्राह्मण साहित्य की अपेक्षा अधिक प्राचीन भी है। उसके विवरण अति प्राचीन अनुश्रुतियों तथा लिखित ग्रन्थों पर आधारित है। उदाहरणार्थ, महावंश का टीकाकार अपने साधनों का उल्लेख करते हुए लिखता है कि 'राज्यासिंहासन पर बैठने से पूर्व और पश्चात् का चन्द्रगुप्त-सम्बन्धी सम्पूर्ण विवरण उत्तर विहार के श्रमणों की अट्ठ-कथा में लिखित हैं। यहाँ मैंने संक्षेप में दिया है। जिन्हें विस्तार से देखना हो वे वहाँ देख लें।' प्राचीन साधन का उल्लेख कर देने के पश्चात् कपोल कल्पित बातों के लिखने के लिए अधिक स्थान नहीं रहता। यही नहीं, बौद्ध साहित्य को हम ब्राह्मण साहित्य की अपेक्षा इस लिये भी अधिक प्रामाणिक मानते हैं, क्योंकि उसके उल्लेख अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थों एवं साधनों के उल्लेखों से मेल

१ मोरियनं खत्तियानं वंसे जातं सिरीधरं
चन्दगुत्तोति पञ्ञातं चणक्को ब्राह्मणो ततो
नवमं धननन्दं तं घातेत्वा चण्डकोधसा
सकले जम्बुद्वीपम्हि रज्जे समभिसिञ्चि सो
—महावंश

२ भगवापि खत्तियो मयमपि खत्तिय।। मयमपि अरहाम भगवतो सरीरानं भागं।

३ इसमें एक स्थान पर बिन्दुसार एक स्त्री से कहता है कि—'त्वं नापिनी अहं राजा क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्तः। कथं मया सार्धं समागमो भविष्यति ?'

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर अशोक अपनी रानी से कहता है कि—'देवि, अहं क्षत्रियः। कथं पलाण्डुं परिभक्षयामि?'

खाते है। अब हम यहाँ उन्ही स्वतन्त्र ग्रन्थो और साधनो का उल्लेख करेंगे।

जैन साहित्य—जैन ग्रन्थ परिशिष्टपर्वन् के अनुसार चन्द्रगुप्त मयूरपोषको के सरदार की लडकी का लडका था। यही मत अन्य जैन ग्रन्थ आवश्यक सूत्र की हरिभद्रीया टीका का भी है। रामचन्द्र मुमुक्षुरचित पुण्याश्रव कथाकोश में चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय कहा गया है। यद्यपि इस ग्रन्थ में अनेकानेक अनैतिहासिक बाते भी है, परन्तु अनुमानत चन्द्रगुप्त के क्षत्रिय होने की परम्परा इसमें सरक्षित है। सम्पूर्ण साहित्य में कहीं पर भी चन्द्रगुप्त को नन्दवशीय नही कहा गया है। यह साहित्य नन्दो को तो शूद्र बताता है, परन्तु मौर्यों को कदापि नहीं।

विदेशीय साक्ष्य—अब हम विदेशीय साक्ष्यों के ऊपर विचार करेंगे। चन्द्रगुप्त की जाति के विषय में निम्नलिखित उद्धरण उल्लेखनीय है—

(१) कर्टिअस का कथन—पोरस ने सिकन्दर को सूचित किया कि 'वर्तमान राजा (नन्दराज) न केवल मूलत. अनभिजात है वरन् नितान्त निम्नस्तरीय है। वास्तव में उसका पिता नापित था।' पुनश्च 'राजपुत्रों के सरक्षण करने के बहाने उसने राजसत्ता हथिया ली और अल्पवयस्क राज पुत्रों की हत्या करके वर्तमान राजा बन बैठा जिसे जनता घृणा की दृष्टि से देखती है और हेय समझती है।'

(२) डिओडोरस का कथन—पोरस ने सिकन्दर को सूचित किया कि 'गाग प्रदेश (Gangaridai) का राजा (नन्द) तुच्छ चरित्र का व्यक्ति है। उसे कोई भी आदर की दृष्टि से नही देखता है, क्योंकि वह नापित का पुत्र है।'

(३) प्लूटार्क का कथन—'ऐण्ड्रोकोटस (चन्द्रगुप्त) स्वय, जो उस समय नवयुवक ही था सिकन्दर से मिला था और तदुपरान्त कहा करता था कि सिकन्दर सरलतापूर्वक सम्पूर्ण देश पर अधिकार कर सकता था, क्योंकि (वहाँ का) राजा अपने स्वभाव की दुष्टता और अपने उद्भव की हीनता के कारण जनता द्वारा, घृणित और अनादृत समझा जाता था।'

(४) जस्टिन का कथन—'सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष ने दासता का जुआ अपनी गर्दन से उतार कर फेंक दिया और उसके पदाधिकारियो का बध कर डाला। सैण्ड्रोको (चन्द्रगुप्त) नेता था जिसने उसको (भारतवर्ष को) स्वतन्त्रता दिलाई। वह निम्नस्तरीय अवस्था (Humble origin) में उत्पन्न हुआ था . .।'

इन समस्त उदाहरणो के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि नन्दराज निम्न जातीय शूद्र (नापित) था और छल-छल की सहायता से ही उसने राज्य पाया था। शूद्रजातीय तथा दुष्ट स्वभाव होने के कारण वह जनता की दृष्टि में नितान्त हेय और अनादरणीय था। परन्तु इन उल्लेखो में कोई ऐसा सकेत नहीं जिससे चन्द्रगुप्त का नन्दवशीय अथवा निम्नजातीय होना सिद्ध हो सके। जस्टिन ने अवश्य कहा है कि वह 'Humble origin' में उत्पन्न हुआ था। परन्तु जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उसका एकमात्र तात्पर्य यही था कि जब चन्द्रगुप्त उत्पन्न हुआ तब तक उसके राजवश की राजसता विलुप्त हो गई थी और वह अत्यन्त दीन अवस्था में था। इसका उल्लेख हम आगे करेंगे। यही नही, प्लूटार्क के कथनानुसार चन्द्रगुप्त स्वय सिकन्दर के पास गया था और उसे सूचना दी थी कि नन्द-नरेश अपनी निम्नजातीयता के कारण अप्रिय था। सम्पूर्ण उद्धरण को देखते हुए प्रकट होता है कि नन्द-नरेश की निम्नजातीयता से लाभ उठाकर चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को मगध राज्य पर आक्रमण करने के लिये प्रोत्साहित किया था। उसके इस व्यवहार से स्पष्ट होता है कि वह स्वयं निम्नजातीय

न था। यदि वह स्वय निम्नजातीय होता तो कभी भी नन्द की निम्नजातीयता की कटु आलोचना न करता।

पुरातत्वसम्बन्धी साक्ष्य—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, बौद्ध और जैन साक्ष्य मौर्यों को मयूरो से सम्बन्धित करते हैं। पुरातत्व गवेषणा ने इस सम्बन्ध की वास्तविकता को और भी दृढ कर दिया है। नन्दनगढ के अशोकस्तम्भ के भूगर्भान्तरित अधोभाग में एक मयूर का चिन्ह मिला है। साँची स्तूप पर जहाँ अशोक के जीवन की अनेक घटनायें उत्कीर्ण की गई हैं वहाँ मयूर की अनेक मूर्तियाँ भी दृष्टिगत होती हैं। अशोक के एक अभिलेख में खाद्य पशु-पक्षियो मे मयूर का उल्लेख महत्वपूर्ण है। ग्रूनवेडेल महोदय ने सर्वप्रथम यह मत प्रतिपादित किया था कि मयूर मौर्यों का वशाक (Dynastic Emblem) था। कालान्तर मे फूशे और सर जान मार्शल ने भी भी इस मत का अनुमोदन किया। यह अस्वाभाविक नही है। मयूर-प्रधान प्रदेश मे रहने के कारण मौर्यों ने मयूर को विशेष प्रधानता दी थी। उसी के आधार पर ही कदाचित् उनका जातीय नाम 'मौर्य' पडा। ऐसी अवस्था मे शूद्रा मुरा से मौर्य शब्द की व्युत्पत्ति का मत सारहीन प्रतीत होता है। इसकी सारहीनता के विषय मे अन्य प्रमाण पीछे भी दिये जा चुके हैं।

विरोधी मतों का समाधान—इस प्रकार हम देखते है कि चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति के प्रश्न पर दो परस्पर-विरोधी परम्परायें चल रही थीं। (१) प्राय सम्पूर्ण ब्राह्मण-साहित्य उसे शूद्र समझता था।

(२) इसके विरुद्ध बौद्ध और जैन साहित्य उसे क्षत्रिय एव अभिजात वर्ग का मानता रहा है।

इस परस्पर-विरोध का क्या कारण हो सकता है? उपलब्ध साक्ष्यों से पता लगता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ब्राह्मणधर्मावलम्बी न था। जैन परम्पराओं एव दक्षिणी भारत के कतिपय अभिलेखो से प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त जैन था। पुन उसने यवन सैल्यूकस की पुत्री से विवाह किया था।[1] इससे भी वह ब्राह्मण व्यवस्थापको की कटु आलोचना का पात्र बना था। उधर अशोक तो निश्चित रूप से बौद्ध था। उसके बौद्ध-प्रसार से ब्राह्मण वर्ग विशेष क्षुब्ध था। कदाचित् उसके कुछ उत्तराधिकारियो ने भी बौद्ध धर्म को राजधर्म बनाया था।[2] अशोक का वशज सम्प्रति जैन था। इस प्रकार ब्राह्मण व्यवस्थाकारों के दृष्टिकोण में प्राय सम्पूर्ण मौर्य वश अपदस्थ हो चुका था। ब्राह्मण-धर्म का परित्याग कर वह विधर्मी बन गया था। वर्णाश्रम धर्म से च्युत होने के कारण इस वश का कदाचित् जात्यपकर्ष कर दिया गया था और वह वृषल के रूप में समझा जाने लगा था। भारतीय इतिहास मे इसी प्रकार के जात्यपकर्ष का अन्य उदाहरण व्रात्य लिच्छवियो का है। अस्तु, अपने धर्मविरुद्ध कर्मों के कारण मौर्य क्षत्रिय होते हुए भी ब्राह्मण व्यवस्थाकारो की दृष्टि में शूद्र ही रहे। उनके जात्यपकर्ष को दृढ़ीभूत करने के लिए ही कदाचित् चन्द्रगुप्त की शूद्र माता की कल्पना की गई और के साथ उसका नन्दवश से सम्बन्ध स्थापित किया गया। परन्तु बौद्ध और जैन ब्राह्मण वर्ण-व्यवस्था को न मानते थे। अत उन्होंने कभी भी मौर्यों के जात्यपकर्ष को न माना और वे उन्हें सदैव क्षत्रिय ही समझते रहे।

१ चन्द्रगुप्तस्ततः पश्चात्पौरसाधिपतेः सुताम्।
सुलूकस्य तथोद्वाह्य यावनीं बौद्धतत्परः। —भविष्यपुराण

२ स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम् —युगपुराण

चन्द्रगुप्त की प्रारम्भिक जीवनी—चन्द्रगुप्त भारतीय स्वतन्त्रता का जन्मदाता तथा एकच्छत्र भारतीय साम्राज्य का सर्वप्रथम ऐतिहासिक सस्थापक था। परन्तु भ्रमाग्य से ऐसे महान् युग-पुरुष की प्रारम्भिक जीवनी के विषय में हमारा ज्ञान अत्यल्प है।

ब्राह्मण साहित्य—ब्राह्मण साहित्य में चन्द्रगुप्त की जीवनी के विषय में अत्यल्प अथवा अति भ्रामक सामग्री मिलती है। पुराण तो एकमात्र यही कह कर चुप हो जाते हैं कि नन्दो का विनाश कर चाणक्य 'उत्पन्न' चन्द्रगुप्त को राजा बनायेगा।[1] विष्णु पुराण के टीकाकार श्रीधर स्वामी ने 'उत्पन्न' की टीका करते समय इतना और जोड़ दिया कि चन्द्रगुप्त नन्द की भार्या मुरा से उत्पन्न था। मुद्राराक्षस से भी चन्द्रगुप्त की जीवनी पर कोई विशेष प्रकाश नही पड़ता। हाँ, टीकाकार ढुण्ढिराज ने नाटक की कथा का उपोद्घात लिखते समय चन्द्रगुप्त की जीवनी के विषय में जो कुछ लिखा है वह साराश में इस प्रकार है—

कलियुग के आदि में नन्द नाम के राजा शासन करते थे। इनमे से सर्वार्थसिद्धि नाम का राजा अपनी शक्ति के लिये प्रसिद्ध था। वह सम्पूर्ण पृथ्वी पर राज्य करता था। इसकी सेना ९ करोड से अधिक थी। इस राजा के दो पत्नियाँ थीं—क्षत्राणी सुनन्दा और शूद्रा मुरा। एक बार कोई विद्वान् अतिथि नन्दराज के घर पधारे। अपनी दोनों पत्नियो के सहित राजा ने उनका आदर-सत्कार किया। उनके चरणामृत के ९ छींटे सुनन्दा के सिर पर गिरे और १ छीटा मुरा के सिर पर पडा। इसके परिणाम-स्वरूप सुनन्दा के ९ पुत्र हुए जो नव नन्द कहलाये और मुरा के एक पुत्र हुआ जो मौर्य कहलाया। कालान्तर में इस मौर्य के १०० लडके हुए। इनमे सबसे अधिक प्रतिभाशाली था चन्द्रगुप्त। नव नन्द मौर्य-पुत्रो से बहुत ईर्ष्या करते थे। अत. उन्होने सब की हत्या करवा डाली। एकमात्र चन्द्रगुप्त ही बच रहा। परन्तु उसे भी एक गुप्त गृह में कैद रखा गया।

एक बार सिंहलद्वीप के राजा ने नन्दो की राजसभा में एक पिंजडे मे एक मोम का सिंह बन्द करके भेजा और कहा कि जो व्यक्ति पिंजडे को तोडे बिना इस सिंह को बाहर निकाल देगा वही सबसे अधिक बुद्धिमान् समझा जायेगा। कोई भी नन्द-कुमार उस सिंह को बाहर न कर सका। अब चन्द्रगुप्त की बारी आई। उसने लोहे की एक गरम शलाका को पिंजडे के अन्दर डाल कर मोम के सिंह को गला दिया और वह गल कर बाहर आ गया। चन्द्रगुप्त के बुद्धि-कौशल को देख कर सब दग रह गये।

परन्तु चन्द्रगुप्त जानता था कि नन्दो के बीच में रहते हुए उसका जीवन सकट में है। अत. उसने उनके विनाश का उपाय सोचना प्रारम्भ कर दिया। एक बार उसने एक ब्राह्मण को देखा जो बडे क्रोधी स्वभाव का था। उसके पैर में एक कुश गड़ गया। इस पर क्रुद्ध होकर उसने सम्पूर्ण कुश-समूह को उखाड डाला। चन्द्रगुप्त ने ऐसे क्रोधी ब्राह्मण को नन्दवश के विनाश के हेतु उपयुक्त समझा। यह ब्राह्मण विष्णुगुप्त था तथा दण्डनीति एव समस्त विद्याओ का ज्ञाता था। नीतिशास्त्र का तो वह आचार्य ही था। शीघ्र ही दोनों में घनिष्ठता हो गई। नन्दों का अन्यायपूर्ण व्यवहार सुनकर उस ब्राह्मण ने प्रतिज्ञा की कि वह उनका नाश कर देगा। एक बार चाणक्य (विष्णुगुप्त) नन्द की भुक्तिशाला में गया। वहाँ जाकर वह प्रमुख आसन पर बैठ गया। इस पर नन्दों ने

१ ततश्च नव चैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याः पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तमुत्पन्नं राज्येऽभिषेक्ष्यति।—
—विष्णुपुराण

क्रुद्ध होकर उसे आसन से बलात चोटी पकड कर उतरवा दिया। इस पर कुपित होकर ब्राह्मण ने शिखा पकड़ कर प्रतिज्ञा की कि मैं तब तक इस शिखा को न बाधूंगा जब तक नन्दवश का मूलोच्छेदन न कर दूँगा।

यद्यपि चन्द्रगुप्त की शूद्रजातीयता की कहानी पर हम विश्वास नही करते तथापि उसकी जन्मजात प्रतिभा, उसके नन्दो से विग्रह तथा चाणक्य से मैत्री के विवरण अपने भीतर अनेक ऐतिहासिक कण रखते हैं।

कथासरित्सागर मे भी चन्द्रगुप्त और चाणक्य के विषय में कुछ विवरण मिलता है। जैसा कि पहले कहा गया है, चन्द्रगुप्त पूर्वनन्द का पुत्र था। उसका योगनन्द तथा उसके पुत्र हिरण्यगुप्त से विरोध स्वाभाविक था। इस विरोध में विगत पूर्वनन्द का मत्री शकटार वास्तविक राजकुमार चन्द्रगुप्त की सहायता पर रहा था। एक दिन मार्ग में उसे चाणक्य दृष्टिगत हुआ जो एक सम्पूर्ण कुशा-समूह को उखाड-उखाड़ कर फेंक रहा था, क्योकि एक कुशा से उसका चरण विक्षत हो गया था। शकटार को ऐसे ही क्रोधी एव दृढ़सकल्प व्यक्ति की आवश्यकता थी। अत वह चाणक्य के पास गया और उससे निवेदन किया कि कल नन्दराज का श्राद्ध है। उसके लिये मैं आपको निमन्त्रित करता हूँ। आपको दक्षिणा-स्वरूप एक लाख सुवर्ण-मुद्रायें मिलेगी।

दूसरे दिन चाणक्य आया और प्रमुख होता के रूप मे श्राद्ध करवाने के लिए बैठ गया। परन्तु नदराज ने कहा कि प्रमुख होता का पद एक अन्य ब्राह्मण सुबन्धु को मिलेगा। इसे चाणक्य ने अपना अपमान समझा। अत उसने सात दिन के भीतर सान्वय नन्द का नाश करने की प्रतिज्ञा की।

जैसा कि पीछे कहा गया है, इस कथा के पूर्वनन्द और योगनन्द तथा हिरण्यगुप्त के नाम अन्य साक्ष्यो मे नही मिलते। अत इनकी ऐतिहासिकता में सदेह हो सकता है। परन्तु चाणक्य नामक ब्राह्मण की सहायता से नन्दवश के विनाश और चन्द्रगुप्त के सिहासनारोहण की कथा अन्य ग्रथो मे भी मिलती है। अत न्यूनाधिक विवरण-भेद होते हुए भी वह तथ्यपूर्ण है।

बौद्ध एवं जैन साहित्य—बौद्ध साहित्य मे चन्द्रगुप्त की जीवनी पर विशेष प्रकाश डालने वाला ग्रथ है महावश-टीका। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त की माता मौर्यनगर के राजा की रानी थी। कालान्तर मे एक राजा ने मौर्यनगर पर आक्रमण किया और उसके राजा को मार डाला।

उस समय चन्द्रगुप्त की माता गर्भवती थी। सरक्षा के निमित्त वह अपने भाई के पास पुष्पपुर चली गई। पुत्र (चन्द्रगुप्त) होने पर उसने उसे एक उक्खली मे रखकर एक स्थान पर फेंक दिया। वहाँ चन्द नामक एक वृषभ ने उसकी रक्षा की। इसी से उसका नाम चन्द्रगुप्त (चन्द्र द्वारा रक्षित) पडा। कालान्तर मे उसे एक गोपालक ले गया। कुछ काल पश्चात् उस गोपालक ने उसे एक शिकारी को दे दिया।

उसी शिकारी के गाँव में रहता हुआ चन्द्रगुप्त एक दिन 'राजकीय खेल' खेल रहा था। इस खेल मे वह राजा बना और अपने अन्य साथियों को उसने अन्यान्य पद दिए तथा उनकी सहायता से कुछ अभियुक्तो का न्याय करने लगा।

उसी समय दूर खडा हुआ चाणक्य यह सारा खेल देख रहा था। वह बालक चन्द्रगुप्त की सहज प्रतिभा से अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसने शिकारी को एक हजार कार्षापण देकर चन्द्रगुप्त को खरीद लिया।

तत्पश्चात् ६-७ वर्ष तक अपने साथ रखकर उसने राजकुमार को भलीभाँति

शिक्षा दी। कालान्तर में नंदवंश का विनाश कर उसने उसे मगध का शासक बनाया।

जैन-ग्रंथ परिशिष्टपर्वन् में भी प्रायः महावंश टीका के समान ही चन्द्रगुप्त की कथा मिलती है। इन विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रगुप्त का प्रारम्भिक जीवन कष्टमय एवं साहसिक रहा था। उसने अपने प्रतिभा की सहायता से ही अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त किया था।

विदेशी लेख —यूनानी लेखों में चंद्रगुप्त की प्रारम्भिक जीवनी के विषय में कोई विवरण नहीं मिलता। एकमात्र जस्टिन का यही उल्लेख महत्वपूर्ण है कि चंद्रगुप्त तुच्छ अवस्था (Humble origin) में उत्पन्न हुआ था, परन्तु वह राज्य प्राप्त करने के लिए लालायित था। इसके लिए उसे एक शकुन अथवा संकेत (Omen) से प्रेरणा मिली थी।

चाणक्य की प्रारम्भिक जीवनी—प्रायः जिस ग्रंथ में भी नन्दराज अथवा चद्रगुप्त का उल्लेख हुआ है उसमें चाणक्य का नाम भी विद्यमान है। यूनानी लेखों[1] को छोड़कर प्राय सभी ग्रंथ नन्द-वंश का विनाशक चाणक्य को ही मानते हैं। परन्तु अभाग्य से इस युग-पुरुष की भी प्रारम्भिक जीवनी का ज्ञान स्पष्ट नहीं है। पुराण, पुराण-टीकाकार, मुद्राराक्षस तथा कथासरित्सागर उसके द्वारा किए गए नंदवंश के विनाश एव चद्रगुप्त के राज्याभिषेक का ही उल्लेख करते हैं। वे उसके प्रारम्भिक जीवन-वृत का वर्णन नही करते। उसके जीवन-वृत के लिए भी हम ब्राह्मणेतर ग्रंथों के ही आभारी हैं।

महादश-टीका का कथन है कि चाणक्क (चाणक्य) तक्षशिला-निवासी एक ब्राह्मण का पुत्र था। वह त्रिवेदज्ञ, शास्त्र-पारगत, मन्त्रविद्या-विशेषज्ञ तथा प्रख्यात नीतिज्ञ था। पिता की मृत्यु के पश्चात् माता के भरण-पोषण का भार उसी पर पड़ा।

एक दिन उसने अपनी माँ को रोते पाया। कारण पूछे जाने पर उसकी माँ ने उससे कहा कि 'बेटा, तुम्हारे भाग्य मे छत्र धारण करना लिखा है। तुम छत्र धारण करने तथा राजशक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न क्यों नही करते? परतु मुझे भय है कि कहीं राजकार्यों में पड़कर तुम मुझे भूल न जाओ। इसी आशका से मैं रोती हूँ।' इस पर चाणक्य ने पूछा कि आखिर मेरे शरीर के किस भाग पर लक्ष्मी अंकित है? माँ ने उत्तर दिया—दाँतों पर। यह सुनकर चाणक्य ने अपने दाँत तोड़ डाले और माँ के पास रह कर उसकी सेवा करने लगा।

एक बार चाणक्य पुष्पपुर गया। वहाँ नन्दराज ने एक भुक्तिशाला बनवाई थी जिसमे वह ब्राह्मणों को दान किया करता था। यह समाचार पाकर चाणक्य उस शाला में गया और प्रमुख ब्राह्मण के आसन पर जा बैठा। नन्दराज ने जब भुक्तिशाला में प्रवेश किया तो वह एक कुरूप ब्राह्मण को मुख्य आसन पर बैठे देख कर बड़ा क्रुद्ध हुआ और उस पर से उसे हटवा दिया। चाणक्य ने अपमान से कुपित होकर नन्दवश के नाश की प्रतिज्ञा की और वहाँ से चला गया। कुछ दिनों के पश्चात् वह एक उपयुक्त राजकुमार की खोज में निकला जो नन्दों के नाश के पश्चात् सिंहासनासीन किया जा सके। घूमता-घूमता वह शिकारियों के गाँव में पहुँचा। वहाँ उसकी चन्द्रगुप्त से भेंट हुई और वह उसे अपने साथ ले आया।

अन्यान्य साक्ष्यो को देखने से चाणक्य के विषय मे विविध बातें ज्ञात होती हैं। बौद्धो की विसत्थप्पकासिनी के अनुसार वह तक्षशिला-निवासी था। परन्तु जैन परि-

१ वे एकमात्र चंद्रगुप्त का ही उल्लेख करते हैं।

शिष्टपर्वन् और आवश्यकसूत्र के अनुसार वह गोलविषय में चणय नामक ग्राम में उत्पन्न हुआ था। जैन बृहत्कथाकोश पाटलिपुत्र को उसका पुरातन पैतृक स्थान मानता था। इसी ग्रन्थ में उसके पिता का नाम कपिल दिया हुआ है। सुखबोधा का कथन है कि यद्यपि चाणक्य का पिता जन्म से ब्राह्मण था तथापि वह जैन धर्म का अनुयायी था। जिस समय चाणक्य उत्पन्न हुआ तो उसके मुख में पूर्ण विकसित दन्तपंक्ति को देख कर सब लोगों को आश्चर्य हुआ। परन्तु जैन भिक्षुओं ने बताया कि वे दाँत राजत्व के बोधक है। किसी दिन चाणक्य राजा बनेगा। चाणक्य का पिता जैन था। अतः स्वभाव से ही वह ससार के प्रति विरक्त था। जैन भिक्षुओं की भविष्यवाणी सुन कर उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने नवजात शिशु के दाँत तोड़ डाले। तब जैन भिक्षुओं ने भविष्यवाणी की कि चाणक्य अब किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा राज्य करेगा अर्थात् वह किसी अन्य को राजा बनायेगा परन्तु वास्तविक राज्य-सत्ता उसी के हाथ में रहेगी।

युवा होने पर चाणक्य का विवाह कर दिया गया। बृहत्कथाकोश के अनुसार उसकी पत्नी का नाम यशोमती था।

एक बार किसी समारोह में यशोमती को जाना पड़ा। उसमें उसकी अन्य विवाहिता बहनें आदि भी आई थी। निर्धनता के कारण यशोमती की वेश-भूषा अति दीन थी। उसकी दीनावस्था को देख कर सब बहनों ने उसका उपहास किया। इस पर उसके हृदय पर बडा आघात लगा। वह रोती हुई घर आई और उसने सारा वृत्तान्त चाणक्य से कहा। उसी दिन से चाणक्य ने धनार्जन करने का निश्चय किया।

घूमता-घूमता वह पाटलिपुत्र पहुँचा। वहाँ उसे ज्ञान हुआ कि नन्दराज ने एक दानशाला खोल रखी है। अतः वह वहाँ गया और पण्डितप्रवर होने के कारण दानशाला में अग्रासन पर जा बैठा। तत्पश्चात् नन्दराज आये उन्होंने चाणक्य की कुरूपता से खिन्न होकर उसे उस अग्रासन से शिखा पकड़ कर उतरवा दिया। चाणक्य इस अपमान से आगबबूला हो गया। उसने तत्क्षण नन्दवश के सान्वय नाश की प्रतिज्ञा की।[1]

जिस समय वह यत्र-तत्र परिभ्रमण कर रहा था उसी समय वह एक ग्राम में पहुँचा जहाँ उसकी चन्द्रगुप्त से भेंट हुई और वह उसे अपने साथ ले आया।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त का योग—प्रायः प्रत्येक भारतीय साक्ष्य किसी न किसी रूप में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के योग का उल्लेख करता है। इस योग ने न केवल दोनों के जीवन को वरन् भारतीय इतिहास की एक नवीन दिशा की ओर मोड़ दिया। चन्द्रगुप्त मे सहज प्रतिभा और महत्वाकांक्षा थी। इसका उल्लेख सभी साक्ष्यों ने किया है। उधर, विविध ग्रंथो के अनुसार, चाणक्य विविध विद्याओं का महापण्डित एव प्रगाढ़ कूटनीति का ज्ञाता था। बल और बुद्धि के इन दो प्रतीकों का योग किसी भी विरोधी शक्ति का सफलतापूर्वक सामना कर सकता था। यह हुआ, इनके सम्मिलित प्रयत्नों ने पहले विदेशियों द्वारा आक्रान्त पश्चिमीय भारत की पुण्य-भूमि को स्वतंत्र किया और तत्पश्चात् आततायी नन्दवंश का विनाश कर मगध को मुक्त किया।

पहले विजित कौन—मगध अथवा पंजाब? इस विषय पर मतभेद है कि

१ कोशेन भृत्यैश्च निबद्धमूलं पुत्रैश्च मित्रैश्च विवृद्धशाखम्।
उत्पाद्य नन्दं परिवर्तयामि महाद्रुमं वायुरिवोग्रवेगः॥
—सुखबोधा

चाणक्य और चद्रगुप्त ने पहले मगध जीता अथवा पंजाब। इसका प्रमुख कारण यह है कि यूनानियो ने एकमात्र पजाब-विजय का उल्लेख किया है और भारतीय ग्रंथों ने एकमात्र मगध-विजय का। ऐसी परिस्थिति में यह निश्चित करना कुछ कठिन हो गया है कि पहले कौन-सा प्रदेश जीता गया। डाक्टर स्मिथ और डाक्टर रायचौधरी का मत है कि पहले मगध जीता गया। परन्तु स मत को ग्रहण करने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं—

(१) यह मत भारतीय ग्रंथों के उल्लेखों के सर्वथा प्रतिकूल है। उदाहरणार्थ, महावश-टीका का एक विवरण लीजिये जो निम्नप्रकार है—

"....एक शक्तिशाली सेना तैयार कर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को दी। अब ग्रामों और नगरो को जीतना प्रारम्भ हुआ। लोग उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए और उन्होंने सारी सेना को घेर कर उसका विनाश कर दिया। अब चाणक्य और चन्द्रगुप्त वन में भाग गए और सोचने लगे कि 'अब तक युद्ध का कोई फल नही निकला। केवल हमारी सेना ही नष्ट हुई है। चलें, अब हम जनता के विचारों का पता लगायें।' अतः वेश बदल कर उन्होंने परिभ्रमण करना प्रारम्भ किया। वे दिन भर घूमते और रात को किसी गाँव अथवा नगर में ठहर जाते और मनुष्यों की बातचीत सुनते। एक स्त्री एक गाँव मे पुवे बनाकर अपने लड़के को दे रही थी। वह लड़का चारो ओर के किनारों को छोडता जाता था और बीच के भाग को खा लेता था। यह देखकर माता ने कहा कि 'इस लड़के का व्यवहार चन्द्रगुप्त के समान है जिसने कि राज्य लेने का प्रयत्न किया था।' इस पर लडके ने पूछा—'माँ, मैं क्या कर रहा हूँ और चन्द्रगुप्त ने क्या किया था?' माता ने उत्तर दिया 'मेरे पुत्र, तुम चारों ओर का भाग छोड़ कर केवल बीच का भाग खा रहे हो। चन्द्रगुप्त सम्राट बनने की महत्वाकांक्षा रखता था। उसने सीमा-प्रान्तो को अधीन किए बिना ही राज्य के मध्य में ग्रामों और नगरो पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। इसी से जनता उसके विरुद्ध उठ खड़ी हुई और सीमाप्रान्त से आक्रमण कर उसकी सेना को नष्ट कर दिया। ऐसा करना उसकी मूर्खता थी।"

यह वार्तालाप सुनकर चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने फिर से सेना एकत्रित की। इस बार पहले उन्होने सीमा-प्रान्त को अधीन किया और वहाँ से मध्य की ओर नगरों और ग्रामो को जीतते हुए आगे चले। धीरे-धीरे वे पाटलिपुत्र तक बढ़ आये और अन्त में उन्होने धननद का विनाश कर राज्य हस्तगत कर लिया।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि मगध के ऊपर प्रथम असफल आक्रमण के पश्चात् चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने अपनी योजना बदल दी और तत्पश्चात उन्होंने पहले पंजाब पर अधिकार किया और फिर मगध पर।

इसी प्रकार का कथानक जैन परिशिष्टपर्वन् में भी दिया हुआ है।

यदि हम मुद्राराक्षस नाटक का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो उससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होगी। एक स्थान पर विराधगुप्त राक्षस से कहता है कि 'चाणक्य अपनी बुद्धि द्वारा वश मे करके शक, यवन, किरात, काम्बोज, पारसीक, बाह्लीक आदि की बडी भारी सेना ले आया। चन्द्रगुप्त और पर्वतक की इन भारी सेनाओं ने प्रलय के समुद्र की भाँति कुसुमपुर को घेर लिया।'[१]

१ विराधगुप्तः—अस्ति तावत् शकयवनकिरातकाम्बोज पारसीकबाह्लीकप्रभृतिभिः चाणक्यमतिपरिगृहीतैः चन्द्रगुप्तपर्वतेश्वरबलैरुदधिभिरिव प्रलयोच्चलितसलिलैः समन्तात् उपरुद्धं कुसुमपुरम्।

यद्यपि उपर्युक्त कुछ जातियाँ चन्द्रगुप्त के समय विद्यमान न थीं तथापि इस उद्धरण से नाटककार का मन्तव्य अवश्य ध्वनित होता है—यही कि चाणक्य, चन्द्रगुप्त और पर्वतक ने सर्वप्रथम पजाब पर अधिकार कर लिया होगा और तत्पश्चात् वहाँ की विदेशीय एव स्वदेशीय आयुधजीवी जातियों का संगठन कर पूर्व दिशा से पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया होगा। यदि पजाब पर विदेशीय राज्य रहा होता तो इन व्यक्तियों को वहाँ पर सैनिक सगठन करने की सुविधा न मिल सकती।[२]

(२) यूनानी लेखों से भी यही प्रकट है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने पहले पजाब पर ही अधिकार किया था। प्लूटार्क का कथन है कि 'जब चन्द्रगुप्त घर से निकला था तो उसने सिकन्दर से बातचीत की।' पुन जस्टिन लिखता है कि 'सिकन्दर के सामने चंद्रगुप्त ने धृष्टता के साथ बातचीत की। अत उसे मृत्यु-दण्ड की आज्ञा हुई। परन्तु उसने भाग कर प्राण बचाये। यात्रा से थक कर चद्रगुप्त लेट गया। उसी समय एक भयकर सिंह आया और चन्द्रगुप्त के पसीने को चाटने लगा। वह चन्द्रगुप्त को बिना कुछ हानि पहुँचाये लौट गया। इस अपूर्व घटना से चद्रगुप्त को बड़ी आशा हुई। वह महत्वाकाक्षी हो गया। उसने डाकुओं के झुण्ड एकत्रित किए और भारतीयों को विद्रोह के लिए भडकाया। जिस समय चद्रगुप्त सिकन्दर के सेनापतियो के विरुद्ध युद्ध की तैयारी कर रहा था उसी समय एक जगली हाथी आया और उसने पालतू हाथी के समान चद्रगुप्त को अपनी पीठ पर उठा लिया'।

इन उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता है कि चद्रगुप्त की प्रारम्भिक कार्यवाहियों का क्षेत्र पश्चिमी भारत ही था। चाणक्य तो तक्षशिलावासी था ही। महावश टीका के अनुसार चाणक्य चद्रगुप्त को अपने साथ ले गया था और ६-७ वर्षों तक उसे खूब शिक्षा दी थी। कदाचित् यह शिक्षा तक्षशिला में ही दी गई होगी जो उस समय देश का प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र था। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया उस समय चद्रगुप्त पश्चिमी भारत में ही विद्यमान था। प्लूटार्क के अनुसार उसने स्वय सिकन्दर को नन्द के ऊपर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया था। परन्तु वह न हो सका। यही नही, उसके 'धृष्टतापूर्ण' व्यवहार से क्रुद्ध होकर सिकन्दर ने उसकी हत्या के लिए आज्ञा दी थी। परन्तु उसने भाग कर अपनी जान बचाई।

चद्रगुप्त महत्वाकाक्षी था। वह सिकन्दर की सहायता से मगध-राज्य हस्तगत करना चाहता था। परन्तु उसकी योजना सफल न हो सकी। फिर भी पश्चिमी प्रदेश में रह कर उसने यवनो का सैनिक सगठन एव उनकी युद्ध-प्रणाली का अच्छा परिचय प्राप्त कर लिया होगा। आगे चलकर उसने इस ज्ञान का उन्हीं के विरुद्ध उपयोग किया।

जस्टिन के सम्पूर्ण उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि चंद्रगुप्त ने सर्वप्रथम पश्चिमी भारत पर ही आक्रमण किया था और उस पर अपना आधिपत्य किया था। 'डाकुओं के झुण्ड' एकत्रित करने की बात से प्रकट होता है कि पंजाब के ऊपर आक्रमण एव अधिकार करने के पूर्व वह मगध का राजा न था अन्यथा वह मगध की

२ यहां पर यह कह देना अनुचित न होगा कि कुछ विद्वानों ने मुद्राराक्षस में वर्णित नरेशों के नामों से यूनानी व्यक्तियों का जो समीकरण किया है वह नितांत सन्दिग्ध है। अतः पारसीक-नरेश मेघाक्ष का मेगास्थनीज के साथ अथवा मेघाक्ष का शैलक्ष (सेल्यूकस) के साथ समीकरण करने का कोई प्रबल आधार नहीं है।

विशाल सेनाओं के साथ पश्चिमी भारत पर आक्रमण करता। जो विद्वान् यह मानते हैं कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने पहले मगध जीता और उसके पश्चात पंजाब, वे अपने पक्ष में निम्निलिखित तर्क देते है—

(१) यूनानी यूडीमस ३१७ ई० पू० तक पश्चिमी भारत में रहा था। इसी वर्ष वह ऐण्टीगोनस के विरुद्ध अपने स्वामी यूमेनीज की सहायता के हेतु भारत छोड़ कर गया। परतु चद्रगुप्त तो इस तिथि के कही पूर्व सम्राट बन गया था। अतः वह तब तक एकमात्र मगध का ही सम्राट रहा होगा। पश्चिमी भारत पर उसका अधिकार यूडीमस के गमन के पश्चात् ही हुआ होगा।

(२) ३१७ ई० पू० तक पुरु झेलम और व्यास नदियों के बीच के प्रदेश का अधिकारी रहा। उसी वर्ष वह यूडीमस द्वारा मार डाला गया था।[1] अतः जब तक वह उस प्रदेश का राजा था तब तक वहाँ चद्रगुप्त का राज्य कैसे हो सकता था? चद्रगुप्त ने उसकी मृत्यु के पश्चात् ही वहाँ अपना राज्य स्थापित किया होगा। ३१७ ई० पू० तक उसे एकमात्र मगध-राज्य से ही सतुष्ट रहना पड़ा।

परतु यदि विचार किया जाय तो इन दोनो तर्कों मे कोई बल नही है। इसमें कोई सदेह नही कि ३१७ ई० पू० तक यूडीमस पश्चिमी भारत के किसी भाग में रहा था, परतु उसके पास कोई राजकीय पद, अधिकार अथवा सत्ता न रह गई थी। वह वहाँ किसी प्रकार एकमात्र व्यक्तिगत रूप मे रह रहा था। यदि उसके हाथ में राजसत्ता होती तो यूनानी लेखो मे क्षत्रप के रूप में उसका उल्लेख होता। परतु ऐसा नही है। ३२१ ई० पू० की ट्रिपैरेडिसस की सन्धि में पथान तो सिन्धु-प्रदेश से हटा लिया गया, परतु यूडीमस का पजाब में कही उल्लेख ही न किया गया। इससे प्रतीत होता है कि यूडीमस के पास कोई राजकीय अधिकार अथवा प्रतिनिधित्व न था। वह सिंधु सरिता के पश्चिमी भाग में किसी भाँति ३१७ ई० पू० तक रहता रहा होगा।

प्रथम तर्क की भाँति द्वितीय तर्क भी न्यायसंगत प्रतीत नही होता। ३१७ ई० पू० तक कदाचित् पुरु अवश्य पजाब मे रहा। परन्तु वह यूनानियो का सहायक होकर न रहा होगा, क्योकि उस स्थिति मे यूडीमस उसकी हत्या न करता। पुरु स्वदेश-प्रेमी था। पराजित होने के पश्चात् भी उसे अपने देश की पराधीनता खलती रही होगी। अतः चाणक्य और चन्द्रगुप्त द्वारा आयोजित स्वतत्रता-सग्राम के प्रारम्भ होने पर उसने भारतीय पक्ष का ही साथ दिया होगा। यूनानियो के निष्कामन के पश्चात् वह चन्द्रगुप्त के मित्र के रूप में ३१७ ई० पू० तक शासन करता रहा होगा। भारतीय दल की ओर चले जाने से ही यूडीमस उससे क्षुब्ध हो गया होगा और अन्त में अवसर पाकर उसने उसे मार कर प्रतिशोध किया होगा। अतः यही अनुमान स्वाभाविक प्रतीत होता है कि पुरु ऐसा वीर, साहसी और देश-भक्त व्यक्ति स्वतत्रता सग्राम के प्रति कभी भी निरपेक्ष न रहा होगा। उसने इसमें अवश्य सहयोग दिया होगा और यह सहयोग निश्चितरूप से भारतीय पक्ष को मिला होगा।[2]

इन समस्त तथ्यों को देखते हुए टामस, हैवेल आदि विद्वानों का यह मत ही न्यायसगत प्रतीत होता है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने सर्वप्रथम पश्चिमी भारत पर ही अधिकार किया था।

१ मारे गए राजा का समीकरण पुरु के साथ किया जा सकता है।

२ मुद्राराक्षस के अनुसार चाणक्य ने पर्वतक के साथ सन्धि की थी। टामस महोदय ने पर्वतक का समीकरण पुरु से किया है। परन्तु इस समीकरण को स्वीकार करने में कई आपत्तियां आ जाती हैं। मुद्राराक्षस के अनुसार पर्वतक

युद्ध की तैयारी : यूनानियों का निष्कासन—सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् भारतवर्ष में यूनानी आधिपत्य अधिक समय तक न रह सका। वास्तव में भारतीयों ने कभी भी उसे सुरुचि अथवा स्वेच्छा से स्वीकार न किया था। उसका एकमात्र आधार शस्त्र-बल था जो सगठित लोकमत के विरुद्ध दीर्घकाल तक नही टिक सकता। अपने पारस्परिक द्वेष और विभाजन के कारण भारतीय सिकन्दर के समक्ष पराजित अवश्य हुए थे, परन्तु उनकी स्वतन्त्रतानुरागिनी मनोवृत्ति पराधीनता में कोटि-कोटि दशनों की यन्त्रणा अनुभव कर रही थी। स्वय सिकन्दर को अपने अभियान-काल में ही भारतीयों की इस दुर्दमनीय मनोवृत्ति कर परिचय मिल गया था। वह जिस स्थान पर आक्रमण करता, प्रायः वही उसे जीवन-मरण का युद्ध लड़ना पड़ता। भीषण युद्ध के पश्चात वह विजय पाता और आगे बढता। तभी उसे पता चलता कि विजित प्रदेशों में पुन विप्लव हो गया है। वह परेशान हो उठता। सचमुच ही भारतवर्ष की यह स्थिति उस पशु-चर्म के समान थी जो एक स्थान पर दबाये जाने पर दूसरे स्थान पर ऊपर उठ आता है और दूसरे स्थान पर दबाये जाने पर तीसरे स्थान पर। फलत उसका समतल करना कठिन हो जाता है।

यह तो दशा थी सिकन्दर के जीवन-काल मे ही। अभी वह भारतवर्ष में ही था कि पीछे के कान्धार-प्रदेश में **सेमैक्सस** (अथवा डेमेरैक्सस) ने विद्रोह करा दिया। इसके पश्चात सूचना मिली कि सिन्धु सरिता के पश्चिम में यूनानी अधिकारी **निके-नॉर की** हत्या कर डाली गई है। पुन' ३२५ ई० पू० लौटते समय उसे यूनानी गवर्नर **फिलिप** की हत्या का दु.खद सम्वाद सुनना पडा। सिकन्दर वापस जा रहा था, परन्तु उसके पीछे उसके भारतीय राज्य में विप्लव और हत्याओं के काण्ड हो रहे थे। निष्कर्ष स्पष्ट था कि अतिशय सैनिक बल के अभाव में यूनानी शासन अधिक दिनों तक न चल सकेगा। परन्तु अतिशय सैनिक बल आता कहाँ से? सिकन्दर तथा उसकी सेनायें तो वापस जा रही थीं। सिकन्दर इस विषम स्थिति पर कुछ विचार-विमर्ष करे और उसे सँभालने का कुछ प्रबन्ध करे, इसके पूर्व ही ३२३ ई० पू० प्रत्यावर्तन-मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके सेनापतियों में साम्राज्य-विभाजन के लिए युद्ध छिड गया। अत अब उनके पास न समय था, न संगठन और न कौशल जो सगठित भारतीय स्वतन्त्रता-सग्राम को कुचल कर पुन भारतवर्ष पर यूनानी आधिपत्य स्थापित कर सकें। भारतीयो की पारस्परिक कलह ने जिस यूनानी साम्राज्य की स्थापना कराई थी उसी को यूनानियो की पारस्परिक कलह ने धराशायी कर दिया। इतिहास का यह प्रतिशोध था।

यूनानियो के अधिकृत प्रदेश मे होने वाले उपर्युक्त विद्रोहों और हत्याकाण्डों को हम आकस्मिक घटनायें कह कर नही छोड सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि वे पूर्व-नियोजित थीं तथा उन कतिपय कर्मठ व्यक्तियों की योजना का अंग थी जो भारत-भूमि को परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त करने के निमित्त सशस्त्र क्रान्ति का संगठन कर रहे थे। अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर क्रान्ति के ये अग्र-दूत थे कौन? पूर्व विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि ये चाणक्य और चन्द्रगुप्त थे। जस्टिन तो स्पष्टतया

किसी पार्वतीय प्रदेश का शासक था जब कि यूनानी लेखकों के अनुसार पुरु झेलम और व्यास के बीच के प्रदेश का राजा था। पुनः मुद्राराक्षस का कथन है कि पर्वतक की हत्या चाणक्य ने एक विषकन्या के द्वारा कराई थी। परन्तु इधर पुरु को यूडोमस ने मारा था। ऐसी स्थिति में पर्वतक को किसी पार्वतीय प्रदेश का ही राजा मानना अधिक न्यायसंगत प्रतीत होता है।

कहता है कि पश्चिमी भारत के स्वाधीनता संग्राम का नेता चन्द्रगुप्त था। यद्यपि यूनानी लेखक चाणक्य का उल्लेख नहीं करते तथापि समस्त भारतीय लेखों से प्रमाणित होता है कि चन्द्रगुप्त की राजनीतिक कार्यवाहियों के पीछे प्रगाढ़ कूटनीतिज्ञ कौटिल्य का मस्तिष्क कार्य कर रहा था। चन्द्रगुप्त और कौटिल्य की योजना सर्वांगपूर्ण थी। उन्होंने भली-भाँति समझ लिया था कि उनकी सफलता के लिए अनुकूल **जनमत, धन, सेना और राजकीय मैत्री** की आवश्यकता है। जनमत को अनुकूल करने के हेतु उन्होंने एक ओर नन्दवश की निम्नजातीयता एवं आततायी प्रकृति के विरुद्ध सर्वत्र प्रचार करना प्रारम्भ किया। चन्द्रगुप्त स्वयं सिकन्दर के पास गया था और इसी आधार पर उसे मगध-राज्य पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित करने का असफल प्रयास किया था। दूसरी ओर उन्होंने विदेशीय राज्य के विरुद्ध भारतीय राजाओं एव जनता को भड़काया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भली भाँति प्रकट होता है कि वह 'वैराज्य' के कितना विरुद्ध था। उसके विचार में यह स्वदेश के धन-जन का शोषण करता है। विदेशी शासक पराधीन देश को स्वदेश नहीं समझता।[1] इसी से वह उसका परिपीडन करता है[2] और उसके धन का हरण करता है।[3] इन्हीं कारणों एव विचारों से यूनानी शासन उसके लिए असह्य था। यह कहने की आवश्यकता नही कि स्वाधीनता-लाभ के पूर्व पश्चिमी भारत में जितने भी विद्रोह और हत्या-काण्ड हुए वे चाणक्य और चन्द्रगुप्त के आन्दोलन, प्रचार और सगठन के परिणाम थे।

जनमत को सगठित करने के साथ-साथ उन्हें धन की भी आवश्यकता थी। महावंश टीका का कथन है कि विन्ध्याचल के वनों मे जाकर चाणक्य ने धन एकत्रित करना प्रारम्भ किया। प्रत्यक कार्षापण के आठ कार्षापण बनाकर उसने ८० करोड़ कार्षापण एकत्रित किए थे और इस धन को एक गुप्त स्थान में गाड दिया था। परिशिष्टपर्वन् का भी कथन है कि चाणक्य ने गुप्त धन की सहायता से सेना एकत्रित की थी।

सैनिक भर्ती के लिए भारतवर्ष का पश्चिमी प्रदेश अधिक सुविधाजनक था। यहाँ अनेक आयुधजीवी जातियाँ रहती थी। इन्हें ही चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने अपनी सेना में भर्ती किया। महावंश टीका का भी कथन है कि उन्होंने स्थान-स्थान पर भर्ती का कार्य किया।[4] जस्टिन का भी कथन है कि चन्द्रगुप्त ने 'डाकुओं' के झुण्ड एकत्र किये। हमें 'डाकुओं' से पश्चिमी भारत की लडाकू जातियो का ही अर्थ लगाना चाहिए।

अब रही पारस्परिक राजमैत्री की बात। इसके प्रति भी चाणक्य और चन्द्रगुप्त निरपेक्ष न थे। मुद्राराक्षस के अनुसार चाणक्य ने किसी पार्वतीय प्रदेश के राजा **पर्वतक** से पारस्परिक सहयोग की सन्धि की थी। उधर समस्त यूनानी लेखो के सूक्ष्म विवेचन से सकेत मिलता है कि पजाब का लौहपुरुष पुरु भी कदाचित् चाणक्य और चन्द्रगुप्त को स्वाधीनता सग्राम मे सहायता दे रहा था। इसके लिए उस वीर पुरुष को कदाचित प्राणों का मूल्य चुकाना पड़ा।

इस प्रकार सर्वांगपूर्ण तैयारी करने के पश्चात् चाणक्य ने अपनी सम्पूर्ण सेना

१ नैतत् मम इति मन्यमानः
२ कर्षयति
३ अपवाहयति
४ बलं संगहित्वा। ततो ततो बलं सन्निपातेत्वा

चन्द्रगुप्त के सेनापतित्व में कर दी।[१] अब युद्ध प्रारम्भ हुआ। यद्यपि हमें युद्ध की गति विधि का विवरण नहीं मिलता तथापि कतिपय यूनानी लेखों से हम उसका निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

ई० पू० ३२३ में भारतवर्ष से लौटते समय बैबिलोन में अकस्मात् सिकन्दर की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उसके सेनापतियों में साम्राज्य-विभाजन के लिए गृह-युद्ध छिड़ गया। परिणाम स्वरूप विभाजन को निश्चित करने के लिए सेनापतियों के बीच दो सन्धियाँ हुईं—प्रथम बैबिलोन की सन्धि (ई० पू० ३२३) और द्वितीय ट्रिपैरेडिसस की सन्धि (ई० पू० ३२१)। यह ध्यान देने की बात है कि द्वितीय सन्धि की धाराओं में कहीं पर भी सिंधु-सरिता के पूर्व के भारतीय प्रदेश का नाम नहीं आता। इस सन्धि के परिणाम-स्वरूप भारतवर्ष का यूनानी क्षत्रप पैथान वहाँ से हटा लिया गया और उसके स्थान पर किसी भी अन्य पदाधिकारी की नियुक्ति न हुई। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस सन्धि तक अर्थात ई० पू० ३२१ तक भारतवर्ष में यूनानी साम्राज्य का अन्त हो गया।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी भारत से यूनानियों का निष्कासक शनैः शनैः हुआ। सम्भवत. ३२२ ई० पू० के लगभग चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने यूनानियों से एकमात्र झेलम तक के प्रदेश को मुक्त किया होगा। इस प्रथम विजय के पश्चात् ही चन्द्रगुप्त को राजा घोषित किया गया होगा। शेष पश्चिमी भारत को स्वतन्त्र कराने में लगभग एक वर्ष और लगा होगा, क्योंकि विदेशीय लेखों से प्रकट होता है कि मेसीडोनिया का सरक्षक ऐण्टीपेटर ३२१ ई० पू० तक किसी प्रकार झेलम तक के प्रदेश पर अपना अधिकार जमाये रहा था।[२] यहाँ एकमात्र झेलम तक के प्रदेश का ही उल्लेख है। अतः झेलम के पूर्व का शेष पंजाबी प्रदेश ३२१ ई०पू० के पूर्व ही स्वतंत्र हो गया होगा। परन्तु अधीन प्रदेश में भी ऐण्टीपेटर की शक्ति क्षीण थी। वहाँ न पर्याप्त यूनानी सेना थी और न कोई योग्य यूनानी सेनापति।[३] अतः विदेशी शासन एकमात्र भारतीय राजाओं की दया पर निर्भर था। ऐसा प्रतीत होता है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने इन भारतीय राजाओं से संधि कर ली। तभी यूनानी साम्राज्य का भी पूर्ण पतन हो गया। यह घटना ३२१ ई० पू० (ट्रिपैरेडिसस की सन्धि के समय) के लगभग हुई होगी। इस प्रकार सिंधु नदी तक का पश्चिमी भारत स्वाधीन हो गया। प्लिनी के एक उल्लेख के अनुसार सिंधु सरिता मगध राज्य की सीमा पर बहती थी।[४] कदाचित यह उल्लेख सेल्यूकस-युद्ध के पूर्व चन्द्रगुप्त-साम्राज्य की स्थिति का वर्णन करता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त के पूर्वाधिकारियों का राज्य सिंधु-नदी तक पहुँचा ही न था और उसके उत्तराधिकारी बिन्दुसार और अशोक के राज्य सिंधु-नदी के पश्चिम में विस्तृत थे।

मगध-क्रान्ति के पीछे संयोजक चाणक्य—प्रायः प्रत्येक भारतीय साक्ष्य से यही प्रकट होता है कि चाणक्य ने नन्दवंश का विनाश कर चन्द्रगुप्त को सिंहासनासीन किया। वायुपुराण का कथन है कि 'ब्राह्मण कौटिल्य नवनन्दों का नाश करेगा...

१ महाबलकायं संगहेत्वा तं तस्स पटिपादेसि। —महावंश टीका।

२ Mc. Crindle—India as described in Classical Literature pp. 201-2.

३ वही

४ Mc. Cridle, Ancient India as described by Megasthenes and Arrian, p. 143.

कौटिल्य ही चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक करेगा।'[१] इसी प्रकार का कथन भागवतपुराण, मत्स्यपुराण, वायुपुराण और ब्रह्माण्डपुराण में भी मिलता है। अर्थशास्त्र, मुद्राराक्षस कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी आदि में भी यही निहित है। कामन्दक नीतिशास्त्र में भी चाणक्य के हाथो नन्द का प्रचण्ड मूलोच्छेदन और चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण उल्लिखित है।[२]

बौद्ध ग्रन्थ महावंश मे भी स्पष्टतया कहा गया है कि ब्राह्मण चाणक्य ने नवें धन-नन्द का नाश कर क्षत्रि मौर्यजातीय चन्द्रगुप्त को सकल जम्बूद्वीप का राजा बनाया।[३] महावंश-टीका भी चाणक्य और चन्द्रगुप्त की कथा का लम्बा विवरण देती हुई उनके द्वारा धननन्द के विनाश का उल्लेख करती है। तत्पश्चात् उसनें चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक का वर्णन है। इसी प्रकार का उल्लेख अन्य बौद्ध ग्रन्थ समन्त-पसादिका मे भी मिलता है।

जैन साहित्य भी भारतीय इतिहास की इस महत्वपूर्ण घटना से अपरिचित नही हैं। जैन परिशिष्टपर्वन् में भी महावंश टीका के अनुसार ही यह कथन है कि चाणक्य अपने प्रथम मगध आक्रमण मे असफल रहा। तत्पश्चात् उसने अपनी योजना बदल दी और पहले सीमा-प्रान्त को अधीन किया। इसके बाद उसने पुनः मगध पर आक्रमण किया। इस बार वह सफल हुआ और पाटलिपुत्र के ऊपर उसका अधिकार हो गया। परन्तु उसने नन्द राज के प्राण न लिए। उसे पाटलिपुत्र छोड़ कर चले जाने की अनुमति दे दी। तत्पश्चात रिक्त सिंहासन पर उसने चन्द्रगुप्त को आसीन किया। अपनी स्थविरावली-चरित में जैन लेखक हेमचन्द्र ने भी चाणक्य को नन्दवंश का विनाशक और चन्द्रगुप्त का सहायक कहा है। अन्य जैन ग्रन्थ ऋषिमण्डलप्रकरणवृत्ति मे भी चाणक्य और चन्द्रगुप्त की सहयोगमूलक सन्धि का उल्लेख है।

इन एवं ऐसे ही अन्यान्य उल्लेखो से सिद्ध हो जाता है कि मगध क्रान्ति में चाणक्य का प्रमुख हाथ था।

भयंकर युद्ध—नन्दराज अपने अतुल धन एव सैन्यबल के लिए चतुर्दिक सुविख्यात थे। अतः निश्चित था कि उन्हें अपदस्थ करने के लिए भयकर युद्ध होता। बौद्ध **मिलिन्दपन्हों** से इस युद्ध की भयकरता का कुछ आभास मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार भद्दशाल नन्दराज की विशाल सेना का सेनापति था तथा युद्ध मे विहतों की संख्या १०० कोटि सैनिक, १०,००० हाथी, १ लाख घोड़े और ५००० रथी थी। यद्यपि यह संख्या अतिरंजित है तथापि इतना निश्चित है कि महाशक्तिशाली नन्दवंश का विनाश करने वाली यह मगध-क्रान्ति बड़ी भयकर रही होगी और इससे दोनों पक्षों की ओर धन-जन की अपार हानि हुई होगी। मुद्राराक्षस के षडयन्त्रों, प्रतिषडयन्त्रों, गुप्त मन्त्रणाओं एव प्रतिमन्त्रणाओं आदि को देखते हुए भी यह अनुमान लगाया जा

१ "नवैव तान् नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मण समुद्धरिष्यति......
कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति।"

२ यस्याभिचार वज्रेण वज्रज्वलनतेजसः
पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः
एकाकी मन्त्रशक्तया यः शक्त्या शक्तिधरोपमः
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्

३ मोरियानं खत्तियानं वंसे जातं सिरीधरं
चन्दगुत्तोति पञ्ञातं ब्राह्मणो ततो
नवमं धननन्दन्तं घातेत्वा चण्डकोधसा
सकले जम्बुदीपम्हि रज्जे समभिसिञ्च सो।

सकता है कि नन्दवंश का पूर्ण विनाश दीर्घकाल के युद्ध एवं योजना के पश्चात् हुआ होगा।

सिंहासनारोहण की तिथि—चंद्रगुप्त के सिंहासनारोहण की तिथि के विषय में बड़ा मतभेद है। जिन साक्ष्यों के आधार पर तिथि-निर्धारण किया जाता है वे इतने परस्पर-विरोधी एवं अनिश्चित है कि उन से भिन्न-भिन्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। फिर भी हम यहाँ किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करेंगे।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, ३२३ ई० पूर्व में सिकन्दर की मृत्यु हो गई। इतना निश्चित है कि उसकी मृत्यु के पूर्व भारत स्वतन्त्र न हुआ था। उसका मृत्यु के पश्चात् उसके सेनापतियो में साम्राज्य-विभाजन के लिए गृह-युद्ध प्रारम्भ हुआ। विभाजन को निश्चित करने के लिए ३२१ ई० पू० ट्रिपैरेडिसस की जो सन्धि हुई थी उसमें भारतीय प्रदेशो का उल्लेख नही मिलता। इससे सिद्ध होता है कि ३२१ ई० पू० के पूर्व भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया होगा। वह निश्चित रूप से कब स्वतन्त्र हुआ यह निर्विवाद रूप से नही बताया जा सकता। परन्तु स्थूलरूप से हम यह कह सकते है कि यह स्वतन्त्रता ३२३ ई० पू० से लेकर ३२१ ई० पू० के बीच मे ही किसी समय मिली होगी।

हम पहले कह चुके है कि कदाचित झेलम तक का पूर्वी पजाब पहले स्वतन्त्र हुआ था। इसकी तिथि लगभग ३२२ ई० पू० रही होगी। इस प्रारम्भिक विजय के पश्चात ही चद्रगुप्त ने अपने को राजा घोषित किया होगा और तभी वह सिंहासनासीन हुआ होगा। अत उसके राज्याभिषेक की तिथि ३२२ ई० पू० रही होगी।

उपर्युक्त तिथि की पुष्टि चीन के 'डाटेड रिकार्ड' (Dotted Record) से भी होती है। चीन के कैण्टन नगर में महात्मा बुद्ध के पश्चात वर्ष-गणना का एक लेख सुरक्षित है। यह गणना विन्दुओं के द्वारा प्रदर्शित की गई है। महापरिनिर्वाण के दूसरे वर्ष से एक-एक विन्दु रख कर वर्ष गणना की गई जो ४८९ ई० तक चलती रही। इस प्रकार लेख मे ९७५ विन्दु मिलते है। महापरिनिर्वाण के १ वर्ष पश्चात् से ही यह गणना प्रारम्भ हुई थी। अत इसके अनुसार परिनिर्वाण की तिथि हुई ९७५+१–४८९ ई० पू० अर्थात ४८७ ई० पू०। पुन, बौद्ध ग्रन्थ महावश का कथन है कि अशोक का राज्याभिषेक परिनिर्वाण के २१८ वर्ष पश्चात् हुआ था अर्थात उसका राज्याभिषेक (४८७-२१८) २६९ ई० पू० हुआ होगा। पुन इसी महावश का कथन है कि अशोक का राजसिंहासनारोहण राज्याभिषेक के ४ वर्ष पूर्व हुआ था। इस प्रकार उसके सिंहासनारोहण की तिथि (२६९+४) २७३ ई० पू० निश्चित होती है।

अब पुराणों के उल्लेख को लीजिए। उसके अनुसार चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष और बिन्दुसार ने २५ वर्ष तक शासन किया था। परिणामत दोनों का शासन (२४+२५) ४९ वर्ष तक रहा। अत चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण की तिथि (२७३+४९=) ३२२ ई० पू० सिद्ध होती है। यह निष्कर्ष हमारे पूर्व नियोजित अनुमान से मेल खा जाता है। ऐसी परिस्थिति मे ३२२ ई० पू० चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण की सम्भव तिथि मानी जा सकती है।

सेल्यूकस के साथ युद्ध—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य-विभाजन के लिए उसके प्रमुख सेनापतियो में गृह-युद्ध प्रारम्भ हुआ। यूनानी साम्राज्य के एशियाई प्रदेशो के ऊपर आधिपत्य स्थापित करने के हेतु सिकन्दर के दो सेनापतियो—सेल्यूकस और एण्टीगोनस—में प्रतिद्वन्द्विता हुई।

दीर्घकाल के युद्धों के पश्चात् सेल्यूकस विजयी हुआ। उसने सम्पूर्ण एशियाई यूनानी साम्राज्य के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और एण्टीगोनस को मार कर मिस्र भगा दिया। विजयी होने के पश्चात ३०६ ई० पू० उसने अपना राज्याभिषेक किया और 'निकेटर' (विजयी) की उपाधि धारण की।

सेल्यूकस वीर था और साथ ही साथ महत्वकांक्षी भी। सिकन्दर की भाँति वह भी भारत-विजय का स्वप्न देख रहा था। इस समय उसके साम्राज्य की पूर्वी सीमा भी भारतीय सीमा से टकरा रही थी। अत. गृह-युद्ध से अवकाश प्राप्त होते ही उसने भारतवर्ष पर आक्रमण किया। परन्तु इस समय भारतवर्ष की अवस्था सिकन्दर के समय जैसी न थी। अब वहाँ महापराक्रमी चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन स्थापित हो गया था जो युगप्रवर्तक महाकूटनीतिज्ञ आचार्य चाणक्य की चिर-जागरूक बुद्धि से सरक्षित था। परिणामत इस युद्ध में भारतीय सम्राट के सम्मुख यूनानी आक्रमणकारी पराजित हुआ। यह पुरु की पराजय का भारतीय प्रतिशोध था। विवश होकर सेल्यूकस को सन्धि करनी पड़ी जिसके परिणामस्वरूप उसे अपने साम्राज्य के पूर्वी प्रदेश भारतीय नरेश को देने पडे। इसके बदले में उसे ५०० हाथी मिले। दोनों नरेशो ने अपना मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध दृढ करने के हेतु आपस मे विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर लिया। सेल्यूकस ने अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया। कदाचित् भारतीय इतिहास का यह सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय विवाह था। यही नही, तत्पश्चात् एक यूनानी राजदूत—मेगास्थनीज भी भारतीय राजधानी में आकर रहने लगा।[1] इस प्रकार एक विदेश के साथ भारतवर्ष का कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हुआ जो चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारियो के शासन-काल में सक्रम रहा।

इस साराश के पश्चात् हम इस युद्ध एव इसके परिणामो का उल्लेख करने वाले साक्ष्यों के ऊपर विचार करेंगे। ये साक्ष्य प्राय यूनानी ही हैं :—

(१) जस्टिन सेल्यूकस का उल्लेख करते हुए लिखता है कि उसने अपने और सिकन्दर के अन्य उत्तराधिकारियो के बीच मैसीडोनिया-साम्राज्य का विभाजन हो जाने के पश्चात् पूर्व में अनेक युद्ध किये। पहले उसने बैबिलोन को हस्तगत किया, फिर बैक्ट्रिया को। तत्पश्चात् वह भारतवर्ष आया। भारतवर्ष ने सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् अपनी गर्दन से दासता का जुआ हटाने के विचार से (यूनानी) पदाधिकारियों को मार डाला था। सैण्ड्राकोटस (चन्द्रगुप्त) उसके स्वतन्त्रता-सग्राम का नेता था। किन्तु विजय प्राप्त करने के पश्चात उसने (चन्द्रगुप्त ने) स्वतन्त्रता को बन्धन में बदल दिया, क्योंकि वह उन्ही लोगो को दासता से पिड़त करने लगा जिन्हे उसने विदेशी राज्य से स्वतन्त्र कराया था। इस प्रकार राजमुकुट प्राप्त करके सैण्ड्रोकोटस उस समय भारतवर्ष का स्वामी था जब सेल्यूकस अपने महत्व की नीव स्थापित कर रहा था। सेल्यूकस ने उससे सन्धि कर ली और पूर्व में सब काम ठीक करके वह एण्टीगोनस के विरुद्ध युद्ध में सलग्न हुआ।'

(२) एपिअन का कथन है कि 'उसने (सेल्यूकस ने) सिन्धु नदी पार की और भारतवासियो के राजा सैण्ड्राकोटस से युद्ध प्रारम्भ किया। अन्त में उसने सन्धि कर ली और (उसके साथ) विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया।

(३) इसी प्रकार प्लूटार्क लिखता है कि ' . . थोड़े ही दिन पीछे राजा सेल्यूकस को सैण्ड्राकोटस ने ५०० हाथी भेंट किये और (तत्पश्चात्) ६ लाख सैनिक लेकर उसने (चन्द्रगुप्त ने) भारत-विजय प्रारम्भ की।'

इन तीनो कथनो को एक साथ सम्मुख रख कर विचार करने से यह निष्कर्ष

१ स्ट्रैबो

निकलता है कि सेल्यूकस न केवल चन्द्रगुप्त का समकालीन था वरन् उसने उसके साथ युद्ध भी किया था। यह अत्यन्त महत्व की बात है कि उपर्युक्त तीनो लेखको में से कोई भी इस युद्ध के परिणाम का उल्लेख नही करता। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आक्रमणकारी की योजनाये सफल न हो सकी। कदाचित चन्द्रगुप्त ने उसे पराजित कर दिया और सन्धि करने पर विवश किया। इस निष्कर्ष की पुष्टि कुछ अन्य लेखो से भी होती है :—

(१) स्ट्रैबो का कथन है कि 'सिन्धु नदी के किनारे-किनारे पैरोपैनिसेडाई है जिसके उत्तर मे पैरोपेनिसस पर्वत है। फिर, दक्षिण की ओर अराकोशिआ है। उससे मिला हुआ पुन दक्षिण की ओर जेड्रोशिआ है। इनके समीप समुद्रतट पर अन्य जातियाँ रहती है। सिन्धु नदी लम्बाकार रूप मे इन सब स्थानों के किनारे-किनारे बहती है, और इन स्थानो में आंशिक रूप से कुछ जो सिन्धु-सरिता के किनारे-किनारे बसे हुँ वे भारतवासियों के अधिकार मे है, यद्यपि उन पर पहले पारसीको का अधिकार था। सिकन्दर ने इन्हें एरियन (Arians) जाति से छीन लिया था और वहाँ अपने उपनिवेश बसाये थे, परन्तु सेल्यूकस निकेटर ने उन्हे अन्तर्विवाह की सन्धि पर और १०० हाथियो के उपहार के बदले मे, चन्द्रगुप्त को दे दिया था।'

दूसरे स्थान पर स्ट्रैबो पुन लिखता है कि 'सिधु सरिता भारतवर्ष और एरियाना के बीच सीमा थी। एरियाना भारतवर्ष के ठीक पश्चिम मे स्थित था और उस समय (सिकन्दर के आक्रमण के समय) वह पारसीकों के अधीन था। बाद को भारतीयो ने भी एरियाना के एक बडे भाग पर अपना अधिकार स्थापित किया। यह भाग उन्हे मसीडोनिया-निवासियो ने दिया था।'

(२) दूसरे लेखक प्लिनी का कथन है कि 'बहुसख्यक लेखक ४ प्रान्तो (जेड्रोशिया, आरकोशिया, एरिया और पैरोपैनिसेडाइ) को भारतवर्ष मे सम्मिलित करते है।'

इन उल्लेखो ने काफी विवाद खडा कर दिया है। इसमे तो कोई सन्देह नही रहता कि जो सन्धि सेल्यूकस और चद्रगुप्त के बीच हुई थी उसकी धाराये सेल्यूकस के प्रतिकूल थी। उसे अपने साम्राज्य के कुछ भाग अवश्य ही भारतीय सम्राट को देने पडे थे। ये भू-प्रदेश कितने और कहाँ थे, इसी पर विद्वानो मे मतभेद है।

प्लिनी के कथन के आधार पर डा० स्मिथ यह मत प्रस्तुत करते है कि जेड्रोशिया आरकोशिया, एरिया और पैरोपैनिसेडइ के प्रदेश चद्रगुप्त को मिले थे। परन्तु कुछ विद्वान इस मत को स्वीकार नही करते, क्योकि प्लिनी यह निश्चितरूप से नही कहता कि ये प्रदेश चन्द्रगुप्त के काल मे ही भारतवर्ष मे सम्मिलित थे। अत कुछ विद्वानो ने यह सम्भावना रक्खी है कि कदाचित् ये भाग ७७ ईसवी के पूर्व (प्लिनी के समय के पूर्व) शक-पार्थियन नरेशो के समय भारतीय राज्य मे सम्मिलित हो। परन्तु प्लिनी के उल्लेख के साथ-साथ यदि हम स्ट्रैबो के उल्लेख को भी पढे तो हमें इस विवादग्रस्त प्रश्न मे कुछ सहायता मिलती है। वह स्पष्टतया कहता कि उपर्युक्त चारो प्रदेशो के कुछ भू-भाग निश्चित ही सेल्यूकस ने चद्रगुप्त को दे दिये थे। अत हम यह स्वीकार करने पर विवश हो जाते हैं कि यदि सम्पूर्ण रूप मे नही तो आंशिक रूप मे अवश्य ही ये चारो प्रदेश चद्रगुप्त के साम्राज्य में सम्मिलित थे।

अब यह प्रश्न आता है कि आंशिक रूप मे इनके कौन से भू-भाग सेल्यूकस ने भारतीय सम्राट को दिये थे। इस प्रश्न पर टार्न महोदय ने विचार किया है। उसके मतानुसार (स्ट्रैबो के कथन के आधार पर) पैरोपेनिसेडाइ, आरकोशिआ और जेड्रो-

शिया के एक मात्र वे ही भाग चन्द्रगुप्त को दिये गये थे जो सिन्धु नदी के तट पर स्थित थे।

इन आंशिक भू-भागों का निर्धारण उसने निम्न प्रकार किया है :—

(१) पैरोपेनिसेडाइ का एकमात्र गान्धार-प्रदेश जो कुनार और सिन्धु सरिताओं के बीच में स्थित है।

(२) आरकोशिया का एकमात्र वह प्रदेश जो उस कल्पित रेखा के पूर्व में आ जाता है जो कुनार सरिता से प्रारम्भ होकर क्वेटा और कलात होती हुई पुरली सरिता तक खींची जाय।

(३) जेड्रोशिया का वह प्रदेश जो मीडियन हाइडैस्पीज सरिता (टार्न ने इसका समीकरण पुरली सरिता से किया है) और सिन्धु सरिता के बीच आ जाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह सम्भव है कि पूर्वकथित चारों प्रान्त सम्पूर्ण रूप मे चन्द्रगुप्त को न दिये गये हों तथापि टार्न द्वारा निश्चित भू-प्रदेशों की सीमायें भी अत्यधिक संकुचित प्रतीत होती हैं। उसका निर्धारण कल्पना कल्पित ही अधिक है। उसे पूर्णरूप में ग्रहण करने में कठिनाई पडती है। स्ट्रैबो स्पष्टतया कहता है कि एरियाना का अधिक भाग मेसीडोनियन ने भारतीयो को दे दिया था। अतः इस कथन के समक्ष भी टार्न महोदय का यह मत कि भारतीय साम्राज्य के अन्तर्गत कुनार और पुरली सरिता के बीच में कल्पित रेखा के पूर्व का ही थोड़ा सा भू-भाग आता था, विश्वसनीय नही प्रतीत होता। पुनः पैरोपेनिसेडेइ के विषय में भी टार्न महोदय का मत सन्दिग्ध प्रतीत होता है। अशोक के ५वें और १३ वें अभिलेखो में गान्धार और 'योन' का उल्लेख साथ साथ किया गया है। महावश मे योन जाति का उल्लेख आता है। उनका प्रमुख नगर अलसण्डा था। कनिंघम महोदय के मतानुसार यह नगर सिकन्दरिया (पैरोपेनिसेडाइ में काबुल के पास) हो था। अधिकांश विद्वानों ने यह समीकरण स्वीकार कर लिया है। अतः यवन नरेश सेल्यूकस ने गान्धार प्रदेश के अतिरिक्त सम्भवतः काबुल प्रदेश भी चन्द्रगुप्त को दिया होगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि पैरोपेनिसेडेइ, आरकोशिया, जेड्रोशिया और एरियाना के कुछ प्रदेश चन्द्रगुप्त को अवश्य मिले थे और इन प्रदत्त प्रदेशों का विस्तार टार्न महोदय के कल्पित निर्धारण के सम्भवतः कही अधिक था।

सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त के बीच हुए अन्तर्राष्ट्रीय विवाह के विषय में भी मतभेद है। इस विषय मे एपिअन और स्ट्रैबो ने उल्लेख किया है। एपिअन का कथन है कि दोनो नरेशों के बीच युद्ध का अन्त विवाह सम्बन्ध (Kedos) से हुआ। उधर स्ट्रैबो लिखता है कि सेल्यूकस ने पूर्वोल्लिखित भू-प्रदेश चन्द्रगुप्त को अन्तर्विवाह (epigamia) की शर्त पर दिया। यहां पर दोनों लेखकों ने विवाह सम्बन्ध के लिए दो भिन्न-भिन्न शब्दो का प्रयोग किया है। मैकडानल्ड महोदय का मत है[१] कि Kedos का तात्पर्य वास्तविक विवाह सम्बन्ध से है, परन्तु Epigamia शब्द एकमात्र दोनों राजवशो के बीच स्वीकृत विवाह सम्बन्ध की प्रथा को सूचित करता है। दूसरे शब्दों में सेल्यूकस ने अपनी अथवा अपने वश की राजकुमारी का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ न किया था वरन उसने दोनों राजवंशों को अन्तर्विवाह करने का अधिकार दे दिया था। वास्तव में Epigamia शब्द का अर्थ अन्तर्देशीय विवाह का

१ Camb. Hist. of India, vol. I, P. 431.

अधिकार भी हो सकता है।[1] परन्तु स्ट्रैबो के सम्पूर्ण कथन को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि वास्तव में विवाह हुआ था। वह कहता है कि सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को उपर्युक्त भू-प्रदेश 'अर्तविवाह (Epigamia) की शर्त पर' दिये अर्थात भू-प्रदेशो का देना अन्तर्देशीय विवाह की शर्त पर अवलम्बित था। ऐसी दशा में भू-प्रदेश तभी दिये गये होंगे जब कि चन्द्रगुप्त ने यूनानी राजकुमारी के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया होगा। ये भू-प्रदेश कदाचित पुत्री-धन के रूप मे दिये होगें। इतिहास मे इस प्रकार के पुत्री धन दान के अन्य भी उदाहरण मिलते है। भारतीय इतिहास मे विवाह मे काशी-प्रदेश कोशल। देवी को मिला था और योरोपीय इतिहास में बम्बई कैथरीन को।

युद्ध की तिथि—अभाग्य से किसी भी लेखक ने सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त के बीच हुए युद्ध की तिथि का उल्लेख नही किया है। अत हम उसे निर्विवाद रूप से निर्धारित नही कर सकते।

एपिअन का कथन है कि सेल्यूकस के कुछ युद्ध 'एण्टीगोनस की मृत्यु के पूर्व हुए और कुछ पश्चात।' इस सेनापति की मृत्यु की तिथि ३०१ ई० पू० है। यदि हम जस्टिन के उल्लेख पढ़े तो स्पष्ट हो जाता है कि एशिया में सब काम ठीक करने के पश्चात सेल्यूकस एण्टीगोनस से अतिम एव निर्णायक युद्ध करने के लिए पुन वापस लौटा था। इसमे एण्टीगोनस पराजित हुआ और फ्रीगिया में मारा गया (३०१ ई० पू०)

इससे प्रकट होता है कि सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त का युद्ध ३०१ ई० पू० के पूर्व ही हुआ था। विदेशी लेखो के आधार पर एकमात्र इतना ही कहा जा सकता है।

प्राय अधिकाश विद्वान यह स्वीकार करते है कि सेल्यूकस का राज्याभिषेक ३०६ ई० पू० मे हुआ था। तभी उसने 'निकेटर' (विजेता) की उपाधि धारण की थी। इस समय तक वह अस्थायी रूप से ऐण्टीगोनस के ऊपर विजय पा चुका था और उसे पराजित करके मिस्र भगा चुका था। इस समय तक वह सम्पूर्ण पश्चिमी एव मध्य एशिया का शासक बन गया था। उसके साम्राज्य की पूर्वी सीमा भारतवर्ष से टकरा रही थी। अत ३०६ ई०पू० के पश्चात ही गृह-युद्ध से अस्थायी मुक्ति मिलने से एव राज्याभिषेक करने के उपरान्त उसने भारत-विजय का विचार किया होगा। कदाचित एक वर्ष तक वह योजना बनाता रहा होगा और आगामी युद्ध के लिए तैयारी करता रहा होगा। अतः इस युद्ध की तिथि लगभग ३०५ ई० पू० रही होगी।

चन्द्रगुप्त का राज्यविस्तार—यदि हम चन्द्रगुप्त के सम्पूर्ण जीवन काल पर दृष्टि-पात करें तो उसके राज्य-विस्तार के प्रश्न पर हम निम्नलिखित क्रमों में विचार कर सकते है :—

(१) पैतृक सम्पत्ति के रूप में (२) पश्चिमी भारत की विजय के रूप में (३) मगध-विजय के रूप मे (४) सेल्यूकस के विरुद्ध विजय के रूप मे (५) भारतीय दिग्विजय के रूप में।

महावश टीका से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्यनगर के राजा का पुत्र था। परन्तु कालान्तर में किसी राजा ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। अतः चन्द्र गुप्त मौर्य अपने पैतृक राज्य के उत्तराधिकार से वंचित हो गया। वास्तव में जिस

१ Liddell and Scolt, Greek English Lexicon pp. 626, 946.

समय उसका जन्म हुआ उस समय उसकी माता पाटलिपुत्र में शरणार्थिनी थी। उसकी दशा अत्यन्त दीन-हीन थी। ऐसी परिस्थिति में चद्रगुप्त ने एक सामान्य एव नगण्य व्यक्ति की भाँति अपनी जीवनी प्रारम्भ की। कालान्तर में उसका जो शनैः शनैः उत्कर्ष हुआ वह उसकी प्रतिभा और दुर्दमनीय शक्ति कर परिणाम था। उसका साम्राज्य किसी पैतृक सम्पत्ति का परिवर्धित रूप न था वरन वह था उन लघु कणों का पुजीभूत कलेवर जिन्हें एकत्र करने में उसने वर्षों अपना खून-पसीना बहाया था।

सीमान्त विजय ने उसका भाग्य-द्वार खोल दिया। वह अचानक एक साहसिक से नरेश बन बैठा। यूनानी साम्राज्य के ध्वसावशेषो के ऊपर मौर्य-साम्राज्य की नीव पड़ी।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, चन्द्रगुप्त का पश्चिमीय भारत में साम्राज्य-विस्तार का इतिहास क्रमिक है। सर्वप्रथम कदाचित् उसने झेलम तक का पूर्वी पजाब जीता, उसके उपरान्त शेष पजाब और सिन्ध के प्रदेश। इस प्रकार अपनी प्रारम्भिक विजयो के परिणाम स्वरूप चद्रगुप्त का साम्राज्य व्यास नदी से लेकर सिन्धु नदी तक के प्रदेश के ऊपर हो गया। कदाचित इस साम्राज्य के अन्तर्गत काश्मीर भी सम्मिलित रहा होगा। सिकन्दर के समय यह अभिसार-राज्य था। यूनानियो के निष्कासन के पश्चात पजाब और सिध की भाँति कदाचित यह भी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में समाविष्ट हो गया होगा। राजतरगिणी से प्रकट होता है कि काश्मीर पर अशोक का राज्य था। काश्मीर-घाटी मे उसने श्रीनगर की स्थापना की थी। परन्तु हम जानते है कि कलिंग-विजय के अतिरिक्त अशोक ने अन्य कोई भी विजय न की थी। कदाचित बिन्दुसार ने भी अपने साम्राज्य का विस्तार न किया था। अतः हमारा निष्कर्ष यही है कि काश्मीर चन्द्रगुप्त के समय से ही मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत था।

अपने साम्राज्य-विस्तार की तृतीय अवस्था मे चद्रगुप्त ने मगध-राज्य जीता। इस विजय के परिणाम-स्वरूप ऐसा अनुमान किया जाता है कि चद्रगुप्त ने नद-साम्राज्य के ऊपर उत्तराधिकार प्राप्त कर लिया होगा। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, नद-*साम्राज्य के अन्तर्गत पूर्व में गगा-डेल्टा से लेकर पश्चिम में व्यास नदी तक का सम्पूर्ण* प्रदेश सम्मिलित था। यही नही, कलिंग और कदाचित दक्षिणी भारत के कुछ भाग भी इस विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत थे। अत. यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि नद-वश के विनाश के पश्चात यह सम्पूर्ण साम्राज्य चद्रगुप्त के हाथ मे आ गया होगा।

कालान्तर मे चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस के साथ युद्ध हुआ। इस युद्ध में चद्रगुप्त की विजय हुई और उससे परिणाम-स्वरूप चद्रगुप्त को पैरोपेनिसेडेई, आरकोशिया, जेड्रोशिया और एरियान के प्रदेशो के विशाल भू-भाग दिए गए। इस प्रकार भारतीय साम्राज्य सिंधु सरिता की पश्चिमी सीमा से आगे बढ़कर हिन्दूकुश तक विस्तृत हो गया। डाक्टर स्मिथ ने हिन्दूकुश को ही भारतवर्ष की वैज्ञानिक सीमा माना है और उस सम्बन्ध मे निम्नलिखित अपना प्रसिद्ध कथन प्रस्तुत किया है—"दो हजार वर्ष से भी अधिक हुए, भारत के प्रथम सम्राट ने इस प्रकार उस 'वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त किया जिसके लिए उसके अग्रेज उत्तराधिकारी व्यर्थ में ही आहें भरते रहे और जिसको कि १६वीं और १७वी शताब्दियो के मुगल सम्राटो ने भी कभी पूर्ण रूप से प्राप्त न किया।'

दक्षिण-भारत की विजय—ऐसा प्रतीत होता है कि साम्राज्य-विस्तार की अन्तिम अवस्था में चंद्रगुप्त ने भारतवर्ष की दिग्विजय की और उसके अधिकांश भाग को

जीत कर भारतवर्ष में एकच्छत्र शासन की स्थापना की। परन्तु अभाग्य से हमें उसकी इस दिग्विजय का स्पष्ट एव सविस्तार वर्णन कही नही मिलता। उसके लिए यत्र-तत्र परोक्षरूप मे ही सकेत मिलते है।

प्लूटार्क का कथन है कि चद्रगुप्त ने '६ लाख सैनिको की सहायता से सम्पूर्ण भारत पर आक्रमण और अधिकार किया।'

इसी प्रकार जस्टिन चंद्रगुप्त को सम्पूर्ण भारत का नरेश मानता है।[1] भारतीय साक्ष्यों में महावश-टीका उसे 'सकल जम्बूद्वीप' का शासक करती है।[2] चक्रवर्ति-क्षेत्र की परिभाषा बताते समय कदाचित् चाणक्य के मस्तिष्क में चद्रगुप्त का ही साम्राज्य था।[3] मुद्राराक्षस के एक श्लोक से भी ज्ञात होता है कि चद्रगुप्त का साम्राज्य चतु. समुद्रपर्यन्त था।[4] प्रस्तुत साक्ष्यों पर विचार करने से प्रकट होता है कि ये कथन निस्सार नही हैं।

जहाँ तक पश्चिमी भारत का प्रश्न है, वह निश्चितरूप से चद्रगुप्त के अधीनस्थ था। रुद्रदामन् के जूनागढ अभिलेख से सिद्ध होता है कि वह प्रदेश चद्रगुप्त के अधिकार में था। वहाँ उसने पुष्यगुप्त वैश्य को अपना गवर्नर नियुक्त किया था।

यह निश्चितरूप से नही कहा जा सकता कि भारतवर्ष के इस पश्चिमी प्रदेश को सर्वप्रथम नन्दो ने जीता था अथवा चन्द्रगुप्त मौर्य ने। परन्तु इतना निश्चित है कि यह चन्द्रगुप्त के अधीनस्थ था। उधर, कलिग को कदाचित् चद्रगुप्त ने नन्द-साम्राज्य के एक अग के रूप मे पाया था। जब दक्षिण मे पश्चिमी और पूर्वी भारत के समुद्र तटीय प्रदेश चंद्रगुप्त के अधीन थे तो यह अनुमान करना अति स्वाभाविक है कि दक्षिणी भारत के कुछ अन्यान्य प्रदेश भी उसके अधीन रहे होगे। इस अनुमान की वास्तविकता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त तर्क भी हैं।

अशोक के अभिलेखो स प्रकट होता है कि उसका साम्राज्य दक्षिणी भारतवर्ष में उत्तरी मैसूर तक था। परन्तु अशोक ने तो एकमात्र कलिग की ही विजय की थी। अत. यह प्रश्न उठता कि फिर शेष दक्षिण की विजय किसने की। उत्तर में अशोक क पूर्वाधिकारी बिन्दुसार और चन्द्रगुप्त दोनो के ही नाम लिए जा सकते हैं।

बिन्दुसार चन्द्रगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी था। यूनानी उसे Amitrachates अथवा Allitrochades के नाम से पुकारते है। फ्लीट ने इस विरुद-का समीकरण 'अमित्रखाद' (शत्रुओं को खा जाने वाला) के साथ किया है। परन्तु लैसेन आदि अधिकाश विद्वान् इसका समीकरण 'अमित्रघात' (शत्रुओं का विनाशक) के साथ करते है। यह शब्द महाभाष्य और महाभारत मे भी प्रयुक्त हुआ है।[5] इस

१ ,... in possession of India'

२ 'सकले जम्बुदीपस्मिं रज्जे समि-
भिसिंचि सो'

३ तस्यां हिमवत् समुद्रान्तरं उदीचीनं योजनसहस्रपरिमानं अतिर्यक् चक्रवर्ति-क्षत्रम्-अर्थशास्त्र

४ अम्भोधीनां तमालप्रभवकिसलय
श्यामवेलावनानाम्
आपारेभ्यश्चतुर्णां चटुलतिमिकुला
क्षोभितान्तर्जलानाम्
मालेवाम्ला सपुष्पा नतनृपतिशतैरुह्यते
या शिरोभिः
सा मय्येव स्खलन्ती प्रथयति विनया-
लंकृतं ते प्रभुत्वम्
तथा
'आ तीरान्नैकरागस्फुरितमणिरुचो
दक्षिणस्यार्णवस्य'।

५ महाभाष्य ३. २. २. महाभारत २. ३०. १९; ७. २२. १६.

विरुद्ध के आधार पर कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि दक्षिण भारत की विजय बिन्दुसार ने ही की होगी। वहाँ के शत्रुओं को परास्त करके अथवा उनका नाश करके ही उसने 'अमित्रघात' की उपाधि धारण की होगी। परन्तु यह निष्कर्ष अनिवार्य नहीं है। इतिहास में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब छोटे-छोटे राजाओं ने बिना किसी विजय के बड़ी-बड़ी उपाधियाँ धारण की थीं। इस विषय में बाद के गुप्त नरेशों (Later Imperial Guptas) के दृष्टान्त प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

पुनः बिन्दुसार की दक्षिण-विजय के पक्ष में तारानाथ का एक कथन उद्धृत किया जाता है। इस कथन के अनुसार ब्राह्मण चाणक्य बिन्दुसार का भी महामंत्री था। उसने पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच के प्रदेश में स्थित लगभग १६ नगरों के राजाओं का दमन किया और उन्हें बिन्दुसार के अधीन कर दिया। इस पर कुछ विद्वानों का निष्कर्ष है कि ये नरेश दक्षिण भारत के ही लघु नरेश थे।[1] परन्तु इस मत को ग्रहण करने में कुछ कठिनाई प्रतीत होती है। प्रथमतः, तारानाथ बहुत बाद (१४०० ई० के लगभग) का लेखक है। अतः यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि उसके कथन में कितनी ऐतिहासिकता है। द्वितीयतः, यह आवश्यक नहीं है कि 'पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों' के बीच का प्रदेश अनिवार्यतः दक्षिणी भारतवर्ष ही हो। यह प्रदेश बंगाल और काठियावाड़ के बीच का उत्तरी भारत का भी प्रदेश हो सकता है। बहुत सम्भव है कि बिन्दुसार के समय चंद्रगुप्त द्वारा विजित उत्तरी अथवा दक्षिणी भारतवर्ष में अधीन राजाओं के विद्रोह हुए हों और चाणक्य ने उन्हीं का दमन किया हो। वस्तुत. जब तक कोई साक्ष्य निर्विवादरूप से बिन्दुसार को दक्षिण भारत का विजेता नहीं कहता जब तक हम उसे दक्षिण-विजय का श्रेय नहीं दे सकते। दक्षिणी भारत के अनेक अभिलेख नन्दों, चन्द्रगुप्त और अशोक का उल्लेख करते हैं, परन्तु वे बिन्दुसार के विषय में पूर्ण मौन हैं। यदि बिन्दुसार ने दक्षिण-विजय की होती तो कोई न कोई अभिलेख उसका उल्लेख अवश्य करता।

पुनः, यूनानी साक्ष्यों से विदित है कि बिन्दुसार विलासी अथवा शांत प्रकृति का मनुष्य था। एक यूनानी लेखक एथेनिअस का कथन है कि अमित्रघात ने सीरिया-नरेश ऐण्टिओकस से मदिरा, सूखे अजीर और एक दार्शनिक भेजने की प्रार्थना की थी। सीरिया-नरेश ने प्रथम दो वस्तुओं को भेजना तो स्वीकार कर लिया, परन्तु दार्शनिक के विषय में उत्तर दिया कि उसके देश की परम्परा के अनुसार दार्शनिक बेचा नहीं जा सकता। अतः सम्भव है कि बिन्दुसार युद्ध के कठोर कर्मों की अपेक्षा आमोद-प्रमोद और दार्शनिक वाद-विवाद में अधिक रुचि रखता हो। ऐसी प्रकृति का व्यक्ति कदाचित दक्षिण-विजय के सर्वथा अनुपयुक्त था।

एलियन ने भारतवर्ष के किसी सबसे बड़े नरेश का उल्लेख किया है जिसके राजकुमार राजप्रासाद के जल-पुंजों में मछलियाँ पकड़कर मनोविनोद किया करते थे और नाव चलाना सीखते थे। सम्भव है कि वह सबसे बड़ा नरेश चंद्रगुप्त रहा हो और बिंदुसार उन राजकुमारों में से एक रहा हो। यदि ऐसा है, तो बिंदुसार के विलासी जीवन का एक अन्य प्रमाण उपलब्ध होता है। हम यह स्वीकार करते हैं कि विलासिता और शूरता सदैव पृथक्-पृथक् नहीं रहतीं। इतिहास में सिकन्दर, सीजर, नेपोलियन एवं बहुसंख्यक भारतीय राजपूत नरेश ऐसे हुए हैं जो शूर-वीर एवं विजेता होते हुए भी विलासी प्रकृति के थे। युद्ध से अवकाश मिलने पर ये आमोद में भी रुचि लेते थे। परंतु इस तथ्य को स्वीकार करने के पश्चात् भी बिंदुसार की तथाकथित दक्षिण-

१ J. B. O. R. S., II, p. 79

विजय के पक्ष में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता।

इस सम्पूर्ण विवेचन के पश्चात् हमारे पास यही मार्ग रह जाता है कि हम चंद्रगुप्त को ही दक्षिण-भारत का विजेता घोषित करें। जिस लौह-पुरुष ने अजेय सिकन्दर के उत्तराधिकारी से पश्चिमी भारत को मुक्त कराया, जिसने महाशक्तिशाली नंद-वंश का उन्मूलन कर डाला और जिसने महत्वाकाक्षी सेल्यूकस को पराजित कर पुरु-पराजय का प्रतिशोध किया और भारतीय सीमा को हिंदूकुश तक विस्तृत किया वह निश्चय ही दक्षिण-विजय के लिए क्षमता रखता था।

चद्रगुप्त के दक्षिण-विजय के कुछ साहित्यिक प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। दक्षिण के कुछ तामिल कवियों ने मौर्यों का उल्लेख किया है। इनमें मामूलनार कवि विशेष उल्लेखनीय है। इसके कथन के अनुसार कोशार जाति ने अपनी विजय-यात्रा प्रारम्भ की। उसने अनेक शत्रुओं को पराजित किया। परन्तु मोहूर नामक एक अन्य जाति थी जिसने आत्म-समर्पण करने से इनकार कर दिया। इस पर मोरियार अपनी विशाल सेना के साथ उनकी सहायता के लिए आए। मोरियार के आगे-आगे वडुगर भी कोशार की सहायता के लिए बढ रहे थे।

इसी प्रकार उल्लेख अन्य दो तामील कवियों—कल्लिल आत्तिरयनार और परगोर्नार-की कविताओ मे भी मिलते है, यद्यपि ये मामूलनार की अपेक्षा कही अधिक अस्पष्ट है। विद्वानों ने मोरियार का समीकरण मौर्यों के साथ किया है। एक स्थान पर 'वम्ब मोरियार' का उल्लेख मिलता है। 'वम्ब' का अर्थ है नवीन। अत इससे चद्रगुप्त मौर्य का तात्पर्य हो सकता है। वडुगर का समीकरण दक्षिण की कन्नड-तेलगू जाति के साथ किया जाता है और कोशार का सतियपुत के साथ। ऐसा प्रतीत होता है कि चद्रगुप्त मौर्य अति साम्राज्यवादी था। अत दक्षिण की दो जातियो के पारस्परिक सघर्ष का लाभ उठाकर वह एक की सहायता और दूसरे का विरोध करने के लिए अपनी विशाल सेना के साथ दक्षिणी भारत के राजनीतिक मच पर आ धमका। यही नही, उसे दक्षिण की एक अन्य जाति वेडुगर से भी सहायता मिली। कदाचित् इस जाति का भी मोहूर जाति के साथ पारस्परिक वैमनस्य रहा होगा। वैरशोधन के लिए ही कदाचित इन जातियो ने एक बाह्य आक्रमणकारी को आमन्त्रित किया होगा।

सम्पूर्ण उद्धरणो को समक्ष रखकर विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मौर्य, कोशार और वडुगर की सम्मिलित सेनायें दक्षिण में कोनकन दर्रे को पार करती हुई तिन्नेवेली जिला की पोडियिल पहाड़ियो तक प्रवेश कर गई। मुद्राराक्षस में भी चद्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य दक्षिणी समुद्र तक बताया गया है जो शुभ्र मुक्ताओ से परिपूर्ण हैं। कुछ विद्वानो का निष्कर्ष है कि इससे पाण्ड्य-देश ध्वनित होता है।

परन्तु हम पूर्णरूप से इन निष्कर्षों को स्वीकार नहीं कर सकते। प्रथमतः तीनों तामिल कवियों का काल ईसा की प्रथम तीन शताब्दियाँ है जो मौर्य-काल से काफी बाद है। अत वे मौर्य-कालीन घटनाओं से कहाँ तक अवगत थे, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। द्वितीयत, इन कविताओं में स्थान-स्थान पर पौराणिक बातों का समावेश है जिनसे इतिहास का कोई सम्बन्ध नही है। पुन. अतिरजन और अतिशयोक्ति के दोषों ने उनके वर्णनों को ऐतिहासिकता से और भी दूर कर दिया है। तृतीयत इन कविताओं में जो नाम आते हैं उनके समीकरण अति सदिग्ध हैं।

फिर भी यह सम्भव है कि उनमें इतिहास के कुछ कण अंतर्निहित हों। यद्यपि चंद्रगुप्त का तिन्नवेली तक आक्रमण करना अवास्तविक हो सकता है तथापि उसके

दक्षिण भारत में आगमन की सुदीर्घ परम्परा का हम पूर्णरूप से परित्याग नहीं कर सकते। तामील साहित्य के अतिरिक्त अन्य साक्ष्य भी चद्रगुप्त का दक्षिण भारत के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अतः यह अनुमान कर लेना अस्वाभाविक नहीं है कि किसी समय चन्द्रगुप्त ने दक्षिणी भारत पर आक्रमण अवश्य किया था और उसके कुछ भाग पर अपना आधिपत्य भी स्थापित किया था।

जैन साक्ष्य को हम तीन भागो में विभक्त कर सकते हैं—(१) साहित्यिक (२) अनुश्रुति सम्बन्धी-और (३) अभिलेख-सम्बन्धी। जैन साहित्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम उल्लेखनीय भद्रबाहुचरित है। इसमें अवन्ति देश के 'चन्द्रगुप्ति' राजा का वर्णन है। एक समय राज्य मे १२ वर्ष का दीर्घ दुर्भिक्ष पडा। तभी चन्द्रगुप्ति जन आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण चला गया। वहाँ दोनो ने तपश्चर्या के द्वारा एक गिरिगुहा मे शरीर-त्याग कर दिया।

कुछ विद्वानो का कथन है कि भद्रबाहु-चरित मे यह स्पष्टतया नही लिखा हुआ है कि यह अवन्ती-नरेश चन्द्रगुप्ति उसी नाम का चन्द्रगुप्त मौर्य था। परन्तु इस आपत्ति में विशेष बल नही है। जैन साहित्य[१] के अनेक ग्रन्थो में पालक के पश्चात् अवन्ती-नरेशो मे मौर्य-सम्राटों की गणना हुई है। सौराष्ट्र के साथ-साथ चन्द्रगुप्त ने अवन्ती के ऊपर भी अपना अधिकार कर लिया होगा।

भद्रबाहुचरित के समान अन्य बौद्ध ग्रन्थो पुण्याश्रवकथाकोश और राजाबलि-कथा मे भी चन्द्रगुप्त के जैन होने तथा आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण जाकर अनशन द्वारा प्राणत्याग करने का उल्लेख है। परन्तु कुछ विद्वान इनकी ऐतिहासिकता पर विश्वास नही करते क्योकि (१) इन कथाओ का चन्द्रगुप्त अशोक का पितामह न होकर अशोक का पौत्र था। पुन (२) राजावलिकथा के अनुसार चन्द्रगुप्त का पुत्र सिंहसेन था जबकि प्रथम मौर्य चन्द्रगुप्त के पुत्र का नाम बिन्दुसार था। इसके अति-रिक्त (३) कुछ अन्य जैन ग्रन्थो–परिशिष्ट पर्वन् और आराधनाकोश आदि–में चन्द्रगुप्त का भद्रबाहु के साथ दक्षिण मे जाकर तपश्चर्या द्वारा प्राण-त्याग करने का उल्लेख नही है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये आपत्तियाँ न्यायसगत प्रतीत होती है, परन्तु फिर भी वे किसी न किसी रूप मे समझाई जा सकती हैं।

(१) इतिहास मे एकही चद्रगुप्त का उल्लेख मिलता है और वह है प्रथम मौर्य सम्राट्। जैन धर्म-ग्रथो के अतिरिक्त किसी ने भी अशोक के पौत्र का नाम चद्रगुप्त नही बताया है। सब कही उसके पौत्र का नाम सम्प्रति ही मिलता है। यह कहना कि यही सम्प्रति चंद्रगुप्त द्वितीय था, कोई अर्थ नही रखता। दोनो का समीकरण किसी भी दृढ प्रमाण के ऊपर आधारित नही। मौर्य-वश में न तो दो चद्रगुप्त हुए और न सम्प्रति का दूसरा नाम चद्रगुप्त था। पुन. सम्प्रति कभी भी दिग्विजयी न था। उसने कभी भी दक्षिण-विजय न की थी। दक्षिण से उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध भी न था। उसका शासन-काल मौर्य-साम्राज्य के पतन का काल था। जैन धर्मा-वलम्बी होने के कारण जैन ग्रन्थो ने उसे बौद्ध प्रचारक अशोक के समान महत्ता देने का प्रयास किया है। परन्तु इतिहास उसे कदापि इसका अधिकार नही देता। यदि किसी मौर्य ने दक्षिण-विजय की थी, तो उसका श्रेय एकमात्र चद्रगुप्त (अशोक का पितामह) को ही मिलना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता कि भूल से उपर्युक्त ग्रन्थों के लेखको ने दक्षिण में जाने वाले चद्रगुप्त को अशोक के पितामह के स्थान पर अशोक

१ परिशिष्टपर्व पृ० २० (याकूबी), कल्पसूत्र पृ० ७ (याकूवी)

का पौत्र लिख दिया। जहाँ तक तथाकथित अशोक के पौत्र चंद्रगुप्त 'द्वितीय' का प्रश्न है, वह पूरी कल्पना प्रतीत होता है।

(२) दूसरी आपत्ति भी हमारे मार्ग में विशेष बाधक नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों का आधार बहुधा प्राचीन अनुश्रुतियाँ रहा है जो कालातिपात से अधिकाधिक विस्मृत होती जाती थीं। परिणामतः अनेक ग्रन्थों में एकमात्र कोई ऐतिहासिक तथ्य तो सरक्षित रहता है परन्तु उसके अतिरिक्त अन्यान्य विवरण कल्पना से पूरे कर दिये जाते थे। उदाहरणार्थ, पूर्ववर्णित मुद्राराक्षस है। इसके कुछ पात्र तो ऐतिहासिक हैं, परन्तु कुछ नितान्त काल्पनिक हैं। यही बात राजावलिकथा के विषय में भी कही जा सकती है। इसमें वर्णित भी समस्त व्यक्ति ऐतिहासिक नहीं हो सकते। इसमें चद्रगुप्त के पुत्र का नाम सिंहसेन दिया है। या तो यह बिन्दुसार का दूसरा नाम रहा होगा या फिर चद्रगुप्त के पुत्र के यथार्थ नाम से अपरिचित होने के कारण लेखक ने अपनी कल्पना से यह नाम रख लिया होगा। यदि हम विरोधी पक्ष के विद्वानों के अनुसार यह भी मान लें कि राजावलिकथा में वर्णित चद्रगुप्त 'द्वितीय' (सम्प्रति) था तो भी समस्या हल नहीं होती, क्योंकि सम्प्रति के कोई भी सिंहसेन नामधारी पुत्र न था। अतः इस सिंहसेन का पता न लग सकने के कारण राजावलिकथा में वर्णित चद्रगुप्त को प्रथम मौर्य सम्राट स्वीकार न करना न्यायसगत प्रतीत नहीं होता।

(३) इसमें कोई सन्देह नहीं कि परिशिष्टपर्व और आराधनाकोश जैसे जैन ग्रन्थों में चद्रगुप्त और भद्रबाहु की दक्षिण-यात्रा का वर्णन नहीं मिलता है। परन्तु क्या इसी कारण हम उस सुदीर्घ अनुश्रुति का परित्याग कर दें जो अनेक अन्य ग्रन्थों, अभिलेखों और लोक-चेतना में सरक्षित रही है? कदाचित् इन ग्रन्थों में उस अनुश्रुति का समाविष्ट न होना आकस्मिक है।

(४) जनश्रुति-सम्बन्धी—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, जनश्रुति के मतानुसार चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु दक्षिण में श्रवणबेलगोल (मैसूर) नामक स्थान पर गए थे। वहाँ चन्द्रगुप्त के नाम पर एक पर्वत है जिसे चन्द्रगिरि कहते हैं। उसी के पास 'चन्द्रगुप्तवस्ति' नामक एक मन्दिर भी है। कहते हैं कि चन्द्रगुप्त ने यहीं अनशन करके प्राण-विसर्जन किया था। चन्द्रगिरि पर्वत पर ही एक गुफा है जो भद्रबाहु स्वामी की गुफा के नाम से प्रख्यात है। यह जैन आचार्य भद्रबाहु के दक्षिण-आगमन का स्मरण दिलाती है।

(५) अभिलेख-सम्बन्धी—चन्द्रगिरि पर्वत पर अनेक अभिलेख मिलते हैं।[1] ये भिन्न-भिन्न कालों में उत्कीर्ण किए गए थे। इनमें सबसे अधिक प्राचीन ७वीं शताब्दी का है। ये समस्त लेख बारहवर्षीय दुर्भिक्ष, चन्द्रगुप्त एव भद्रबाहु के दक्षिण-आगमन, तपश्चर्या एव प्राण-विसर्जन का विवरण देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अभिलेखों के विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें उल्लिखित भद्रबाहु उत्तरीय भारत का जैनाचार्य न था। कहीं-कहीं उसका शिष्य भी मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त नहीं प्रतीत होता। परन्तु इन त्रुटियों का कारण कदाचित जनश्रुतियों का विस्मरण एव लेखकों की असावधानी है। शनैः शनैः चन्द्रगुप्त-भद्रबाहु-कथा के सम्बन्ध में अनेक अनैतिहासिक बातों का भी प्रचलन हो गया होगा। अनेक स्थलों पर उनके तथ्यों को ग्रहण करके तथा उन्हें आवश्यकतानुकूल परिवर्तित करके स्थानीय परन्तु अनैतिहासिक जनश्रुतियों के साथ भी जोड़ दिया होगा। इसी से कुछ अभिलेखों और ग्रन्थों

1 Rice-Mysore and Coorg from Inscriptions.

में चन्द्रगुप्त एवं भद्रबाहु के सम्बन्ध में कुछ भ्रामक, विरोधी अथवा नवीन कल्पनाओं ने स्थान ग्रहण कर लिया है।

यद्यपि उपर्युक्त सम्पूर्ण जैन-परम्परा में अनेक आपत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं तथापि उनका सामूहिक प्रभाव कदाचित चन्द्रगुप्त और दक्षिणी भारत का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पर्याप्त रूप से विश्वसनीय है।

इसके साक्ष्य व्यक्तिगतरूप से निर्बल होते हुए भी सामूहिक रूप से सबल हो जाते हैं। यदि चन्द्रगुप्त का दक्षिणी भारत के कुछ भाग पर अधिकार न होता तो इतनी आग्रहपूर्ण परम्परा कभी भी विद्यमान न होती। अतः इस परम्परा के काफी बाद के होने के बावजूद भी हम इसका पूर्णरूप से बहिष्कार नहीं कर सकते।

ऐसी परिस्थिति में श्रवणबेलगोल-परम्परा के आधार पर यही निष्कर्ष स्वाभाविक प्रतीत होता है कि मैसूर तक का दक्षिणी भारत चन्द्रगुप्त के अधीन अवश्य रहा होगा।[1]

अन्य अधीनस्थ राज्य—पीछे कहा जा चुका है कि काश्मीर पर चन्द्रगुप्त ने ही मौर्य-आधिपत्य स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त ऐसा प्रतीत होता है कि नेपाल भी उसके अधीन था। उस पर अशोक का आधिपत्य सर्वमान्य है। वहाँ उसने ललितपाटन का नगर बसाया था। परन्तु अशोक ने एकमात्र कलिंग-विजय ही की थी और बिन्दुसार की कोई विजय प्रमाणित नहीं होती। अतः हमारा निष्कर्ष है कि नेपाल-विजय का श्रेय चन्द्रगुप्त को ही मिलना चाहिए। उसके पुत्र और पौत्र ने उसे एकमात्र उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया था।

बंगाल पर चन्द्रगुप्त का आधिपत्य सम्भवतः महास्थान अभिलेख से प्रकट होता है। यह अभिलेख प्रारम्भिक मौर्य-लिपि में है तथा इसमें काकिनी मुद्रा का उल्लेख आता है जिसका वर्णन कौटलीय अर्थशास्त्र में किया गया है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रुद्रदामन के गिरनार-अभिलेख से सिद्ध होता है कि सौराष्ट्र का प्रदेश चन्द्रगुप्त के अधीन था। यहाँ उसने पुष्यगुप्त वैश्य को अपना राष्ट्रीय (गवर्नर) नियुक्त किया था। इसी गवर्नर ने लोकहितार्थ वहाँ इतिहास-प्रसिद्ध सुदर्शन-झील का निर्माण कराया था।

सौराष्ट्र के साथ-साथ अवन्ती (मालवा) पर भी चन्द्रगुप्त का अधिकार होना स्वाभाविक है। वास्तव में जैन ग्रन्थों के अनुसार मौर्य अवन्ती के अधिपति थे।[2] यह आधिपत्य सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त के समय में ही स्थापित हुआ होगा।

अब प्रश्न रह जाता है कलिंग का। सर्वविदित है कि अशोक ने इस पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। इसी से कुछ विद्वानों का निष्कर्ष है कि उसके पूर्व यह मौर्य-साम्राज्य के बाहर था। पुन उन विद्वानों का यह भी कथन है कि मेगास्थनीज ने कलिंग का जो वर्णन किया है वह एक स्वतन्त्र राज्य के समान है।

हाथीगुफा अभिलेख से प्रकट होता है कि कलिंग पर नन्दराज का आधिपत्य था। अतः यह अस्वाभाविक प्रतीत होता है कि नन्द-साम्राज्य को पूर्णरूप से हस्तगत करने

१ जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, दक्षिण-विजय सर्वप्रथम नन्दराज ने की थी। उसके अधीन दक्षिणी भारत का बहुत बड़ा भू-प्रदेश था। परन्तु सम्भवतः मगध-क्रान्ति के अशान्ति-काल में वह पुनः स्वतन्त्र हो गया था। अतः चन्द्रगुप्त को फिर से उस पर आक्रमण करना पड़ा होगा और उसे अपनी अधीनता स्वीकार करानी पड़ी होगी।

२ कल्पसूत्र, परिशिष्टपर्वन्

तथा सुदूर प्रान्तों को अधीनस्थ करने के पश्चात भी दुर्धर्ष साम्राज्यवादी चन्द्रगुप्त कलिंग जैसे लघु परन्तु सम्पन्न देश की स्वतन्त्रता के प्रति उदासीन रहा। जिस समय चन्द्रगुप्त के अतुल सैन्यबल और चाणक्य की गूढ़ कूटनीति के समय विदेशीय एवं स्वदेशीय शासक एक-एक करके आत्म-समर्पण कर रहे थे, उस समय यह नितान्त अस्वाभाविक प्रतीत होता है कि कलिंग सर्वहारी मौर्य-सत्ता के समक्ष चुनौती के रूप में सिर ऊँचा किये हुए खडा रहा। कलिंग के चतुर्दिक कोई भी प्रमुख राज्य स्वतन्त्र न बचा था। फिर एकमात्र कलिंग ही कैसे बचता?

अतः हमारा अनुमान है कि चन्द्रगुप्त ने कलिंग को भी अपने अधीन कर लिया था। परन्तु दूरस्थ प्रदेश होने के कारण उसके आन्तरिक विषयो में उसने हस्तक्षेप न किया। वास्तव मे वह मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत एक स्वायत्त शासन-प्राप्त प्रान्त के समान था। इसी से मेगास्थनीज ने उसका स्वाधीन देश के समान वर्णन किया है।

अब रही अशोक की कलिंग-विजय की बात। ऐसा प्रतीत होता है कि बिन्दुसार की शान्तिमूलक नीति अथवा अशोक के प्रारम्भिक शासन-काल की अशान्ति से लाभ उठाकर कलिंग ने पुनः अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी। इसी से अशोक को उसे पुन अधीन करने की आवश्यकता पडी।

इस पूर्ण विवेचन के पश्चात अब हमें यदि एक वाक्य में चन्द्रगुप्त के साम्राज्य-विस्तार का वर्णन करना पडे तो हम यही कहेंगे कि उसका साम्राज्य हिन्दूकुश से लेकर बगाल तक और हिमालय से लेकर मैसूर तक विस्तृत था। इसके अन्तर्गत अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान के विशाल प्रदेश, पजाब, सिन्धु, काश्मीर, नेपाल, गगा-यमुना का दोआब, मगध, बगाल, कलिंग, सौराष्ट्र, मालवा तथा दक्षिण भारत का मैसूर तक का प्रदेश सम्मिलित था।

चन्द्रगुप्त का शासन-काल—पुराणो में चन्द्रगुप्त के शासन-काल के ऊपर कुछ मतभेद है। वायु पुराण[1] में यह शासन-काल २४ वर्ष का बताया गया है। इसके विपरीत मत्स्यपुराण[2] में ३४ वर्ष का। परन्तु महावश वायु-पुराण के समान ही २४ वर्ष का उल्लेख करता है। अत यही काल न्यायसगत प्रतीत होता है।

परन्तु इस पर भी श्री नारायणशास्त्री का मत है कि मत्स्यपुराण का ३४ वर्ष का काल ही ठीक है। वे कहते है कि 'चतुर्विशत' (२४) पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ तो 'चतुर्विशति' होना चाहिए। परन्तु 'चतुर्विशति' के प्रयोग से श्लोक में छन्दोभग हो जाता है। वास्तव मे पहले 'चतुस्त्रिशत' (३४) था। इसी के स्थान पर भूल से 'चतुर्विशत' रख दिया गया।

परन्तु शास्त्री जी का मत असगत है। पार्जिटर के कथानुसार पुराण पहले प्राकृत में लिखे गए थे। कालान्तर मे उनका सस्कृत में रूपान्तर किया गया। इस रूपान्तर में व्याकरण की अनेक अशुद्धियाँ रह गई है। 'चतुर्विशत' ऐसी ही अशुद्धि प्रतीत होती है।

इस प्रकार हमारे विचार से चन्द्रगुप्त का शासन-काल ३२२ ई० पू० से २९८ ई० पू० तक स्थिर होता है।

चन्द्रगुप्त का धर्म—अपने जीवन के अन्तिम चरण मे चन्द्रगुप्त चाहे जैन धर्मावलम्बी ही क्यो न हो गया है, परन्तु प्रस्तुत साक्ष्यो से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ

१ चतुर्विंशत् समा राजा चन्द्रगुप्तो भविष्यति—वायु०.

२ चतुस्त्रिंशत् समा राजा चन्द्रगुप्तो भविष्यति—मत्स्य०

में वह जैनेतर धर्मों में भी श्रद्धा रखता था। स्वयं जैन लेखक हेमचन्द्र परिशिष्टपर्व में लिखता है कि चन्द्रगुप्त प्रारम्भ में मिथ्यामतावलम्बी व्यक्तियों का संरक्षक था।[१] स्वयं उसकी राजसभा में एक जटिलक मन्त्री था। बौद्ध ग्रन्थों में जटिलक-सम्प्रदाय का अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ था। इसके अतिरिक्त वर्णाश्रमधर्म के महान् पोषक महामन्त्री ब्राह्मण चाणक्य के प्रभाव में भी चन्द्रगुप्त ब्राह्मण-धर्म में श्रद्धा रखता था। यूनानियों का उल्लेख है कि याज्ञिक कार्यों को करने के लिए वह राज्य-प्रासाद से बाहर निकलता था।

जहाँ तक बौद्ध धर्म का प्रश्न है, चन्द्रगुप्त ने कदाचित् उसके प्रसार को मर्यादित करने के हेतु कुछ प्रतिबन्ध लगाये थे। कम से कम अर्थशास्त्र से यही प्रतीत होता है। बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि शीघ्र ही बौद्ध संघ में चोर, डाकू, अभियुक्त, अल्प-वयस्क, अज्ञान, भावुक, उत्तरदायित्वहीन व्यक्तियों का भी अधिकाधिक प्रवेश होने लगा था। इस परिस्थिति ने नवसंस्थापित राज्य एवं सामाजिक व्यवस्था के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया होगा। यही कारण है कि बौद्ध प्रसार के ऊपर कुछ नियन्त्रण रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह नियन्त्रण निश्चय ही राजनीतिक एवं सामाजिक संरक्षा के निमित्त था, धार्मिक असहिष्णुता के कारण नहीं। थेरीगाथा टीका का कथन है कि चाणक्य की प्रेरणा से चन्द्रगुप्त ने एक स्थविर के पुत्र को कारागार में बन्दी बना कर डाल दिया था। इसका कारण भी राजनीतिक ही रहा होगा।

जीवन के अन्तिम चरण में चन्द्रगुप्त के जैन हो जाने के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

जैन ग्रन्थ भद्रबाहु-चरित, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, आराधना-कथाकोश, पुण्याश्रवकथा-कोश आदि में उसका जैनधर्मावलम्बी हो जाना उल्लिखित है। श्रवणबेलगोल की जनश्रुति तथा उसके अभिलेख भी इसकी परिपुष्टि करते हैं। इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

चन्द्रगुप्त का शासन-प्रबन्ध

साम्राज्य-विभाजन—सम्पूर्ण मौर्य-साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभक्त था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में इन प्रान्तों की संख्या कितनी थी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हाँ, उसके पौत्र अशोक के समय में निम्नलिखित प्रान्त थे—

(१) **उत्तरापथ**—इसमें कम्बोज, गान्धार, काश्मीर, अफगानिस्तान, पंजाब आदि प्रदेश थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी।

(२) **अवन्ति-राष्ट्र**—इसमें काठियावाड, गुजरात, मालवा और राजपूताना आदि प्रदेश थे।

(३) **दक्षिणापथ**—विन्ध्याचल के दक्षिण का समस्त प्रदेश इसके अन्तर्गत था। इसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी।

(४) **कलिंग**—इसकी राजधानी तोसाली थी।

(५) **मध्यदेश**—इसमें उत्तर-प्रदेश तथा प्राच्य प्रदेश (बिहार और बंगाल) सम्मिलित था। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी।

उत्तरापथ, अवन्ति राष्ट्र और मध्य देश निश्चित रूप से चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में थे। परन्तु शेष दो प्रान्तों-दक्षिणापथ और कलिंग—के विषय में मतभेद है।

१ परिशिष्टपर्व ८. ४१५

प्रत्येक प्रान्त अनेक जनपदों में विभक्त रहता था। जनपद के निम्नलिखित विभाग होते थे—

(१) स्थानीय = ८०० ग्राम
(२) द्रोणमुख = ४०० ग्राम
(३) खार्वटिक = २०० ग्राम
(४) संग्रहण = १०० ग्राम
(५) ग्राम

इस प्रकार ग्राम ही साम्राज्य की सबसे छोटी इकाई थी।

राजा—इस सम्पूर्ण साम्राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी स्वयं सम्राट था। मध्यदेश का प्रान्त स्वतः उसके प्रत्यक्ष शासन में था। कदाचित साम्राज्य का मूल प्रदेश होने के कारण चन्द्रगुप्त ने इसे अपने प्रत्यक्ष शासन में रखने का निर्णय किया था। शासन-संचालन के लिए उसने मध्य देश के प्रमुख नगरों में महामात्र नियुक्त कर रखे थे। ये महामात्र पाटलिपुत्र और कौशाम्बी जैसे नगरों में स्थित थे।

प्राचीन भारत में राज्य के ७ अंग समझे जाते थे—(१) राजा (२) अमात्य (३) जनपद (४) दुर्ग (५) कोष (६) सेना और (७) मित्र। इन्हीं के ऊपर राज्य आधारित था। इनमें सर्वप्रमुख स्थान राजा का था। इसी लिए कौटिल्य ने राजा की योग्यता के ऊपर विशेष महत्व दिया है। 'वह ऊँचे कुल का हो, उसमें दैवी बुद्धि और दैवी शक्ति हो, वह गुरुजन की बात को सुननेवाला हो, धार्मिक हो सत्य-भाषी हो, परस्पर-विरोधी बातों से परे हो, उच्च लक्ष्य वाला हो, अति उत्साही हो, दीर्घसूत्री न हो, सामन्त राजाओं को नियन्त्रण में रखने वाला हो, दृढ़बुद्धि हो, छोटी परिषद वाला न हो तथा वह विनयानुगामी हो. राजा की व्यक्तिगत योग्यता का महत्व इसलिए भी था कि प्रजा प्रायः उसी का अनुगमन करती है। अर्थशास्त्र कहता है कि 'राजा का जो शील होता है वही प्रजा का भी होता है। यदि राजा उद्यमी और उन्नतिशील हो तो प्रजा भी उन्नतिशील होती है। यदि राजा प्रमादी हो तो प्रजा भी उसी प्रकार हो जाती है।

राजा के कार्य तीन कोटियों में विभक्त किये जा सकते हैं—

(१) कार्यकारिणी—राज्य के समस्त उच्च कर्मचारियों की—मन्त्रियों, पुरोहितों, गुप्तचरों, राजदूतों आदि की नियुक्ति का विशेष उत्तरदायित्व राजा पर ही था। वह मन्त्रिपरिषद को बुलाता और उसके साथ नीति-निर्धारण करता था। गुप्तचरों द्वारा लाई या भेजी गई सम्पूर्ण सूचनाओं को एकत्र करना भी उसी का काम था। राज्य के आय-व्यय के ब्यौरे अन्ततोगत्वा उसी के समक्ष रखे जाते थे। राज्य का कोई भी विभाग ऐसा न था जिस पर उसका नियन्त्रण न हो। जनपद के समाहर्ता उसी के आदेशों के अनुसार शासन-संचालन करते थे।

(२) व्यवस्थापिका—कौटिल्य के अनुसार राजा को व्यक्तिगत रूप से भी कानून बनाने का अधिकार था। वह 'धर्मप्रवर्तक' (कानून बनाने वाला) कहा गया है। राजशासन वैध कानून की महत्ता रखता था। अशोक के अभिलेखों में भी 'शासन' का उल्लेख है।

(३) न्याय—मेगस्थनीज के वर्णन से प्रकट होता है कि राजा अपनी राजसभा में बैठा दिन भर प्रजा के आवेदनों को सुना करता था और उन पर न्याय किया करता था। कौटिल्य का भी कथन है कि राजा को चाहिए कि वह अपने आवेदकों को

अधिक समय तक द्वार पर प्रतीक्षा करने का अवसर न दे। जब वह आवेदकों के लिए अप्राप्य हो जाता है तो प्रजा में असन्तोष बढ़ने लगता है।

मन्त्रिपरिषद्—राजा को सहायता देने के लिए कौटिल्य ने एक मन्त्रिपरिषद की व्यवस्था की थी। इस मन्त्रिपरिषद में जितने अधिक मन्त्री हों उतना अच्छा। उसने इन्द्र की परिषद का उल्लेख किया है जिसमें १००० ऋषि-सदस्य थ। पुनः वह क्षुद्र-परिषद (छोटी परिषद) की निन्दा भी करता है। वस्तुतः मगध-साम्राज्य की विशालता एव कार्यसकुलता को देखते हुए ही चाणक्य ने ऐसी व्यवस्था की थी। मन्त्रिपरिषद के सदस्यों का वेतन १२००० पण था। ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्रि-परिषद का अधिवेशन दैनिक राजकार्य करने के लिए न होता था। वह आवश्यक कार्यों (आत्ययिक कार्यों) के सम्बन्ध में ही बुलाई जाती थी। अर्थशास्त्र से प्रकट होता है कि इस सभा की मन्त्रणा अति गुप्त रखी जाती थी। मन्त्रिपरिषद के निर्णय बहुमत (भूयिष्ठ) से होते थे। अनुपस्थित सदस्य पत्र द्वारा अपना मत भेज सकते थे। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर राजा मन्त्रिपरिषद के बहुमत के विरुद्ध भी कार्य कर सकता था। परिषद के सदस्य स्वय राजा द्वारा मनोनीत होते थे। जो अमात्य 'सर्वोपधाशुद्ध' समझे जाते थे उन्ही को मन्त्रिपरिषद में स्थान दिया जाता था। अशोक के अभिलेख 'परिसा' के रूप में हुआ है।

मन्त्री—दैनिक कार्यों के लिए राजा कुछ मन्त्री नियुक्त करता था। ये मन्त्रि-परिषद के सदस्यों से पृथक् थे। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, मन्त्रिपरिषद के सदस्य का वेतन १२००० पण होता था। इससे प्रकट होता है कि मन्त्री का पद मन्त्रि-परिषद से ऊँचा समझा जाता था। मन्त्रियों के परामर्श से ही सम्पूर्ण राज्य का शासन-सचालन होता था। समस्त उच्च पदाधिकारी इन्ही मन्त्रियों की सम्मति से नियुक्त होते थे। राजा इन्ही मन्त्रियों की सहायता से राज्य के समस्त कर्मचारियों के शौचाशौच की परीक्षा करता था। राजदूतों और गुप्तचरों की नियुक्ति में भी ये मन्त्री राजा को परामर्श देते थे।

समाहर्ता—साम्राज्य के जनपद 'समाहर्ता' नामक अमात्य के अधीन होते थे। उसका प्रमुख कार्य कर एकत्र करना था। जनपदीय कार्यों में सहायता करने के लिए समाहर्ता के अधीन शुल्काध्यक्ष (व्यापार-सम्बन्धी करों को एकत्र करने वाला), पौतवाध्यक्ष (तौल और माप की देख रेख करनेवाला), सीताध्यक्ष (कृषि-विभाग का अध्यक्ष), सूत्राध्यक्ष (राज्य की ओर से चलनेवाले व्यवसायों के विभाग का अध्यक्ष), सुराध्यक्ष (शराब के निर्माण, क्रय-विक्रय, प्रयोग आदि पर नियन्त्रण रखने वाला अध्यक्ष), गणिकाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, नावाध्यक्ष गोऽध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, पण्याध्यक्ष (बाजार पर नियन्त्रण रखने वाला) लक्षणाध्यक्ष (मुद्रा नीति पर नियन्त्रण रखनेवाला), देवताध्यक्ष, (मन्दिरों और पूजा की देख-रेख करनेवाला) आदि पदाधिकारी कार्य करते थे।

अन्य पदाधिकारी—कौटिल्य राज्य के अन्य पदाधिकारियों का भी उल्लेख करता है। इनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

सन्निधाता—यह राज्य के अर्थ-विभाग का अध्यक्ष था। राज्य के आय-व्यय का सम्पूर्ण ब्योरा इसके पास रहता था। उसी के अनुसार वह राज्य की आर्थिक नीति निर्धारित करता था। इसके अधीन राज्य के अनेक पदाधिकारी—कोषाध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष, पण्याध्यक्ष इत्यादि—रहते थे।

सेनापति—मौर्य-साम्राज्य में सेनापति का विशेष महत्त्व था। वह सन्धि-विग्रह

के प्रश्नों पर राजा को परामर्श देता था। कौटिल्य ने उसकी योग्यता पर विशेष ध्यान दिया है। 'सेनापति सम्पूर्ण युद्ध-विद्या तथा अस्त्र-शस्त्र मे पारगत हो।'

कार्मान्तिक—राज्य की ओर से सचालित कारखानो की देख-रेख कार्मान्तिक करता था। भूगर्भ से धातुओ के निकालने, उन्हें कारखानो मे भेजने, उनसे सामान तैयार करवाने तथा उस सामान के क्रय-विक्रय के विविध नियम थे।

प्रशास्ता—राज्य के समस्त विभागो का रिकार्ड 'अक्षपटल' नामक एक कार्यालय में रक्खा जाता था। इस कार्यालय का सर्वोच्च अधिकारी प्रशास्ता कहलाता था। यह राजकीय आज्ञाओ, सन्धि-विग्रह की शर्तों, जनपदो के ब्योरे, कर्मचारियो के कार्यों, राज्य के आय-व्यय आदि के समस्त रिकार्ड लेखबद्ध करके रखवाता था।

अन्तपाल—सीमान्त प्रदेशो मे बने हुए दुर्गों की रक्षा करना इस पदाधिकारी का काम था।

दुर्गपाल—देश से भीतरी भागो मे स्थित दुर्गों की रक्षा का भार दुर्गपालो को सौपा गया था।

दौवारिक—राजा के विशाल राजप्रसाद का प्रबन्ध दौवारिक नामक पदाधिकारी करता था।

अमात्य और अध्यक्ष—हमने पीछे अमात्यो और अध्यक्षो का उल्लेख किया है। वस्तुत. राज्य के समस्त कार्यकारिणी और न्याय-विभाग के उच्च पदाधिकारी अमात्य कहलाते थे। यूनानी लेखको ने इनका वर्णन सातवी जाति (Counsellors and Assessors) के रूप में किया है। एरियन कहता है कि इन्ही से उनके शासक, प्रान्तो के गवर्नर, उपाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, सेनापति, ऐडमिरल, व्यय के नियामक और कृषि के अध्यक्ष चुने जाते थे।' इसी प्रकार स्ट्रैबो कहता है कि 'इन्ही व्यक्तियो के हाथ में राज्य के पद, न्यायालय तथा सम्पूर्ण प्रशासन रहता है।'

अध्यक्ष राज्य की दूसरी श्रेणी के पदाधिकारी थे। स्ट्रैबो इन्हें मजिस्ट्रेट (Magistrates) के नाम से पुकारता है। इनके विषय मे वह कहता है कि 'इन मजिस्ट्रेटो मे कुछ के नियन्त्रण में बाजार, कुछ के नगर और अन्य के सेना का प्रबन्ध रहता है। कुछ नदियो की देख-रेख करते है, भूमि नापते है, जैसा कि मिस्र मे होता है और बन्द जल-सग्रहो (Reservoirs) की जाँच करते है जिनसे नहरो द्वारा पानी बाँटा जाता है जिससे कि सबको पानी का बराबर भाग मिल सके। इन पदाधिकारियो के नियन्त्रण में आखेटक (शिकारी) भी रहते है और इन्हे उनके कार्यों के अनुसार पुरस्कार अथवा दण्ड देने का अधिकार रहता है। ये कर एकत्र करते है और भूमि सम्बन्धी व्यवसायो (लकडहारे, बढई, पीतल के काम करने वाले और खान खोदने वाले) का निरीक्षण करते हैं। ये सार्वजनिक मार्गों का निरीक्षण करते हैं और प्रत्येक १० स्टडिया की दूरी पर एक स्तम्भ स्थापित करवाते है जिससे कि उप-मार्गों और दूरियो का ज्ञान हो सके। जिनके सिपुर्द नगर का प्रबन्ध रहता है वे ५-५ *सदस्यो की ६ समितियो मे विभक्त होते हैं।*. ' इस प्रकार अर्थशास्त्र मे उल्लिखित अनेकानेक अध्यक्ष यूनानी लेखको के मजिस्ट्रेट थे।

नगरों का प्रबन्ध—मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र का प्रबन्ध करने वाली ६ समितियो के एक बोर्ड का उल्लेख किया है। यह आधुनिक काल के म्यूनिसिपल बोर्ड की *भाँति कार्य करता था। अर्थशास्त्र में इस बोर्ड का उल्लेख न होकर नगराध्यक्ष का* उल्लेख हुआ है। यह नगराध्यक्ष आधुनिक जिला मजिस्ट्रेट के समान कार्य करता

होगा। इसी की अधीनता में उपर्युक्त बोर्ड के सारे कार्य होते होंगे। पाटलिपुत्र की भाँति साम्राज्य के अन्यान्य प्रमुख नगरों में भी म्युनिसिपल बोर्ड की व्यवस्था रही होगी।

ग्रामों का प्रबन्ध—ग्राम साम्राज्य की सब से छोटी प्रशासनीय इकाई थी। इसका प्रबन्ध ग्रामिक करता था। अर्थशास्त्र के वैतनिक पदाधिकारियों में ग्रामिक का नाम नहीं आता। इससे प्रकट होता है कि वह राजकीय कर्मचारी न था वरन ग्राम की जनता द्वारा निर्वाचित उसका नेता था। ग्राम में राजकीय पदाधिकारी ग्राम-भृतक अथवा ग्राम-भोजक होता था। यह ग्रामिक तथा अन्य वृद्धों की सहायता से ग्राम में व्यवस्था रखता था। ग्राम के रीति-रिवाज राज्य के लिए मान्य होते थे। अर्थशास्त्र में लिखा हुआ है कि अक्षपटल के अध्यक्ष को चाहिए कि वह ग्राम-संघ के धर्म, व्यवहार, चरित्र आदि की रजिस्टरी करे। ग्रामीण जनता को अपने स्थानीय शासन में पर्याप्त स्वतन्त्रता होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

५—१० ग्रामों का प्रबन्ध करने के लिए गोप होता था। ८०० ग्रामों के स्थानीय का अधिकारी स्थानिक होता था। इनके ऊपर सम्पूर्ण जनपद का अधिकारी 'समाहर्ता' होता था।

न्याय-व्यवस्था—ग्राम-संघ साम्राज्य का सब से छोटा न्यायालय होता था। यह गाँव के मुकदमों का निर्णय करता था। इसके ऊपर संग्रहण, द्रोणमुख और जनपद में न्यायालय होते थे। देश का सर्वोच्च न्यायालय स्वयं राजा था। वह नीचे के किसी भी न्यायालय के निर्णय को रद्द कर सकता था।

साम्राज्य के सम्पूर्ण न्यायालयों को दो कोटियों में विभक्त किया गया है :—

(१) जो न्यायालय मनुष्यों के पारस्परिक मुकदमों पर निर्णय देते थे वे धर्मस्थीय न्यायालय कहलाते थे।

(२) इसके विरुद्ध अन्य मुकदमे ऐसे होते थे जो व्यक्ति और राज्य के बीच होते थे। ऐसे मुकदमों को सुनने वाले न्यायालय कण्टक-शोधन न्यायालय कहलाते थे।

नगरों में न्यायाधीशों को व्यावहारिक महामात्र कहा गया है। जनपद के न्यायालय में राजुक न्यायाधीश का कार्य करते थे।

चन्द्रगुप्त का दण्ड-विधान बड़ा कठोर था। छोटे-छोटे अपराधों के लिए अंगच्छेद का दण्ड दिया जाता था। मेगस्थनीज ने इसका उल्लेख किया है। परन्तु न्याय-व्यवस्था स्वेच्छाचारिणी न थी। न्याय-व्यवस्था (१) धर्म (२) व्यवहार (३) चरित्र और (४) राजशासन के ऊपर निर्भर थी। धर्म उन सार्वभौम सिद्धान्तों के समूह को कहते हैं जो प्रत्येक समय मान्य हों। व्यवहार पुराने कानूनों को कहते हैं। चरित्र ग्रामों की अपनी विशिष्ट परम्पराओं और मान्यताओं का नाम है। राजशासन राजाज्ञाओं को कहते हैं। मौर्य-साम्राज्य के सारे मुकदमे इन्हीं चारों आधारों पर निर्णीत होते थे। न्याय की इस विशिष्ट प्रणाली को न समझ सकने के कारण ही मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतीयों के पास कोई लिखित कानून नहीं है। कोई भी न्यायाधीश मनमानी नहीं कर सकता था। चाणक्य ने स्वयं राजा के लिए लिखा है कि यदि वह किसी निरपराधी को दण्ड दे तो उससे तिगुना दण्ड भुगतना पड़ेगा।

गुप्तचर—कौटिल्य की राज्य-व्यवस्था में गुप्तचरों का बड़ा महत्व था। ये प्रत्येक बात की सूचना राजा तक पहुँचाते थे। एरियन ने इन्हें ओवरसियर और स्ट्रैबो

ने इंस्पेक्टर के नाम से पुकारा है। गुप्तचर विभाग में छोटे से लेकर बड़े-बड़े पदाधिकारी तक होते थे। स्ट्रैबो के वर्णन से प्रतीत होता है कि ये पदाधिकारी अपने कार्य-सम्पादन के लिए स्त्रियों और वेश्याओं की भी सहायता लेते थे। इसकी पुष्टि अर्थशास्त्र से भी होती है। गुप्तचरों का काम करने वाली स्त्रियों में कौटिल्य ने वेश्या, कुशीलवा, दासी, शिल्पकारिका, भिक्षुणी आदि के उल्लेख किए हैं। पुरुष गुप्तचर भी तापस, कापटिक (छद्मकारी छात्र), उदास्थित, (सन्यासी) वैदेहक (व्यापारी) तथा गृहपतिक (गृहस्थ) के रूप में कार्य करते थे। कौटिल्य ने दो प्रकार के गुप्तचरों का वर्णन किया है—

(१) संस्था :—जो स्थायी रूप से एक स्थान पर रहकर कार्य करते थे।
(२) संचारा:—जो भ्रमणशील थे।

राज्य की आय के साधन—विशाल मगध-साम्राज्य के शासन-सचालन मे प्रचुर धन का व्यय होता था। उसकी पूर्ति के लिए कौटिल्य ने अनेकानेक साधनों का उल्लेख किया है—

(१) भूमिकर—साम्राज्य में दो प्रकार की भूमि थी—एक तो वह जो राज्य के प्रत्यक्ष अधिकार में थी, दूसरी वह जो किसानो के पास थी। राज्य को अपनी प्रत्यक्ष भूमि से जो आय होती थी उसे 'सीता' कहते थे। किसानो के अधीन भूमि की उपज से राज्य को जो कर मिलता था उसे 'भाग' कहते थे। यह 'भाग' उपज का १/६ या १/४ या १/३ होता था। यूनानी लेखो से प्रकट होता है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष राजा की सम्पत्ति समझा जाता था और किसी भी व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप से भूमि पर अधिकार न था। भूमि से उत्पन्न होने वाली अन्य वस्तुओ पर भी कर लगाये जाते थे। इनमे से दो प्रमुख हैं—

(१) सेतु—फल, फूल, मूल और तरकारियो पर लगने वाला कर।

(२) वन-कर—वनो के ऊपर राज्य का अधिकार था। अत. उनकी उपज पर भी विभिन्न कर थे।

आयात और निर्यात कर—चन्द्रगुप्त के समय मे देश की व्यापारिक स्थिति अच्छी थी। अत आयात और निर्यात दोनो प्रकार की सामग्री पर कर लगाए जाते थे। आयात कर को 'प्रवेश्य' और निर्यात कर को 'निष्काम्य' कहते थे। साधारणतया आयात-कर २० प्रतिशत होता था परन्तु निर्यात-कर की दर निश्चितरूप से ज्ञात नहीं होती।

विदेशीय व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए कौटिल्य ने सुविधाएँ भी दी थी। अर्थशास्त्र कहता है कि 'विदेशी माल को अनुग्रह से देश मे प्रवेश कराया जाय। इसके लिए नाविकों और विदेशी व्यापारियो को लाभ से अधिक लिए जाने वाले कर से मुक्त कर दिया जाय।

बिक्री-कर—कोई भी वस्तु अपने उत्पत्ति-स्थान पर बेची अथवा खरीदी नहीं जा सकती थी। सर्वप्रथम वह शुल्काध्यक्ष के सम्मुख प्रस्तुत की जाती थी और उस पर चुंगी लगाई जाती थी। चुंगी की दर तीन थीं—

(१) गिन कर बेची जाने वाली वस्तुओं पर ९ १/२ %।
(२) तौल कर बेची जाने वाली वस्तुओं पर ५%।
(३) नाप कर बेची जाने वाली वस्तुओ पर ६ १/४ %।

नगरों से आय—दुर्ग—नगरों से अनेक प्रकार की आय होती थी। इस आय

को 'दुर्ग' कहते थे। यह आय निम्नलिखित साधनों से प्राप्त होती थी—

(१) शराब बनाने वालों पर कर (२) नमक बनाने वालों पर कर (३) शिल्पकारों पर कर (४) कसाइयों पर कर (५) घी-तेल के व्यवसायियों पर कर (६) वेश्याओं पर कर (७) जुआरियों पर कर (८) अधिक आमदनी पर कर (९) मन्दिरों पर कर इत्यादि।

जुर्माना—मौर्य-साम्राज्य की आय का एक महत्वपूर्ण साधन जुर्माना था। छोटे-छोटे अपराधों पर बड़े-बड़े जुर्माने होते थे।

राजकीय व्यापार—कुछ व्यवसाय-व्यापार पूर्णतः राज्य के अधिकार में थे। इनमें खान, नमक, शराब, हथियार और मुद्रा प्रमुख हैं। इनसे राज्य को भारी आय होती थी। परन्तु कभी-कभी राज्य कुछ व्यक्तियों को इन वस्तुओं के व्यवसाय की विशेष आज्ञा भी दे देता था।

मेगस्थनीज का विवरण

युद्ध में पराजित होने के पश्चात सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ मैत्री-सन्धि कर ली थी और उसकी राजधानी में अपना एक राजदूत भेजा था। यह राजदूत मेगस्थनीज था। इसने भारतवर्ष में जो कुछ देखा-सुना उसे 'इण्डिका' नामक एक पुस्तक के रूप में लेख-बद्ध किया। अभाग्यवश यह पुस्तक विलुप्त हो गई है। परन्तु इस पुस्तक के अनेक उद्धरण परगामी लेखकों—स्ट्रैबो, प्लिनी, एरियन आदि—के ग्रंथों में सरक्षित हैं। डा० स्वानबेक ने सर्वप्रथम १८४६ में इन समस्त उद्धरणों को सग्रहीत करके प्रकाशित किया था। १८९१ में मैक क्रिण्डल महोदय ने इनका अंग्रेजी में अनुवाद किया था।

मेगस्थनीज के भारत-विवरण का क्या मूल्य है, इस पर विद्वानों में मतभेद रहा है। इस यूनानी लेखक की सबसे अधिक कटु आलोचना स्ट्रैबो ने की थी। वह इसे नितान्त झूठा तथा इसके लेखों को सर्वथा अविश्वसनीय बताता है।[1] परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि अनेक परगामी लेखकों ने मेगस्थनीज को झूठा बताते हुए भी उसके ग्रंथ 'इंडिका' से बहुत सामग्री ली है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेगस्थनीज के विवरण में अनेक अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ हैं। उदाहरणार्थ, उसने भारतवर्ष में चार के स्थान पर सात मूल जातियों का वर्णन किया है। भारतीयों को लेखन-कला और लिखित कानून से अपरिचित बताया है, भारतवर्ष के ऊपर हेरक्लीज और डिआनीसिअस के आक्रमणों का उल्लेख किया है तथा भारतवर्ष में अनेक मुखहीन, नासिकाहीन, एकाक्षी तथा अतिदीर्घ-कर्ण जातियों को रहते हुए बताया है।

परन्तु यदि हम विचार करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मेगस्थनीज की अशुद्धियाँ निम्नलिखित बातों पर आधारित हैं—

(१) यूनानी होने के कारण वह कुछ विशिष्ट भारतीय प्रथाओं को भली प्रकार समझ नहीं पाया है। उदाहरण के लिए, भारतवर्ष की चतुर्वर्ण-व्यवस्था उसके लिए

१ Generally speaking the men who have written on the affairs of India were a set of liars Deimachus holds the first place in the list, Megasthenes comes next,.... No faith whatever can be placed in Deimachus and Megasthenes.'

नवीन थी। उसने यूनानी परम्परा के अनुसार उसे कार्य-विभाजन का परिणाम समझा है।

(२) उसने बहुत सी सूचनायें जनश्रुति के आधार पर संग्रहीत की थी। इनमें से अधिकांश कपोल-कल्पित अथवा अतिरंजित थीं।

(३) मेगस्थनीज को दक्षिणी भारत का विशेष ज्ञान न था। अतः दक्षिणी भारत-सम्बन्धी उसके अनेक उल्लेख असत्य हो गए हैं।

(४) उसने यूनानी परम्पराओं और भारतीय परम्पराओं का सम्मिश्रण कर दिया है। उदाहरणार्थ, उसने भारतवर्ष में शिव और कृष्ण की पूजा का यूनान की क्रमशः डिम्रानीसियस और हेरक्लीज की पूजा के साथ समीकरण कर दिया है।

(५) कहीं-कहीं पर मेगस्थनीज ने निश्चितरूप से असावधानी दिखाई है। यह कथन कि भारतवासी लेखन-शैली और लिखित कानून से परिचित नहीं थे, नितान्त असत्य हैं।

(६) बहुत सम्भव है कि मूल 'इन्डिका' में कुछ अन्यान्य ऐतिहासिक बातें भी लिखीं हों और परवर्ती लेखक उनको लिखना भूल गए हों।

परन्तु इतना होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि मेगस्थनीज का भारत-विवरण अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यदि उसका विवरण प्राप्त न होता तो भारतवर्ष की तत्कालीन अवस्था से हम बहुत कुछ अनभिज्ञ रह जाते।

भौगोलिक स्थिति—मेगस्थनीज के कथनानुसार भारतवर्ष का आकार एक चतुर्भुज के समान है। इसके उत्तर में हिमोडस पहाड़, दक्षिण और पूर्व में समुद्र तथा पश्चिम में सिन्धु, गंगा, सोन, कोसी (Kosoans), गंडक (Kondochates), राप्ती (Solomatis), गोमती (Sabmbos) आदि के नाम लिखे हैं। परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि उसने दक्षिणी भारत की नदियों का उल्लेख नहीं किया है। सबसे बड़ी नदी गंगा है। यह पार्वतीय प्रदेश से निकल कर पूर्व की ओर मैदान में बहती है और फिर पैलीबोथ्रा से होकर समुद्र में गिरती है। इसकी कम से कम चौड़ाई १०० स्टैडिया है। अपने सबसे अधिक चौड़े रूप में तो इसकी चौड़ाई दिखाई भी नहीं देती।

चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में अफगानिस्तान भी सम्मिलित था। अत. मेगस्थनीज ने अफगानिस्तान की नदियों—काबुल (Kophen), स्वात (Soastes) और गोमल (Garroia) के नाम भी लिखे हैं।

भारतवर्ष में ग्रीष्म ऋतु में गर्मी बहुत पड़ती थी। वर्षा गर्मी और जाड़े दोनों में होती थी। ग्रीष्म ऋतु में वर्षा अधिक होती थी।

भारतवासी अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने के बड़े शौकीन थे। मेगस्थनीज के अनुसार उनके वस्त्र बहुमूल्य होते थे। उन पर सोने का काम किया हुआ होता था तथा वे बहु-मूल्य रत्नों से अलंकृत रहते थे। बहुतों के पीछे सेवक छत्र लेकर चलते थे।

भोजन में चावल का विशेष महत्व था। मदिरा का प्रयोग एक मात्र यज्ञों के अवसर पर किया जाता था।

जातियां—भारतीय समाज ७ जातियों में विभक्त था।

(१) ब्राह्मण और दार्शनिक—यद्यपि समाज में इनकी संख्या कम थी तथापि वे अत्यधिक आदरणीय समझे जाते थे। राजा वर्ष में एक बार देश के समस्त ब्राह्मणों और दार्शनिकों को बुला कर एक महायज्ञ करता था। समय-समय पर ये धन-धान्य

आदि की वृद्धि के लिए अपनी सम्मतियाँ देते रहते थे। राजा इनकी सेवाओं के बदले में इन्हें करों से मुक्त कर देता था। बहुधा जनता भी इनके द्वारा अपने व्यक्तिगत यज्ञ और पूजन इत्यादि करवाती थी।

(२) कृषक—समाज में सबसे अधिक सख्या इन्ही की थी। ये अपने कृषि-कर्म में ही लगे रहते थे। युद्ध-काल में भी इन्हें किसी प्रकार की भी क्षति न पहुँचाई जाती थी। ये सैनिक सेवाओं से मुक्त थे। इन्हें अपनी उपज का चौथा भाग राज-कर के रूप में देना पड़ता था।

मेगस्थनीज के कृषक ब्राह्मण-व्यवस्थाकारो के वैश्य थे।

(३) ग्वाले और आखेटक—ये पशु-पालन और आखेट करते थे। ये पशुओं को बेचते और उन्हे किराए पर भी देते थे। वन्य पशुओ का आखेट करके ये कृषि की रक्षा भी करते थे। इसके बदले में इन्हें राज्य की ओर से धन मिलता था। ये किसी एक स्थायी स्थान पर न रहते थे वरन अपने खेमो को लिए हुए एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते थे।

इनमे सम्भवतः क्षत्रिय और वैश्य दोनो सम्मिलित थे।

(४) व्यापारी और श्रमजीवी—मेगस्थनीज के व्यापारी भारतीय समाज के वैश्य थे जो अनेक प्रकार के व्यवसायो और उद्योग-धधो में लगे थे। कुछ व्यापारियो को राज्य-द्वारा निर्दिष्ट कार्य भी करने पड़ते थे। जो व्यवसायी राज्य के लिए कवच और जहाज बनाते थे उन्हे राज्य की ओर से वेतन मिलता था। परन्तु अन्य स्वतन्त्र-कर्मा व्यवसायियो को अपनी आय का कुछ भाग राज-कर के रूप में देना पड़ता था। मेगस्थनीज के वर्णन से प्रकट होता है कि विदेशी व्यापार के लिए व्यापारियो को राज्य अपने जहाज़ उधार देता था।

मेगस्थनीज के श्रमजीवी ब्राह्मण-व्यवस्था के शूद्र थे जो सेवा-कार्य के लिए अन्य वर्गों द्वारा नौकर रखे जाते थे।

(५) योद्धा—इनका सारा खर्च राज्य की ओर से दिया जाता था। ये युद्ध के लिए सदैव तैयार रहते थे। जब युद्ध नही होता था तो ये आराम से अपना जीवन व्यतीत करते थे। ये ब्राह्मण-व्यवस्था के क्षत्रिय थे।

(६) निरीक्षक—ये राज्य के प्रत्येक कार्य का निरीक्षण करते थे और उसकी सूचना राजा को देते थे। जो सबसे अधिक योग्य और विश्वासपात्र होते थे वे राजधानी और राजशिविर के निरीक्षण के लिए नियुक्त किए जाते थे। निरीक्षक गुप्तचरो का भी कार्य करते थे। एरियन ने निरीक्षको को सुपरिन्टेन्डेन्ट कहा है। यह निश्चित-रूप से नही कहा जा सकता कि ये किस जाति के होते थे। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनो सम्मिलित थे।

(७) मन्त्री और परामर्शदाता—यह वर्ग सबसे कम सख्या वाला था, परन्तु विद्या और बुद्धि में सबसे बढ़ा-चढ़ा था। इस वर्ग के मनुष्य राज्य के उच्चातिउच्च पदो पर रखे जाते थे। ये लोग सम्भवतः ब्राह्मण और क्षत्रिय होते थे।

मेगस्थनीज का कथन है कि इन जातियों के मनुष्य अपने-अपने व्यवसाय का ही अनुसरण कर सकते थे। वे अन्तर्जातीय विवाह भी न कर सकते थे।

विवाह—विवाह का उद्देश्य भोग, सहकारिता-प्राप्ति अथवा पुत्र-प्राप्ति होता था। मेगस्थनीज के विवरण से प्रकट होता है कि समाज में बहुविवाह की भी प्रथा

थी। परन्तु यह राजवश और धनी-वर्ग तक ही सीमित रही होगी। एक विवाह-प्रणाली के अन्तर्गत मेगस्थनीज ने एक जोड़ा बैल के बदले में पिता-द्वारा अपनी पुत्री-दान का उल्लेख भी किया है। वस्तुतः यह आर्ष-विवाह-प्रणाली थी।

सती—मेगस्थनीज के विवरण में सती-प्रथा का उल्लेख नही मिलता, यद्यपि उसके पूर्व ओनेसिक्रिटस ने कठ-जाति के मध्य इसी प्रथा का प्रचलन देखा था। सम्भवत. यह प्रथा पजाब की कुछ युद्धकर्मा क्षत्रिय-जातियो में ही सीमित रही होगी। कालान्तर स्ट्रैबो ने इस प्रथा का उल्लेख किया है। अत. इसका कुछ प्रचार मेगस्थनीज के बाद ही हुआ होगा, और वह भी कही कही।

समाधि—मेगस्थनीज का कथन है कि शवो के ऊपर छोटी-छोटी समाधियाँ बनाई जाती थी।

ब्राह्मण और श्रमण—मेगस्थनीज ने ब्राह्मण सन्यासियो और श्रमणो का उल्लेख किया है। ये भोग-विलास से दूर रह कर सरल जीवन व्यतीत करते थे। ये मास नही खाते थे और कुशासनो अथवा मृग-चर्मों पर सोते थे। इनका अधिकाश समय उपदेश देने में व्यतीत होता था। कुछ सन्यासी सदैव एक स्थान से दूसरे स्थान को घूमा करते थे। मेगस्थनीज ने ब्राह्मणो की विद्वत्ता की प्रशसा की है। ये सदव जन्म-मरण के प्रश्नों के मनन और विवेचन में लगे रहते थे।

शिक्षा—शिक्षा का कार्य भी प्रमुखतया ब्राह्मणो के ही हाथ मे था। जब बालक माता के गर्भ में होता है तभी से उसकी शिक्षा प्रारम्भ हो जाती थी। विद्वान ब्राह्मण समय-समय पर आकर गर्भवती स्त्री के समक्ष अनेक प्रकार के मन्त्रोच्चार और उपदेश करते रहते थे। बड़े होने पर बालक किसी योग्य शिक्षक के सिपुर्द कर दिया जाता था। यह उसका ब्रह्मचर्याश्रम होता था।

लेखन-कला—मेगस्थनीज का यह कथन कि भारतीय लेखक-कला से अनभिज्ञ थे, नितान्त असत्य है। उसके पूर्व निआर्कस लिख चुका था कि भारतीय एक प्रकार के कपड़े के ऊपर लिखते थे।

देवता—मेगस्थनीज ने भारतवर्ष मे डिआनीसिअस और हेरक्लीज देवताओ की पूजा का उल्लेख किया है। वास्तव में यह क्रमश शिव और कृष्ण की पूजा थी। यूनानी लेखों से प्रकट होता है कि शिवि-राज्य में शिव-पूजा और सूरसेन-राज्य में कृष्ण-पूजा की प्रधानता थी। आज की भाँति उस समय भी गगा पवित्र मानी जाती थी।

फसल—मेगस्थनीज ने भारत-भूमि की उर्वरता का उल्लेख किया है। उसका कथन है कि इस देश में अन्नों और फलो की दो फसलें प्रतिवर्ष होती थीं। फलों के वृक्षो के अतिरिक्त उसने गन्ने का भी उल्लेख किया है। युद्ध-काल मे भी सैनिक कभी भी कृषकों अथवा उनके खेतो को किसी प्रकार की भी हानि न पहुँचाते थे। युद्ध हुआ करते थे। परन्तु कृषक शान्तिपूर्वक अपनी खेती करते रहते थे। सिंचाई की ओर राज्य का विशेष ध्यान था। मेगस्थनीज कहता है कि कुछ अधिकारियों का काम भूमि का नापना और उन छोटी नालियों का निरीक्षण करना था जिनमें होकर पानी सिंचाई की नहरों में जाता था जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपना सही भाग मिल सके।

कृषि-कर्म के अतिरिक्त मेगस्थनीज ने जहाजों और युद्धों-पयुद्धों के निर्माण की भी बात कही है।

अपराध और दण्ड—मेगस्थनीज ने भारतीयों के सच्चरित्र की प्रशंसा की है

वह कहता है कि यहाँ चोरी बहुत कम होती थी। चन्द्रगुप्त के शिविर में, जहाँ ४००,००० मनुष्य रहते थे, चोरियों के उदाहरण नगण्य थे। परन्तु मेगस्थनीज के अनुसार भारत का दण्ड-विधान बडा कठोर था। छोटे-छोटे अपराधों के लिए अंग-च्छेद का दड दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति दूसरे किसी व्यक्ति के किसी अग को हानि पहुँचाता था तो उसका भी वही अग काट दिया जाता था। कारीगर के हाथ या आँख को नष्ट करने के अपराध में मृत्यु-दड मिलता था।

राजा—राजा राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी था। मेगस्थनीज कहता है कि वह राजसभा में दिन भर रहता और न्याय करता रहता था। उसी के विवरण से प्रकट होता है कि जब राजा का शरीर आबनूस के 'मुग्दरो द्वारा दबाया जाता था' उस समय भी वह प्रजा के आवेदनों को सुनता रहता था।

मेगस्थनीज का कथन है कि राजा सदैव प्राण-भय से आशकित रहता था और इसी से वह कभी भी एक कमरे में दो रातें न व्यतीत करता था। जिस समय वह आखेट के लिए जाता था उस समय उसका मार्ग रस्सियो से पृथक कर दिया जाता था। उन रस्सियों को लाँघने वाले को मृत्यु-दड दिया जाता था। चन्द्रगुप्त ने नद-वश का विनाश कर राज्य प्राप्त किया था। अतः निश्चित था कि कुछ समय तक उसे नन्द-वश के समर्थकों के षडयन्त्रो का भय रहा होगा। मुद्राराक्षस इन षडयन्त्रों का उल्लेख करता है। इनसे अपनी रक्षा के लिए ही चद्रगुप्त ने उपर्युक्त उपायों का अवलम्ब लिया होगा।

पाटलिपुत्र—मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र को पोलिबोथ्रा के नाम से पुकारा है और उसका विस्तृत वर्णन किया है। यह गगा और सोन के सगम पर था तथा प्राच्य भारत का सबसे बडा नगर था। यह ९½ मील (८० स्टेडिया) लम्बा और लगभग १¾ मील (१५ स्टेडिया) चौड़ा था। इसके चारों ओर ६०० फीट चौडी तथा ३० हाथ गहरी एक खाई थी। साथ ही साथ इसे एक ऊँची दीवार भी घेरे हुई थी। इस दीवार मे ५७० बुर्ज और ६४ द्वार थे। पाटलिपुत्र का प्रबन्ध एक नगर-व्यवस्थापिका के द्वारा होता था। इसमे ५-५ सदस्यों की ६ समितियाँ थी।

पहली समिति उद्योग-धधो की देख-भाल करती थी। यह वस्तुओं के उचित निर्माण तथा उचित पारिश्रमिक की जाँच करती थी।

दूसरी समिति विदेशियो का प्रबन्ध करती थी। उन्हें मकान दिलाने तथा बीमार पडने पर उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध इसी के हाथ में था। यदि कोई विदेशी मर जाता था तो उसके दाह-सस्कार तथा उसकी सम्पत्ति को उसके उचित अधिकारियों को देने का काम भी यही समिति करती थी। इस विशेष समिति के निर्माण से प्रकट होता है कि तत्कालीन भारत में विदेशियों की संख्या अधिक थी।

तीसरी समिति जन्म-मरण की सख्या का ब्योरा रखती थी।

चौथी समिति व्यापार पर नियन्त्रण रखती थी। वह क्रय-विक्रय की वस्तुओं की जाँच करती तथा उनके व्यापारियों पर कर लगाती थी। बटखरो की जाँच करना भी इसी समिति का कार्य था।

पाँचवी समिति का कार्य नई और पुरानी वस्तुओ को सम्मिश्रित होने से रोकना था।

छठी समिति बिकी वस्तुओं पर कर वसूल करती थी। जो व्यक्ति कर से बचने का प्रयास करता था, उसे प्राण-दंड दिया जाता था।

पाटलिपुत्र की इस व्यवस्था से अनुमान होता है कि देश के अन्य नगरों में भी इसी प्रकार का स्थानीय शासन प्रचलित रहा होगा।

बिन्दुसार

बिन्दुसार—२९८ ई० पू० में चन्द्रगुप्त के पश्चात उसका पुत्र बिन्दुसार अपने पिता के विशाल राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। आर्य मंजुश्री मूलकल्प के अनुसार जिस समय चन्द्रगुप्त ने उसे राज्य दिया उस समय वह अल्प वयस्क था। अधिकांश पुराणों तथा सिंहली बौद्ध-ग्रंथ, दीपवंश और महावंश, में उसे बिन्दुसार के नाम से ही पुकारा गया है। परन्तु वायुपुराण में उसका नाम 'भद्रसार' मिलता है। कुछ पुराणों में कहीं-कहीं उसे 'वारिसार' भी कहा गया है। चीनी ग्रंथ फा-युएन चु-लिन में उसका नाम बिन्दुपाल दिया गया है। राजावलिकथा में चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी पुत्र का नाम सिंहसेन दिया है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह सिंहसेन बिन्दुसार का ही एक नाम था अथवा नहीं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, यूनानियों ने उसे अमित्रोचेडस (Amitrochades), अमित्राचेटस (Amitrachates) अथवा अलित्रोचेडस (Allitrochades) के नाम से ही पुकारा है। ये एक ही नाम के रूपान्तर हैं और इनका समीकरण संस्कृत के 'अमित्रखाद' अथवा 'अमित्रघात' के साथ किया गया है।

परन्तु इन अनेकानेक नामों में 'बिन्दुसार' ही सबसे अधिक प्रचलित प्रतीत होता है। परिशिष्टपर्व नामक जैन ग्रंथ में इस नाम के सम्बन्ध में एक मनोरंजक कथा दी गई है। इसके अनुसार चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को प्रतिदिन विष खिलाने का अभ्यास कराया। परिणामतः चन्द्रगुप्त के शरीर में विष की मात्रा अत्यधिक हो गई। एक दिन चन्द्रगुप्त की रानी उसके साथ भोजन कर रही थी। चन्द्रगुप्त के शरीर में इतना विष था कि उसके प्रभाव से रानी की तत्काल मृत्यु हो गई। मृत्यु के समय रानी गर्भिणी थी। अतः चाणक्य ने शीघ्र ही उसके उदर को फड़वाकर शिशु को निकलवा लिया और उसकी प्राण-रक्षा की। उदर से निकलने के समय शिशु के सिर पर विष का एक बिन्दु लगा था। इसी से चाणक्य ने उसका नाम बिन्दुसार रखा।

जैन साहित्य के अनुसार उसकी माता का नाम दुर्धरा था। महावंश टीका में उसकी पत्नी का नाम धम्मा दिया है, परन्तु अशोकावदान में उसे सुभद्रांगी कहा गया है।

तारानाथ का कथन है कि चन्द्रगुप्त का महामन्त्री चाणक्य बिन्दुसार का भी महामन्त्री रहा। इस कथन की पुष्टि परिशिष्टपर्व से भी होती है। कालान्तर में महामन्त्री का पद खल्लाटक और राधगुप्त को भी दिया गया। दिव्यावदान से प्रकट होता है कि बिन्दुसार को शासन-कार्य में सहायता देने के लिए ५०० सदस्यों की एक सभा थी। ऐसी अवस्था में सम्भव है कि उसने एक ही समय अनेक मन्त्रियों की नियुक्ति की हो। परिशिष्टपर्व में ऐसे ही एक मन्त्री सुबन्धु के विषय में एक मनोरंजक कथा मिलती है। उसके अनुसार चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात चाणक्य की सम्मति से बिन्दुसार ने सुबन्धु नामक एक व्यक्ति को अपना मन्त्री बनाया। परन्तु यह व्यक्ति स्वयं चाणक्य से ही द्वेष रखने लगा और उसे अपदस्थ करने की कुचेष्टा करने लगा। अतः उसने बिन्दुसार के कान भरे कि चाणक्य बड़ा विश्वासघाती है और उसने आपकी माता का उदर फड़वा कर उन्हें मरवा डाला था। चाणक्य को जब इन कुमन्त्रणाओं

१ दिव्यावदान पृ० ३७२

का पता लगा तो उसे बड़ा दुःख हुआ और उसने राजकार्य छोड़ कर वन में जाकर तपश्चर्या करने का निश्चय किया। कालान्तर में बिन्दुसार और सुबन्धु दोनों को अपने कृत्य पर प्रायश्चित हुआ। वे चाणक्य के पास गए और उससे क्षमा माँगी। चाणक्य ने उन्हें क्षमा कर दिया, परन्तु फिर वह वन से वापस न आया।

हम यह नहीं मानते कि बिन्दुसार ने दक्षिण-विजय की थी। यह विजय उसके पिता चन्द्रगुप्त ने ही की थी, तथापि इतना निश्चित है कि बिन्दुसार ने अधिगत साम्राज्य को पूर्ण रूप से अक्षुण्ण रखा। सम्भव है कि इस अक्षुण्णता को कायम करने के लिए उसे कुछ युद्ध करने पड़े हो अथवा विद्रोहों का दमन करना पड़ा हो।

जो भी हो, हम तक्षशिला के दो विद्रोहों से परिचित हैं जिनका उल्लेख दिव्यावदान में मिलता है। परन्तु इनका कारण तक्षशिला के शासकों की दमन-नीति बताया जाता है। दिव्यावदान के अनुसार प्रथम विद्रोह को शान्त करने के लिए बिन्दुसार ने अपने पुत्र अशोक को भेजा। जब अशोक तक्षशिला पहुँचा तो वहाँ के निवासियों ने निवेदन किया कि 'न तो हम कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा बिन्दुसार के। परन्तु दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते हैं, '[1] इस कथन में पर्याप्त वास्तविकता प्रतीत होती है। सम्भवतः मौर्य-साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशों का शासन दमनपूर्ण था और जनता अपने प्रान्तीय गवर्नरों से असन्तुष्ट थी। अपने कलिंग के अभिलेखों में अशोक ने स्वयं प्रान्तीय अमात्यों को सुचारु शासन के लिए चेतावनी दी है और उनके अन्यायपूर्ण कार्यों की सम्भावना को रोकने के लिए उसने विधि-निषेध बनाए थे।

अस्तु, अशोक तक्षशिला के दमन के हेतु स्वश राज्य तक पहुँचा। दिव्यावदान में उल्लिखित यह स्वश राज्य कदाचित खश राज्य का अशुद्ध रूप है। स्टीन महोदय के कथनानुसार यह खश राज्य काश्मीर के दक्षिण-पश्चिम में कस्तवर से वितस्ता (झेलम) तक विस्तृत था। दिव्यासदान ने प्रथम विद्रोह की भाँति तक्षशिला के द्वितीय विद्रोह का भी वर्णन किया है। इस बार बिन्दुसार ने उसके दमन के हेतु कुमार सुसीम को भेजा था।

बिन्दुसार ने न केवल अपने पैतृक साम्राज्य को अक्षुण्ण रखा वरन् अपने पिता द्वारा प्रतिपादित विदेशों के साथ मैत्रीपूर्ण नीति को भी सक्रम रक्खा। डिओडोरस ने यूनानियो के प्रति पैलिबोथ्रा (पाटलिपुत्र) के शासक की सौहार्दपूर्ण मनोवृत्ति की चर्चा की है और यह उल्लेख किया है कि उसने एक यूनानी लेखक आयम्बुलस का आदर-सत्कार किया था। सम्भव है कि यह नरेश बिन्दुसार ही रहा हो, क्योंकि यूनानियों के साथ इसके घनिष्ट सम्बन्ध के अन्य साक्ष्य भी उपलब्ध होते हैं। स्ट्रैबो के कथन से प्रकट होता है कि पश्चिमी एशिया के यूनानी शासक ऐण्टियोकस ने सैण्ड्रोकोटस के पुत्र एलिट्रोचेडस की सभा में डायमेकस नामक राजदूत भेजा था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, एथीनिअस नामक एक अन्य यूनानी ने इन दोनों सम्राटों के विषय में एक अन्य मनोरंजक वृत्तान्त का उल्लेख किया है। इसके अनुसार बिन्दुसार ने यूनानी सम्राट से मदिरा, अजीर और दार्शनिक भेजने की प्रार्थना की थी। प्लिनी का उल्लेख है कि मिस्र के नरेश फिलाडेल्फस (टालमी द्वितीय) ने पाटलिपुत्र में डियानीसिअस नामक एक राजदूत भेजा था। वह मिस्री नरेश बिन्दुसार और अशोक दोनों का समकालीन प्रतीत होता है परन्तु यूनानी लेखों में अशोक की

१ 'अथो राज्ञो बिन्दुसारस्य तक्षशिला नाम नगरं विरुद्धम्। तत्र राज्ञा बिन्दुसारेणाशोको विसर्जितः।....न वयं कुमारेस्य विरुद्धाः नापि राज्ञो बिन्दुसारस्य। अपितु, दुष्ट मात्य: अस्माकं परिभवं कुर्वन्ति, —दिव्यावदान।

अपेक्षा बिन्दुसार के उल्लेख अधिक आते है। अत हमारा निष्कर्ष है कि जिस भारतीय नरेश की राजसभा में डियानीसिअस आया था वह बिन्दुसार ही था। मेगस्थनीज की भाँति इस राजदूत ने भी अपने भारतीय ज्ञान एव अनुभवो को पुस्तकबद्ध किया था और उस पुस्तक का उपयोग प्लिनी (ईसा की प्रथम शताब्दी) आदि ने किया था। परन्तु अभाग्य से आज डियानीसिअस की वह पुस्तक प्राप्त नही होती।

यूनानी नरेश एण्टियोकस से दार्शनिक भेजने की प्रार्थना से प्रकट होता है कि बिन्दुसार परिष्कृत अभिरुचि का नरेश था और वह दर्शनादि के अध्ययन-अनुशीलन में भी आसक्ति रखता था। यही नही, कदाचित उसकी सभा मे विविध विद्वानो एव धर्माचार्यों को सरक्षण मिला था। दिव्यावदान के अनुसार एक आजीव-परिव्राजक उसकी राजसभा मे रहता था। अनुमानत अपने अनुगामी नरेशो अशोक और दशरथ की भाँति बिन्दुसार भी आजीवक-सम्प्रदाय के प्रति उदार था। इससे बिन्दुसार की धार्मिक विषयो में अनुरक्ति प्रकट होती है। अपने सातवें स्तम्भ-लेख में अशोक कहता है कि उसके पूर्व के राजाओ ने भी धम्म द्वारा मनुष्यो का उत्कर्ष करने की चेष्टा की थी। बहुत सम्भव है कि अशोक का सकेत अपने स्वर्गीय पिता की ओर भी रहा हो। आर्यमजुश्रीमूलकल्प में बिन्दुसार के व्यक्तित्व के अन्य गुणो की प्रशसा की गई है। इस ग्रन्थ में उसे धृष्ट (साहसी), प्रगल्भ (वाक निपुण) और प्रियवादी (मधुभाषी) कहा गया है।[1]

पुराणो के अनुसार बिन्दुसार ने २५ वर्ष तक राज्य किया। अत उसका शासन-काल २९८ ई० पू० से २७३ ई० पू० तक रहा।

१ 'प्रौढो धृष्टश्च संवृतः प्रगल्भश्चापि प्रियवादिनः'
आर्य मजु श्रीमूलकल्प ५.४४१

२२

मौर्य-सम्राट् अशोक

अशोक कदाचित भारतीय इतिहास का सबसे प्रख्यात नरेश है। इसके शासन-काल के तिहास का निर्माण करने में भारतीय विद्वानो ने अत्यधिक अभिरुचि और अध्यवसाय का प्रदर्शन किया है। उनके परिणामस्वरूप उसके व्यक्तिगत एव राजकीय जीवन के समस्त क्रिया-कलापो की रूपरेखा बहुत-कुछ स्पष्ट हो गई है। सौभाग्य से उसके समय पर प्रकाश डालने वाले इतिहास-साधनो की भी कमी नही है। हम पहले इन्ही का उल्लेख करेंगे।

अशोक से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त इतिहास साधनो को हम दो कोटियो में विभक्त कर सकते हैं—(१) साहित्यिक और (२) पुरातत्व-सम्बन्धी।

साहित्यिक कोटि मे सवप्रथम उल्लेखनीय हैं सिहली ग्रन्थ **दीपवश और महावंश**। कहते हैं कि य दोनो प्राचीन अट्ठकथा पर आधारित हैं। इनकी रचना ईसा की चौथी अथवा पाँचवी शताब्दियो के लगभग हुई थी। यद्यपि इन ग्रन्थो में अनेकानेक पौराणिक अतरजित एव काल्पनिक विवरण मिलते है तथापि इनके कारण हम इन्हें 'mendacious fictions of unscrupulous monks कह कर इतिहास के लिए अनुपयुक्त घोषित नही कर सकते। यही कारण है कि सेनार्ट और रीज डेविड्ज ऐसे लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानो ने इनकी मान्यता को स्वीकार किया है। उनका मत अधिक सतुलित है। वे न तो इन्हें विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ मानते हैं और न विशुद्ध काल्पनिक ग्रन्थ।[१]

२ **बुद्धघोष की रचनायें**—यह अत्यन्त प्रतिभाशाली ब्राह्मण था। इसका काल लगभग पाँचवी ईसवी है। कालान्तर में यह बौद्ध हो गया और लका जाकर इसने सिंहली अटठकथाओ और त्रिपिटक आदि का अध्ययन किया। तत्पश्चात इसने बौद्ध ग्रन्थो पर अनेक टीकायें लिखी। अशोक के इतिहास-निर्माण के लिए इन टीकाओं में सामन्त-पासादिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह विनयपिटक की टीका है। परन्तु इसमें अशोकविषयक अनेकानेक विचारणीय उल्लेख उपलब्ध होते हैं। प्रसिद्ध विद्वान रीज डेविड्ज इस टीका को ऐतिहासिक अभिरुचि की खान कहते हैं।[२]

१ 'The hypothesis of deliberate lying of conscious forgery is generally discredited What we find in such chronicles is not indeed sober history but neither is it pure fiction'— Rhys Davids

२ ' a mine of historic interest'

३. **दिव्यावदान**—अवदान का अर्थ होता है सत्कर्म। अतः दिव्यावदान से दिव्य सत्कर्मों का बोध होता है। इस ग्रन्थ के एक भाग का नाम है 'अशोकावदान'। इस अशोक-विषयक अनेकानेक बातों का उल्लेख है। कदाचित इस ग्रन्थ का संगठन तीसरी-चौथी ईसवी के लगभग हुआ होगा।

४. **अशोकावदानमाला**—यह महायान-सम्प्रदाय का ग्रन्थ है और श्लोकों में लिखा गया है। इसके प्रथम भाग में अशोक के सम्बन्ध में कथायें हैं और द्वितीय भाग में उपगुप्त द्वारा अशोक को दिये गये कथारूप उपदेश हैं।

५. **आर्य मंजुश्रीमूल कल्प**—यह मन्त्रयान-सम्प्रदाय का ग्रन्थ है इनमे आधि-व्याधि के निवारणार्थ महात्मा बुद्ध के बताये हुए मन्त्र हैं। यह बहुत बाद का ग्रन्थ है, परन्तु इसमें मौर्य-वंश के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख मिलते हैं।

६. **पुराण**—मौर्य-वंश के इतिहास-निर्माण के लिए इनमें महत्वपूर्ण सामग्री भरी पड़ी है। यद्यपि अनेक स्थलों पर इनके कथन अशुद्ध और परस्पर-विरोधी भी हैं, तथापि सम्यक शोधन से विद्वानों ने इनसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य खोज निकाले हैं।

७. **राजतरंगिणी**—१२वीं शताब्दी में इसे कल्हण ने लिखा था। यह इतिहास-ग्रन्थ के बहुत-कुछ अनुरूप है। इसमें अशोक का उल्लेख हुआ है तथापि प्रमुखतया वह काश्मीर-नरेश के रूप में ही है।

८. **विदेशी लेख**—विदेशी लेखकों फा-युएन-चु-लिन नामक चीनी ग्रन्थ के लेखक, फाह्यान, ह्वेन साग, इत्सिंग आदि—ने भी अशोक के विषय में यत्र-तत्र प्रकाश डाला है। उनके उल्लेखों से भी विद्वानों को पर्याप्त सहायता मिली है। इन उल्लेखों का प्रयोग यथास्थान किया जायेगा।

२. पुरातत्वसम्बन्धी साधन

१. **अशोक के अभिलेख**—पुरातत्वसम्बन्धी साधनों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय हैं स्वयं अशोक के अभिलेख। उनमें स्वयं अशोक के शब्दों में उसकी जीवनी, उसके व्यक्तित्व, शासन-प्रबन्ध तथा तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। १७५० में टीफेन्थैलर (Padre Teffenthaler) महोदय ने सर्वप्रथम दिल्ली में अशोक-स्तम्भ का पता लगाया था। तब से उसके स्तम्भ-लेखों और शिलालेखों का अन्वेषण और शोधन जारी रहा। उसके अन्तिम शिलालेख की खोज सन १९१५ में बीडन महोदय (Beadon) ने मास्की में की थी। प्रारम्भ में अभिलेखों की लिपि के पढ़ने का अति क्रान्तिकारी कार्य जेम्स प्रिंसेप (James Princep) ने किया था। उसके पश्चात तो अनेकानेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने उन अभिलेखों का अध्ययन और विश्लेषण किया है। यह कार्य अब भी जारी है।

इन अभिलेखों की सूचना इतनी विविध और विस्तृत है कि प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर डी० आर० भण्डारकर ने तो एकमात्र अभिलेखों की सहायता से ही अशोक का इतिहास लिखने की सफल चेष्टा की है। इन अभिलेखों का महत्व इसलिए भी अधिक है कि जहाँ बौद्ध साहित्य अशोक को बौद्ध प्रचारक के रूप में प्रदर्शित करता है वहाँ ये अभिलेख उसे राजा के रूप में भी चित्रित करते हैं।

परन्तु फिर भी हमें इन अभिलेखों का अध्ययन बड़ी सावधानी से करना चाहिए, क्योंकि इनमें अनेक त्रुटियाँ और सीमायें भी हैं। ये नितान्त व्यक्तिगत हैं। एकमात्र

अशोक का वर्णन करने के अतिरिक्त ये किसी भी राजा का विस्तृत वर्णन नहीं करतीं। स्वयं अपने निर्माता के पिता और पितामह के विषय में भी ये मौन हैं। फिर राजकीय कृतियाँ होने के कारण विद्वान कभी-कभी उनके वर्णनों को निष्पक्ष और वास्तविक भी नहीं मानते। उदाहरण के लिए, अशोक के १३वें शिलालेख को लीजिए। इसमें अशोक ने विदेशो में अपने व्यापक बौद्ध प्रचार का उल्लेख किया है। रीज़ डेविड्ज महोदय ने इस उल्लेख पर सन्देह प्रकट किया है। उनका मत है कि इस अभिलेख के वर्णन में कोरी ऐतिहासिकता की अपेक्षा राजकीय आत्म-श्लाघा ही अधिक है। इस विद्वान के आरोप में कहाँ तक सत्य है, इस पर तो हम आगे विचार करेंगे, परन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि राजकीय लेख होने के कारण उनमें राजा की अभिरुचि के प्रतिकूल कोई भी उल्लेख न मिल सकेगा। अतः उनकी राजकीयता उनकी विषय-व्यापकता एव निष्पक्षता के लिए बाधक हो सकती है।

इसके अतिरिक्त अपने अभिलेखो में अशोक ने अनेक स्थलों पर ऐसी शब्दावलि का प्रयोग किया है जो आज दुर्बोध हो गई है। उदाहरण के लिए, लघु शिलालेख का निम्नलिखित कथन लीजिए—

'या इमाय कालाय जम्बुदीपसि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा।'

इसी प्रकार चतुर्थ शिलालेख का एक अन्य कथन है—

'वियानदसणा च हस्तिदसणा च अगि संधानि च अञानि च दिव्यानि रूपानि दसयित्पा।' इन तथा ऐसे ही अनेकों उल्लेखों ने विद्वानों के बीच भारी विवाद खड़ा कर दिया है। परन्तु इन त्रुटियों और सीमाओं के होते हुए भी अशोक के अभिलेखों का भारी महत्व है।

२. **गिरनार का अभिलेख**—यह अभिलेख रुद्रदामा का है। इसकी तिथि ७२ शक-सम्वत अथवा १५० ईसवी है। इसमें सुदर्शन झील के निर्माण एवं जीर्णोद्धार के सम्बन्ध में चन्द्रगुप्त और अशोक तथा पश्चिमी प्रदेश में नियुक्त उनके गवर्नरों (क्रमशः पुष्यगुप्त और तुषास्फ) का उल्लेख मिलता है। बरुआ महोदय ने इनकी ऐतिहासिकता में सन्देह प्रकट किया है। उनका मत है कि बहुत बाद का अभिलेख होने के कारण उसके मौर्यकालीन उल्लेख दन्त-कथा-मात्र हो सकते हैं। परन्तु इस आपत्ति में विशेष बल नहीं है। इतिहास में ४०० वर्षों का काल कोई बहुत लम्बा काल नहीं है। पुनः रुद्रदामा के सम्पूर्ण अभिलेख का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उसके निर्माता में सम्यक तिहास-बुद्धि थी। वह कोई गल्पकार न था। अतः जब वह इतिहास की किसी विगत घटना का उल्लेख करता है तो हम उसे एकमात्र इसी आधार पर अग्राह्य नहीं कह सकते कि वह ४०० वर्ष पूर्व की है। आखिर मौर्यकालीन उल्लेखों में ऐसी अविश्वसनीयता ही क्या है? चंद्रगुप्त और अशोक का शासन प्रायः सम्पूर्ण भारत पर था। यदि उनका अधिकार पश्चिमीय भारत पर रहा हो तो आश्चर्य ही क्या है? पुन. अधिकृत प्रदेशों मे राष्ट्रीय-नियुक्ति की बात भी असम्भव नहीं है। रही सुदर्शन-लेख के निर्माण की बात, यह भी नितान्त स्वाभाविक है। मेगस्थनीज और कौटिल्य दोनो ने सिंचाई के प्रबन्ध के प्रति राजकीय सावधानी का उल्लेख किया है। अत यदि चंद्रगुप्त और अशोक ने पश्चिमी भारत में सुदर्शन झील का निर्माण और जीर्णोद्धार कराया हो तो इसमें आश्चर्य की बात क्या है? जब उत्तरकालीन हाथीगुम्फा अभिलेख में वर्णित नन्दकालीन घटनाओं को ग्रहण किया जा सकता है तो फिर गिरनार-अभिलेख में उल्लिखित मौर्यकालीन घटनाओं को अग्राह्य नहीं कहा जा सकता।

(३) **नागार्जुनी गुहा-लेख**—इसमें अशोक के उत्तरगामी मौर्यनरेश देवाना प्रिय दशरथ का उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि अशोक द्वारा प्रचुररूप में प्रयुक्त 'देवाना प्रिय' का विरुद उसके उत्तराधिकारियो ने भी ग्रहण किया था। पुन, आजीविक-सम्प्रदाय के प्रति अशोक की उदार-नीति को भी दशरथ ने सक्रम रक्खा। जिस प्रकार बाराबर अभिलेख में आजीविकों के लिए अशोक के गुहा-दान का वर्णन है उसी प्रकार इस नागार्जुनी-लेख में दशरथ के गुहादान का।

(४) 'देवानां प्रिय' की उपाधि की परम्परा लका में भी पहुँची। वहाँ के कतिपय ब्राह्मी अभिलेखो मे इस उपाधि का प्रयोग मिलता है।

(५) फारस के सखामनीय नरेशो-दारा महान और उसके उत्तराधिकारियों —के अभिलेखो में 'थातिय दारयवौष क्षयाथिय' का प्रयोग मिलता है। सेनार्ट ने इसका सम्बन्ध 'देवाना प्रिय प्रियदर्शी राजा आह' के साथ स्थापित किया है।

(६) अनेक विद्वानो का मत है कि फारस की राजधानी पर्सीपोलिस के भवन, स्तम्भ एव अन्यान्य कला-विधियो का प्रभाव अशोक की कला-कृतियों पर दृष्टिगत होता है।

अशोक की प्रारम्भिक जीवनी—अभाग्य से अशोक के अभिलेखों में उसकी प्रारम्भिक जीवनी के विषय मे कोई उल्लेख नही मिलता। अत उसके लिए हमें विविध साहित्यिक साक्ष्यों का महारा लेना पडता है। दीपवश और महावश मे बिन्दुसार की १६ रानियों तथा उसके १०१ पुत्रो का उल्लेख है। महावश में उसके सब से बड़े पुत्र का नाम सुमन मिलता है। परन्तु दिव्यावदान मे सुसीम को सब से बडा पुत्र कहा गया है। फा-युएन-चु-लिन नामक एक चीनी ग्रन्थ है। उसमे महात्मा बुद्ध अपने शिष्य आनन्द से कहते है कि 'तुम्हे जानना चाहिए कि पालिनपुत (पाटलिपुत्र) नगर में चन्द्रगुप्त नाम का एक राजा होगा। उसके बिन्दुपाल नाम का एक पुत्र उत्पन्न होगा। इस बिन्दुपाल के सुसीम नाम का पुत्र होगा।' बहुत सम्भव है कि सुमन और सुसीम दोनो एक ही व्यक्ति के नाम हों। अशोक इस सुमन-सुसीम का सौतेला भाई था। आयु में वह (अशोक) एकमात्र इसी सुमन-सुसीम से छोटा था, परन्तु अन्य सब भाइयो से बडा था। दिव्यावदान के अनुसार अशोक का एक सगा भाई भी था जिसका नाम विगतशोक दिया हुआ है। दीपवश और महावश से प्रकट होता है कि अपने समस्त भाइयो में तिष्य सब से छोटा था। अधिकाश विद्वानो ने विगतशोक और तिष्य को एक ही व्यक्ति माना है। ह्वेनसांग ने अशोक के एक अन्य भाई का नाम महेन्द्र बताया है परन्तु पाली ग्रन्थो के अनुसार वह उसका पुत्र था।

दिव्यावदान में उसकी माता को चम्पा-निवासी एक ब्राह्मण की कन्या कहा गया है। वह ब्राह्मण अपनी 'दर्शनीया, प्रासादिका और जनकल्याणी' पुत्री को बिन्दु-सार को उपहारस्वरूप दे गया था। परन्तु अन्त पुर की अन्य रानियो ने उसकी अति-शय सुन्दरता से सशकित होकर उसे नाइन बना कर रखा। कालान्तर मे भेद खुल गया और बिन्दुसार ने उसे अपनी पटरानी बनवाया। इसी से बिन्दुसार के दो पुत्र हुए—अशोक और विगतशोक। परन्तु अभाग्य से दिव्यावदान में इस ब्राह्मण-कन्या का नाम नही मिलता। अशोकावदान-माला मे अशोक की माँ को सुभद्रागी कहा गया। बहुत सम्भव है कि यह ही उसका यथार्थ नाम न हो वरन दर्शनीया, प्रासादिका और जनकल्याणी की भाँति एक विशेषण हो। हाँ, महाबोधिवश मे उसका नाम अवश्य मिलता है। उसमे उसे धम्मा कहा गया है। परन्तु इस ग्रन्थ में उसे मोरियवंशजा कहा गया है। जैसा कि दिव्यावदान मे लिखा है, बिन्दुसार ने अशोक की माता को

पटरानी का पद दिया था। इसकी पुष्टि महाबोधिवंश-टीका से होती है। इस टीका में भी अशोक की मा (धम्मा) को 'अग्गमहेसी' कहा गया है। कुछ विद्वान अशोक को यूनानी माता की सन्तान मानते हैं। उनके अनुसार पराजित होने के पश्चात सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया और अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के साथ कर दिया। अशोक बिन्दुसार की इसी यूनानी रानी का पुत्र था।[1] परन्तु यह कथन नितान्त सन्दिग्ध है।

पाली ग्रन्थो से अशोक की एक ही बहन का पता लगता है। इसके पुत्र कुमार अग्निब्रह्मा के साथ अशोक ने अपनी पुत्री सघमित्रा का विवाह किया था। इस विवाह से उसके सुमन नामक एक पुत्र हुआ था। बहुत सम्भव है कि अशोक के अन्य बहिनें भी रही हो, क्योकि अपने ५ वें शिलालेख मे वह अनेक भाई-बहिनों का उल्लेख करता है।[2]

उपलब्ध साक्ष्यो से प्रकट होता है कि अशोक के अनेक पत्नियाँ थी। दीपवश, महावश और सामन्तपासादिका के अनुसार अशोक प्रान्तीय शासक के रूप में जब उज्जैन जा रहा था तो मार्ग मे विदिशा मे उसने एक श्रेष्ठी की पुत्री 'देवी' के साथ विवाह कर लिया था। महावश-टीका इसके पिता का नाम 'देव' बताती है। महाबोधिवश मे देवी को 'वेदिसा-महादेवी' कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि बिन्दुसार के शासन-काल में 'देव' विदिशा का राष्ट्रिय था। महाबोधिवश 'देवी' को शाक्य-जातीय बताता है। इस ग्रथ के अनुसार महेन्द्र और सघमित्रा इसी देवी से उत्पन्न हुए थे। कदाचित अशोक की यह पत्नी सदैव विदिशा में ही रही और पाटलिपुत्र के अन्त पुर में कभी न जा सकी।

महावश के अनुसार असन्धिमित्रा (आसन्दिमित्रा) अशोक की पटरानी (पिया अग्गमहिषी) थी। अशोक के राज्याभिषेक के २६ वर्ष पश्चात उसकी मृत्यु हो गई।

आसन्दिमित्रा की मृत्यु के ४ वर्ष पश्चात् अशोक ने तिष्यरक्षा को अपनी पटरानी बनाया। दिव्यावदान मे इसका नाम तिष्यरक्षिता दिया हुआ है और अपने सौतेले पुत्र कुणाल के साथ किये गये इसके कुकृत्य का वर्णन है। परन्तु तिष्यरक्षिता और कुणाल की कथा न तो दीपवश में मिलती है और न बुद्धघोष की रचनाओं में। इसी से अनेक विद्वान इसे अनैतिहासिक मानते हैं।

यह उपर्युक्त कुणाल अशोक की एक अन्य पत्नी पद्मावती का पुत्र था। दिव्यावदान के अनुसार इसका प्रारम्भिक नाम धर्मविवर्धन था। परन्तु अमात्यो ने इसके नेत्रो को कुणालसम सुन्दर देख कर अशोक से इसका नाम कुणाल रखवाया।

अशोक की रानी के अभिलेख (Queen's Edict) में उसकी द्वितीय रानी 'कालुवाकि' का उल्लेख हुआ है। यह अशोक के पुत्र तीवर की माता थी।[3]

अशोक से सम्बन्धित समस्त कुलीन व्यक्तियो को समझने के लिए निम्नलिखित तालिका आवश्यक है।

१ K. H. Dhruva—J. B.O.R.S. XVI (1930), p. 35 n. 28; Tarn, The Greeks in Bactria and India, p. 152.

२ हिद बहिरेसु च नगरेसु सवेसु ओरोधनेसु भातिन च स्पसुन च ये व पि अञे ञातिके सवत्र वियपट

३ दुतीय.ये देविये ति तीवलमातु कालुवाकिये।

पिता—बिन्दुसार

माता—ब्राह्मण-कन्या—दिव्यावदान के अनुसार
सुभद्रांगी—अशोकावदानमाला के अनुसार
धम्मा—महाबोधिवंश के अनुसार
यूनानी राजकुमारी—टार्न आदि कतिपय विद्वानो के अनुसार

भाई—सुमन–सुसीम
तिष्य–विगतशोक

बहिन—कुमार अग्निब्रह्मा की माता

पत्नी—१ देवी
२ आसन्दिमित्रा
३ तिष्यरक्षिता
४ पद्मावती
५ कारुवाकि

पुत्र—१ महेन्द्र—देवी से
२ तीवर—कारुवाकि से
३ कुणाल—पद्मावती से
४ जालौक—राजतरंगिणी में उल्लिखित

पुत्री—१ संघमित्रा—देवी से
२ चारुमती—देवपाल की पत्नी जिसने नेपाल-यात्रा की थी—सिल्वन लेवी के मतानुसार

पौत्र—१ दशरथ
२ सम्प्रति—कुणाल का पुत्र
३ सुमन—संघमित्रा का पुत्र

प्रान्तीय शासक—राज्य-प्राप्त करने के पूर्व ही अशोक को प्रशासकीय कार्यों का पर्याप्त अनुभव प्राप्त हो चुका था। बौद्ध ग्रन्थो से प्रकट होता है कि वह बिन्दुसार के शासन-काल में तक्षशिला और अवन्ती का प्रांतीय शासक रह चुका था। इन महत्व-पूर्ण दूरस्थ प्रान्तों का गुरु शासन-भार देकर बिन्दुसार ने उसकी सहज कार्यकुशलता विवेकशीलता और शूरता को स्वीकार किया था।

दिव्यावदान के अनुसार बिन्दुसार ने अशोक को तक्षशिला उस समय भेजा था जब वहाँ की जनता ने अमात्यो की दमनपूर्ण नीति से क्षुब्ध होकर उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। इस विद्रोह-दमन के पश्चात उसने निश्चय ही वहाँ के प्रान्तीय शासन को सुव्यवस्थित किया होगा।

जहाँ तक अवन्ती का प्रश्न है, सामन्तपासादिका के कथनानुसार अशोक ने इसे शस्त्र-बल से जीता था। परन्तु अशोक द्वारा अवन्ती-विजय का अन्य किसी ग्रन्थ में उल्लेख नही है। सम्भवतः वह पहले से ही मगध-साम्राज्य में था। हाँ, यह हो सकता है कि तक्षशिला की भाँति अवन्ती में भी विद्रोह हुआ हो और अशोक ने उसे शस्त्र-बल से दबा दिया हो तथा अवन्ती पर पुन. अपनी सत्ता स्थापित की हो।

जो भी हो, इतना निश्चित है कि अवन्ती पर उसने शासन किया था। महावंश का कथन है कि बिन्दुसार ने अशोक को उपभोग करने के हेतु अवन्ती का राज्य दे

दिया था।[1] दीपवंश प्रिय-दर्शन अशोक को 'उज्जेनी-कर-मोली' कहता है और बिन्दुसार द्वारा अवन्ती में प्रान्तीय शासक के रूप में अशोक की नियुक्ति की पुष्टि करता है।

उत्तराधिकार के लिए युद्ध—ऐसा प्रतीत होता है कि बिन्दुसार के जीवन-काल में ही उत्तराधिकार का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था और वह काफी विवादग्रस्त हो गया था। बौद्ध ग्रन्थ इस प्रश्न पर अतिशय मुखर हैं। अतः किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व इन साक्ष्यों का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

१. महावंश का कथन है कि बिन्दुसार के एक सौ एक पुत्र थे। इन पुत्रों में अशोक सबसे अधिक तेजवान था। उसने विमाताओं से उत्पन्न हुए ९९ भाइयों को मार कर सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का राज्य प्राप्त किया।[2]

अन्यत्र यही ग्रन्थ अधिक विस्तार के साथ लिखता है कि बिन्दुसार के समस्त पुत्रों में सबसे बड़ा सुमन था। एक बार जब बिन्दुसार बीमार हुआ तो उस समय अशोक उज्जयिनी में था। पिता की बीमारी का समाचार पाकर अशोक उज्जयिनी से पाटलिपुत्र आया और पिता की मृत्यु हो जाने पर उसने अपने बड़े भाई को मार कर नगर पर अधिकार कर लिया और राज्य प्राप्त किया।[3]

२. दीपवंश—महावंश मे उल्लिखत वर्णन की पुष्टि दीपवंश से भी होती है। इसके अनुसार भी उसने अपने ९९ भाइयो का बध करके सिंहासन प्राप्त किया था।[4]

३. दिव्यावदान मे अशोक के सिंहासन-प्राप्ति के सम्बन्ध में एक लम्बा विवरण मिलता है। उसका साराश यह है कि अशोक 'दु:स्पर्शगात्र' था। अत: बिन्दुसार उससे प्रेम न करता था। उसका अधिक प्रेम सुसीम पर था और वह उसी को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। परन्तु वह बडी चिन्ता में था, क्योंकि प्राय: सभी राजकुमार राज्य प्राप्त करना चाहते थे। अन्त में उसने परिव्राजक पिंगलवत्सजीव से सलाह ली और उससे समस्त राजकुमारो की परीक्षा लेने के लिए कहा। परिव्राजक का निर्णय अशोक के पक्ष में हुआ, परन्तु बिन्दुसार (जो सुसीम को राजा बनाना चाहता था।) के कोप के भय से उसने अपने निर्णय को स्पष्ट न किया और आत्मरक्षा के हेतु वह अशोक की माता की सम्मति से सीमावर्ती जनपदो मे चला गया और वापस आने के लिए अशोक के सम्राट बनने की प्रतीक्षा करने लगा।

इधर, प्रधानमन्त्री खल्लाटक सुसीम से असन्तुष्ट था। अत उसने अशोक का पक्ष लिया। अपने पक्ष को सबल करने के लिए खल्लाटक ने राज्य के ५०० अमात्यों को भी सुसीम के विरुद्ध कर दिया।

खल्लाटक और उसके सहकारी अमात्यो ने तक्षशिला मे पुन. विद्रोह करा दिया।

१ अवन्ती रट्ठम् भुञ्जन्तो पितरा दिन्नं अत्तनो
सो असोकः कुमारो हि उज्जेनिनगरं पुर॥

२ बिन्दुसारसुता आसुं सतं एको च विस्सुता
असोको आसि ते सन्तु पुञ्जतेजो बलिद्धिको
वेमातिके भातरो सो हन्त्वा एकूनकं सतं
सकले जम्बुदीपस्मिं एक रज्जमपापुणि।

३ बिन्दुसारस्स पुत्तानं सब्बेसं जेट्ठभातुनो
सुमनस्स कुमारस्स पुत्रो सो हि कुमारको
असोको पितरादिन्न रज्जमुज्जेनियं हि सो
हित्वागतो पुप्फपुरं बिन्दुसारे गिलानके
करवा पुरं सकायत्तं मते पितरि भातरं
घातेत्वा जेट्ठकं रज्जं अगाहेसि पुरे वरे।

४ दीपवंश ६. १२-२२

बिन्दुसार ने उसे शान्त करने के लिये सुसीम को भेजा। परन्तु वह विद्रोह का दमन न कर सका। इस पर बिन्दुसार ने इस कार्य के लिये अशोक को भेजना चाहा। परन्तु अमात्यों ने यह कह कर कि अशोक बीमार है, उसका प्रस्थान रुकवा दिया।

बिन्दुसार बीमार था। उसकी दशा उत्तरोत्तर बिगड़ती गई और शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई। अब अमात्यों ने अशोक को राजा बनाया। राधागुप्त उसका प्रधान मन्त्री बना।

पिता की मृत्यु और अशोक की राज्यप्राप्ति का समाचार पाकर सुसीम राजधानी आया, परन्तु अशोक द्वारा पूर्व नियोजित अग्निगर्भा एक खाई में गिर कर मर गया।

४. महाबोधिवंश में भी उत्तराधिकार के युद्ध का वर्णन है। उससे प्रकट होता है कि अशोक के अन्य भाइयों ने सुसीम का पक्ष ग्रहण किया था।

५. तारानाथ भी इस गृह-युद्ध से परिचित हैं। परन्तु उनके अनुसार अशोक ने केवल ६ भाइयों की हत्या करके राज्य प्राप्त किया था।

६. चीनी ग्रन्थ फा-युएन-चु-लिन के वर्णन से भी प्रकट होता है कि अपने बड़े भाई सुसीम को मार कर अशोक ने राज्य हस्तगत किया था।

यदि हम उपर्युक्त समस्त साक्ष्यों को सम्मुख रखें तो यही सिद्ध होगा कि राज्य-सिंहासन के लिए युद्ध अवश्य हुआ था? मतभेद केवल इस बात पर है कि अशोक को राज्य प्राप्त करने के लिए एक भाई (सुमन-सुसीम) की हत्या करनी पड़ी अथवा ६ की अथवा ९८ या ९९ की। यह मतभेद विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। स्पष्ट है कि दीपवंश और महावंश में कही गई ९८ या ९९ भाइयों के सामूहिक वध की बात अतिरंजित है। हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्य प्राप्त करने के लिये अशोक को सुमन आदि दो-चार भाइयों की हत्या अवश्य करनी पड़ी होगी। कुछ विद्वानों का कथन है कि स्वयं महावंश में भी परस्पर-विरोधी कथन हैं। पहले तो वह ९९ भाइयों की हत्या की बात करता है, परन्तु बाद को एक मात्र सुमन की। यह आपत्ति भी खोखली है। महावंश के दोनों कथनों को समक्ष रखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि अशोक को अपने वैमातृक भाइयों के एक संघ का विरोध करना पड़ा जिसका नेता उसका सब से बड़ा भाई सुमन था। सुमन की हत्या की घटना प्रधान थी, अन्य भाइयों की गौण। इसी से यह जानते हुए भी कि युद्ध में अन्य भाइयों की भी हत्या हुई है (जैसा कि इसके पूर्व कथन से प्रकट होता है) महावंश ने दूसरे स्थान पर एकमात्र विरोधी पक्ष के नेता सुमन की ही हत्या का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त साक्ष्यों से अन्य महत्वपूर्ण बातें भी प्रकट होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तराधिकार के प्रश्न पर राज्य के प्रमुख व्यक्तियों में मतभेद था। सुमन-सुसीम बड़ा था। अत वह अपनी ज्येष्ठता के बल पर अपने को राज्याधिकारी समझता था। उसका प्रमुख पक्षपाती स्वयं सम्राट बिन्दुसार था। उधर अशोक सुमन-सुसीम से छोटा तो था, परन्तु योग्यता में एकमात्र उसी से नहीं वरन अपने समस्त भाइयों से आगे था। महावंश में उसे 'पुञ्जतेजो बलिद्धिको' कहा गया है। अवन्ती और तक्षशिला ऐसे महत्वपूर्ण एवं दूरस्थ प्रान्तों का शासन-भार उसे सौंप कर स्वयं बिन्दुसार ने अशोक की योग्यता को स्वीकार किया था। तक्षशिला में विद्रोह-दमन करने का दुष्कर कार्य भी उसी को दिया गया था जिसे उसने सफलतापूर्वक सम्पादित किया। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि दूसरी बार जब फिर तक्षशिला में विद्रोह हुआ और उसके दमन के लिए सुमन-सुसीम भेजा गया तो वह असफल रहा। अतः फिर

बिन्दुसार की दृष्टि अशोक पर पडी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सैनिक कुशलता में अशोक अपने समस्त भाइयों में अग्रगण्य था।

अशोक एव उसके पक्षपातियो की दृष्टि में वय की अपेक्षा गुण अधिक महत्वपूर्ण थे। उनकी यह धारणा प्राचीन भारतीय परम्परा के सर्वथा अनुकूल थी।[1] अस्तु, राज्य के प्रधान-मन्त्री एव अन्य मन्त्रियो ने अशोक का पक्ष ग्रहण किया। जैसे-जैसे बिन्दुसार का अन्त समीप आता जाता था। वैसे ही वैसे राजसिंहासन के लिए षडयन्त्र बढ़ते जाते थे। सुसीम राजधानी से बाहर था। अत. अशोक के पक्षपाती उसकी (सुसीम की) अनुपस्थिति से लाभ उठाना चाहते थे। दिव्यावदान के अनुसार उन्होने बीमारी के बहाने से अशोक को पाटलिपुत्र में ही रोक रखा था। परन्तु महावश के अनुसार वह पाटलिपुत्र के बाहर, उज्जयिनी मे था। जो भी हो, बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात दोनो पक्षो मे युद्ध हुआ और उसमें खल्लाटक, राधागुप्त एव अमात्य-वर्ग की सहायता से अशोक विजयी हुआ। सुमन-सुसीम एव उसके पक्षपाती कुछ अन्य भाई मारे गये।

इस उत्तराधिकार-युद्ध को पुष्टि अन्य साक्ष्यो से भी होती है। दीपवश और महावश का कथन है कि अशोक का राज्याभिषेक उसके राजसिंहासनारोहण की तिथि के चार वर्ष पश्चात हुआ था। इस विलम्ब का कारण कदाचित उपर्युक्त युद्ध एव तज्जनित अशान्ति रही होगी।

उधर पुराणो मे कही समस्त मौर्य-काल १३७ वर्ष का कहा गया है और कही १३३ वर्ष का। कदाचित यह चार वर्ष का अन्तर उसी अशान्ति-काल को सूचित करता है जब मगध के सिंहासन पर कोई भी सत्ता दृढतापूर्वक आरूढ न हुई थी।

यह एक महत्वपूर्ण बात है कि जहाँ पुराण बिन्दुसार का शासन-काल २५ वर्ष का बताते है वहाँ ब्रह्मा के ग्रन्थ उसे २७ वर्ष का और सामन्तपासादिका नामक ग्रन्थ २८ वर्ष का बताते है। कदाचित यह दो-तीन वर्ष का अतिशय काल बिन्दुसार की मृत्यु और अशोक के अभिषेक के बीच का अन्तर पूरा करने की उनकी चेष्टा का द्योतक है।

प्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय डाक्टर जायसवाल ने इस अन्तर को दूसरे प्रकार से समझाने की चेष्टा की है। उनका कथन है कि प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार अभिषेक होने के लिये युवराज का २५ वर्षीय होना आवश्यक था। सिंहासनारूढ होते ही अशोक का राज्याभिषेक इसलिए नही हो सका क्योकि उस समय वह २५ वर्ष का न था। अत उसे ३-४ वर्ष रुकना पड़ा।

परंतु जायसवाल महोदय का मत कोरी कल्पना पर अवलम्बित है। प्रथमत. इसका कोई प्रमाण नही कि अशोक जिस समय सिंहासन पर बैठा उस समय उसकी आयु २५ वर्ष की न थी। दीपवश से प्रकट होता है कि सिहासनारोहण के समय अशोक का पुत्र महेन्द्र १० वर्ष का था। अत स्वय अशोक लगभग ३० वर्ष का होगा। द्वितीयत, यह कोई अनिवार्य नियम न था कि २५ वर्ष की आयु के पूर्व किसी राजकुमार का अभिषेक ही न हो सके। उदाहरणार्थ, महाभारत मे विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक शैशवावस्था मे ही हुआ था।

इस पर भी डाक्टर स्मिथ और डाक्टर डी० आर० भडाकर आदि विद्वान यह

१ न चैकपुत्रमविनीतं राज्ये स्थापयेत्—अर्थशास्त्र।

स्वीकार नहीं करते कि अशोक ने अपने भाइयों की हत्या की थी अथवा राजसिंहासन के लिए गृह-युद्ध हुआ था। अतः अब हम इनके तर्कों पर विचार करेंगे—

(१) इनका कथन है कि अशोक के ५वें शिलालेख में, उसके जीवित भाइयों का उल्लेख है।[१] यह अभिलेख अशोक के अभिषेक के १३वें अथवा १४वें वर्ष तक अवश्य उत्कीर्ण हो चुका था। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसके कुछ भाई अभिषेक के १३वें अथवा १४वें वर्ष तक जीवित थे और अशोक का उनके प्रति अत्यंत उदारतापूर्ण एवं सौहार्दपूर्ण व्यवहार था। फिर यह कैसे माना जाय कि उत्तराधिकार-युद्ध में अशोक ने अपने समस्त भाइयों का वध कर डाला था। हम पहले ही बता चुके हैं कि दीपवंश और महावंश में ९९ भाइयों की हत्या की बात अतिरंजित है। इसके विरुद्ध दिव्यावदान में एकमात्र सुसीम की तथा तारानाथ में ६ भाइयों की हत्या का उल्लेख है। हमारा निष्कर्ष है कि अशोक ने सुमन-सुसीम तथा एकमात्र उन्हीं भाइयों की हत्या की होगी जो उसके विरोधी ज्येष्ठ भ्राता का साथ दे रहे थे। विगतशोक-तिष्य की भाँति अन्य भाई युद्ध के पश्चात भी जीवित रहे होंगे।

(२) उत्तराधिकार-युद्ध को न माननेवाले विद्वानों का कथन है कि अशोक के अभिलेखों में इस युद्ध का उल्लेख नहीं है। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि अशोक के अभिलेखों का विषय एवं दृष्टिकोण सीमित है। उसमें अशोक की जीवनी-सम्बन्धी व्यक्तिगत घटनाओं का वर्णन नहीं है। यही नहीं, वे उसके पिता और पितामह के विषय में भी मौन हैं। अतः इस उत्तराधिकार-युद्ध के विषय में उनका मौन आश्चर्य-जनक नहीं है। पुनः अशोक ने ये अभिलेख उस समय उत्कीर्ण कराए थे जब वह बौद्ध हो चुका था। अतः अपने विगत जीवन के कुकृत्यों का सविस्तार वर्णन करना उसे अधिक रुचिकर न लगा होगा। रही कलिंग-युद्ध की बात, उसे अपवाद समझना चाहिए। उसका उल्लेख करना अनिवार्य हो गया था, क्योंकि उसी के परिणामस्वरूप उसमें हृदय-परिवर्तन हुआ था।

(३) उत्तराधिकार-युद्ध के मत के विरोध में यह भी कहा जा सकता है कि अपने अभिलेखों से अशोक अत्यन्त उदार और सहृदय व्यक्ति दृष्टिगत होता है। फिर भला वह अपने भाइयों की हत्या कैसे कर सकता था? परन्तु यह तर्क अति निर्बल है। अभिलेखों में वर्णित अशोक की उदारता और सहृदयता उसके बौद्ध जीवन के गुण हैं। पूर्व में वह ऐसा न रहा हो, यह स्वाभाविक है। स्वयं बौद्ध ग्रंथ उसे बौद्ध होने के पूर्व चण्डाशोक के नाम से पुकारते हैं। हम अशोक के क्रूरताविषयक समस्त बौद्ध उल्लेखों को अतिरंजित कह कर न भी स्वीकार करें तो भी यह अनुमान अस्वाभाविक नहीं है कि अशोक बौद्ध होने के पूर्व कदाचित अहिंसा-प्रेमी और सहृदय न रहा हो।

अतः समस्त साक्ष्यों एवं तर्कों पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि अपने भाई अथवा भाइयों के विरुद्ध किए गए उत्तराधिकार-युद्ध में विजयी होने पर ही अशोक ने मगध का सिंहासन हस्तगत किया था।

अशोक के नाम—समस्त साक्ष्यों के अवलोकन के पश्चात हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस बौद्ध सम्राट के लिए तीन नामों का प्रयोग किया गया है —(१) अशोक (२) देवानांप्रिय प्रियदर्शी और (३) राजा।

मास्की के लघु शिलालेख प्रथम के अतिरिक्त उसके किसी भी अभिलेख में उसका

१ हिदच हिरेषु च नगरेषु सवेषु ओराधनेषु भतन च स्पसुन च ये व पि अञे ञातिके सवत्र वियपट

नाम 'अशोक' नहीं मिलता। यही कारण है कि इस मास्की-अभिलेख की प्राप्ति के पूर्व प्रिंसेप ने सर्वप्रथम जब अशोक के अभिलेखों का अध्ययन करना प्रारम्भ किया तो उन सब पर 'प्रियदर्शी' शब्द पाकर वह अति आश्चर्यान्वित हुआ और न समझ सका कि आखिर यह विरुद किस भारतीय राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है। कालान्तर में टर्नर ने इस रहस्य का उदघाटन किया। उसने बताया कि सिंहली ग्रंथ दीपवंश मे 'पियदस्सि' (प्रियदर्शी) अथवा 'पियदस्सन' (प्रियदर्शन) शब्द का प्रयोग अशोक के लिए हुआ है। अतः 'पियदस्सि' नामधारी उपर्युक्त समस्त अभिलेख अशोक के ही हैं। मास्की के लघु अभिलेख प्रथम ने इस समीकरण को यथार्थ सिद्ध कर दिया। यद्यपि अशोक के अभिलेखों में 'पियदसि' (प्रियदर्शी) शब्द का ही प्रयोग मिलता है तथापि सिंहली ग्रंथों में उसके लिए 'पियदसि' (प्रियदर्शी) के साथ-साथ 'पियदस्सन' (प्रियदर्शन) शब्द का भी प्रयोग हुआ है। वस्तुत. दोनों शब्दों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

परन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि 'अशोक' और 'प्रियदर्शी' (अथवा प्रियदर्शन), इन दोनों नामों में उसका प्राथमिक नाम कौन था। इसके ऊपर कुछ मतभेद है। दिव्यावदान के अनुसार उसका प्राथमिक नाम 'अशोक' प्रतीत होता है। इस ग्रंथ के अनुसार जब बिन्दुसार के पुत्र उत्पन्न हुआ तो उसे अपनी पत्नी से पूछा कि इसका नाम क्या रखना चाहिए। इस पर उसने (पत्नी ने) उत्तर दिया कि इस बच्चे के उत्पन्न होने से मैं 'अशोक' हो गई हूँ। अतः इसका नाम 'अशोक' रखना चाहिए।

परन्तु दीपवंश और सुमंगलविलासिनी के अनुसार उसका प्राथमिक नाम प्रियदर्शन था। परन्तु सिंहासनारोहण के ४ वर्ष पश्चात जबकि उसका राज्याभिषेक हुआ तो उसने 'अशोक' का नाम धारण किया।[1]

परन्तु हमें दिव्यावदान का उल्लेख अधिक प्रामाणिक लगता है। वास्तव में अशोक उसका नाम था और 'प्रियदर्शी' अथवा 'प्रियदर्शन' विरुद। दीपवंश के अनुसार 'प्रियदर्शन' का विरुद के रूप में प्रयोग चन्द्रगुप्त ने किया था। अतः उसके पौत्र ने भी इसी विरुद को धारण किया होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि 'अशोक' बौद्ध सम्राट का प्राथमिक नाम था और 'प्रियदर्शी' एकमात्र विरुद तो फिर उसने अपने अभिलेखों में प्राथमिक नाम का प्रयोग क्यों नहीं किया? परन्तु राजकीय अभिलेखों मे मूल नाम छोड़ कर पूर्णरूपेण विरुद मात्र का प्रयोग भारतीय इतिहास में दृष्टान्त-विहीन नहीं है। मान्यखेट के राष्ट्रकूटनरेश गोविन्द तृतीय के पुत्र के समस्त राजकीय लेखों में एकमात्र उसका विरुद 'अमोघवर्ष' मिलता है। कदाचित बौद्ध-धर्म ग्रहण करने के अवसर पर बौद्ध संघ ने अशोक को 'देवाना प्रिय प्रियदर्शी' की उपाधि दी होगी और तभी से उसने अपने समस्त राजकीय कार्य इसी उपाधि से सम्पादित किये।

अशोक के अभिलेखों मे उसके लिए 'देवाना प्रिय प्रियदर्शी राजा' का प्रयोग मिलता है। कभी-कभी इन शब्दों में हेर-फेर भी कर दिया गया है। इस प्रकार कभी उसके लिए 'देवानां प्रिय, कभी 'देवाना प्रिय राजा', कभी 'देवाना प्रिय प्रियदर्शी' और कभी 'प्रियदर्शी राजा' का प्रयोग मिलता है। हम 'प्रियदर्शी' शब्द के ऊपर विचार कर चुके हैं। अब हम 'देवानां प्रिय' पर विचार करेंगे।

'देवाना प्रिय' का शाब्दिक अर्थ है 'देवताओं का प्रिय'। कालान्तर मे इस उपाधि का प्रयोग 'मूर्ख' के अर्थ में होने लगा था। सिद्धान्त-कौमुदी और अभिधान-

1 दीपवंश ६. २२.

चिन्तामणि नामक ग्रन्थों में यह उपाधि 'मूर्ख' का पर्यायवाची है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में इसका अर्थ अशोभन न था। अशोक ने इसका प्रयोग सम्मान सूचक (देवताओ का प्रिय) अर्थ में ही किया है। उसके किसी-किसी अभिलेख [1] में इस उपाधि के स्थान पर 'राजानो' का प्रयोग मिलता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि यह उपाधि राजा के सम्मानार्थ प्रयुक्त होती थी। पतजलि ने 'देवाना प्रिय' का सम्बन्ध 'भवत' 'दीर्घायु.' और 'आयुष्मत' शब्दो के साथ किया है। इससे भी स्पष्ट होता है कि इन शब्दो के समान 'देवाना प्रिय' सम्मानसूचक अथवा 'पूजाबचन' ही था। दीपवश में इस उपाधि (देवाना प्रिय) का प्रयोग अशोक के समकालीन सिहल-नरेश तिस्स के लिए मिलता है। यही नही, स्वय मौर्य-नरेश दशरथ के लिए नागार्जुनी-अभिलेख में भी यही उपाधि प्रयुक्त है।

'राजा' अथवा 'महाराजा' का प्रयोग कालान्तर मे अधीनतासूचक था। इसका प्रयोग अधीनस्थ सामन्त ही करते थे। सर्वसत्ताधारी स्वतन्त्र नरेश 'महाराजाधिराज' आदि बड़ी उपाधियाँ धारण करते थे।[2] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य-काल तक इस प्रकार का कोई अन्तर न था अन्यथा सर्वसत्ताधारी भारत-सम्राट अशोक 'राजा' की उपाधि का प्रयोग कभी भी न करता।

अशोक के अधिकाश अभिलेख 'देवाना प्रिय प्रियदर्शी राजा एव आह', इन शब्दो के साथ प्रारम्भ होते हैं। सेनार्ट महोदय ने इन शब्दो की तुलना पारसीक नरेश द्वारा के अभिलेखो मे उल्लिखित शब्दो 'थातिय दारयवौष क्षयथिय' (दारा नरेश इस प्रकार कहता है) के साथ की है। ऐसा ही फार्मूला अन्य पारसीक नरेशो के अभिलेखो मे भी मिलता है। इस समानता के आधार पर सेनार्ट का मत है कि यह फार्मूला भारतवर्ष मे फारस से आया। कदाचित यह भारतवर्ष के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश में स्थापित पारसीक राज्य का परिणाम था।

यहाँ पर अशोक के अभिषेक-सम्बन्धी प्रश्न पर डा० बरुआ के विचारो का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है। डा० बरुआ का मत है कि बौद्ध सम्राट का प्राथमिक नाम प्रियदर्शन था। सिहासनारोहण की तिथि के ४ वर्ष पश्चात उसका 'प्रथम' अभिषेक हुआ और उसने 'अशोक' की उपाधि धारण की। उनका यह मत दीपवश और सुमगलविलासिनी पर आधारित है। डा० बरुआ का कथन है कि शतपथ ब्राह्मण (५ १.१ १२-१३) और कात्यायन श्रौत सूत्र (१५ १ १ २) के अनुसार राजसूय यज्ञ का करने वाला नरेश 'राजा' की उपाधि धारण कर सकता है। अतः अशोक का 'प्रथम' अभिषेक राजसूय-परम्परा के अनुसार हुआ होगा और उसने सर्वप्रथम छोटी उपाधि 'लाजा मागधो अशोको' (As'oka, the king of Magadha) धारण की होगी। इस प्रकार की उपाधि का प्रयोग बिम्बिसार (राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो) और अजातशत्रु (राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो) के लिए भी मिलता है।

तत्पश्चात डा० बरुआ का कथन है कि 'प्रथम' अभिषेक के ६ वर्ष पश्चात अशोक का 'द्वितीय' अभिषेक हुआ था। इसका उल्लेख दीपवश (६ २२-२४) मे हुआ है। इस अभिषेक के अवसर पर उसने 'प्रियदर्शी' की उपाधि धारण की। डा० बरुआ कहते हैं कि ऐतरेयब्राह्मण (८) सर्वराजविजयी नरेश के लिए 'पुनरभिषेक की कल्पना करता है। अतः सम्भवतः अशोक ने कलिंग-विजय के पश्चात समस्त भारत पर

१ शिलालेख ८ देखिए।
२ उदाहरणार्थ गुप्तकालीन अभिलेख

अपनी सत्ता स्थापित हो जाने के पश्चात अपना 'द्वितीय' अभिषेक किया होगा और 'प्रियदर्शी' की उपाधि धारण की होगी। अशोक के अभिलेखों पर इस उपाधि का प्रयोग अभिषेक के १२वें वर्ष से मिलता है अर्थात कलिंग-विजय के ४-५ वर्ष पश्चात।

परन्तु डा० बरुआ के इन निष्कर्षों के लिए प्रबल प्रमाण नहीं मिलते।

(१) दक्षिणी बौद्ध जनश्रुति (दीपवंश और सुमंगलविलासिनी) के अतिरिक्त कहीं पर भी अशोक के दो अभिषेकों की बात नहीं मिलती।

(२) इसका कोई प्रमाण नहीं है कि अशोक किसी समय भी ब्राह्मणों के याज्ञिक विधि-निषेधों का कट्टर पोषक था और उसके दो अभिषेक ब्राह्मणानुमोदित क्रमशः राजसूय-परम्परा और पुनरभिषेक-परम्परा के अनुकूल हुए होंगे।

(३) डा० बरुआ का ही कथन है कि अशोक का प्राथमिक नाम 'प्रियदर्शन' था। स्वयं बौद्ध ग्रन्थ दीपवंश के अनुसार भी 'प्रियदर्शन' अथवा 'प्रियदर्शी' में विशेष अन्तर नहीं है। फिर आखिर तथाकथित द्वितीय अभिषेक के पश्चात 'प्रियदर्शन' ने 'प्रियदर्शी' की उपाधि कैसे धारण की?

(४) अशोक के तथाकथित 'द्वितीय अभिषेक' और कलिंग-विजय में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। स्वयं डा० बरुआ की स्वीकृति के अनुसार 'द्वितीय अभिषेक' 'प्रथम अभिषेक' के ६ वर्ष पश्चात हुआ था। परन्तु कलिंग-विजय उसके राज्याभिषेक के ८ वर्ष पश्चात हुई थी। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक का 'द्वितीय अभिषेक' कलिंग-विजय के २ वर्ष पूर्व हुआ था। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि यह पुनरभिषेक ऐतरेय ब्राह्मण के वर्णन के अनुकूल था। पुनरभिषेक तो सर्वराजविजयी के लिए होता है। परन्तु स्पष्ट है कि जिस समय अशोक ने अपना पुनरभिषेक किया उस समय तक उसने एक भी अविजित प्रदेश पर विजय प्राप्त न की थी। स्वयं कलिंग का राज्य भी उस समय तक स्वाधीन था।

(५) डा० बरुआ का कथन है कि जिन अभिलेखों में पुनरभिषेक में प्राप्त उपाधि 'प्रियदर्शी' का वर्णन है वे प्रथम अभिषेक के १२वें वर्ष पूर्व के नहीं हैं। दूसरे शब्दों में वे कलिंग-विजय के पश्चात के हैं—उस समय तक सर्वविजयी होने के कारण अशोक पुनरभिषेक के अनुसार 'प्रियदर्शी' की दूसरी उपाधि को सगर्व घोषित कर सकता था। परन्तु अशोक अपने अभिषेक के १२वें वर्ष के पूर्व ही बौद्ध हो गया था। दूसरे शब्दों में अभिलेखों को उत्कीर्ण कराने वाला अशोक 'विजेता' के स्थान पर 'बौद्ध' सम्राट ही अधिक था। फिर यह कैसे स्वाभाविक है कि प्रायश्चित स्वरूप बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात भी कलिंग की रक्तरंजित विजय पर आधारित पुनरभिषेक में प्रदत्त अपनी शोणितशोण दूसरी उपाधि 'प्रियदर्शी' को वह सर्वत्र सगर्व घोषित करता रहा? निष्कर्ष स्पष्ट है कि 'प्रियदर्शी' की उपाधि का सम्बन्ध न कलिंग-विजय से था और न पुनरभिषेक से।

(६) बिम्बिसार और अजातशत्रु वास्तव में मगध के ही शासक थे। अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर भी वे अपने को सम्पूर्ण भारत का नरेश न कह सकते थे। अतः उनके लिए 'मगधराज' की उपाधि उपयुक्त है। परन्तु कलिंग-विजय के पूर्व भी अशोक प्रायः सम्पूर्ण भारत एवं अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान के एक विशाल भू-प्रदेश का शासक था। अतः फिर वह अपने प्रथम अभिषेक के अवसर पर अपने को एकमात्र 'मगध का राजा' क्यों घोषित करता? उसके पूर्व इस प्रकार की उपाधि की कोई परम्परा भी न थी।

(७) डा० बरुआ का कथन है कि सम्पूर्ण फार्मूला 'देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक' का अर्थ है 'मगध का राजा और जम्बूद्वीप का सम्राट।' यह अर्थ नितान्त कल्पना-कल्पित है। फार्मूला में मगध और जम्बूद्वीप के बीच अन्तर स्थापित करने तथा उनका विश्लेषण करने का कोई स्थान नहीं है। कदाचित डा० बरुआ की अन्तश्चेतना में अंग्रेजी फार्मूला 'King of England and Emperor of India' ऐसी कोई वस्तु रही होगी। परन्तु उन दोनों में कोई साम्य नहीं है। देवाना प्रियदर्शी राजा अशोक का सीधा अंग्रेजी अनुवाद है 'Priyadarshin King Asoka, the beloved of God'.

इन आपत्तियों को देखते हुए हमारा निष्कर्ष यही है कि अशोक का एक ही राज्याभिषेक हुआ था जो अन्य समस्त बौद्ध ग्रंथों में उल्लिखित है।

अशोक की तथाकथित प्रारम्भिक नृशंसता—बौद्ध ग्रंथों के अनुसार अशोक बौद्ध होने के पूर्व अति नृशंस, आततायी एवं रक्तपिपासु था। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि उसने एक अथवा अनेक भाइयों की हत्या करके राज्य प्राप्त किया था। इसके अतिरिक्त उसके विषय में अन्यान्य कथानक भी प्रचलित हैं। दिव्यावदान के अनुसार एक बार अशोक के अमात्यों ने उसकी आज्ञा का पालन न किया। इस पर क्रुद्ध होकर उसने ५०० अमात्यों को तलवार के घाट उतार दिया। इसी ग्रंथ का कथन है कि 'अशोक' वृक्ष के पत्तों तोड़ने के अपराध में उसने ५०० स्त्रियों को जीवित जलवा कर मरवा डाला था। पुनः दिव्यावदान का उल्लेख है कि अशोक ने एक नरक-गृह का निर्माण कराया था जिसमें निरीह मनुष्यों को भाँति-भाँति की यन्त्रणायें देकर मार डाला जाता था। यहाँ हत्या करने के लिए अशोक ने एक बध्य-घातक की नियुक्ति की थी।

इसी प्रकार ह्वेन साँग ने भी अशोक द्वारा स्थापित नरक-गृह तथा उसमें दी जाने वाली घोर यन्त्रणाओं का उल्लेख किया है।

महावंश के एक कथानक के अनुसार अशोक ने अपने मन्त्री को अनेक भिक्षुओं का बध करने की आज्ञा दी थी। इसी ग्रंथ की टीका के उल्लेखानुसार उसे अपने क्रूर कर्मों के कारण 'चण्डाशोक' की संज्ञा मिली थी।

अशोकावदानमाला का कथन है कि बुद्ध-प्रतिमा का अनादर करने के अपराध में अशोक ने ब्राह्मणों का बध करने की आज्ञा दी थी और प्रत्येक ब्राह्मण-शीश पर पारितोषिक घोषित किया था। कुछ समय बाद उसके भाई वीतशोक ने उसे इस क्रूर-कर्म से किसी प्रकार विरत किया।

परन्तु हमें इन समस्त उल्लेखों को अक्षरशः सत्य न मानना चाहिए। इनमें अशोक की क्रूरता अतिरंजित रूप में प्रदर्शित की गई है। इनमें लेखकों ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि अशोक-ऐसा दारुण प्रकृति का मनुष्य भी बौद्ध धर्म के प्रभाव से साधु बन गया। अतः बौद्ध धर्म के माहात्म्य को बढ़ाने के निमित्त ही अशोक के प्रारम्भिक जीवन पर कालिमा पोती गई है। यही बात हम कालान्तर में कनिष्क के चरित्र के चित्रण में भी पाते हैं। बौद्ध होने के पूर्व कनिष्क के व्यक्तित्व को भी बौद्धों ने काली तूलिका से चित्रित किया है।

अशोक का बौद्ध धर्म ग्रहण करना—अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण करने के सम्बन्ध में साहित्य और अभिलेख दोनों में पर्याप्त साक्ष्य मिलते हैं। उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक में किसी विशेष धर्म के प्रति आकृष्ट न था। उसकी जिज्ञासा विविध धर्मों के विशाल क्रोड में परिभ्रमण कर रही थी। समन्तपासादिका का कथन है कि

अपने पिता बिन्दुसार की भाँति प्रारम्भ में अशोक भी बौद्धेतर सम्प्रदायों का आदर करता था और विभिन्न सम्प्रदायों के सहस्रों व्यक्तियों को राजकीय भोजनालय से भोजन कराता था। एक दिन अशोक ने भोजन करते हुए इन बौद्धेतर सम्प्रदायवलम्बियों की अशालीनता और वृकोदरता देखी। तभी से उसे उनके प्रति घृणा हो गई। उसने मन में सोचा कि यह भोजन-दान कुपात्रों को मिल रहा है। अतः भविष्य में इसे सम्यक परीक्षा के पश्चात सुपात्रों को ही देना चाहिए। ऐसा विचार कर उसने एक दिन परीक्षा के हेतु विभिन्न धर्मवलम्बियो—पण्डरग परिव्राजको, आजीविकों और निर्ग्रन्थों आदि—को आमन्त्रित किया। परन्तु अन्त में उसने उन सब को थोथा पाया। इस कथानक को प्रस्तुत करने के पश्चात स्वयं समन्तपासादिका कहती है कि इस प्रकार अशोक राज्याभिषेक के पश्चात ३ वर्ष बौद्धेतर संप्रदायों का समादर करता रहा।[1] इस ग्रथ के अनुसार अभिषेक के चौथे वर्ष न्यग्रोध के द्वारा अशोक का धर्म-परिवर्तन किया गया और वह बौद्ध हो गया।[2]

दीपवंश और महावंश के कथानक में भी न्यग्रोध को ही अशोक के धर्म-परिवर्तन में हेतु माना गया है। इन ग्रन्थो के अनुसार जब अशोक ने अपने भाई सुमन की हत्या कर राजसिंहासन प्राप्त किया तो उसकी (सुमन की) पत्नी गर्भवती थी। अपनी तथा अपने उदरस्थ पुत्र की रक्षा करने के निमित्त वह पाटलिपुत्र छोड कर भाग गई और एक चाण्डाल ग्राम में पहुँची। इस ग्राम के 'तमालप्रिय' नामक मुखिया को उसके ऊपर दया आ गई और उसने उसे अपने घर मे रख लिया। बस, यहीं उसके पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम न्यग्रोध रखा गया। ७ वर्ष की आयु में न्यग्रोध भिक्षु बन गया।

एक बार यह न्यग्रोध पाटलिपुत्र पहुँचा। उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अशोक ने उसे आमन्त्रित किया और भोजनादि से उसका सेवा-सत्कार किया। कालान्तर मे न्यग्रोध ने उसे धर्मोपदेश दिया। इस उपदेश से अशोक इतना प्रभावित हुआ कि उसने तत्काल बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

अशोक के बौद्ध होने के सम्बन्ध में दिव्यावदान में भी एक कथानक दिया हुआ है। इसके अनुसार अशोक ने नरवध करने के लिए एक विशेष प्रकार का बन्दीगृह बनवाया था और उसमें चण्डगिरिक नामक एक व्यक्ति को बध्य-घातक नियुक्त किया था। यह बध्य-घातक निरीह मनुष्यों को पकड कर बन्दी बनाता था और उन्हें विविध यन्त्रणायें देकर मार डालता था। एक बार बालपण्डित नामक एक भिक्षु इस बन्दीगृह में आ पड़ा। उसकी हत्या करने के लिए बध्य-घातक ने उसे एक जलती हुई भट्टी में डाल दिया। परन्तु बध्य-घातक को यह देख कर बड़ा विस्मय हुआ कि उस भिक्षु का शरीर अक्षत है और वह अग्नि-ज्वालाओ के बीच एक कमल पर बैठा है। यह आश्चर्यजनक सूचना पा कर अशोक स्वयं वहाँ आया। भिक्षु ने उसे धर्मोपदेश दिया जिससे प्रभावित होकर अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।[3]

ह्वेनसांग ने भी इसी प्रकार के कथानक का वर्णन किया है। उसके अनुसार अशोक के नरक-गृह में एक श्रमण आ पडा। उसे भी एक खौलते हुए कढ़ाए में डाल दिया गया। परन्तु उसका बाल भी बाँका न हुआ। वह कढ़ाये के भीतर एक कमल पर बैठा हुआ दृष्टिगत हुआ। अशोक इस आश्चर्यजनक घटना से बहुत प्रभावित हुआ और उसने नरक-गृह तुड़वा कर अपने क्रूर कर्मों का अन्त कर दिया।

१ समन्तपासादिका १. ४४
२ समन्तपासादिका १. ४५
३ दिव्यावदान ३७३-३७६

कुछ समय पश्चात अशोक को उपगुप्त नामक एक अर्हंत मिला जिसके प्रभाव में उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

ये बौद्ध ग्रन्थ किसी व्यक्तिविशेष के प्रभाव को अशोक के हृदय-परिवर्तन का कारण मानते है—वह व्यक्तिविशेष चाहे न्यग्रोध रहा हो, चाहे बालपण्डित, चाहे समुद्र या उपगुप्त।

परन्तु इन ग्रन्थों से उसके बौद्ध धर्म ग्रहण करने की तिथि का विश्वसनीय बोध नही होता। समन्तपासादिका, दीपवंश और महावश के कथनानुसार अशोक अपने राज्याभिषेक के चौथे वर्ष बौद्ध हुआ था। इसकी पुष्टि दीपवश आदि में उल्लिखित न्यग्रोध की आयु से भी होती है। न्यग्रोध ने जिस समय अशोक को बौद्ध बनाया उस समय उसकी आयु ७ वर्ष की थी। सिंहली ग्रन्थो के अनुसार वह अशोक के बडे भाई सुमन का पुत्र था। जिस समय अशोक ने सुमन की हत्या की थी उस समय न्यग्रोध अपने माता के उदर मे था। अपने पति की मृत्यु के पश्चात उदरस्थ न्यग्रोध की माँ अपनी तथा अपने गर्भ की रक्षा के निमित्त पाटलिपुत्र से भाग निकली और एक चण्डाल ग्राम मे जा कर शरण ली थी। वही न्यग्रोध उत्पन्न हुआ था। इस प्रकार न्यग्रोध ने अशोक के सिंहासनासीन होने के लगभग ८वें वर्ष उसे बौद्ध धर्म ग्रहण करवाया था। दूसरे शब्दो मे अशोक अपने राज्याभिषेक के (८-४) ४ वर्ष पश्चात बौद्ध हुआ था।

परन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे, बौद्ध साहित्य में अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण करने की यह तिथि (राज्याभिषेक के चौथे वर्ष) उसके अभिलेखो के वर्णन से मेल नही खाती है। अशोक के १३ वे शिलालेख से प्रकट होता है कि कलिंग-युद्ध उसके राज्याभिषेक के ८वे वर्ष हुआ था। अशोक इस युद्ध के पूर्व बौद्ध नही था। यह सम्भव है कि उसके हृदयपरिवर्तन का कारण एकमात्र कलिंग-युद्ध न रहा हो तथापि सम्पूर्ण १३वे शिलालेख को पढने से यही ध्वनित होता है कि कम से कम वह अन्य सम्भव कारणों के बीच एक प्रबल कारण अवश्य था। इस अभिलेख मे अशोक युद्ध मे हुए भीषण सहार तथा तज्जनित मानव-क्लेश का उल्लेख करता है इस प्रकार की रक्तरंजित विजय पर अपना अनुशोचन (पश्चाताप) प्रकट करता है। यही से उसने धर्म-विजय को प्रमुखतम विजय मान लिया। अस्तु, इस अभिलेख को पढ़ कर कोई भी व्यक्ति डा० राधाकुमुद मुकर्जी के इस मत को स्वीकार न करेगा कि अशोक का हृदय-परिवर्तन तथा तज्जनित बौद्धधर्म का ग्रहण कलिंग-युद्ध के पूर्व ही हो गया था।[1] अत हमारा निष्कर्ष यही है कि अशोक ने अपने अभिषेक के ८वे वर्ष के पश्चात ही बौद्ध धर्म ग्रहण किया होगा।

हम आगे देखेंगे कि बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात अशोक ने बौद्ध तीर्थस्थलों की यात्रा की थी। इसके प्रमाण बौद्ध साहित्य एव उसके अभिलेखो दोनो में मिलते हैं। अशोक के ८वें शिलालेख से प्रकट होता है कि उसने अपने अभिषेक के १० वर्ष पश्चात सम्बोधि की प्रथम यात्रा की थी। बौद्ध होने के पश्चात निश्चित रूप से यह उसकी प्रथम धार्मिक यात्रा थी। अतः इस यात्रा के समय तक वह बौद्ध धर्म स्वीकार कर चुका होगा। इस प्रकार हम उसके बौद्ध धर्म ग्रहण करने की तिथि को दो सीमाओं के बीच—कलिंग युद्ध के पश्चात और सम्बोधि-गमन के पूर्व—रखते हैं। स्थूलरूप से यह तिथि उसके अभिषेक के ८वें वर्ष के पश्चात और १०वें वर्ष के पूर्व कही जा सकती है। यह गणना पूर्वोल्लिखित साहित्यिक साक्ष्य की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक

१ Asoka p. 18

प्रतीत होती है। बौद्ध ग्रन्थों ने अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण करने की घटना को तो संरक्षित रखा है, परन्तु वे इस घटना की ऐतिहासिक तिथि को भुला बैठे। ७ वर्षीय बालक के द्वारा अशोक के धर्म-परिवर्तन की बात पर आज कोई भी विश्वास न करेगा। अतः न्यग्रोध की आयु के आधार पर परिगणित अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण करने की तिथि सर्वथा अविश्वसनीय होगी। रही समन्तपासादिका में दी गई तिथि की बात तो वह भी न्यग्रोध-कथानक की भाँति अवास्तविक लोकश्रुति पर आश्रित है।

अस्तु, अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण करने की तिथि के ऊपर विद्वानों ने और भी अधिक सूक्ष्मता से विचार किया है। परन्तु उनके वे निष्कर्ष सन्देह से रिक्त नहीं हैं। उदाहरणार्थ प्रायः प्रत्येक विद्वान ने इस प्रश्न को हल करने के लिए प्रथम लघु शिला-लेख का उपयोग किया है परन्तु अभाग्यवश इस अभिलेख के अर्थ में बड़ा मतभेद है। इसमें अशोक कहता है कि '२½ वर्ष से अधिक हुए कि मैं उपासक हूँ, परन्तु एक वर्ष तक मैंने उद्योग नहीं किया। किन्तु एक वर्ष से अधिक हुआ जब से मैं संघ के साथ रहा हूँ तब से मैंने सन्यास उद्योग किया है।' इस उद्धरण में सब से बड़ी बाधा है वर्ष-गणना की। कुछ विद्वान उद्योगमय १ वर्ष को २½ वर्ष के भीतर ही गिनते हैं, परन्तु कुछ इसे २½ वर्ष के अतिरिक्त समझते हैं। इस विभेद का परिणाम यह होता है कि कुछ विद्वान यह मानते हैं कि अशोक इस अभिलेख के लिखे जाने के समय से (२½ से अधिक अर्थात लगभग) ३ वर्ष पूर्व उपासक (बौद्ध) हुआ था और कुछ यह मानते है कि वह (२½+१ वर्ष से अधिक) ४ वर्ष पूर्व उपासक (बौद्ध) हुआ था। परन्तु हम यहाँ हुल्श महोदय के मतानुसार ३ वर्ष का काल ही मानेंगे। इसके अनुसार अशोक प्रथम लघु शिलालेख के लिखे जाने के समय से लगभग ३ वर्ष पूर्व बौद्ध हो चुका था। अब प्रश्न यह उठता है कि यह शिलालेख लिखा कब गया।

इस प्रश्न पर अधिकांशत विद्वान सेनार्ट का मत मानते हैं। सेनार्ट का मत है कि यदि हम प्रथम लघु शिलालेख और चतुर्थ शिलालेख के वर्णित विषयों की तुलना करें तो दोनों के लिखे जाने का समय प्राय. एक प्रतीत होगा। दोनों में ही अशोक ने अपने उद्योग के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म प्रचार में मिली सफलता का वर्णन किया है। अत सेनार्ट दोनों अभिलेखों को समकालीन मानते है। चूँकि स्वय अशोक के कथनानुसार चतुर्थ अभिलेख उसके राज्याभिषेक के १२वें वर्ष में लिखा गया था, इसलिए प्रथम लघु शिलालेख को भी उसी १२वें वर्ष लिखा हुआ मानना चाहिए। यदि यह अनुमान सत्य है तो अशोक अपने अभिषेक के (१२-३) ९वें वर्ष बौद्ध हुआ था। परन्तु इस तिथि में साल-छ महीने का अन्तर नितान्त स्वाभाविक है, क्योंकि—

(१) प्रथम लघु शिलालेख के लिखे जाने के ३ वर्ष पूर्व के बजाय ४ वर्ष पूर्व भी अशोक का उपासक बनना सम्भव है।

(२) '२½ वर्ष से अधिक' का अर्थ बिल्कुल ठीक-ठीक नहीं लगाया जा सकता।

(३) प्रथम लघु शिलालेख और चतुर्थ शिलालेख की तिथियों के बीच भी वर्ष-अर्ध वर्ष का अन्तर सम्भव है।

अशोक की धार्मिक निष्क्रियता और सक्रियता—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, अशोक ने किसी एक व्यक्तिविशेष के प्रभाव में बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। दीपवंश और महावंश के अनुसार यह व्यक्तिविशेष न्यग्रोध था और दिव्यावदान के अनुसार बालपण्डित अथवा समुद्र। बौद्ध धर्म को अंगीकार करते हुए दीपवंश में अशोक न्यग्रोध से कहता है कि 'आज मैं पत्नी, पुत्र और कुटुम्बियों के साथ आपकी, बुद्ध की,

धम्म की और संघ की शरण में आता हूँ। मैं आपसे अपने उपासकत्व की घोषणा करता हूँ।' दीपवंश के इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि अशोक एकमात्र उपासक हुआ था, भिक्षु नहीं। यद्यपि दिव्यावदान में भिक्षु समुद्र से अपने बौद्ध-धर्म ग्रहण करने की घोषणा करते समय अशोक ने 'उपासक' शब्द का प्रयोग नहीं किया है तथापि उसमें 'भिक्षु' होने का भी लेशमात्र संकेत नहीं है।

बौद्ध ग्रन्थों के उल्लेखानुसार बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात अशोक पाटलिपुत्र के बौद्ध विहार कुक्कुटाराम (अथवा कुर्कुटाराम) गया और तत्पश्चात उसने तथागत के अवशेषों को संग्रहीत तथा पुनर्वितरित कर उन पर अपने साम्राज्य में ८४,००० आराम निर्मित कराए।[१] इस प्रकार बौद्ध ग्रंथों के अनुसार बौद्ध धर्म ग्रहण करते ही अशोक उसके प्रसार के हेतु सक्रिय हो गया।

अब हम अशोक के तत्सम्बन्धी अभिलेखों पर विचार करेंगे। इस सम्बन्ध में पूर्वोल्लिखित प्रथम लघु शिलालेख सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें अशोक कहता है कि '२½ वर्ष से अधिक हुए कि मैं उपासक हूँ, परन्तु १ वर्ष तक मैंने उद्योग नहीं किया। किन्तु १ वर्ष से अधिक हुआ, जब से मैं संघ के साथ रहा हूँ तब से मैंने सायास उद्योग किया है।' इसमें सर्वप्रथम तो अशोक का बौद्ध उपासक-धर्म ग्रहण करना उल्लिखित है। अतः इस अभिलेख से दीपवंश के पूर्वोल्लिखित कथन की पुष्टि होती है। तत्पश्चात यह अभिलेख अशोक के धार्मिक जीवन को दो भागों में विभक्त कर लेता है—

(१) बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात का १ वर्ष का भाग जब अशोक धम्म-कार्य के प्रति अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहा।

(२) तत्पश्चात वह एक वर्ष से अधिक काल तक संघ के साथ रहा और तभी से उसने विशेष रुचि और परिश्रम के साथ धम्म-कार्य करना प्रारम्भ किया। इस अभिलेख में 'संघ उपेते सुमि' शब्द उत्कीर्ण हैं। इनका वास्तविक अर्थ क्या है, इस पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों ने इन शब्दों का अर्थ लगाया है कि मैं 'संघ गया।' परन्तु अधिक उपयुक्त अर्थ होगा 'संघ के साथ रहा हूँ।'[२]

इस पूर्व विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अपने अभिषेक के ९वें वर्ष में अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। उसका यह धर्म उपासक-धर्म था, भिक्षु-धर्म नहीं। एक वर्ष तक वह अपेक्षाकृत धम्म-कार्य में निष्क्रिय रहा। तत्पश्चात अपने अभिषेक के १०वें वर्ष में वह एक वर्ष से अधिक समय तक संघ के साथ रहा और तभी से उसने जोर-शोर के साथ धम्म-कार्य करना प्रारम्भ किया। उसके धार्मिक जीवन की इस निष्क्रियता और सक्रियता का उल्लेख एकमात्र उसके उपर्युक्त अभिलेख में ही होता

१ महावंश ५.७३ ५.१२२, दिव्यावदान ३८१, ३८४;
दीपवंश ६.९३-८, समन्तपासादिका १.४८

२ Finally; what is here most important to remember is that the Samgham–?upagatatva of Asoka had lasted the whole period of his second stage,* namly for over one year we cannot therefore say that the king visited the Sangha for over a year (which is nonsensical), but rather lived with it for that period.'

* This is quite clear from the occurrence of the word sumi in no less than two recensions along with Sagh (a) up (e) te or (s) amgha (m) u (pa) gtae.

है। बौद्ध ग्रंथ तो प्रारम्भ से ही उसकी सक्रियता का वर्णन करने लगते हैं। परन्तु अभिलेख के शब्दों में स्वय अशोक की स्वीकृति है। अतः वही अधिक प्रामाणिक हैं। चूंकि निष्क्रियता का काल अत्यल्प (केवल एक वर्षीय) था, इसी से बौद्ध ग्रथ उसके प्रति निरपेक्ष रहे।

पुनश्च, बौद्ध ग्रन्थो में बौद्ध धर्म स्वीकार करने के पश्चात ही अशोक का पाटलिपुत्र के विहार कुक्कुटाराम मे जाने का उल्लेख है। सम्भव है, यह ठीक हों। परन्तु जहां तक अशोक के बौद्ध सघ के साथ रहने का प्रश्न है, वह एक वर्ष पश्चात ही सम्भव हो सका, जैसा कि प्रथम लघु शिलालेख का उल्लेख है।

अशोक की सक्रियता के सम्बन्ध में उसके ८वें और ४थे शिलालेख भी विचारणीय है। ८वे शिलालेख मे अशोक इस प्रकार कहता है :—

'बहुत दिनों से भूतकाल में नरेश विहार-यात्रा के लिए निकला करते थे। उनमें (यात्राओं में) शिकार तथा इसी प्रकार के अन्य आमोद-प्रमोद होते थे। अब अपने राज्याभिषेक के दस वर्ष बाद देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा सम्बोधि गया। इस प्रकार धर्म-यात्रा (की प्रथा का प्रारम्भ हुआ)। धर्मयात्रा मे यह होता है—ब्राह्मण और श्रमण सन्यासियो के दर्शन और उन्हें दान, वृद्धजन के दर्शन तथा उन्हे सुवर्णदान और जनपदो मे गमन, उन्हें धर्मोपदेश तथा उनके साथ धम्म पर वार्ता. ....।'

इस उदधरण के मूल मे 'अयाय संबोधि' शब्दो के अनुवाद में विवाद है। फ्लीट महोदय का मत था कि यहाँ 'संबोधि' का अर्थ है ज्ञान और 'अयाय सबोधि' का अर्थ हुआ 'ज्ञान को प्राप्त हुआ।' परन्तु अधिकाश विद्वान 'सबोधि' का अर्थ उस स्थान से मानते है जहाँ तथागत को बोध हुआ था। यदि हम इस अर्थ को ग्रहण करे तो पूरे उद्धरण मे अशोक की बोध-गया की यात्रा का वर्णन मिलेगा। बौद्ध ससार मे इस स्थान का विशेष महत्व रहा है। बौद्धो के लिए यह सर्वप्रमुख तीर्थ है। अत. अशोक ने विहार-यात्रा का परित्याग कर जब धम्म-यात्रा की प्रतिष्ठा की तो सर्वप्रथम वह बोध गया ही गया।

इस अभिलेख के अनुसार बोध-गया की यह धम्म-यात्रा उसके अभिषेक के १० वर्ष पश्चातहुई थी। पहले बताया जा चुका है कि एक वर्ष अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहने के पश्चात दसवे वर्ष से अशोक ने धम्म-कार्य में विशेष रुचि और आयास का प्रदर्शन किया। अत. ऐसा प्रतीत होता है कि उसके बौद्ध जीवन मे सक्रियता-काल बोध-गया की धम्म-यात्रा से ही प्रारम्भ हुआ। सक्रियतापूर्वक धम्म-कार्य करने का निश्चय करने के पश्चात अशोक ने जो सर्वप्रथम कार्य किया वह था बोधि-वृक्ष के दर्शनार्थ धम्म-यात्रा। यह यात्रा उसके जीवन में एक निश्चित मोड़ उपस्थित करती है। इसके पश्चात अशोक ने इतनी लगन से धम्म-कार्य किया कि अभी एक-डेढ वर्ष ही हुआ होगा कि वह अपने परिश्रम की सार्थकता और सफलता का अनुभव करने लगा। अपने अभिषेक के १२वे वर्ष में उत्कीर्ण ४थे शिलालेख में अशोक स्वयं कहता है कि उसके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप धम्म की अभूतपूर्व उन्नति हुई।

इस विवेचन के पश्चात हम अशोक के जीवन की कुछ घटनाओं को कालक्रम के अनुसार निम्नप्रकार से उल्लिखित कर सकते हैं :—

(१) कलिंग-युद्ध	अशोक के अभिषेक के ८ वें वर्ष
(२) बौद्ध धर्म का ग्रहण	" " " " ९ वें वर्ष
(३) निष्क्रियता-काल	" " " " १० वें वर्ष के प्रारम्भ तक

(४) सक्रियता-काल का प्रारम्भ संबोधि-यात्रा	,, ,, ,, ,,	१०वें वर्ष में
(५) अभूतपूर्व सफलता का अनुभव-चतुर्थ शिलालेख के कथनानुसार	,, ,, ,, ,,	१२वें ,,

अशोक की धर्म-यात्रायें—अपने अभिषेक के १० वें वर्ष की गई उपयुक्त सम्बोधि-यात्रा के अतिरिक्त अशोक ने अन्य बौद्ध तीर्थों की भी यात्रायें कीं। इसकी पुष्टि उसके अभिलेखों तथा बौद्ध ग्रन्थो दोनो से होती है। पहले हम उसके अभिलेखों पर विचार करेंगे :—

अशोक के रुमिन्देई अभिलेख में उल्लिखित है कि 'देवाना प्रिय प्रियदर्शी राजा अपने अभिषेक के २० वर्ष पश्चात स्वय यहाँ आये और उन्होने (इस स्थान की) पूजा की। चूँकि यहाँ शाक्य-मुनि बुद्ध का जन्म हुआ था, इसलिये उन्होने एक पत्थर की विशाल दीवार बनवाई और एक पाषाण-स्तम्भ खड़ा करवाया। यहाँ भगवान का जन्म हुआ था, इसलिये लुम्बिनी ग्राम धार्मिक करो से मुक्त कर दिया गया और (भूमि-कर के रूप मे) केवल उससे आठवाँ भाग लेना निश्चित किया गया।'

उपर्युक्त अभिलेख नेपाल तराई मे वर्तमान सम्मिन देई नामक स्थान पर प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख से स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार अशोक ने उस स्थान की यात्रा की थी जहाँ महात्मा बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था उसी प्रकार वह उस स्थान पर भी गया था जहाँ तथागत का जन्म हुआ था। बौद्ध ससार मे सबोधि की भाँति महात्मा बुद्ध का जन्म-स्थान भी एक पावन तीर्थ है। लुम्बिनी में महात्मा बुद्ध उत्पन्न हुए थे। अत. अशोक ने उस स्थान को चिरस्मरणीय बनाने के लिए उसे एक पत्थर की दीवार से घिरवा दिया और वहाँ पर एक पाषाण-स्तम्भ खडा कर दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि उसके समय में तथा उसके पूर्व भी लुम्बिनी की यात्रा करने वाले व्यक्तियो को एक प्रकार का प्रवेश-कर अथवा धार्मिक कर देना पड़ता था। इस प्रकार के धार्मिक करो को 'बलि' कहते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इसका वर्णन है। वर्तमान काल मे भी द्वारका आदि तीर्थ स्थानो पर यह धार्मिक कर लिया जाता है। लुम्बिनी में भी यह प्रथा प्रचलित थी। परन्तु अशोक को यह रुचिकर न प्रतीत हुआ। भगवान बुद्ध की जन्म-भूमि के दर्शनार्थियों से भी कर लिया जाय, यह उसकी दृष्टि मे अशोभन था। अत उसने अपने अभिषेक के २०वें वर्ष लुम्बिनी ग्राम को उस कर से मुक्त कर दिया।

यही नही, उसने लुम्बिनी ग्राम को और भी सुविधा दी। प्राचीन काल में प्रत्येक प्रदेश को अपनी उपज का $\frac{1}{6}$ अथवा $\frac{1}{4}$ भाग भूमि-कर के रूप में राजकोष को देना पडता था। यही बात लुम्बिनी के साथ भी थी। परन्तु अशोक ने तथागत की जन्म-भूमि के प्रति असीम सम्मान का प्रदर्शन करते हुए उसके भूमि-कर को घटाकर $\frac{1}{8}$ कर दिया।

नेपाल की तराई मे निग्लिवा नामक स्थान पर एक दूसरा पाषाण-स्तम्भ भी मिला है। इस पर भी एक अभिलेख उत्कीर्ण है। इस अभिलेख से प्रकट होता है कि अशोक ने अपने अभिलेख के १४वें वर्ष उस स्थान पर बुद्ध कोनागमन के द्वितीय स्तूप का परिवर्धन कराया और २०वें वर्ष वह स्वय उस पवित्र तीर्थस्थल पर गया और वहाँ पूजा-उपासना की।

उपर्युक्त दोनों अभिलेखों से स्पष्ट हो जाता है कि अपने अभिषेक के २०वें वर्ष में अशोक ने नेपाल-तराई के दो बौद्ध तीर्थस्थलों की धम्म-यात्रा की थी।

अशोक की तीर्थ-यात्राओं की पुष्टि दिव्यावदान से भी होती है। इस ग्रन्थ के अनुसार अशोक ने अपनी धम्म-यात्रायें स्थविर उपगुप्त के साथ की थी। पाटलिपुत्र से चल कर वे लोग नैपाल की तराई मे पहुँचे। वहाँ लुम्बिनी ग्राम में पहुँचकर उपगुप्त ने अशोक को तथागत का जन्म-स्थल दिखलाया। इस प्रकार अभिलेख में उल्लिखित लुम्बिनी-यात्रा की पुष्टि दिव्यावदान से भी हो जाती है।

लुम्बिनी में दान-पुण्य करने के पश्चात उपगुप्त और अशोक कपिलवस्तु आये। यहाँ स्थविर ने बौद्ध सम्राट को बतलाया कि इसी स्थान पर बोधिसत्व ने राजा शुद्धोदन के घर मे अपनी बाल्यावस्था बिताई थी। यहाँ पर भी पूर्व प्रकार से दान-पुण्य किया गया।

तत्पश्चात वे बुद्ध गया में बोधिवृक्ष के पास पहुँचे। इस प्रकार दिव्यावदान और अशोक के पूर्वकथित अभिलेख दोनों में ही सम्बोधि-यात्रा का उल्लेख मिल जाता है। दिव्यावदान के कथनानुसार अशोक ने बुद्ध-गया में १ लाख सुवर्ण-मुद्राओं का दान दिया और वहाँ एक चैत्य का निर्माण करवाया।

बोधि-वृक्ष का दर्शन करने के पश्चात उपगुप्त अशोक को सारनाथ लाया। यही पर तथागत ने धर्मचक्र प्रवर्तित किया था।

तदुपरान्त वे कुशीनगर पहुँचे। यहाँ पर महात्मा बुद्ध ने महानिर्वाण प्राप्त किया था। वहाँ से चल कर उन्होंने देश के अन्यान्य स्थानों पर बने हुए बौद्ध विहारों और स्तूपों के दर्शन किए।

भौगोलिक दृष्टिकोण से उपर्युक्त यात्रा का क्रम असगत प्रतीत होता है। इसी से अनेक विद्वानों ने इस क्रम को परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ, भौगोलिक सुविधा को देखते हुए डा० सम्पूर्णानन्द ने[1] यात्रा का क्रम निम्न प्रकार रखा है—

लुम्बिनी, कुशीनगर, कपिलवस्तु, श्रावस्ती, सारनाथ और बुद्ध गया

अथवा

गया, सारनाथ, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर और लुम्बिनी

डा० स्मिथ[2] के अनुसार अधिक स्वाभाविक क्रम निम्न प्रकार है—

लुम्बिनी, कपिलवस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती, बुद्ध गया और कुशीनगर।

परन्तु दिव्यावदान के वर्णन से प्रतीत होता है कि अशोक ने अपनी तीर्थ-यात्रा भौगोलिक क्रम के अनुसार न कर के महात्मा बुद्ध की जीवन-घटनाओं के काल-क्रम से ही की थी। इस योजना के अनुसार उसे तथागत का जन्म-स्थान सर्वप्रथम देखना था, तत्पश्चात क्रमशः उनकी बाल्यावस्था का क्रीड़ा-स्थल, उनकी तपोभूमि, धर्मचक्र-प्रवर्तन-स्थल, महानिर्वाणस्थल और सब से अन्त में उनसे सम्बन्धित अन्य स्थल। अशोक सर्वसत्ताधारी सम्राट था। अतः उसे अपनी भावुकता का हनन कर आशु मार्ग (Short cuts) ढूंढ़ने की कोई आवश्यकता न थी। उसकी धार्मिक भावनाओं को सरल भौगोलिक क्रम की अपेक्षा जटिल घटना-क्रम ही अधिक वांछनीय

१ डा० सम्पूर्णानन्द-सम्राट् अशोक

२ Smith—The Early History of India. p. 167

प्रतीत हुआ। ऐसी अवस्था में दिव्यावदान में वर्णित तीर्थ-यात्रा का क्रम अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।

अशोक और बौद्ध धर्म—किसी समय फादर हेरास ने यह मत प्रतिपादित किया था कि अशोक ब्राह्मण-धर्मावलम्बी था। इसी प्रकार प्रसिद्ध विद्वान टामस का विश्वास था कि प्रारम्भ में अशोक जैन था, परन्तु कालान्तर में वह बौद्ध हो गया था। स्वयं डा० फ्लीट का भी मत था कि अशोक प्रारम्भ में बौद्ध न था, परन्तु वह अपने अभिषेक के ३०वें वर्ष बौद्ध हुआ था। परन्तु आज हमारे सामने साहित्यिक एवं पुरातत्त्व-सम्बन्धी साक्ष्य इतने अधिक और प्रबल है कि अशोक के व्यक्तिगत धर्म के विषय में सन्देह का कोई स्थान ही नहीं है। हम पीछे यह सिद्ध कर चुके है कि अपने अभिषेक के ९ वें वर्ष में अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। यहाँ पर अब हम उन समस्त साक्ष्यों का उल्लेख करेंगे जो अशोक को निर्विवाद रूप से बौद्धधर्मावलम्बी घोषित करते है।

इन साक्ष्यों को हम दो कोटियों में विभक्त कर सकते है—(१) साहित्यिक और (२) पुरातत्वसम्बन्धी।

साहित्यिक साक्ष्य

१. **बौद्ध साहित्य**—साहित्य साक्ष्य में सर्वप्रथम उल्लेखनीय है बौद्ध साहित्य। दीपवंश, महावंश, समन्तपासादिका, दिव्यावदान, सुमंगलपकासिनी आदि सभी बौद्ध ग्रन्थ अशोक के बौद्ध धर्मावलम्बी होने के विषय पर एकमत है। उत्तरी, दक्षिणी, सिंहली, ब्राह्मी चीनी, तिब्बती, हीनयानी, महायानी आदि सभी परम्पराएँ अशोक को असन्दिग्ध रूप में बौद्ध घोषित करती है।

(२) गार्गी संहिता में अशोक के एक उत्तराधिकारी की धम्म-विजय का उल्लेख किया गया है और उस धम्म-विजय की स्थापना करने के कारण उसे मोहात्मा कहा गया है।[1] उस उदधरण को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक की अन्तश्चेतना में अशोक की धम्म-विजय की ऐतिहासिक घटना विद्यमान थी। अशोक के अतिरिक्त किसी भी राजा ने मोदघोष धम्म-विजय का राजकीय प्रयास न किया था।

(३) राजतरंगिणी के लेखक कल्हण ने अशोक के जिन शासन (बुद्ध-शासन) अंगीकार करने की घटना का उल्लेख किया है।[2]

(४) समस्त चीनी यात्रियों—फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिंग इत्यादि—ने अशोक को बौद्ध कहा है। इत्सिंग ने तो बौद्ध भिक्षु की वेश-भूषा धारण किए हुए अशोक की एक मूर्ति भी देखी थी।[3] परन्तु हम इत्सिंग के इस कथन को महत्ता नहीं देते। प्रथमतः, यह लेखक बहुत बाद का (७वीं शताब्दी का) है। द्वितीयतः, जैसा कि हम पहले कह चुके है, बौद्ध ग्रंथों और अशोक के अभिलेखों में कहीं पर भी उसके भिक्षु होने के असन्दिग्ध प्रमाण नहीं मिलते। उनसे उसका उपासकत्व ही सिद्ध होता है।

१ स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्।

२ यः शान्त वृजिनो राजा प्रपन्नो ज़िनशासनम्।

३ J. R. A. S. 1908 p. 496.

पुरातत्व-सम्बन्धी साक्ष्य

इस कोटि के अन्तर्गत सर्वप्रथम उल्लेखनीय हैं अशोक के अभिलेख। उनसे अशोक के बौद्ध जीवन की झाँकी पर्याप्तरूप में स्पष्ट हो जाती है। यहाँ हम इन्हीं अभिलेखो का उल्लेख करेंगे।

(१) प्रथम लघु शिलालेख—इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इसमें अशोक के सघ के साथ १ वर्ष रहने का उल्लेख हैं।[1]

(२) ८वें शिलालेख मे अशोक की सबोधि-यात्रा का वर्णन है।[2] इसका भी उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

(३) रुमिन्देई स्तम्भ-लेख में अशोक की महात्मा बुद्ध की जन्म-भूमि लुम्बिनी-ग्राम की यात्रा का वर्णन है। वहाँ जाकर उसने उस ग्राम को बलि-मुक्त किया और उसके भूमि-कर को घटा कर $\frac{1}{8}$ कर दिया।[3] इस प्रकार उसने राजकीय आय की हानि उठा कर तथागत की पुण्य जन्मभूमि के प्रति अपनी उत्कट श्रद्धा प्रदर्शित की।

(४) निग्लिवा स्तम्भ-लेख में अशोक द्वारा बुद्ध कनकमुनि[4] के स्तूप के संवर्धन तथा कालान्तर मे पूजा का वर्णन है। ये कार्य बौद्धेतर के लिए कोई विशेष अर्थ नही रखते।

(५) भाब्रू अभिलेख—अशोक को बौद्ध सिद्ध करने के लिए यह अभिलेख अपरिहार्य है। इसमे वह न केवल बुद्ध, धम्म और सघ के प्रति अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन करता है वरन भिक्षु, भिक्षुणी तथा उपासक-उपासिकाओ के अध्ययन एव मनन के लिए कतिपय बौद्ध-ग्रन्थो का उल्लेख भी करता है। यह अभिलेख निम्न प्रकार है—

'मगध के प्रियदर्शी राजा सघ का अभिवादन करके यह कामना करते हैं कि वे स्वस्थ और निरापद रहे। हे भदन्तगण, आप जानते ही है कि बुद्ध, धम्म और सघ मे हमारी कितनी श्रद्धा और सहृदयता है। हे भदन्तगण, जो कुछ भगवान बुद्ध ने कहा है वह सब अच्छा कहा है। परन्तु, हे भदन्तगण, यदि मै सद्धम को चिरस्थायी करने के लिए (कुछ) कह सकता हूँ तो मै उसे कह देना उचित समझता हूँ। हे भदन्त-गण ये धर्म-ग्रन्थ है . विनयसमुकस, अलियवसानि, अनगतिभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूत, उपतिस-पसिन, राहुलवाद जिसे भगवान बुद्धने 'मिथ्याचार' के सम्बन्ध मे कहा है। हे भदन्तगण, मै चाहता हूँ कि इन धर्म-ग्रन्थो को बहुसख्यक भिक्षु और भिक्षुणी बार-बार श्रवण करे और मनन करे। इसी प्रकार उपासक और उपासिकाये भी (श्रवण करे और मनन करे)। हे भदन्तगण, मै इसलिए यह (लेख) उत्कीर्ण करवा रहा हूँ कि लोग मेरी इच्छा जान सकें।'

यहाँ बुद्ध, धम्म और सघ के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने तथा बुद्ध-वचन को शाश्वत सत्य स्वीकार करने से अशोक का बौद्ध होना स्वत सिद्ध है। पुन जिन पाठनीय सुत्तो का उसने नामोल्लेख किया है वे सब बौद्ध सुत्त है। विद्वानों ने एक को छोड कर सभी

१ सातिरेकानि अढतियानि वसानि य सुमि उपासके। नो चु वाढि पकते। सातिलेके चु छवछरे य सुमि हक संघ उपेते।

२ देवानं पियो पियदसि राजा दसवस-भिसितो संतो अयाय संबोधिम्।

३ लुम्बिनिगामे उबलिके कटे अठ-भागिये च।

४ कनकमुनि एक प्रत्येक बुद्ध थे। प्रत्येक-बुद्ध उस व्यक्ति को कहते है जो स्वयं तो ज्ञान प्राप्त कर लेता है परन्तु दूसरों के लिए उसका उपदेश नहीं करता।

का समीकरण कर लिया है। जिस ग्रन्थ का निश्चितरूपेण समीकरण नहीं हो सका है वह है विनयसमुकस (विनयसमत्कर्ष)। डा० भण्डारकर के अनुसार इस सुत्त का समीकरण बुद्ध घोष के विसुद्धिमग्ग में उल्लिखित तुवटक सुत्त के साथ करना चाहिए। इस प्रकार हम इस अभिलेख में उल्लिखित धम्म-परियायों का समीकरण निम्न प्रकार कह सकते हैं:—

१ विनय-समुकस—तुवटक सुत्त (विसुद्धिमग्ग में उल्लिखित)
२ अलिय वसानि—महाअरियवंश (अंगुत्तर निकाय २ २७)
३ अनागतभयानि—(अंगुत्तर-निकाय ३.१०३)
४ मुनि-गाथा—मुनिसुत्त (सुत्त-निपात पृ० ३६)
५ मोनेयसुत्त—नालक सुत्त (सुत्त निपात पृ० १३१-४)
६ उपतिसपसिन—रथ विनीत सुत्त (मज्झिम निकाय १.१४६-५१)
७ लाघुलोवाद—राहुलोवाद सुत्त (मज्झिम निकाय पृ० ४१४)

यदि हम इन समस्त धम्म-परियायों का अवलोकन करें तो इनके विषय में जो सर्वप्रमुख विशेषता ज्ञात होगी वह है इनकी आचार-प्रधानता। ये बौद्ध धर्म के कर्म-काण्डों अथवा दार्शनिक पक्ष पर जोर नहीं देते। इनका विषय तो बौद्ध जीवन का सदाचार अथवा शील है। आत्मोत्कर्ष के लिए इन ग्रन्थों में जिन विधि-निषेधों का उल्लेख किया है वे मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के चिर सत्य हैं तथा सभी धर्मों की समान सम्पत्ति समझे जा सकते हैं। बौद्ध होते हुए भी अशोक संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का व्यक्ति न था। अतः उसने जनता के ऊपर सम्प्रदाय—विशिष्ट अनुष्ठान मूलक बौद्ध ग्रन्थों का आरोपण करना उचित न समझा। प्रत्येक सम्प्रदाय के अपने-अपने अनुष्ठान होते हैं। अतः उनमें पारस्परिक विरोध हो सकता है। परन्तु शील और सदाचार की सम्मान्यता तो सार्वभौम है। सभी धर्म उनका प्रतिपादन करते हैं। अतः अशोक ने एकमात्र उन्हीं बौद्ध सुत्तों को जनता के समस्त रखा जो आचारमूलक होने के कारण समस्त साम्प्रदायिक विवादों के परे हों। बौद्ध सम्राट की विशालहृदयता वर्तमान युग की विभेद-संत्रस्त मानवता के लिए भी अनुकरणीय है।

(६) सारनाथ, प्रयाग और सांची के स्तंभ-लेख—इन तीन स्थानों पर अशोक के जो स्तंभ-लेख मिले हैं वे भी निर्विवाद रूप से अशोक को बौद्ध सिद्ध करते हैं। इन अभिलेखों में अशोक हमारे सम्मुख बौद्ध धर्म के संरक्षक (Defender of Faith) के रूप में आता है। इन अभिलेखों में उसने अपने महामात्रों के नाम राजाज्ञा भेजी है कि बौद्ध संघ में भेद उत्पन्न करनेवाले व्यक्तियों का धार्मिक बहिष्कार कर दिया जाय और उनकी कुचेष्टाओं से बौद्धों को सावधान कर दिया है।

सारनाथ का स्तंभ-लेख निम्नप्रकार है—

'देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार आदेश देते हैं कि . पाटलिपुत्र.... कोई संघ में फूट न डाले। जो कोई-चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी-संघ में फूटडालेगा वह सफेद कपड़े पहना कर उस स्थान पर रख दिया जाएगा जो भिक्षु-भिक्षुणियों के योग्य नहीं है। इस प्रकार हमारा यह आदेश भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ को सादर बता दिया जाय।

देवानां प्रिय इस प्रकार कहते हैं.—इस प्रकार का एक लेख (आपके) संसरण (कार्यालय) में भेज दिया गया है जिससे कि वह आपको सुगम हो। ऐसाही एक लेख आप लोग रख छोड़ें जो उपासकों के लिए सुगम हो और ये उपासक प्रत्येक उपवास-

दिवस पर आयें जिससे कि वे इस आदेश को समझ सके। और जब प्रत्येक महामात्र बारी-बारी से उपवास-दिवसों पर उपवास के लिए आए तब वह भी इस आदेश के मर्म को समझ ले। और जहाँ तक आपका अधिकार है वहाँ-वहाँ आप इस आदेश के प्रचार हेतु दौरा करें। इसी प्रकार आप लोग सब दुर्गीकृत नगरो और सब विषयो (प्रान्तो) में (अपने अधीनस्थ पदाधिकारियो द्वारा) दौरा करवा कर (आदेश का) प्रचार करवायें।'

संघ में फूट डालने वाले व्यक्तियो को बहिष्कृत करने तथा उनकी कुचेष्टाओ से बौद्धों को सावधान करने के लिए उपर्युक्त सारनाथ लेख की भाँति साँची और प्रयाग के स्तभो पर भी अशोक के आदेश उत्कीर्ण है।

अशोक के ये आदेश महामात्रो के नाम प्रसारित किए गए थे। प्रयाग के स्तभ-लेख पर कौशाबी के महामात्रो का उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि यह स्तभ-लेख प्रारंभ में कौशाबी में स्थापित किया गया था। कालान्तर मे यह प्रयाग ले जाया गया।

आदेश की एक-एक प्रति महामात्रो के कार्यालय मे भेजी गई जिससे वे स्वय उसके तत्व को समझ सकें और तदुपरान्त उसका प्रचार करे। उसकी दूसरी प्रति ऐसे स्थान पर रखने की व्यवस्था की गई जो उपासको के लिए सुगम हों। कदाचित यह प्रति निगम-सभा-ऐसे सार्वजनिक स्थानो पर रखी गई होगी जहाँ उपासक सुगमतापूर्वक उसे देख सकें। एक ओर तो महामात्रो को आज्ञा दी गई कि वे अशोक के उपर्युक्त आदेश को घूम-घूम कर प्रसारित करे तथा अपने अधीनस्थ पदाधिकारियो से प्रसारित करवायें; दूसरी ओर आदेश की प्रतिलिपियाँ जन-सुगम स्थलों पर रखवा दी गईं जिन्हे स्वय उपासक आकर पढें और समझे। पुन उपवास-दिवसों पर जब भिक्षुओं और उपासको के समूह एकत्र होते होगे तब अशोक के आदेश के मर्म को समझने-समझाने के लिए भी अवकाश छोड रखा गया। इस प्रकार के विस्तृत प्रचार-कार्य ने सबको सचेत और सावधान करके सघ-भेद की सभावना को बहुत कम कर दिया।

अब, सघ-भेद उत्पन्न करने वाले व्यक्ति के लिए अशोक ने दड निर्धारित किया है उसका क्या अर्थ हो सकता है? अशोक कहता है कि 'वह सफेद कपडे पहना कर उस स्थान पर रख दिया जायगा जो भिक्षु-भिक्षुणियो के योग्य नही है।' बौद्ध भिक्षुओ और भिक्षुणियो के वस्त्र गेरुआ होते थे। अत उन्हे सफेद वस्त्र पहनाने का अर्थ हुआ उन्हें अपदस्थ करना। इसके साथ-ही-साथ वह सघ से निष्कासित कर दिया जायगा। और ऐसे स्थान पर रख दिया जाएगा जो भिक्षु-भिक्षुणियो के अयोग्य है। सपूर्ण विधान का सक्षिप्त अर्थ हुआ बौद्ध सघ से पूर्ण-बहिष्कार।

इन अभिलेखो के वर्णन से प्रकट होता है कि अशोक सघ की एकता कायम रखने के लिए बडा चिन्तित था। उसकी चिन्ता के पीछे कई प्रश्न अन्तर्निहित कहे जा सकते हैं, यथा—

(१) अशोक के समय तक बौद्ध सघ मे भेद हो चुका था। इसके परिणाम-स्वरूप अनेक बौद्ध सप्रदाय बन गए थे। अशोक एक सप्रदाय का अनुयायी था और अपने इन अभिलेखों के द्वारा अपने उसी सप्रदाय मे पुन. भेद होने की सभावना को निर्मूल करना चाहता था।

(२) यह भी संभव है कि अशोक के समय तक सघ मे भेद न हुआ हो परन्तु कुछ विवादग्रस्त विषयों के कारण भेद हो जाने की सभावना-मात्र रही हो। उसी संभावना को दूर करने के लिए अशोक ने ये अभिलेख उत्कीर्ण कराए हों। अतः वह

किसी एक विशिष्ट बौद्ध संप्रदाय का संरक्षक न होकर संपूर्ण बौद्ध संघ का संरक्षक था।

जहाँ तक प्रथम सम्भावना का प्रश्न है, उसके पक्ष में दीप-वंश और महावंश तृतीय बौद्ध संगीत के समय तक बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था— (१) थेरवाद और (२) महासंघिक। पुनः थेरवाद की २ उपशाखायें और महासंघिक की ४ उपशाखायें हो चुकी थी। इन सिंहली ग्रन्थो में अतिरंजन-दोष को स्वीकार करते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि उनका उपर्युक्त कथन पूर्णरूपेण असत्य है। अशोक के समय तक बौद्ध संघ में भेद हो जाना स्वाभाविक समझा जा सकता है। स्वयं वैशाली की द्वितीय बौद्ध संगीति के समय में भी १० बातों (Ten Points) को लेकर बड़ा विवाद उठा था। खैर, उस समय तो भेदकारी भिक्षुओं की दाल न गली। संगीति का निर्णय उनके विपक्ष में रहा और इस प्रकार बौद्ध संघ की एकता कायम रही। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसके बाद भी अनेकानेक धार्मिक, दार्शनिक एवं आनुष्ठानिक विषयों पर बौद्धों में परस्पर वाद-विवाद बढ़ता रहा और अशोक के समय तक बौद्ध संघ एक न रह सका। यह सम्भव है कि उसमें इतने भेद न हुए हों जितने सिंहली ग्रन्थों में वर्णित हैं तथापि कुछ भेद की सम्भावना अति स्वाभाविक प्रतीत होती है। स्वयं अशोक अपने साँची के स्तम्भ-लेख में कहता है कि भिक्षुओं और भिक्षुणियों का संघ समग्र (एक और पूर्ण) कर दिया गया है— संघे समगे कटे। यदि संघ में भेद न होता तो संघ में समग्रता स्थापित करने का कोई अर्थ ही नहीं है। डा० भण्डारकर का कथन है कि अशोक के अभिलेखों में सर्वत्र एकमात्र 'संघ' का उल्लेख होता है, विभिन्न साम्प्रदायिक संघ. का नहीं। इससे प्रकट होता है कि बौद्ध संघ में कोई भेद न हुआ था। उदाहरण के लिये, वे अशोक के ७वें स्तम्भ-लेख को उद्धृत करते है। उनका कहना है कि इसमें आजीविकों, निर्ग्रन्थों के साथ 'संघ' का उल्लेख किया गया है तथा उनकी देख-रेख के लिए महामन्त्रों को आदेश दिया गया है। अतः यदि संघ में भेद था तो इस अभिलेख से तो यही अर्थ निकलता है कि अशोक आजीविकों, निर्ग्रन्थों तथा अपने साम्प्रदायिक संघ के हितों की रक्षा के लिए सचेष्ट था, परन्तु अन्य बौद्ध साम्प्रदायिक संघ उसकी राजकीय कृपा से वंचित थे। परन्तु यह अर्थ नितान्त अस्वाभाविक होगा। अतः इस अभिलेख में उल्लिखित संघ का एक ही अर्थ हो सकता है और वह है 'समग्र भेदहीन बौद्ध संघ'। परन्तु डा० भण्डारकर का कथन निर्बल प्रतीत होता है। दीपवंश, महावंश और स्वयं अशोक के उपर्युक्त साँची के स्तम्भ-लेख से संघ का विभक्त हो जाना सिद्ध है। अतः फिर समग्र तथा भेदहीन संघ की बात करना व्यर्थ है। रही ७ वें स्तम्भ-लेख की बात, उससे भी डा० भण्डारकर के निष्कर्ष की पुष्टि नहीं होती। उसमें जहाँ संघ, आजीविक और निर्ग्रन्थों का उल्लेख है वहाँ उसी पंक्ति में अनेकानेक अन्य सम्प्रदायों का भी उल्लेख कर दिया गया है। सम्भव है कि इन्ही सम्प्रदायों में विरोधी बौद्ध सम्प्रदाय भी परिगणित कर लिये गए हो। हमारा विश्वास है कि इस समय तक बौद्ध संघ में अधिक भेद न हुआ था। अब भी अधिकांश बौद्ध मूल संघ (Parent Body) में ही सम्मिलित थे। ऐसी परिस्थिति में यह भी सम्भव है कि अशोक ने तत्कालीन अत्यल्पसंख्यक एक-दो बौद्ध-सम्प्रदायों को नगण्य समझ कर उन्हें राजकीय मान्यता न दी हो। अतः संघ से उसका तात्पर्य बहुसंख्यक मूल संघ से हो सकता है। अन्य अत्यल्पसंख्यक एक-दो बौद्ध-सम्प्रदाय 'अन्यान्य सम्प्रदायों' के अन्तर्गत रख दिए गए हों। कदाचित् इन अत्यल्पसंख्यक विरोधी सम्प्रदायों को राजकीय मान्यता देकर अशोक और अधिक विभेद को प्रोत्साहित न करना

चाहता था। इस प्रकार अशोक के अभिलेखों में प्रयुक्त 'सघ' से 'सभग्र संघ' का अनिवार्य अर्थ नही लगाया जा सकता। पुन, डा० भण्डारकर का कथन है कि अपने भाब्रू-अभिलेख में अशोक ने जिन धर्म-परियायों का उल्लेख किया है वे भी 'सघ' के लिए है, किसी विशेष बौद्ध सम्प्रदाय के लिए नही। परन्तु यहाँ पर भी संघ का अर्थ बहुमत मूलसघ से हो सकता है। इस अभिलेख में अपने को मागध राजा कह कर अशोक ने कदाचित मगध में बद्धमूल पुरातन बौद्ध सघ की ही प्रतिष्ठा स्थापित करने के अपने भगीरथ प्रयत्न को ध्वनित किया है।

यह भी स्मरणीय है कि उपर्युक्त ७वाँ स्तम्भ-लेख अशोक के अभिषेक के २७वें वर्ष में उत्कीर्ण कराया गया था। उधर, दीपवश और महावश से विदित होता है कि पाटलिपुत्र की तृतीय बौद्ध सगीति उसके अभिषेक के १८वें वर्ष हुई थी। बहुत सम्भव है कि इस सगीति में अशोक ने बौद्धो के साम्प्रदायिक मतभेदो को दूर कर सघ की एकता पुन स्थापित कर दी हो और इस प्रकार इस सगीति के पश्चात उत्कीर्ण किए जाने वाले उसके समस्त अभिलेखो में 'सघ' का अर्थ 'विभेद विहीन समग्र संघ' रहा हो। चूँकि उपर्युक्त ७वाँ स्तम्भ-लेख अभिषेक के २७वें वर्ष में (पाटलिपुत्र की तृतीय बौद्ध संगीति के पश्चात) उत्कीर्ण हुआ है, इससे इसमे प्रयुक्त 'सघ' से 'समग्र सघ' का तात्पर्य हो सकता है।

ऐसी परिस्थिति मे यह कथन न्याय सगत नही प्रतीत होता कि अशोक के समय में कोई सघ-विभेद था ही नही और वह एकमात्र उस विभेद की सम्भावना का ही निराकरण करना चाहता था। यह मत बौद्ध ग्रन्थो और अशोक के अभिलेखो दोनों के प्रतिकूल है। अधिक स्वाभाविक निष्कर्ष तो यही है कि अशोक के समय में संघ विभेद अवश्य थे (सभव है कि ये विभेद इतने अधिक न हो जितने कि सिंहली ग्रन्थो में उल्लिखित है,) परन्तु अशोक पाटलिपुत्र की बौद्ध सगीति में उन विभेदो को दूर कर बौद्ध सघ की एकता स्थापित करने में काफी सफल रहा। इसी सफलता का उल्लेख उसने 'सघे समगं कटे' शब्दो द्वारा अपने साँची अभिलेख मे किया है। तत्पश्चात उसने सघ की एकता को अक्षुण्ण रखने के लिए ही विभेदकारियों के विरुद्ध आदेश प्रसारित किया था और समस्त महामात्रो तथा बौद्धो को उनकी कुचेष्टाओ से सावधान कर दिया था।

७. पाटलिपुत्र की तृतीय बौद्ध सगीति—इससे भी अशोक का बौद्ध धर्मावलम्बी होना सिद्ध होता है।

८. जीव-रक्षा—अशोक ने अपने अधिनियमो द्वारा जीव-हिसा को सीमित और वर्जित करने का जो कार्य किया वह बौद्ध धर्म की भावना के अनुकूल था। अहिंसा का सिद्धान्त एकमात्र बौद्ध धर्म की थाती नही है, तथापि अशोक के अन्यायन्य बौद्ध धर्म-सप्रेरित कार्यों से अनुमान लगाया जा सकता है कि कम से कम अशोक के सम्बन्ध में उसके हिंसानिषेधक कार्य उसके बौद्ध धर्मानुसरण के परिणाम थे।

अशोक के पाँचवे स्तम्भ लेख से विदित होता है कि अपने अभिषेक के २६ वर्ष पश्चात उसने उन जीवो की हत्या करना बन्द करवा दिया जो न किसी उपयोग में आते है और न खाये जाते है। इस कोटि मे निम्नलिखित जीव आते हैं—तोता, मैना, लाल, चकोर, हस, नन्दीमुख, गेलाट, चमगादड, अम्बाकपीलिका, कछुई, अस्थिहीन, मछली, वेदवेयक (जीवजीवक), गगापुपुटक, संकुज मछली, कछुआ, साही, पर्णशश, बारहसिंहा बन्धनमुक्त साँड़, घरेलू ओकपिण्ड, मृग, सफेद कबूतर, गाँव के कबूतर और वे सब चौपाये जो न किसी उपयोग मे आते हैं और न खाये जाते हैं।

अपने उसी अभिलेख में अशोक आगे आदेश देता है कि गर्भवती या दूध पिलाती हुई बकरियाँ, भेंड़ें और सुअरियाँ और ६ महीने तक की आयु वाले इनके बच्चे न मारे जाने चाहिए। मुर्गों को बधिया न करना चाहिए। जीवमयी भूसी को न जलाना चाहिए। अनर्थ करने के लिए अथवा जीवहिंसा करने के लिए वन में आग न लगानी चाहिए। जीवों का भरण जीवों से न करना चाहिए। प्रति चार चार महीनों की तीन ऋतुओं की तीन पूर्णमासियों के दिन, पौष मास की पूर्णमासी के दिन, चतुर्दशी, अमावस्या और प्रतिपदा के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली न मारनी चाहिए और न बेचनी चाहिए। इन सब दिनों में हाथियों के वनों में तथा मछुओं के तालाबों में कोई भी दूसरे प्रकार के प्राणी न मारे जाने चाहिए। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या व पूर्णिमा तथा पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन, तीनों ऋतुओं की पूर्णिमा के दिन—ऐसे मंगलमय दिनों में बैलों को न दागना चाहिए। बकरों, भेड़ों, सुअरों और इसी प्रकार के अन्य प्राणियों को, जो दागे जाते हैं न दागना चाहिये। पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन चातुर्मासियों में तथा प्रत्येक चातुर्मासी शुक्ल पक्ष में घोड़े-बैल न दगने चाहिए।......'

इस प्रकार अशोक ने जीव-हिंसा को ही सीमित और वर्जित नहीं किया वरन जीवों को होने वाले अनेक कष्टों को भी नियन्त्रित करने का प्रयास किया।

हिंसानिषेधक आदेश एकमात्र प्रजा के लिए ही न थे। स्वयं अशोक भी उनसे परे न था। यह बात उसके प्रथम शिलालेख से स्पष्ट हो जाती है। उसमें अशोक कहता है कि—

'......किसी भी जीव की यहाँ[१] प्राण-हानि न की जाय और उसकी बलि न दी जाय। और न कोई समाज किया जाय क्योंकि देवाना प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बड़ा अनर्थ देखते हैं। हाँ, कुछ समाज अवश्य ऐसे है जिन्हें देवाना प्रिय प्रियदर्शी अच्छा समझते हैं।'

पहले देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा के रधनागार (रसोई) में कई शत सहस्र पशु प्रतिदिन भोजन के लिए मारे जाते थे। परन्तु अब, जब यह धम्मलिपि लिखी गई है, भोजन के लिए केवल तीन प्राणी मारे जाते हैं, दो मोर और एक हिरन, परन्तु हिरन भी नियमित रूप से (प्रति दिन नहीं मारा जाता)। बाद में ये तीन पशु भी न मारे जायेंगे।

इस प्रकार अशोक ने पशु-बलि और समाज की प्रथा की समाप्ति कर दी। प्राचीन भारत मे 'समाज' का एक विशेष अर्थ और महत्व था। इनके अन्तर्गत मनुष्य किसी विशिष्ट स्थान पर एकत्र होकर अनेक प्रकार से उत्सव मनाते और अपना मनोरंजन करते थे। इस मनोरंजन में खाना-पीना, खेल-तमाशा आदि होते थे। कभी-कभी सभाओं में रथ-दौड़, घुड़दौड़, पशु-युद्ध आदि हिंसामूलक क्रीडायें भी होती थीं और मासादि से एकत्र जन-समूह की मनस्तुष्टि भी की जाती थी। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में समाज का वर्णन उत्सव और विहार के साथ किया है।[२] एलियक कदाचित समाज का ही वर्णन कर रहा है जब वह लिखता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य प्रतिवर्ष समारोह करता था जिसमें पशु-युद्ध और रथदौड़ इत्यादि का आयोजन

१ 'यहाँ' (इह) शब्द के तात्पर्य के ऊपर विद्वानों में मतभेद है। इससे (१) समस्त साम्राज्य अथवा (२) एकमात्र राजधानी पाटलिपुत्र अथवा (३) एकमात्र अशोक के राजप्रासाद का अर्थ लगाया गया है।

२ अर्थशास्त्र पृ० ४०७

होता था। हाथीगुम्फा अभिलेख का कथन है कि राजा खारवेल उत्सवों और समाजों के द्वारा अपनी राजधानी के जन-समूह का मनोविनोद करता था। नासिक गुहा-लेख के अनुसार गौतमीपुत्र शातकर्णि भी समाजों का आयोजन करता था। रामायण का मत है कि उत्सव और समाज से राष्ट्रवर्धन होता है।[1]

अशोक ने अपने उपर्युक्त अभिलेख में समाज को २ कोटियों में विभक्त कर दिया है—(१) अवांछनीय समाज और (२) वांछनीय समाज। कदाचित अवांछनीय वे थे जिनमें हिंसात्मक क्रीड़ाओं तथा मांस-भक्षण आदि का आयोजन होता था। ये समाज अशोक की धर्ममूलक प्रवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल थे। अतः उसने राजाज्ञा के द्वारा उनका निषेध कर दिया।

दूसरी कोटि के वांछनीय समाज कदाचित वे थे जिनमें एकमात्र निष्कलुष आमोद-प्रमोद तथा धर्म-वार्ता का आयोजन होता था। इनसे मनुष्य का मनोविनोद तथा बौद्धिक उत्कर्ष दोनों होता था। अतः अशोक ने इन्हें प्रोत्साहन दिया।

उपर्युक्त प्रथम शिलालेख सूचित करता है कि इसके उत्कीर्ण होने के पूर्व अशोक के रन्धनागार के लिए प्रतिदिन सैकड़ों-हजारो जीवों की हत्या की जाती थी। इससे राजपरिवार एवं उससे सम्बन्धित जन-समूह का भक्ष्य तो तैयार होता ही था, उसके साथ-साथ यह पशु-मांस अथवा मांसमय-भक्ष्य प्रतिदिन राजा की ओर से आगन्तुकों में वितरित भी किया जाता था। इस विषय में डाक्टर भण्डारकर ने महाभारत का एक उदाहरण दिया है जिसके अनुसार राजा रन्तिदेव ने प्रति दिन आगन्तुकों में मांस-वितरण करके अतुल कीर्ति प्राप्त की थी। परन्तु अशोक की बौद्ध मनोवृत्ति के लिए भोजन तथा दान के निमित्त की जाने वाली शत-सहस्रों निरीह जीवों की हत्या पुण्यकर न होकर महापापकर थी। ।अतः उसने उसकी समाप्ति कर दी।

बौद्ध धर्म के प्रचारक के रूप में अशोक

बौद्ध धर्म अंगीकार करने के पश्चात अशोक ने उसके विपुल प्रचार का बीड़ा उठाया। सर-शव्य की विजय का परित्याग कर उसने धर्म-विजय की प्रतिज्ञा की। अपने तेरहवें शिलालेख में अशोक कहता है कि 'धर्म-विजय को ही देवताओं का प्रिय प्रमुख विजय मानता है।'

प्रथम लघु शिलालेख से प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात एक वर्ष तक अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार न किया। परन्तु कुछ समय के पश्चात वह बौद्ध संघ के सम्पर्क में आया। सघ के साथ वह एक वर्ष से कुछ अधिक तक रहा। इस अवधि के उपरान्त उसने इतने उत्साह और लगन से प्रचार कार्य प्रारम्भ किया कि स्वयं उसे भी उसका सुफल स्पष्टतया दृष्टिगत होने लगा। अपने इस प्रारम्भिक प्रचार कार्य के विषय में वह अपने चौथे शिलालेख में कहता है कि 'इस अवधि में सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के मनुष्य जो देवताओ से मिले नहीं थे, वे उनसे मिला दिए गए। यह परिश्रम का फल है।' सेनार्ट महोदय का कथन है कि प्रचार-सफलता का वर्णन प्रथम लघु शिला-लेख और चौथे शिलालेख दोनों में बहुत-कुछ एक सा है। अतः दोनों का काल लगभग एक ही होगा। चौथा शिलालेख अशोक के शासन-काल के चौदहवें वर्ष खुदवाया गया था। अतः यही तिथि प्रथम लघु शिलालेख की भी हुई। इस प्रकार अशोक को अपने शासन के १४वें वर्ष तक ही धर्म-प्रचार में सन्तोषजनक सफलता मिल चुकी थी।

१ उत्सवश्च समाजश्च वर्धने राष्ट्रवर्धनम्

यह सफलता किस प्रकार की थी ? प्रथम लघु शिलालेख का जो उद्धरण दिया गया है उस पर विद्वानों में मतभेद है। महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने इस उद्धरण में प्रयुक्त 'मिसा' और 'अमिसा' शब्दो का अर्थ क्रमश: 'मृषा' (झूठे) और 'अमृषा' (सच्चे) लिया है। इस आधार पर प० शास्त्री ने उपर्युक्त उद्धरण का यह अर्थ लगाया है कि प्रचार से अशोक ने पृथ्वी के देवताओ (ब्राह्मणो) को झूठा सिद्ध कर दिया। परन्तु आज कोई भी विद्वान इस अर्थ को ग्रहण नहीं करता। 'मिसा' और 'अमिसा' का संस्कृत रूप क्रमशः 'मिश्रा' (मिले हुए) और 'अमिश्रा' (न मिले हुए) है।

टामस महोदय का मत है कि उपर्युक्त उद्धरण में 'अशोक यह व्यक्त करना चाहता है कि लगभग एक वर्ष में उन्होने ब्राह्मणो के देवताओ का उन बर्बर जातियों से परिचय करा दिया जो अब तक उन देवताओ से अपरिचित थी।'

डा० राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार 'इस समय (२½ वर्ष) के भीतर जम्बूद्वीप के वे लोग जो देवताओं से भिन्न थे, अथवा अलग थे अथवा दूर थे अर्थात जिनका न कोई धर्म था न जिनका कोई देवता, वे देवताओ से सम्बन्धित हो गए अर्थात वे धार्मिक होकर देवताओं की पूजा करने लगे।'

इन मतो के अतिरिक्त डा० भण्डारकर का मत है कि "अशोक के धर्म का अनुकरण करने से लोग पुण्यात्मा हो चले। अत उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति हुई और वहाँ उनको देवताओं का सामीप्य प्राप्त हुआ अथवा देवताओं से परिचय या सम्बन्ध हुआ।"

जो भी हो, अशोक के विपुल प्रयत्नो से कुछ ही वर्षो के धर्म-प्रचार का सुफल दिखाई पडने लगा था।

धर्म-प्रचार के लिए अशोक ने कुछ विशेष कार्य किये थे। यहाँ हम उन्ही पर विचार करेंगे।

१. सर-शव्य-विजय का परित्याग —तेरहवे शिलालेख से प्रकट होता है कि कलिंग युद्ध के हिसात्मक परिणाम को देख कर अशोक को भारी अनुसोचन हुआ और उसके हृदय में धर्म-कामना और धर्मशीलन की भावना उत्पन्न हुई। तभी से उसने निश्चय कर लिया की भविष्य मे कभी भी इस प्रकार की सर-शव्य-विजय न करूँगा। इसके स्थान पर उसने धर्म-विजय को अपनाया। चौथे शिलालेख से प्रकट होता है कि उसके राज्य मे भेरी घोष बन्द हो गया था और चतुर्दिक धर्म-घोष हो रहा था।

धर्म-विजय की धारणा पुरातन थी। महाभारत मे धर्म-विजय और असुर-विजय का उल्लेख है। अर्थशास्त्र धर्म-विजय, लोभ-विजय और असुर-विजय का वर्णन करता है। परन्तु अशोक ने धर्म-विजय की धारणा को और भी उदात्त कर दिया। तेरहवें शिलालेख में धर्म-विजय के अन्तर्गत अक्षति, सयम, समाचार और मार्दव जैसे गुणों को रखा गया था। अशोक का विश्वास था कि इस प्रकार की धर्म-विजय विजितों में घृणा नहीं, प्रतिरस उत्पन्न करती है।

२. धर्म-यात्रा —प्राचीन-काल में राजा विहार-यात्रा पर जाते थे। विहार-यात्राओं में मृगया आदि मनोरंजन होते थे। महाभारत में विहार यात्रा को सर्वकाम-प्रदा कहा गया है और मृगया को भी राजा के लिए उचित और शोभन बताया गया है। परन्तु अहिंसा के पुजारी अशोक के लिए विहार-यात्रा और मृगया अनुचित और

अशोभन थी। अपने आठवें शिलालेख में विहार-यात्रा के स्थान पर धर्म-यात्रा का प्रतिपादन करता है। अशोक की धर्म-यात्रा की तीन विशेषतायें थीं—

(१) बाम्हणसमणानं दसने च दाणे च—अर्थात ब्राह्मणों और श्रमणों के दर्शन करना तथा उन्हें दान देना।

(२) थैरानं दसणे च हिरण-पटिविधानो च—स्थविरों के दर्शन करना और उन्हें स्वर्ण दान देना।

(३) जानपदस च जनस दसनं—जनपदों के मनुष्यों के दर्शन करना, उनके साथ धर्म-वार्ता (धम्मानुसट्ठि) करना तथा उनके प्रश्नों का उत्तर देना (धम्म-परिपुछा)।

३. दिव्य रूपों का प्रदर्शन :—लोगों के हृदय में स्वर्ग-प्राप्ति की कामना बढ़े और उसके लिए वे सद्धर्म का अनुसरण करें, इस ध्येय से अशोक ने उन्हें दिव्य रूपों को दिखाना प्रारम्भ किया। चौथे शिलालेख का कथन है कि अशोक ने मनुष्यों को विमान-दर्शन, हस्तिदर्शन और अग्निस्कन्ध आदि दिव्य रूपों का दर्शन कराया। इन दिव्य रूपों को देख कर जनता के हृदय से निश्चितरूप में स्वर्ग-प्राप्ति की कामना जागृत हुई होगी।

४. धर्मानुशासन :—अशोक ने अपने धम्म के अनुशासन को प्रकाशित करवाया और उसके प्रचार के लिए पदाधिकारी नियुक्त किए। तीसरे शिलालेख के अनुसार राजुकों, प्रादेशिकों और युक्तों को आज्ञा दी थी कि वे प्रति पाँचवें वर्ष राज्य में दौरा किया करें और अपने सामान्य कार्य के अतिरिक्त जनता में धर्मोपदेश दिया करें।

५ धर्म-महामात्र :—ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक राज्य के सामान्य पदाधिकारियों के सीमित धर्म-प्रचार से सन्तुष्ट न था। अतः उसने धर्म-महामात्र नामक पदाधिकारियों को नियुक्त किया। अपने पाँचवें शिलालेख में अशोक कहता है कि "पहले धर्म-महामात्र नियुक्त न थे। किन्तु अभिषेक के तेरहवें वर्ष मैंने धर्म-महामात्र नियुक्त किए। वे सब धर्मों अथवा सम्प्रदायों के लिए नियुक्त हैं। वे धर्म स्थापना अथवा धर्म की देख-रेख और धर्म की वृद्धि तथा धर्म पर आचरण करने वालों के सुख एवं हित के लिए नियुक्त हैं।" कहना न होगा कि अशोक के धर्म-प्रचार में महामात्रों ने बड़ा सहयोग दिया था।

६. निज्झति :—आत्मोत्कर्ष की इच्छा करने वाले धर्मनिष्ठ मनुष्यों के लिए अशोक ने निज्झति (आत्मनिरीक्षण) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके अंतर्गत मनुष्यों को आत्म-परीक्षा, आत्म-निरीक्षण और मनन करना चाहिए।

७. धर्म-श्रावण :—सातवें स्तम्भ-लेख से प्रकट होता है कि समय-समय पर अशोक जनता को धर्म सदेश देता था। ये धर्म-श्रावण कहलाते थे।

८. हिंसानिषेध :—अहिंसा अशोक के धम्म का मूलमन्त्र था। इसलिए उसने अपने राज्य में अनेकानेक पशुओं की हिंसा और पशुओं के कायाक्लेश के ऊपर प्रतिबन्ध लगा दिया। पाँचवें स्तम्भ-लेख में अशोक ने अनेकानेक पशु-पक्षियों के नाम दिए हैं जिनका बध अथवा कायाक्लेश दंडनीय था। यह हिंसा-निषेध उसके अभिषेक के छब्बीसवें वर्ष हुआ था।

९. परोपकारिता के कार्य :—धर्म को व्यावहारिक रूप देने के लिए अशोक ने परोपकारिता के अनेकानेक कार्य किए थे। सातवें स्तम्भ-लेख में वह कहता है कि "मैंने वटवृक्ष लगवाये जो पशुओं और मनुष्यों को छाया-सुख दें। आम्र-कुंज लग-

वाये और प्रति दो मील पर कुएं खुदवाये और धर्मशालायें बनवायीं और जलशालायें स्थापित करवायी। क्यों? पशुओ और मनुष्यो के सुख के लिये।"

अपने दूसरे शिलालेख मे अशोक कहता है कि "देवताओ के प्रियदर्शी राजा के विजित राज्य में तथा जो अन्य सीमान्त प्रदेश हैं जैसे —चोल, पाड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णि प्रदेश तथा अन्तियोक यवनराज और अन्य पड़ोसी राजा के प्रदेशों में प्रत्येक स्थान पर देवताओं के प्रिय ने चिकित्सा का दो प्रकार का प्रबन्ध किया है—मनुष्यो की चिकित्सा और पशुओ की चिकित्सा। जहाँ-जहाँ वे औषधियाँ जो मनुष्यों और पशुओ के लिए उपयोगी हैं, नही पाई जाती वहाँ-वहाँ वे भेजी गईं और लगाई गईं। इसी प्रकार जडें और फलो के वृक्ष जहाँ-जहाँ नही पाये जाते वहाँ-वहाँ वे भेजे गए और लगाए गए। मनुष्यो और पशुओं दोनो के सुख के लिए सड़को पर कुँयें खुदवाए गए और पेड लगवाए गए"। इससे प्रतीत होता है कि अशोक के परोपकारिता के कार्य स्वदेश और विदेश दोनो मे हुए थे।

१०. विदेशों में धर्म-प्रचार —विदेशो में धर्म-प्रचार के लिए अशोक ने अपने धर्म-प्रचारक भेजे। तेरहवें शिलालेख में वह कहता है कि "धर्म-विजय को ही देवताओं का प्रिय प्रमुख विजय मानता है। यह विजय देवताओ के प्रिय को अपने विजित राज्य तथा सब सीमात प्रदेशो मे और छ सौ योजन तक जहाँ यवनराज अन्तियोक राज्य करता है तथा उसके पास जो अन्य चार राजा तुरमाय, अन्तेकिन, मग और अलिक सुन्दर हैं तथा नीचे जो चोल, पाड्य और ताम्रपर्णि के राज्य हैं, इसी प्रकार राजा के राज्य में यवनों, कम्बोजो, नामकों और नाभपन्तियों के बीच में तथा वशानुगत भोज-नरेशो, आन्ध्रो और पारिन्यों में—वहाँ सब जगह प्राप्त हुई है।"

तेरहवे शिलालेख का कथन है कि "उन राज्यों के लोग भी जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नही जा सकते देवताओ के प्रिय का धर्माचरण सुन कर धर्म पर आचरण करते हैं और करेंगे।' यह धर्म-विजय सर्वत्र प्रेम की देने वाली है।'

चोल, पाड्य, सतियपुत्र और केरलपुत्र के राज्य धुर दक्षिणी भारतवर्ष में ही थे और ये अशोक के साम्राज्य के बाहर थे। इन स्वाधीन राज्यो के साथ अशोक का व्यवहार समतापूर्ण था। यहाँ उसने अपने धर्म-प्रचारक भेजे थे।

तेरहवाँ शिलालेख कुछ अन्य राज्यो का भी उल्लेख करता है। ये हैं—यवन-राज्य, कम्बोज-राज्य, नाभक नाभपति राज्य, भोज राज्य, आन्ध्र-राज्य और पारिन्द-राज्य। ये राज्य अशोक के अधीन थे और यहाँ उसने अपने धर्म-प्रचारक भेजे थे। भण्डारकर के मतानुसार उपर्युक्त अधीन यवन-राज्य कोफेन और सिन्धु नदियों के बीच मे था जहाँ आधुनिक शाहबाजगढी है। कम्बोज-राज्य मे आधुनिक रजौरी और हजारा जिले के भाग सम्मिलित थे। नाभक के नाभपन्तियों का राज्य सीमान्त प्रदेश और पश्चिमी भारत के बीच मे था। भोजराज्य में थाना और कोलाबा के जिले आते है। आन्ध्र-राज्य दक्षिणी भारत में कृष्णा और गोदावरी के बीच में था। भण्डारकर महोदय का मत है कि पारिन्द-राज्य आधुनिक बगाल का वारेन्डी-प्रदेश था।

इनके अतिरिक्त पाँचवाँ शिला-लेख गान्धार-प्रदेश, राष्ट्रिक-प्रदेश और अपरान्त के अन्य राज्यों का उल्लेख करता है। यहाँ अशोक के धर्म-महामात्र गए थे। गान्धार-प्रदेश की राजधानी तक्षशिला थी। भण्डारकर के मतानुसार राष्ट्रिक महारथी थे जो पूना और समीपस्थ प्रदेश पर शासन करते थे। अपरान्त भारतवर्ष का पश्चिमी प्रदेश था। इसकी प्राचीन राजधानी शूर्पारक (आधुनिक सोपारा) थी। इन प्रदेशों में भी अशोक का धर्म-प्रचार हुआ था।

भारतवर्ष के बाहर उसके प्रचारक यूनानी राज्यों में गए थे। तुरमाय मिस्र-नरेश टालमी द्वितीय फिलाडेल्फस था। इसका शासन-काल २८५ ई० पू० से २४७ ई० पू० था। अन्तेकिन मेसीडोनिया-नरेश ऐण्टीगोनस (ई० पू० २७६-२३९ ई० पू०) था। मग सेरीन का मैगस था। इसका शासन-काल सम्भवतः ई० पू० ३०० से ई० पू० २५० तक था। अलिक सुन्दर का समीकरण कुछ विद्वान एपिरस के एलेग्जेण्डर (ई० पू० २७२-ई० पू० २५५) के साथ करते हैं और अन्य विद्वान कोरिन्थ के एलेग्जेण्डर के साथ (ई० पू० २५२-ई० पू० २४४)। इन विदेशी राज्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी राज्य थे जहाँ अशोक के दूत नहीं गए थे, परन्तु फिर भी वहाँ के निवासी अशोक के धर्म-सदेशों को सुन कर उनका पालन करने लगे थे। सम्भवतः ये देश ब्रह्मा और चीन आदि रहे होंगे।

इस प्रकार अशोक के दूसरे, पाँचवें और तेरहवें शिलालेखों से उन प्रदेशों के नामों का ज्ञान अथवा अनुमान हो जाता है जहाँ अशोक के धर्म-प्रचारक गए थे।

परन्तु रीज डेविड्ज महोदय इस बात पर विश्वास नहीं करते कि अशोक के धर्म प्रचारक विदेशी यूनानी राज्यों में गए थे अथवा उन्हें यहाँ कोई सफलता मिली थी। वे कहते हैं कि 'यह कहना असम्भव है कि इस (धर्म-विजय) में कितना अंश राजकीय प्रलाप से परिपूर्ण है। यह नितान्त सत्य प्रतीत होता है कि यवन-राज्यों पर धर्म-विजय-प्राप्त का उल्लेख एकमात्र अपने कार्य का महत्व बढ़ाने अथवा उस पर बल देने के लिए किया गया है। वस्तुतः वहाँ किसी भी प्रकार का धर्म-प्रचार नहीं किया गया था और न यवन-राज्यों तक धर्म-प्रचारक ही भेजे गए थे और यदि वे भेजे भी गए हों तो भी यह सम्भव नहीं हो सकता कि यूनानी धर्म पर भारतीय धर्म का कुछ प्रभाव पड़ा हो। अतः सम्राट अशोक का यवन-राज्यों पर धर्म-विजय का इस प्रकार परिणाम दिखलाना उनके गर्व का सूचक है। यूनानी जाति कभी यह सहन न कर सकती थी कि भारतीय-जैसी बर्बर-जाति उनको धर्म की शिक्षा दे। यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं था कि एक भारतीय राजा के धर्मानुशासन पर यूनानी अपने देवताओं और धर्म-तत्वों को ठुकरा देते।'

रीज डेविड्ज का कथन निम्नलिखित बातों को व्यंजित करता है—

(१) अशोक मिथ्याचार और प्रलाप कर सकता था।

(२) उसमें अहंमन्यता थी।

(३) यूनानियों की दृष्टि में भारतीय असभ्य और बर्बर थे।

(४) धर्म-प्रचार के द्वारा अशोक यूनानियों के धर्म और देवताओं को अपदस्थ करना चाहता था।

(५) भारतवर्ष के साथ इन यूनानी राज्यों का संबंध संभव न था।

अशोक के समस्त शिलालेख उसके जीवन की गाथा और व्यक्तित्व के दर्पण हैं। उन्हें देखने से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि वह कितना सरल, शुद्ध और विनीत था। सर्वशक्तिमान और सर्वसाधनसपन्न होते हुए भी वह सबके प्रति सहिष्णु और उदार था। मानव-जाति के लिए उसका हृदय करुणा से ओतप्रोत था। उसके धर्म-प्रचार के पीछे लोक-कल्याण की भावना थी, आत्म-श्लाघा की नहीं। ऐसे महान व्यक्ति के ऊपर अहम्मन्यता, मिथ्याचार और प्रलाप के आरोप लगाना निराधार और असंगत है। रीज डेविड्ज महोदय ने कोई भी दृष्टांत नहीं दिया है जिसके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि अशोक के अभिलेखों का कोई भी अंश असत्य अथवा प्रलाप है। अतः प्रथम दो आरोप स्वीकार नहीं किए जा सकते।

यह निश्चित है कि किसी समय यूनानी अपने को संसार में सबसे अधिक सभ्य और सुसंस्कृत समझते थे और अन्य देशों को अपनी अपेक्षा कहीं अधिक हीन समझते थे। परन्तु सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात जैसे-जैसे यूनानियों का भारतीयो के साथ सम्पर्क-सम्बन्ध बढ़ता गया वैसे ही वैसे भारतीय संस्कृति के विषय में यूनानियों की धारणा बदलती गई और वे भारतीय सभ्यता-संस्कृति का भी प्रचुर आदर करने लगे थे। रीज डेविड्ज का यह अनुमान कि अशोककालीन भारतीय को भी यूनानी बर्बर समझते थे, नितान्त असत्य है। मेगास्थनीज आदि मौर्यकालीन यूनानी लेखकों के विवरणों से प्रकट होता है कि यूनानियो की दृष्टि में भारतीय संस्कृति का विशेष महत्व था।

पीछे कहा जा चुका है कि अशोक का धम्म समस्त धर्मावलम्बियो में सद्भावना उत्पन्न करने के लिए था, उनके धर्मों अथवा देवी-देवताओं को अनादृत अथवा अपदस्थ करने के लिए न था। विदेशी अशोक की धार्मिक सहिष्णुता से अपरिचित न रहे होंगे। वस्तुत. अशोक के धर्म प्रचारको ने उन्हे भलीभाँति समझा दिया था कि अशोक का धर्म प्रचार उनकी सत्ता अथवा धर्म भावना के ऊपर आघात अथवा हस्त-क्षेप न था। अपने द्वितीय कलिंग अभिलेख में अशोक स्वय कहता है कि 'अविजित सीमान्त प्रदेश के राजाओ के मस्तिष्क में सम्भव है कि यह प्रश्न उठे कि हमारे प्रति राजा के विचार क्या हैं। सीमान्त राज्यों के प्रति मेरी एकमात्र इच्छा है कि वे इस बात को समझें कि देवताओ का प्रिय यह चाहता है कि वे मुझसे किसी प्रकार की शंका (अथवा भय) न करें, मुझ पर विश्वास करे। वे मुझसे सुख ही पायेंगे, दुःख नहीं।' इस अश से अशोक द्वारा विदेशो से किए गए धर्म प्रचार के प्रति समस्त मिथ्या धारणों का निराकरण हो जाता है।

पुन: यूनानियों के साथ अशोक के इस घनिष्ठतापूर्ण सम्बन्ध पर आश्चर्य की कोई बात नहीं। भारतीय नरेशो चन्द्रगुप्त मौर्य और बिन्दुसार मौर्य के साथ भी यूनानियो का मैत्रीपूर्ण कूटनीतिक सबध था। उनके शासन-काल मे भी राजदूतो का आदान प्रदान हुआ था। ऐसी परिस्थिति में यदि अशोक के दूत भी कतिपय यूनानी राज्यो में गए हों, तो यह नितान्त स्वाभाविक बात थी। पुन अशोक के अभिलेख में यूनानियों के जो नाम दिए हुए है वे उनके नामो के पूर्ण भारतीयकरण है। इससे प्रकट होता है कि अशोक उन यूनानियों के नामो से भलीभाँति परिचित था। उसका उन राजाओं के साथ संबध था।

ऐसी परिस्थिति में रीज डेविड्ज की उपर्युक्त आपत्ति में कोई बल नहो है।

साहित्यिक साक्ष्य—बौद्ध साहित्य मे भी सिद्ध होता है कि अशोक ने धर्म-प्रचार के लिए अपने प्रचारकों को भेजा था। महावश का कथन है कि अशोक ने अपने अभिषेक के १७वें वर्ष पाटलिपुत्र में मोग्गलिपुत्त तिस्स (उत्तरी गाथाओ के अनुसार उपगुप्त) की अध्यक्षता में बौद्ध धर्म की तीसरी महासंगीति की। इस संगीति की समाप्ति पर निम्नलिखित धर्म-प्रचारक विभिन्न प्रदेशो में भेजे गए—

(१) मज्झन्तिक—काश्मीर और गान्धार
(२) महादेव—महिष्मण्डल (मैसूर)
(३) महारक्षित—यवन-राज्य
(४) धर्मरक्षित—अपरान्त (पश्चिमी भारत)
(५) मज्झिम—हिमालय-प्रदेश
(६) महाधर्मरक्षित—महाराष्ट्र

(७) रक्षित—बनवासी (उत्तरी कनारा)
(८) सोन और उत्तरा—सुवर्णभूमि (पेगू)
(९) महेन्द्र—लंका

दीपवंश और समन्तपासादिका में भी थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ यह सूची मिलती है।

साँची के नम्बर दो स्तूप में एक अवशेष-संपुट (Relic casket) मिला है। इस पर १० धर्म-प्रचारकों के नाम उत्कीर्ण हैं। इनमें अनेक नाम महावंश, दीपवंश और समन्तपासादिका के नामो से मिलते हैं।

इन साक्ष्यों के समक्ष हम अशोक के धर्म-प्रचार की बात को अनैतिहासिक नही कह सकते।

लंका में धर्म-प्रचार—अशोक का समकालीन लका-नरेश देवाना प्रिय तिष्य था। महावश का कथन है कि 'यद्यपि ये दो राजा देवाना प्रिय तिस्स और धम्मासोक परस्पर परिचित न थे तथापि बहुत समय से मैत्री-सूत्र में बँध चुके थे।'

इसी ग्रन्थ का कथन है कि लका-नरेश ने अनेकानेक उपहारों के साथ अपने चार दूतो को अशोक के पास भेजा। अशोक ने उनका आदर-सत्कार किया और जब वे लौटने लगे तो अशोक ने लका के राजा के लिए भी अनेक उपहार दिए।

पुन. महावश कहता है कि अशोक का पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा संघ में प्रविष्ट होकर भिक्षु हो गए थे। तत्पश्चात धर्म-प्रचार करने के लिए वे लका गए। महावश के कथनानुसार इन दोनो ने लका के राजा तथा उसके चालीस हजार साथियों को बौद्ध बना दिया।

लका में बौद्ध धर्म के प्रचार का उल्लेख अशोक के अभिलेखों में मिलता है। दूसरे और तेरहवे अभिलेखो से पता चलता है कि अशोक ने अपने धर्म-प्रचारक ताम्रपर्णी (लका) भेजे थे। दूसरे शिलालेख के अनुसार अशोक ने ताम्रपर्णी (लका) में चिकित्सालय, कूप और सडकें आदि भी निर्मित करवाई थी। अभाग्य से अशोक के शिलालेखों मे महेन्द्र और सघमित्रा का नाम नही मिलता। परन्तु इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अशोक ने अपने अभिलेखो में किसी भी धर्म-प्रचारक का नाम नहीं दिया है, अत अपने पुत्र और पुत्री का भी नही।

अशोक का धम्म

अशोक के अभिलेखो मे 'धम्म' शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है। परन्तु इस 'धम्म' का वास्तविक अर्थ क्या है, इस बात पर विद्वानो में बड़ा मतभेद है। यदि हम अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित धम्म-सम्बन्धी समस्त बातो का निरूपण करें तो उससे 'धम्म' का रूप समझना सरल हो जायेगा।

दूसरे स्तम्भ-लेख में अशोक स्वयं पूछता है कि 'कियं चु धम्मे ?' (धम्म क्या है ?)

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वह स्वयं कहता है कि 'अपासिनवे बहुकथाने दया दाने सचे सोचये' अर्थात धर्म

(१) अपासिनव (पापहीनता) है।
(२) बहुकथान (बहुकल्याण) है
(३) दया है

(४) दान है
(५) सच (सत्यता) है
(७) सोचय (शुद्धि) है

अपने धम्म के अन्यान्य आचार-तत्वों का उल्लेख करते हुए अशोक अपने द्वितीय लघु शिलालेख में कहता है कि 'माता-पिता की उचित सेवा, सर्व प्राणियों के प्रति आदर-भाव तथा सत्यता गुरुतर सिद्धान्त हैं। इन धर्म-गुणों की वृद्धि होनी चाहिये। इसी भाँति शिष्यों को गुरुओं का उचित आदर करना चाहिए तथा सम्बन्धियों से उचित व्यवहार उत्तम है।'

ग्यारहवें शिलालेख में अशोक अपने धम्म के अन्यान्य तत्वों का उल्लेख करता है—'दास और भृत्यों तथा वेतन-भोगी सेवकों के साथ उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियो, ब्राह्मणो, श्रमणों और साधुओं के प्रति उदारता, प्राणियों में संयम, पशु-बलि से विरतता।'

इन समस्त विशेषताओं को देख कर स्पष्ट हो जाता है कि अशोक का धम्म रूढिवादी, कर्मकाण्डवादी, गूढक्रियावादी, दर्शनमूलक अथवा सूक्ष्मतत्वापेक्षी न था। वह तो अति सरल, विशुद्ध, व्यावहारिक और सर्वग्राह्य आचार-तत्वों से समन्वित था।

यह धम्म का व्यावहारिक रूप था। इसके अतिरिक्त उसका एक निषेधात्मक रूप भी था। इसके अन्तर्गत अशोक ने कतिपय ऐसे दुर्गुणों एवं कुवृत्तियों का उल्लेख किया था जिनसे धमनिुसरण में बाधा पड़ती है। ये दुर्गुण अथवा कुवृत्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

(१) चण्डिय (उग्रता)
(२) निठुलिय (निष्ठुरता)
(३) कोध (क्रोध)
(४) मान
(५) इस्या (ईर्ष्या)

ये समस्त कुवृत्तियाँ अशोक द्वारा प्रयुक्त एक ही शब्द से व्यक्त हो जाती हैं और वह शब्द है 'आसिनव' (पाप)। जो व्यक्ति आसिनव से दूर रहता है वह उपर्युक्त कुवृत्तियों से भी छुटकारा पा लेता है और फिर उसका विशुद्ध चित्त धर्म के व्यावहारिक पक्ष का सहजरूप में अनुसरण कर सकता है। अशोक अपने तृतीय स्तम्भ-लेख में कहता है कि "मनुष्य अपने सुकृतो को ही देखता है और उन सुकृतों को देख कर सोचता है कि 'यह सुकृत मैंने किया है।' परन्तु वह कभी भी अपने आसिनवों (पापो) पर विचार करते हुए दृष्टि नहीं डालता कि 'यह आसिनव (पाप) मैंने किया है।' यह भलीभाँति मालूम करना है भी कठिन।" इस प्रकार अशोक ने आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने आसिनव को पहचानने और उसे नष्ट करने की सम्मति दी थी।

आत्म-निरीक्षण के लिए अभिलेखो में 'परीक्षा' शब्द का प्रयोग हुआ है। अपने प्रथम स्तम्भ-लेख में अशोक कहता है कि 'धर्म-कामना, परीक्षा, सेवा, पाप से भय तथा परम उत्साह के बिना इहलोक और परलोक में सुख-प्राप्ति दुस्साध्य है।' इस प्रकार आत्मोत्कर्ष के साधनो में 'परीक्षा' को भी स्थान दिया गया है।

प्रत्येक धर्म के दो रूप होते हैं——कर्मकाण्डमूलक और आचारमूलक। अशोक भलीभांति जानता था कि धार्मिक कलहों का प्रधान कारण धर्मों के कर्मकाण्ड हैं जो

एक दूसरे से भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु धर्मों का आचारमूलक रूप सर्वत्र एक-सा ही होता है। इसी से अशोक ने अपने धम्म में कर्मकाण्ड को हतोत्साहित किया और आचार मूलक रूप को प्रोत्साहित।

अपने नवें अभिलेख में अशोक कहता है कि 'लोग बहुत से मगल करते हैं। रोग, पुत्र-पुत्रियों के विवाह, पुत्र-जन्म, परदेश-गमन आदि के अवसरो तथा ऐसे ही अन्य अवसरों पर लोग बहुत प्रकार के मगल करते हैं। ऐसे अवसरों पर सन्तानवती स्त्रियाँ और पत्नियाँ अनेक प्रकार के छोटे और सारहीन मंगल किया करती हैं। मंगल अवश्य करना चाहिए, परन्तु ये मगल बहुत कम फलदायक हैं। परन्तु जो धर्म-मगल है वह निश्चित रूप से फलदायक है। इस धर्म-मगल में निम्न बातें हैं :—दास और वेतन-भोगी सेवकों से उचित व्यवहार, गुरुजनो का आदर, प्राणियों के प्रति अहिंसा, श्रमणो और ब्राह्मणो को दान। ये और ऐसे ही मंगल धर्म-मगल कहलाते हैं।'

अपने ग्यारहवें शिलालेख में अशोक धर्मदान को साधारणदान से अधिक उत्तम बताता है। उसके अनुसार दासों और सेवको के प्रति उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्रो, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणो और श्रमणों के प्रति उदारता और अहिंसा ही धर्म-दान है।

अपने तेरहवें शिलालेख में अशोक धर्म-विजय को साधारण विजय से अधिक कल्याणकर बताता है।

अशोक ने धर्मों की बाह्य विभिन्नता की उपेक्षा करते हुए उनके अन्तस्तत्व को बल दिया है। अपने बारहवें शिलालेख में उसने सब धर्मों के सार की वृद्धि की कामना की है। यह तभी सभव है जब कि मनुष्य दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णु हो। इसी ध्येय से अशोक ने अपने बारहवें शिलालेख में यह राय दी है कि मनुष्यों को दूसरो के धर्म को भी सुनना चाहिए। इसी शिलालेख में वह कहता है कि जो मनुष्य अपने धर्म को पूजता है और दूसरे धर्म की निन्दा करता है वह ऐसा करते हुए अपने धर्म की बड़ी भारी हानि करता है। अतः मनुष्य में वाक्-सयम होना चाहिए। अशोक की यह धर्म-सहिष्णुता वास्तव में आज भी हमारा मार्ग-प्रदर्शन कर सकती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के पूर्व निवास के हेतु कुछ प्रतिबन्ध थे। प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक क्षेत्र में न रह सकता था। अशोक ने इस प्रतिबन्ध को भंग कर दिया। अपने सातवें शिलालेख में वह घोषित करता है कि सर्वत्र ही सब धर्म वाले बसें। अशोक के अभिलेखो में अनेक स्थलो पर ब्राह्मणों और श्रमणो को समानरूप से सम्मानित किया गया है। आठवें शिलालेख से प्रकट होता है कि अपनी धर्म-यात्राओं में अशोक ब्राह्मणों और श्रमणों का दर्शन करता और उन्हें दान देता था। बारहवें शिलालेख में कहा गया है 'देवताओ का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों अथवा सम्प्रदायों, साधुओ और गृहस्थो को दान तथा अन्य पूजा से सम्मानित करता है।'

अशोक का धम्म मानव-जगत के लिए ही नहीं वरन समस्त प्राणिमात्र के लिए था। 'अनालम्भो प्राणिना अविहिसा भूताना' (सर्वप्राणियो के प्रति अहिंसा) उसके धम्म का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त था। अपने तेरहवें शिलालेख में वह 'सर्वभूतानां अक्षति च सयम च' का प्रचार करता है। इसी ध्येय की पूर्ति के लिए उसने अनेक जीवोपकार किए। अपने सातवें स्तम्भ-लेख में अशोक कहता है कि 'मार्गों में मैंने वट वृक्ष लगवाए जिससे वे मनुष्यों और पशुओ दोनो को छाया दें, आम्र-कुज लगवाए, प्रति दो मील पर कुएँ खुदवाए धर्मशालायें और अनेक जलशालायें बनवाईं। क्यों? मनुष्यों तथा पशुओं के सुख के लिए।' इसी प्रकार अपने दूसरे स्तम्भ-लेख

में अशोक कहता है कि 'मैंने द्विपद (मनुष्यों) और चतुष्पद (पशुओं), पक्षियों और जलचरों के प्रति यथेष्ट और अनेक प्रकार से उदारता तथा अनुग्रह किए हैं।'

अशोक का धम्म एकमात्र उपदेश देने की ही नहीं वरन व्यवहार-रूप में कार्यान्वित करने की वस्तु थी। हम देखते है कि अशोक ने स्वयं अपने जीवन में उसका व्यवहार किया था। उसने हिंसात्मक समाजों को बन्द कर दिया। अपने प्रथम शिलालेख में उसने कहा है कि 'समाज नहीं करना चाहिए। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत दोष देखते है।' आठवें शिलालेख से प्रकट होता है कि उसने विहार-यात्राओं का परित्याग कर दिया जिनमें मृगया आदि हिंसात्मक मनोरंजन होते थे। उनके स्थान पर उसने धर्म-यात्रायें प्रारम्भ की जिनमें ब्राह्मण-श्रमणों के दर्शन, दान, उपदेश आदि होते थे। अशोक की पाकशाला में बहुसंख्यक पशु-पक्षियों की हिंसा होती थी। परन्तु अपने प्रथम शिलालेख में अशोक कहता है कि अब मेरी पाकशाला में केवल तीन जीव मारे जायेंगे—दो मोर और एक मृग—मृग भी सदैव नहीं। भविष्य में तीन जीव भी न मारे जायेंगे। इस प्रकार अशोक ने धीरे-धीरे अपने रन्धनागार में जीव-हिंसा बन्द करवा दी।

इस प्रकार अशोक ने जिस धम्म का प्रचार किया उसका स्वयं अपने जीवन में व्यवहार भी किया। धम्म उसके जीवन से घुल मिल गया था। वह उसके सम्पूर्ण शासन की आधार-पीठिका था। 'धम्मेन पालना, धम्मेन विधाने, धम्मेन सुखियना, धम्मेन गोती (रक्षा)' शब्दों से यही सत्य प्रकट होता है। उसने अपने उत्तराधिकारियों को भी इसी धम्म का अनुसरण करने की सम्मति दी थी। अपने प्रथम शिलालेख में वह कहता है कि 'धम्म हि सील हि तिस्ठन्तो धम्म अनुसासिसन्ति।'

धम्म के विषय में विद्वानों के मत

(१) राजधर्म—फ्लीट महोदय का मत है कि अभिलेखों में अशोक ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है वह वस्तुतः राजधर्म था। भारतीय व्यवस्थाकारों ने राजा के लिए कतिपय कर्तव्याकर्तव्यों अथवा विधि-निषेधों का उल्लेख किया है। इनके आधार पर ही राजा को अपना शासन-संचालन करना चाहिए। महाभारत में इस राजधर्म का सविस्तार वर्णन है। अशोक के अभिलेखों का धम्म भी महाभारत के उस राजधर्म से मेल खाता है। अतः इसे भी राजधर्म ही समझना चाहिए।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अशोक का 'धम्म' बहुत अंगों में भारतवर्ष के पुरातन राजधर्म से मिलता-जुलता है। परन्तु फिर भी वह राजधर्म नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि राजधर्म राजा के लिए होता है, प्रजा के लिए नहीं। अभिलेखों में अपने धम्म के सिद्धान्तों को उत्कीर्ण करवा कर तो अशोक अपनी प्रजा से उसका पालन करवाना चाहता था। अतः यदि उसका धम्म राजधर्म होता तो वह एकमात्र उसका पालन करता, स्थान-स्थान पर प्रजा के अनुसरण के लिए उसका प्रचार न करता।

(२) सार्वभौम धर्म—डा० स्मिथ और डा० राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार अशोक का 'धम्म' सार्वभौम धर्म था। उसमें ऐसे सिद्धान्तों का संकलन हुआ था जो सभी धर्मों की समान सम्पत्ति हैं। साम्प्रदायिक रूढ़िवादिता से दूर होने के कारण उसके धम्म के आचार-मूलक सिद्धान्त सभी धर्मानुयायियों को मान्य थे।

इस मत में बहुत कुछ सत्य है। परन्तु फिर भी यदि हम अभिलेखों में व्याख्यात धम्म का सूक्ष्म अध्ययन करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यह धम्म अनेक स्थलों पर बौद्ध धर्म से प्रभावित था। अतः हमें तीसरा मत ही सबसे अधिक मान्य प्रतीत होता

है जिसके अन्तर्गत अशोक के अभिलेखों के धम्म को उपासक बौद्ध धर्म (Buddhism for the laity) कहा गया है।

(३) उपासक बौद्ध धर्म—सेनार्ट, हुल्श और भण्डारकर आदि विद्वानों का मत है कि अशोक का धम्म उपासक बौद्ध धर्म था। इस मत के अनुसार अशोक ने अपने धम्म में बौद्ध धर्म के उन्ही सिद्धान्तो को ग्रहण किया था जो गृहस्थ उपासको के लिए व्यावहारिक हों। अशोक स्वय गृहस्थ था, उसकी प्रजा भी अधिकाशत· गृहस्थ थी। अत उसने उपासक बौद्ध-धर्म के प्रचार को ही उपयुक्त समझा। यदि वह भिक्षु-बौद्ध-धर्म का प्रचार करता तो स्वय उसके तथा प्रजा दोनों के लिए अशोभन और अव्यावहारिक होता। पुनः भिक्षु-बौद्ध धर्म नितान्त साम्प्रदायिक बन जाता। रहा उपासक बौद्ध धर्म, तो उसमे अशोक ने अधिकाशत उन्ही सिद्धान्तों का समावेश किया था जो उसके साम्राज्य के विभिन्न सप्रदायो को भी मान्य हों।

प्रोफेसर टामस आदि विद्वान अशोक धम्म को बौद्ध धर्म नही मानते, क्योकि इसमें चतुरार्य सत्यो, अष्टाग मार्ग और निर्वाण का उल्लेख नही मिलता। डा० भडार-कर मोहदय का कथन है कि इस आपत्ति मे कोई बल नही है। वस्तुत. बौद्ध धर्म के दो रूप है। एक रूप बौद्ध भिक्षुओं के लिए और दूसरा रूप बौद्ध उपासको के लिए। भिक्षुओ के लिए जिस बौद्ध धर्म का प्रतिपादन होता है वह अधिक क्लिष्ट और साधना-मय है। इसी में चतुरार्य सत्यो और अष्टाग मार्ग पर बल दिया जाता है। भिक्षुओ का चरम लक्ष्य भी निर्वाण होता है, परन्तु उपासकों के लिए जो बौद्ध धर्म ने वह अति सरल, सुबोध और व्यावहारिक है। उपासक के लिए विशुद्ध आचार ही प्रधान बताया गया है। उसका चरम लक्ष्य भी स्वर्ग होता है, निर्वाण नही।

दीघ निकाय मे सिगालोवाद सुत्त है। इसमें उपासक बौद्ध धर्म का रूप मिलता है। इस सुत्त मे एक कथा है कि एक बार महात्मा बुद्ध भिक्षाटन के लिए जा रहे थे। मार्ग में उन्होने शृगाल को देखा जो आकाश, पाताल और विभिन्न दिशाओ को प्रणाम कर रहा था। महात्मा बुद्ध के पूछने पर उसने उत्तर दिया कि उसके माता-पिता ने प्रतिदिन उसे ऐसा करने के लिए कहा है। इस पर महात्मा बुद्ध ने उसे सम-झाया कि आकाश, पाताल और दिशाओ की पूजा करना धर्म नही है। 'माता-पिता की सेवा पडोसी की सेवा, गुरु, मित्र, परिचित, सबन्धी, स्त्री और बच्चो की सेवा और समादर एव दास, भृत्य आदि के साथ सद्व्यवहार करना ही गृहस्थो की मुख्य पूजा तथा धर्म है।

अशोक के अभिलेखो को देखने से प्रकट होता है कि उसके धम्म के ऊपर सिगालो-वाद सुत्त का विशेष प्रभाव पडा था। अपने धम्म की अनेकानेक विशेषतायें उसको लक्खन-सुत्तन्त नामक एक अन्य बौद्ध सुत्त से प्राप्त हुई थी। ब्यूलर महोदय का मत है कि अशोक के अभिलेखो में उल्लिखित धम्म मगल, धम्म-दान, धम्म-अनुग्रह और धम्म-विजय के विचार इतिवृत्तक नामक एक अन्य बौद्ध ग्रन्थ से ग्रहण किए थे बारहवे शिलालेख में व्याख्या‍ सहिष्णुता-नीति बौद्ध सुत्त चूलवियूह और महावियूह पर आधारित है। अशोक के अभिलेखो मे निर्वाण का उल्लेख नही मिलता, परन्तु उपासक-बौद्ध-धर्म के अनुरूप उनमें स्वर्ग और परलोक का उल्लेख अनेक बार हुआ है। अपने नवे शिलालेख मे अशोक कहता है कि धर्म-मगल से दूसरे लोक में स्वर्ग-प्राप्ति होती है। चौथे स्तभ-लेख मे अशोक की यह कामना है कि उसकी प्रजा को इहलोक और परलोक दोनो में सुख मिले। इन उल्लेखो से प्रकट होता है कि अशोक की दृष्टि में उपासक-बौद्ध-धर्म ही था।

उपासक-बौद्ध-धर्म की परंपरा के अनुसार मृत्यु के पश्चात पुण्यात्मा मनुष्य को विमान, हस्ति और अग्निस्कन्ध (प्रभायुक्त शरीर) की प्राप्ति होती है। पुण्यात्मा मनुष्य स्वर्ग में विमान पर बैठता है, उसे श्वेत हाथी मिलता है तथा उसे प्रभायुक्त शरीर प्राप्त होता है। बौद्ध परंपरा में श्वेत हाथी अति पुनीत समझा जाता है। स्वयं महात्मा बुद्ध अपनी माता के गर्भ में श्वेत हस्ति के रूप में प्रविष्ट हुए थे। इसके अतिरिक्त स्वर्ग के निवासियों के शरीर प्रभामय होते हैं। यही कारण है कि चौथे शिलालेख में कहा है कि देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्म-प्रचार के परिणामस्वरूप लोगों को विमान-दर्शन, हस्ति दर्शन, अग्निस्कन्ध आदि अन्य दिव्यरूपों के दर्शन कराए गए।

अपने भाब्रू अभिलेख में अशोक बौद्ध धर्म का अध्यक्ष-सा प्रतीत होता है। उसमें वह बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करता है और स्पष्टतया यह कहता है कि जो कुछ भगवान बुद्ध ने कहा है वह ठीक कहा है। इसी अभिलेख में वह भिक्षुओं और उपासकों के अध्ययन और मनन के लिए सात धर्म परियायों का का उल्लेख करता है। ये सातों बौद्ध ग्रन्थ थे।

अपने साँची, सारनाथ और कौशाम्बी के अभिलेखों में अशोक हमारे समक्ष बौद्ध धर्म के संरक्षक के रूप में आता है और संघ-भेदकों को निष्कासन और बहिष्कार के दंड की चेतावनी देता है।

अशोक बौद्ध था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु उसने कभी अपने व्यक्तिगत विचारों को अपनी प्रजा पर लादने का प्रयास नहीं किया। उसने जिस उपासक-बौद्ध धर्म का प्रचार किया उसे भी सर्वत्र असाम्प्रदायिक रखने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि अशोक का धम्म बौद्ध धर्म होते हुए भी बाह्यत ऐसा प्रतीत नहीं होता।

अशोक के प्रशासनीय सुधार

अशोक की शासन-व्यवस्था मूलतः वही थी जिसका निर्माण उसके पराक्रमी पितामह चन्द्रगुप्त ने अपने महामन्त्री चाणक्य की सहायता से किया था। परन्तु अशोक के अभिलेखों से प्रकट होता है कि उसने इस व्यवस्था में कुछ आवश्यक सुधार और परिवर्तन किए थे। ये निम्नलिखित थे—

(१) अपने पाँचवें शिलालेख में अशोक कहता है कि सर्वप्रथम उसी ने धर्म-महामात्र नामक नये पदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। यह नियुक्ति क्यों और कैसे हुई इसका क्रम भी उसके अभिलेखों से प्रकट होता है। अपने 'सेपरेट' शिलालेख में वह अपने पदाधिकारियों को सावधान करता है कि कोई भी व्यक्ति अकारण बन्दी या पीड़ित न किया जाय। इसी ध्येय की पूर्ति के लिए वह आज्ञा देता है कि भविष्य में प्रति पाँचवें वर्ष वह साधु और उदार प्रकृति के मनुष्यों को क्रम से दौरा पर भेजेगा। ये लोग उसके उपर्युक्त उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता पहुँचायेंगे। परन्तु फिर भी अशोक को सन्तोष नहीं हुआ। अपने तीसरे शिलालेख में वह कहता है कि भविष्य में राज्य के पदाधिकारी—युक्त, राजुक और प्रादेशिक—अपने नियत कार्य के अतिरिक्त प्रति पाँचवें वर्ष दौरा करें—धर्म-प्रचार के लिए। परन्तु इस अधिनियम के पश्चात भी अशोक पूर्णतया सन्तुष्ट न हुआ और अपने शासन के १३वें वर्ष उसने जनहित के लिए धर्म-महामात्र नामक विशेष पदाधिकारियों की नियुक्ति की। ये लोग अकारण दण्डित व्यक्तियों को दण्ड से मुक्त करवाते थे, ऐसे व्यक्तियों के दण्ड को कम करवाते थे जो वृद्ध हो अथवा जिनके आश्रित बहुत से बाल-बच्चे हों

दानों का उचित वितरण करवाते थे तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की हित-साधन करते थे।

(२) अशोक की यह विशेष चिन्ता थी कि प्रजा तथा उसके समाचार मेरे समीप सदैव पहुँच सके और आवेदक मुझसे अपना आवेदन कर सके। इसी चिन्ता से प्रेरित होकर अशोक ने अपने सातवें शिलालेख में यह घोषणा की कि आवेदक मुझसे प्रत्येक समय मिल सकते है, चाहे मैं भोजन कर रहा हूँ या अन्तःपुर में हूँ, अपने निजी कक्ष मे हूँ, घोड़े की पीठ पर हूँ अथवा विहार कर रहा हूँ। यह आज्ञा प्रजा और प्रतिवेदक (सूचनावाहक) दोनों के लिए थी।

(३) ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त सुधार के पश्चात १३ वर्ष तक अशोक ने कोई नवीन सुधार नही किया। परन्तु उसके उपरान्त उसने एक अति महत्वपूर्ण न्याय-विभाग-सम्बन्धी सुधार किया। अपने चौथे स्तम्भलेख मे वह कहता है कि मैंने राजुकों को पुरस्कार और दण्ड के वितरण में पूर्ण अधिकार दे दिये है जिससे वे आत्म-विश्वास और निर्भयता के साथ अपना कार्य कर सके और प्रान्तीय जनता का हित कर सके। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक प्रान्त मे न्याय का कार्य तीन पदाधिकारियों—राजुक, प्रादेशिक और नगर-व्यावहारिक—के हाथ मे था। तीनों अपने अपने ढग से न्याय-वितरण करते थे। इसलिए प्रान्त मे व्यवहार-समता और दण्ड-समता न थी। न्याय-व्यवस्था के इस दोष को दूर करने के लिए अशोक ने नगर-व्यावहारिक और प्रादेशिक के हाथ से न्याय-सम्बन्धी अधिकार और कार्य ले लिए और उन्हें पूर्णत राजुक के हाथ मे दे दिए।

(४) अशोक ने दण्ड-विधान की कठोरता को भी थोड़ा-सा दूर किया। पाँचवे स्तम्भ-लेख से प्रकट होता है कि अशोक प्रतिवर्ष अपने अभिषेक-दिवस पर बन्दियों को मुक्त कर देता था। इसके साथ-ही-साथ चौथे स्तम्भ-लेख से पता चलता है कि उसने यह आज्ञा दी थी कि मृत्यु-दण्ड पाये हुए अपराधियों को मृत्यु-दण्ड देने के पूर्व ३ दिन का समय दिया जाय। यह आज्ञा इस ध्येय से प्रसारित की गई थी कि जिससे मृत्यु दण्ड के अपराधी अपने आगामी जीवन के लिए पूर्णतया तैयार हो ले।

(५) प्रथम शिलालेख मे विदित होता है कि अशोक ने अपनी राजधानी मे समस्त बलि-पशुओं की हत्या बन्द करवा दी थी। यह सुधार उसकी अहिंसात्मक बौद्ध नीति की ओर सकेत करता है।

२३

अशोक के उत्तराधिकारी एवं मौर्य साम्राज्य का पतन

अशोक की मृत्यु के पश्चात कोई भी मौर्य इतना योग्य और शक्तिशाली न हुआ जो विशाल मौर्य-साम्राज्य को अक्षुण्ण रख सकता। धीरे-धीरे अधीनस्थ प्रदेश स्वतन्त्र होते गए और एक दिन ऐसा आया जब मौर्य-साम्राज्य इतिहास की एक कहानी-मात्र बन कर रह गया।

अशोक के अनेक पुत्र थे। अपना पांचवें स्तम्भ-लेख मे वह अपने अनेक पुत्रो और राजपुत्रों का उल्लेख करता है। परन्तु अभाग्य से उसके अभिलेख तिवर के अतिरिक्त अन्य किसी भी पुत्र का नाम नही लेते। अभी तक ऐसा कोई भी साक्ष्य नही मिला है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि तिवर कभी भी मौर्य-साम्राज्य का उत्तराधिकारी रहा हो।

साहित्य में महेन्द्र का नाम आता है। इसने लका मे बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए पर्याप्त कार्य किया था। परन्तु इस बात पर मतभेद है कि वह अशोक का पुत्र था अथवा भाई। जो भी हो, कदाचित वह बौद्ध प्रवृत्ति का होने के कारण राजकीय कार्यों से विरक्त था। उसने भी कभी राज्य नहीं किया।

राजतरगिणी का कथन है कि अशोक के पश्चात जलौक काश्मीर का शासक हुआ। तारानाथ ने वीरसेन को गान्धार का शासक माना है। डा० टामस का मत है कि यह वीरसेन सुभागसेन का पूर्वगामी था। पालीविभ्रस का कथन है कि जिस समय (२०६ ई० पू० के लगभग) यूनानी सम्राट ऐण्टिग्राकस तृतीय ने हिन्दूकुश पार करके भारत पर आक्रमण किया उस समय सुभागसेन भारतीयो का राजा था। कदाचित वह गान्धार-प्रदेश का शासक था।

इससे प्रकट होता है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश मौर्य-साम्राज्य से निकल गया था और काश्मीर तथा गान्धार में नवीन राजवशो की स्थापना हो चुकी थी।

पुराणो में अशोक के उत्तराधिकारियो के नाम मिलते हैं। परन्तु उनकी सूची इतनी विवादग्रस्त है कि सहसा उत्तराधिकार-क्रम निश्चित नही होता। यह सूची निम्न प्रकार है—

(१) वायु पुराण—कुणाल, बन्धुपालित, इन्द्रपालित, देववर्मन, सतधनुस् और बृहद्रथ।

(२) विष्णु पुराण—सुयशस्, दशरथ, सगत, शालिशूक, सोमशर्मन्, शतधन्वन् और बृहद्रथ।

(३) मत्स्य पुराण—दशरथ, सम्प्रति, शतधन्वन् और बृहद्रथ।

पुराणो की इन नामावलियो के अतिरिक्त दिव्यावदान मे भी अशोक के उत्तराधिकारियो की एक सूची मिलती है—

सम्पदि, बृहस्पति, वृषसेन, पुष्यधर्मन् और पुष्यमित्र।

कुणाल और सम्प्रति—अशोक के उत्तराधिकारियो मे कुणाल और सम्प्रति ऐतिहासिक व्यक्ति ज्ञात होते है। पुराण एव बौद्ध और जैन साहित्य मे इनका उल्लेख आता है। वायु पुराण का कथन है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात कुणाल ने ८ वर्ष तक राज्य किया। डा० रायचौधरी का मत है कि सम्भवत विष्णु पुराण का नाम 'सुयशस्, इसी कुणाल का विरुद था। वे दिव्यावदान और फाह्यान के 'धर्म-विवर्धन' को भी कुणाल का विरुद मानते है।

परन्तु जहाँ वायु पुराण मे कुणाल को अशोक का अनुगामी उत्तराधिकारी बताया गया है वहाँ बौद्ध और जैन साहित्य मे सम्प्रति को।

ऊपर से देखने से यह परस्पर-विरोधी उल्लेख है, परन्तु विचार करने पर इस विरोध का हल मिल जाता है। अनुश्रुति के अनुसार कुणाल अन्धा था। अत राजा होते हुए भी वह राज-कार्य न कर पाता होगा। यह राज-कार्य वस्तुत उसका पुत्र सम्प्रति करता होगा। इस परिस्थिति के कारण ही किसी ने कुणाल को अशोक का उत्तराधिकारी माना है और किसी ने सम्प्रति को।

दशरथ और सम्प्रति—नागार्जुनी पहाडियो के अभिलेखो से अशोक के पौत्र दशरथ का पता चलता है। इसने 'देवाना प्रिय' की उपाधि धारण की थी और आजीविकों का गुहादान दिया था। मत्स्य और वायु पुराणो के अनुसार दशरथ अशोक का पौत्र था।

इस प्रकार अशोक के दो पौत्र हुए—दशरथ और सप्रति।

डा० स्मिथ और प्रो० ध्रुव का मत है कि कुणाल की मृत्यु के पश्चात सभवतः मौर्य-साम्राज्य का विभाजन हो गया। इसके पूर्वी भाग का शासक दशरथ बना और पश्चिमी भाग का सप्रति।[१]

परन्तु इस मत के ग्रहण करने मे कई कठिनइयाँ है—

(१) कोई भी साक्ष्य स्पष्टतया मौर्य-साम्राज्य के विभाजन की बात नही कहता।

(२) पुराणो में सप्रति को मगध-राज्य का उत्तराधिकारी कहा गया है। अतः पश्चिमी भारत के साथ-साथ वह पूर्वी भारत का भी शासक था।

(३) जैन लेखक सप्रति को पाटलिपुत्र और उज्जैन दोनो का शासक बताते है। अत वह पूर्वी और पश्चिमी दोनो भागो का शासक था।

ऐसी परिस्थिति मे साम्राज्य-विभाजन का मत नही ठहरता। यह निश्चित है कि दशरथ और सप्रति दोनो अशोक के पौत्र थे। दोनो ने ही कुणाल की मृत्यु के

१ Asoka p. 70; J. B. O, R. S., 1930 p. 30.

पश्चात् ही शासन किया होगा। परन्तु यह स्पष्टतया नहीं कहा जा सकता कि पहले दशरथ ने राज्य किया अथवा सम्प्रति ने। ऊपर कहा जा चुका है कि सम्भवतः सम्प्रति कुणाल का सहयोगी शासक था। अतः कुणाल की मृत्यु के पश्चात् उसी को शासक होना चाहिए। जैन और बौद्ध साहित्य ने अन्धे कुणाल की उपेक्षा करके सीधे सम्प्रति को ही अशोक का उत्तराधिकारी बनाते हैं। परन्तु इसके विरुद्ध मत्स्य पुराण और विष्णु पुराण दशरथ को सम्प्रति का पूर्वगामी बताते है। ऐसी परिस्थिति में हम अधिक से अधिक यही कह सकते है कि अशोक के पश्चात् कुणाल हुआ और कुणाल के पश्चात् सम्प्रति अथवा दशरथ। हाँ, इतना निश्चित है कि एक के मरने के पश्चात् दूसरा शासक अवश्य हुआ होगा।

सम्प्रति और दशरथ के साथ अन्य नामों का समीकरण—डा० राय चौधरी का कथन है कि जैन और बौद्ध साहित्य के सम्प्रति का समीकरण पुराणों के सगत, और इन्द्रपालित के साथ करना चाहिए। इसी प्रकार इस विद्वान ने दशरथ और बन्धु-पालित को एक ही व्यक्ति माना है। परन्तु अधिक स्पष्ट साक्ष्यों के अभाव में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

शालिशूक—विष्णु पुराण के अनुसार सगत (सम्प्रति ?) के पश्चात् शालिशूक राजा हुआ। गार्गी संहिता में भी इस नरेश का उल्लेख आता है। इस ग्रन्थ के अनुसार शालिशूक अत्यन्त क्रूर और अत्याचारी शासक था। उसे धर्मवादी (धर्म का ढोंग करने वाला) अधार्मिक राजा कहा गया है।[1] सम्भवतः इसका समीकरण बृहस्पति से किया जा सकता है, क्योंकि दिव्यावदान के अनुसार बृहस्पति सम्प्रति का पुत्र था।

देववर्मन् और शतधनुस्—नामों की आंशिक समता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि देववर्मन् और सोमशर्मन् एक ही व्यक्ति थे। इसी आधार पर शतधनुस् और शतबन्धन का समीकरण किया जा सकता है।

बृहद्रथ—मौर्य-वंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था। पुराणों और हर्षचरित के अनुसार उसके सेनापति पुष्यमित्र ने उसकी हत्या कर डाली थी।

दिव्यावदान ने भूल से पुष्यमित्र को मौर्य-वंशावली में रक्खा है।

इस प्रकार १८४ ई० पू० के लगभग मौर्य राजवंश का अन्त हो गया।

मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारण

अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य-साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया और १८४ ई० पू० में मौर्य-राजवंश के हाथ से सदैव के लिए राजसत्ता जाती रही। अन्यान्य राजवंशों की भाँति मौर्य-वंश का पतन भी न आकस्मिक था और न किसी एक कारण से उद्भूत। बहुत दिनों से अनेकानेक कारण मौर्य-साम्राज्य को निर्बल बनाने में सहयोग दे रहे थे और एक दिन ऐसा आया जब उनके सम्मिलित प्रभावों से जर्जरित हुआ मौर्य-साम्राज्य धराशायी हो गया। ये कारण निम्न प्रकार थे—

(१) **राजतन्त्रात्मक शासन का चिरासन्न दोष**—राजतन्त्रात्मक शासन अपने स्थायित्व के लिए बहुत-कुछ राजा की व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर रहता है। शासन के समस्त अधिकारी विभाग और सूत्र मूलतः राजमुखापेक्षी होते हैं। राजा ही सम्पूर्ण साम्राज्य का केन्द्रबिन्दु होता है। उसी के चतुर्दिक राज्य के समस्त कार्य-कलाप होते

१ कर्न, बृहत्संहिता पृ० ३७

हैं। परिणाम यह होता है कि केन्द्ररूप 'राजा' जब तक सुस्थिर, सुदृढ़ और सुनिश्चित होता है तब तक शासन-चक्र निर्बाधरूप से चलता रहता है। परन्तु जैसे ही केन्द्र अशक्त, अस्थिर और निश्चित हो जाता है वैसे ही उससे शक्ति ग्रहण करने वाले तथा उसके चतुर्दिक घूमने वाले अवयव भी अनियमित और अशक्त हो जाते है। यही कारण है कि राजतन्त्रात्मक शासन की स्थिरता अथवा अस्थिरता राजा की व्यक्तिगत योग्यता अथवा अयोग्यता पर ही निर्भर रहती है। मौर्य-साम्राज्य के साथ भी यही हुआ। अशोक के समय तक मौर्य शासक सुयोग्य और शक्तिशाली रहे। अतः उसके व्यक्तिगत सरक्षण और निरीक्षण में सम्पूर्ण सुचारु-रूप से चलता रहा। परन्तु अशोक के पश्चात कोई भी मौर्य-शासक उतना सुयोग्य और शक्तिशाली न हुआ। अत. केन्द्रीय शासन निर्बल और अयोग्य हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सपूर्ण साम्राज्य के सूत्र ढीले होने लगे और धीरे-धीरे वे खण्डित होने लगे। अशोक के उत्तराधिकारियो के व्यक्तित्व मे वह आकर्षण न था जो पदाधिकारियो को प्रेरणा दे सकता, जनता को कल्पना दे सकता और शासन-यन्त्र को शक्ति दे सकता।

(२) केन्द्रीय शासन की निर्बलता—अशोक के उत्तराधिकारियो की अयोग्यता के कारण केन्द्रीय शासन निर्बल हो गया। इस निर्बलता से लाभ उठाकर मौर्य-साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित करनी प्रारभ कर दी। राजतरगिनी का कथन है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात उसके एक पुत्र जलौक ने काश्मीर मे अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। तारानाथ के साक्ष्य से प्रकट होता है कि वीरसेन नामक एक अन्य राजपुत्र ने गान्धार पर शासन स्थापित कर लिया था। मालविकाग्निमित्र से प्रकट होता है कि विदर्भ स्वतन्त्र हो गया था।

(३) प्रान्तीय शासको का अत्याचार—ऐसा प्रकट होता है कि मौर्य-साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशो का शासन सन्तोषजनक न था। बहुधा उनके शासक प्रजा का उत्पीड़न करते थे। समय-समय पर अपने शासको के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर प्रान्तीय प्रजा ने विद्रोह भी किए थे। दिव्यावदान मे इस प्रकार के दो विद्रोहों का उल्लेख है। बिन्दुसार के आसमय में तक्षशिला मे प्रथम विद्रोह हुआ। उसे शान्त करने के लिए जब अशोक तक्षशिला पहुँचा तो प्रजा ने उससे कहा कि 'न हम कुमार के विरुद्ध है और न राजा बिन्दुसार के। परन्तु दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते है।'[१] स्पष्ट है कि यह विद्रोह प्रान्तीय अमात्यो की दुष्टता के कारण हुआ था। इसी प्रकार का तक्षशिला मे दूसरा विद्रोह अशोक के समय में हुआ था। इसका कारण भी प्रान्तीय शासकों का अत्याचार था।

प्रान्तीय शासको की अत्याचारपूर्ण मनोवृत्ति का सकेत हमे अशोक के कलिग-अभिलेख से भी मिलता है। उसमें अशोक अपने प्रान्तीय पदाधिकारियो के विरुद्ध यह आरोप लगाता है कि वे बहुधा अकारण ही जनता को बन्दी बनाते अथवा उत्पीडित करते हैं। उसी अभिलेख मे अशोक ने अपने प्रान्तीय पदाधिकारियो को चेतावनी दी कि वे ऐसा न करें और उसकी प्रजा को उसकी सन्तान समझें। इस भय से कि कहीं चेतावनी देने के बावजूद भी प्रान्तीय शासक जनता का उत्पीडन न करते रहे, अशोक ने विशेषाधिकारियो द्वारा प्रति पाँचवे वर्ष प्रान्तीय दौरे की योजना घोषित की थी। इस अभिलेख में तक्षशिला और उज्जैन का उल्लेख हुआ है। ये नगर दो सुदूरवर्ती प्रान्तो की राजधानी थे। परन्तु अनुमान यह होता है कि अन्यान्य सुदूर-

१ 'न वयं कुमारस्य विरुद्धम्। नापि राज्ञः बिन्दुसारस्य।
अपितु दुष्टामात्याः अस्माकं परिभवं कुर्वन्ति।'

वर्ती प्रदेशों की दशा भी ऐसी ही असन्तोषजनक रही होगी। प्रान्तीय शासकों की अत्याचारपूर्ण नीति ने वहाँ की जनता के हृदय में मौर्य-साम्राज्य के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। परिणाम यह हुआ कि अशोक की मृत्यु के पश्चात जैसे ही उन्हें अवसर मिला वैसे ही वे मौर्य-साम्राज्य से पृथक हो गए। अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने वाले प्रदेशों में तक्षशिला, कलिंग और उज्जैन के राज्य ही प्रथम थे। इन्ही प्रान्तीय राज्यों का शासन सबसे अधिक अत्याचारपूर्ण था।

(४) राजाओं का अत्याचार—प्रान्तीय शासको के अतिरिक्त अशोक के उत्तराधिकारियों में कुछ राजा ऐसे भी हुए जो स्वय अत्याचारी थे। उदाहरणार्थ गार्गी सहिता का साक्ष्य है कि मौर्य-सम्राट शालिशूक स्वय अधार्मिक एवं अत्याचारी शासक था। उसने अपनी प्रजा का घोर उत्पीड़न किया था।[१]

(५) राजसभा में गुटबन्दी—ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यों की राजसभा में बहुधा गुटबन्दी रहती थी। अपने व्यक्तिगत राग-द्वेष के कारण राज्य के मन्त्री और उच्च पदाधिकारी बहुधा राष्ट्रीय उद्देश्य को भूल जाते थे। उनके सकीर्ण दृष्टिकोण से बहुधा विकट परिस्थिति उत्पन्न हो जाती थी। हमारे समक्ष अशोक के उत्तराधिकार का उदाहरण है। पीछे बताया जा चुका है कि इस प्रश्न को ले कर राजसभा में दो दल बन गए थे। उनके षड्यन्त्रो ने गृह-युद्ध को और भी प्रोत्साहित और त्वरित किया। दूसरा उदाहरण बृहद्रथ के काल का है। मालविकाग्निमित्र से अनुमान होता है कि इस समय राजसभा में दो दल अपनी-अपनी महत्ता स्थापित करने के लिए निरन्तर खीचातानी कर रहे थे। एक दल सेनापति का पक्षपाती था और दूसरा सचिव का। स्पष्ट है कि राजसभा की इन गुटबन्दियों ने राजसत्ता को शिथिल, विवश, सकटग्रस्त और अनादृत कर दिया था।

(६) करो की अधिकता—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे जिस शासन-व्यवस्था का प्रतिपादन किया है उसमे करो की अधिकता है। यद्यपि यह सम्भव है कि अर्थशास्त्र में उल्लिखित समस्त कर प्रजा पर कभी भी न लगाये गए हो परन्तु कम से कम उनसे मौर्य-व्यवस्था की आधार-भूत भावना का तो आभास मिलता ही है। निश्चितरूप से यह भावना उपलब्ध साधनो से राजकोष को अधिक से अधिक भरने की थी। यह भी सम्भव है कि इस भावना से प्रेरित हो कर मौर्यो ने प्रजा के ऊपर जो कर लगाये हो उनका भार दुर्वह रहा हो और वे प्रजा मे असन्तोष का कारण बन गए हो।

पतजलि के महाभाष्य से प्रकट होता है कि धन-सग्रह के लिए मौर्यो ने जो साधन अपनाये थे वे सदैव श्लाघ्य न थे। उदाहरणार्थ, वे मूर्तियो को बनवा-बनवा कर बेचते अथवा पूजा के लिए स्थापित करते थे। इस प्रकार जनता की श्रद्धा-भक्ति को जाग्रत करके वे मूर्तियो के द्वारा धन बटोरते थे।

चन्द्रगुप्त मौर्य को नन्दो, पजाब के यूनानियो तथा आक्रमणकारी सेल्यूकस से युद्ध करने पडे थे। इसके पश्चात उसकी साम्राज्य-स्थापना भी चतुर्दिक युद्धो के परिणाम-स्वरूप हुई। स्पष्ट है कि अपनी विशाल सेना के सगठन करने, रखने और बहुसख्यक युद्ध करने में उसे अपार धन-राशि खर्च करनी पडी थी। इसके अतिरिक्त उसने नव सस्थापित राजवश और साम्राज्य की सरक्षा के लिए जो उपाय (Security measures) निकाले थे वे भी व्ययात्मक थे। इन विविध व्ययो की पूर्ति के लिए चन्द्रगुप्त ने यदि अतिमख्यक कर लगाये हो अथवा विविध उपायों से धन-सग्रह किया

१ स राष्ट्रमर्दते घोरं धर्मवादि अधार्मिकः।

हो तो कोई आश्चर्य की बात नही। अन्ततोगत्वा करो का भार प्रजा पर ही पडा था। अतः यदि उसे ये कर कष्टकर प्रतीत होते हो तो नितान्त स्वाभाविक ही है। हमारा अनुमान है कि मौर्यों के धन-सग्रह ने जनता में असन्तोष उत्पन्न किया होगा।

(७) कोष की रिक्तता—ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के महान धर्म-प्रचार से राजकोष रिक्त हो चला था। लोकोपकारिता के कार्यों, स्तूपों, विहारो, शिला-लेखो, स्तम्भ लेखो आदि के निर्माण एव विदेशो में धर्म-प्रचार के कार्यों में अशोक को विपुल धन-राशि व्यय करनी पडी थी। पुनः वह समय-समय पर बौद्धसघ को मुक्त-हस्त होकर दान दिया करता था। इन सब कार्यों ने राजकोष को भारी क्षति पहुँचाई थी। 'राजाओ की शक्ति कोष पर ही आश्रित है'—इस तथ्य को समझने वाले अमात्यो को चिन्ता हुई। अशोकावदान का कथन है कि एक बार अशोक कुक्कुटा-राम विहार को धन-दान देना चाहता था, परन्तु अमात्यो ने युवराज सम्प्रति को समझा कर यह दान रुकवा दिया। राजकोष की चिन्ताजनक अवस्था से व्यग्र होकर ही अमात्यों ने यह कार्य करवाया होगा।

अशोक के उत्तराधिकारियो के समय में अनेकानेक प्रान्तो के निकल जाने से राज-कोष की आय और भी कम हो गई। भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर एव पश्चिमी प्रदेश व्यापारिक मार्गों पर नियत्रण रखते थे। इनके स्वतन्त्र हो जाने से पाटलिपुत्र का इनके साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। परिणामत व्यापार को भारी धक्का लगा और इसका दुष्प्रभाव राजकोष पर पडे बिना न रह सकता था। धनाभाव मे साम्राज्य की सरक्षा और स्थिरता कैसे सम्भव हो सकती थी ?

(८) सैनिक शक्ति का ह्रास—अशोक की अहिंसात्मक एव धर्म-प्रचारात्मक नीति ने साम्राज्य की सैनिक शक्ति को नितान्त क्षीण कर दिया था। अशोक के समय तक अहिंसा की फिलासफी का इतना विकास न हुआ था कि देश-सरक्षा के प्रबल अस्त्र के रूप में राजतन्त्र उसका प्रयोग कर सकता। अहिंसा व्यक्ति के लिए व्यावहारिक हो सकती थी, परन्तु राज्य के लिए नही। भारत के पश्चिमोत्तर मे बर्बर जातियाँ आक्रमण की ताक मे खडी थी। भारत के भीतर दूरस्थ प्रदेश अपनी स्वतत्रता घोषित करने की योजनाएँ बना रहे थे। ऐसे समय में देश को एक विशाल एव सगठित सेना की आवश्यकता थी। परतु अशोक इस आवश्यकता के प्रति नितान्त निरपेक्ष था। साम्राज्य की समस्त शक्तियाँ धर्म-प्रचार में लगी थी। 'बुद्ध शरण गच्छामि' के विपुल उद्घोषो से आकाश गूंज रहा था। उन उद्घोषो के कारण सीमा-प्रदेश पर बैठे बैरियो की रण-भेरी कैसे सुनाई देती। देश को सैनिको और सेनानायको की आवश्यकता थी। परतु दुर्भाग्य से मिले उसे भिक्षु और प्रचारक। कमण्डल से शान्ति का अभि-षेक हो सकता था, देश की रक्षा नही। अपने अस्तित्व को खतरे में डाल कर विश्व-बन्धुत्व की स्थापना का प्रयास एक नूतन प्रयोग था। इसे देख कर महापण्डित चाणक्य और दुर्धर्ष विजेता चन्द्रगुप्त की आत्मा विक्षुब्ध हो उठी होगी।

अशोक की इस नीति का भारी दुष्परिणाम हुआ। देश-विदेश में धर्म-प्रचार हुआ और उदात्त सिद्धान्तो का प्रतिपादन भी। परतु मौर्य-साम्राज्य की सरक्षा न हो सकी। जिस समय विदेशी आक्रमण हुआ उस समय तक सिकन्दर के दाँत खट्टे करने वाले तथा सेल्यूकस को पराजित करने वाले भारतीय सैनिको की तलवारो की धार कुण्ठित हो चुकी थी। जिस समय साम्राज्य मे प्रान्तीय विद्रोह हुए उस समय तक उनका दमन करने वाले सेनानायक कदाचित बौद्ध संघ में प्रविष्ट हो चुके थे। ह्राउ ह्रानशू नामक चीनी का कथन है कि भारतीय 'बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं; हिंसा न करना

और युद्ध न करना उनका स्वभाव हो गया है।' यह स्वभाव-परिवर्तन अशोक के महान धर्म-प्रचार का परिणाम था। स्वय अशोक की ही गर्वोक्ति है कि धर्म-घोष ने भेरी-घोष को बन्द कर दिया था। बौद्ध सम्राट ने स्वय तो अहिंसात्मक नीति अपनाई ही, साथ में अपने पुत्र-पौत्रों को भी उसी नीति का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित किया। उसके प्रोत्साहन का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। कम से कम गार्गी सहिता के कथनानुसार हमारे सम्मुख अशोक के एक उत्तराधिकारी शालिशूक का उदाहरण है। इसने भी अशोक के समान धर्म-विजय का नारा बुलद किया था।[1]

अशोक महान था, इसमे कोई संदेह नही। परन्तु साथ ही साथ उसकी उदात्त नीति मौर्य-साम्राज्य के पतन का कारण भी हुई।

(९) विदेशीय आक्रमण—उपर्युक्त कारणो ने मौर्य-साम्राज्य की नीव को खोखला कर दिया था। अत यदि विदेशीय आक्रमण न भी हुए होते तो भी मौर्य-साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी था। यवनो के आक्रमणो ने तो इस साम्राज्य को पूर्णत धराशायी होने मे योगमात्र दिया था। सर्वप्रथम यूनानी आक्रमण २०६ ई० पू० का था। परन्तु मौर्य-साम्राज्य का पतन तो इसके पूर्व ही प्रारभ हो गया था।

(१०) ब्राह्मण-प्रतिक्रिया—महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने यह मत प्रतिपादित किया था कि अशोक की बौद्ध नीति से क्षुब्ध ब्राह्मणो मे प्रतिक्रिया हुई थी और उसी प्रतिक्रिया ने मौर्य-साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया था।[2]

डा० राय चौधरी ने इस मत का खण्डन किया है और यह दिखाने की चेष्टा की है कि न तो ब्राह्मण-प्रतिक्रिया हुई और न मौर्य-साम्राज्य के पतन मे उनका कोई सबध था।[3]

परन्तु दोनो ही मत अतिवादी है और वास्तविकता दोनो के बीच मे है।

प० शास्त्री के मत के विरुद्ध निम्नलिखित बातें कही जा सकती है—

(१) अशोक शूद्र न था। अत जाति के आधार पर ब्राह्मणो का उससे कोई द्वेष न था।

(२) अशोक का अहिसा-प्रचार कोई नवीन कार्य न था। स्वय ब्राह्मण-ग्रन्थो मे भी हिंसात्मक यज्ञो को हतोत्साह किया गया है।[4]

(३) अशोक के लघु शिलालेख मे निम्नलिखित शब्द मिलते है—'ये इमाय कालाय जम्बुदिपसि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा'।

प० शास्त्री ने यह अर्थ लगाया है कि ब्राह्मण जो कि इस लोक मे देवता (भूदेव) समझे जाते थे उन्हे अशोक ने झूठा सिद्ध कर दिया।

वस्तुत यह अर्थ सेनार्ट महोदय का था। परन्तु लेवी महोदय ने इसका खण्डन किया है। उनके अनुसार 'अमिसा' शब्द सस्कृत का 'अमृषा' (सच्चे) नही हैं। स्वयं

१ स्यात्पयिष्यति मोहात्मा विजय नाम धार्मिकम।
इस संबन्ध में देखिये—JBORS IV p. 261;
Calcutta Review, Feb 1943 p. 123, April 1943 p 39; Feb. 1949, p. 79

२ JASB 1910, 259 . . .

३ PHAI p 354. . . . .

४ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तं अवरं येषु कर्म
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति—
मुण्डक १. २. ७

अशोक के भाब्रू अभिलेख से प्रकट होता है कि संस्कृत के 'अमृषा' शब्द के लिए 'अमुसा' और 'मृषा' शब्द के लिए 'मुसा' शब्दों का प्रयोग होना चाहिए। वस्तुतः अशोक के अभिलेख मे प्रयुक्त 'मिसा' शब्द से सस्कृत का 'मिश्रा' (मिले हुए) और 'अमिसा' से 'अमिश्रा' (जो न मिले हों) शब्दो का अर्थ लगाना चाहिए। इस प्रकार अभिलेख के उपर्युक्त उद्धरण का अर्थ यह हुआ कि 'उस समय तक भारतवर्ष के जो लोग देवताओ से नहीं मिले थे वे उनसे मिला दिये गए।'

अत इस उद्धरण में ब्राह्मणो के विरुद्ध एक शब्द भी नही है।

(४) प० शास्त्री का कथन है कि अशोक ने धर्म-महामात्रो की नियुक्ति की थी। ये जनता मे सदाचारिता के प्रचारक थे। परन्तु यह कार्य तो ब्राह्मणों का था। अत ब्राह्मण अशोक से असन्तुष्ट हो गए।

परन्तु सदाचारिता-प्रचार के साथ-साथ महामात्रों के अन्यान्य कार्य भी थे, यथा—राजवशीयों के दानो की व्यवस्था एव उनका उपयुक्त वितरण, यवनो, कम्बोजों, गान्धारो, ब्राह्मणो आदि के कल्याण की चेष्टा करना अपराधिया को दिए गए दण्डों की उपयुक्तता की जाँच करना और आवश्यकता पडने पर उनमे कमी करना, इत्यादि। इसके अतिरिक्त, यह भी नही कहा जा सकता कि अशोक के महामात्र सदैव अब्राह्मण ही होते थे।

(५) प० शास्त्री का कथन है कि अशोक ने एक नये अधिनियम से ब्राह्मण-जाति के विशेषाधिकार छीन लिये और चतुर्वर्णों मे 'दड-समता' (equality of punishment) और 'व्यवहार-समता' (equality in law suits) की प्रतिष्ठा की।

परन्तु पाँचवे स्तम्भ-लेख को देखने से प्रकट होता है कि अशोक का मन्तव्य यह था कि उसके समस्त 'राजुक' एक निश्चित प्रणाली और नियम के आधार पर दण्ड दें और व्यवहार (legal procedure) करें। उसे भय था कि कही ऐसा न हो कि एक अपराध के लिए एक राजुक एक दण्ड दे और उसी अपराध के लिए दूसरा राजुक कुछ दूसरा दण्ड। इसी से अशोक दण्ड और व्यवहार में समता (uniformity) के लिए उत्सुक था। इस अभिलेख मे कही पर ब्राह्मणो के विरुद्ध कोई बात नही है।

परन्तु इतना होते हुए भी डा० रायचौधरी का यह मत स्वीकार नही किया जा सकता कि मौर्य-साम्राज्य के पतन से ब्राह्मणो का कोई सम्बन्ध ही न था। पीछे कहा जा चुका है कि वैदिक काल से ही ब्राह्मणो और क्षत्रियों मे सामाजिक प्रभुता के लिए निरतर सघर्ष चल रहा था। ६०० ई० पू० मे दो क्षत्रिय राजवशो के नेतृत्व में ब्राह्मण-धर्म की प्रभुता के विरुद्ध विद्रोह हुआ। इस नवीन संकट का सामना करने के लिए ब्राह्मणो ने अपनी व्यवस्था का पुन. सगठन किया जिसमे चतुर्वर्णों में ब्राह्मण-वर्ण को सर्वोपरि स्थान दिया गया और क्षत्रियो द्वारा सस्थापित नवीन धर्मों की निवृत्ति-मार्गी विचारधारा के विरुद्ध प्रवृत्तिमूलक गृहस्थाश्रम को प्रधानता दी गई। सूत्र-साहित्य ब्राह्मणों के इसी पुन. सगठन का परिणाम था।

ब्राह्मण-व्यवस्था के प्रबल पोषक कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी ब्राह्मणों की सर्वोपरि मान्यता की योजना है। उसने भी बौद्ध भिक्षुओ के प्रचार पर अनेकानेक नियन्त्रण लगाये थे।

अशोक क्षत्रिय था और साथ में महान बौद्ध-प्रचारक भी। अत. पृष्ठभूमि को देखते हुए यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि उसके शासन-काल में ब्राह्मण-क्षत्रिय-

और युद्ध न करना उनका स्वभाव हो गया है।' यह स्वभाव-परिवर्तन अशोक के महान धर्म-प्रचार का परिणाम था। स्वयं अशोक की ही गर्वोक्ति है कि धर्म-घोष ने भेरी-घोष को बन्द कर दिया था। बौद्ध सम्राट ने स्वयं तो अहिंसात्मक नीति अपनाई ही, साथ मे अपने पुत्र-पौत्रो को भी उसी नीति का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित किया। उसके प्रोत्साहन का प्रभाव अवश्य पडा होगा। कम से कम गार्गी संहिता के कथनानुसार हमारे सम्मुख अशोक के एक उत्तराधिकारी शालिशूक का उदाहरण है। इसने भी अशोक के समान धर्म-विजय का नारा बुलंद किया था।[१]

अशोक महान था, इसमे कोई संदेह नही। परन्तु साथ ही साथ उसकी उदात्त नीति मौर्य-साम्राज्य के पतन का कारण भी हुई।

(९) विदेशीय आक्रमण—उपर्युक्त कारणो ने मौर्य-साम्राज्य की नींव को खोखला कर दिया था। अत. यदि विदेशीय आक्रमण न भी हुए होते तो भी मौर्य-साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी था। यवनो के आक्रमणो ने तो इस साम्राज्य को पूर्णत धराशायी होने मे योगमात्र दिया था। सर्वप्रथम यूनानी आक्रमण २०६ ई० पू० का था। परन्तु मौर्य-साम्राज्य का पतन तो इसके पूर्व ही प्रारंभ हो गया था।

(१०) ब्राह्मण-प्रतिक्रिया—महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने यह मत प्रतिपादित किया था कि अशोक की बौद्ध नीति से क्षुब्ध ब्राह्मणो मे प्रतिक्रिया हुई थी और उसी प्रतिक्रिया ने मौर्य-साम्राज्य को ध्वस्त कर दिया था।[२]

डा० राय चौधरी ने इस मत का खण्डन किया है और यह दिखाने की चेष्टा की है कि न तो ब्राह्मण-प्रतिक्रिया हुई और न मौर्य-साम्राज्य के पतन मे उनका कोई संबंध था।[३]

परन्तु दोनो ही मत अतिवादी है और वास्तविकता दोनो के बीच मे है।

प० शास्त्री के मत के विरुद्ध निम्नलिखित बाते कही जा सकती है—

(१) अशोक शूद्र न था। अत जाति के आधार पर ब्राह्मणो को उससे कोई द्वेष न था।

(२) अशोक का अहिंसा-प्रचार कोई नवीन कार्य न था। स्वयं ब्राह्मण-ग्रन्थो में भी हिंसात्मक यज्ञो को हतोत्साह किया गया है।[४]

(३) अशोक के लघु शिलालेख मे निम्नलिखित शब्द मिलते है—'ये इमाय कालाय जम्बुदिपसि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा'।

प० शास्त्री ने यह अर्थ लगाया है कि ब्राह्मण जो कि इस लोक मे देवता (भूदेव) समझे जाते थे उन्हे अशोक ने झूठा सिद्ध कर दिया।

वस्तुत. यह अर्थ सेनार्ट महोदय का था। परन्तु लेवी महोदय ने इसका खण्डन किया है। उनके अनुसार 'अमिसा' शब्द संस्कृत का 'अमृषा' (सच्चे) नहीं है। स्वयं

१ स्थापयिष्यति मोहात्मा विजय नाम धार्मिकम।
इस संबन्ध में देखिये—JBORS. IV p. 261,
Calcutta Review, Feb. 1943 p. 123, April 1943 p. 39; Feb. 1949. p. 79

२ JASB 1910, 259. . . .

३ PHAI p. 354. . . . .

४ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तं अवरं येषु कर्म
एतच्छ्रे यो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्यूं ते पुनरेवापि यान्ति—
मुण्डक १. २. ७

अशोक के भाब्रू अभिलेख से प्रकट होता है कि संस्कृत के 'अमृषा' शब्द के लिए 'अमुसा' और 'मृषा' शब्द के लिए 'मुसा' शब्दो का प्रयोग होना चाहिए। वस्तुतः अशोक के अभिलेख में प्रयुक्त 'मिसा' शब्द से संस्कृत का 'मिश्रा' (मिले हुए) और 'अमिसा' से 'अमिश्रा' (जो न मिले हो) शब्दो का अर्थ लगाना चाहिए। इस प्रकार अभिलेख के उपर्युक्त उद्धरण का अर्थ यह हुआ कि 'उस समय तक भारतवर्ष के जो लोग देवताओ से नही मिले थे वे उनसे मिला दिये गए।'

अत इस उद्धरण में ब्राह्मणों के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं है।

(४) प० शास्त्री का कथन है कि अशोक ने धर्म-महामात्रो की नियुक्ति की थी। ये जनता मे सदाचारिता के प्रचारक थे। परन्तु यह कार्य तो ब्राह्मणों का था। अत. ब्राह्मण अशोक से असन्तुष्ट हो गए।

परन्तु सदाचारिता-प्रचार के साथ-साथ महामात्रों के अन्यान्य कार्य भी थे, यथा—राजवशीयो के दानो की व्यवस्था एव उनका उपयुक्त वितरण, यवनो, कम्बोजों, गान्धारो, ब्राह्मणो आदि के कल्याण की चेष्टा करना अपराधियो को दिए गए दण्डों की उपयुक्तता की जाँच करना और आवश्यकता पडने पर उनमें कमी करना, इत्यादि। इसके अतिरिक्त, यह भी नही कहा जा सकता कि अशोक के महामात्र सदैव अब्राह्मण ही होते थे।

(५) प० शास्त्री का कथन है कि अशोक ने एक नये अधिनियम से ब्राह्मण-जाति के विशेषाधिकार छीन लिये और चतुर्वर्णों में 'दड-समता' (equality of punishment) और 'व्यवहार-समता' (equality in law suits) की प्रतिष्ठा की।

परन्तु पाँचवें स्तम्भ-लेख को देखने से प्रकट होता है कि अशोक का मन्तव्य यह था कि उसके समस्त 'राजुक' एक निश्चित प्रणाली और नियम के आधार पर दण्ड दें और व्यवहार (legal procedure) करे। उसे भय था कि कहीं ऐसा न हो कि एक अपराध के लिए एक राजुक एक दण्ड दे और उसी अपराध के लिए दूसरा राजुक कुछ दूसरा दण्ड। इसी से अशोक दण्ड और व्यवहार में समता (uniformity) के लिए उत्सुक था। इस अभिलेख में कहीं पर ब्राह्मणो के विरुद्ध कोई बात नही है।

परन्तु इतना होते हुए भी डा० रायचौधरी का यह मत स्वीकार नही किया जा सकता कि मौर्य-साम्राज्य के पतन से ब्राह्मणो का कोई सम्बन्ध ही न था। पीछे कहा जा चुका है कि वैदिक काल से ही ब्राह्मणो और क्षत्रियो में सामाजिक प्रभुता के लिए निरतर सघर्ष चल रहा था। ६०० ई० पू० मे दो क्षत्रिय राजवशों के नेतृत्व में ब्राह्मण-धर्म की प्रभुता के विरुद्ध विद्रोह हुआ। इस नवीन सकट का सामना करने के लिए ब्राह्मणो ने अपनी व्यवस्था का पुन सगठन किया जिसमें चतुर्वर्णों में ब्राह्मण-वर्ण को सर्वोपरि स्थान दिया गया और क्षत्रियो द्वारा सस्थापित नवीन धर्मों की निवृत्ति-मार्गी विचारधारा के विरुद्ध प्रवृत्तिमूलक गृहस्थाश्रम को प्रधानता दी गई। सूत्र-साहित्य ब्राह्मणो के इसी पुन सगठन का परिणाम था।

ब्राह्मण-व्यवस्था के प्रबल पोषक कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी ब्राह्मणों की सर्वोपरि मान्यता की योजना है। उसने भी बौद्ध भिक्षुओ के प्रचार पर अनेकानेक नियन्त्रण लगाये थे।

अशोक क्षत्रिय था और साथ मे महान बौद्ध-प्रचारक भी। अत. पृष्ठभूमि को देखते हुए यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि उसके शासन-काल में ब्राह्मण-क्षत्रिय-

संघर्ष तथा ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म का पारस्परिक वैमनस्य हो गया होगा। अशोक ने ब्राह्मणो के विरुद्ध कोई कार्य नही किया। परन्तु उसकी नीति ने ब्राह्मण-व्यवसाय की चिर-मान्यताओ को धक्का अवश्य पहुँचाया। यो तो ब्राह्मण-ग्रन्थो मे भी यत्र-तत्र वर्ण-निर्विशेषता का प्रतिपादन मिलता है, परन्तु उसे अपवाद ही समझना चाहिए। ब्राह्मण-धर्म प्रमुखतया चतुर्वर्ण-व्यवस्था और चतुराश्रम-व्यवस्था पर आधारित था। इन व्यवस्थाओ के अन्तर्गत ब्राह्मण-वर्ण और गृहस्थ-आश्रम को सर्वोपरि मान्यता दी गई थी। राजा का यह प्रधान कर्त्तव्य था कि वह इन व्यवस्थाओ को प्रतिष्ठित रखे। अशोक की मनोवृत्ति न ब्राह्मणो की श्रेष्ठता को स्वीकार करती थी और न गृहस्थ जीवन की अनिवार्यता को। उसने जिस निर्विशेष नीति का अनुसरण किया था उसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण और श्रमण को तथा प्रवृत्तिमार्ग एव निवृत्ति-मार्ग को समान पद मिला। ब्राह्मणो को यह स्वीकार न था। इस समय तक ब्राह्मणों और श्रमणो का विरोध शाश्वतिक हो गया होगा।

अशोक ने जिस अहिंसात्मक नीति का अवलम्ब लिया था उससे राष्ट्र की सरक्षा खतरे में पड गई थी। क्षत्रियो को राजदण्ड का परित्याग कर धर्म-प्रचार करते हुए देख कर ब्राह्मण-वर्ण अवश्य ही क्षुब्ध हो उठा होगा। ब्राह्मण व्यवस्थाकार थे। अत राष्ट्र को अव्यवस्थित होते देख कर उनका सचिन्त होना स्वाभाविक था।

इस प्रकार अशोक के समय मे ब्राह्मणो और क्षत्रियों का सघर्ष जाति का ही सघर्ष न था, वरन वह नीति और सिद्धान्त का भी सघर्ष था। अशोक क्षत्रिय था। वह वर्णाश्रम-विहीन समाज की स्थापना मे कोई दोष न समझता था। वह बौद्ध था और प्रवृत्तिमार्ग को अनिवार्य न मानता था। वह अहिंसावादी था और राजनीति में भी अहिंसा का प्रयोग करना चाहता था। ब्राह्मण-व्यवस्थाकारों की दृष्टि मे ये सारी बाते विधर्म थी, विनाशक थी। अत उनमे प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। इस पृष्ठभूमि पर जब हम देखते है कि एक ब्राह्मण सेनापति ने अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की सम्पूर्ण सेना के सामने ही हत्या कर दी थी तो हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले बिना नही रह सकते—

(१) अशोक की नीति से ब्राह्मण-प्रतिक्रिया हुई। वह उत्तरोत्तर बढती गई।

(२) शासक क्षत्रियो को अहिंसावादी होते देख कर राष्ट्र की सरक्षा के लिए ब्राह्मणो ने एक बार फिर शस्त्र ग्रहण किए।

(३) सम्पूर्ण सेना अहिंसात्मक नीति से तग आ गई थी। वह ब्राह्मण सेनापति के साथ हो गई थी।

(४) सम्भवत. मौर्य-सेना मे बहुसख्यक ब्राह्मण भी भर्ती हो गए थे। वे भी प्रज्ञादुर्बल मौर्य शासक बृहद्रथ का अन्त करने के लिए ब्राह्मण सेनापति का साथ दे रहे थे।

२४

मौर्यकालीन भारत

मौर्यकालीन भारत की अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास तीन प्रमुख साधन है—(१) मेगस्थनीज का वर्णन, (२) अर्थशास्त्र और (३) अशोक के अभिलेख। यहाँ हम तीनो साधनो का उपयोग करेंगे।

वर्ण-व्यवस्था—अशोक के पाँचवे शिलालेख के अनुसार उस समय समाज में अनेक वर्ण विद्यमान थे। इसी शिलालेख का कथन है कि "महामात्र, भिक्षुओ ब्राह्मणो, इभ्यो और गृहस्थियो अनाथो तथा धर्मगामियो की सुरक्षा तथा सुख के लिए नियुक्त किए गए है।" इसमे स्पष्ट है कि समाज अनेक वर्णों में विभाजित था। ब्राह्मण-वर्ग का समाज मे अधिक आदर था। तृतीय शिलालेख में अशोक का कहना है कि "ब्राह्मणो और श्रमणो की सेवा करना उत्तम है"। इभ्य का अर्थ गृहपति (वैश्य) कहा गया है। इस वर्ग का भी समाज मे काफी सम्मान था। यह वर्ग अधिकाशत व्यापार आदि से सम्बन्धित था। क्षत्रियो के सबध मे अशोक के शिलालेखो में उल्लेख नही मिलता है। परन्तु यह मानना ही होगा कि क्षत्रिय समाज मे एक आवश्यक तथा माननीय स्थान रखते थे। वे अधिकाश शासक अथवा सैनिक होते थे। अशोक स्वय एक क्षत्रिय शासक था। शूद्र वर्ग पूर्णतया अवस्थित वर्ग न था। इस वर्ग मे भृत्य तथा दास सम्मिलित थे। इस वर्ग का समाज मे हीन स्थान था जिसके कारण अशोक को बारबार इनके प्रति अच्छा व्यवहार करने का आदेश देना पडा। यद्यपि समाज मे यह धारणा कि शूद्र अछूत है बढ रही थी, परन्तु यह सीमा तक न पहुँची थी।

रीति—अर्थशास्त्र मे चारो वर्णों और उनके वर्णविहित कर्तव्यो का उल्लेख है। मेगस्थनीज ने इन्ही वर्णों को भूल से ७ जातियो मे विभक्त कर दिया है। मेगस्थनीज के वर्णन से प्रकट होता है कि अन्तर्जातीय विवाह और अन्न-पान निषिद्ध थे। परन्तु वास्तविक रूप मे ये समाज में प्रचलित थे जैसा कि अर्थशास्त्र के चित्रण से प्रकट होता है। समाज में ब्राह्मण सबसे अधिक सम्मान्य थे। इसकी पुष्टि तीनो साक्ष्यो मे होती है, यद्यपि अशोक ने ब्राह्मणो के साथ श्रमणो को भी समान प्रतिष्ठा दी है।

विवाह—बारह वर्ष की अवस्था प्राप्त होने पर कन्या और सोलह वर्ष प्राप्त होने पर युवा विवाह योग्य समझे जाते थे और तब विवाह हो सकता था। कौटिल्य ने आठ प्रकार के विवाहो का उल्लेख किया है। अन्तिम चार विवाह (गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच) अधार्मिक समझे जाते थे। मेगस्थनीज ने आर्ष विवाह का उल्लेख किया है जिसमें पिता एक जोडी बैल के बदले में अपनी पुत्री का विवाह करता था। आगे वह कहता है कि विवाह का एक ध्येय बहुसख्यक पुत्र-प्राप्ति था। यह

सम्भवत प्राजापत्य-विवाह की भावना थी। सिकन्दर के पूर्व एरिस्टोब्यूलस ने 'ग्रासुर' विवाह का भी उल्लेख किया था। उसने एक निर्धन पिता को तक्षशिला में अपनी कन्या को बेचते हुए देखा था। नियार्कस ने तो विवाह की स्वयम्वर-रीति का भी एक प्रकार से उल्लेख किया है जिसमे प्रतियागिता मे विजय प्राप्त करने वाले व्यक्ति को कन्या दी जाती थी। परन्तु अशोक के अभिलेखो मे इन विवाह-प्रणालियो का कोई उल्लेख नही आता।

समाज मे बहुविवाह प्रचलित थे। स्वय अशोक के अभिलेख उसकी अनेक पत्नियो का उल्लेख करते है। मेगस्थनीज ने भारतीयो के विषय मे लिखा है वे बहुत सी स्त्रियो से विवाह करते थे। उसके अनुसार विवाह के तीन उद्देश्य थे —(१) सहधर्मिणी प्राप्त करने के लिए (२) भोग के लिए (३) बहुसख्यक सन्तान प्राप्त करने के लिए। अर्थशास्त्र का भी उल्लेख है कि 'पुरुष कितन[illegible] ही स्त्रियो से विवाह कर सकता है। स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही है[illegible] पुरुष के पुनर्विवाह के लिए चाणक्य ने ३ प्रमुख शर्तें रखी थी—(१) यदि प[illegible] ८ वर्ष तक सन्तान न हुई हो (२) यदि १२ वर्ष तक उसके कोई पुत्र न हुआ [illegible]र क [illegible]स्त्रियाँ ही हुई हो (३) यदि पत्नी मर गई हो। स्त्री का भी पुनर्विवाह हो मकता [illegible] इसके लिए चाणक्य ने दो प्रमुख शर्तें बताई हैं—(१) पति के मर जाने पर (२)पति के विदेश चले जाने और वहाँ दीर्घकाल तक रहने पर।

चाणक्य ने नियोग-प्रथा का भी वर्णन किया है। इसके अनुसार सन्तानहीन स्त्री किसी अन्य पुरुष से पुत्रोत्पत्ति कर सकती थी।

निम्नलिखित परिस्थितियो मे पति-पत्नी का सबध-विच्छेद भी हो सकता था—

(१) पति दुराचारी हो (२) परदेश मे रहता हो (३) राजद्वेषी हो (४) हत्यारा हो (५) पतित हो अथवा (६) नपुसक हो।

स्त्री-समाज—समाज में स्त्रियो की दशा बहुत सन्तोषजनक न थी। अशोक के अभिलेख मे उनमें प्रचलित अन्धविश्वासो का उल्लेख है। वे बीमारी, विवाह, पुत्र-जन्म तथा यात्रा आदि के अवसरो पर अनेक प्रकार के मगल मनाती थी। वस्तुत वे सन्तान उत्पन्न करने की साधन-मात्र समझी जाती थी। प्राय वे घरो में ही रहती थी। कौटिल्य का कथन है कि 'सकट के अतिरिक्त यदि कभी कोई स्त्री अपने पति के घर से बाहर जाय तो उस पर ६ पण जुर्माना होना चाहिए। यदि वह पति की आज्ञा के विरुद्ध घर से बाहर जाय तो १२ पण जुर्माना होना चाहिए।' अशोक की स्त्रियाँ भी अवरोधन' में रहती थी। डा० भण्डरकार का मत है कि मौर्य-काल मे पर्दा प्रथा प्रचलित थी। कौटिल्य ने स्त्रियो के लिए उच्च शिक्षा भी वर्जित बताई है। मेगस्थनीज लिखता है कि 'ब्राह्मण दार्शनिक ज्ञान को स्त्रियो को नही बताते। उन्हे भय रहता है कि कही वे दुश्चरित्र न हो जायें रहस्यो को कही खोल न दें अथवा उत्तम दार्शनिक हो जाने पर वे (स्त्रियाँ) उन्हे छोड न दें। परन्तु उन्हे विधवा-विवाह, सबध-विच्छेद, पारिवारिक सपत्ति के दाय तथा विवाह के अवसर पर प्राप्त दहेज और उपहारो के अधिकार प्राप्त थे। इस लिए उनकी स्थिति बहुत अधिक बिगडने न पाई थी। कौटिल्य की व्यवस्था के अन्तर्गत स्त्री अपने पति के अत्याचारो के विरुद्ध न्यायालय की भी शरण ले सकती थी। स्त्री-हत्या का अपराध ब्रह्म-हत्या की भाँति ही भयकर माना जाता था। मेगस्थनीज के वर्णन से तत्कालीन भारत का नैतिक स्तर ऊँचा प्रतीत होता है। अत यह अनुमान करना कि मनुष्यो का दाम्पत्य जीवन सुखी होगा, स्वाभाविक है।

तत्कालीक नारी-समाज का कुछ वर्ग निश्चितरूप से उन्नत भी रहा होगा। पुरुषो की ही भाँति वे भी सार्वजनिक हित के लिए दान इत्यादि करती थी। अशोक के अभिलेखों में राजमहिलाओ के दानो का उल्लेख है। यही नही, कुछ स्त्रियाँ तो सैनिक शिक्षा भी प्राप्त करती थी। महिला-अगरक्षिकाये चन्द्रगुप्त की रक्षा करती थी। मेगस्थनीज लिखता है कि 'कुछ स्त्रियाँ रथो पर, कुछ अश्वो पर तथा कुछ हाथियों पर चढ़ती थी और वे प्रत्येक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित रहती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी आक्रमण के लिए जा रही हो।' परन्तु इनमे से अधिकाश स्त्रियाँ विदेशी होती थी।

समाज में वेश्या-वृत्ति भी प्रचलित थी। वेश्याओ का काफी सम्मान होता था। उनमे से बहुत-सी अनेकानेक ललित कलाओ मे प्रवीण होती थी। वे राज्य के लिए एक महत्वपूर्ण आय की साधन होती थी। कौटिल्य ने उनके लिए अनेकानेक नियम बनाये थे।

दास-प्रथा—अशोक के अभिलेखो मे दासों, सेवको, भृत्यो तथा अन्य प्रकार के श्रमजीवियो के उल्लेख मिलते हैं। ये लोग विविध प्रकार से अपने स्वामियो की सेवाये करते थे। अर्थशास्त्र मे भी दास-प्रथा का विस्तृत वर्णन मिलता है। दास प्राय अनार्य होते थे जो बेचे और खरीदे जा सकते थे। आर्थिक सकट मे पडकर आर्य भी कुछ समय के लिए दास हो सकता था। परन्तु उसकी सन्तान सदैव आर्य ही कहलाती थी। तत्कालीन समाज मे दासो के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। उन्हे पीटना अथवा गाली देना भी गैर-कानूनी था। उनका अपनी तथा अपने माता-पिता की सम्पत्ति पर अधिकार था। यदि दास स्वय अथवा उनके सम्बन्धी मूल्य अदा कर दे तो उन्हें दासत्व से स्वतन्त्रता भी मिल सकती थी। इन सुविधाओ के कारण भारतीय दास वस्तुत दास प्रतीत नही होते थे। वे परिवार के व्यक्ति अथवा अधिक से अधिक वेतनभोगी नौकर लगते थे। यही कारण है कि मेगस्थनीज ने उन्हे पहचानने में भूल की है और यह लिखा है कि भारतवर्ष मे दास-प्रथा है ही नही।

भोजन-पान—अशोक के अभिलेखो से तत्कालीन भोजन-पान पर कोई विशेष प्रकाश नही पडता। उनसे इतना ही प्रकट होता है कि समाज मे मासाहार का भी प्रचलन था और लोग अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों का मास खाते थे। स्वय अशोक के रधनागार के लिए प्रतिदिन बहुसख्यक पशु-पक्षियो की हत्या की जाती थी। परन्तु बौद्ध होने पर अशोक ने अपने रन्धनागार के लिए पशु-पक्षियो की हत्या करवाना बन्द कर दिया था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी प्रकट होता है कि उस समय मास खाने का प्रचलन था। अर्थशास्त्र मे 'मासपण्या.' (मास बेचनेवालो) और 'पक्वमासिका' (पका मास बेचने वालो) का उल्लेख है। मास के अतिरिक्त अन्य भोजन-सामग्री का भी कौटिल्य ने उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र मे 'औदनिका' (पका चावल बेचने वालो), आप्तापिका (रोटी बेचने वालो) 'पक्वान्नपण्या' (पक्वान्न बेचने वालो) के नाम है। मेगस्थनीज भी भारतीय भोजन के विषय में उल्लेख करता है। उसका कथन है कि जब भारतीय भोजन के लिए बैठते है तो प्रत्येक व्यक्ति के सामने एक तिपाई के आकार की मेज रखी होती है। इसके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है जिसमे सर्वप्रथम चावल परोसे जाते हैं। वे इस प्रकार उबले हुए होते है जैसे जौ हो। इसके उपरान्त अन्य अनेक पक्वान्न परोसे जाते हैं जो भारतीय विधि से तैयार किये जाते हैं।' इससे प्रकट होता है कि पाचको (भोजन बनाने वालों) की कला काफी विकसित हो चुकी थी।

समाज में मदिरा का भी प्रयोग होता था। अर्थशास्त्र ने अनेक प्रकार की मदिराओं तथा उनको निर्माण-प्रणाली का उल्लेख किया है। परन्तु सामान्यतया मदिरा मदिरालयों में ही पी जा सकती थी। मदिरालयों के बाहर ले जाने के लिए मदिरा केवल उन्हीं व्यक्तियों को मिलती थी जो विश्वसनीय और सच्चरित्र हों। मौर्यकालीन मदिरालय पर्याप्त रूप से संगठित थे। उनमें बैठने और सोने के लिए अलग-अलग कमरे बने थे। कुछ मदिरालयों में वेश्यायें भी रहती थीं। परन्तु राज्य की दृष्टि में मदिरा-पान एक दुर्व्यसन था। अतः प्रत्येक व्यक्ति को मदिरा एक निश्चित परिमाण से अधिक न मिल सकती थी। मेगस्थनीज का कथन है कि विशेष पदाधिकारियों के अतिरिक्त साधारणतया भारतीय मदिरा-सेवन न करते थे। उसका विशेष प्रयोग यज्ञ के अवसरों पर ही होता था।

आमोद-प्रमोद—अशोक के अभिलेखों में विहार-यात्रा का उल्लेख है। विहार-यात्रा का प्रमुख अंग मृगया (शिकार) होता था। मेगस्थनीज ने भी राजा के शिकार के लिए जाने का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि 'जब राजा शिकार के लिए राजप्रासाद से निकलता है तो स्त्रियों के दल उसे घेरे रहते हैं। उनके घेरे के बाहर बरछे वाले रहते हैं। उसका (राजा का) मार्ग रस्से बांध कर अलग कर दिया जाता है। इन रस्सों को लाँघने वालों को मृत्यु-दण्ड दिया जाता है। ढोल और झाँझ लेकर मनुष्य इस दल के आगे चलते हैं। राजा घेरे के भीतर में शिकार खेलता था और चबूतरे से तीर चलाता है। उसके बगल में दो या तीन हथियारबन्द स्त्रियाँ खड़ी होती हैं। यदि वह खुले मैदान में शिकार करता है तो वह हाथी की पीठ से तीर चलाता है।'

विहार-यात्रा के अतिरिक्त अशोक के अभिलेखों में 'समाज' का उल्लेख है। समाजों में अनेक-प्रकार के आमोद-प्रमोद होते थे। इनमें मनुष्यों और पशुओं के मल्लयुद्ध प्रमुख थे। हिंसात्मक होने के कारण अशोक ने इन्हें बन्द करवा दिया था। एलियन नामक यूनानी लेखक ने भी मनुष्यों, हाथियों एवं अन्यान्य पशुओं के मल्ल-युद्धों का उल्लेख किया है। वह रथदौड़ का भी वर्णन करता है। अर्थशास्त्र से प्रकट होता है कि साधारण जनता में प्रेक्षायें (तमाशे) बड़े लोकप्रिय होते थे। इनमें नट, नर्तक, गायक, वादक, सौभिक (मदारी), प्लवक (रस्सी पर नाचने वाले) वाग्जीवक (तरह-तरह की बोलियाँ बोलने वाले) आदि अपनी कला का प्रदर्शन कर दर्शकों का मनोरंजन करते थे। राज्य की ओर से इन्हें लाइसेंस लेना पड़ता था। गाँव में शालायें होती थीं जहाँ अन्यान्य प्रकार के खेल-कूद संगठित होते थे।

नैतिक स्तर—अशोक के धर्म-प्रचार ने मनुष्य के नैतिक पक्ष पर बहुत अधिक महत्व दिया था। वह वाह्य आडम्बर के स्थान पर अन्तःशुद्धि का ही प्रमुख प्रचारक था। माता-पिता की आज्ञा मानना, गुरु-जन का आदर करना, सम्बन्धियों, मित्रों और पड़ोसियों के प्रति उदार एवं उचित बर्ताव करना, अहिंसा, दान, क्षमा, सहिष्णुता, सत्य, मार्दव आदि चारित्रिक गुणों का विकास करना आदि ऐसी शिक्षायें हैं जिनका उल्लेख उसके अनेक अभिलेखों में हुआ है।

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उसके पूर्व समाज का नैतिक स्तर नीचा था। मेगस्थनीज के लेख भारतीय चरित्र एवं व्यक्तित्व की बड़ी प्रशंसा करते हैं। वह लिखता है कि 'अपने आचरण में सरल और मितव्ययी होने के कारण भारतीय काफी सुख से रहते हैं। यज्ञों के अतिरिक्त वे कभी शराब नहीं पीते। चोरी की घटनायें बहुत कम होती हैं। वे अपने घरों और अपनी सम्पत्ति को बहुधा अरक्षित अवस्था

में ही छोड़ जाते हैं। उनके कानूनों और समझौतों की सरलता इसी बात से प्रमाणित होती है कि वे बहुत ही कम न्यायालयों की शरण लेते हैं।'

भारतीयों की दृष्टि में योग्यता वय की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण एवं आदरणीय थी। इस सम्बन्ध में मेगस्थनीज भारतीयों के विषय में लिखता है कि 'वे सत्य और गुण का आदर करते हैं। इससे वृद्धों को वे तब तक विशेष मान नहीं देते जब तक कि उनमें अधिक उत्कृष्ट गुण न हों।'

सौन्दर्य-प्रेम—परन्तु मेगस्थनीज द्वारा वर्णित चारित्रिक सरलता से यह न समझना चाहिए कि भारतीयों में सौन्दर्य-प्रेम न था। यह यूनानी लेखक स्वयं कहता है कि 'अपने आचार की सादगी के बावजूद वे बारीकी और सुन्दरता के प्रेमी हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है। वे (वस्त्र) मूल्यवान रत्नों से विभूषित रहते हैं। वे लोग अत्यन्त सुन्दर मलमल के बने हुए फूलदार वस्त्र पहनते हैं। सेवक-गण उनके पीछे छाता लगाये चलते हैं। वे सौन्दर्य का बड़ा ध्यान रखते हैं और अपने रूप को सँवारने में कोई उपाय उठा नहीं रखते।' अर्थशास्त्र में वर्णित वस्त्राभरणों एवं प्रसाधन-सामग्री से भी भारतीयों की यह सौन्दर्य-प्रियता सिद्ध होती है।

धार्मिक अवस्था

अशोक-काल में यद्यपि बौद्ध धर्म का बहुत अधिक विकास हुआ फिर भी देश में धार्मिक सहिष्णुता थी। अशोक सभी धर्मों का समान आदर करता था और तत्कालीन सभी धर्म उन्नत दशा में थे।

वैदिक काल का यज्ञ-धर्म सबसे अधिक प्रबल था। यज्ञ तथा बलि आदि का काफी प्रचार था। साधारण जनता यज्ञ, हवन, बलि आदि कराती थी तथा इनसे सम्बन्धित अनेक प्रकार के मंगल भी मनाती थी। इन अवसरों पर मद्यपान के भी उल्लेख मिलते हैं। परन्तु अशोक ने बौद्ध-धर्म के प्रचार के परिणामस्वरूप सम्भवतः वैदिक यज्ञों एवं कर्मकाण्डों की मान्यता बहुत कुछ कम हो गई। सातवें शिलालेख में तीन मुख्य सम्प्रदायों का उल्लेख है—संघ, ब्राह्मण आजीविक और निर्ग्रन्थ। अशोक इसी शिलालेख में कई अन्य सम्प्रदायों का उल्लेख करता है। इन अन्य सम्प्रदायों के नाम नहीं लिए गए हैं। अशोक के समय में बौद्ध धर्म के अन्तर्गत उप-सम्प्रदायों की अभिवृद्धि हो चली थी। निगलिवा स्तम्भलेख में महात्मा बुद्ध से पूर्व हुए बोधिसत्वों की पूजा का उल्लेख मिलता है। इन बोधिसत्वों में कनकमुनि के स्तूप को अशोक द्वारा द्विगुणित करने, वहाँ पर उसके पूजा करने तथा एक पाषाण-स्तम्भ स्थापित करवाने से यह प्रकट होता है कि इस समय बौद्ध धर्म के अन्तर्गत सम्प्रदायों का काफी प्रचलन था। परंतु अशोक के समय में बुद्ध की मूर्ति-पूजा का कोई चिन्ह नहीं मिलता।

डा० भंडारकर का मत है कि आजीविक, ब्राह्मणों से कोई भिन्न सम्प्रदाय न था। परंतु जैन साहित्य से ज्ञात होता है कि आजीविक ब्राह्मणधर्म से पृथक संप्रदाय था। आजीविकों का मुख्य व्यक्ति गोसाल था। आजीविक नग्न सन्यासी की भाँति जीवन व्यतीत करते थे। ये लोग इन्द्रिय-निग्रह को धर्म का एक भाग न मानते थे। गोसाल का सिद्धान्त था कि प्रत्येक वस्तु तथा घटना एक नियति के अनुसार होती है और मनुष्य इस नियति का दास होता है। अशोक ने आजीविक सन्यासियों के लिए बराबर की गुफाओं को समर्पित कर आजीविक-सम्प्रदाय की प्रमुखता को माना था।

निर्ग्रन्थ (जैन) महावीर के अनुगामी थे। अशोक के काल में जैन धर्म एक प्रमुख धर्म था। अशोक का पौत्र सम्प्रति जैन-धर्म का मानने वाला था।

सातवें शिलालेख में अशोक अपनी अभिलाषा प्रकट करता है कि "सभी सम्प्रदाय एक ही स्थान में रहें क्योंकि वे सब आत्मा की शुद्धता एवं संयम चाहते हैं।" बारहवें शिलालेख में अशोक एक दूसरे के धर्म को सुनने का आदेश देता है इससे प्रकट है कि विभिन्न संप्रदायों के मूल सिद्धांतो, नियमो तथा शुद्ध आचरण को ही अशोक धर्म समझता था। शिलालेख में देवताओं का प्रिय यह इच्छा प्रकट करता है कि माता-पिता की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। अन्य जीवो का आदर करना चाहिए, सत्य बोलना चाहिए।" इन्हीं को अशोक धर्म के लक्षण समझता था जिनके पालन का वह अपनी प्रजा को आदेश दिया करता था।

मेगस्थनीज के वर्णन से भी तत्कालीन समाज मे प्रचलित वैदिक यज्ञों एवं क्रियाओं का ज्ञान होता है। वह लिखता है कि 'यज्ञ तथा श्राद्ध मे कोई मुकुट धारण नही करता है। वे बलि के पशु को छूरी घुसेड कर नही मारते, वरन गला घोंट कर मारते है जिससे देवता को खण्डित वस्तु भेंट न करके सम्पूर्ण वस्तु भेंट मे दी जाय।' वह आगे लिखता है कि 'एक प्रयोजन जिसके लिए राजा अपना महल छोडता है, बलि प्रदान करना है। परन्तु गृहस्थ लोग बलि प्रदान करने तथा मृतकों को श्राद्ध करने के लिए दार्शनिको (ब्राह्मणो) को नियुक्त करते है।'

ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत बहुदेववाद प्रचलित था। अर्थशास्त्र अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त, शिव, वैश्रवण, अश्विन, श्री तथा दिग्देवताओं का उल्लेख करता है। नगर के द्वारो के नाम ब्रह्मा, इन्द्र, यम आदि देवताओं के नाम पर रखे जाते थे। निम्न देवताओ तथा अर्ध देवताओं में बलि, सबर, वैरोचन, नारद, गालव, नाग आदि के नाम आते है। मेगस्थनीज प्रमुख देवताओ मे शिव और कृष्ण का नाम लेता है। कृष्ण-पूजा से प्रकट होता है कि भागवत-धर्म की स्थिति इस समय तक सबल हो चली थी। वासुदेव-पूजा का उल्लेख तो पाणिनि ने भी किया है।

अर्थशास्त्र मूर्तियो और मन्दिरों का भी उल्लेख करता है। देव-मूर्तियां के बनाने वाले शिल्पी 'देवताकारु' कहलाते थे। पतंजलि के महाभाष्य से प्रकट होता है कि मौर्य-काल मे शिव, स्कन्ध और विशाख की मूर्तियां बेची जाती थी। नदियाँ पवित्र मानी जाती थी। मेगस्थनीज ने गंगा को सबसे अधिक पवित्र बताया है। समाज में तीर्थ-यात्रा का भी महत्व था। पुण्य-पर्वों पर लोग तीर्थों मे स्नान तथा दर्शन के लिए जाते थे। राज्य उन लोगो से 'तीर्थकर' भी लेता था।

इस वाह्य पक्ष के साथ-साथ ब्राह्मण-धर्म का अन्तपक्ष भी था। यह उसका दार्शनिक पक्ष था। स्वयं मेगस्थनीज लिखता है कि ब्राह्मण अपना अधिकाश समय जन्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो के मनन और विवेचन में लगाते है। मेगस्थनीज के लेखो से प्रकट होता है कि सिकन्दर ने 'मन्डनिस' नामक एक अनिच्छुक ब्राह्मण को मृत्युदंड की धमकी दे कर अपनी राज-सभा मे बुलाने का निष्फल प्रयास किया था। उत्तर में उस ब्राह्मण ने सिकन्दर के पास कहला भेजा था कि 'सिकन्दर मेरा शीश कटवा सकता है, परन्तु वह मेरी आत्मा का नाश नही कर सकता। केवल मेरा शीश जो इस समय मौन है, रह जायेगा। परन्तु मेरी आत्मा शरीर को एक जीर्ण वस्त्र की भांति छोडकर अपने स्वामी के पास चली जायेगी, जहां से यह (शरीर) आया है।' इस उद्धरण से भारतीयो के आत्मा, परमात्मा और शरीर-सम्बन्धी विचार व्यक्त होते हैं।

दार्शनिक पक्ष निर्वाण-प्राप्ति को मनुष्य का चरम लक्ष्य बताता था। परन्तु लौकिक पक्ष में स्वर्ग-प्राप्ति ही उसका अभीष्ट था। अशोक के अभिलेख जो सर्व-साधारण के लिए उत्कीर्ण कराए गए थे, स्वर्ग का ही उल्लेख करते है। उनमे एक बार भी निर्वाण का नाम नही आता।

चाणक्य वर्णाश्रम-धर्म का कट्टर पक्षपाती था। अत उसे बौद्धो और जैनों का सद्य संसार-त्याग अरुचिकर था। बालकों और युवाओ ने क्षणिक भ वना में बहकर अपने परिवार की चिन्ता किए बिना ही प्रव्रज्या ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। चोर, बदमाश, ऋणी भी कानून के चगुल से बचने के लिए सघ की शरण मे चले जाते थे। नारियो के सघ-प्रवेश ने समाज की नैतिकता के लिए भी एक खतरा उत्पन्न कर दिया था। इन सब बातो से क्षुब्ध हो कर ही चाणक्य ने प्रव्रज्या ग्रहण करने के ऊपर प्रतिबन्ध लगा दिए थे, और भिक्षुओ के विचरण को भी सीमित कर दिया था। अर्थ-शास्त्र से प्रकट होता है कि निवृत्तिमार्गी पाषण्डो (सम्प्रदायो) को नगर के बाहर रखने की व्यवस्था की गई थी। कोई भी व्यक्ति अपने आश्रितो की जीविका का उचित प्रबन्ध किए बिना ससार-त्याग न कर सकता था। ये नियम धार्मिक कटुता के नही, वरन राजनीतिक सजगता के द्योतक है।

आर्थिक अवस्था

कृषि—मौर्य-काल में भी भारत एक कृषि-प्रधान देश था। मेगस्थनीज लिखता है कि 'दूसरी जाति कृषको की है जो सख्या में सबसे अधिक है। युद्ध तथा अन्य राज-कीय कर्तव्यों से मुक्त होने के कारण वे अपना सारा समय खेती में लगाते हैं।' वह आगे लिखता है कि कृषक-समाज पवित्र और अवध्य समझा जाता है। युद्ध के समय दोनो पक्षो के लडने वाले एक दूसरे का सहार करते है, परन्तु कृषि मे सलग्न मनुष्यों को पूर्णतया निर्विघ्न रूप से अपना काम करने देते है। सिचाई के प्रबन्ध और भूमि की उर्वरता की ओर सकेत करते हुए वह कहता है कि 'यह माना जाता है कि भारत-वर्ष में अकाल कभी नहीं पडा है और खाद्य वस्तुओ की मँहगाई भी साधारणतया कभी नही हुई है। चूँकि यहाँ वर्ष मे दो बार वर्षा होती है, एक जाडे मे जब कि गेहूँ बोया जाता है और दूसरे गर्मी में जब कि तिल ज्वार के बोने का उपयुक्त समय होता है, अत भारतवर्ष के कृषक प्राय. सदा दो फसले काटते हैं। . इसके अति-रिक्त एक साथ होने वाले फल और मूल जो दलदलो मे उत्पन्न होते है और भिन्न-भिन्न मिठास के होते हैं, मनुष्यो को प्रचुर खाद्य-सामग्री प्रदान करते हैं।'

कौटिल्य ने भी कृष्ट (जुती हुई), अकृष्ट (बिना जुती हुई), स्थल (ऊँची) आदि अनेक प्रकार की भूमियों का उल्लेख किया है। खेती हल-बैल की सहायता से होती थी। सिंचाई की ओर राज्य का विशेष ध्यान था। मेगस्थनीज ऐसे पदाधिकारियों का उल्लेख करता है जो नहरो का निरीक्षण करते थे। जूनागढ अभिलेख से प्रकट होता है कि चद्रगुप्त के गवर्नर पुष्यगुप्त वैश्य ने सौराष्ट्र में सुदर्शन झील का निर्माण करवाया था। अर्थशास्त्र भी सिंचाई के अनेक साधनो का उल्लेख करता है—

(१) नदी, सर, तडाक और कूप द्वारा सिंचाई

(२) ढोल या चरस द्वारा कुएँ से पानी निकाल कर सिंचाई

(३) बैलों द्वारा खीचे जाने वाले रहट या चरस द्वारा कुएँ से सिचाई।

(४) बाँध बना कर नहरों द्वारा सिंचाई

(५) वायु द्वारा संचालित चक्की द्वारा सिंचाई।

भूमि को और अधिक उपजाऊ बनाने के लिए विविध प्रकार की खाद का प्रयोग होता था। चाणक्य ने घी, शहद, चर्बी, मछलियों का चूर्ण, गोबर, राख आदि का खाद के रूप में प्रयोग बताया है। प्रमुख उपज में कौटिल्य ने गेहूँ, जौ, चना, चावल (शालि ब्रीहि और कोद्रव), गन्ना, उडद, मूंग, मसूर, सरसों, मटर, कपास, आलू, सहजन, तरबूज और खरबूजे आदि के नाम लिए है। फलों में आम, जामुन, अनार, अंगूर, किशमिश, फालसा, नींबू आदि उल्लेखनीय है।

उद्योग-धन्धे—मौर्य-काल में कपडे का व्यवसाय बडी उन्नत अवस्था में था। सूती कपडे के व्यवसाय के लिए काशी, वत्स, अपरान्त, बंग और मदुरा विशेष प्रख्यात थे। इन केन्द्रों में कपडे तैयार करने के अनेक कर्मान्त (कारखाने) थे। सूत कातने के लिए चरखों और कपडा बुनने के लिए करघों का प्रयोग किया जाता था। मेगस्थनीज के लेख और अर्थशास्त्र दोनों से प्रकट होता है कि देश में कपास की खेती प्रचुरता में होती थी। अतः सूती कपडों के बनानेवाले तन्तुवाय (जुलाहे) काफी व्यस्त रहते थे। कपास के सूत के अतिरिक्त सन का प्रयोग भी कपडे बनाने में किया जाता था। अर्थ-शास्त्र के अनुसार काशी और मगध अपने सन के बने कपडों के लिए प्रसिद्ध थे। इसी ग्रन्थ से प्रकट होता है कि "मगध, पुण्ड्र और सुवर्णकुड्य देशों में विविध वृक्षों के पत्तों तथा छाल के रेशों से भी कपडे बनाए जाते थे। ऊनी कपडों में विविध कम्बलों का वर्णन अर्थशास्त्र बडे विस्तार से करता है। ये ४ प्रकार से बनाए जाते थे—(१) खचित-बटे हुए सूत से बुन कर (२) वानचित्र—विविध रंगवाले ऊनों से बुनकर (३) खंड संघाट्य—अनेक पट्टियों को एक में जोड कर, (४) तन्तुविच्छिन्न—ऊन से ताना-बाना एक करने के पश्चात फिर बुन कर। ऊनी कपडे के व्यवसाय के लिए अर्थशास्त्र नेपाल का विशेषतया उल्लेख करता है। मेगस्थनीज भारतीयों के बहुमूल्य कपडों का भी उल्लेख करता है। वह लिखता है कि वे मलमल के कपडे पहनते थे जिन पर विविध प्रकार से काम किया रहता था। इस समय बंगाल अपने मलमल के व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध था। कौटिल्य ने चीनपट्ट का भी नाम लिया है। इससे प्रकट होता है कि इस समय चीन का रेशमी वस्त्र भारत में आता था। भारतीय तन्तुवाय विविध रंगों के कपडे बनाते थे। अर्थशास्त्र का उल्लेख है कि 'जो कपड़ा बंगदेश में बनता है वह श्वेत और चिकना होता है। सुवर्णकुड्य का कपडा सूर्य के समान रंगवाला और मणि के समान चिकना होता है।'

धातु-कर्म—मेगस्थनीज का कथन है कि 'इस देश में सोना और चाँदी बहुत होता है। तांबा और लोहा भी कम नहीं होता। जस्ता और अन्य धातुएँ भी होती हैं। इनका व्यवहार आभूषण, युद्ध के अस्त्र-शस्त्र तथा साज आदि बनाने के लिए होता है।' साधारणतया खानों का काम राज्य स्वयं करता था। परन्तु कभी-कभी यह अन्य व्यक्तियों को ठेका भी दे देता था। राज्य की ओर से होने वाले खानों के कार्य का अध्यक्ष 'आकराध्यक्ष' कहलाता था।

मौर्य-काल में स्त्री-पुरुष सभी आभूषण पहनते थे। एरियन का कथन है कि भारत में धनी लोग अपने कानों में हाथीदाँत के उच्च कोटि के आभूषण पहनते थे। कौटिल्य ने भी विभिन्न धातुओं एवं हाथीदाँत के आभूषण बनाने वाले कारीगरों का उल्लेख किया है। बडे-बडे सुनारों की दुकानों पर ध्यापक (भट्टी धौंकने वाले) और पांशुधावक (गर्द साफ करने वाले) रहते थे।

खन्यध्यक्ष के निरीक्षण में समुद्र से विविध मणि, मुक्ता, रत्न, सीप आदि निकालने का काम होता था। इन सब का भी प्रयोग आभूषण-निर्माण में होता था।

मेगस्थनीज का कथन है कि भारतीयों के वस्त्रों पर सोने का काम होता था और वे बहुमूल्य रत्नो से सुसज्जित रहते थे।

आयुधागाराध्यक्ष के निरीक्षण मे धातुओ से युद्ध के अस्त्र-शस्त्र बनते थे। धातु के बर्तन बनाने का काम भी बडी उन्नत अवस्था में था। धातुओ को निकालने, शुद्ध करने, मुलायम करने, गलाने और विभिन्न आकारो में पीटने अथवा ढालने की क्रियाओ पर अर्थशास्त्र में सविस्तार उल्लेख मिलते हैं।

काष्ठशिल्प—मौर्य-साम्राज्य में वन राज्य की एक महत्वपूर्ण सम्पत्ति थे। वनों से लकडी काटने, ढोने और उसके विविध प्रयोग की उन्नत व्यवस्था थी। लकड़ी के छाल, बाँस, लता, रेशे आदि का भी अनेक प्रकार से प्रयोग होता था। जहाजों और नौकाओ के निर्माण में उत्तम लकडी की प्रचुर आवश्यकता पडती थी।

चर्म—अर्थशास्त्र मे अनेक प्रकार के चमडो का उल्लेख है। पशुओ के चर्म को किस प्रकार निकाला जाय, उन्हे साफ और मुलायम किया जाय तथा उससे कौन-कौन वस्तुएँ बनाई जायँ, इन सब बातो का उल्लेख अर्थशास्त्र में आता है।

सुरा का व्यवसाय—यह व्यवसाय भी काफी उन्नत अवस्था मे था। अर्थशास्त्र ६ प्रकार की सुराओ मेदक, प्रसन्न, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु का उल्लेख करता है। सुरा के निर्माण और प्रयोग पर 'सुराध्यक्ष' का पूर्ण नियन्त्रण था।

इसी प्रकार के अन्यान्य व्यवसायों का भी अर्थशास्त्र मे उल्लेख हुआ है। राज्य मे व्यावसायिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया था। व्यवसाय-सम्बन्धी कोई भी ऐसी बात नही जिस पर राज्य की दृष्टि न हो। व्यवसायियों को पूर्ण सरक्षण प्राप्त था। किसी कारीगर को हानि पहुँचाने पर कठोर दण्ड दिया जाता था। स्ट्रैबो का तो कथन है कि कारीगर के हाथ काटने अथवा आँख फोडने वाले को मृत्यु-दड दिया जाता था। प्रत्येक व्यवसायी को उचित लाभ की सुविधा थी। परन्तु बहुत अधिक लाभ लेने वाले माप-तौल मे बेईमानी करने वाले और मिलावट का माल बेचने वाले राजदड के भागी होते थे। कौटिल्य ने स्वतन्त्र व्यवसाय और राज-सचालित व्यवसाय के बीच में मध्यम मार्ग अपनाया था।

व्यापार—मौर्य-काल मे आन्तरिक और विदेशीय दोनो व्यापार उन्नत अवस्था मे थे। आन्तरिक व्यापार के लिए देश मे सुरक्षित एव सुव्यवस्थित स्थल-मार्ग थे। पाटलिपुत्र से पश्चिमोत्तर प्रदेश को जाने वाला मार्ग १५०० कोस लम्बा था। दूसरा महत्वपूर्ण मार्ग 'हैमवतपथ' था जो हिमालय की ओर जाता था। दक्षिण भारत की ओर अनेक मार्ग गए थे। कौटिल्य का कथन है कि 'दक्षिणपथ मे भी वह मार्ग सबसे अधिक महत्वपूर्ण है जो खानो से गुजरता है, जिस पर गमनागमन बहुत होता है और जिस पर परिश्रम कम पडता है।' इसी प्रकार एक मार्ग पाटलिपुत्र से पूर्व की ओर जाता था। इन बड़े-बड़े मार्गों से बहुसख्यक उप-मार्ग निकलते थे जो छोटे-छोटे नगरो को मिलाते थे। प्रमुख मार्गों पर प्रति आध कोस की दूरी पर दूरी-सूचक चिन्ह बने रहते थे। स्ट्रैबो का कथन है कि कुछ 'मजिस्ट्रेट' सार्वजनिक मार्गों की देख-भाल करते है और उप-मार्गों तथा दूरी को प्रदर्शित करने के लिए प्रति १० स्टेडिया पर एक स्तम्भ स्थापित करवाते हैं। इस कथन से प्रकट होता है कि मार्गों को सुरक्षित और व्यवस्थित रखना राज्य का एक प्रमुख कार्य था।

आन्तरिक व्यापार देश की नदियो के मार्ग से भी होता था। छोटी नदियों में 'क्षुद्रका नाव' (छोटी नौकायें) और बडी नदियो मे 'महानाव' (बड़ी नौकायें) चलती थी। इनके अतिरिक्त 'प्लव' (डोंगी) का भी प्रयोग होता था।

साम्राज्य के भिन्न-भिन्न प्रदेश भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए प्रसिद्ध थे। काश्मीर, कोशल, विदर्भ और कलिंग हीरे के लिए प्रख्यात थे। हिमालय-प्रदेश चमड़े के लिए प्रसिद्ध था। मगध और सुवर्णकुड्य वृक्षों के रेशों से बने हुए वस्त्रों के लिए, काशी सब प्रकार के वस्त्रों के लिए, बंगाल मलमल के लिए, नेपाल ऊनी वस्त्रों के लिए तथा ताम्रपर्णि, पाण्ड्य और केरल अपने मोतियों के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे। व्यापारियों के सार्थवाह (काफिले) अपने माल के साथ दूर-दूर तक यात्रा करते थे। नगरों में विभिन्न वस्तुओं की दूकानें अलग-अलग थीं। इनके अतिरिक्त फेरीवाले घूम-घूम कर नगर और ग्राम में अपनी वस्तुएँ बेचते रहते थे।

इस समय विदेशीय व्यापार भी उन्नतिशील था। अर्थशास्त्र में विदेशी सार्थवाहों (काफिलों) का उल्लेख आया है जो पश्चिमोत्तर भारत के स्थल-मार्गों से व्यापार के लिए आते थे। समुद्र के जल-मार्गों को कौटिल्य ने सयानपथ के नाम से पुकारा है। समुद्र में आने-जाने वाले जहाज प्रवहण कहलाते थे। बन्दरगाहों पर जहाजों के प्रवेश और निष्क्रमण का पूरा प्रबन्ध था। यह प्रबन्ध बन्दरगाह के अध्यक्ष के निरीक्षण में होता था। कौटिल्य का कथन है कि 'तूफान के कारण आहत हुआ जब कोई जहाज बन्दरगाह पर पहुँचे तो बन्दरगाह के अध्यक्ष को उस पर पिता की भाँति अनुग्रह करना चाहिए।'

भारत में आने वाली विदेशी सामग्री में चीनपट्ट और कार्दमिक मुक्ता (ईरान की कर्दम नदी में उत्पन्न) का विशेष मान था। इस समय भारत और मिस्र के बीच होने वाला व्यापार भी उन्नत था। इस व्यापार को और अधिक प्रोत्साहन देने के लिए मिस्र-नरेश टालमी ने लाल सागर के तट पर बरनिस नाम का एक बन्दरगाह स्थापित करवाया था। इस बन्दरगाह से मिस्र के प्रमुख बन्दरगाह सिकन्दरिया तक तीन स्थल-मार्ग जाते थे। मौर्य-सम्राटों की राज-सभा में विदेशी दूतों का होना तथा पाटलिपुत्र में विदेशियों की देखरेख के लिए एक विशेष समिति का होना इस बात के प्रमाण है कि भारतवर्ष और विदेशों के बीच गमनागमन की बड़ी सुविधा थी।

मुद्रा—अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार की मौर्यकालीन मुद्राओं के नाम आते हैं। इनमें से प्रमुख ये हैं—

(१) सुवर्ण—सोने का

(२) कार्षापण या पण या धरण—चाँदी का

(३) माषक—ताँबे का

(४) काकणी—ताँबे का

कौटिल्य ने समस्त मुद्राओं को दो कोटियों में बाँटा है। प्रथम कोटि में 'कोष-प्रवेश्य' मुद्राएँ आती थीं। ये Legal Tender के रूप में थीं। सम्पूर्ण राजकीय कार्यों में इन्हीं मुद्राओं का प्रयोग होता था। द्वितीय कोटि में 'व्यावहारिक' मुद्राएँ थीं। ये Token Money के रूप में थीं। जनता का साधारण लेन-देन इन मुद्राओं के द्वारा हो सकता था। परन्तु राजकीय कोष में ये प्रवेश न कर सकती थीं।

मुद्रा-निर्माण एकमात्र सरकारी टकसाल में होता था। परन्तु यदि कोई व्यक्ति चाहे तो अपनी धातु ले जाकर सरकारी टकसाल में अपने लिए मुद्राएँ बनवा सकता था। इस कार्य के लिए उसे एक निश्चित शुल्क राज्य को देना पड़ता था। टकसाल के अधिकारियों में कौटिल्य ने 'सौवर्णिक' और 'लक्षणाध्यक्ष' के नाम लिए हैं।

लिपि—अशोक के शिलालेखों से विदित होता है कि उस काल में दो प्रकार की

लिपियाँ प्रयोग में लाई जाती थी—ब्राह्मी लिपि तथा खरोष्ठी लिपि। केवल मानसेरा और शहाबाजगढ़ी के शिलालेख खरोष्ठी लिपि में हैं। शेष शिलालेख ब्राह्मी लिपि में लिखित हैं। खरोष्ठी लिपि अशोक के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेशो में प्रचलित थी। खरोष्ठी लिपि में दाईं से बाईं ओर लिखा जाता है। पाँचवी शताब्दी तक इस लिपि का भारतवर्ष में कोई चिन्ह नही रह गया। ब्राह्मी लिपि जैसा कि अशोक के शिलालेखो से ज्ञात होता है, सम्पूर्ण भारत में प्रचलित थी। उस समय के लोगो का विश्वास था कि यह लिपि ब्रह्मा द्वारा प्रसूत हुई। अतएव इसका नाम ब्राह्मी लिपि हो गया। आजकल की देवनागरी-लेखन-प्रणाली की भाँति यह लिपि बायें से दाँये लिखी जाती थी। ब्राह्मी लिपि, जो (आगे चल कर समस्त भारतीय भाषाओं की जन्मदात्री हुई) के विषय मे इतिहासकारो के भिन्न भिन्न मत हैं। कनिंघम का कहना है कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति भारत मे हुई, क्योंकि सदैव से उसकी लेखन-प्रणाली बाँई से दाहिनी ओर रही है। इसके विपरीत वेबर और ब्यूलर महोदय का विचार है कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति फोनिशियन वर्णमाला से हुई। डा० भडारकर ब्राह्मी लिपि को स्वदेशीय कहते है और उसे प्रगैतिहासिक काल का बताते हैं।[1]

स्तम्भ-लेखो की भाषा का प्रचार भारतवर्ष के अधिकतर भागो मे था। ज्ञात होता है कि यही भाषा साधारण बोलचाल में भी प्रयोग की जाती रही होगी। डा० भडारकर का मत है कि वही भाषा मगध की राजकीय भाषा थी। यह भाषा आधुनिक मध्य देश, बिहार, उडीसा और देहरादून के क्षेत्रो में प्रचलित थी।

शिक्षा और साहित्य—मौर्य-काल मे शिक्षा का सर्वसाधारण में प्रचार था। यूनानी लेखो से प्रकट होता है कि मार्गों पर स्तम्भ गडे होते थे जिन पर दूरी-सूचक चिन्ह उत्कीर्ण रहते थे। ये चिन्ह सख्या शब्दो मे ही होगे और सर्वसाधारण इनसे परिचित होगा। अशोक के अभिलेख सर्वसाधारण के लिए थे। इससे भी प्रकट होता है कि सामान्य जनता भी उन पर उत्कीर्ण आदेशो और उपदेशो को पढ सकती थी। इन्ही आधारो पर डा० स्मिथ ने यह मत दिया था कि अशोक के समय में भारतवर्ष में शिक्षा का प्रतिशत दर ब्रिटिश राज्य के अनेक प्रान्तो की दर से ऊँची थी।

इस समय तक्षशिला उच्चतम शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। कोशल का राजा प्रसेनजित यहाँ पढ चुका था। मगधराज बिम्बिसार के राजवैद्य ने भी तक्षशिला में ही शिक्षा पाई थी। चन्द्रगुप्त मौर्य भी कुछ समय तक यहाँ पढा था। जातकों में हम अनेकानेक राजकुमारो को शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला जाते हुए पाते है। साधारणतया तक्षशिला में दो प्रकार के विद्यार्थी पढते थे। प्रथम प्रकार के विद्यार्थी सामान्यतया धनी वर्ग के होते थे और आचार्य को आवश्यक फीस देते थे। ये दिन भर पढ़ते थे। इन्हे 'आचारियाभागदायक' कहते थे। द्वितीय प्रकार के विद्यार्थी साधारणतया निर्धन होते थे। निश्चित फीस न दे सकने के कारण ये लोग उसके बदले में दिन भर आचार्य की सेवा करते थे और एकमात्र रात को पढते थे। इन्हें 'धम्मन्तेवासिक' कहते थे। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि तक्षशिला के शिक्षा-केन्द्र के द्वार एकमात्र प्रथम तीन वर्णों के लिए ही खुले थे। शूद्रो का प्रवेश निषिद्ध था।

शिक्षा गुरुकुलों, मठों और विहारों में भी दी जाती थी। बहुत से ब्राह्मण आचार्यों को राज्य की ओर से भूमि (ब्रह्मदेय) मिली हुई थी। ये जीविकोपार्जन की चिन्ता

१ भंडारकर "अशोक"

से मुक्त होकर सदैव अध्ययन-अध्यापन में ही लगे रहते थे। बौद्ध एवं जैन संघ भी धार्मिक शिक्षा के केन्द्र होंगे। इनमें संसारत्यागी भिक्षु और भिक्षुणियाँ धर्म और दर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन और मनन करते होंगे।

मौर्य-काल साहित्य-सर्जन का भी काल था। इसी समय महापण्डित चाणक्य ने अपने महान ग्रन्थ अर्थशास्त्र की रचना की। सम्भवतः कात्यायन ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर अपने वार्तिक इसी समय लिखे। अनेक ग्रन्थों में सुबंधु नामक एक ब्राह्मण विद्वान का उल्लेख आता है जो बिन्दुसार का मन्त्री था। इसे 'वासवदत्ता नाट्यधारा' नामक नाटक का रचयिता बताया जाता है। बृहत्कथा कोष के अनुसार कवि नामक एक अन्य विद्वान भी इसी समय हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि वात्स्यायन नामक प्रसिद्ध विद्वान भी इसी समय हुआ और उसने 'कामसूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। परन्तु यह मत अत्यन्त सन्दिग्ध है। सम्भव है कि संस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान वररुचि इसी समय हुआ हो। पतञ्जलि के महाभाष्य में अनेक अन्य विद्वानों और काव्यों के उल्लेख है। उनमें से कुछ मौर्य-काल के हो सकते हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्रकट होता है कि यह युग वर्णाश्रम-धर्म के आधार पर समाज-संगठन का काल था। अतः सम्भव है कि परगामी अनेक गृह्य एवं धर्म सूत्रों की रचना इसी समय हुई हो।

बौद्ध-संसार के लिए तो अशोक का काल ऐतिहासिक है। इसी समय तृतीय बौद्ध संगीति, त्रिपिटकों का संगठन तथा तिस्स द्वारा अभिधम्म पिटक के कथावस्तु की रचना की महत्वपूर्ण घटनायें घटित हुई।

जैन-धर्म की दृष्टि से भी मौर्य-काल कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसी समय जैन-धर्म का प्रसिद्ध आचार्य भद्रबाहु हुआ। अनुश्रुति के अनुसार उसी की प्रेरणा से चन्द्र-गुप्त मौर्य ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। अन्य जैन विद्वान जम्बूस्वामी, प्रभव और स्वयम्भव भी इसी काल में हुए। इन सबकी रचनाएँ जैनधर्म की सम्पत्ति हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि जैन धर्म के आचारांगसूत्र, भगवतीसूत्र, समवायांगसूत्र आदि की रचना अधिकांशतः इसी समय हुई।

कला—मौर्यकालीन कला अभूतपूर्व थी। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के पूर्व कला-कृतियाँ प्रायः ईंट और लकड़ी की बनती थी। चन्द्रगुप्त के राजप्रासाद में भी इन्हीं का प्रयोग किया गया था। परन्तु अशोक के समय में हम देखते हैं कि पाषाण का प्रयोग अत्यधिक कुशलता और प्रचुरता के साथ किया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह विदेशीय शिल्पकारों का काम था जो अशोक की सेवा में थे। परन्तु भारतवर्ष के कोने-कोने में प्राप्त ये समस्त कला-कृतियाँ एकमात्र विदेशियों द्वारा निर्मित नहीं हो सकती। इनके पीछे एक भारतीय परम्परा ही प्रतीत होती है। हाँ, यह निश्चित है कि जिन कला-प्रणालियों और कला-विधियों का प्रयोग भूतकाल में ईंट और लकड़ी पर होता था उन्हीं का प्रयोग अशोक के काल में बड़ी सफलतापूर्वक पाषाण पर किया गया।

अशोक एक महान निर्माता था। उसी के समय में काश्मीर के श्रीनगर और नेपाल के ललितपाटन नामक नगरों का निर्माण हुआ। पाटलिपुत्र में उसने अपने लिए जो राजप्रासाद बनवाया था वह अति सुन्दर था। उसकी मृत्यु के लगभग ७०० वर्ष पश्चात उस राजप्रासाद की सुन्दरता को देख कर चीनी यात्री फाह्यान विस्मय में पड़ गया था। वह लिखता है कि 'नगर (पाटलिपुत्र) में अभी तक अशोक का राजप्रासाद और सभा-भवन है। सब असुरों के बनाए हुए हैं। पत्थर चुन कर दीवारें

और द्वार बनाए गए हैं। उन पर सुन्दर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के मनुष्य उन्हें नही बना सकते। वे अब तक नए के समान हैं।'

पर्वतो को काट कर गुहा-गृहों को निर्माण करने की कला का प्रारम्भ मौर्य-काल से ही, हुआ जिसने आग चल कर अजन्ता और एलोरा की गुहा-कला के रूप में पूर्ण विकास पाया। मौर्य-सम्राट अशोक और दशरथ द्वारा निर्मित गुहा-गृह आज भी बाराबर और नागार्जुनी पहाडियो पर विद्यमान है। ये आजीवक-भिक्षुओ के रहने के लिए बनवाई गई थी। इनकी दीवारे शीशे की भाँति चिकनी और चमकदार हैं।

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने ८४ हजार स्तूपो का निर्माण किया था। चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने सातवी शताब्दी मे अफगानिस्तान और भारतवर्ष के विभिन्न भागों मे अशोक के इन स्तूपों को खडे देखा था। उसके वर्णन के अनुसार ये स्तूप तक्षशिला, श्रीनगर, थानेश्वर, मथुरा, कन्नौज, अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, बनारस, वैशाली, गया आदि नगरो मे विद्यमान थे। इनकी ऊँचाई ३०० फीट तक थी। परन्तु आज अशोक के समय के स्तूप इने-गिने ही अवशिष्ट रह गये है। साँची का स्तूप मूलत अशोक का ही बनवाया हुआ था। वह ईटो का था। बाद को इसका आकार दुगना कर दिया गया और ईटो के ऊपर पत्थर ढकवा दिया गया। अशोक के समय का सारनाथ मे धर्मराजिका स्तूप का निचला भाग इस समय भी विद्यमान है।

अशोक की समस्त कला-कृतियो मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण है उसके पाषाण स्तम्भ। इनकी सख्या ३०-४० है। इनका निर्माण चुनार के बलुआ पत्थर से किया गया था। इनकी पालिश आज भी शीशे की भाँति चमकती है। डा० स्मिथ का कथन है कि 'कठोर पाषाण को चिकना करने की कला इस पूर्णता तक पहुँच गयी थी कि यह कहा जा सकता है कि वर्तमान युग की कलात्मक शक्तियों के लिए यह एक खोई हुई कला ही है।'

पाषाण-स्तम्भ तीन भागों मे विभाजित किया जा सकता है—(१) तना—जो अपने वज्रलेप के कारण शीसे की भाँति चिकना और चमकदार है। (२) गला—जो पशु-पक्षी, लता-पुष्प आदि से अलकृत रहता था। (३) शीर्षभाग जिस पर सिंह, हाथी, बैल, घोडा आदि की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थी।

समस्त पाषाण-स्तम्भों मे सारनाथ का पाषाण-स्तम्भ सबसे अधिक सुन्दर है। इसके शीर्ष-भाग के विषय मे मार्शल महोदय लिखते है—

'The Sarnath Capital, on the other hand, though by no means a masterpiece, is the product of the most developed art of which the world was cognisant in the third century B. C.—the hand-work of one who had generations of artistic effort and experience behind him.'

इसके ऊपर जो पशु बने हुए है उनके विषय में डा० स्मिथ का मत है कि वे प्राचीन ससार मे अद्वितीय है।

प्रत्येक स्तम्भ एक ही पाषाण-खण्ड से बना है। इसकी लम्बाई ४० फीट से ५० फीट के बीच में है। प्रत्येक का औसत व्यास २ फीट ७ इच है। अशोक के इन स्तम्भो की निर्माण-कला के विषय मे डा० भण्डारकर लिखते हैं—

'But to cut true, dress, and proportion blocks of such stupendous dimensions into beautiful sound columns and furnish it like mirror at which even a modern mason stands aghast was a still more arduous and delicate task'

२५

ब्राह्मण-राज्य

शुग, कण्व और सातवाहन

शुग वंश की स्थापना—अनेक साक्ष्यो से प्रकट होता है कि अन्तिम मौर्य-सम्राट बृहद्रथ को उसके सेनापति पुष्यमित्र ने मार डाला और तत्पश्चात शुग-वश की स्थापना की।

(१) प्रमुखतया पुराणो मे 'पुष्यमित्रस्तु सेनानी समुद्धत्य बृहद्रथम्' (अर्थात सेनापति पुष्यमित्र ने बृहद्रथ को मार कर) यह उल्लेख मिलता है।

(२) वायु पुराण बृहद्रथ के स्थान पर 'बृहदश्व' का नाम लेता है। इन दोनो नामो को एक ही व्यक्ति का नाम समझना चाहिए।

(३) हर्षचरित में उपर्युक्त घटना का और अधिक स्पष्ट उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार मौर्य बृहद्रथ 'प्रज्ञादुर्बल' (दुर्बुद्धि) शासक था। एक बार जब वह अपनी सेना का निरीक्षण कर रहा था तब उसके सेनानी पुष्यमित्र ने उसकी हत्या कर डाली।[1]

अपनी सम्पूर्ण सेना के सम्मुख ही राजा की हत्या कुछ विशेष महत्व रखती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस हत्या के पीछे एक पूर्वनिर्धारित योजना थी।

ब्राह्मणों का संगठन—अशोक की बौद्ध नीति ने सैनिक दृष्टिकोण से देश को नितान्त निर्बल बना दिया था। परिणाम यह हुआ कि उसकी मृत्यु के पश्चात ही देश के चतुर्दिक विपत्ति के बादल मडराने लगे। मौर्य-साम्राज्य के अधीनस्थ राज्यो ने अपनी अपनी स्वतन्त्रता घोषित करनी प्रारम्भ कर दी। उधर विदेशी आक्रमणकारी भारतवर्ष की उत्तर-पश्चिमी शृखला खटखटाने लगे। अशोक के उत्तराधिकारियो में कोई भी ऐसा न हुआ जो भारतवर्ष को आन्तरिक अशान्ति और बाह्य आक्रमण से बचाता। राजनीतिक अस्थिरता ने धर्म और सस्कृति के सबल आधारो को भी हिलाना प्रारम्भ कर दिया।

जिस समय भारतवर्ष इस सकटापन्न एव सशयात्मक परिस्थिति से गुजर रहा था और जिस समय उसका पतन एव पराभव अवश्यम्भावी-सा प्रतीत हो रहा था उसी समय देश मे एक महान क्रान्ति हुई जिसने भारतवर्ष के इतिहास की दिशा

१ **प्रज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्।**

को ही मोड दिया। यह क्रान्ति थी अहिंसात्मक बौद्ध नीति के पोषक अशोक के वंशज अन्तिम मौर्य नरेश बृहद्रथ की हत्या और शस्त्र तथा शास्त्र के उचित सामंजस्य का प्रतिपादन करने वाले ब्राह्मण-धर्म के पुनरुद्धारक शुंग-वंश के नरेश पुष्यमित्र का सिंहासनारोहण।

क्षत्रिय देश के शासक और सरक्षक थे। परन्तु अहिंसावादी बौद्ध धर्म ने बहु-सख्यक क्षत्रियों को अपने वर्णविहित कर्म से विरत कर दिया था। वे राजकर्म और युद्ध-कर्म से विमुख हो कर निवृत्तिमार्गी होते जा रहे थे। इस परिस्थिति ने धन-जन की सुरक्षा को ही नही वरन देश की सस्कृति, सभ्यता और धर्म को भी खतरे में डाल दिया था।

ब्राह्मण देश के व्यवस्थापक थे। अत अन्तिम मौर्य-नरेशो के शासन-काल की कुव्यवस्था को देख कर वे क्षुब्ध हो उठे। वर्णाश्रम-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए, भारत की सस्कृति, सभ्यता और सुरक्षा के लिए, उन्होने स्वय शस्त्रधारण किए। ब्राह्मण पुष्यमित्र शुग का प्रधान सेनापतित्व इसी परिस्थिति की ओर सकेत करता है। उसके अतिरिक्त यदि उसकी सेना में अन्यान्य बहुसख्यक ब्राह्मण सैनिक विद्यमान रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नही। कम से कम इतना तो निश्चित है कि मौर्य-सेना सम्राट बृहद्रथ से असन्तुष्ट थी। सेनापति पुष्यमित्र ने उसे अपनी ओर मिला लिया था और एक दिन सैन्य-निरीक्षण के निमित्त अपने प्रज्ञादुर्बल स्वामी बृहद्रथ को आमन्त्रित करके सपूर्ण सैनिको के समक्ष ही उसकी हत्या कर डाली। सैनिको के समक्ष सेना-पति द्वारा नरेश की हत्या, फिर भी सैनिको का मौन रहना और तत्पश्चात उसी सेनापति का सिंहासनारोहण आकस्मिक घटनाये न थी। वे एक पूर्वनिर्मित योजना के परिणामस्वरूप हुई थी। बृहद्रथ की हत्या के पीछे बौद्ध धर्म के विरुद्ध ब्राह्मण-धर्म का विद्रोह काम कर रहा था, विपथ क्षत्रिय-वर्ग के विरुद्ध व्यवस्थापक ब्राह्मण-धर्म की योजना काम कर रही थी।

पुष्यमित्र कौन था?—पुष्यमित्र और उसके वशजो अग्निमित्र, वसुमित्र आदि के नामो के अन्त में 'मित्र' शब्द को जुडा हुआ देख कर श्री हरप्रसाद शास्त्री ने प्रारंभ में यह मत प्रस्तुत किया था कि ये राजा पारसीक थे और मिथ्र (मित्र-सूर्य) की उपासना करते थे।[1] प्राचीन पारसीको मे मिथ्र की उपासना का बडा प्रचार था। कालान्तर मे शास्त्री महोदय ने अपने मत का स्वय परित्याग कर दिया और पुष्यमित्र को ब्राह्मण घोषित किया।

दिव्यावदान पुष्यमित्र को मौर्य कहता है। परन्तु यह स्पष्टतया दिव्यावदान के लेखक की भूल है। भूल से ही उसने मौर्य-राजाओ की सूची मे पुष्यमित्र की गणना कर ली है।

पुष्यमित्र की जाति के विषय मे जो साक्ष्य उपलब्ध होते है वे उसे ब्राह्मण घोषित करते है। मालविकाग्निमित्र पुष्यमित्र शुग के भाई अग्निमित्र शुग को बैम्बिकवशीय बताता है। कुछ विद्वान बैम्बिक-वश को बिम्बिसार-वश से सबद्ध करते हैं[2], परन्तु इसके लिए कोई विश्वसनीय साक्ष्य नही है। परन्तु फिर भी यह प्रश्न उठता है कि आखिर बैम्बिक वशीय थे कौन? बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार बैम्बिक कश्यपगोत्रीय थे। यह गोत्र ब्राह्मणो का था। अत शुग कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण सिद्ध होते हैं। इस मत की पुष्टि हरिवश से होती है। हरिवश एक औद्भिज्ज काश्यप ब्राह्मण सेनानी

१ J.A.S.B. 1912

२ Proceedings of the Third Oriental Conference, Madras p. 370.

का उल्लेख करता है जिसने कलियुग में अश्वमेध यज्ञ किया था।[१] डा० जायसवाल ने इस सेनानी का समीकरण पुष्यमित्र शुंग के साथ किया है। पुष्यमित्र शुंग 'औद्भिज्ज' (आकस्मिक रूप से उदय होने वाला) था, क्योंकि व अपने स्वामी को मार कर राजा बना था। समस्त साक्ष्य पुष्यमित्र को 'सेनानी' कह कर ही पुकारते हैं। पुन. अन्य साक्ष्यो से प्रकट होता है कि उसने एक ही नही वरन दो अश्वमेध यज्ञ किए थे। इस प्रकार हरिवंश का वर्णन पुष्यमित्र के साथ मेल खाता है। अत. डा० जायसवाल का समीकरण पूर्णत ग्राह्य प्रतीत होता है।

परन्तु जाति-सम्बन्धी समस्या का अन्त यही नही हो जाता, क्योंकि पुराण पुष्यमित्र को काश्यपगोत्रीय बैम्बिक न कह कर 'शुग' कहते है। हर्षचरित यद्यपि पुष्यमित्र को 'शुग' नही कहता तथापि उसके वंश के एक अनुवर्ती राजा को 'शुंग' अवश्य कहता है। इस प्रकार हर्षचरित के साक्ष्य से पुष्यमित्र का शुगजातीय होना सिद्ध होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि ये शुग कौन था? वंश ब्राह्मण एक शौगायनी (शौग के वंशज) को आचार्य बताता है। बृहदारण्यक उपनिषद मे एक शौगीपुत्र आचार्य का उल्लेख है। लाट्यायन श्रौतसूत्र में एक शुंग का उल्लेख हुआ है। इस पर टीकाकार का मत है कि शुग आचार्य थे। आश्वलायन श्रौतसूत्र के आधार पर मैकडानेल और कीथ ने भी यह मत प्रकट किया है कि शुग आचार्य होते थे। प्राचीन भारत में प्राय ब्राह्मण ही आचार्य होते थे। अत शुगो का ब्राह्मण होना सिद्ध होता है। इस मत की पुष्टि अन्य प्रकार से भी होती है। पतंजलि पुष्यमित्र के राजपुरोहित थे। उन्होंने एक स्थान पर यह कहा है कि ब्राह्मण-राज्य सर्वोत्कृष्ट होता है। यदि पुष्यमित्र शुग ब्राह्मण न होता तो उसका राजपुरोहित कभी भी इस प्रकार का स्पष्ट कथन न करता। पुन मनु भी पुष्यमित्र के समकालीन अथवा निकटकालीन प्रतीत होते है। अपनी मनुस्मृति मे उन्होने एक स्थान पर कहा है कि वेद और शास्त्र को जाननेवाला व्यक्ति ही सेनापतित्व, राज्य, दण्डनेतृत्व और सर्वलोकाधिपत्य के योग्य होता है।[२] यह मत प्रकट करते समय कदाचित मनु की दृष्टि ब्राह्मण सेनानी एव नरेश पुष्यमित्र की ओर थी। वेदशास्त्र का सम्यक अध्ययन व्यावहारिक रूप में ब्राह्मण ही करते थे। अत इस उल्लेख से मनु के समकालीन अथवा निकटकालीन पुष्यमित्र का ब्राह्मण होना ध्वनित होता है। यही नही, तिब्बती लेखक तारानाथ पुष्यमित्र को ब्राह्मण बताता है।

पाणिनि और आश्वालायन सूत्र के अनुसार शुग भारद्वाजगोत्रीय थे। भारद्वाज गोत्र ब्राह्मणो का था। इससे भी पुष्यमित्र शुग का ब्राह्मण होना सिद्ध होता है।

साराशत. पुष्यमित्र की जाति के विषय में निम्नलिखित मत प्रस्तुत किए गये हैं—

(१) पुष्यमित्र पारसीक था।
आज इस मत को कोई भी नही मानता।

(२) पुष्यमित्र मौर्य था।
यह दिव्यावदान के लेखक की भूल का परिणाम है।

१ औद्भिज्जो भविता कश्चित् सेनानी काश्यपो द्विजः
अश्वमेधं कलियुगे पुनः प्रत्याहरिष्यति।

२ सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।

(३) पुष्यमित्र कश्यपगोत्रीय बैम्बिक ब्राह्मण था।
यह मत सम्भव है।

(४) पुष्यमित्र भारद्वाज गोत्रीय शुंग ब्राह्मण था।
यह मत सबसे अधिक सबल और मान्य प्रतीत होता है।

तिथि-क्रम—पुराणों के अनुसार मौर्य-वंश ने १३७ वर्ष तक राज्य किया। हमने चन्द्रगुप्त मौर्य के सिंहासनारोहण की तिथि ३२२ ई० पू० मानी है। अत मौर्य-वंश का अन्त (३२२-१३७)=१८५-४ ई० पू० के लगभग हुआ होगा। यही तिथि पुष्यमित्र शुंग के सिंहासनारोहण की भी हुई। थेरवली के लेखक मेरुतुंग के अनुसार मौर्यों ने केवल १०८ वर्ष राज्य किया और पुष्यमित्र शुंग ने ३० वर्ष तक। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि इस लेखक ने १३७ वर्ष के मौर्य-शासन-काल को १०८ वर्ष और ३० वर्ष के दो भागों में बाँट दिया है। अनुमानत पुष्यमित्र मौर्य-शासन-काल में ही ३० वर्ष तक अवन्ती मे अधीन शासक के रूप मे राज्य करता रहा था। वह नाम-मात्र को ही मौर्य-साम्राज्य के अधीन रहा होगा। व्यावहारिक रूप में वह मौर्य-साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठाकर स्वतन्त्रप्राय हो गया होगा। मेरुतुंग प्रमुखतया अवन्ती-नरेशो की तालिका देता है। अत उसने अवन्ती के स्वतन्त्रप्राय गवर्नर पुष्यमित्र का भी नामोल्लेख किया है।

पुराणो का कथन है कि पुष्यमित्र ने ३६ वर्ष तक राज्य किया था। अत उसकी मृत्यु (१८४-३६=) १४८ ई० पू० के लगभग हुई होगी। परतु वायु पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण के कथनानुसार उसने ६० वर्ष तक राज्य किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इन पुराणो ने पुष्यमित्र शुंग का ३० वर्ष का वह काल भी जोड लिया है जब वह मौर्य-साम्राज्य के अधीनस्थ अवन्ती मे गवर्नर के रूप में शासन करता था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है उसकी अधीनता नाममात्र को ही थी। व्यावहारिक रूप में वह पूर्णत स्वतन्त्र था। इसी से इन दो पुराणो ने उपर्युक्त भूल की।

सेनापति की उपाधि—पुराणो, हर्षचरित, मालविकाग्निमित्र और अयोध्या-अभिलेख–सर्वत्र पुष्यमित्र के लिए 'सेनापति' की उपाधि का प्रयोग किया गया है। इसके विरुद्ध पुराणो और मालविकाग्निमित्र आदि मे उसके पुत्र अग्निमित्र के लिए 'राजा' की उपाधि मिलती है। इस पर शकर पाण्डुरग और विल्सन महोदयो ने यह मत प्रस्तुत किया था कि वास्तव में पुष्यमित्र कभी भी राजा न हुआ था। उसने बृहद्रथ को मार कर जो सिंहासन प्राप्त किया था उस पर अपने पुत्र अग्निमित्र को ही आसीन कराया था। इस प्रकार शुंग-वंश का सर्वप्रथम राजा अग्निमित्र ही था।

परन्तु यह मत नितान्त असगत है। पुराण पुष्यमित्र को शुंग-वंश का संस्थापक बताते है और साथ ही उसके तीस वर्षीय अथवा साठवर्षीय शासन-काल का भी उल्लेख करते है। महाभाष्य, मालविकाग्निमित्र और अयोध्या-अभिलेख के अनुसार पुष्यमित्र ने ही अश्वमेध यज्ञ किया था। मालविकाग्निमित्र के अनुसार उसी ने अश्व की रक्षा के लिए अपने पौत्र वसुमित्र के साथ १०० राजा भेजे थे।

बात यह थी कि पुष्यमित्र बृहद्रथ का सेनापति था। सेनापति के रूप में ही वह चतुर्दिक प्रख्यात था। अत राज्य प्राप्त करने के पश्चात भी उसने लोकविदित 'सेनापति' के विरुद्ध को ही धारण रखा। इस प्रकार के उदाहरण इतिहास में अन्यत्र भी मिलते है। मुगल-सम्राटो ने अपने अधीनस्थ राज्य हैदराबाद में अपना 'निजाम' नियुक्त किया था। मुगल-साम्राज्य का अन्त हो गया, हैदराबाद स्वतन्त्र राज्य हो गया, परन्तु फिर भी वहाँ के शासक निजाम ही कहलाते रहे।

विदर्भ-युद्ध—मालविकाग्निमित्र का कथन है कि विदर्भ का शासक यज्ञसेन था। इस नाटक में वह 'अचिराधिष्ठित' और 'नवसरोपणशिथिलस्तरु.' कहा गया है। इन शब्दों से प्रकट होता है कि यह राजा हाल ही में सिंहासनासीन हुआ था और इसी कारण से वह अधिक शक्तिशाली न था। मालविकाग्निमित्र के अनुसार यह विदर्भ-नरेश विगत मौर्य-नरेश बृहद्रथ के मन्त्री का सम्बन्धी था और शुंगों का प्रकृत्यमित्र (स्वाभाविक शत्रु)।

इन उल्लेखों से प्रकट होता है कि जिस समय बृहद्रथ जीवित था उसी समय राजसभा में दो परस्पर-विरोधी दल थे। एक दल का नेता सेनापति पुष्यमित्र था और दूसरे दल का नेता मन्त्री। पुष्यमित्र ने राजा के ऊपर जोर डालकर अपने पुत्र अग्निमित्र के लिए विदिशा की गवर्नरी ले ली थी। इसी प्रकार उसके विरोधी नेता मन्त्री ने अपने पक्षपाती यज्ञसेन को विदर्भ की गवर्नरी दिला दी थी।

जिस समय पुष्पमित्र बृहद्रथ को मार कर स्वयं राजा बन बैठा उस समय उसने अपने विरोधी मन्त्री को बन्दी बना लिया। विदर्भ का गवर्नर यज्ञसेन मन्त्री का पक्षपाती था। अत उसने पुष्यमित्र की अधीनता स्वीकार करने से इनकार कर दिया।

मालविकाग्निमित्र के अनुसार कुमार माधवसेन यज्ञसेन का सम्बन्धी था। परन्तु उसे पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने अपनी ओर मिला लिया था। जिस समय माधवसेन अग्निमित्र से मिलने जा रहा था उसी समय मार्ग में यज्ञसेन ने उसे बन्दी बनवा लिया। अग्निमित्र ने अपने मित्र माधवसेन को मुक्त करने की माँग की। इस पर यज्ञसेन ने उत्तर दिया कि जब तक पुष्यमित्र मन्त्री को अपनी कारागार से मुक्त नहीं करेगा तब तक मैं भी तुम्हारे मित्र माधवसेन को मुक्त न करूँगा। बस, इसी बात पर युद्ध छिड़ गया।

इस युद्ध का सविस्तार वर्णन नही मिलता। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र की विजय हुई। माधवसेन को मुक्त कर दिया गया और तत्पश्चात विदर्भ-राज्य दो भागों मे बाँट दिया गया। एक भाग यज्ञसेन के पास ही रहा और दूसरा भाग अग्निमित्र के सहयोगी और मित्र माधवसेन को मिला। कदाचित दोनों राज्यो के बीच की सीमा वरदा (वर्धा) नदी मानी गई। यज्ञसेन को आधा राज्य तो मिल गया, परन्तु सम्भवत. उसे पुष्यमित्र की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

यवन-आक्रमण—पुष्यमित्र शुंग के समय मे भारतवर्ष पर यवनों (Indo-Greeks) का आक्रमण हुआ था। इसके अनेक साक्ष्य हैं—

(१) पतंजलि का महाभाष्य—पाणिनि के अनद्यतन लङ (Imperfect tense) को समझाते हुए पतजलि ने अपने महाभाष्य मे दो उदाहरण दिये हैं—

अरुनद् यवन· साकेतम् अर्थात् यवनो ने अयोध्या पर आक्रमण किया।

अरुनद् यवनः माध्यमिकाम अर्थात यवनों ने माध्यमिका (नागरी-चित्तौड़)[1] पर आक्रमण किया।

अनद्यतन लङ के प्रयोग का एक विशेष महत्व है। यह लकार (tense) भूतकाल की उस सर्वविदित घटना के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो पीठ पीछे

१ महा० ३. २. ८—Ind-Ant. VII P. 267

(परोक्ष में) घटी हो परन्तु यदि कोई उसे देखना चाहता तो जाकर देख सकता था।[1]

इस नियम के अन्तर्गत पतजलि ने जो दो उदाहरण दिए है उनसे यही प्रकट होता है कि यवन-आक्रमण पतजलि के जीवन-काल मे ही हुआ था। उन्होंने उस आक्रमण को स्वय अपनी आँखो से नही देखा था। परन्तु यदि देखना चाहते तो साकेत और माध्यमिका में जाकर उसे स्वय देख सकते थे।

पतजलि पुष्यमित्र के राजपुरोहित थे। अत स्पष्ट है कि यवन-आक्रमण पुष्यपुत्र शुंग के काल में हुआ था।

(२) गार्गी सहिता का युगपुराण—युगपुराण गार्गी सहिता का एक भाग है। इसमे भी यवन-आक्रमण का वर्णन है—

ततः साकेतमाक्रम्य पाचालान् मथुरांस्तथा।
यवना दुष्टविक्रान्ता प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम् ॥
तत पुष्यपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते।
आकुला विषया सर्वे भविष्यन्ति न सशय ॥

इस वर्णन से प्रकट होता है कि यवनो ने साकेत, पाचाल और मथुरा पर आक्रमण किया और तत्पश्चात वे कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) तक पहुँच गये। उनके आक्रमण से चतुर्दिक अव्यवस्था फैल गई।

(३) मालविकाग्निमित्र—कालिदास के इस नाटक मे पुष्यमित्र शुग के अश्वमेध का वर्णन है। यज्ञ का अश्व घूमते-घूमते सिन्धु के दक्षिणी तट पर[2] पहुँच गया। वहाँ उसे यवनो ने पकड लिया। परिणामस्वरूप युद्ध हुआ जिसमे पुष्यमित्र शुग के पौत्र वसुमित्र ने यवनो को पराजित किया और अश्व को छुडा लिया।

यवन आक्रमण का नेता कौन? पुष्यमित्र शुग के समय मे यवन-आक्रमण हुआ, इसमे कोई सन्देह नही। परन्तु इस आक्रमण का नेता कौन था? उपर्युक्त साक्ष्यो मे कही पर भी इस यवन-आक्रमण के नेता का नाम नही दिया गया है। इसी से सम्पूर्ण प्रश्न अति विवादग्रस्त हो गया है। इस विषय पर निम्नलिखित मत दिये जाते है—

(१) गॉल्डस्टूकर, रैप्सन और स्मिथ आदि के मतानुसार इस यवन-आक्रमण का नेता मीनेण्डर था, क्योंकि इस यूनानी नरेश की मुद्राये भारतवर्ष के अनेक स्थानो पर पाई गई है। इसके अतिरिक्त मिलिन्दपन्हो मे प्रकट होता है कि मीनेण्डर (मिलिन्द) भारतीय इतिहास मे विशेष रूप से प्रख्यात हो गया था।

(२) भण्डारकर, रायचौधरी और जायसवाल आदि के मतानुसार यवन आक्रमणकारी डेमेट्रिअस था। इसमे कोई सन्देह नही कि डेमेट्रिअस ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया था। परन्तु कोई भी ऐसा साक्ष्य नही मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि वह स्वय पाटलिपुत्र तक पहुँचा था। पजाब की Hyphasis (व्यास) नदी के पश्चिम मे ही वह रहा था। इस नदी के पूर्व मे उसकी मुद्राये नही मिलती। स्टेन कोनोव और जायसवाल महोदयो का मत था कि हाथीगुम्फा अभिलेख में यवनराज दिमित (Demetrius) का उल्लेख है। जब खारवेल ने मगध पर आक्रमण

१ परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये। तथा अननुभूतत्वात् परोक्षोऽपि प्रत्ययोग्यता- मात्राश्रयेण दर्शनविषये इति विरोधाभावः।

२ सिन्धोर्दक्षिणरोधसि

किया तो दिमित मथुरा भाग गया, परन्तु अभिलेख का यह पाठ नितान्त अशुद्ध है। इस अभिलेख मे दिमित का कोई उल्लेख नही है।

(३) अभी हाल ही मे श्री एन० एन० घोष ने कुछ विद्वानो की पुरानी धारणा का पुनरुद्धार किया था कि भारतवर्ष पर एक नही वरन दो यवन-आक्रमण हुए। एक आक्रमण का नेता डेमेट्रिअस था और दूसरे का मीनेण्डर। प्रथम आक्रमण पुष्यमित्र शुग के शासन-काल के प्रारम्भ मे हुआ था और द्वितीय उसके शासन-काल के अन्त में।

घोष महोदय का मत था कि पतजलि और गार्गी सहिता में जिस आक्रमण का उल्लेख है वह प्रथम आक्रमण था। इसका नेता डेमेट्रिअस था। उसने न केवल माध्यमिका और साकेत को जीत लिया वरन पाटलिपुत्र तक के सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपने अधीन कर लिया। पाटलिपुत्र पर उसका अधिकार हुआ अथवा नही, यह निश्चित-रूप से नही कहा जा सकता। गार्गी सहिता मे 'प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्' शब्दो का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ 'पाटलिपुत्र जीतेंगे' भी हो सकता है और 'पाटलिपुत्र पहुँचेंगे' भी।

परन्तु यह मत न्यायसगत नही प्रतीत होता। किसी भी साक्ष्य मे यह नहीं कहा गया है कि डेमेट्रिअस कभी भी व्यास नदी के पूर्व मे गया था। गार्गी सहिता के वर्णन से प्रकट होता है कि पाटलिपुत्र तक पहुँच जाने के पश्चात कुछ समय तक यवनो ने भारतवर्ष के अधिकृत प्रदेश पर शासन किया था। यदि यह आक्रमण, अधिकार और शासन डेमेट्रिअस ने किया था तो फिर उसकी मुद्रायें उत्तरी भारत मे क्यो नही मिलती? सिन्धु नदी के पूर्व में उसकी एक भी मुद्रा नहीं मिली है। उसकी जो एक मुद्रा तक्षशिला से उपलब्ध हुई है वह भी व्यापार अथवा यात्रा के सम्बन्ध मे आई होगी। इससे यह प्रकट होता है कि यदि किसी आक्रमण से डेमेट्रिअस का सम्बन्ध था भी तो वह स्वय व्यास नदी के पूर्व मे नही गया था। उसकी समस्त कार्यवाही इस नदी के पश्चिम में ही सीमित रही होगी।

श्री एन० एन० घोष का पुन. कथन है कि द्वितीय यवन-आक्रमण पुष्यमित्र शुग के शासन-काल के अन्त में हुआ था। इस आक्रमण का नेता मीनेण्डर था। मालविकाग्निमित्र में जिस यवन-युद्ध का वर्णन है वह इसी द्वितीय आक्रमण के सम्बन्ध में हुआ था।

परन्तु कोई भी साक्ष्य ऐसा नही जो निश्चितरूप से यह कहे कि यह आक्रमण पुष्यमित्र के शासन-काल के प्रारभ में न होकर अन्त मे हुआ था। श्री घोष का कथन है कि इस युद्ध में यवनो का सामना पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने किया था। अत. निश्चित है कि उस समय तक स्वय पुष्यमित्र वृद्ध हो चुका होगा और वह युद्ध उसके शासन-काल के अन्तिम चरण मे हुआ होगा। परन्तु यह कथन भी अकाट्य नही है। मालविकाग्निमित्र के अध्ययन से प्रकट होता है कि युद्ध के समय वसुमित्र की आयु २० वर्ष से अधिक न रही होगी। उसकी अल्पायु के कारण ही उसके लिए मालविकाग्निमित्र ने 'दारक' शब्द का प्रयोग किया है। उसकी माता की व्यग्रता से भी उसकी अल्पवय प्रकट होती है। अत्यन्त व्यग्रता के साथ उसकी माता उसकी दीर्घायु की कामना करती हुई दान-दक्षिणा देती है।[1] यदि वसुमित्र २० वर्ष के लगभग था तो उसके पिता अग्नि-मित्र की आयु लगभग ४० वर्ष की और उसके पितामह पुष्यमित्र की आयु लगभग ६० वर्ष की रही होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि ६० वर्ष की अवस्था में सम्राट के रूप में पुष्यमित्र के शासन-काल का प्रारम्भ हुआ था, क्योंकि

१ 'तस्यायुर्निमित्तं निष्कशतसुवर्णपरिमाणां दक्षिणां देवी दक्षिणायै परिग्राहयति'

सम्राट होने के पूर्व वह दीर्घकाल तक, (कदाचित ३० वर्ष तक) अवन्ती में मौर्य-साम्राज्य के अधीनस्थ गवर्नर के रूप में शासन कर चुका था। अत उसकी ६० वर्ष की अवस्था को देखकर यह कल्पना न करनी चाहिए कि उस समय उसके शासन का अन्तिम चरण था। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर वह उसका प्रारम्भिक चरण भी हो सकता है।

पुनः यह कहा जाता है कि यह युद्ध सिन्धु नदी के तट पर पश्चिमी भारत में हुआ था और यह स्वाभाविक भी था। यह युद्ध पुष्यमित्र के शासन-काल के अन्त में हुआ था और उस समय तक उसका साम्राज्य सम्यक् रूप से सगठित हो चुका था। अतः यवनो के लिए यह सम्भव न था कि वे सरलतापूर्वक सम्पूर्ण भारतवर्ष को आक्रान्त करते हुए देश के भीतर घुस आते। शक्तिशाली पुष्यमित्र की सेनाओ ने यवनों को अपनी पश्चिमी सीमा सिन्धु-तट पर ही रोक दिया। अत. यह द्वितीय युद्ध होगा और प्रथम युद्ध के बहुत बाद हुआ होगा। इसके विरुद्ध पतजलि और गार्गी सहिता से प्रकट होता है कि तत्सम्बन्धी आक्रमण मे यवनो ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत-वर्ष को ही रौद डाला था और वे पाटलिपुत्र तक पहुँच गए थे। इससे प्रकट होता है कि यह प्रथम आक्रमण था और उस समय हुआ था जब कि पुष्यमित्र शुग नया-नया सम्राट बना था। बृहद्रथ की हत्या और नवीन शुग-वश की स्थापना ने देश में एक क्रान्ति कर दी थी। सम्पूर्ण परिस्थिति अस्थिर और अनिश्चित थी। ऐसी दशा में यवनो का कार्य सरल हो गया था और वे पुष्यमित्र शुंग के शासन-काल की प्रारम्भिक निर्बलता और विवशता स लाभ उठा कर सम्पूर्ण उत्तरी भारत को पदाक्रान्त करने में सफल हुए थे।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि पुष्यमित्र शुग ने जो दो अश्वमेध यज्ञ किए थे उनका सम्बन्ध दोनों यवन-युद्धो से था। प्रथम आक्रमण मे यवन सम्पूर्ण उत्तरी भारत को पदाक्रान्त करते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँच गए। इसके पश्चात भाग्य ने उनका साथ छोड दिया। अब पुष्यमित्र शुग की विजय हुई। उसने पाटलिपुत्र में यवन-सेना को हराया और अपनी राजधानी का उद्धार किया। श्री घोष का मत है कि जिस अश्वमेध यज्ञ का पतजलि ने उल्लेख किया है वह प्रथम यज्ञ था और पाटलिपुत्र की विजय के उपलक्ष में हुआ था। दीर्घकालीन शासन के पश्चात जब पुष्यमित्र शुग अपनी शक्ति और समृद्धि की पराकाष्ठा पर पहुँच गया तब उसने अपने सम्राट-पद को सूचित करने के लिए द्वितीय अश्वमेध यज्ञ किया। इसका उल्लेख मालविकाग्निमित्र में है। यज्ञ का घोडा घूमते-घूमते सिन्धु-तट पर पहुँच गया जो उस समय शुग-साम्राज्य और यवन-साम्राज्य के बीच की विभाजन-रेखा थी। यहाँ यवनों ने घोड़े को पकड़ लिया। परिणामस्वरूप दूसरा युद्ध हुआ।

परन्तु दो यवन-आक्रमणो को प्रतिपादित करने वाले इस मत मे अनेक निर्बलताये हैं। कोई भी भारतीय अथवा विदेशीय साक्ष्य यह नही कहता कि पुष्यमित्र शुंग के समय मे दो यवन-आक्रमण हुए। सम्भवत पतजलि, गार्गी सहिता और मालविकाग्निमित्र—सब एक ही आक्रमण की घटनाओं का उल्लेख करते हैं जिसमें प्रारम्भ में तो यवनो की पराजय हुई, परन्तु फिर उन्हे निरन्तर विजय मिलती गई। इसमें कोई सन्देह नही कि अयोध्या अभिलेख पुष्यमित्र के दो यज्ञो का उल्लेख करता है। परन्तु कोई भी साक्ष्य यह नही कहता कि प्रथम यज्ञ पाटलिपुत्र के उद्धार और यवन-पराजय के उपलक्ष में किया गया था। यह भी सभव है कि वह यज्ञ बृहद्रथ की हत्या के पश्चात ही सिंहासन-प्राप्ति पर अथवा स्वदेशीय नरेशो के अधीनता स्वीकार करने पर किया गया हो। जो भी हो, प्रथम यज्ञ का यवन-पराजय के साथ संबन्ध

जोड़ना कोरी कल्पना है। सबसे अधिक न्यायसगत मत टार्न महोदय का प्रतीत होता है। इनका मत है कि पुष्यमित्र शुंग के जीवन-काल में जो यवन-आक्रमण हुआ वह एक ही था। यद्यपि उसका नेता डेमेट्रिअस था तथापि वह अपने भाई एपालोडोटस और अपने सेनापति मीनेण्डर को भी लाया था। स्वयं डेमेट्रिअस Hyphanis (व्यास) तक ही आया था। तत्पश्चात् उसने अपने भाई एपालोडोटस को दक्षिण-पश्चिम भारत की विजय के हेतु और मीनेण्डर को पूर्वी भारत की विजय के हेतु भेजा।

पुष्यमित्र शुंग के शासन-काल के प्रारम्भ में—अब हम इसी मत पर विचार करेंगे। हरप्रसाद शास्त्री का मत था कि यूनानी आक्रमण बृहद्रथ के शासन-काल में हुआ था और पुष्यमित्र ने मौर्य-सम्राट् के सेनापति के रूप में ही यूनानियों को पराजित किया था। परन्तु यह मत असगत प्रतीत होता है। १८७ ई० के मैग्नेशिया-युद्ध के पूर्व डेमोट्रिअस के लिए यह संभव न था कि वह भारत पर आक्रमण करता। उस युद्ध के पश्चात् ४-५ वर्ष ईरान में अपनी शक्ति संगठन करने व्यतीत हुए होंगे। अत. उसका आक्रमण पुष्यमित्र शुंग के शासन काल के प्रारंभ मे ही हुआ होगा।

आक्रमण के समय डेमेट्रिअस की आयु—डेमेट्रिअस ने २०६ ई० पू० सम्राट् ऐण्टिआकस तृतीय की पुत्री के साथ विवाह किया था। अतः उस समय कम से कम उसकी आयु १८ वर्ष की रही होगी। पुष्यमित्र शुंग १८५-४ ई० पू० में सिहासनासीन हुआ। अत आक्रमण के समय डेमेट्रिअस की आयु लगभग ४० वर्ष की रही होगी।

मीनेण्डर का काल—यह सामान्य वश मे उत्पन्न हुआ था। परन्तु अपनी योग्यता के कारण यह अति उच्च पद पर पहुँच गया था। डेमेट्रिअस की मृत्यु लगभग १६० ई० पू० हुई थी और मीनेण्डर की लगभग १५०-१४५ ई० पू०। अपनी बाद की मुद्राओ पर मीनेण्डर प्रौढावस्था मे प्रदर्शित किया गया है। अत. स्पष्ट है कि मीनेण्डर और डेमेट्रिअस समवयस्क रहे होंगे।

कुछ विद्वानो का मत है कि डेमेट्रिअस की मुद्राओं की अपेक्षा मीनेण्डर की मुद्रायें कलात्मक दृष्टि से अति हीन है। कला के पतन के लिए कुछ असमय चाहिए। अतः मीनेण्डर डेमेट्रिअस के बाद हुआ होगा। परन्तु यह निष्कर्ष असगत है। वास्तविक बात यह है कि मीनेण्डर की मुद्रायें पूर्वी पजाब मे निर्मित हुई थी और डेमेट्रिअस की मुद्रायें बैक्ट्रिया में। बैक्ट्रिया के मुद्राकार पजाब के मुद्राकारों की अपेक्षा कहीं अधिक उच्चकोटि के थे। यह कारण है कि डेमेट्रिअस की मुद्रायें मीनेण्डर की मुद्राओ से कहीं अधिक कलात्मक है।

डेमेट्रिअस और मीनेण्डर—एपालोडोरस का कथन है कि मेसीडोनिया-निवासियो की अपेक्षा यूनानियो ने अधिक भारत-विजय की। उन्होने (यूनानियो ने) सिकन्दर से भी अधिक लोगों को पराजित किया। विजय का सबसे अधिकश्रेय मीनेण्डर को प्राप्त है और कुछ डेमेट्रिअस को।

एपालोडोरस के इस कथन से प्रकट होता है कि डेमेट्रिअस की अपेक्षा मीनेण्डर ने अधिक प्रदेश जीते थे।

स्ट्रैबो का कथन है कि यह बात विश्वनीय नहीं प्रतीत होती कि मीनेण्डर ने Hyphanis नदी पार की थी और वह Isamos (कहीं-कहीं Soamos पाठान्तर) तक पहुँच गया था। Isamos का समीकरण यमुना से और Soamos का समीकरण सोन के साथ किया गया है।

स्ट्रैबो के इस कथन से प्रकट होता है कि कुछ लेखकों ने यह कहा था कि मीनेण्डर Hyphanis पार की थी और वह यमुना अथवा सोन तक पहुंच गया था।

दूसरे स्थान पर स्ट्रैबो स्वयं कहता है कि सिकन्दर के अनुगामी आक्रमणकारी Southern को पार करके गंगा और पाटलिपुत्र तक पहुँच गए। स्पष्ट है कि यह आक्रमणकारी मीनेण्डर ही रहा होगा।

मीनेण्डर और एपालोडोटस—ट्रोगस का कथन है कि भारतीय विजय का श्रेय एपालोडोटस और मीनेण्डर को प्राप्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि डेमेट्रिअस के साथ एकमात्र मीनेण्डर ही नहीं वरन् एपालोडोटस भी आया था। टार्न महोदय का मत है कि एपालोडोटस डेमेट्रिअस का भाई था।

आक्रमण की प्रगति—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, डेमेट्रिअस अपने भाई एपालोडोटस और अपने सेनापति मीनेण्डर के साथ भारत-विजय के लिए निकला। शीघ्र ही उसने हिन्दूकुश और सिन्धु नदी के बीच का सम्पूर्ण प्रदेश जीत लिया। इस विजित प्रदेश में उसने अपने पुत्र डेमेट्रिअस द्वितीय को शासक नियुक्त किया। इस प्रदेश में अपने पिता के नाम पर निर्मित डेमेट्रिअस द्वितीय की मुद्रायें मिली हैं।

डेमेट्रिअस ने तक्षशिला को अपना केन्द्र बनाया। यहां से अनुमानतः उसने दक्षिण-पश्चिम की ओर एपालोडोटस और पूर्व की ओर मीनेण्डर को भेजा। एपालोडोटस भारत-विजय का श्रेय डेमेट्रिअस और मीनेण्डर को देता है। परन्तु ट्रोगस यह श्रेय एपालोडोटस और मीनेण्डर को देता है। दोनों ही लेखक मीनेण्डर का नाम लेते हैं। अतः अनुमान है कि प्रमुख आक्रमण का भार मीनेण्डर के ऊपर ही रखा गया था। तक्षशिला से लेकर पाटलिपुत्र तक के उत्तरी भारत की विजय सबसे अधिक महत्व-पूर्ण थी। अतः इस प्रदेश पर मीनेण्डर ने ही आक्रमण और अधिकार किया होगा।

दक्षिणी पश्चिमी भारत की विजय—भारतवर्ष के साहित्यिक साक्ष्य यवन-आक्रमण का उसी सीमा तक उल्लेख करते हैं जहां तक वह उत्तरी भारत से सम्बन्ध रखता है। वे उत्तर-पश्चिम अथवा दक्षिण-पश्चिम में हुए यवन-आक्रमण का उल्लेख नहीं करते। अतः दक्षिणी-पश्चिमी भारत पर हुए यवन-आक्रमण के अध्ययन के लिए हमें अन्यान्य साक्ष्यों का सहारा लेना पड़ेगा

(१) एपालोडोरस का कथन है कि यूनानियों ने पाटलीन (सिन्धु-डेल्टा), सौराष्ट्र और सिगर्डिस (कच्छ) पर अधिकार कर लिया था। यह अधिकार एपा-लोडोटस ने ही किया होगा, क्योंकि एपालोडोरस का कथन है कि एपालोडोटस की मुद्रायें बैरीगाजा में चलती थीं।

(२) पेरीप्लस का कथन है कि बैरीगाजा प्रदेश में सिकन्दर के बनाये हुए शिविरों, मन्दिरों, प्राचीरों आदि के अवशेष मिलते हैं। परन्तु सिकन्दर तो उस प्रदेश में कभी गया ही न था। अतः स्पष्ट है कि भूल से पेरीप्लस ने एपालोडोटस के स्थान पर सिकन्दर का नामोल्लेख कर दिया है।

(३) टालमी ने कच्छ के समीप थिओफिला नामक एक यूनानी नगर का उल्लेख किया है। टार्न महोदय का अनुमान है कि कदाचित् थिओफिला डेमेट्रिअस की पत्नी अथवा माता का नाम था और कदाचित् इस नगर की स्थापना दक्षिणी-पश्चिमी भारत की विजय के उपलक्ष में एपालोडोटस ने की थी।

टार्न महोदय का मत है कि दक्षिणी-पश्चिमी भारत को जीतने के पश्चात् एपालो-डोटस ने देश के भीतरी प्रदेश की ओर प्रस्थान किया और माध्यमिका को जा घेरा।

पतंजलि ने माध्यमिका के घेरे का उल्लेख किया है। सम्भवतः यूनानियों ने इस पर अधिकार भी कर लिया था।

उत्तरी भारत की विजय—अब हम मीनेण्डर के सेनापतित्व में हुई उत्तरी भारत की विजय के विषय पर विचार करेंगे।

जिस समय मीनण्डर उत्तरी भारत पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था उस समय पाटलिपुत्र के सिंहासन पर पुष्यमित्र शुंग आसीन था। उसने हाल ही में मौर्य-नरेश बृहद्रथ की हत्या करके मगध-राज्य प्राप्त किया था। अपनी प्रभुता की घोषणा करने के लिए उसने अश्वमेध यज्ञ किया। यज्ञ का घोड़ा घूमते-घूमते सिन्धु नदी के तट पर जा पहुँचा। वहाँ उसे यवनों ने पकड़ लिया। परिणामस्वरूप युद्ध हुआ। इस युद्ध में पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने यवन-सेना को पराजित कर दिया और घोड़े को मुक्त करा लिया। इसका वर्णन मालविकाग्निमित्र में मिलता है। यह मीनेण्डर की प्रारम्भिक हार थी। परन्तु इसके पश्चात् उसने द्विगुणित तैयारी से शुंग-साम्राज्य पर आक्रमण किया और कुछ समय के लिए उसे हिला दिया।

सिन्धु नदी का समीकरण—परन्तु आगे बढ़ने के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि आखिर सिन्धु नदी कौन सी थी जिसके किनारे यवन और शुंग सेनाओं में युद्ध हुआ था।

कनिघम महोदय ने मालविकाग्निमित्र में उल्लिखित सिन्धु नदी को पंजाब की सिन्धु नदी नहीं माना है। उनका मत है कि मालविकाग्निमित्र का तात्पर्य या तो उस सिन्धु नदी से है जो यमुना नदी की एक सहायक नदी है, अथवा उस काली सिन्धु से है जो चम्बल नदी की सहायक नदी है। दोनों ही नदियाँ मध्य भारत में बहती हैं।

कनिघम महोदय के मत को स्मिथ, स्टेन कोनोव और एन० एन० घोष आदि विद्वानों ने स्वीकार किया है।

मालविकाग्निमित्र में उल्लिखित सिन्धु नदी को पंजाब की सिन्धु न मान कर मध्य भारत की सिन्धु अथवा काली सिन्धु मानने के निम्नलिखित कारण प्रस्तुत किए गए हैं—

(१) पुष्यमित्र विदिशा का नरेश था। अतः मध्य भारत की सिन्धु अथवा काली सिन्धु उसके राज्य की उत्तरी सीमा थी। परिणामतः सीमा पर ही युद्ध हुआ होगा।

परन्तु पुष्यमित्र विदिशा के साथ-साथ मगध-साम्राज्य का भी तो नरेश था। फिर मगध-साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पर पंजाब की सिन्धु को क्यों न माना जाय?

(२) यूनानियों का मथुरा तक आधिपत्य था। अतः पुष्यमित्र के यज्ञ का घोड़ा पंजाब की सिन्धु तक न जा सकता था।

परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है कि १८४ ई० पू० के पूर्व भी यूनानियों का मथुरा तक आधिपत्य था।

(३) मालविकाग्निमित्र का कथन है कि यूनानी और शुंग सेनाओं का युद्ध सिन्धु सरिता के दक्षिणी तट पर हुआ था।[1] परन्तु पंजाब की सिन्धु में दक्षिणी तट (Southern bank) है ही नहीं।

१ सिन्धोर्दक्षिणरोधसि

परन्तु मध्य भारत की सिन्धु अथवा काली सिन्धु में भी स्पष्टतः दक्षिण तट नहीं है। ये दोनों एक स्थान पर एकमात्र तनिक-सा दक्षिण की ओर मोड़ लेती हैं। परन्तु इतना छोटा मोड सम्भवतः २००० वर्ष पूर्व पंजाब की सिन्धु नदी के किसी स्थान पर भी रहा हो।

इसके अतिरिक्त 'दक्षिण' शब्द का अर्थ 'दाहिना' भी होता है। इस प्रकार यह युद्ध सम्भवतः पंजाब की सिन्धु नदी के दाहिने तट (Right bank) पर हुआ होगा। इस प्रकार सम्भवतः मालविकाग्निमित्र का अर्थ दक्षिणी दिशा वाला तट (Southern bank) नहीं है।

ऐसी दशा में हमें मालविकाग्निमित्र में उल्लिखित सिन्धु से पंजाब की सिन्धु नदी ही समझना चाहिए। कदाचित् प्रारम्भ में पुष्यमित्र का साम्राज्य उत्तरी भारत में पाटलिपुत्र से लेकर पंजाब की सिन्धु नदी तक विस्तृत था।

पुनः आक्रमण—अस्तु, सिन्धु तट पर पराजित होने के पश्चात् कदाचित् कुछ दिन तक मीनेण्डर ने पंजाब में अपना संगठन किया और तदुपरान्त शुंग-साम्राज्य पर फिर आक्रमण कर दिया। इस बार उसे आशातीत सफलता मिली। प्रारम्भिक पराजय अथवा अवरोध के पश्चात् निरन्तर विजय की घटनायें इतिहास में बहुधा देखी गई है। इस विषय पर बाबर का उदाहरण स्मरणीय है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मीनेण्डर ने सर्वप्रथम सागल (स्यालकोट) पर अधिकार जमाया। मिलिन्दपन्हो के अनुसार सागल मीनेण्डर की राजधानी था। इसके पश्चात् उसने व्यास नदी पार की, जैसा कि स्ट्रैबो के पूर्व कुछ लेखकों ने कहा है। यद्यपि स्ट्रैबो को यह मानने में कठिनाई जान पड़ती है कि मीनेण्डर Isamos (यमुना) तक पहुँच गया था तथापि यह सत्य हो सकता है। गार्गी संहिता का कथन है कि यवनों ने मथुरा पर आक्रमण किया था। यह नगर यमुना नदी के तट पर स्थित है, अतः मीनेण्डर ही यमुना-तट तक पहुँचा होगा। यही नहीं, गार्गी संहिता के अनुसार मीनेण्डर ने मध्य देश में साकेत और पांचाल प्रदेश पर भी अपना अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् वह गंगा-तट तक पहुँच गया जैसा कि स्ट्रैबो के कथन से प्रकट होता है। तत्पश्चात् पाटलिपुत्र की बारी आई। गार्गी-संहिता में भी इसका उल्लेख है यदि स्ट्रैबो के लेख में Isamos के स्थान पर Soamos (सोन) का पाठ ठीक है तो गार्गी-संहिता के कथन की पुष्टि हो जाती है, क्योंकि पाटलिपुत्र सोन और गंगा के संगम पर था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि पाटलिपुत्र के ऊपर यवनों का अधिकार हो गया था अथवा नहीं। डा० जायसवाल के मतानुसार यवनों ने पाटलिपुत्र को घेरा अवश्य था परन्तु वे उस पर अपना अधिकार न जमा सके थे। जो भी हो, इतना निश्चित है कि प्रायः समस्त उत्तरी भारत यवनों के अधीन हो गया था। अब एकमात्र विदिशा का राज्य ही पुष्यमित्र के हाथ में रहा था।

परन्तु यवन अधिक समय तक सम्पूर्ण विजित प्रदेश पर अपना अधिकार न रख सके। जिस समय डेमेट्रिअस अपनी भारत विजय में लगा था उसी समय बैक्ट्रिया में एक यूनानी यूक्रेटाडीज ने विद्रोह करा दिया। अतः डेमेट्रिअस को पंजाब छोड़ कर अपने देश बैक्ट्रिया भागना पड़ा। वह अपने दल-बल के साथ मथुरा में आ गया। इस प्रकार अवसर पाकर पुष्यमित्र शुंग ने पाटलिपुत्र से लेकर मथुरा तक के सम्पूर्ण प्रदेश पर अपना पुनः अधिकार जमा लिया। इस विजय के उपलक्ष में उसने द्वितीय

अश्वमेध किया जिसका उल्लेख पतंजलि ने किया है।[1]

इस प्रकार मीनेण्डर का राज्य अब केवल मथुरा और उसके पश्चिमी प्रदेश में ही शेष रहा। मथुरा के पूर्व का सारा प्रदेश पुष्यमित्र शुंग के अधिकार मे आ गया।

गार्गी सहिता का कथन है कि अपनी पारस्परिक कलह के कारण यूनानी अधिक समय तक मध्य प्रदेश में न टिक सकेगे।[2] इस कथन की पुष्टि स्वय यूनानी साक्ष्य करते हैं।

ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार—ब्राह्मणो और क्षत्रियो तथा ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध धर्म मे प्रभुता-प्राप्ति के हेतु दीर्घकाल से जो प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। उसकी परिणति शुंग-काल में हुई। क्षत्रिय शासको की बौद्ध नीति ने ब्राह्मण-समाज को भी अधिक क्षुब्ध कर दिया था। अहिसामूलक नीति का अवलम्ब लेकर मौर्य क्षत्रियो ने राष्ट्र की सुरक्षा, शान्ति, धर्म और सस्कृति के लिए भारी खतरा उत्पन्न कर दिया था। राजप्रश्रय पाकर श्रमण-विचारधारा ने वेद-प्रामाण्य, ब्राह्मण की जन्मज सम्मान्यता, प्रवृत्तिमूलक लोकसग्रह, वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, यजन-याजन आदि सभी पर आघात किया था। अत स्वाभाविक था कि ब्राह्मण-समाज इस श्रमण-विचारधारा का घोर-विरोधी होता। स्वय पुष्यमित्र के राजपुरोहित ने इसी तथ्य को सूचित करते हुए कहा था ब्राह्मण और श्रमणो मे शाश्वत विरोध है। महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध से लेकर अशोक तथा उसके कुछ उत्तराधिकारियो[3] तक क्षत्रियो ने इस श्रमण-विचारधारा को विकसित करने मे काफी योग दिया था। अत वैदिक काल से ही सामाजिक श्रेष्ठता-प्राप्ति के निमित्त ब्राह्मण और क्षत्रियो मे जो शान्तिपूर्ण सघर्ष चल रहा था उसे दोनो के धार्मिक दृष्टिकोणो के मौलिक अन्तर ने और भी तीव्र कर दिया। ब्राह्मण-समाज धीरे-धीरे अपना सगठन कर रहा था। १८४ ई० पू० तक आते-आते यह ब्राह्मण-सगठन इतना बलशाली हो गया कि इसने बौद्ध धर्म एव वर्णनिर्विशेषता के प्रबल प्रचारक अशोक के वशज प्रज्ञा-दुर्बल बृहद्रथ को मार कर राजसत्ता स्वय हस्तगत कर ली। यह एक महान् क्रान्ति थी। इसके पीछे ब्राह्मणो की स्वार्थ-चिन्ता और राष्ट्र-चिन्ता, दोनो दृष्टिगत होती है। यदि यह क्रान्ति न हुई होती तो सम्भवत मौर्य क्षत्रियो की सक्रम सैनिक-सगठन के प्रतिनितान्त निरपेक्ष नीति देश को खोखला कर देती और दीर्घकाल के लिए देश विदेशियो की अधीनता मे जकड जाता। ब्राह्मण-सगठन के परिणामस्वरूप ही ब्राह्मण-शुंगो ने राज्य प्राप्त किया था। अत स्वाभाविक ही था कि वे ब्राह्मण-धर्म की प्रतिष्ठा को पुन स्थापित करने की चेष्टा करते। ब्राह्मण वर्ण और ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धार का जो कार्य ब्राह्मण शुंगो ने प्रारम्भ किया था उसे ब्राह्मण सातवाहनो ने भी सक्रम रखा था। उनके एक 'ब्राह्मण', 'क्षत्रियदपमानमर्दनस्य', 'विनिवर्तित-चातुर्वण्यसकरस्य' आदि उद्घोषो से यही तथ्य प्रकट होता है। इस प्रकार शुंगो, कन्वो और सातवाहनो का काल ब्राह्मणो का शासन-काल था ब्राह्मण-धर्म के पुनरुद्धार का काल था।

१ इह पुष्यमित्रं याजयामः।

२ मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्ध-दुर्मदाः
तेषां अन्योन्यसंभावा भविष्यन्ति न संशयः
आत्मचक्रोत्थितं घोरं युद्धं परं दारुणम्।

३ स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्

पुष्यमित्र शुंग का ब्राह्मण-धर्म का पुनरुद्धार

शस्त्रग्रहण—ब्राह्मण होते हुए भी पुष्यमित्र शुंग ने क्षत्रियो की भांति जो शस्त्र और दण्ड ग्रहण किया वह पूर्णतया धर्मविहित था। मौर्यों की अहिसात्मक एव निर्बल राजनीति ने राष्ट्र की सुरक्षा और सस्कृति के लिए भारी खतरा उपस्थित कर दिया था। उत्तरकालीन मौर्यों का काल राष्ट्र के लिए आपत्काल बन गया था। अत आपदधर्म के अनुसार ही पुष्यमित्र शुंग एवं उसके समर्थक ब्राह्मणो ने शस्त्र धारण किया था। पुष्यमित्र शुंग ने प्रज्ञादुर्बल मौर्य-नरेश बृहद्रथ की हत्या करके देश को भयकर भीति से मुक्त किया था। उसकी इस राज-हत्या का स्वय मनु ने परोक्ष रूप से समर्थन किया है। वे कहते हैं कि धर्म से विचलित राजा अपने समस्त-बन्धु-बान्धवो के साथ वध को प्राप्त होता है।[१] राष्ट्र के धन, जन, धर्म और सस्कृति का रक्षण ही राजा का प्रमुख धर्म था। परन्तु वह इस धर्म का पालन करने मे पूर्ण असमर्थ और निरपेक्ष था। अत ऐसे अकर्मण्य राजा की हत्या करने मे कोई पाप न था। जो कार्य अधार्मिक नन्दराज का सान्वय विनाश कर महापण्डित चाणक्य ने किया था था उसी की पुनरावृत्ति ब्राह्मण सेनानायक पुष्यमित्र के हाथ से हुई।

अश्वमेध—प्रतापी राजा के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थो ने अश्वमेध की योजना बनाई थी। अत शीघ्र ही पुष्यमित्र शुंग ने इस योजना को भी कार्यान्वित किया। उसने एक नही वरन् दो अश्वमेध यज्ञ किए और इस प्रकार ब्राह्मण-प्रणीत इस राजोचित सस्था (अश्वमेध) का पुनरुद्धार किया जो शैशुनाग-नन्द और मौर्य राजाओं के शासन-काल मे विलुप्त हो गई थी।

पुष्यमित्र शुंग के अश्वमेध के प्रमाण निम्नलिखित साक्ष्यो मे मिलते हैं—

(१) अयोध्या अभिलेख—इसमे लिखा हुआ है कि सेनापति पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध किए।[२]

(२) मालविकाग्निमित्र—कालिदास के इस नाटक से प्रकट होता है कि पुष्यमित्र ने एक अश्वमेध यज्ञ किया था और अश्व का प्रधान रक्षक पुष्यमित्र का पौत्र वसुमित्र था। इस अश्व के कारण ही सिन्धु के दक्षिणी तट पर यवन-सेना और शुंग-सेना के बीच युद्ध हुआ था। वसुमित्र ने यवनो को हरा कर अश्व को मुक्त कर लिया था।

(३) पतजलि का महाभाष्य—पाणिनि के वर्तमान लट्लकार (Present indefinite tense) को समझाते हुए पतजलि ने अपने महाभाष्य मे एक उदाहरण दिया है—इह पुष्यमित्र याजयाम अर्थात् यहाँ हम पुष्यमित्र के लिए यज्ञ करते है। व्याकरण के नियम के अनुसार लटलकार का प्रयोग उस क्रिया को प्रदर्शित करने के लिए होता है जो प्रारम्भ तो हो गई हो परन्तु समाप्त न हुई हो।[३] इस दृष्टि से पतजलि के उदाहरण से यह प्रकट होता है कि वे पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे और जिस समय अपना महाभाष्य लिख रहे थे उस समय उन्ही के पुरोहितत्व मे पुष्यमित्र का अश्वमेध चल रहा था। यह यज्ञ प्रारम्भ तो हो गया था, परन्तु पतजलि के लिखते समय तक समाप्त न हुआ था।

१ धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्। मित्रस्य।

२ द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्य-

३ प्रारब्धो अपरिसमाप्तश्च वर्तमानः।

पतंजलि ने यवन-आक्रमण के जो उदाहरण[1] दिये थे वे भूतकाल की घटनायें थी। परन्तु अश्वमेध यज्ञ का यह उदाहरण उनके वर्तमान काल की सक्रम घटना है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक अश्वमेध यज्ञ पतंजलि के महाभाष्य मे उल्लिखित यवन-आक्रमण के पश्चात् हुआ था। कदाचित् यह यज्ञ उस समय हुआ था जब मीनेण्डर पाटलिपुत्र का घेरा उठा कर मथुरा चला गया था और पुष्यमित्र ने पुनः पाटलिपुत्र से लेकर मथुरा तक के प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।

इस प्रकार पुष्यमित्र शुंग के दोनो अश्वमेध यज्ञों का काल-क्रम निम्न प्रकार है—

(१) मालविकाग्निमित्र मे उल्लिखित अश्वमेध उसका प्रथम अश्वमेध था। बृहद्रथ की हत्या करने के पश्चात् स्वय अपनी सार्वभौमता घोषित करने के ध्येय से पुष्यमित्र शुंग ने इसे किया था।

(२) पतजलि के महाभाष्य मे उल्लिखित अश्वमेध पुष्यमित्र का दूसरा यज्ञ था। पहले कहा जा चुका है कि सिन्धु-तट पर पराजित होने के पश्चात् कुछ दिनो के उपरान्त मीनेण्डर ने शुंग-साम्राज्य पर पुन आक्रमण किया। इस बार उसे आशातीत सफलता मिली और वह पाटलिपुत्र तक पहुँच गया। परन्तु शीघ्र ही पुष्यमित्र ने पाटलिपुत्र से लेकर मथुरा तक के प्रदेश पर पुन अपना अधिकार कर लिया। इस विजय के पश्चात् उसने द्वितीय अश्वमेध किया था।

(३) हरिवंश का कथन है कि एक औद्भिज्ज काश्यप ब्राह्मण सेनानी कलियुग मे पुन अश्वमेध यज्ञ करेगा।[2] स्पष्ट है कि यहाँ पुष्यमित्र शुंग से ही तात्पर्य है।

पतंजलि, मनु और महाभारत—पहले कहा जा चुका है कि पतजलि पुष्यमित्र शुंग के राजपुरोहित थे। इन्होने महाभाष्य की रचना की। जनता सस्कृत मे रचित वेदो और वैदिक साहित्य को भूल रही थी। अपने प्राचीन रूपो, प्रयोगो और अर्थो के कारण सस्कृत वाङ्मय जनता के लिए दुर्बोध हो रहा था। इस दुर्बोधता ने साहित्य, धर्म और सस्कृति की प्रगति मे एक भारी अवरोध उपस्थित कर दिया था। इस अवरोध को दूर करने के लिए पतजलि ने पाणिनि के पुरातन व्याकरण-ग्रन्थ अष्टाध्यायी को समझाते हुए महाभाष्य लिखा। इसने सस्कृत वाङ्मय को पहले से अधिक सुबोध बना दिया। यही नही, सूत्रो को समझाते हुए पतजलि ने जो उदाहरण दिए है उनसे उनकी ब्राह्मण-धर्म और ब्राह्मण-सस्कृति के पुनरुत्थान के प्रति सजगता दिखाई देती है। उन उदाहरणों से नवीन ब्राह्मण-व्यवस्था पर भी प्रकाश पडता है।

ब्यूलर महोदय ने मनु का समय २०० ई० पू० और २०० ई० के बीच मे रखा था। कालान्तर मे डाक्टर जायसवाल ने यह मत प्रतिपादित किया कि मनुस्मृति के अध्ययन से एसा प्रतीत होता है कि मनु भी पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे। इसमे कोई सन्देह नही कि मनुस्मृति मे उल्लिखित अनेक बाते पुष्यमित्र शुंग की जीवन-घटनाओ का स्मरण दिलाती है।[3] इन बातो को देखने से ऐसा अनुमान होता है कि मनुस्मृति का लेखक पुष्यमित्र शुंग को दृष्टि मे रख कर ही ये बाते लिख रहा हो।

१ अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनः माध्यमिकाम्।

२ औद्भिज्जो भविता कश्चित् सेनानीः काश्यपो द्विजः
अश्वमेधं कलियुगे पुनः प्रत्याहरिष्यति।

३ यथा, धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्। अथवा सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति

पुनः, मनुस्मृति में जिस व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है वह भी ब्राह्मण -पुनरुद्धार-मूलक है।[1] इस व्यवस्था में सर्वत्र वेदप्रामाण्य, ब्राह्मण-श्रेष्ठता, वर्णाश्रम-धर्म यजन-याजन आदि को प्रतिष्ठित करने की प्रबल चेष्टा दिखाई देती है। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि यदि मनु पुष्यमित्र शुंग के समकालीन नहीं तो निकटकालीन अवश्य रहे होंगे। ऐसी अवस्था में भी मनुस्मृति में शुंग-कालीन समाज की झाकी मिलना स्वाभाविक है।

यो तो महाभारत की रचना ५००-४०० ई० पू० के लगभग हो चुकी थी तथापि समय-समय पर उसका परिवर्धन होता रहा। मैकडानल्ड महोदय का मत है कि यह परिवर्धन प्रमुखतया ३०० ई० पू० और १०० ई० के बीच में हुआ था। डा० राधा कुमुद मुकर्जी के मतानुसार सम्पूर्ण महाभारत २०० ई० पू० तक प्रतिष्ठित हो चुका था। अत स्पष्ट है कि महाभारत का परिवर्धन-काल शुंग-काल में भी पडता है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवस्थापको ने समाज म नवीन व्यवस्था स्थापित करने के लिए जहाँ महाभाष्य और मनुस्मृति की रचना की वहाँ पुरातन व्यवस्था को अपनी वर्तमान आवश्यकताओ से मेल कराने के लिये उसमें यत्र-तत्र परिवर्तन और परिवर्धन करने की भी चेष्टा की। शुंग-काल में महाभारत में जो परिवर्धन हुआ वह व्यवस्थाकारो की इसी चेष्टा का परिणाम था। अत महाभारत का भी एक अश शुंग-कालीन ब्राह्मण-पुनरुद्धार की सूचना देता है। इस प्रकार महाभाष्य मनुस्मृति और महाभारत के एक अश में शुंगकालीन ब्राह्मण पुनरुत्थान-मूलक नवीन व्यवस्था की सुस्पष्ट झाकी सरक्षित है। इसका सविस्तार उल्लेख आगे किया जायेगा।

क्या पुष्यमित्र बौद्ध-द्रोही था?—श्री एन० एन० घोष आदि कुछ विद्वानों का मत है कि पुष्यमित्र शुंग एकमात्र कट्टर ब्राह्मणवादी ही न था वरन् वह बौद्ध-विरोधी भी था और उसने बौद्ध धर्म और बौद्ध अनुयायियो के साथ घोर अत्याचार किया था। अपने मत के पोषण में ये विद्वान् निम्नलिखित प्रमाण देते है —

(१) **पृष्ठभूमि**—पुष्यमित्र शुंग ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध हुई प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप सिंहासन प्राप्त किया था। उसके समर्थक प्रमुखतया ब्राह्मणवादी थे। अत स्वाभाविक ही था कि अपने समर्थको को सन्तुष्ट करने के लिए पुष्यमित्र शुंग ने न केवल ब्राह्मण-वर्ण, ब्राह्मण-धर्म और ब्राह्मण-सस्कृति के पुनरुत्थान का तुमुल प्रयास किया हो वरन् उसके साथ ही साथ बौद्ध धर्म और अनुयायियो को भी नष्ट करने की निरन्तर चेष्टा की हो।

परन्तु एक विशेष धर्म के प्रबल प्रचारक के लिए यह आवश्यक नही है कि वह दूसरे धर्मों का प्रबल विनाशक भी हो। पुष्यमित्र शुंग ने ब्राह्मणवादियों की सहायता से राजसिंहासन प्राप्त किया था। अत उनकी सन्तुष्टि के लिए इतना ही पर्याप्त था कि उनका राजा ब्राह्मण-वर्ण, ब्राह्मण-धर्म, ब्राह्मण-व्यवस्था और ब्राह्मण-सस्कृति के पुनरुद्धार की चेष्टा करे और वस्तुत पुष्यमित्र ने यह सब किया भी। बस इसी से दोनो पक्षो के मन्तव्य की पूर्ति हो गई। इसके आगे यह कथन कि ब्राह्मणवादियो ने बौद्ध धर्म और बौद्ध अनुयायियो के विरुद्ध हिंसात्मक कार्यवाहियो के लिए पुष्यमित्र शुंग को प्रेरित किया होगा अथवा ब्राह्मण-जनमत को सन्तुष्ट करने के लिए स्वय पुष्यमित्र शुंग ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध जेहाद बोली होगी, कोरी कल्पना है। भारतीय इतिहास हिंसात्मक धर्म-युद्धो से परिचित नही है। जब बौद्ध राजधर्म ने ब्राह्मण-धर्म

१ यथा, ब्राह्मादशवर्ष तु शतवर्ष तु भूमिपम्।
अथवा सर्व स्व ब्राह्मणस्येदं यत्किंचित जगतीतलम्।

के प्रति कभी भी हिंसा का प्रदर्शन नही किया तो ब्राह्मण राजधर्म बौध धर्म के साथ वैसा घृणित व्यवहार कैसे करता ? भारतवर्ष ने धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता का हल कभी तलवार की धार से नही किया। अत. भारतीय वर्णों और धर्मों की प्रतिद्वन्द्विता में योरप के रुधिर-मय धार्मिक विप्लवो की कल्पना करना अन्यायमूलक है।

(२) दिव्यावदान का साक्ष्य--इस ग्रन्थ का कथन है कि पुष्यमित्र शुंग मौर्य था और घोर बौद्ध-द्रोही भी। इस ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि जिस प्रकार बौद्ध अशोक ने ८४००० स्तूपो के निर्माण के द्वारा ख्याति प्राप्ति की थी उसी प्रकार ब्राह्मण-वादी पुष्यमित्र ने ८४००० बौद्ध स्तूपों को ध्वस्त करके ख्याति-लाभ करना चाहा। अत वह सम्पूर्ण देश मे बौद्ध स्तूपो के विनाश के लिए घूमने लगा। सर्वप्रथम वह पाटलिपुत्र के कुक्कुटाराम को नष्ट करने गया। उसने तीन बार उसे नष्ट करने का प्रयास किया परन्तु तीनों बार वहाँ तुमुल सिंहनाद सुनाई दिया और वह भयभीत होकर भाग आया। इस प्रकार भारतीय सम्राट अपने समस्त दल-बल के होते हुए भी उस कुक्कुटाराम को नष्ट न कर सका।

पाटलिपुत्र का यह आराम तो दैवी शक्ति से बच गया परन्तु अन्य आराम और स्तूप इतने भाग्यशाली न थे। अत पुष्यमित्र मध्यदेश मे उन्हे नष्ट-भ्रष्ट करता हुआ साकल पहुँचा। वहाँ उसने यह घोषणा की कि जो व्यक्ति मुझे श्रमण-शिर देगा उसे मैं १०० दीनार दूंगा[1] इस प्रकार पश्चिमी भारत मे बौद्ध धर्म के साथ घोर अत्याचार करता हुआ वह दक्षिणी भारत की ओर मुडा। परन्तु इस समय तक उसके पापो का घडा भर गया था। अत दक्षिण मे वह एक यक्ष के द्वारा मार डाला गया।

परन्तु दिव्यावदान के ऊपर हम पूर्णतया विश्वास नही कर सकते। इसके अनेक कारण है--

(१) यह बहुत बाद की रचना है।

(२) यह बौद्ध ग्रन्थ है। अत ब्राह्मण वर्ण और ब्राह्मण धर्म के पोषक के प्रति इसका सहज द्वेष होना स्वाभाविक है।

(३) यह इतिहास से पूर्णतया परिचित नही है। उदाहरणार्थ, यह स्वय पुष्य-मित्र को मौर्य-वशी कहता है।

(४) उपर्युक्त कथानक इतिहास नही, कहानी है।

(५) साकल मे पुष्यमित्र की घोषणा करने की बात काल्पनिक है। यह नगर पुष्यमित्र शुंग के साम्राज्य मे न था। उस पर मीनेण्डर का अधिकार था। अत दूसरे देश में विशेषतया बौद्ध नरेश के देश मे जाकर बौद्ध विरोधी घोषणा करना सम्भव न था। पुन, पुष्यमित्र के समय में 'दीनार' मुद्रा प्रचलित ही न थी। फिर उसके देने की बात ही कहाँ उठती है ?

(३) तारानाथ का साक्ष्य--तारानाथ का कथन है कि पुष्यमित्र शुग ने मध्यदेश से जालन्धर तक बहुसंख्यक बौद्धो का वध किया और उसके स्तूपो तथा विहारो को ध्वस्त किया।

परन्तु तारानाथ के मत को स्वीकार करने मे भी सकोच होता है क्योकि--

(१) यह लेखक भी बौद्ध था और स्वभावत ब्राह्मण-धर्म के प्रबल प्रचारक पुष्यमित्र शुँग के प्रति असहिष्णु होगा।

१ यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।

(२) यह लेखक भी बहुत बाद का है।

(३) यह लेखक विदेशीय है। पुष्यमित्र शुंग के समय की घटनाओं की सूचना इसे दूसरे साधनों से मिली। अत उसमें कथानकों का अंश होना स्वाभाविक ही था।

(४) आर्य मंजुश्री मूलकल्प—यदि इस समीकरण को ठीक मान भी लिया जाय तो भी इस ग्रन्थ के प्रत्येक वर्णन को स्वीकार कराने में अनेक आपत्तियाँ उठ खड़ी होती है। यह ग्रन्थ भी बौद्ध ग्रन्थ है। बाद की रचना है तथा अनेकानेक किंवदन्तियों तथा कपोलकल्पित बातों से भरा पड़ा है। अत इसमें जो पुष्यमित्र-विषयक सामग्री है उसे पूर्णरूप से ऐतिहासिक नही माना जा सकता।

समस्त साक्ष्य बौद्ध हैं—प्राचीन भारत का इतिहास कहीं-कहीं पर इतना सदिग्ध और विवादग्रस्त प्रतीत होता है कि एकमात्र किसी एक साक्ष्य में उल्लिखित बात पर सहसा पूर्णतया विश्वास नही होता। किसी बात के ग्राह्य होने के लिए यह परमावश्यक है कि उसकी पुष्टि अन्य स्वतन्त्र साक्ष्यों द्वारा हो जाय।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि पुष्यमित्र शुंग को बौद्ध-द्रोही कहने वाले साक्ष्य सबके सब बौद्ध है। इन बौद्ध साक्ष्यों को छोड़कर कोई भी ब्राह्मण, जन अथवा अन्य स्वतन्त्र विदेशीय साक्ष्य पुष्यमित्र शुंग को बौद्धद्रोही नही कहता। किसी भी शिलालेख अथवा मुद्रा-लेख में बौद्ध सम्प्रदाय के प्रति उसके तथाकथित अत्याचारों का सकेत तक नही है। फिर एकमात्र बौद्ध साक्ष्य के आधार पर पुष्यमित्र शुंग को बौद्ध-द्रोही कैसे मान लिया जाय?

अशोक के समय में बौद्ध धर्म राजधर्म बन गया था। बौद्ध भिक्षु समाज में अत्यधिक सम्मान्य माने जाने लगे थे। वे लोक के शास्ता और परामर्शदाता बन गए थे। बौद्ध विहारों के ऊपर राज्य की विशेष अनुकम्पा हो गई थी। वे सख्या और समृद्धि दोनों मे बढ रहे थे। परन्तु पुष्यमित्र शुंग के सिंहासनासीन होते ही सारी परिस्थिति बदल गई। न बौद्ध धर्म राजधर्म रहा और न बौद्ध भिक्षु लोक के शास्ता और परामर्शदाता। देश में ब्राह्मण-धर्म, ब्राह्मण-वर्ण और ब्राह्मण-संस्कृति का पुनरुद्धार हुआ। इस सम्पूर्ण परिवर्तन का प्रमुख कारण था स्वय पुष्यमित्र शुंग। अत स्पष्ट है कि वही क्षुब्ध बौद्ध-जगत के निस्सीम कोप का भाजन बनता। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध जगत के एक वर्ग ने पुष्यमित्र शुंग के ब्राह्मणवाद को जान-बूझ कर बौद्ध-द्रोह का रूप दे डाला। कालान्तर में आने वाले बौद्ध लेखकों ने भी इसी प्रतिष्ठित परम्परा का सहारा लिया। परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में ही पुष्यमित्र शुंग का व्यक्तित्व काली स्याही से पुता हुआ मिलता है। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पुष्यमित्र का बौद्ध-द्रोह ऐतिहासिक घटना नही है।

इस ग्रन्थ का उल्लेख है कि कलियुग में गोमिमुख्य नामक एक राजा होगा। वह बौद्धद्रोही होगा और पूर्व से लेकर पश्चिम में कश्मीर तक बौद्ध भिक्षुओं और विहारों का विनाश करेगा। अन्त में एक यक्ष उसका वध कर देगा।

डा० पी० सी० बागची गोमिमुख्य को गौल्मिकमुख्य' (सेनापति) का रूपान्तर मानते है।[1] इस मत के अनुसार सेनापति से पुष्यमित्र का बोध होता है।

यह समीकरण सन्देहपूर्ण है।

कुछ अन्य प्रमाण—पुष्यमित्र के बौद्ध-द्रोह को सिद्ध करने के लिये कुछ

१ IHQ, 1943

विद्वानों ने तक्षशिला के बौद्ध विहारो और साँची के स्तूप की ध्वस्तावस्था का सहारा लिया है। उनका विश्वास है कि इन्हे पुष्यमित्र शुंग ने तुडवाया होगा।

परन्तु यह मत नितान्त काल्पनिक है।

पुष्यमित्र की धार्मिक सहिष्णुता––अधिकाश विद्वान् पुष्यमित्र को एक धर्म-सहिष्णु शासक मानते है। वे अपने मत के पक्ष मे निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत करते हैं––

(१) शुंग-काल में भरहुत, बोध गया और साँची के स्तूपों को पहले से विशाल बनाकर नया रूप दिया गया। भरहुत स्तूप के प्राचीर पर 'सुगन रजे' लिखा हुआ है जिसका यह अर्थ है कि स्तूप का वह भाग शुंग-काल में निर्मित हुआ था। यह कहा जा सकता है कि यह निर्माण-कार्य पुष्यमित्र के किसी उत्तराधिकारी के शासन-काल में हुआ होगा, पुष्यमित्र के शासन-काल मे नही। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि पुष्यमित्र के सभी उत्तराधिकारी अपेक्षाकृत निर्बल शासक थे। उनसे यह आशा नही की जा सकती थी कि वे पुष्यमित्र की नीति के मूल सिद्धान्तो के विरुद्ध विद्रोह करके एक स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करते। अधिक स्वाभाविक तो यही प्रतीत होता है कि पुष्यमित्र स्वय धर्म-सहिष्णु था और उसके उत्तराधिकारियो ने भी उसी सहिष्णुता का अनुसरण किया।

(२) दिव्यावदान से विदित होता है कि पुष्यमित्र ने कुछ बौद्ध मन्त्रियो को नियुक्त किया था।

(३) पुष्यमित्र के शासन-काल मे उसका पुत्र अग्निमित्र विदिशा का गवर्नर था। मालविकाग्निमित्र के अनुसार अग्निमित्र की राजसभा मे भगवती कौशिकी नामक एक स्त्री थी जो सम्भवत बौद्ध-धर्मावलम्बी थी।

बृहस्पतिमित्र––हाथीगुम्फा अभिलेख का उल्लेख है कि कलिगनरेश खारवेल ने मगध पर आक्रमण किया और बृहस्पतिमित्र को पराजित किया। डा० जायसवाल का मत है कि यह बृहस्पतिमित्र पुष्यमित्र शुंग ही था। इस समीकरण की पुष्टि मे वे कहते है कि ज्योतिष के अनुसार बृहस्पति पुष्य (Zodiacal asterism) का नक्षत्राधिपति है। परन्तु इस समीकरण को स्वीकार करने मे कई कठिनाइयाँ प्रस्तुत हो जाती है––

(१) यह मत कि बृहस्पति पुष्य का नक्षत्राधिपति है और इसी लिए शुंग-नरेश कभी पुष्यमित्र और कभी बृहस्पतिमित्र कहलाता था नितान्त कल्पनाजन्य है। इस प्रकार का साक्ष्य अथवा उदाहरण कही भी नही मिलता।

(२) दिव्यादान मे पुष्यमित्र और बृहस्पतिमित्र दोनो का उल्लेख है। उसमे पुष्यमित्र की राजधानी पाटलिपुत्र और बृहस्पतिमित्र की राजधानी राजगृह प्रतीत होती है। अत. पुष्यमित्र और बृहस्पतिमित्र दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते है।

(३) आज अधिकाश विद्वान् खारवेल का शासन-काल ई० पू० प्रथम शताब्दी मे रखते है। अत उसका समकालीन बृहस्पतिमित्र भी ई० पू० प्रथम शताब्दी मे हुआ था। परन्तु पुष्यमित्र शुग का शासन काल तो १८४ ई० पू० से लेकर १४८ ई० पू० तक था।

(४) पभोसा अभिलेख मे आषाढसेन के भाजे राजा बृहस्पतिमित्र का उल्लेख है। आषाढसेन ने उदाक के १००वे वर्ष मे एक गुहा का निर्माण कराया था। उदाक

का समीकरण शुंग-वंश के पाँचवें राजा के साथ किया गया है। अत. वह पुष्यमित्र के बाद हुआ था। , ससे स्पष्ट हो जाता है कि आषाढसेन और उसका भाजा बृहस्पतिमित्र भी पुष्यमित्र शुंग के बाद हुए होंगे। यही नही, इस अभिलेख में बृहस्पतिमित्र 'राजा' कहा गया है। परन्तु पुष्यमित्र तो सदैव 'सेनानी' अथवा 'सेनापति' कहलाता था। इस प्रकार पुष्यमित्र और बृहस्पतिमित्र का समीकरण नही हो सकता।

(५) बृहस्पतिमित्र की कुछ मुद्राएँ कोसम मे मिली हैं। यदि वह पुष्यमित्र शुंग ही था तो फिर उसकी मुद्रायें विदिशा अथवा मगध में क्यो नही मिलती ?

राज्य-विस्तार—कुछ विद्वानो का मत है कि पश्चिम में पुष्यमित्र शुंग का साम्राज्य पजाब की सिन्धु-नदी तक विस्तृत था। इस मत की पुष्टि मे निम्नलिखित उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) मालविकाग्निमित्र के कथनानुसार शुंग-सेना और यवन-सेना का युद्ध पजाब की सिन्धु के दक्षिणी तट पर हुआ था।

(२) तारानाथ का कथन है कि पुष्यमित्र ने मध्यदेश से जालन्धर तक के बौद्ध विहारों को नष्ट किया।

(३) दिव्यावदान का कथन है कि पुष्यमित्र ने साकल (स्यालकोट) मे जा कर बौद्ध विरुद्ध घोषणा की थी।

इसमे कोई सन्देह नही कि प्रारम्भ मे पुष्यमित्र शुंग का राज्य सिन्धु नदी तक विस्तृत था, जैसा कि मालविकाग्निमित्र के साक्ष्य मे प्रकट होता है। परन्तु कालान्तर मे यवन-आक्रमण के परिणामस्वरूप उसका बहुत-सा भाग पुष्यमित्र के हाथ से निकल गया। यद्यपि पुष्यमित्र शुंग ने यवनो के गृह-युद्ध से लाभ उठा कर पाटलिपुत्र पर पुन अधिकार कर लिया था और पश्चिम मे मथुरा तक के प्रदेश पर पुन उसका आधिपत्य स्थापित हो गया था तथापि मथुरा के आगे पश्चिम में यवनो का ही अधिकार रहा जैसा कि मीनेण्डर और उसके उत्तराधिकारो का मुद्राओ से प्रकट होता है। इस प्रकार पुष्यमित्र शुंग के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा मथुरा ही समझना चाहिए। तारानाथ और दिव्यावदान के कथन एकमात्र पुष्यमित्र शुंग के प्रारम्भिक राज्य-विस्तार का ही स्मरण दिलाते है। यवन-आक्रमण के पश्चात् जालन्धर और साकल दोनो ही पुष्यमित्र शुंग के साम्राज्य से निकल गये थे और उनपर यवनो का आधिपत्य हो गया था।

जैन लेखक मेरुतुंग के कथनानुसार दक्षिण-पश्चिम मे अवन्ती पर पुष्यमित्र का अधिकार था।

मालविकाग्निमित्र से प्रकट होता है कि दक्षिणी सीमा पर विदिशा पुष्यमित्र के साम्राज्य मे था। दक्षिण मे पुष्यमित्र शुंग के साम्राज्य की प्राकृतिक सीमा नर्मदा नदी थी। इसकी पुष्टि मालविकाग्निमित्र से होती है।[१] इस नाटक की कुछ प्रतियो में नर्मदा के स्थान पर मन्दाकिनी का नाम मिलता है। कदाचित् दोनो नाम एक ही नदी के नाम है।

नर्मदा के दक्षिण में विदर्भ-राज्य था। मालविकाग्निमित्र मे वर्णित विदिशा-विदर्भ-युद्ध के आधार पर कुछ विद्वानो ने यह मत प्रस्तुत किया है कि विदर्भ ने भी पुष्यमित्र शुंग की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

१ **भर्त्रा नर्मदातीरेऽन्तपाल दुर्गे स्थापितः—मालविकाग्निमित्रम्।**

दक्षिण-पूर्व में—कलिंग का राज्य पहले ही स्वतन्त्र हो चुका था। अतः पुष्यमित्र शुंग का साम्राज्य स्वतन्त्र कलिंग-राज्य की सीमा को छूता था।

पूर्व में—पाटलिपुत्र पुष्यमित्र की राजधानी था। अयोध्या-अभिलेख से सिद्ध होता है कि कोसल पुष्यमित्र के साम्राज्य के अन्तर्गत था।

संघ-शासन—ऐसा प्रतीत होता है कि पुष्यमित्र का विशाल साम्राज्य अनेक राज्यों का संघ था। इन राज्यों में अनेक शासक राज्य करते थे[1] जो कदाचित् अपने आन्तरिक विषयों में पूर्ण स्वतन्त्र थे। अनेक राज्यों पर स्वयं पुष्यमित्र शुंग के पुत्र शासन करते थे। वायु पुराण के साक्ष्य से प्रकट होता है कि पुष्यमित्र के ८ पुत्र एक ही समय में भिन्न-भिन्न राज्यों पर राज्य कर रहे थे।[2] मालविकाग्निमित्र कम से कम उसके एक पुत्र अग्निमित्र को विदिशा का शासक (गोप्ता) घोषित करता है।[3] अयोध्या अभिलेख से प्रकट होता है कि कोशल-प्रदेश पर सेनापति पुष्यमित्र का छठा (पुत्र अथवा भाई) राज्य कर रहा था।

पुष्यमित्र शुंग के उत्तराधिकारी—शुंग-वंश में १० राजा हुए—(१)पुष्यमित्र, (२) अग्निमित्र (३) वसुज्येष्ठ (४) वसुमित्र (५) आन्ध्रक (६) पुलिण्डक (७) घोष (८) वज्रमित्र (९) भाग और (१०) देवभूत। इन सबने ११२ वर्ष तक राज्य किया।

पुष्यमित्र के पुत्र और उत्तराधिकारी अग्निमित्र का नाम मालविकाग्निमित्र में भी मिलता है।[4] इस नाटक से प्रकट होता है कि यह विदिशा का शासक था।

रुहेलखंड में अनेक ताम्र-मुद्रायें प्राप्त हुई है जिन पर अग्निमित्र का नाम मिलता है। जायसवाल महोदय का मत है कि इन मुद्राओं का अग्निमित्र अग्निमित्र शुंग ही है। परन्तु कनिंघम महोदय ने इसका विरोध किया है। वे मुद्राओं के अग्निमित्र को उत्तरी पञ्चाल का कोई स्थानीय शासक मानते है।[5] अपने मत की पुष्टि में कनिंघम महोदय का कथन है कि अग्निमित्र की उपर्युक्त मुद्रायें पंचाल के बाहर नहीं मिलती।

अग्निमित्र के पश्चात् वसुज्येष्ठ राजा हुआ। कुछ मुद्राओं के ऊपर जेठमित्र का नाम मिलता है। कदाचित् दोनों एक ही राजा के नाम है। कुछ विद्वानों के मतानुसार कोसम में प्राप्त एक पाषाण-खण्ड पर अंकित एक लेख में इस नरेश का नाम मिलता है।[6]

वसुज्येष्ठ के पश्चात् वसुमित्र राजा हुआ। मालविकाग्निमित्र के अनुसार यह पुष्यमित्र का पौत्र और अग्निमित्र का पुत्र था।

वायुपुराण में वसुमित्र का उत्तराधिकारी आन्ध्रक मिलता है। विष्णुपुराण में उसका नाम ओद्रक, भागवत पुराण में भद्रक और मत्स्यपुराण में अन्तक मिलता है।

पीछे पभोसा अभिलेख का उल्लेख किया जा चुका है। इसके अनुसार उदाक

१ पुष्यमित्रस्तु सेनानीः-कारयिष्यते वै राज्यम।

२ पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः।

३ सम्पद्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे।

४ Ghosh, Hist. of Central & Western India.

५ Coins of Ancient India p.79.

६ Patrika, July 19, 1936.

के १०वें वर्ष में राजा बहस्पतिमित्र के मामा आषाढसेन ने कस्सपिय अर्हतों के लिए एक गुफा का निर्माण कराया था।

एक अन्य पबोसा अभिलेख में प्रकट होता है कि आषाढसेन अहिछत्र का राजवंशीय था। अहिछत्र उत्तरी पचाल की राजधानी थी। डा० जायस्वाल का मत है कि पबोसा अभिलेख में उल्लिखित उदाक शुंग नरेश ओद्रक है। अहिछत्र में आसाढसेन का वंश ओद्रक के अधीन सामन्त-वश के रूप में शासन करता था।

डा० बरुआ का कथन है कि पबोसा अभिलेख में उदाक के साथ राजा शब्द नहीं मिलता। अत यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि उदाक किसी राजा का नाम था अथवा उस स्थान का जहाँ गुहा निर्माण हुआ था।[१]

आन्ध्रक के पश्चात् क्रमश पुलिण्डक, घोष और वज्रमित्र राजा हुए। परन्तु इनके विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं है।

इनके पश्चात् नवा शुंग-नरेश भाग था। डा० भण्डारकर आदि विद्वानों के मतानुसार इस राजा का समीकरण विदिशा के एक गरुड स्तम्भलेख में उल्लिखित महाराज भागभद्र से होना चाहिए। इस अभिलेख के अनुसार यूनानी नरेश एण्टिआल्कि‍डस ने अपने राजदूत हेलिओडोरस को भारतीय नरेश महाराज भागभद्र की राज-सभा में भेजा था। यह राजदूत धर्म का अनुयायी था। इसने विष्णु भगवान् के प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते हुए विदिशा में उपर्युक्त गरुडस्तम्भ स्थापित करवाया था। इस गरुडस्तम्भ-लेख में दम, त्याग और अप्रमाद का उल्लेख मिलता है। इन गुणो का उल्लेख ठीक इसी रूप में महाभारत में भी हुआ है।[२] इससे अनुमान होता है कि यूनानी हेलिओडोरस न केवल भागवत धर्म का अनुयायी था वरन् वह महाभारत से भी परिचित था।[३]

अन्तिम शुंग राजा देवभूति अथवा देवभूमि था। यह अत्यन्त कामुक नरेश था। उसके अमात्य वसुदेव कन्व ने उसकी हत्या कर डाली। इस कथन की पुष्टि हर्षचरित से होती है। इस प्रकार शुंग राज-वंश का अन्त हो गया और उनके स्थान पर कन्व राजवंश की प्रतिष्ठा हुई।

शुंग-कालीन भारत

श्रमण-विचार-धारा का विरोध--जैसा कि पीछे कहा गया है, शुंग-काल ब्राह्मण-वर्ण, ब्राह्मण-धर्म और ब्राह्मण-सस्कृति के पुनरुद्धार का काल था। बौद्ध धर्म के प्रचार ने जिस निवृत्तिमार्ग को प्रोत्साहन दिया था वह ब्राह्मणों की दृष्टि में राष्ट्र के लिए घातक था। अल्पायु युवाओं ने भावुकता के प्रवाह में प्रव्रज्या ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। अनेक गृहस्थ अपने आश्रितों की जीविका का उचित प्रबन्ध किए बिना ही ससार-त्याग कर रहे थे। स्त्रियों का भिक्षुणी-वृत्ति ग्रहण करना समाज के एक वर्ग की दृष्टि में नितान्त आपत्तिजनक था। राज्य की दृष्टि में सघ एक पावन सस्था बन गया था। उसके भिक्षु-भिक्षुणी राजदण्ड की पहुच के बाहर थे। अत इस सुविधा का लाभ उठा कर बहुसख्यक हत्यारे, ऋणी और अभियुक्त भी सघ

१ J H Q 1930

२ महा० ५ ४३ २२; ११. ७. २३-- दमस्त्यागोऽप्रमादश्च ते त्रयो ब्रह्मणो हया,

३ J. A S B 1922, J. R A. S 1909, 1910, 1914, I H Q. 1932. Annals of the Bhandarkar Institute 1918-19.

में प्रविष्ट होकर राज्य के चगुल से बच जाते थे। बहुसंख्यक आलसी मनुष्यों के लिए भिक्षु-जीवन निश्चिन्तता का साधन था। इस प्रकार के मर्यादा-विहीन निवृत्ति-मार्ग ने राष्ट्र के लिए एक भारी खतरा उत्पन्न कर दिया था। अत. ब्राह्मण व्यवस्था-कारों की दृष्टि मे बौद्ध धर्म द्वारा प्रचारित श्रमण-वृत्ति सर्वथा परित्याज्य बन गई। यही कारण है कि शुंग-काल के महापण्डित पतजलि को हम यह घोषणा करते हुए देखते है कि ब्राह्मण-विचारधारा और श्रमण-विचारधारा मे शाश्वत विरोध है। मनु ने भी वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमो के समक्ष गृहस्थ आश्रम को सर्वोपरि महत्ता प्रदान की। महाभारत के कुछ अश भी तत्कालीन श्रमण-विचारधारा का विरोध करते हुए दिखाई देते है। शान्तिपर्व मे भीम युधिष्ठिर से कहते है कि मौन धारण करके, केवल अपनी उदर-पूर्ति करके, धर्म का ढोंग रच कर मनुष्य अध पतित ही होता है। अकेला मनुष्य जिसे पुत्र-पौत्रों का पालन-पोषण न करना हो, देवताओ, ऋषियो, अतिथियो तथा पितरो के प्रति अपना उत्तरदायित्व न निभाना हो, वही वन में सुख से रह सकता है। वनों मे रहने वाले ये मृग, सुअर तथा पक्षी, कोई भी स्वर्ग नही पाते है। यदि सन्यास मे कोई सिद्धि पा सके तो पर्वत और वृक्ष तुरन्त ही सिद्धि प्राप्त कर ले। इस प्रकार हम देखते है कि शुंग-काल मे श्रमण-विचारधारा का घोर विरोध किया गया।

अश्वमेध का पुनरुद्धार—अशोक के अहिसा-प्रचार ने ब्राह्मण-यज्ञ को समाप्त-सा कर दिया था। अत पुष्यमित्र शुग ने सम्राट् होते ही उनका फिर से उद्धार किया। अयोध्या-अभिलेख से प्रकट होता है कि उसने स्वय दो अश्वमेघ यज्ञ किए थे। एक यज्ञ का पौरोहित्य तो स्वय महापण्डित पतजलि ने किया था। अश्वमेध की पुन स्थापना शुग-काल के ब्राह्मण-धर्म की प्रतिष्ठा की सूचना देती है।

आत्यन्तिक अहिंसा का विरोध—बौद्धो की आत्यन्तिक अहिसा का भी इस काल मे विरोध हुआ। इसमे कोई सन्देह नही कि निरर्थक हिसा का ब्राह्मण-व्यवस्था-कार भी विरोध करते थे। मनु ने समान्वय (हिंसात्मक खेल-कूद) का विरोध किया था। परन्तु यज्ञो मे पशु-हिसा अनिवार्य थी। धार्मिक अनुष्ठानो पर मास-भक्षण आवश्यक था। यही कारण है कि इस समय 'वैदिकी हिसा हिसा न भवति', 'जीवो जीवस्य भोजनम्' के आधार पर सीमित हिसा को धर्मविहित घोषित किया गया।

ब्राह्मण-वर्ण की प्रतिष्ठा—इस काल मे फिर से ब्राह्मण-वर्ण को अन्य वर्णो की अपेक्षा सर्वोपरि माना गया। ब्राह्मण पुष्यमित्र ने अपने प्रज्ञादुर्बल स्वामी की हत्या करके राजसिहासन प्राप्त किया था। मनु उसके इस कार्य का समर्थन करते हुए से दिखाई देते है, जब कि वे कहते है कि वेदविद् ब्राह्मण सेनापतित्व, राजदड और एका-धिपत्य का अधिकारी होता है। इसी के साथ वे कहते है कि जो राजा मोह-वश असावधानी से अपने राष्ट्र को उत्पीडित करता है वह शीघ्र ही राज्य से च्युत हो जाता और अपने बधु-बान्धवो सहित मारा जाता है। दूसरे स्थान पर वे कहते है कि दस वर्ष का ब्राह्मण भी सौ वर्ष के क्षत्रिय की अपेक्षा अधिक आदरणीय है। इस प्रकार के अनेक कथनो से स्पष्ट हो जाता है कि शुंग-काल मे ब्राह्मण-वर्ण को प्रधानता दी गई है।

राज-पद की गरिमा—शुग-कालीन व्यवस्थाकारो ने राजपद को अभूतपूर्व गरिमा दी। राजा का निर्माण इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर के अशो से हुआ है। अराजकता का नाश करने के लिए प्रभु ने राज-पद का निर्माण

किया है। दंड ही सम्पूर्ण प्रजा का शासक और रक्षक है। महाभारत में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए गए है।

संस्कृत भाषा—ब्राह्मण-धर्म के पुनरुद्धार के साथ-साथ सस्कृत भाषा की उन्नति होना स्वाभाविक था। ऐसा प्रतीत होता है कि अनभ्यास के कारण जनता संस्कृत के नियमो को भूल रही थी। यही करण है कि प्रसिद्ध वैयाकरण पतजलि ने पाणियन की अष्टाध्यायी पर एक वृहद् महाभाष्य लिखा और इस प्रकार सस्कृत भाषा के नियमो को पुन. प्रतिष्ठित किया। ब्यूलर महोदय ने मनुस्मृति का रचना-काल ई० पू० २०० और २०० ई० के बीच में रखा था। परन्तु डा० जायसवाल इसे शुंग-काल की रचना मानते है। यह मत अधिक नयसगत भी प्रतीत होता है। ब्राह्मण-राज्य की स्थापना के साथ ही वर्णाश्रम-धर्म के आधार पर समाज की नई व्यस्था की गई। इसका ज्ञान हम मनुस्मृति से प्राप्त होता है। महाभारत की रचना पहले ही हो की थी। परन्तु समय-समय पर इसमे परिवर्धन होता रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि शुंग-काल मे भी महाभारत का नया सस्करण किया गया और उसमे समाज मे उदीयमान नवीन विचार-धाराओ का समावेश किया गया। कुछ विद्वान् कालिदास को भी शुंग-काल मे रखते है। अपने मत की पुष्टि मे ये निम्नलिखित प्रमाण देते है—

(१) जनश्रुति के अनुसार कालिदास विक्रम की राज-सभा मे थे जिन्होने ५९ ई० पू० एक सम्वत् चलाया था।

(२) कालिदास और अश्वघोष की रचना मे कही-कही बडा साम्य मिलता है। अश्वघोष ईसा की प्रथम शताब्दी मे हुए। अत यदि हम कालिदास को उनके पूर्व नही मानते तो हमें यह स्वीकार करना पडेगा कि उन्होंने अश्वघोष की नकल की, जो कि सस्कृत के महाकवि के लिए असगत प्रतीत होती है।

(३) कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र मे शुंग-वश की घटनाओ का उल्लेख किया है।

परन्तु ये तीनो तर्क निर्बल है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। अत कालिदास उसकी राजसभा मे भी हो सकता था। कालिदास ने अश्वघोष से कुछ बात अवश्य ग्रहण की परन्तु उन्हे सदैव अधिक आकर्षक रूप मे रखा है। रही शुंग-काल की घटनाओं की बात, तो परगामी लेखक भलीभाँति अतीत की घटनाओ को अपनी रचनाओ का विषय बना सकता है। जो भी हो, अधिकाश विद्वान् कालिदास को शुंगकालीन न मान कर गुप्तकालीन ही मानते है।

कला—शुंग-काल कला की दृष्टि से भी एक नूतन का विकास काल है। उसके विषय मे निम्नलिखित बात उल्लेखनीय है—

(१) राजकीय छत्रछाया मे पनपने के कारण मौर्य-कला उत्कृष्ट होते हुए भी जनता के मनोभावो और उसकी वस्तुस्थिति को वहन न कर सकी थी। परन्तु शुंग-काल मे हम देखते है कि कला और सार्वजनिक जीवन के बीच का अन्तर उत्तरोत्तर क्षीण होता चला गया है। शुंग-कला मे जनता के जीवन की झाकी है।[१]

(२) शुंग-कला का प्रमुख विषय धर्म नही, जीवन है। इस काल मे स्तूपो का

१ It re-ects more of the mind, tradition and culture-ideology of the larger section of the people than Mauryan art was capable of doing.'—Dr. N. R. Ray.

निर्माण अवश्य हुआ, परन्तु उन पर जो स्थापत्य-कृतियाँ बनाई गई वे अधिकाशतः जनता के बौद्धिक, मानसिक एव सामाजिक जीवन से सम्बन्धित है।[१]

(३) अपने पूर्व जन्मो के रूपों (बोधिसत्व-रूपो) में महात्मा बुद्ध साकार प्रदर्शित किये गये है। परन्तु अपने ऐतिहासिक जीवन के रूप (बुद्ध रूप) मे महात्मा बुद्ध कभी भी शरीरतः नही दिखाये गये है। इस रूप मे उनकी उपस्थिति प्रतीको (स्तूप, धर्म चक्र, पदचिन्ह, छत्र आदि) द्वारा प्रकट की गई हैं।

(४) शुंग-काल के प्रारम्भिक चरण मे स्थापत्य 'वानस्पतिक शैली' (plant style) का है। प्रारम्भ में अधिकांशतः पत्र, पुष्प, पादपलता का प्रयोग किया गया है। मनुष्यो और पशु-पक्षियों को निर्मित करने में भी 'वानस्पतिक शैली' का प्रयोग किया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि रिलीफ की कृतियाँ परस्पर-विच्छिन्न, छिछली और सतह पर फैली हुई दिखाई देती है। परन्तु शुंग-काल के अन्तिम चरण में हम ये दोष नही पाते। उस चरण की रिलीफ मूर्तियाँ सम्बद्ध-प्रसंग, गहरी और उभडी होने के कारण अधिक स्वाभाविक है। कुछ विद्वानो ने इसे विदेशी कलाकारों का प्रभावमाना है। परन्तु इसे स्वदेशीय शैली के क्रमिक विकास का परिणाम मानना ही अधिक उपयुक्त है।

(५) मौर्य-काल मे स्तूप कच्ची ईंटो और मिट्टी की सहायता से बनते थ। परन्तु शुंग-काल मे उनके निर्माण में सम्पूर्णत. पाषाण का प्रयोग किया गया था।

(६) मौर्य-काल मे, विशेषतया चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में वास्तुकला मे लकडा का प्रयोग किया जाता था। चन्द्रगुप्त का राजप्रासाद लकडी का था। शुंग-काल मे लकडी के स्थान पर पाषाण का प्रयोग हुआ। परन्तु स्थान-स्थान पर हम देखते हैं कि पाषाण का प्रयोग करते हुए भी शुंग-कलाकारो ने उन अनेक विधियो और शैलियो का प्रयोग किया है जो लकडी के निर्माण-कार्य मे आवश्यक होती थी।[२]

भरहुत-स्तूप—शुंग-काल मे भरहुत, बोधगया और साँची कला के प्रमुख केन्द्र थे। इसका निर्माण अशाक ने करवाया था। शुंग-काल मे इसका आकार तो पहले-जैसा ही रखा गया, परन्तु इसके चारो ओर ७ फीट ऊँची एक परिवेष्टनी (चहार-दीवारी) का निर्माण किया गया था। इसमे चार तोरण-द्वार स्थापित किये गये थे। परिवेष्टनी और तोरण-द्वार बहुसख्यक स्थापत्य-कृतियो द्वारा अलकृत किये गय थे। कनिघम महोदय ने १८७३ मे भरहुत के इस स्तूप का पता लगाया था। उस समय हाँ स्तूप (प्रमुख स्तूप अशोककालीन था, परन्तु उसकी परिवेष्टनी और तोरणद्वार अधिकाशत. शुंग-कालीन थे) कुछ भाग अवशिष्ट थे। अब स्तूप तो नष्ट हो गया है, परन्तु उसकी परिवेष्टनी और तोरण-द्वार कलकत्ता सग्रहालय मे सरक्षित है। परिवेष्टनी के एक भाग पर 'सुगन' रजे' (शुंगाना राज्य-शुंगा के राज्य मे) लिखा है। इससे प्रकट होता है कि उसका निर्माण शुंग-काल मे ही हुआ था।

१ 'The main interest is neither spiritual nor ethical, but altogether directed to human life, luxury and pleasure are represented, interrupted only by death, and these are nothing but facts, endorsed by the inherently sensual quality of the plastic language'—Coomarswamy.

२ 'The shapes and joints of railings (in the Sanchi stupas) are those usually employed by carpenters'—Percy Brown.

भरहुत स्तूप अपनी स्थापत्य-कला के लिए प्रसिद्ध है। इसकी परिवेष्टनी और इसके तोरण-द्वारों पर या तो यक्ष, यक्षिणी तथा अन्यान्य अर्ध-दैवी व्यक्तियों की मूर्तियाँ हैं, या जातकों की कथाओं की। साधारणतया कथाओं के विषयों का उल्लेख कर दिया गया है जिससे उन्हें समझने में सरलता होती है।

भरहुत का स्थापत्य कला की दृष्टि से बहुत उच्चकोटि का नहीं है। रिलीफ की कृतियों में सदैव गहराई और उभाड नहीं मिलता। कभी-कभी समूह-प्रदर्शन में भी मूर्तियाँ एक-दूसरे से असम्बद्ध दिखाई देती है। उनकी मुद्रायें भाव शून्य हैं।[1]

परन्तु अनेक अभावो और त्रुटियो के होते हुए भी भरहुत की कला अपने वास्तविक अंकन के लिए प्रसिद्ध हैं। इसमें जनता के धार्मिक विचारों, वस्त्राभरणों और आचारों का उत्‌कन बडी सहृदयता से किया गया है। डा० मजूमदार इस स्थापत्य का वर्णन निम्नलिखित शब्दो में करते है—

'The sculptures represent the religious faiths and beliefs, the dress, costumes and manners, and are executed with wonderful simplicity and vigour. We get an insight into the minds and habits of the common people of India, and a keynote of the joys and pleasures of life seems to pervade them all. Ancient India with its almost optimism and vigorous faith in life, speaks as it were, through these stones, in a tone that offers a sharp but pleasing contrast to the dark pessimistic views of life which some of the old religious texts are never tired of repeating.'

प्रत्येक कथानक के प्रदर्शन मे अत्यधिक बिस्तार से काम लिया गया है। प्रत्येक वस्तु सांगोपांग प्रदर्शित की गई है। कभी-कभी इस सागोपागता से कथानक-प्रवाह मे बाधा पडती है।[2]

बोध गया का स्तूप—प्रारम्भ मे बोध गया मे एक स्तूप था। इसके चारो ओर भी एक परिवेष्टनी थी। इस परिवेष्टनी के अवशिष्ट भाग आज भी सरक्षित है। बोध गया का स्थापत्य भरहुत की प्रारम्भिकता और सांची की पराकाष्ठा के बीच मे आता है। इसे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि भरहुत की अपेक्षा बोध गया की स्थापत्य-मूर्तियो में गहराई और उभाड अधिक है। अब उनकी आकृतियो मे निर्जीव कठोरता

१ 'Bharhut represents an early and primitive phase and classical Indian art. . the main actors of the stories appear to be unaware of the parts that they are to play in the scenes, and are hence without any expression. —Dr. S. K. Saraswati.

२. 'Indeed the artists are so much engrossed with details that nothing escapes them, be it the tattoo-mark on a person, the ornamentation on a door frame, the pattern of caprison or upholstery or the fine veins of a leaf. The meticulous care with which the details are exhaustively worked out has almost a disturbing effect and it is only with difficulty that an impression of the whole can be obtained'-- Dr. S.K. Saraswati.

के स्थान पर सजीव लचीलापन भी है। कथानकों में पहले-जैसा आत्यन्तिक सांगोपांगता नहीं है। समूह में व्यक्ति कम हैं। अतः उनकी गति भी पहले से अधिक स्वच्छन्द और निर्बाध है।[1]

सांची-स्तूप—परन्तु कला का उत्कृष्ट विकास सांची-स्तूप में दिखाई देता है। अशोक द्वारा निर्मित स्तूपों का वर्णन हम कर चुके है। शुंग-काल के पूर्व के सभी स्तूप साधारण कोटि के होते थे। वे कच्ची ईंटों के बने होते थे। ये ईंटें प्रायः १६"×१०"×३" की होती थी। स्तूप की बाहरी सतह के ऊपर मोटा प्लास्टर कर दिया जाता था और फिर उसके ऊपर से कोई रंग। स्तूप के ऊपर कभी-कभी पत्थर की बनी हुई एक छत्रयष्टि स्थापित कर दी जाती थी। कभी-कभी स्तूप तोरणों, पताकाओं आदि से भी अलकृत किया जाता था। कभी-कभी स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा -पथ भी बना दिया जाता था। इस प्रदक्षिणा-पथ के बाहर लकडी की एक चहारदीवारी (वेदिका) बना दी जाती थी। शुंग-काल के पूर्व के स्तूप लगभग ३५ फीट ऊँचे और ७० फीट व्यास के हैं। परन्तु शुंग-काल मे स्तूप-निर्माण में कच्ची ईंटो और लकडी के स्थान पर पत्थर का योग दिया गया। हम पहले कह चुके हैं कि सांची मे अशोक का स्तूप था। शुंग-काल मे इसका आकार बहुत बढा दिया गया। अब यह ५४ फीट ऊँचा और १२० फीट के व्यास का हो गया। इसके चारो ओर पृथ्वी से १६ फीट ऊँचा एक चबूतरा (मेधी) भी बना दिया गया। इस चबूतरे पर जाने के लिए दक्षिण की ओर सीढियाँ (सोपान) भी बनाई गई। स्तूप के ऊपर एक वर्गाकार वेदिका स्थापित की गई। इस वेदिका के निर्माण मे ९-९ फीट के स्तम्भ एक-दूसरे से २-२ फीट के फासले पर खडे किए गए थे। इन स्तम्भो को जोड़ते हुए तीन-तीन डण्डे (horizontal bars) लगाए गए हैं। प्रत्येक डण्डा २ फीट चौडा है। दो डण्डों के बीच मे केवल ३½ इंच का फासला है। इस विशाल वेदिका के भीतर एक आधार (हर्मिक) बनाया गया था और उस पर छत्रयष्टि खड़ा किया गया था। पर्सी ब्राउन महोदय का कथन है कि अपनी विशालता और गम्भीरता के कारण यह वेदिका अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।[2] सम्पूर्ण स्तूप, वेदिका, हर्मिक और छत्रयष्टि एकमात्र पत्थरो से बनाए गए थे। इस सांची -स्तूप मे चार तोरण है। प्रत्येक तोरण दो-दो सीधे खडे स्तम्भो की सहायता से बना है। ये स्पम्भ १५-१५ फीट ऊँचे हैं इन स्तम्भों के ऊपर तीन-तीन डण्डे लगाए गए है। अन्ततोगत्वा प्रत्येक तोरण पृथ्वी से ३४ फीट ऊँचा हो गया है। प्रमुख स्तूप का निर्माण ई० पू० दूसरी शताब्दी के हैं। मूल स्तूप के चारों ओर अन्य छोटे स्तूप और विहार भी बनाए गए थे।

विद्वानों का मत है कि सांची के स्तूप में पाषाण-खण्डों को जोडने का तरीका वही है जो लकडी जोडने का होता है। सम्भवतः लकडी की निर्माण-प्रणाली का प्रयोग पाषाण के ऊपर किया गया हे। अतः वास्तुकला की दृष्टि से सांची स्तूप उच्च-

१ 'Orderliness, clarity and closer organic relation take the place of the unsteady medley of forms and motifs characteristic of the Bharhut style'—Dr. Saraswati.

२ 'The railing at Sanchi on account of the largeness of its proportion and austerity of its treatment is one of the most impressive productions in the whole range of Buddhist constructional art.'

कोटि का नहीं है। परन्तु उसके ऊपर स्थापत्य की जो मूर्तियां स्थापित की गई हैं वे उत्कृष्ट कोटि की है।[1] तोरणों के ऊपर मूर्तियों द्वारा जो अलंकरण किया गया है वह अति सुन्दर है। विभिन्न पशुओं, पक्षियो, पादपां, वामनों यक्ष-यक्षिणियो आदि की मूर्तियाँ कलाकारों के प्रकृति-प्रेम और वैभिन्य-प्रेम की सूचना देती हैं।[2] डा० सरस्वती ने इस मूर्ति-अलंकरण की निम्नलिखित शब्दो मे प्रशंसा की है—

. . . The wonderful decorative sense of the artists with their simple and easy story-telling diction, graphic in content as well as in representation, remains unequalled in early Indian Art.'

सांची का स्थापत्य साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक नहीं है। इसमें बौद्ध धर्म के कथानक अवश्य मिलते हैं, परन्तु वे गौण है। उनकी सहायता से स्थापत्यकार ने मानवी पाशविक, एवं वानस्पतिक जगत के विविध चित्र उपस्थित किए हैं। वह नागरीय जीवन की विभूति को अंकित करने मे उतना ही निपुण है जितना ग्राम्य जीवन की सरलता को।[3]

मनुष्यों की आकृतियों मे घनगात्रता पर जोर दिया गया है, परन्तु उनके वस्त्राभरणों से उनकी कठोरता बहुत कुछ नम्र हो जाती है। भरहुत के वस्त्राभरण कठोर और अस्वाभाविक लगते हैं। वे शरीर से चिपटे-से दिखाई देते है। परन्तु ये दोष सांची में नही हैं। चुन्नट और सिलवटो के प्रयोग से वस्त्रों को शरीर से उभाड़ दिया गया है। नारी की मूर्तियों की शरीर-रचना बड़ी सुन्दर और सजीव है। अगो के सुदृढ़ घुमाव स्वाभाविकता प्रदान करते हैं, परन्तु वासना को उभाडने के लिए अनुचित रूप से शरीर के आत्यन्तिक प्रदर्शन पर महत्व नही दिया गया है।

सांची-स्तूप के स्थापत्य मे हम एकाकी विच्छिन्न-प्रसग मूर्तियो के स्थान पर सम्बद्ध-प्रसग मूर्ति-समूह पाते है। वहां अनेक मूर्तियो के द्वारा कोई कथानक कहा जाता है अथवा कोई घटना प्रदर्शित की जाती है। रिलीफ-स्थापत्य मे मूर्तियां पहले की अपेक्षा अधिक बडी और उभडी हुई है। स्थापत्य की ऊर्ध्वाकार (Vertical) और क्षैतिज (horizontal) योजना के कारण मूर्तियां विभिन्न दशाओ और

१ Basham—'The Sanchi gateways are perhaps more noteworthy for their carved ornamentation than their architecture.'

२ N. Ray—'A rich world of flora and fauna finds a feeling and naturalistic expression at the hands of Sanchi artists the elephants, deer and antelopes, the lotus creepers,pipal and the host of other trees and plants which lend their characteristic form and colour and charm to Indian art are portrayed for the first time here. . . . '

3 'The rich and aristocratic life at the court, the busy and exciting life of the city, the homely and modest country life and the varied luxuriance of the jungle, have all been treated faithfully and exhaustively. Nowhere do any signs of unnaturalness appear, and the actions expressed are intensely sincere and dramatic'—Dr. Saraswati.

स्थितियों (poses) में दिखाई देती हैं। 'लाइट और शेड' (light and shade) की योजना ने आवश्यकतानुसार मूर्ति-विशेष अथवा अंग-विशेष को उभाड़ दिया है। बैशम महोदय ने स्तूप-कला की इस प्रकार प्रशंसा की है—

,The finish, on the other hand, is remarkably good, and the carvings are among the most fresh and vigorous products of the Indian sculptor.'

साँची के चारो तोरण किसी एक समय में निर्मित नही हुए थे। इतना निश्चित है कि प्रथम और अन्तिम तोरण के निर्माण-कालों के बीच में अधिक अन्तर नही था।

शुंगकालीन कला के अन्य उदाहरण—शुंग-काल की कला के कुछ अन्य उदाहरण भी प्राप्त हुए हैं। इनमें निम्नलिखित विशेषरूप से उल्लेखनीय है—

(१) विदिशा का गरुडध्वज।
(२) भाजा का चैत्य एवं विहार।
(३) अजन्ता का नवाँ चैत्य मन्दिर।
(४) नासिक तथा कार्ले के चैत्य।
(५) मथुरा की अनेक यक्ष-यक्षी-मूर्तियाँ।

कण्व

विष्णु पुराण का उल्लेख है कि शुंग वंश का अन्तिम राजा देवभूति अपने मन्त्री वसुदेव द्वारा मारा गया।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इस हत्या के पीछे भी एक पूर्वनियोजित षड्यंत्र था। अपने कुकर्मों के कारण देवभूति सम्भवतः प्रजा और राज्याधिकारियो के लिए असह्य हो गया था। विष्णु पुराण देवभूति को व्यसनी बताता है। इसकी पुष्टि हर्षचरित से भी होती है। उसमें लिखा है कि अमात्य वसुदेव ने अतिकामी शुंगराज देवभूति की हत्या कर डाली।[2]

वसुदेव ने एक नवीन राजवंश की स्थापना की जो इतिहास में कण्व-वंश के नाम से प्रख्यात है। यह वंश भी ब्राह्मण-वंश था। इसने सम्भवतः ७२ ई० पू० से २७ ई० पू० तक राज्य किया।

पुराणो के अनुसार कण्व-वंश के राजाओ के नाम और उनके काल निम्न प्रकार है —

नाम	शासन-काल
(१) वसुदेव	९ वर्ष
(२) भूमिमित्र	१४ वर्ष
(३) नारायण	१२ वर्ष
(४) सुशर्मा	१० वर्ष
	कुल ४५ वर्ष

पुराणो का कथन है कि कण्व-वंश के राजा धर्मानुकूल शासन करेंगे। इससे अनुमान होता है कि शुंग-वंश के ब्राह्मण-पुनरुद्धार की नीति का कण्व-वंश ने भी अनुसरण किया। परन्तु हम कण्व-वंश की किसी भी महत्वपूर्ण घटना से परिचित नही हैं।

१ देवभूतिं तु शुंगराजानं व्यसनिनं तस्यैवामात्यः कण्वो वासुदेवनामा तं निहत्य स्वयं अवनीं भोक्ष्यति।

२ अतिस्त्रीप्रसंगरतमनंगपरवशं शुंगममात्यो वसुदेवो देवभूतिदासीदुहित्रा देवीव्यंजनया वीतजीवितमकारयत।

सातवाहन

वायु पुराण का कथन है कि आन्ध्रजातीय सिन्धुक कान्वायन सुशर्मा एवं शुंगो की अवशिष्ट शक्ति को नष्ट कर राज्य प्राप्त करेगा।[1] इससे प्रकट होता है कि कण्व-वंश का नाश आन्ध्र-वंश के द्वारा हुआ।

पुराणों के पूर्वोल्लिखित उद्धरण से प्रकट होता है कि राज्य प्राप्त करने के लिए आंध्र वश के संस्थापक को कण्व और शुंग दोनों वशों की शक्ति का नाश करना पड़ा था। इससे प्रकट होता है कि कण्व वश के शासन काल मे भी शुंग वंश किसी न किसी रूप में राज्य करता रहा था। यह रूप क्या हो सकता है? सर० आर० जी० भण्डारकर का मत था कि शुंग-वश से सत्ता छिनने के पश्चात् भी कण्व वश ने उसका पूर्ण-रूप से विनाश नही किया और पेशवा की भाति उसे शासन करने दिया, परन्तु अधिकाश विद्वान् कण्व-शासन-काल मे शुंग-वश की स्वतत्र सत्ता का स्वीकार नही करते। उनका यह मत है कि सर्वोच्च सत्ता कण्वों के साथ में ही रही। शुंग राजा जाता सम्भवत विदिशा के छोटे से प्रदेश मे कण्व राजाओं की अनुमति से राजा की उपाधि-मात्र धारण किय हुए अर्द्धस्वतन्त्र रूप मे शासन कर रहे थे। आध्र संस्थापक ने अपनी सम्पूर्ण सत्ता स्थापित करने के लिए कण्वों की सम्पूर्ण शक्ति और शुंगो की अवशिष्ट शक्ति दोनो का विनाश कर देना आवश्यक समझा।

आंध्र अथवा सातवाहन—इस नवीन राजवश को पुराण आध्रजातीय अथवा आध्रभृत्य बताते हैं। परन्तु इस वश के लेखो मे कही पर भी इस नाम का प्रयोग नही हुआ। इसके राजा सदैव अपने को सातवाहन कहते है। साहित्य मे कही-कही पर इस वश के लिए शालिवाहन शब्द का भी प्रयोग हुआ है। अत प्रश्न यह होता है कि नामो के इस विरोध का क्या कारण हो सकता है? आंध्रजातीय का अर्थ हुआ अनार्य। प्राचीन ब्राह्मण-ग्रन्थ दक्षिणी भारतवर्ष मे गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच के प्रदेश को आन्ध्र जाति का निवास-स्थान बताते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यह प्रदेश आर्य-संस्कृति के बाहर था। आन्ध्रो की गणना पुण्ड्र, सबर और पुलिद आदि अनार्यों के साथ हुई है। अत यदि हम नवीन वश को आन्ध्र वश मान ले तो वह अनार्य वश सिद्ध होगा। परन्तु जैसा कि हम आगे सिद्ध करेंगे, नवीन वश आर्य वश था और ब्राह्मण वश भी। फिर आखिर पुराणो ने इस ब्राह्मण वश को आन्ध्रजातीय क्यो कहा? इसका एक विशेष कारण है। यह नवीन वश महाराष्ट्र मे राज्य करता था। परन्तु कालान्तर मे शको ने इस राज-वश को पराजित करके महाराष्ट्र से खदेड दिया। महाराष्ट्र को छोडकर यह पराजित राजवश गोदावरी और कृष्णा के बीच मे आन्ध्र देश मे आ कर बस गया। आन्ध्र देश मे रहने के कारण ही यह वश आन्ध्र कहलाया। अत आन्ध्र नाम प्रादेशिक सज्ञा है, जातीय सज्ञा नही।

बृहद्देशी नामक ग्रन्थ मे आन्ध्री और सातवाहनी नामक दो पृथक् पृथक् रागिनियो का उल्लेख है। इससे भी यही अनुमान होता है कि आन्ध्र और सातवाहन दो पृथक्-पृथक् जातियाँ थी।

जाति—सातवाहनो की जाति के विषय मे बडा मतभेद है। इस विषय पर प्रमुखतया तीन मत प्रस्तुत किये जाते है—

१ काण्वायनस्ततो भृत्यः सुशर्माणं प्रसह्य बलं पदा। सिन्धुको आन्ध्रजातीयः तम्। शुंगानां चैव यच्छेषं क्षपयित्वा प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्।

(१) सातवाहन अनार्य थे।

(२) सातवाहन अब्राह्मण थे।

(३) सातवाहन ब्राह्मण थे।

यहाँ हम इन्ही तीनो मतो की समीक्षा करेंगे।

१. क्या सातवाहन अनार्य थे?—सातवाहनो को अनार्य मानने वाले विद्वान् अपने पक्ष मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(१) पुराणो मे सातावहनो को आन्ध्र-जातीय कहा गया है और ऐतरेय ब्राह्मण मे आन्ध्र अनार्य बताये गये है।

(२) अनेक सातवाहन राजाओं के नाम अनार्य प्रतीत होते हैं, यथा सिमुक, हाल और पुलुमावी।

(३) अनेक सातवाहन नरेशो के नाम उनकी माताओ के नाम पर रक्खे गये थे, यथा गौतमीपुत्र और वासिष्ठीपुत्र। यह मातृप्रधान अनार्य समाज की विशेषता है।

(४) सातवाहनो ने अनार्य शको से भी विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया। परन्तु ये तर्क निर्बल है—

(१) पहले कहा जा चुका है कि सातवाहन जाति से आन्ध्र नही थे। वे आन्ध्र-प्रदेश मे बसने के कारण आन्ध्र कहलाये।

(२) यह सर्वविदित है कि दक्षिणी भारत का आर्यीकरण देर को और धीरे-धीरे हुआ। वहाँ आर्यों के पहुँचने के बाद भी दीर्घ-काल तक अनार्य सस्कृति के अनेक अश प्रबल रहे। अनार्य सस्कृति के प्रभाव मे ही कुछ आर्य राजाओ के नाम अनार्य-से प्रतीत होते है।

(३) सातवाहन समाज मातृप्रधान न था। परन्तु उसमे स्त्रियों का स्थान बडा सम्मानपूर्ण था। कुछ स्त्रियाँ अपनी योग्यता और विद्वत्ता के लिये प्रख्यात थीं। सम्भवतः उनकी इसी प्रसिद्धि के कारण उनके पुत्रों के नाम उनके नामों पर रक्खे गये थे।

(४) अन्तर्जातीय विवाह तो भारतीय इतिहास के प्रत्येक काल मे होते रहे। स्वय चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानी राजकुमारी के साथ विवाह किया था। परन्तु एक-मात्र इसी कारण वह अनार्य नही कहा जाता। इसी प्रकार यदि किसी सातवाहन-नरेश ने शक महाक्षत्रप रुद्रदामन् प्रथम की पुत्री के साथ विवाह किया हो तो इससे उसका अनार्यत्व प्रकट नही होता।

२. क्या सातवाहन अब्राह्मण थे?—कुछ विद्वानों का मत है कि सातवाहन आर्य तो थे, परन्तु वे ब्राह्मण नही थे। उन्हे ब्राह्मणेतर जाति का सिद्ध करने के लिय निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) कुछ सातवाहन राजाओ के नामों मे गौतम और वसिष्ठ लगा हुआ है। ये ब्राह्मण गोत्र हैं। परन्तु डा० डी० आर० भण्डारकर का मत है कि सूत्रों के अनु-सार यजमान को यदि अपने गोत्र का ज्ञान न हो तो वह अपने ब्राह्मण पुरोहित का गोत्र भी धारण कर सकता था। अत ब्राह्मण गोत्र का धारण करने वाला व्यक्ति मूलत. अब्राह्मण भी हो सकता है। यही बात सम्भवतः सातवाहनो के विषय मे भी रही हो।

(२) नासिक अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'एकबम्हन' कहा गया है। परन्तु डा० भण्डारकर के मतानुसार इस शब्द का अर्थ 'एक ब्रह्मण्य' (ब्राह्मणों का पोषक) है। इसी प्रकार भगवान् लाल इन्द्रजी ने 'एकबम्हन' का अर्थ 'एकमात्र साधु पुरुष (holy man) लगाया है। अत. इस शब्द से ब्राह्मण जातीयता सिद्ध नही होती।

(३) एक नासिक अभिलेख मे गौतमीपुत्र शातकर्णि की माता गौतमी बलश्री को 'राजर्षिवधू' कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि वह ब्राह्मण न थी अन्यथा उसे 'ब्रह्मर्षिवधू' कहा जाता।

(४) नासिक अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि की तुलना राम, केशव, अर्जुन और भीम से की गई है। ये सब क्षत्रिय थे। अतः गौतमीपुत्र भी क्षत्रिय रहा होगा।

परन्तु इन सभी तर्कों का खण्डन बडी सरलता से किया जा सकता है--

(१) याज्ञिक कार्यों के लिये सूत्रो ने यह अनुमति अवश्य दे रक्खा था कि यदि यजमान को अपना गोत्र ज्ञात न हो तो वह अपने ब्राह्मण पुरोहित का गोत्र धारण कर सकता था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस सुविधा का प्रयोग एकमात्र क्षत्रियो ने ही किया था। वैश्यो ने नही। और यह स्पष्ट है कि सातवाहन क्षत्रिय न थे, क्योंकि गौतमीपुत्र शातकर्णि को नासिक अभिलेख मे 'खतियदयमानमदनस' कहा गया है। अत· सातवाहन ब्राह्मण ही होंगे।

(२) 'एक बम्हन' का सामान्य अर्थ ब्राह्मण जाति का ही है। अन्य अर्थ खीचा-तानी के परिणाम है।

(३) कभी-कभी ब्राह्मणो को भी 'राजर्षि' कहा गया है, यथा पुराणों मे ब्राह्मण दधीचि को।

(४) तुलना का आधार जाति नही वरन् वीरता था।

३. क्या सातवाहन ब्राह्मण थे?--सेनार, ब्यूलर आदि अधिकाश विद्वानो का मत है कि सातवाहन ब्राह्मण थे। इस मत की पुष्टि मे निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं--

(१) नासिक अभिलेख मे स्पष्ट रूप से गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'एकबम्हन' कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि वह ब्राह्मण था।

(२) उसी अभिलेख में उसे 'खतियदयमानमदनस' कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वह 'क्षत्रिय' नही था। उसके वैश्य और शूद्र होने का प्रश्न ही नही है। अत. वह ब्राह्मण होगा।

(३) गौतमीपुत्र और वासिष्ठीपुत्र नामों से प्रकट होता है कि ये ब्राह्मण गोत्रो --गौतम और वसिष्ठ--पर रक्खे गये थे। अत· इनके धारणकर्ता ब्राह्मण होंगे।

(४) नासिक अभिलेख मे ही गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'आगमाना निलयस्य' (धर्मशास्त्रो का भण्डार) और 'बिनिवर्तितचातुर्वर्णसंकरस्य (वर्णसंकरता को रोकने वाला) कहा गया है। गौतमीपुत्र की ये विशेषताये पुष्यमित्र शुंग का स्मरण दिलाती हैं। मनुस्मृति परोक्षरूप से उसे 'वेदशास्त्रविद्' कहती है। पुष्यमित्र शुंग ने भी वर्ण-व्यवस्था स्थापित करने की चेष्टा की थी। इन आधारों पर यह अनुमान किया जा सकता है कि पुष्यमित्र शुंग की भांति गौतमीपुत्र शातकर्णि भी ब्राह्मण था और उसने ब्राह्मण-व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न किया था।

सातवाहनों का मूल निवास-स्थान—सातवाहनों के मूल निवास-स्थान के प्रश्न पर भी मतैक्य नहीं है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। इनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(१) **आन्ध्र देश**—रैप्सन, बार्नेट जायसवाल और प्रभाकर शास्त्री आदि विद्वानों ने आन्ध्र देश (कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच का प्रदेश) को सातवाहनों का मूल-स्थान बताया है।

परन्तु इस मत के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(क) २४वें सातवाहन-नरेश वासिष्ठीपुत्र पुलमावी के पूर्व किसी सातवाहन राजा के आन्ध्र-प्रदेश पर शासन करने के प्रमाण नहीं मिलते। वाशिष्ठीपुत्र के पूर्व आन्ध्र-प्रदेश में सातवाहनों का कोई भी अभिलेख अथवा सिक्का नहीं मिलता।

(ख) आन्ध्र प्रदेश में स्थित अमरावती स्तूप पर अनेक अभिलेख मिलते हैं। परन्तु उनमें कहीं भी सातवाहनों का नाम नहीं मिलता।

(ग) सातवाहनों को आन्ध्र इसलिये नहीं कहा जाता कि वे आन्ध्र प्रदेश के मूल-निवासी थे। वे इस प्रदेश बहुत बाद को पहुँचे।

(२) **बेलारी**—डा० सुक्थकर के मतानुसार सातवाहन मद्रास राज्य के बेलारी जिले के मूल निवासी थे। वहाँ प्राप्त म्याकडोनि और हीरहडगल्लि ताम्रपत्रों में इस प्रदेश को क्रमशः 'सातबाहनिहार' और 'साताहनि-रट्ठ (राष्ट्र) के नाम से पुकारा गया है।

परन्तु यदि बेलारी में ही सातवाहनों का उदय हुआ होता तो वहाँ उनके प्रारम्भिक लेख और सिक्के क्यों नहीं मिलते ?

(३) **बरार**—प्रो० मिराशी का मत है कि सातवाहनो का मूल-स्थान बरार (विदर्भ) था। यही कारण है कि बरार के अकोला जिले मे तरहला नामक स्थान पर सातवाहनों की मुद्राय मिली है।

परन्तु इस मत को स्वीकार करने मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि अकोला मुद्रा-भाण्ड मे तेइसवे सातवाहन-नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के पूर्व की कोई मुद्रा नही मिलती।

(४) **मध्य देश के दक्षिण में**—विनयपिटक मे सेतकन्निक नामक एक नगर का उल्लेख है। यह मध्यदेश के दक्षिण में स्थित था। इसी आधार पर डा० राय चौधरी ने मध्य देश के दक्षिणी भाग को सातवाहनो का मूल निवास-स्थान माना है। परन्तु एकमात्र इसी तर्क के आधार पर इतना बड़ा निष्कर्ष निकालना न्यायसगत नही है।

(५) **महाराष्ट्र**—अधिकाश विद्वान् महाराष्ट्र को सातवाहनों का उदय-स्थान होने का श्रेय देते हैं। उनके तर्क इस प्रकार है—

(१) सातवाहन-नरेशों की अधिकाश मुद्राये और उनके अभिलेख महाराष्ट्र में प्राप्त हुए हैं।

(२) सातबाहन काल की नासिक, कार्ले, भाजा आदि की गुफाय महाराष्ट्र मे है।

(३) 'सात' की मुद्राये मालब शैली की हैं। अत वे महाराष्ट्र अथा पश्चिमी भारत में निर्मित हुई होंगी।

(४) सातवाहन-नरेशों ने अपने अभिलेखों में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग किया है।

(५) नानाघाट अभिलेख की सूचना है कि शातकर्णि प्रथम की रानी नागानिका महारठियों की राजकुमारी थी। महारठी पश्चिमी भारत के निवासी थे। अतः सातवाहन उनके पड़ोसी होंगे।

(६) हाथीगुम्फा अभिलेख का कथन है कि कलिंग-नरेश खारवेल ने पश्चिम की ओर आक्रमण करके सातवाहन-नरेश शातकर्णि (प्रथम) को परास्त किया था। यहाँ सम्भवतः पश्चिम मे स्थिति महाराष्ट्र की ओर सकेत है।

(७) तेलंगाना—कुछ समय पूर्व हैदराबाद तथा उसके समीप स्थित कोंडापुर नामक स्थान मे सातवाहनों की ताम्र-मुद्रायें मिली है। इस आधार पर यह भी अनुमान किया जाता है कि सातवाहन तेलगाना के मूल निवासी होगे। वही से वे महाराष्ट्र गये होगे।

सातवाहनों का उत्तरी भारत पर राज्य था?—डा० जायसवाल और डा० दाडेकर आदि कुछ विद्वानो ने यह मत प्रतिपादित किया है कि सातवाहनो का उत्तरी भारत के कुछ प्रदेश पर भी अधिकार था। अपने मत के पक्ष मे उन्होने निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किए है—

(१) पुराणो मे कहा गया है कि 'आन्ध्र जातीय सिन्धुक यह वसुन्धरा प्राप्त करेगा'। यहाँ 'वसुन्धरा' का अर्थ मगध है।

(२) डा० जायसवाल ने नालन्दा मे एक सातवाहन-मुद्रा प्राप्त की है। इस आधार पर भी वे सातवाहनो को मगध का अधिपति मानते है।

(३) उत्तर प्रदेश मे प्रयाग से ७ मील की दूरी पर स्थित भीटा नामक स्थान पर एक अन्य सातवाहन-मुद्रा प्राप्त हुई है। इसके आधार पर डा० दाडेकर उत्तर प्रदेश को सातवाहन-साम्राज्य के अन्तर्गत मानते है।

परन्तु इन तीनो तर्कों का खण्डन किया जा सकता है—

(१) इसका कोई अकाट्य प्रमाण नही है कि 'वसुन्धरा' का अर्थ मगध है उसका तात्पर्य विदिशा अथवा महाराष्ट्र से भी हो सकता है।

(२) नालन्दा की मुद्रा यात्री द्वारा भी वहाँ पहुँच सकती थी।

(३) यही बात भीटा की मुद्रा के विषय मे भी कही जा सकती है। जो भी हो, एक-दो मुद्राओ के आधार पर इतना बडा निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि मगध और उत्तर प्रदेश पर सातवाहनो का अधिकार था।

यही नही, कुछ अन्य आधारो से भी प्रकट होता है कि उत्तरी भारत पर सातवाहनो का आधिपत्य न था—

(१) सातवाहनो के किसी भी अभिलेख मे उत्तरी भारत का उल्लेख नही मिलता।

(२) सातवाहनकालीन हाथीगुम्फा अभिलेख से भी यह प्रकट नही होता कि उत्तरी भारत सातवाहनो के अधीन था।

(३) सातवाहनों के अभिलेख और सिक्के उत्तरी भारत मे नही मिले हैं।

(४) सातवाहनों को 'त्रिसमुद्राधिपति' कहा गया है, 'चतुःसमुद्राधिपति' नहीं। प्रथम का अर्थ 'दक्षिणापथपति' होता है और द्वितीय का सम्पूर्ण भारत का अधिपति।

(५) मित्रों, शकों, कुषाणों, नागों आदि के लेखों से भी यह सकेत नही मिलता कि उत्तरी भारत में कहीं भी सातवाहनों का राज्य था।

सातवाहन वंश की दो शाखायें—वायुपुराण के अनुसार सातवाहन वश में १९ राजा हुए और उन्होंने लगभग ३ शताब्दियो तक राज्य किया। इसके विरुद्ध मत्स्य पुराण ३० सातवाहन राजाओ का उल्लेख करता है जिदोने लगभग ४ शताब्दियों तक राज्य किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवाहन वंश की दो शाखायें थी—एक मूल शाखा और दूसरी उपशाखा। मूल शाखा मे १९ राजा हुए और उन्होने लगभग ३ शताब्दियो तक राज्य किया। परन्तु मत्स्य पुराण की परम्परा मे मूल शाखा के राजाओ के अतिरिक्त उपशाखा के राजाओ और उनके कालों को भी जोड दिया गया है। इसलिए राजाओ की सख्या ३० और उनका शासन-काल ४ शताब्दी हो गया है। काव्य मीमासा और कुछ अभिलेख कुतल के सातवाहनो का उल्लेख करते है। सम्भवतः यह उपशाखा के राजा थे जिनका बर्णन मत्स्य पुराण मे मिलता है, किन्तु वायुपुराण मे नही।

सातवाहनों का उदय-काल—स्मिथ और रैपसन महोदय सातवाहन वंश के संस्थापक सिमुक का उदय काल ईसा पूर्व ३री शताब्दी बताते हैं। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत को स्वीकार नही करते।

(१) शुंग-वंश की स्थापना १८४ ई० पूर्व के लगभग हुई थी। इस वश ने ११२ वर्ष तक राज्य किया। अतः शुंग वश का पतन और कण्व वश का उदय ७२ ई० पू० के लगभग हुआ। कण्व वश ने ४५ वर्ष राज्य किया। कण्व वंश के विनाश के पश्चात् सातवाहन वंश की स्थापना लगभग २७ ई० पूर्व हुई।

(२) नानाघाट अभिलेख सिमुक की पुत्रवधू का उल्लेख करता है। चन्दा महोदय के अनुसार इस अभिलेख की लिपि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की है। इसलिए सिमुक का काल ई० पूर्व प्रथम शताब्दी मे ही ठहरता है।

(३) हाथीगुम्फा अभिलेख का कथन है कि खारवेल ने सातवाहन नरेश सातकर्णी को पराजित किया था और सिमुक दोनों का काल एक दूसरे के बहुत निकट था। हाथीगुम्फा अभिलेख ई० पूर्व प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण का है। अतः सिमुक का काल भी ई० पू० प्रथम शताब्दी मे ही रहा होगा।

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर सातवाहन वंश का उदयकाल ई० पू० प्रथम शताब्दी ही प्रतीत होता है।

सातवाहन वंश का संस्थापक सिमुक—पुराणों मे इस संस्थापक का नाम सिन्धुक, शिशुक और शिप्रक भी मिलता है। इसे भृत्य भी कहा गया है। अत अनुमान होता है कि स्वतत्र राजा होने से पूर्व यह सामन्त शासक रहा होगा। इसके शासन काल की तिथियाँ अनिश्चित है। डा० राय चौधरी इसे ई० पू० ६० और ई० पू० ३७ के बीच में रखते है।

कृष्ण—पुराणों के अनुसार कृष्ण सिमुक का भाई और उत्तराधिकारी था। डा० दिनेशचन्द्र सरकार का मत है कि कृष्ण सिमुक का पुत्र था। एक नासिक गुहालेख में एक राजा कन्ह का उल्लेख है। इस कन्ह का समीकरण कृष्ण से किया गया

है। इसके समय में नासिक के एक श्रमण महामात्र ने एक गुफा निर्माण कराया था। इससे प्रकट होता है कि कृष्ण का नासिक पर अधिकार था।

शातकर्णि—सातवाहन वंश का सर्वप्रथम पराक्रमी राजा शातकर्णी था। इसके शासन-काल के अनेक साक्ष्य मिले है। पुराण इसे कृष्ण का पुत्र कहते हैं, परन्तु यह निश्चित प्रतीत नही होता है। बहुत सम्भव है कि वह सिमुक का पुत्र रहा हो, क्योंकि ~क नानाघाट अभिलेख में उसे सिमुक सातवाहनस वंसवधनस (सिमुक सातवाहन के वंश को बढ़ाने वाला) कहा गया है। इसमें सिमुक का तो नाम है, परन्तु कृष्ण का नहीं। प्राचीन परम्परा के पुत्रों के नाम के साथ ही पिता के नाम भी उल्लिखित कर दिये जाते थे। सातकर्णी के इतिहास पर निम्नलिखित साक्ष्य प्रकाश डालते हैं:

(१) **नागानिका का नानाघाट अभिलेख**—नागानिका सातकर्णि की रानी थी। यह अगीय वंश की थी। यह अगीय वंश के राजा अपने को महारथी कहते थे। इससे प्रकट होता है कि यह वंश पर्याप्त रूप से शक्तिशाली था। अतः इस वैवाहिक सबन्ध ने शातकर्णि को अपनी शक्ति बढाने में महत्वपूर्ण सहायता दी होगी। यह अभिलेख शातकर्णि की सफलताओं के ऊपर भी प्रकाश डालता है। इसमे शातकर्णि को 'वीर' 'शूर' और ''अप्रतिहतदक्षिणापथपति'' कहा गया है। इन शब्दों से संभवत. दक्षिणापथ में शातकर्ण की कुछ विजयों का सकेत मिलता है। कदाचित् उन विजयों के पश्चात् ही शातकर्णि ने दो अश्वमेध किए होंगे। जिनका वर्णन उपर्युक्त नानाघाट अभिलेख में है। प्रथम अश्वमेध यज्ञ का वर्णन अभिलेख के टूट जाने से विलुप्त हो गया है, परन्तु द्वितीय यज्ञ का वर्णन अब भी विद्यमान है। जिससे प्रकट होता है कि इस अवसर पर शातकर्णि ने बहुसख्यक गौओं, घोडों, हाथियों, ग्रामों, सुवर्ण और वस्तुओं का दान दिया था। डॉक्टर दिनेशचन्द्र का मत है कि यह यज्ञ सभवत नागानिका ने अपने पति की मृत्यु के पश्चात् किए थे, परन्तु यह मत असगत प्रतीत होता है। अभिलेख में ''रायस'' शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया गया है। इससे प्रकट होता है कि यह यज्ञ राजा शातकर्णि के जीवन-काल मे ही हुए थे।

(२) **सांची अभिलेख**—इस अभिलेख मे एक राजा शातकर्णि का वर्णन है। मार्शल महोदय का मत है कि यह राजा सातवाहन वंश का शातकर्णि नही हो सकता। मार्शल महोदय का विश्वास था कि शातकर्णि खारवेल का समकालीन था और दोनो ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में हुए थे। अत: वे कहते है कि यदि हम साँची अभिलेख के राजा शातकर्णि को सातवाहन वंश का शातकर्णि मान ले तो हमें यह स्वीकार करना पडेगा कि ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी मे साँची के ऊपर सातवाहनों का अधिकार था, परन्तु हम यह जानते है कि उस समय साँची के ऊपर सातवाहनों का नही वरन् शुंगों का अधिकार था। परन्तु मार्शल महोदय की सबसे बडी भूल यह है कि उन्होंने खारवेल को ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में माना है जबकि वह ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का राजा था। अतः साँची अभिलेख के राजा शातकर्णि को उसी नाम का सातवाहन मानना अनुचित नही है।

इस प्रकार साँची अभिलेख से प्रकट होता है कि पूर्वीय मालवा के ऊपर शातकर्णि का अधिकार था। श्री एन० एन० घोष का यह मत कि यह प्रदेश स्वय शातकर्णि ने जीता था, अनुपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि यह प्रदेश पहले से ही कण्वों के अधीन रहा होगा और सातवाहन वंश के प्रथम द राजाओ सिमुक और कृष्ण ने शातकर्णि के पहले ही उस पर अपना अधिकार कर लिया होगा। हाँ, यह संभव ने कि शातकर्णि

ने महारथियों की सहायता से पश्चिमी मालवा के ऊपर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया हो। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि शातकर्णि ने मालवा शैली की गोल मुद्राएँ चलाई थी।

(३) **खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख**—इस अभिलेख से प्रकट होता है कि कलिंग नरेश खारवेल ने शातकर्णि को पराजित किया था। हाथीगुम्फा और नानाघाट अभिलेखों की लिपि समकालीन है। अतः खारवेल द्वारा पराजित शातकर्णि सातवाहन वंश का शातकर्णि ही प्रतीत होता है।

(४) पेरीप्लस में Elder Saragonus का उल्लेख है। विद्वान् इसका समीकरण शातकर्णि से करते हैं।

(५) वीरचरित नामक एक बौद्ध ग्रन्थ में प्रतिष्ठान के शासक शातकर्णि का वर्णन है। यह शातकर्णि 'शक्ति-कुमार' का पिता था। हम जानते हैं कि सातवाहन वंश के शातकर्णि के पुत्र का नाम शक्ति श्री था। अतः दोनों राजा एक ही प्रतीत होते हैं।

(६) कुछ मुद्राओं पर सिरि सात का नाम मिलता है। रैप्सन महोदय ने सिरि-सात का समीकरण शातकर्णि के साथ किया।

शातकर्णि का राज्य-विस्तार तथा महत्व—इस प्रकार शातकर्णिने एक विशाल राज्य की स्थापना की जिसमें महाराष्ट्र का अधिकांश भाग, उत्तरी कोंकण और मालवा सम्मिलित थे। उसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी। शातकर्णि ही प्रथम नरेश था जिसने दक्षिणी भारत में सातवाहनों की प्रभु-सत्ता की स्थापना की।[1]

निर्बल उत्तराधिकारी—शातकर्णि प्रथम अपने दो अल्पवयस्क पुत्रों—शक्ति श्री और वेदश्री—को छोड़ कर मरा था। इसलिये पुत्रों के अल्पवयस्कता-काल में उनकी माता नागानिका ने संरक्षिका के रूप में शासन-भार सँभाला।

शातकर्णि प्रथम के पश्चात् सातवाहनों का एक शताब्दी का काल अवनति-काल था। इस बीच उनमें कोई भी ऐसा शक्तिशाली और योग्य राजा न हुआ जो उनके राज्य को अक्षय रख सकता।

पुराणों में इन निर्बल शासकों की सूची मिलती है। परन्तु यह कहना कठिन है कि इनमें से कौन-सा शासक सातवाहनों की मूल शाखा का था और कौन-सा उनकी उपशाखाओं का। ऐसा प्रतीत होता है कि इस पौराणिक सूची के कुन्तल-शातकर्णि और हाल सातवाहनों की उपशाखाओं के नरेश थे।

शक-सातवाहन-संघर्ष

शकों का उदय—शातकर्णि के निर्बल उत्तराधिकारियों को एक नवीन खतरे का सामना करना पड़ा। यह खतरा शकों के उदय से उत्पन्न हुआ। यहीं से शक-

१ 'Satakarni seems to have been the first prince to raise the Satavahans to the position of paramount sovereigns of Trans-Vindhyan India. Thus arose the first great empire in the Godavari valley which rivalled in extent and power of the Sunga empire in the Ganges valley and the Greek empire in the Land of the Five Rivers'—Dr. Raychaudhuri.

सातवाहन-संघर्ष का श्रीगणेश होता है जो दीर्घकाल तक चलता रहा। इसमें कभी शकों की विजय हुई और कभी सातवाहनो की।

पेरीप्लस का लेखक मैम्बेरस नामक एक राजा का उल्लेख करता है जिसने भड़ौंच, गुजरात, काठियाड़ और राजपूताना के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया था।[1] पेरीप्लस का यह भी कथन है कि इस समय कल्याण का बन्दरगाह नितान्त अरक्षित था और वहाँ आनेवाले यूनानी जहाजो को पकड लिया जाता था तथा उन्हें भड़ौच (Barygaza) ले जाया जाता था।

अभाग्यवश मैम्बेरम नामक राजा का उल्लेख किसी अन्य साक्ष्य मे नही मिलता। परन्तु यह अनुमान किया जा सकता है पक वह एक शक-नरेश था जिसके आक्रमणों तथा राज्य-विस्तार ने मातवाहनों के लिये एक महान् सकट उत्पन्न कर दिया था और पश्चिमी भारत मे अरक्षा की भावना उत्पन्न कर दी थी—उसने सातबाहनों के उत्तरी प्रदेशों को छीन लिया था और कल्याण बन्दरगाह से होने वाले सातवाहनों के व्यापार को बडी हानि पहुँचाई।

ऐसा प्रतीत होता है कि मैम्बेरस के उत्तराधिकारी अधिक समय तक पश्चिमी प्रदेश पर अधिकार न रख सके। शीघ्र ही क्षहरात नामक एक नये शक वश ने इस प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। कुछ विद्वानों के मतानुसार क्षहरात-कुषाणों के सामन्त थे।

उपलब्ध साधनों से प्रकट होता है कि इस नये वश के उदय से शक-सातवाहन-सघर्ष और अधिक तीव्र हो गया। अभिलेखों से प्रकट होता है कि इस वंश के सर्व-प्रथम राजा भूमक का अधिकार पूना-प्रदेश (महाराष्ट्र), उत्तरी कोंकण और राज-पूताना एव मध्य प्रदेश के कुछ भाग पर था। भूमक की मुद्राये मालवा, गुजरात और काठियावाड मे प्राप्त हुई है। स्पष्ट है कि भूमक ने इन प्रदेशों में से कुछ प्रदेश सातवाहनों को परास्त करके हस्तगत किये थे।

भूमक का उत्तराधिकारी **नहपान** सबसे अधिक पराक्रमी क्षहरात-नरेश था। उसके शासन-काल में सातवाहनो को और भी अधिक दुर्दिन देखने पडे। उसने महाराष्ट्र राजपूताना के कुछ भाग, अपरान्त, गुजरात, काठियावाड और मालवा पर अधिकार कर लिया। इनमे से कुछ प्रदेश पहले सातवाहन-राज्य मे थे।

सातवाहन-वंश का पुनरुद्धार

गौतमीपुत्र शातकर्णि—परन्तु कुछ काल पश्चात् सातवाहन-वश मे एक महा-पराक्रमी नरेश का उदय हुआ जिसने शको को परास्त करके अपने वंश का पुनरुद्धार किया। यह था गौतमीपुत्र गौतमीकर्णि।

१ 'Beyond the gulf of Baraka (Dvarika?) is that of Barygaza and the coast of the country of Ariaca (Gujrat) which is the beginning of the kingdom of Mambarus and of all India, that part of it lying inland and adjoining Scythia is called Abria and the coast called Syastrene (Saurastra).'——Periplus

पुराणों के अनुसार गौतमीपुत्र शातकर्णि सातवाहन-वश का तेइसवाँ राजा था। वह सातवाहन-वंश का सबसे बडा और सबसे पराक्रमी राजा था। उसने अपने वंश की प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित किया। उसके पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलमावी के नासिक अभिलेख मे उसकी सफलताओं का वर्णन मिलता है। इस अभिलेख मे गौतमीपुत्र शातकर्णी को सातवाहन कुल के यश को फिर से स्थापित करने वाला कहा गया है (सातवाहनकुल-यसपतिथापनकरस)। इस कार्य को पूर्ण करने में उसे क्षत्रियो के दर्प और मान का मर्दन करना पडा (खतियदपमानमदनस), शक, यवन और पह्लवो का नाश करना पडा (सकयवनपह् लवनिसूदनस) और क्षहरात वश का निर्मूलन करना पडा (खखरातवयनिरवसेसकरस)। इन उल्लेखो से स्पष्ट होता है कि उसने अनेक सफल युद्धों को करने के उपरान्त सातवाहन-साम्राज्य का अभूतपूर्व विस्तार किया होगा।

उपर्युक्त नासिक अभिलेख के अन्याय अश भी गौतमीपुत्र शातकर्णी के पराक्रम को सिद्ध करते हैं। उदाहरणार्थ—

(१) सर्वराजलोकमडलप्रतिगृहीतशासनस्य
(२) सिमुद्रतोयपीतवाहनस्य
(३) अपराजितविजयपताक
(४) अनेकसमराविजितशत्रुसघस्य

उसके साम्राज्य के अन्तर्गत कौन कौन से प्रदेश थे यह भी उपर्युक्त नासिक अभिलेख से स्पष्ट हो जाता है। ये प्रदेश थे—

(१) असिक—गोदावरी और कृष्णा के मध्य का प्रदेश
(२) अश्मक—गोदावरी का तटीय प्रदेश
(३) मूलक—पठान के चतुर्दिक प्रदेश
(४) सुराष्ट्र—दक्षिणी काठियाबाड
(५) कुकुर—उत्तरी काटियावाड
(६) अपरान्त—बम्बई प्रान्त का उत्तरी प्रदेश
(७) अनूप—नर्मदा नदी पर माहिष्मती प्रदेश
(८) विदर्भ—बरार
(९) आकर—पूर्वी मालवा
(१०) अवन्ती—पश्चिमी मालवा

नासिक के दो अभिलेखो से स्पष्ट हो जाता है कि उसने क्षहरात-वश को पराजित करके फिर अपने वश का राज्य स्थापित कर लिया था। जोगलथम्भी-मुद्रा-भाड से भी इस कथन की पुष्टि होती है। इस भाड मे ऐसी मुद्राये है जिन पर नहपान और गौतमीपुत्र दोनों के नाम अकित है। इससे प्रकट होता है कि मुहपान को पराजित करने के पश्चात् उसने उसकी मुद्राओ पर अपना नाम अकित कराने के पश्चात् उन्हें फिर से प्रसारित किया था।

कुछ विद्वान् यह नही मानते है कि नहपान और गौतमीपुत्र शातकर्णी समकालीन थे और द्वितीय ने प्रथम को पराजित किया था।

(१) स्मिथ महोदय का मत है कि जोगलथम्भी मुद्रा-भाड मे नहपान की जो १३ हजार मुद्राये है वे बहुत पहले से चल रही थी और गौतमीपुत्र शातकर्णी के समय

में भी चलती रही। परन्तु इन मुद्राओं से यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि गौतमीपुत्र शातकर्णी ने नहपान को पराजित किया था। स्मिथ महोदय के मतानुसार नहपान गौतमीपुत्र के उदय के पूर्व ही मर चुका था।

(२) गौतमीपुत्र के शासन में १८वें वर्ष के एक नासिक अभिलेख से प्रकट होता है कि उस प्रदेश में उषवदात ने कुछ भूमि कुछ भिक्षुओं को दी थी परन्तु नीलकंठ शास्त्री और भडारकर का मत था कि यह उषवदात नहपान का दामाद उषवदात न था वरन् उसी नाम का कोई अन्य व्यक्ति था। अतः इस अभिलेख से भी नहपान और गौतमीपुत्र शातकर्णी की समकालीनता सिद्ध नहीं होती।

(३) नीलकंठ शास्त्री के मतानुसार नासिक अभिलेखों की नहपान की तिथियाँ ४१, ४२ और ४५, ४६ विक्रम सवत की है। अत. नहपान ई० पू० प्रथम शताब्दी में सिद्ध होता है। गौतमीपुत्र शातकर्णी ईसा की दूसरी शताब्दी में हुआ था। इससे भी नहपान और गौतमीपुत्र शातकर्णी की समकालीनता सिद्ध नहीं होती।

परन्तु स्मिथ, भडारकर और नीलकठ शास्त्री के इन मतो को अधिकाश विद्वान् स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार नहपान और गौतमीपुत्र दोनों की तिथियाँ शक सवत् की है और नहपान को पराजित करने के पश्चात् ही गौतमीपुत्र ने महाराष्ट्र के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित किया था।

गौतमीपुत्र शातकर्णी की तिथियां—गौतमीपुत्र और उसके उत्तराधिकारियों की तिथियाँ उनके शासन-काल की तिथियां (regnal years) है। शकनिसूदनस (शको का नाश करने वाला) शब्द का प्रयोग गौतमीपुत्र के लिए किया गया है। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने गौतमीपुत्र को शक संवत् का सस्थापक माना है। ये विद्वान् गौतमीपुत्र को ही विक्रमादित्य मानते है। परन्तु अधिकाश विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका तर्क है कि भारतीय साहित्य उज्जैन के विक्रमादित्य और प्रतिष्ठान के शालिवाहन का उल्लेख अलग-अलग करता है। गौतमीपुत्र के लिए 'वरवारणविक्रमचारुविक्रम' का प्रयोग किया गया है। परन्तु 'विक्रमादित्य' से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

सम्मिलित राज्य—सर आर० जी० भण्डारकर का मत था कि गौतमीपुत्र शातकर्णी और उसके पुत्र वशिष्ठीपुत्र पुलमावी दोनों ने कुछ समय तक साथ-साथ राज्य किया था—गौतमी पुत्र ने धनकत में और वाशिष्ठीपुत्र ने प्रतिष्ठान में। इस मत की पुष्टि में कहा गया है कि पुलमावी के १९वें वर्ष के नासिक अभिलेख में गौतमी बलश्री को माता और पितामही दोनों ही कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि उसका पुत्र और पौत्र दोनों ही जीवित थे और दोनों ही साथ-साथ राज्य कर रहे थे।

परन्तु भण्डारकर महोदय का मत असगत प्रतीत होता है—

(१) गौतमी बलश्री को उपयुक्त अभिलेख में माता और पितामही अवश्य कहा गया है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसके पुत्र और पौत्र दोनों जीवित थे।

(२) उसके पौत्र ने अपने पिता के पुण्यार्थ एक गुहा-दान किया था। सेनार्ट महोदय का मत है कि इससे यह सिद्ध होता है कि उसका पिता उस समय तक मर चुका था।

(३) पुलमावी के उपयुक्त नासिक अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णी की सफल-

ताओं का वर्णन है, पुलमावी की नहीं। दुब्रिया महोदय का मत है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी की मृत्यु पर उसकी माता गौतमी बलश्री ने यह अभिलेख खुदवाया था। दुब्रिया महोदय इस अभिलेख को funeral oration कहते हैं।

(४) यह कथन असत्य है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी एक मात्र धनकत में राज्य करता था। मुद्राओं से प्रकट होता है कि उसका राज्य पश्चिमी भारत पर भी था।

(५) टॉलमी एकमात्र प्रतिष्ठान के राजा पलमावी का उल्लेख करता है, गौतमीपुत्र का नहीं।

व्यक्तित्व—गौतमीपुत्र शातकर्णी की वीरता के अतिरिक्त उसके अन्य गुणों का भी वर्णन मिलता है। वह अत्यन्त दयावान् था और अपराधी शत्रुओं के प्रति भी हिंसा करने में उसे रुचि न थी (कृतापराधे अपि शत्रुजने अप्राणहिंसारुचेः)। प्रजा के दुःख-सुख को वह अपना दुख-सुख समझता था (पौरजननिर्विशेषसमसुखदुःखस्य)। अपने तथा प्रजा के आनन्द के लिए वह उत्सव और समाज करता था (उत्सवसमाज-कारकस्य)। वह सारे आगमों का ज्ञाता था (आगमानानिलयस्य)। साथ ही साथ वह ब्राह्मण-धर्म का प्रकाण्ड परिपोषक था। उसके लिए एक ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया गया है। उसने वर्णव्यवस्था की पुनः स्थापना करने का प्रयत्न किया और वर्णसंकरता को रोका (विनिवर्तितचातुर्वर्णसंकरस्य)। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह शूद्र आदि हीन जातियों के प्रति असहिष्णु था। अभिलेख में वह द्विज और अवर (हीन जातियाँ) कुटुम्बों का वर्द्धन करने वाला था।

गौतमी की शासन-अवधि—जुनार अभिलेख मे नहपान की अंतिम तिथि ४६ का उल्लेख है। यह शक संवत् की तिथि है। इससे प्रकट होता है कि वह ४६+७८=१२४ ई० तक महाराष्ट्र पर राज्य करता रहा था। इस तिथि के पश्चात् सम्भवतः उसके राज्य पर गौतमीपुत्र शातकर्णी ने अधिकार कर लिया था। महाराष्ट्र मे गौतमीपुत्र का सर्वप्रथम लेख नासिक में मिला है। यह लेख उसके शासन के १८वें वर्ष का है। इसलिए इससे प्रकट होता है कि उसने महाराष्ट्र पर अपने शासन-काल के १८वें वर्ष मे अधिकार किया था। अतः वह १२४-१८=१०६ ई० में सिंहासन पर बैठा होगा। एक अन्य नासिक अभिलेख मे उसके शासन काल के २४वें वर्ष का उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि उसने कम से कम २४ वर्ष (१६६+२४=१३० ई०) तक राज्य किया था। अतः उसका शासन-काल १०६ ई० से १३० ई० तक रहा था।

शक-सातवाहन-संघर्ष—गौतमीपुत्र शातकर्णि की मृत्यु के पश्चात् भी शक-सातवाहन-संघर्ष चलता रहा। सातवाहनों का यह संघर्ष शकों के एक नवीन-वंश के साथ हुआ। यह वंश इतिहास में कार्दमक वंश के नाम से प्रख्यात है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह वंश कुषाणों के अधीन सामन्त-वंश था। जो भी हो, इसमें चष्टन और रुद्रदामन् प्रथम जैसे पराक्रमी शासक हुए जिन्होंने गौतमीपुत्र शातकर्णि की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के शासन-काल में पुनः सातवाहन-साम्राज्य के अनेक प्रदेश छीन लिये।

वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी—पुराणों के अनुसार गौतमीपुत्र की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलमावी राजा हुआ। अनेक साक्ष्यों में इस राजा के उल्लेख मिलते हैं—

(१) पुराणों में उसे पुलोमा भी कहा गया है।

(२) टॉलमी उसे सिरो पोलेमाय कहता है और उसे प्रतिष्ठान का राजा बताता है।

(३) म्याकडोनि अभिलेख में एक पुलमावी का उल्लेख है। सुक्थाकर महोदय ने इस पुलमावी का समीकरण वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के साथ किया है। परन्तु दुब्रिया महोदय ने इस मत को अस्वीकार किया है।

(४) रुद्रदामन के गिरनार अभिलेख में उल्लेख है कि महाक्षत्रप रुद्रदामन ने दक्षिणापथपति सातकर्णी को दो बार पराजित किया था, परन्तु सम्बन्ध की निकटता के कारण उसका विनाश नहीं किया था। स्मिथ और रैप्सन आदि कुछ विद्वानों का मत है कि यह पराजित शातकर्णी राजा वासिष्ठीपुत्र पुलमावी ही था। यह निकट संबंध क्या था? कन्हेरी अभिलेख के आधार पर इन विद्वानों का मत है कि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी ने महाक्षत्रप रुद्रदामन की पुत्री के साथ विवाह किया था। दामाद होने के कारण ही पुलुमावी का महाक्षत्रप रुद्रदामन् ने विनाश नहीं किया था।[१] परन्तु नीलकण्ठ शास्त्री और भंडारकर आदि कुछ विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि पराजित शातकर्णि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी नहीं वरन् उसका कोई उत्तराधिकारी था।

(५) कुछ मुद्राओं पर वासिष्ठीपुत्र स्वामी श्री पुलमावी का नाम मिलता है।

(६) सिक और कार्ले अभिलेखों में उसके शासनकाल की तिथियाँ मिलती है।

वासिष्ठी पुलुमावी की पराजय—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शक-नरेशों चष्टन और रुद्रदामन् प्रथम ने वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी को पराजित करके सातवाहनों के अनेक प्रदेश छीन लिये। इस पराजय के अनेक साक्ष्य उपलब्ध होते हैं—

(१) चष्टन की मुद्रायें गुजरात और काठियावाड में मिली है। चष्टन के पुत्र जयदामन की मुद्रायें पुष्कर (अजतर) में मिली है। ये प्रदेश पहले सातवाहनों के अधिकार में थे। अतः वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी को पराजित करके ही शकों ने इन पर अपना अधिकार किया होगा।

(२) चष्टन ने अपनी कुछ मुद्राओं पर सातवाहनों के मुद्रा-चिन्ह चैत्य को अंकित कराया। सातवाहनों के कुछ प्रदेश पर अधिकार करने के पश्चात् वहाँ प्रचलित सातवाहन-मुद्राओं को देखकर ही चष्टन ने यह अनुकरण किया होगा।

(३) टालमी के अनुसार चष्टन (Tiastanes) का अधिकार उज्जैन (Ozene) पर था। पहले उज्जैन (मालवा) पर वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी का अधिकार था।

(४) जूनागढ (गिरनार) अभिलेख से प्रकट होता है कि रुद्रदामन् प्रथम ने आकर (पूर्वी मालवा), अनूप (मान्धाता-प्रदेश), सुराष्ट्र (काठियावाड), कुकुर

१ 'The Satavahanas appear to have made an attempt to save a few of the conquered provinces by contracting a matrimonial alliance with Karddamaka Sakas'—D. C Sircar.

(सिन्धु और पारियात्र के मध्य का प्रदेश) और अपरान्त (उत्तरी कोकण) पर अधिकार कर लिया था। पहले ये प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के अधीन थे।

इसी अभिलेख का पुनः कथन है कि महाक्षत्रप रुद्रदामन् ने शातकर्णि को दो बार पराजित किया, परन्तु सम्बन्ध की निकटता के कारण उसका विनाश नहीं किया।

आन्ध्र-प्रदेश—निम्नलिखित साक्ष्यों से विदित होता है कि पुलुमावी का अधिकार आन्ध्र-प्रदेश पर था—

(१) नासिक अभिलेख में उसे 'दक्षिणापथेश्वर' कहा गया है।

(२) आन्ध्र-प्रदेश में उसकी मुद्रायें मिली हैं।

(३) कारोमण्डल-तट पर उसकी मुद्रायें मिली हैं।

(४) अमरावती में उसके शासन-काल का एक अभिलेख मिला है।

इस प्रकार वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी ने आन्ध्र-प्रदेश को जीत कर उत्तरी प्रदेशों की क्षति की पूर्ति की।

राज्य-विस्तार—उपलब्ध साक्ष्यों से प्रकट होता है कि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी के सारे ाज्य में महाराष्ट्र, विदर्भ, आन्ध्र-प्रदेश और कदाचित् कारोमण्डल-तट सम्मिलित थे। उसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी।

गौतमीपुत्र की अन्तिम तिथि १३० ई० मिली है। कार्ले अभिलेख में पुलमावी के शासन काल की तिथि २४ मिली है। इससे प्रकट होता है उसने कम से कम १३०के २४में १५४ ई० तक राज्य किया।

यज्ञश्री शातकर्णि—सातवाहन वंश का यह अन्तिम महत्त्वपूर्ण शासक था। पुराणों के अनुसार यह राजा गौपमीपुत्र के ३५ वर्ष पश्चात् शासक हुआ था। इससे प्रकट होता है कि यह १३०+३५=१६५ ई० में शासक हुआ। चिन्ह अभिलेख से प्रकट होता है कि उसकी अन्तिम तिथि २७ थी। अतः उसने १६५+२७=१९२ ई० तक अवश्य राज्य किया होगा। यह बड़ा पराक्रमी राजा था और इसने उन अनेक प्रदेशों पर फिर से अधिकार स्थापित किया जिन्हे शकों ने उसके पूवजों से छीन लिया था। उसकी मुद्रायें गुजरात, काठियावाड, पूर्वी और पश्चिमी मालवा, मध्यप्रदेश और च ाध्र देश में पाई गई हैं। शकों की मुद्राओं के आधार पर बनी हुई उसकी चाँदी की मुद्रायें भी उसकी शक-विजय की ओर संकेत करती है। इस प्रकार यज्ञश्री सातकर्णी महाराष्ट्र और आन्ध्र देश का राजा था। उसकी कुछ मुद्राओं पर मछली और जहाज और शंख के चित्र हैं। इससे प्रकट होता है कि उसका राज्य समुद्र-तट तक विस्तृत था और उसके शासन-काल में पर्याप्त व्यापारिक उन्नति हुई थी।

पतन—यज्ञश्री शातकर्णी के पश्चात् सातवाहन वंश में कोई भी ऐसा पराक्रमी राजा न हुआ जो कि अपने वंश के राज्य को सरक्षित रख सकता। अतः उसके पश्चात् राज्य की उत्तरोत्त र उन्नति हुई। कालान्तर में महाराष्ट्र के ऊपर आभीर वंश ने और पूर्वी दाक्षिणपथ पर इक्ष्वाकु और पल्वल वंश ने अपना राज्य स्थापित कर लिया। तीसरी शताब्दी तक सातवाहन राजवंश का विलोप हो गया।

सातवाहन-काल में दक्षिण भारत की अवस्था

राजनीतिक—सातवाहन-काल में भी राजतन्त्र ही प्रमुख शासनतन्त्र था। अतः शासन की सफलता प्रमुखतया राजा की व्यक्तिगत योग्यता पर ही बहुत-कुछ निर्भर

रहती थी। उदाहरणार्थ, गौतमीपुत्र शातकर्णि एक महान् विजेता के साथ ही साथ एक कुशल शासक भी था। राज्य का विशेष लक्ष्य प्रजा की हित-साधना होता था। राजा अपनी प्रजा को सन्तान की भाँति समझता था और उसके दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख समझता था। ब्राह्मणवादी शासन मे ब्राह्मण-व्यवस्था के विधि-निषेधो का पालन करना और कराना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य समझा जाता था।

राजा को राजकीय शासन में परामर्श और सहायता देने के लिए मन्त्रिपरिषद् होती थी। गिरनार अभिलेख में रुद्रदामन् की मन्त्रिपरिषद् का उल्लेख हुआ है। मन्त्रियों की कई कोटियाँ होती थी। इनमें सचिव और अमात्य प्रमुख हैं। सचिव भी मतिसचिव और कर्मसचिव नामक दो कोटियों में विभक्त होते थे। मन्त्रियो के अतिरिक्त राज्य में अन्य उच्च पदाधिकारी होते थे। सर्वोच्च पद राजवंशियों और उनके सम्बन्धियो को दिए जाते थे, जैसा कि उषवदात के उदाहरण से प्रकट होता है। राजकर्म मे पर्याप्त प्रशिक्षण की आवश्यकता होती थी। शक-प्रणाली के अन्तर्गत महाक्षत्रप के साथ एक क्षत्रप की भी नियुक्ति होती थी। बहुधा यह महाक्षत्रप का पुत्र होता था। क्षत्रप के रूप मे राजकुमार को राजकार्य का पर्याप्त अनुभव हो जाता था। इस प्रकार की प्रणाली ने सातवाहन शासन-प्रणाली पर भी प्रभाव डाला होगा। राज्य-भार ग्रहण करने के पूर्व राजकुमारो को कौन-कौन सी विद्याओं का अध्ययन करना पड़ता था, इसका अनुमान खारवेल और रुद्रदामन् के उदाहरणों से लगाया जा सकता है। सम्पूर्ण राज्यमें बहुसंख्यक नगर और ग्राम होते थे। आर्थिक क्षेत्र मे अनेकानेक निकायो के उल्लेखो से प्रकट होता है कि स्थानीय शासन-सचालन के लिए प्रत्येक नगर और ग्राम मे राजनीतिक संस्थाएँ भी होती होंगी और ये आजकल के म्यूनिसिपल बोर्ड और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की भाति स्वायत्त शासन चलाती होंगी। शासनकाल के व्यय चलाने के लिए कर, विष्टि और प्रणय का सहारा लिया जाता था। व्यापारिक आयात-निर्यात के ऊपर लगने वाले कर भी राजकीय आय के एक महत्वपूर्ण साधन थे।

सामाजिक—सम्पूर्ण समाज परम्परागत चार वर्णों में विभक्त था जैसा कि पुलुमावी के पूर्वोलिखित नासिक अभिलेख से प्रकट होता है। इनके अतिरिक्त कुछ अवर (हीन) जातियाँ भी रही होंगी। सम्पूर्ण समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था। इसी से गौतमीपु शातकर्णि को 'एकबम्हन' कहा गया है। अशोक के शासन-काल में राजनीति को लेकर ब्राह्मणों और क्षत्रियो के बीच जिस विरोध का तीव्र सूत्रपात हुआ वह सम्पूर्ण ब्राह्मण राजवशो—शुंग, कण्व और सातवाहन—के शासन-काल में सक्रम रहा। गौतमीपुत्र शातकर्णि को 'क्षत्रियदर्पमानमर्दन' कहा गया है। इस राजा ने वर्णसंकरता को रोका था। इससे प्रकट होता है कि उस समय भी समाज में अन्तर्जातीय विवाह शास्त्रीय दृष्टिकोण से बहुत अच्छे न समझे जाते थे। परन्तु विरोधी व्यवस्था के होते हुए भी समाज मे अन्तर्जातीय विवाह होते रहे। स्वय शातकर्णि ने महाराष्ट्र के महारथी अगीय वश की राजकुमारी के साथ विवाह किया था। यही नही, वासिष्ठीपुत्र पुलमावी अथवा उसके किसी उत्तराधिकारी ने शक महाक्षत्रप रुद्रदामन की पुत्री के साथ विवाह किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि विदेशीय जातियो का अधिकाधिक भारतीयकरण हो रहा था और वे भारतीय नाम, धर्म और सस्कृति को ग्रहण कर भारतीय समाज में घुल-मिल रहे थे। ऐसे भारतीयकृत विदेशियो के

१ पौरजननिर्विशेषसमसुखदुःखस्य।

साथ अन्तर्जातीय विवाह कर सातवाहन समाज ने भारतीयकरण की विचारधारा को और आगे बढ़ाया। सातवाहन-काल में ब्राह्मणों की सर्वोपरि मान्यता भी तथापि निम्नजातियों के साथ किसी प्रकार का अन्याय न किया जाता था। राजा का कर्त्तव्य था कि वह द्विजों और अवरो (हीन) दोनों की सुख-समृद्धि का ध्यान रखे।

सातवाहन काल में स्त्री-समाज की अवस्था अत्यधिक सन्तोषजनक थी। माताओं के नाम पर सम्बोधित पुत्रों के उदाहरण (यथा गौतमीपुत्र शातकर्णि, वासिष्ठीपुत्र पुलमावी) समाज में स्त्रियों की मान्यता की ओर संकेत करते हैं। सातवाहन-काल में नागानिका, गौतमी, बलश्री आदि नारियों के उदाहरण इस बात की घोषणा करते हैं कि पतियों के साथ उनकी स्त्रियाँ भी शासन-सचालन करती थी। इसके लिए यदि उन्हें बालकाल से ही पर्याप्त शिक्षा दी जाती हो तो इसमें कोई सन्देह नही। राजकीय कार्यों के अतिरिक्त स्त्रियों को धार्मिक कार्य करने की भी अनुमति थी। नागानिका ने अपने पति के साथ दो अश्वमेध यज्ञ किए थे। सातवाहन-काल का कोई भी ऐसा साक्ष्य उपलब्ध नही होता जिससे स्त्रियों की पर्दा प्रथा का प्रमाण मिल सके।

धार्मिक —शुंग-काल की भांति सातवाहन काल भी ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान का काल था। पुष्यमित्र की भांति शातकर्णी ने भी दो अश्वमेध यज्ञ किए थे। इसके अतिरिक्त इस काल मे होने वाले अन्य यज्ञों—राजसूय, आप्तोर्याम, आग्न्याघ्येय आदि के भी उल्लेख मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में कर्मकाण्ड को काफी प्रधानता मिली थी।

यज्ञप्रधान ब्राह्मण-धर्म के साथ ही समाज मे वैष्णव धर्म और शैव धर्म को भी प्रधानता थी। सातवाहन अभिलेखो मे प्राप्त विष्णुपालित, विष्णुदत्त, गोपाल आदि नामों से समाज में विष्णु की प्रतिष्ठा के प्रमाण मिलते हैं। इसी प्रकार शिवदत्त, शिवभूति, भूतपाल, स्कन्द आदि नामो से समाज मे शिवपूजा का प्रमाण मिलता है। इनके अतिरिक्त नन्दी और नाग की भी पूजा प्रचलित थी। समय-समय पर लोग तीर्थ-स्थानों में जाकर स्नान करते थे और ब्राह्मणों आदि को धन देते थे। नहपान का दामाद ऋषभदत्त इस बात का प्रमाण है। विदेशियो ने भी भारतीय धर्मों को ग्रहण कर दान-दक्षिणा देना प्रारम्भ कर दिया था। इस बात के उदाहरण मिलते हैं। नासिक अभिलेख मे धमदेव के पुत्र इन्द्राग्निदत्त का नाम मिलता है। यह यवन था, परन्तु इसने भारतीय नाम और बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। कार्लें अभिलेख मे सिंहध्वज और धर्म नामक दो यवनों के नाम मिलते हैं ये भो बौद्ध थे। जुनार में इसिल, चित्र और चन्द्र नामक यवन बौद्धों के उल्लेख है। इन उदाहरणों से प्रकट होता है कि ब्राह्मण धर्म की भांति बौद्ध धर्म भी काफी सम्मानित था। अनेकानेक दानी मनुष्य गायों, घोड़ों, हाथियो, सोने वस्त्राभरण और भूमियोंके धन के अतिरिक्त स्थान-स्थान पर गुफाएँ, चैत्य और विहार बनवाते थे। विभिन्न धर्मावलम्बियों के रहते हुए भी समाज मे पूर्ण शान्ति और सहिष्णुता थी। कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिससे इस काल मे धार्मिक परिपीडन सिद्ध किया जा सके।

आर्थिक :—समाज की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। कृषि-कर्म के अतिरिक्त मनुष्य नाना प्रकार के उद्योग-धंधों मे लगे रहते थे। कृषक के लिए हाल की शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे प्रकट होता है कि कृषि-कर्म हल की सहायता से होता था। अन्य उद्यमों में सुवर्णकार, लोककर्णक (लोहार), बर्धकी (बढ़ई), कुम्भकार, तिलपिशक (तेली), कासाकार (कांस के बर्तन बनाने वाले), बेसकार (बाँस की

वस्तुएँ बनाने वाले), धानिक (अनाज बनाने वाले), मालाकार (माली), गांधिक, धसक (मछुए), सार्थवाह (व्यापारी आदि के उद्यमों के उल्लेख मिलते हैं। बहुधा व्यापारी कोलिक (जुलाहा) और व्यवसायी पृथक् संघों में संगठित थे। इन्हें श्रेणी अथवा निकाय कहते थे। ये सगठन अपने सदस्यों के हितों की रक्षा के लिए अनेक प्रकार के बिधि-निषेध बनाते थे जो राजा की दृष्टि मे भी मान्य समझे जाते थे। बहुधा निकाय आधुनिक बैंको का भी कार्य करते थे। लोग उनमें अपना धन जमा करते थे और उसके बदले मे उनसे ब्याज प्राप्त करते थे। उषवदात ने दो कोलिक निगमों में धन जमा किया था।

इस समय भारतवर्ष का व्यापार उन्नत अवस्था मे था। पेरीप्लस की कथा से स्पष्ट हो जाता है कि भडौच, कल्याण और सोपारा भारतवर्ष के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे जिनसे भारतवर्ष का विदेशी व्यापार होता था। देश के भीतर नासिक, जुनार, प्रतिष्ठान, धनकट, करहाटक आदि अन्य व्यापारिक नगर थे जो एक दूसरे से सडको के द्वारा जुडे हुए थे। ये सडकें देश के भीतर व्यापारिक मार्ग थी। राज्य मे मुद्राओं का प्रचलन था। इस समय की बहुसख्यक मुद्राएँ प्राप्त हुई है। सोने की मुद्रा को सुवर्ण कहते थे जो ३५ चाँदी की कार्षापण के बराबर होता था। कार्षापण चाँदी अथवा ताँबे का सिक्का होता था रुपए के लेन-देन मे ब्याज का महत्वपूर्ण स्थान था। ऋषभदत्त के जमा किए हुए धनों के ऊपर एक निकाय १२ प्रतिशत और दूसरा निकाय १० प्रतिशत ब्याज देता था।

साहित्य और कला—सातवाहन काल प्राकृत भाषा के विकास का काल था। सातवाहन राजाओ के सभी अभिलेख प्राकृत भाषा मे मिलते हैं। इस समय का सर्वोत्तम कवि 'हाल' था जिसने गाथा सप्तशती नामक प्राकृत ग्रन्थ लिखा था। इसी समय गुणाढ्य नामक कवि का उदय हुआ जिसने बृहत्कथा नामक एक ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ पैशाची प्राकृत भाषा मे था। एलन महोदय का मत है कि सर्ववर्मा ने इसी समय अपने व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की। इस समय की कला का दर्शन विशेषत वास्तुकला मे हुआ। इस समय के बनाए हुए अनेक चैत्य और गुहागृह उपलब्ध होते हैं जो उस समय की कला के उदाहरण थे।

कलिंगराज खारवेल

कलिंग—हम पीछे देख चुके है कि किस प्रकार अशोक ने भीषण युद्ध के पश्चात् कलिंग के ऊपर अधिकार स्थापित किया था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् कलिंग अधिक समय तक मौर्य-साम्राज्य मे न रहा। यह शीघ्र ही स्वतन्त्र हो गया।

हाथीगुम्फा अभिलेख—उडीसा प्रान्त के पुरी जिले मे भुवनेश्वर से तीन मील की दूरी पर उदयगिरि पहाडी पर हाथीगुम्फा-अभिलेख प्राप्त हुआ है। यह अभिलेख महामेघवाहन-वंश के महाराज खारवेल का उल्लेख करता है जो कलिंग मे सर्वशक्तिमान स्वतन्त्र शासक के रूप मे राज्य कर रहा था। अभिलेख की लिपि अशोक-काल के पश्चात् की है। अत यह निश्चित है कि खारवेल का उदय अशोक के पश्चात् किसी समय हुआ होगा।

महामेघवाहन—हाथीगुम्फा अभिलेख के अनुसार खारवेल चेति (चेदि) वंश का था। यह सूर्यवंशी राजर्षि वसु का वशज था। महामेघवाहन इस वश का सर्व

प्रमुख ऐतिहासिक राजा प्रतीत होता है। बरुआ महोदय का मत था कि महामेघवाहन-वंश का समीकरण पुराणों में वर्णित मेघावं से करना चाहिए। परन्तु यह असंगत प्रतीत होता है। महामेघवाहन कलिंग का राजा था, जब कि पुराणों के अनुसार मेघ-वंश का राज्य कोसला में था। अभी तक हम कलिंग के इस चेदि-वंश केनतीन शासकों का ही नाम जानते हैं—

(१) महामेघवाहन

(२) खारवेल

(३) महाराज कुदेप जिसका उल्लेख पातालपुर गुहा-लेख में हुआ है।

खारवेल—हाथीगुम्फा अभिलेख से प्रकट होता है कि राजा होने के पूर्व खारवेल को अनेक प्रकार की शिक्षा दी गई थी। वह मुद्रा, गणना, व्यवहार, विधि इत्यादि विषयों में निपुण हो गया था। १५ वर्ष की अवस्था में वह 'युवराज' नियुक्त हुआ। युवराज की अवस्था में उसने ९ वर्ष तक शासन-सचालन में योग दिया। जब वह २४ वर्ष का हुआ तो कलिंग के राजसिंहासन पर बैठा। उसकी महारानी ललक हत्थि सिंह नामक एक राजा की पुत्री थी। डा० जायसवाल का मत था कि हाथीगुम्फा अभिलेख की सातवीं पंक्ति में खारवेल की एक रानी का उल्लेख है। परन्तु बरुआ महोदय ने जायसवाल महोदय के पाठ को अशुद्ध बताया है।

हाथीगुम्फा अभिलेख में खारवेल के शासन का वार्षिक ब्योरा मिलता है। प्रथम वर्ष उसने अपनी राजधानी कलिंग नगर में अनेक निर्माण-कार्य किये। एक भीषण तूफान से राजधानी के प्रमुख द्वार और प्राचीर टूट गए थे। खारवेल ने उनकी मरम्मत करवाई। इनके अतिरिक्त दुर्गों का भी जीर्णोद्धार किया गया। राजधानी की सुंदरता प्रदान करने के लिए खारवेल ने शीतल जल से युक्त और सीढ़ियों से अलकृत तडागों का निर्माण कराया। तदुपरान्त ३५ लाख मुद्रा-धन लगा कर उसने जनता के मनोबिनोद का प्रबन्ध करवाया। इस प्रकार अपने घर को सुव्यवस्थित करने के पश्चात् खारवेल ने युद्ध की दुन्दुभी बजाई। दूसरे वर्ष उसने शातकर्णि को तुच्छ समझते हुए अपनी एक विशाल सेना पश्चिम दिशा की ओर भेजी। यह सेना कण्णबेणा नदी तक पहुँच गई और इसने मूसिकनगर को आतंकित कर दिया। इस नदी और इस नगर के समीकरण के विषय में विद्वानों में मतभेद है। रप्सन और बरुआ का मत है कि कण्णबेणा का अर्थ वैनगगा और उसकी सहायक नदी कन्हन से है तथा मूसिक नगर को गोदावरी की घाटी में स्थित उसी नाम का नगर समझना चाहिए जो अस्सिको की राजधानी था। परन्तु इसके विरुद्ध जायसवाल महोदय ने कण्णवेणा का समीकरण कृष्णा नदी से किया है। इनकी राय में मूसिकनगर कृष्णा तथा मूसि नदियों के सगम के समीप स्थित था। यद्यपि हाथीगुम्फा अभिलेख में युद्ध का वर्णन नहीं मिलता तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इस युद्ध में खारवेल को सातवाहन नरेश सातकर्णि के विरुद्ध काफी सफलता मिली थी। इस समय अभियान के पश्चात् जब खारवेल कलिंग वापस लौटा तो उसने राजधानी में उत्सव मनाया जिसमें नृत्य-सगीत आदि का आयोजन किया गया था। यह विजयोत्सव था।

चौथे वर्ष खारवेल ने भोजकों और राष्ट्रिकों के ऊपर आक्रमण किया। ये आधुनिक बरावर और पूर्वी खानदेश में राज्य करते थे। ये लोग पराजित हुए और बिवश होकर इन्हें खारवेल की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इस युद्ध के सम्बन्ध में विद्याधरों का उल्लेख किया गया है। कुमारगुप्त के शासन-काल में एक मथुरा

अभिलेख से प्रकट होता है कि विद्याधारी जैनियों की एक शाखा थी। बहुत सम्भव है कि जैन धर्मावलम्बी खारवेल ने विद्याधरी जैनियों के हितों की रक्षा के लिए ही यह आक्रमण किया हो।

पाँचवें वर्ष उसने तनसुलि से लेकर अपनी राजधानी तक एक नहर का विस्तार करवाया। इस नहर का निर्माण नन्दराज ने ३०० वर्ष पूर्व किया था। सम्भवतः यह नन्दराज मगध का महापदम था।

तत्पश्चात् अपनी समृद्धि का प्रदर्शन करते हुए खारवेल ने अपनी ग्रामीण और नागरीय प्रजा के अनेक कर माफ कर दिये। डा० जायसवाल का मत था कि हाथी-गुम्फा अभिलेख में खारवेल द्वारा किये गये राजसूय यज्ञ का उल्लेख है। परन्तु बरुआ महोदय ने इसका खण्डन किया है और 'राजसूय' के स्थान पर 'राजश्रियं (राज-समृद्धि) पढा है।

इसके पश्चात् खारवेल ने उत्तरी भारत की ओर ध्यान दिया। अपने शासन के आठवें वर्ष उसने उत्तरी भारतवर्ष पर आक्रमण किया। उसकी सेनायें गया जिले में स्थित बराबर पहाडियों को पार करती हुई आगे बढी। मार्ग में उन्होंने दुर्गों को नष्ट किया और अन्त में राजगृह को घेर लिया। उसके आक्रमण से यवनराज (दिमित-डेमेट्रिअस ?) की सेना में आतक छा गया और वह भयभीत होकर मथुरा भाग कया। हम पहले कह चुके है कि बैक्ट्रिया में यूक्रेटाइडीज के आक्रमण से डेमेट्रिअस को भारत छोडकर वापस जाना पडा था। उसी के साथ-साथ उसका सेनापति मीनेण्डर भी पाटलिपुत्र को छोड कर मथुरा आ गयथा। अत यूनानियो के भागने का कारण खारवेल का आक्रमण नही हो सकता। कुछ विद्वान् अभिलेख के दिमित को पजाब का कोई छोटा यूनानी राजा मानते है। इसके विरुद्ध कुछ विद्वान् अभिलेख में दिमित का नाम पढते ही नही। कुछ भी हो, अभिलेख की यह पक्ति नितान्त विवाद-ग्रस्त है।

नवें वर्ष खारवेल ने प्राची नदी के दोनो ओर एक 'महाविजय प्रासाद' बनवाया। कदाचित् यह प्रासाद उत्तरी भारतवर्ष की विजय के उपलक्ष में बनवाया गया होगा।

दसवें वर्ष उसने फिर भारतवर्ष (उत्तरी भारत) पर आक्रमण किया। परन्तु यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि इस आक्रमण का क्या परिणाम हुआ।

ग्यारहवें वर्ष खारवेल ने फिर दक्षिण भारत पर आक्रमण किया और पिथुण्ड नगर (टालमी द्वारा उल्लिखित पिट्ण्ड्र) को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। वह आगे बढता हुआ पाण्ड्य-देश तक पहुँच गया। वहाँ के - - ा ने उसे मणि-मुक्ताओं के उपहार भेजे।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने प्रारम्भिक दो आक्रमणो में खारवेल को उत्तरी भारतवर्ष में अधिक सफलता न मिली थी। अत उसने अपने शासन के बारहवें वर्ष फिर उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। हाथीगुम्फा अभिलेख के अनुसार उसने अपने हाथी-घोडो को गंगा में स्नान करवाया। डा० जायसवाल ने इस स्थान पर मौर्यों के राजप्रासाद (सुगाग' का अर्थ लगाया था। परन्तु यह असंगत प्रतीत होता है। मगध-नरेश बृहस्पतिमित्र ने खारवेल के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया। डा० जायसवाल ने बृहस्पतिमित्र का समीकरण पुष्यमित्र शुंग के साथ किया है। परन्तु अधिकाश विद्वानों ने इसे अस्वीकार कर दिया है।[1] जो भी हो, खारवेल प्रचुर धन-राशि

१ R. C Majumdar—IA, 1919 p. 189,
R. P. Chanda—IHQ., 1929, p. 594

लेकर कलिंग वापस लौटा। डा० जायसवाल ने यहाँ 'कलिंग-जिन' पढ़ा है और यह अर्थ निकाला है कि लूट की सामग्री के साथ खारवेल कलिंग के जिन शीतलनाथ की मूर्ति भी वापस ले गया था जिसे नन्दराज कलिंग से उठा ले गया था। परन्तु बरुआ महोदय ने 'कलिंग-जिन' के स्थान पर 'कलिंग-जन' (कलिंग की प्रजा) पढ़ा है।

इस प्रचुर धन की सहायता से खारवेल ने अपने राज्य में एक भव्य मन्दिर का निर्माण किया। ब्राह्मण पुराण की एक उडिया प्रति में उल्लेख है कि खारवेल ने भुवनेश्वर में एक मन्दिर बनवाया था। सम्भवत दोनो साक्ष्य एक ही मन्दिर का उल्लेख करते हैं। ब्राह्मण पुराण में यह भी उल्लेख है कि खारवेल ने नेपाल पर आक्रमण किया था। परन्तु हाथीगुम्फा अभिलेख में इसका कोई वर्णन नही मिलता है।

खारवेल का धर्म—खारवेल जैन धर्मावलम्बी था। उसने उदयगिरि की पहाडी पर जैन सन्यासियों के निवास के लिए गृह बनवाये थे। इनके साथ ही साथ उसने जैनियों के लिए एक विशाल सभा-भवन का भी निर्माण करवाया था। इस भवन में विशाल स्तम्भ थे तथा यह ६४ स्थापत्य-कृति-समूहों से अलकृत किया गया था। डा० जायसवाल का मत था कि खारवेल ने जैन भिक्षुओ की एक सगीति भी की थी और उसमे जैन-ग्रन्थों का सकलन करवाया था। परन्तु बरुआ महोदय ने इस अर्थ का खण्डन किया है।[1]

जैन धर्मावलम्बी होते हुए भी खारवेल अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु प्रतीत होता है। हाथीगुम्फा अभिलेख का कथन है कि उसने समस्त देवालयो का जीर्णोद्धार करवाया था।

खारवेल अपने समय का एक पराक्रमी विजेता था। उसकी रानी के अभिलेख में उसके लिए 'चक्रवर्ती' की उपाधि का प्रयोग किया गया है। उसकी विजयों को देखते हुए यह उपाधि न्यायोचित प्रतीत होती है।

खारवेल की शासन-तिथि—इस प्रश्न पर विद्वानों में भारी मतभेद है। परतु समस्त साक्ष्यो को देखते हुए खारवेल को ई० पू० प्रथम शताब्दी मे रखना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इस मत की पुष्टि मे निम्नलिखित बातें कही जा सकती है—

(१) खारवेल के ३०० वर्ष पूर्व मगध मे महापद्मनन्द राज्य कर रहा था। हम जानते है कि महापद्म का शासन-काल ई० पू० चौथी शताब्दी था। अत खारवेल का काल ई० पू० प्रथम शताब्दी हुआ।

(२) खारवेल शातकर्णि का समकालीन था। अधिकाश विद्वानों के मत मे यह शातकर्णि प्रथम था। इसका काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी था। अत यही काल खारवेल का भी होगा।

(३) मचपुरी गुफा की स्थापत्य-कृतियाँ महामेघवाहन के समय की हैं। ये भरहुत की स्थापत्य-कृतियों के काफी बाद की हैं। भरहुत-स्थापत्य शुंगकालीन है। अत महामेघवाहन का काल शुग-काल (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) के बाद का होगा। खारवेल महामेघवाहन के भी बाद हुआ। इसलिए खारवेल का काल ई० पू० प्रथम शताब्दी मे रखना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

१ IHQ. XIV p. 481.

(४) हाथीगुम्फा अभिलेख की लिपि बेसनगर अभिलेख की लिपि से बाद की है। बेसनगर अभिलेख की लिपि ई० पू० द्वितीय शताब्दी की है। अत हाथीगुम्फा अभिलेख की लिपि ई० पू० प्रथम शताब्दी की होनी चाहिए।

(५) खारवेल ने मगध और अग पर आक्रमण किए थे। ये आक्रमण निश्चित-रूप से शुगो के पश्चात् ही हुए होगे। अत खारवेल को ई० पू० प्रथम शताब्दी मे रखना ही ठीक है। बरुआ, चन्दा और रायचौधरी आदि विद्वानो ने भी खारवेल को प्रथम शताब्दी में ही रखा है।

२६

हिन्द-यूनानी (Indo-Greeks)

यूनानी उपनिवेश—सिकन्दर महान् विजेता तो था ही, उसके साथ-साथ उसके कार्यों ने यूनानी सस्कृति और सभ्यता के प्रसार मे भी योग दिया। अपने अभियान-मार्ग पर उसने अनेक नगरो और उपनिवेशो की स्थापना की थी। ये स्थान सैनिक केन्द्र होने के साथ साथ ससार मे 'लघुतर यूनानो' की भांति थे। अपनी भौगोलिक विशेषता के कारण बहुत दिनो तक इन्होने एशिया और योरप के अनेक जल-मार्गों एव स्थल-मार्गों को अपने नियन्त्रण मे रखा और इस प्रकार अपने देश की सुरक्षा तथा व्यापयरिक प्रगति में योग दिया। साथ ही साथ इन्होने बृहत्तर यूनान की स्थापना मे विपुल योग दिया। यूनानियो ने इन्ही सैनिक आधारो से एशिया के विभिन्न प्रदेशो मे अपना सैनिक प्रभुत्व स्थापित किया। परिणामत कुछ समय तक यूनानियो का इतिहास सम्पूर्ण मध्य एशिया और पूर्वी एशिया का इतिहास बन गया। यह इतिहास उनका औपनिवेशिक इतिहास है, उनका सैनिक इतिहास है तथा उनका सास्कृतिक इतिहास है। यूनानियो के प्रसार से भारतवर्ष अछूता न रहा। मौर्य-काल के पतन से लेकर गुप्तकाल के अभ्युदय तक भारतवर्ष का इतिहास प्रधानत विदेशियो की साम्राज्यवादिता का इतिहास है यूनानियो, शको, पह्लवो और कुषाणो के शासन का इतिहास है।

बैक्ट्रिया—इस विदेशीय साम्राज्यवादिता के इतिहास का अकुरण सिकदर द्वारा स्थापित बैक्ट्रिया नामक एक उपनिवेश मे हुआ था। भारतवर्ष पर आक्रमण करते समय सिकन्दर ने यहाँ एक यूनानी उपनिवेश बसाया था और यही से भारतवर्ष के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने की योजना बनाई थी। सैनिक दृष्टि से यह प्रदेश अत्यन्त सुरक्षित था। पूर्व मे हिन्दूकुश और पामीर की श्रेणियाँ इसकी सीमा निर्धारित करती है। दक्षिण मे पैरोपैनिसेडाइ और आरकोशिया के प्रदेश हैं। इसके पश्चिम में पार्थिया का राज्य और कैस्पियन सागर है और उत्तर मे जैक्जार्टीज (Jaxartes), सर और आक्सस (Oxus आमू) सरितायें बहती हैं। इन्ही सरिताओ से मिला हुआ साग्डिआना का प्रदेश है जो प्राय बैक्ट्रिया के राज्य में ही समाविष्ट रहा है।

प्राचीन काल मे बैक्ट्रिया का राज्य अपनी उर्वरा भूमि के लिए प्रसिद्ध था। एगालोडोरस का कथन है कि वहाँ के निवासियो —यूनानियो—की समृद्धि का कारण बैक्ट्रिया की उर्वरता ही थी। आजकल इस प्रदेश का अधिकाश मरुस्थल है। परन्तु प्राचीनकाल मे सर और आमू नदियो, उनकी सहायक नदियो तथा उनकी नहरो के

जल ने इस प्रदेश को उर्वर बना दिया था। समरकन्द का चातुर्दिक प्रदेश मध्य एशिया के सबसे अधिक उर्वर प्रदेशो में गिना जाता था। मर्व की हरीतिमाच्छादित भूमि सुविख्यात थी। कृषि के अतिरिक्त व्यापार में भी बैक्ट्रिया-राज्य ने महत्वपूर्ण प्रगति की थी। यह एशिया और यूरोप के यातायात के मार्गों के मध्य में स्थित था। बैक्ट्रा और मर्व के नगर एशिया के प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे। इसके अतिरिक्त, बैक्ट्रिया-राज्य अपनी बहुमूल्य खानो के लिए भी प्रसिद्ध था। बदख्शाँ और साग्डिआना अपने अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्नो के लिए प्रख्यात थे। दारा प्रथम के अभिलेखो में बहुमूल्य रत्नो के लिए इन प्रदेशो का उल्लेख मिलता है।

परन्तु बैक्ट्रिया मे सोने और चाँदी का सदैव अभाव रहा है। यूथीडेमस चाँदी की नवीन मुद्राओ का अधिक निर्माण न करा सका। उसने प्रमुखतया पूर्व-प्रचलित मुद्राओ को ही पुन अकित करके प्रसारित किया। दारा के अभिलेखो मे बैक्ट्रिया के किसी भी ऐसे प्रदेश का उल्लेख नही मिलता जहाँ से सोना उपलब्ध होता हो। डिओडोटस और यूथीडेमस की केवल एकाध स्वर्ण-मुद्रायें ही उपलब्ध हुई हैं। उनके पश्चात् तो यूक्रेटाइडीज को छोड कर किसी भी यूनानी शासक ने स्वर्ण-मुद्राओ का निर्माण न किया। यूक्रेटाइडीज की भी केवल एक ही स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त हुई है। बहुत सम्भव है कि वह भी आयात स्वर्ण से निर्मित कराई गई हो। इसी प्रकार शक-शासक भी स्वर्ण-मुद्राओ का निर्माण न करा सके। केवल कुषाण शासको ने ही नियमित रूप से स्वर्ण-मुद्राओ का निर्माण कराया था। परन्तु यह निर्माण भी रोम-साम्राज्य से हस्तगत हुई स्वर्ण-निधि की सहायता से ही सम्भव हो सका था। इस प्रकार बैक्ट्रिया-राज्य की भौगोलिक अवस्था ने अनेक प्रकार से उसके इतिहास को प्रभावित किया था।

डिओडोटस-वंश—बैक्ट्रिया सेल्यूकिड सीरिया का एक प्रान्त था। २५० ई० पू० एंटिआकस द्वितीय सीरिया का राजा था और डिओडोटस प्रथम उसके अधीन बैक्ट्रिया का गवर्नर। जस्टिन के कथनानुसार इसी काल के लगभग डिओडोटस प्रथम ने अपने प्रभु नरेश के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और बैक्ट्रिया मे अपना स्वतन्त्र शासन घोषित कर दिया। बैक्ट्रिया मे दो प्रकार की मुद्रायें प्राप्त हुई है। प्रथम प्रकार में डिओडोटस प्रथम का चित्र है परन्तु साथ मे एन्टिआकस द्वितीय का नाम अकित है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि यद्यपि डिओडोटस प्रथम एन्टिआकस की अधीनता में ही बैक्ट्रिया प्रान्त म शासन कर रहा था तथापि शनै शनै उसकी शक्ति बढ गई थी और वह राजकीय मुद्राओ पर स्वय अपना नाम अकित करवाने लगा था। कालान्तर मे द्वितीय प्रकार की मुद्राओ पर हम डिओडोटस प्रथम का चित्र और नाम दोनो पाते है। इससे सिद्ध होता है कि कुछ समय पश्चात् उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी।

२४७ ई० पू० एन्टिआकस द्वितीय की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र सेल्यूकस द्वितीय सीरिया-साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। कदाचित् पार्थिया के विरुद्ध अपनी राजनीतिक अवस्था को सुदृढ करने के हेतु नवीन सम्राट् ने अपनी बहन का विवाह बैक्ट्रिया के स्वतन्त्र गवर्नर डिआडोटस प्रथम के साथ कर दिया। इस प्रकार सीरिया-सम्राट् ने बैक्ट्रिया के स्वतन्त्र राज्य को समान स्तर पर मान्यता प्रदान की और उसके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके अन्य अधीनस्थ प्रान्तो की उदीयमाना विद्रोहात्मक प्रवृत्ति का दमन करने के हेतु अपनी स्थिति सुदृढ की।

२३० ई० पू० डिओडोटस प्रथम की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र डिओडोटस द्वितीय राज्याधिकारी हुआ। उसने अपने पिता की नीति का परित्याग कर दिया

और सीरिया से विरुद्ध पार्थिया से मैत्री-सन्धि कर ली। डिओडोटस द्वितीय की विमाता सीरिया-वंश की थी। अत. उसे यह नीति-परिवर्तन अरुचिकर प्रतीत हुआ। इसके साथ-साथ बैक्ट्रिया के यूनानी-निवासियों को भी यूनानी सेल्यूकिड राज्य सीरिया के विरुद्ध अपने नवीन नरेश की नीति अप्रिय लगी। उनके लिए यूनानी सीरिया पार्थिया की अपेक्षा अधिक निकट था। इस राजनीतिक परिस्थिति ने महत्वपूर्ण परिणाम प्रस्तुत किए। डिओडोटस द्वितीय की विमाता ने यूथीडेमस नामक एक सरकार से पुनर्विवाह कर लिया। कदाचित् राज-विमाता की प्रेरणा और सार्वजनिक असन्तोष से लाभ उठा कर यूथीडेमस ने डिओडोटस द्वितीय का वध कर डाला और बैक्ट्रिया में अपने नवीन राजवंश की स्थापना की।

एण्टिआकस तृतीय और यूथीडेमस का युद्ध—इस समय तक सेल्यूकस द्वितीय की मृत्यु हो गई और एण्टिआकस तृतीय सीरिया का सम्राट् बना। न्ह एक महत्वाकांक्षी शासक था। सीरिया के विलुप्त गौरव की पुनः स्थापना करने के हेतु उसने बैक्ट्रिया को पुनः अधीन करने का भगीरथ प्रयास किया। पोलीबिअस का कथन है कि उसने यूथीडेमस को २०८ ई० पू० के लगभग बैक्ट्रा नगर में घेर लिया। दो वर्ष तक घेरा पड़ा रहा। उद्धार का अन्य उपाय न देख कर यूथीडेमस ने अन्तिम चाल चली। उसने सम्राट् के समक्ष नम्रता से कार्य किया और कदाचित् उसके सम्मुख यह मत प्रस्तुत किया कि मैं सेल्यूकस-वंश का विरोधी नहीं हूँ। मैंने तो स्वयं उस वंश के विरोधी डिओडोटस द्वितीय का वध कर डाला है। मेरा सम्राट् से कोई बैर नहीं। परन्तु यदि इतने पर भी सम्राट् मेरे विरुद्ध कार्यवाही जारी रखते हैं तो मुझे विवश होकर उत्तर की बर्बर शक जाति को अपनी सहायता के लिए आमंत्रित करना पड़ेगा। कदाचित् एण्टिआकस तृतीय की बुद्धि में यह बात समा गई। उसने घेरा उठा लिया और यूथीडेमस को स्वतन्त्र शासक स्वीकृत कर लिया। यही नहीं, मैत्री को दृढ़तर करने के लिए एण्टिआकस ने अपनी पुत्री का विवाह यूथीडेमस के पुत्र डेमेट्रिअस के साथ कर दिया।

पॉलीबिअस का कथन है कि इस सन्धि के पश्चात् एण्टिआकस तृतीय ने 'काकेशस' (हिन्दूकुश) पार किया और भारतवर्ष के राजा सोफागसेनस (Sophagasenus) से सन्धि कर ली। सोफागसेनस का संस्कृत सुभागसेन होता है। कदाचित् यह तारानाथ द्वारा उल्लिखित वीरसेन का ही कोई सम्बन्धी था। डाक्टर स्मिथ का मत है कि यह सुभागसेन काबुल घाटी का कोई सामन्त रहा होगा। परन्तु यह मत न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। पालीबिअस स्पष्टरूप से उसे भारतवर्ष का राजा कहता है। इससे नहीं ध्वनित होता है कि वह उत्तरी-पश्चिमीय भारत के किसी प्रदेश का स्वतन्त्र शासक था।

एण्टिआकस तृतीय औल सुभागसेन के बीच युद्ध हुआ अथवा नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु पॉलीबिअस के कथन से प्रतीत होता है कि यूनानी सम्राट् को इस भारतीय नरेश के विरुद्ध अधिक सफलता नहीं मिली और विदेशीय आक्रमणकारी ने सुभागसेन के साथ सन्धि कर लेना ही कल्याणकर समझा। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि एण्टिआकस का राज्य हिन्दूकुश के पूर्व में विस्तृत न हो सका।

यूथीडेमस का राज्य-विस्तार—यूथीडेमस एक साहसी और महत्वाकांक्षी शासक था। अपनी बुद्धि और बल से उसने बैक्ट्रिया का राज्य प्राप्त किया तथा

सीरिया के सम्राट् एण्टिआकस से मोर्चा लिया। विवश होकर सम्राट् को उसे बैक्ट्रिया का स्वतन्त्र शासक मानना पड़ा।

बैक्ट्रिया में अपनी स्थिति दृढ़ करने के पश्चात् यूथीडेमस ने चतुर्दिक राज्य-विस्तार किया। उत्तर-पूर्व की ओर फर्गना का प्रदेश था। यह निकिल धातु के लिए प्रसिद्ध था। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, बैक्ट्रिया में धातु की कमी थी। अतः यूथीडेमस ने निकिल-धातु-प्रधान फर्गना पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। यूथीडेमस के उत्तराधिकारियों ने इस विजित प्रदेश में फर्गना की निकिल धातु से मुद्राओं का भी निर्माण किया था। उत्तर-पश्चिम में उसकी मुद्रायें बुखारा में मिली हैं। इनसे प्रकट होता है कि साग्डिआना का प्रदेश भी उसके अधिकार में था। पश्चिम में उसने पार्थिया पर आक्रमण किया और उसका कुछ भाग अपने राज्य में मिला लिया। परन्तु सब से अधिक सफलता उसे दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में मिली। उसकी काँसे की मुद्रायें पेरोपेनिसेडाइ, अरकोशिया और सीस्तान के विस्तृत भू-खण्ड में उपलब्ध हुई हैं। अत यह अनुमान किया जा सकता है कि अफगानिस्तान का अधिकांश और पूर्वी फारस का कुछ भाग यूथीडेमस के अधिकार में था।

टार्न महोदय का कथन है कि दक्षिण और दक्षिण-पूर्व के ये प्रदेश यूथीडेमस के पुत्र और उत्तराधिकारी डेमेट्रिअस ने जीते थे, स्वय यूथीडेमस ने नहीं। अपने मत की पुष्टि में इस विद्वान् का तर्क है कि ये भाग सीरिया साम्राज्य के अन्तर्गत थे। सीरिया-साम्राज्य की दुरवस्था १९० ई० पू० के मैग्नेशिया-युद्ध के पश्चात् ही हुई थी। अत. इसी तिथि के पश्चात् यूथीडेमिस-वंश ने सीरिया के कुछ अधीनस्थ प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया होगा। परन्तु टार्न महोदय का कथन है कि १९० ई० पू० तक यूथीडेमस मर चुका। अत उपर्युक्त प्रदेशों की विजय उसके पुत्र डेमेट्रिअस ने की होगी। जहाँ तक इन प्रदेशों में प्राप्त यूथीडेमस की मुद्राओं का प्रश्न है, टार्न माहोदय का कथन है कि राज्य प्राप्त करने के पश्चात् कुछ काल तक डेमेट्रिअस ने अपने राज्य में अपने मृतक पिता की मुद्राओं को चलने दिया था। यही कारण है कि यूथीडेमस की मुद्रायें उन प्रदेशों में भी प्राप्त होती हैं जो स्वय उसके अधीन न थे वरन् जिन्हें उसके पुत्र ने जीता था। टार्न महोदय का तर्क प्रमुखतया इस बात पर निर्भर है कि १९० ई० पू० तक यूथीडेमस की मृत्यु हो गई थी। परन्तु यह मत पूर्ण-रूप से असन्दिग्ध नहीं है। ऐसी अवस्था में यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त प्रदेशों की विजय स्वय यूथीडेमस ने ही की हो।

यूथीडेमस और भारतवर्ष—कनिंघम आदि कुछ विद्वानों का मत है कि यूथी-डेमस ने भारतवर्ष पर भी आक्रमण किया था और उसके कुछ प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था। इस मत की पुष्टि में दो तर्क प्रस्तुत किये जाते है—

(१) रावलपिंडी में यूथीडेमस की कुछ मुद्रायें प्राप्त हुई हैं।

(२) टालमी का कथन है कि साकल (स्यालकोट) का नाम यूथीमेडीज था। विद्वानों का कथन है कि अपनी भारत-विजय के स्मारक-स्वरूप यूथीडेमस ने साकल को अपना नाम दिया था। परन्तु इन दोनों तर्कों में पर्याप्त बल नहीं है। जहाँ तक भारत में प्राप्त यूथीडेमस की मुद्राओं का प्रश्न है, वे संख्या में इतनी कम हैं कि उनके आधार पर यूथीडेमस की भारत-विजय सिद्ध नहीं की जा सकती। कदाचित् ये मुद्रायें यात्रियों और व्यापारियों द्वारा भारतवर्ष में पहुँची होंगी। नगर के नामकरण से भी कोई तथ्य नहीं निकलता। प्रथमतः यह नहीं कहा जा सकता कि टालमी के

उपर्युक्त कथन में कितनी सत्यता है। द्वितीयत: नगर की स्थापना अथवा नामकरण यूथीडेमस के पुत्र डेमेट्रिअस अथवा उसके किसी अन्य उत्तराधिकारी के द्वारा भी हो सकता था। पुन:, कोई भी यूनानी यूथीडेमस को भारत-विजेता नही कहता। ऐसी अवस्था में हम यह नही स्वीकार कर सकते कि यूथीडेमस ने भारतवर्ष का कोई प्रदेश जीता था।

यूथीडेमस की एक प्रकार की मुद्राओं पर हेरेक्लीज एक शिलाखण्ड पर विश्राम करते हुए प्रदर्शित किया गया है। ऐसा व्यजित होता है कि ये मुद्राये यूथीडेमस ने अपने शासन के अन्तिम चरण में निर्मित कराई थी—जिस समय वह सन्धि-विग्रह के राजकीय कार्यों से निवृत्त होकर शेष जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत कर रहा होगा। अपनी अन्तिम मुद्राओ पर यूथीडेमस वृद्ध दृष्टिगत होता है। सम्भवत: यूथीडेमस के ३ पुत्र थे—डेमेट्रिअस, एण्टिमेकस और एपालोडोटस। इन तीनो के नामो का उल्लेख साहित्य और मुद्राओं दोनो में हुआ है।

डेमेट्रिअस—यह प्रथम इण्डो-ग्रीक शासक था जिसने भारतवर्ष मे अपना राज्य स्थापित किया था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यूथीडेमस की मुद्राओ पर हेरेक्लीज शिलाखण्ड पर विश्राम कर रहा है, परन्तु डेमेट्रिअस की मुद्राओं पर वह खडे हुए तथा राजमुकुट पहनते हुए प्रदर्शित किया गया है। इस चित्र से कदाचित् डेमेट्रिअस की महत्वाकाक्षा, अध्यवसायशालिता तथा साम्राज्य-विस्तारकारिणी नीति की उद्घोषणा होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि डेमेट्रिअस के समक्ष सिकन्दर महान् का आदर्श था। वह सिकन्दर महान् की भांति ही अपने सिर पर Elephant-scalp पहने हुए है। उसी की भाति उसने 'अजेय' की उपाधि धारण की। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि पुष्यमित्र शुंग के समय मे हुए यवन-आक्रमण का नेता डेमेट्रिअस ही था, तो निश्चितरूप से भारतवर्ष मे उसका राज्य-विस्तार सिकन्दर की अपेक्षा अधिक था। कुछ साक्ष्य एव जनश्रुतियाँ ऐसी है जो वस्तुत डेमेट्रिअस को भारत-नरेश सिद्ध भी करती है—

(१) ट्रोगस डेमेट्रिअस को Rex Indorum कहता है।

(२) चाउसर ने उसका 'grete Emetreus, the King of India' के रूप मे उल्लेख किया है।

(३) यूनानियों की मुद्राये अधिकाशत वृत्ताकार होती थी। परन्तु डेमेट्रिअस की कुछ मुद्राये भारतीय मुद्राओ की भांति वर्गाकार पाई गई हैं। ये द्विलिपिक है। यूनानी भाषा के साथ-साथ इन पर भारतवर्ष के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश की लिपि खरोष्ठी का प्रयोग किया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये भारतवासियों के प्रयोग के लिए भी निर्मित हुई थीं।

(४) युगपुराण मे 'धर्ममीत' का नाम आता है। कुछ विद्वानो का मत है कि यह डेमेट्रिअस का ही रूपान्तर है। टार्न महोदय का कथन है कि इसका अर्थ 'धर्म का मित्र' भी हो सकता है। इस उपाधि को कदाचित् डेमेट्रिअस ने धारण किया था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानी राजकुमारी से विवाह किया था। अत. अशोक मे भी यूनानी रक्त था। इसी आधार पर कदाचित् यूनानी डेमेट्रिअस अपने को मौर्य-साम्राज्य का उचित अधिकारी सिद्ध करने की चेष्टा कर रहा था। उसकी दृष्टि मे पुष्य-

मित्र शुंग की अपेक्षा उसका अधिकार अधिक सबल था। पुष्यमित्र शुंग ने मौर्य था और न यूनानी। वह तो एक मात्र औद्भिज्ज था।

(५) स्ट्रैबो का कथन है कि भारत-विजय आंशिक रूप से मीनेण्डर ने और आंशिक रूप से डेमेट्रिअस ने की थी।

(६) बेसनगर (विदिशा) में एक सील मिली है जिस पर 'तिमित्र' लिखा हुआ है। कदाचित् यह डेमेट्रिअस की ही सील है।

डेमेट्रिअस का साम्राज्य—इन समस्त साक्ष्यों से भारतवर्ष और डेमेट्रिअस का सम्बन्ध निर्विवाद रूप से स्थापित हो जाता है। हम पहले कह चुके हैं कि पुष्यमित्र शुग के शासन-काल मे भारतवर्ष पर जो यवन-आक्रमण हुआ था, उसका नेता डेमेट्रिअस ही था। इस आक्रमण में उसे आशातीत सफलता हुई। कुछ समय के लिए वह कैस्पिअन सागर से लेकर मगध तक और फर्गना से लेकर बैरीगाजा तक के विशाल साम्राज्य का एकच्छत्र स्वामी बन गया।

यूक्रेटाइडीज—पीछे कहा जा चुका है कि जिस समय डेमेट्रिअस भारत-विजय में संलग्न था उसी समय उसके गृह-राज्य बैक्ट्रिया पर आक्रमण हो गया और डेमेट्रिअस को तत्काल लौटना पड़ा। बैक्ट्रिया के इस आक्रमण का नेता यूक्रेटाइडीज था। यह सीरिया के सम्राट् एण्टिआकस चतुर्थ का सेनापति था और कदाचित् राजवश से सबन्धित था। कुछ मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जिन पर उसके पिता हेलिओक्लीज और माता लाओडाइस (Laodice) के चित्र हैं। उसके पिता के शीश पर राजमुकुट नहीं है परन्तु उसकी माता राजमुकुट पहने हुए चित्रित की गई है। इससे टार्न महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कदाचित् उसका पिता एक साधारण नागरिक था। परन्तु उसकी माता राजवशीया थी। टार्न महोदय का पुन. कथन है कि राजवश से अपना सबध सिन्ध करने के लिए ही यूक्रेटाइडीज ने सेल्यूकस की भाति अपने शीश पर Elephant Scalp धारण किया था और सेल्यूकस की भाति ही अपनी मुद्रायें निर्मित कराई थीं।

यूक्रेटाइडीज का काल—एण्टिओकस चतुर्थ के शासन-काल मे यूक्रेटाइडीज उसके पूर्वी प्रदेशों का गवर्नर था। बैक्ट्रिया में उसकी मुद्राये मिली हैं जिन पर १६५ ई० पू० की तिथि है। मुद्रा-चित्र को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय यूक्रेटाइडीज ४०-४५ वर्ष का रहा होगा। अत इस अनुमान के आधार पर यूक्रेटाइडीज की जन्म-तिथि २१०-५ ई० पू० के लगभग निकलती है। उसके सिहासनारोहण की तिथि भी अनुमान के आधार पर ही निकाली जा सकती है। जस्टिन का कथन है कि यूक्रेटाइडीज और मिथ्रडेटीज दोनो एक ही समय राजा हुए थे। मिथ्रडेटीज १७५ ई० पू० में राजा हुआ था। अत. यही तिथि यूक्रेटाइडीज के सिहासनारोहण की भी मानी जा सकती है।

यूक्रेटाइडीज की विजय—यूक्रेटाइडीज की महत्वपूर्ण विजय को सिद्ध करने मे निम्नांकित ४ बातें ध्यान मे रखनी होंगी—

(१) १६६ ई० पू० सेंस ाट् एण्टिआकस चतुर्थ ने किसी उत्सव के उपलक्ष में सैन्य-प्रदर्शन किया।

(२) डिओडोरस का कथन है कि उसने बैबीलोन में 'स्वतत्रता-दिवस' मनाया।

(३) उसे 'एशिया का संरक्षक' कहा गया है।

(४) डिओडोरस का कथन है कि १६५ ई० पू० वह किसी भी अन्य प्रदेश से अधिक बलवान् था।

(५) बैक्ट्रिया में उसकी मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जिन पर १६५ ई० पू० की तिथि है।

यदि हम इन समस्त उद्धरणों को समक्ष रख कर विचार करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि १६७ ई० पू० के लगभग एण्टिआकस चतुर्थ ने कोई महत्वपूर्ण विजय प्राप्त की होगी और उसी के उपलक्ष में उसने उत्सव मनाया होगा और उपाधि धारण की होगी तथा यह विजय उसके सेनापति यूक्रेटाइडीज की ही होगी।

१७५ ई० पू० एण्टिआकस चतुर्थ सिंहासनासीन हुआ। उसने सीरिया-साम्राज्य के विलुप्त गौरव को पुन. प्रतिष्ठित करने के हेतु प्रयत्न किया और पूर्वी राज्यों को पुन. जीतने के लिए अपने सेनापति यूक्रेटाइडीज को भेजा। यूक्रेटाइडीज एक कुशल रण-नीतिज्ञ था। उसने कुछ ही काल में यूथीडेमस-वश से साग्डिआना, बैक्ट्रिया, एरियाना आरकोशिया, सीस्तान और ईरान के प्रदेश जीत लिए। इन विजित प्रदेशों की सूची जस्टिन से प्राप्त होती है।

यूक्रेटाइडीज के आक्रमण और सफलताओं का समाचार पा कर डेमेट्रिअस उसका सामना करने के लिए बैक्ट्रिया वापस लौटा। दोनो में युद्ध हुआ। इस युद्ध में डेमेट्रिअस की पराजय हुई। जस्टिन ने इस युद्ध का उल्लेख किया है। उसका कथन है कि डेमेट्रिअस ने ६०,००० सैनिको के साथ यूक्रेटाइडीज को घेर लिया। यूक्रेटाइडीज के पास केवल ३०० सैनिक थे। फिर भी यूक्रेटाइडीज ने घेरा तोड दिया। इस युद्ध की तिथि लगभग १६७ ई० पू० थी। इसके थोडे दिनों पश्चात् ही डेमेट्रिअस की मृत्यु हो गई।

यूक्रेटाइडीज की मुद्रायें बैक्ट्रिया, सीस्तान, पैरोपेनिसेडाइ, कपिशा और गान्धार प्रदेश में पाई जाती हैं। अत निश्चित है कि उसने बैक्ट्रिया पर अधिकार करने के पश्चात् यूथीडेमिड-वश से अन्य पूर्वी प्रदेश भी छीन लिए थे।

यह संभव है कि सम्राट् एण्टिआकस चतुर्थ के जीवन-काल तक उसका सेनापति यूक्रेटाइडीज नाममात्र को उसके प्रति अपनी अधीनता प्रदर्शित करता रहा हो, परन्तु इसमें कोई सन्देह नही है कि सम्राट् की मृत्यु के पश्चात् वह पूर्णरूपेण सर्वसत्ताधारी नरेश बन बैठा।

यूक्रेटाइडीज और भारत—अब प्रश्न यह आता है कि पंजाब के किसी भाग पर यूक्रेटाइडीज का अधिकार था अथवा नहीं। इस प्रश्न पर टार्न महोदय का उत्तर नकारात्मक है। परन्तु वह न्यास-संगत नही प्रतीत होता। पश्चिमी पजाब में यूक्रेटाइडीज की कुछ मुद्रायें प्राप्त हुई है। पुन. स्ट्रैबो का कथन है कि उसने हाइडैस्पीज (झेलम) पार नही की थी। इस कथन से ध्वनित होता है कि वह झेलम तक अवश्य गया होगा। अत मुद्रा-प्राप्ति और स्ट्रैबो के इस कथन के आधार पर हमारा निष्कर्ष यही है कि यूक्रेटाइडीज ने पश्चिमी पजाब को अपने राज्य में मिला लिया था। वह और आगे न बढ सका। इसका विशेष कारण यह है कि इस समय झेलम से लेकर मथुरा तक के प्रदेश के ऊपर मीनेण्डर का राज्य था। सम्भव है कि यूक्रेटाइडीज ने झेलम को पार करने का प्रयास किया हो और वह मीनेन्डर द्वारा परास्त कर दिया गया हो। यह भी सम्भव है कि मीनेण्डर के साथ युद्ध की सम्भावना को दूर करने के लिए यूक्रेटाइडीज स्वतः झेलम से आगे न बढ़ा हो।

भारतवर्ष में प्राप्त यूक्रेटाइडीज की मुद्रायें द्विलिपिक हैं। उन पर यूनानी लिपि

के साथ खरोष्ठी लिपि का भी प्रयोग मिलता है। खरोष्ठी का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि वे "मुद्रायें भारतीयो के व्यवहार के लिए निर्मित की गई थी।

इस प्रकार अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर यूक्रेटाइडीज का राज्य बैक्ट्रिया से लेकर झेलम तक विस्तृत था।

(१) **हेलिओक्लीज**—जिस समय यूक्रेटाइडीज भारतवर्ष की ओर आया था उस समय उसने बैक्ट्रिया का राज्य हेलिओक्लीज के सिपुर्द कर दिया था। हेलिओ-क्लीज यूक्रेटाइडीज का पुत्र था क्योंकि उसने अपने पितामह का नाम धारण किया था।

(२) **यूक्रेटाइडीज का पतन**—यूक्रेटाइडीज की सत्ता अधिक समय तक अकन्टक न रही। शनै. शनै उसके चतुर्दिक विरोध सबल और सगठित होने लगा। जस्टिन का कथन है कि जिस समय वह डेमेट्रिअस के साथ युद्ध कर रहा था उसी समय उसे साग्डिआना के लोगो के विरोध का सामना करना पडा। कदाचित् ये लोग शक थे। उसके राज्य की पूर्वी सीमा से लगा हुआ मीनेन्डर का शक्तिशाली राज्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ही दिनों में मीनेन्डर ने उससे पेरोप निसेडाइ और गान्धार के प्रदेश छीन लिए। इन प्रदेशों में मीनेन्डर की मुद्रायें मिली है। यूक्रटाइडीज की दुर-वस्था से लाभ उठा कर पार्थिया-नरेश मिथ्राडेटीज ने भी उस पर आक्रमण कर लिया। और राज्य का बहुत बडा भाग छीन लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने जीवन के अंतिम काल मे यूक्रेटाइडीज एकमात्र बैक्ट्रिया के एक छोटे से प्रदेश का शासक रह गया था।

(३) **यूक्रेटाइडीज की मृत्यु**—पराजय के कुछ ही दिनो बाद यूक्रेटाइडीज की मृत्यु गई हो। उसकी मृत्यु-तिथि १५९-८ ई०पू० के लगभग रखी जा सकती है। जस्टिन का कथन है कि यूक्रेटाइडीज को उसके पुत्र हेलिओक्लीज ने मार डाला था। परन्तु वही लेखक अन्यत्र कहता है कि यूक्रेटाइडीज की मृत्यु पार्थियन लोगो के हाथ से हुई थी। यदि हम दोनो कथनों पर सम्मिलित रूप से विचार करे तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि कदाचित् हेलिओक्लीज स्वार्थ-सिद्धि के लिए अपने पिता के शत्रु पार्थिया-नरेश के साथ मिल गया था और दोनो की कुमन्त्रणा से ही यूक्रेटाइडीज की मृत्यु हुई।

टार्न महोदय जस्टिन के कथन पर विश्वास नही करते। उनका मत है कि यूक्रे-टाइडीज का हत्यारा डेमेट्रिअस द्वितीय नामक एक राजकुमार था। यह डेमेट्रिअस प्रथम का पुत्र था। अत इसने अपने पिता के पराभव प्रतिशोध करने के हेतु यूक्रेटाइ-डीज का वध कर डाला था।

भारतवर्ष में दो यूनानी वंश—डेमेट्रिअस और यूक्रेटाइडीज की पारस्परिक कलह का यह परिणाम हुआ कि यूनानी राज्य दो विरोधी वशों मे विभक्त हो गया। बहुत दिनो तक डेमेट्रिअस का वश पूर्वी पजाब पर और यूक्रेटाइडीज का वश पश्चिमी पजाय और काबुल घाटी पर समकालीन ढग से शासन करते रहे।

डेमेट्रिअस के उत्तराधिकारी—लगभग १६५ ई० पू० डेमेट्रिअस की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उत्तराधिकारियो का क्रम अनिश्चित है। डेमेट्रिअस के पश्चात् यूथीडेमिड-वश के अनेक राजाओ के नाम मुद्राओ से विदित होते है, परन्तु एक-आध को छोड कर उनके शासन अथवा शासन-काल की घटनाओ के विषय में हमें विशेष ज्ञान नही है।

मुद्राओं से विदित होता है कि डेमेट्रिअस के समकाल में ही एण्टिमेकस नामक एक नरेश ने अपनी मुद्रायें प्रसारित की थीं। मुद्राओं पर उसके नाम के साथ-साथ डिओडोटस और यूथिडेमस के नाम भी मिलते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि वह यूथीडेमिस वंश का था। डेमेट्रिअस और एण्टिमेकस का पारस्परिक सम्बन्ध अनिश्चित है। परन्तु टार्न महोदय का अनुमान है कि ये दोनों भाई थे। एण्टिमेकस किस प्रदेश में राज्य करता था, यह असन्दिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता। रैप्सन महोदय का मत था कि वह सिन्धु-घाटी के किसी प्रदेश का शासक था। परन्तु टार्न महोदय का कथन है कि वह मर्व के चतुर्दिक प्रदेश का अधिपति था और उसने अपने पिता यूथीडेमस तथा अपने भाई डेमिट्रिअस को अधीनता में शासन किया था। टार्न महोदय के मतानुसार डेमेट्रिअस के एक तीसरा भाई भी था। इसका नाम एपालोडेटस था। यह नाम यूनानी साहित्य और मुद्राओं पर मिलता है। पीछे कहा जा चुका है कि डेमेट्रिअस कदाचित् उसे अपनी भारत-विजय के समय लाया था। डेमेट्रिअस की अधीनता में यह पेरोपेनिसेडाइ और गान्धार-प्रदेश का शासक था। इसकी राजधानी सिकन्दरिया कपिशा थी। पेरिप्लस के लेखक का उल्लेख है कि उसके समय में (लगभग प्रथम शताब्दी) इसकी मुद्रायें बेरीगाजा में चलती थीं। एपालोडोटस की वर्गाकार कांस्य-मुद्राएँ मिली हैं जिन पर एपालो देवता और Tripod के चित्र अंकित हैं। यह सेल्यूफिड परम्परा का अनुकरण था। उसकी कुछ मुद्राओं पर जिअस देवता गजशीश और वृषभ के भी चित्र मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय यूक्रेटाइडीज ने गान्धार पर आक्रमण किया उस समय एपालोडोटस युद्ध में मारा गया। इस विजय के पश्चात् इक्रेटाइडीज ने एपालोडोटस की मुद्राओं को अपने नाम अंकित कराया। टार्न महोदय का मत है कि डेमेट्रिअस के ५ पुत्र थे—यूथीडेमस द्वितीय, डेमेट्रियस द्वितीय, पैण्टालियन और एगाथोक्लीज। इन चारों की मुद्रायें मिली हैं इन्होंने अपने पिता की अधीनता में भिन्न-भिन्न प्रदेशों पर राज्य किया था।

मीनेण्टर—परन्तु डेमेट्रिअस के पश्चात् यूथिडेमिड वंश का सबसे प्रतापी राजा मीनेण्डर हुआ। वह बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्दपन्हों का यवनराजा था। उसका जन्म अलसन्द नामक द्वीप में कससी ग्राम में हुआ था। इस स्थान के समीकरण में काफी मतभेद है इसका कारण यह है पाली मिलिन्दपन्हो के अनुसार साकल से अलसन्द की दूरी २०० योजन बताई गई है परन्तु चीनी मिलिन्दपन्हो में वह २००० योजन बताई गई है। प्रसिद्ध विद्वान् सिल्वन लेवी का मत है कि अलसन्द का समीकरण मिस्र के अलेग्जेंड्रिया (सिकन्दरिया) से करना चाहिए। परन्तु अधिकांश विद्वान् उसका समीकरण काबुल के समीप स्थित एलेग्जेंड्रिया (Alexandria-under-the Caucasus) से करते हैं।

टार्न महोदय का मत है कि मीनेण्डर रक्त से राजवंशी न था। वह एक सामान्य कुल में उत्पन्न हुआ था। परन्तु अपनी योग्यता के कारण वह डेमेट्रिअस का सेनापति बन गया था। कदाचित् वह अत्यन्त रण-कुशल सेनानी था और उसे युद्धों का काफी अनुभव रहा होगा। इसी से डेमेट्रिअस ने एपालोडोटस आदि राजवंशियों के रहते हुए भी उसे भारतवर्ष के सबसे अधिक महत्वपूर्ण युद्ध-प्रयाण पर भेजा था।

डेमेट्रिअस और एपालोडोटस की मृत्यु के पश्चात् यूथीडेमिड राजवंश में कोई भी व्यक्ति ऐसा न था जो भारतवर्ष के यूनानी राज्य को अक्षुण्ण रखता। अतः यह भार मीनेण्डर के ऊपर पड़ा। मीनेण्डर राजवंशीय न था। अतः उसे आशंका थी कि कदाचित् वह जनता के हृदय में यथेष्ट राज-भक्ति उत्पन्न न कर सके। अपनी इस जन्मज त्रुटि को दूर करने के लिए उसने राजवंश से सम्बन्ध स्थापित करना अति ही

आवश्यक समझा। उसने डेमेट्रिअस की पुत्री एगाथोल्किआ से विवाह कर लिया। कदाचित् यूथीडेमिड वंश को सक्षम रखने की इच्छा से ही एगाथोल्किआ ने यह संबंध स्वीकार किया था।

रैप्सन महोदय का कथन है कि डेमेट्रिअस और मीनेण्डर की कुछ वर्गाकार ताम्र-मुद्राओं में इतनी अधिक समता है कि दोनों व्यक्ति एक ही काल और प्रदेश के शासक प्रतीत होते हैं। टार्न महोदय भी इस कथन से सहमत हैं। उनके मत के अनुसार मीनेण्डर डेमेट्रिअस का कनिष्ठ समकालीन था। ऐसी दशा में मीनेण्डर का काल १५० ई० पू० के आस-पास रहा होगा। इस कथन की पुष्टि एकाथोल्किआ के संबंध से भी होती है। एगाथोल्किआ की छ मुद्राओ को हेलिओक्लीज ने १५० ई० पू० के लगभग अपने नाम से पुन. प्रसारित किया था। अत एगाथोल्किआ के पति मीनेण्डर की तिथि भी १५० ई० पू० के लगभग रही होगी।

मीनेण्डर की तिथि के विषय में मिलिन्दपन्हो ने कुछ भ्रम उत्पन्न कर दिया है। इस ग्रन्थ के अनुसार मीनेण्डर का काल महात्मा बुद्ध की मृत्यु के ५०० वर्ष पश्चात् होता है। महात्मा बुद्ध की निर्वाण-तिथि ४८५ ई० पू० है। अत यदि हम मिलिन्द-पन्हो के उल्लेख की सत्यता को स्वीकार कर लें तो मीनेण्डर की तिथि ईसा की प्रथम शताब्दी ठहरती है परन्तु मिलिन्दपन्हो में उल्लिखित ५०० वर्षों के काल को हम पूर्ण-रूप से सत्य नही मान सकते। ५०० वर्षों की सख्या बौद्ध लेखको को अत्यन्त प्रिय रही है। उन्होंने बहुधा काल-निर्धारण में इसी सख्या का प्रयोग किया है। मीनेण्डर की तिथि इतनी बाद को नही हो सकती। व हेलिओक्लीज से दूर नही रखा जा सकता और हेलिओक्लीज का शासन १२५ ई० पू० के लगभग समाप्त हो गया था।

मीनेण्डर एक विशाल राज्य का शासक था। पाटलिपुत्र को छोड़ने के पश्चात् उसने मथुरा को अपने राज्य की पूर्वी सीमा बनाया था। मथुरा में उसकी तथा उसके पुत्र स्ट्रैटो प्रथम की मुद्रायें मिली है। टालमी के कथनानुसार भी मथुरा पर मीनेण्डर का अधिकार था। पीछे कहा चुका है कि यूक्रेटाइडीज के जीवन का अन्तिम काल विपत्ति-ग्रस्त था। मिथ्राडेटीज और शको के आक्रमणो ने उसके राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया था। यूक्रेटाइडीज की इस विपत्ति से लाभ उठाकर कदाचित् मीनेण्डर ने भी उसके राज्य के पूर्वी भाग पर आक्रमण कर दिया। उसने झेलम पार की और पेरोपेनिसेडाइ तथा गान्धार प्रदेश यूक्रेटाइडीज से छीन लिए। पेरोपेनिसेडाइ में उसकी ताम्र-मुद्रायें मिली हैं। उधर, स्वात तथा बजौर के प्रदेश मे मीनेण्डर के दो मुद्रा-भाण्ड मिले हैं। इनके अतिरिक्त सिनकोट में उसका एक पात्र-लेख प्राप्त हुआ है। इसके ऊपर उसके शासन-काल के पाँचवें वर्ष की तिथि है। इन सब साक्ष्यो से विदित होता है कि पश्चिम में उसका राज्य पेरोपेनिसेडाइ तक विस्तृत था। यदि कुछ विद्वानो के मतानुसार यह स्वीकार कर लिया जाय कि पेरोपेनिसेडाइ प्रदेश मे उसकी मुद्रायें व्यापारियों और यात्रियो द्वारा पहुँची थी तो भी यह मानना ही पडेगा कि उसके राज्य की पश्चिमी सीमा गान्धार तक अवश्य विस्तृत थी। यह उल्लेखनीय है कि उसकी मुद्रायें आरकोशिया और सीस्तान में उपलब्ध नही हुई हैं। इससे यह प्रकट होता है कि ये प्रदेश उसके राज्य से बाहर थे।

पश्चिमी भारत में मीनेण्डर का राज्य बेरीगाजा तक था क्योंकि पेरीप्लस के कथनानुसार इस प्रदेश मे उसकी मुद्रायें प्रचलित थी। उसकी कतिपय मुद्राओं पर ऊँट का चित्र कदाचित् राजपूताने पर उसका आधिपत्य प्रकट करता है। इसके अतिरिक्त

मीनेण्डर की मुद्रायें सिन्धु-प्रदेश, सोमपत (दिल्ली के समीप) तथा बुन्देलखण्ड में प्राप्त हुई हैं। अत: ये समस्त प्रदेश मीनेण्डर के अधिकार में थे। सारांशतः अपने उत्कर्ष-काल मे मीनेण्डर का राज्य उत्तर-पश्चिम में कपिशा (पेरोपेनिसेडाइ) तक पश्चिम मे सिन्ध तक, दक्षिण-पश्चिम मे बेरीगाजा तक दक्षिण मे बुन्देलखन्ड तक और पूर्व में मथुरा तक विस्तृत था। मिलिन्दपन्हों के अनुसार इस विशाल राज्य की राजधानी साकल (स्यालकोट) थी।

मीनेण्डर और बौद्ध धर्म—अनेक ऐसे साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं जिन से मीनेण्डर का बौद्ध होना सिद्ध होता है। परन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय पर शंका की है। उनका कथन है मीनेण्डर बौद्ध नही था। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म के प्रति उसका अनुराग-मात्र था। परन्तु यदि हम इन पाश्चात्य विद्वानों की शकाओं पर विचार करे तो वे अकाट्य सिद्ध नही होती।

१ **मिलिन्दपन्हे**—विण्टरनिज के मतानुसार इस बौद्ध ग्रन्थ की रचना सम्भवत: ईसा की प्रथम शताब्दी में हुई होगी। वर्तमान मिलिन्दपन्हों में ७ अध्याय मिलते है। परन्तु अधिकांश विद्वानों का मत है कि मौलिक ग्रन्थ मे केवल प्रथम तीन अध्याय ही थे। शेष ४ अध्याय प्रक्षेप है। यही, नही तीन अध्यायों मे भी स्थान-स्थान पर प्रक्षिप्ताश मिलते है।

ग्रन्थ के नामकरण से ही अनुमान होता है कि इसका विषय एकमात्र मिलिन्द (मीनेण्डर) के प्रश्नो तक ही सीमित होगा। प्रथम तीन अध्यायों से प्रकट होता है कि यवनराज मिलिन्द को कुछ धर्म-सम्बन्धी शंकायें थी जिन्हे अन्ततोगत्वा बौद्ध विद्वान् नागसेन ने दूर कर दिया। इन दोनों के प्रश्नोत्तर के पश्चात् तीसरे अध्याय के अन्त मे स्पष्टतया लिखा हुआ है कि 'इस प्रकर मिलिन्द के प्रश्नो का अन्त होता है।' अत: कदाचित् मूल मिलिन्दपन्हो मे यही तीन अध्याय थे। इस मत की पुष्टि चीनी मिलिन्दपन्हो से भी हो जाती है। उसमे केवल प्रथम तीन अध्याय ही हैं। अत: विद्वानों का निष्कर्ष है कि आगे के ४ अध्याय बाद को जोडे हुए प्रतीत होते हैं। इन चार अध्यायो की भाषा, शैली और विषय भी कालान्तर के जान पडते हैं। टार्न महोदय का कथन है कि मिलिन्द के बौद्ध होने और राज्य छोडने की बात मिलिन्दपन्हो के प्रक्षिप्ताश मे मिलती है, मूल तीन अध्यायों में नहीं। अतः हम उसे ऐतिहासिक नही मान सकते। परिणामत मिलिन्दपन्हो के साक्ष्य से मीनेण्डर का बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेना सिद्ध नही होता। इससे अधिक से अधिक उसका बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग ही प्रकट होता। मिलिन्दपन्हो के तीसरे अध्याय में मीनेण्डर स्वयं कहता है कि जिस प्रकार किसी सोने के कटघरे मे बन्द हुआ सिंह बहिर्जगत् की ओर सतृष्ण दृष्टि से देखता है उसी प्रकार प्रासाद मे रहता हुआ मैं भी। परन्तु हे भदन्त, यदि इसी समय मैं भिक्षु हो जाऊँ तो मैं अधिक काल तक जीवित न रह सकूँगा; मेरे शत्रुओं की संख्या इतनी अधिक है।' यह उद्धरण मिलिन्दपन्हो के मूल भाग के अन्तिम अध्याय का है। अत यह मीनेण्डर के भिक्षु न होने का अन्तिम साहित्यिक प्रमाण है। पुनः प्लूटार्क का कथन है कि मीनेण्डर की मृत्यु शिविर मे हुई थी। कदाचित् इस कथन का तात्पर्य यही है कि अपने जीवन के अन्तिम काल में भी मीनेण्डर सिंहासनासीन था और वह किसी युद्ध का सचालन कर रहा था। उसी युद्ध-काल में या तो उसकी हत्या कर दी गई या वह नैसर्गिक मत्यु को प्राप्त हुआ।

यद्यपि हम यह स्वीकार करते हैं कि मिलिन्दपन्हो के अन्तिम ४ अध्याय

प्रक्षिप्तांश हैं तथापि इस ग्रन्थ के मौलिक भाग में मीनेण्डर के बौद्ध धर्म अंगीकार करने की बात का उल्लेख न होने का एक विशेष कारण है। जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही प्रकट होता है, लेखक का मूल उद्देश्य एक प्रश्नोत्तरी की रचना था जो प्रत्येक बौद्ध-धर्म-जिज्ञासु का मार्ग प्रदर्शन कर सके। इस काव्यात्मक रचना का चरित्रनायक उसने एक विदेशी शासक को चुना है जो बौद्ध धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों से विशेषरूप से अवगत न था। लेखक ने मिलिन्द के प्रश्नों (पन्हो) का उल्लेख किया है और बौद्ध आचार्य नागसेन द्वारा किए गए उनके उत्तरों का। इस प्रकार मीनेण्डर का शंका-समाधान हो जाता है और ग्रन्थ का विषय समाप्त हो जाता है। इससे हमें कोई आश्चर्य नहीं होता यदि लेखक ने अपने ग्रन्थ में मीनेण्डर के धर्म-परिवर्तन का उल्लेख नहीं किया है। यदि वह ऐसा करता तो विषयान्तर का दोषी होता। यह लेखक के अनुगामियों ने नहीं समझा और उन्होंने उसकी मृत्यु के पश्चात् ४ अध्यायों के द्वारा रचना को 'पूर्ण' कर दिया।

इसी प्रकार का एक प्रमुख दृष्टान्त संस्कृत साहित्य में भी मिलता है। महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य 'कुमारसम्भवम्' का विषय कुमार की उत्पत्ति तक ही रखा था। महाकाव्य का नाम ही विषय की सीमा निर्धारित कर देता है। परन्तु कालिदास की मृत्यु के पश्चात् अनुगामी लेखकों ने अनेक सर्ग जोड कर 'कुमारसम्भवम्' के विषय को वृत्तासुर-वध तक विस्तीर्ण कर दिया। यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'कुमारसम्भवम्' की अनेक प्रतियों में पाये जाने वाले अन्तिम सर्ग प्रक्षिप्तांश हैं।

अत मिलिन्दपन्हो के अनुल्लेख से यह नहीं सिद्ध होता कि मीनेण्डर बौद्ध नहीं था अधिक स्वाभाविक यही प्रतीत होता है कि शंका-समाधान हो जाने के पश्चात् बौद्ध-धर्म में उका अनुराग और अधिक हो गया होगा। यह सम्भव है कि उसने भिक्षु-जीवन स्वीकार न किया हो। यह भी सम्भव है कि उसने राज्य का परित्याग न किया हो। परन्तु उसके बौद्ध उपासक होने में कोई सन्देह नहीं है। इसकी पुष्टि विविध-साक्ष्यों से होती है जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा।

मिलिन्दपन्हो के तीसरे अध्याय में मीनेण्डर का यह कथन कि 'यदि मैं इसी समय भिक्षु हो जाऊँ तो अधिक काल तक जीवित न रह सकूँगा, मेरे शत्रुओं की सख्या इतनी अधिक है' केवल निम्नलिखित तथ्य सिद्ध कर सकता है—

(१) मीनेण्डर कभी भी भिक्षु नहीं हुआ, वह सदैव उपासक बौद्ध ही रहा।

(२) वह अपने शत्रुओं का दमन करने तथा अपने राज्य की स्थिति स्थिर करने के पश्चात् अपने जीवन के अन्तिम काल में बौद्ध भिक्षु हुआ था।

पूर्वोल्लिखित प्लूटार्क का कथन कि मीनेण्डर की मृत्यु शिविर में हुई थी, अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। इस लेखक ने उसकी मृत्यु के विषय में कोई स्पष्ट ब्योरा नहीं दिया है। हम यह नहीं जानते कि वह शिविर कैसा था, मीनेण्डर की हत्या की गई अथवा वह युद्ध में मारा गया। अत एक विदेशी के इस अस्पष्ट कथन के समक्ष हम विविध स्पष्ट साक्ष्यों का परित्याग करके यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि मीनेण्डर कभी भी बौद्ध नहीं था। पुन, आवश्यकताजन्य परिस्थितियों में पड़े हुए बौद्ध शासकों को हमने सन्धि-विग्रह के कार्यों का सम्पादन करते हुए भी देखा है। इस विषय पर कनिष्क और हर्ष के दृष्टान्त उल्लेखनीय है। बौद्ध-साहित्य का ही उल्लेख है कि बौद्ध-कनिष्क के अनवरत युद्धों से क्षुब्ध हो कर किसी उत्तरीय युद्ध के समय रुग्णावस्था में उसके

मन्त्रियों और स्वजनों ने उसकी हत्या कर दी। इसी प्रकार **बौद्ध हर्ष** का कांगोद-युद्ध उसके जीवन के अन्तिम काल का युद्ध था। ऐसी अवस्था में यदि प्लूटार्क का यही तात्पर्य है कि मीनेण्डर की मृत्यु किसी युद्ध का सचालन करते हुए सैनिक शिविर में हुई थी तो भी उसका बौद्धेतर होना सिद्ध नही होता। हाँ, उस अवस्था में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि मीनेण्डर बौद्ध भिक्षु कभी भी न बना था, वह आजीवन बौद्ध उपासक ही रहा था।

अब हम यह देखेगे कि अनेकानेक अन्य साक्ष्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से मीनेण्डर को बौद्ध घोषित करते हैं।

(२) **अवदान कल्पलता**—इस ग्रन्थ की रचना १०५२ ईसवी में काश्मीर के कवि क्षेमेन्द्र ने की थी। इसमें एक स्थान पर भगवान् इन्द्र का कथन है कि 'इस देश में मिलिन्द नामक एक राजा स्तूप बनवाएगा।' स्तूप-निर्माण से मीनेण्डर का बौद्ध होना सिद्ध होता है। इस मत के विरोध मे निम्नलिखित आपत्तियाँ की गई हैं—

(१) सम्भव है कि क्षेमेन्द्र द्वारा उल्लिखित मिलिन्द कोई और व्यक्ति रहा हो।

(२) अवदान कल्पलता बहुत बाद की रचना है। हम इसके कथन पर विश्वास नही कर सकते।

परन्तु इन दोनों आपत्तियो मे कोई बल नही है। प्रथमतः इडो-यूनानी नरेश मीनेण्डर के अतिरिक्त हम किसी भी अन्य मिलिन्द से परिचित नही हैं। द्वितीयतः, कालान्तर की रचना होने मात्र मे ही कोई ग्रन्थ पूर्णरूपेण परित्याज्य नही हो जाता। क्षेमेन्द्र अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् था। उसने अपने अवदानो में बहुसख्यक जन-श्रुतियों को सग्रहीत किया है। बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के कारण विदेशी मीनेण्डर भारतीय जनश्रुति मे अमर हो गया था। अत: कोई कारण नही है कि क्षेमेन्द्र का तत्सम्बन्धी उल्लेख असत्य हो।

(३) **तारानाथ**—इस तिब्बती लेखक का कथन है कि भीतिक नामक एक बौद्ध भिक्षु ने तुखार के राजा मिनार को बौद्ध धर्म स्वीकार कराया था। कुछ विद्वानों ने मिनार का समीकरण मीनेण्डर से किया है। नाम की समता के आधार पर यह समीकरण सम्भव प्रतीत होता है। इसमें कोई सन्देह नही कि मीनेण्डर तुखार (बल्ख) का राजा न था। उसे तुखार-नरेश कहने मे तारानाथ ने अशुद्धि की है। परन्तु चूँकि इडो-यूनानी बल्ख-प्रदेश से ही आए थे, अत: मीनेण्डर को उसी प्रदेश से सम्बद्ध कर तारानाथ ने जो अशुद्धि की है वह बहुत-कुछ स्वाभाविक प्रतीत होती है। बहुत बाद को हुए इतिहास-लेखकों के द्वारा ब्योरे की अशुद्धियाँ स्वाभाविक है, परन्तु सामान्यतया उनके मूल तत्थ्य विश्वसनीय होते है। हम भौतिक को अनैतिहासिक व्यक्ति मान सकते है। मीनेण्डर के राज्य-विस्तार के विषय में भी तारानाथ अशुद्धि कर सकता है। परन्तु जहाँ तक मीनेण्डर के विषय मे मूल तथ्य—उसके बौद्ध होने का प्रश्न है—वह इतना अधिक जनश्रुत एव लोक-विदित हो चुका था कि असावधान लेखक भी उसकी अपेक्षा नही कर सकता। तारानाथ के बहुत बाद के लेखक होने अथवा उसकी रचनाओं मे अनेक अशुद्धियो और अनैतिहासिक कथानको के होने से वह पूर्णरूप से अविश्वसनीय नही हो सकता। प्रत्येक आलोचक यह स्वीकार करेगा कि तारानाथ के ग्रन्थ मे विविध ऐतिहासिक सामग्री भी विद्यमान है।

(४) **प्लूटार्क**—इस लेखक का कथन है कि मीनेण्डर की मृत्यु के पश्चात् उसके अवशेषों के लिए विभिन्न नगरो मे झगडा हुआ, अन्त मे अवशेष सबके बीच मे विभक्त

कर दिए गए और प्रत्येक नगर ने उन पर एक-एक स्तूप बनवाया। टार्न महोदय का कथन है कि अवशेषों के ऊपर स्तूप-निर्माण से ही मृतक को बौद्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्तूप तो चक्रवर्ती राजा के अवशेषों के ऊपर भी बनाया जा सकता है। सिद्धान्त की दृष्टि से टार्न महोदय का यह कथन सत्य है। बौद्ध धर्म के अनुसार बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, लब्धप्रतिष्ठ बौद्ध, भिक्षु और चक्रवर्ती राजा के अवशेषों के ऊपर स्तूप बनाए जा सकते हैं। परन्तु व्यावहारिक रूप में हमने किसी भी ऐतिहासिक बौद्धेतर चक्रवर्ती राजा के अवशेषों के ऊपर स्तूप बनने का दृष्टान्त नहीं देखा। अत मीनेण्डर के विषय में ही यह अपवाद क्यों? अवशेषों के ऊपर स्तूप इसलिए बने कि वह चक्रवर्ती होने के साथ-साथ बौद्ध भी था।

पुन:, विण्टरनिज महोदय ने प्लूटार्क के कथन की सत्यता में ही सन्देह किया है। उनका कथन है कि अवशेष-विवरण के लिए नगरों की पारस्परिक कलह तथा उन पर स्तूप-निर्माण की घटना महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् घटी थी। अप. उसी घटना को कालान्तर में मीनेण्डर के साथ भी जोड दिया गया, यद्यपि मीनेण्डर के देहावसान के पश्चात् वस्तुत वह घटित नहीं हुई।

इस अविश्वास का कोई भी साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया। विदेशीय मीनेण्डर के भारतीयकरण एव धर्म-परिवर्तन की घटना बौद्ध-जगत् में अति महत्वपूर्ण समझी गई होगी। पुन, पुष्यमित्र के ब्राह्मणवाद के विरुद्ध धर्म को प्रश्रय देने के कार्य ने मीनेण्डर को बौद्ध-जगत् में अति लोक-प्रिय बना दिया होगा। अत कोई आश्चर्य की बात नहीं है यदि अनेक बौद्ध धर्म-प्रधान नगरों ने अपनी कृतज्ञता एव श्रद्धा के प्रदर्शनार्थ अपने प्रश्रयदाता के अवशेषों के ऊपर स्तूप बनवाए हों।

पुन, क्या यह सम्भव है कि महात्मा बुद्ध की जीवनी की वह लोकविदित घटना किसी अबौद्ध के साथ जोडी जाती? थोडी देर के लिए यदि हम यह स्वीकार भी कर लें कि मीनेण्डर के अवशेषों के ऊपर किसी भी नगर ने स्तूप नपबनाए तो भी उसकी जीवनी के साथ इस प्रकार की घटना की कल्पना-मात्र ही कम से कम उसे बौद्ध अवश्य सिद्ध कर देती है।

(५) **स्याम की अनुश्रुति**—स्याम की अनुश्रुति है कि मीनेण्डर के गुरु नागसेन ने अपनी अद्भुत शक्ति के प्रताप से महात्मा बुद्ध की एक बहुमूल्य प्रतिमा निर्मित की थी। इस अनुश्रुति में भी मीनेण्डर को बौद्ध आचार्य नागसेन का शिष्य माना गया है। अत नागसेन द्वारा मीनेण्डर के धर्म-परिवर्तन की बात की पुष्टि हो जाती है।

(६) **मुद्रा-साक्ष्य**—मीनेण्डर की मुद्रायें भी उसका बौद्ध होना सिद्ध करती हैं। उसकी कतिपय कास्य-मुद्राओं पर धर्म-चक्र का चित्र मिलता है तथा अन्य मुद्राओं पर 'ध्रमिकस' (धार्मिकस्य) की उपाधि मिलती है। 'धार्मिक' की उपाधि का प्रयोग बौद्धों ने किया था। अत इसे धारण करते हुए मीनेण्डर ने बौद्ध परम्परा के अनुसार अपने बौद्ध धर्म की घोषणा की थी। परन्तु टार्न महोदय इन चिन्हों को बौद्ध चिन्ह नहीं मानते। उनका कथन है कि मीनेण्डर की मुद्राओं पर जो चक्र है उसका कोई भी धार्मिक महत्व नहीं है। इस प्रकार का चक्र भारतवर्ष की प्राचीन आहत मुद्राओं (Punch-marked coins) पर भी मिलता है। तक्षशिला में इसी प्रकार की मुद्रायें मिली हैं। वहाँ इनका बौद्ध धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। अत टार्न महोदय का अनुमान है कि मीनेण्डर की मुद्राओं पर प्राप्त होने वाला चक्र 'विजय-चक्र' है तथा उसके चक्रवर्तित्व का द्योतक है।

इसी प्रकार टार्न महोदय का कथन है कि मीनेण्डर की मुद्राओं पर जो 'धार्मिक' की उपाधि है उसका अर्थ भी एकमात्र 'न्याय-प्रिय' है। प्लूटार्क का कथन है कि मीनेण्डर अपनी न्याय-प्रियता के लिए प्रसिद्ध था। अतः इस उपाधि का धारण करना उसके लिए न्यायोचित था। यही नहीं, इस 'धार्मिक' उपाधि को अन्य यूनानी शासकों---एगाथोक्लीज, हेलिओक्लीज, स्ट्रैंटो आदि---ने भी धपुण किया था।

हमें टार्न महोदय के निष्कर्षों के विषय में इतना ही कहना है कि 'चक्र' और 'धार्मिक' उपाधि का अन्यत्र चाहे जो भी अर्थ हो, परन्तु बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में उनका अर्थ कमश· 'धर्मचक्र' और 'बौद्ध धर्मावलम्बी' ही होता है। अनेकानेक साक्ष्यों से मीनेण्डर का बौद्ध होना सिद्ध है। अत. जब इस बौद्ध नरेश की मुद्राओं पर हम 'चक्र' का चित्र और 'धार्मिक' की उपाधि देखते हैं तो हमारी पहली मानसिक प्रतिक्रिया यही होती है कि इन दोनो का वही अर्थ होगा जो बौद्ध जगत् में समझा जाता था।[1]

निष्कर्ष---समस्त साक्ष्यो पर विचार करने से यही स्पष्ट होता है कि मीनेण्डर बौद्ध था। उपर्युक्त साक्ष्यो में व्यक्तिगत रूप से कुछ साक्ष्य निर्बल भले ही हो, परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि विविध एव स्वतन्त्र दिशाओं से उपलब्ध होने वाले निर्बल साक्ष्यों का समुदाय भी सबल बन जाता है। ऊपर जिन साक्ष्यों पर हमने विचार किया है उनमें भारतीय और विदेशीय, साहित्यिक तथा मुद्रा-सम्बन्धी विविध और स्वतन्त्रगामी साक्ष्य हैं। वे सभी उसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से बौद्ध कहते है। इसके विरुद्ध अन्य किसी भी साक्ष्य से उसका अन्य धर्मावलम्बी होने के सकेत भी नही मिलता। अत ऐसी अवस्था में उसे बौद्ध न मानना इतिहास के सुप्रतिष्ठित अधिनियमो की अवहेलना करना है।

मीनेण्डर के उत्तराधिकारी---टार्न के मतानुसार मीनेण्डर की मृत्यु लगभग १४७ ई०पू० हुई। उसके पश्चात् डेमोट्रिअस-वश में कोई भी ऐसा प्रतापी नरेश न हुआ जो उसके विशाल राज्य को अक्षत रख सकता। मीनेण्डर की मृत्यु के पश्चात् का काल इण्डो-यूनानी इतिहास का पतन-काल है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मीनेण्डर की पत्नी का नाम एगाथोक्लिया था। कुछ मुद्रायें मिली है जिन पर एगाथोक्लिया और स्ट्रैंटो दोनो के नाम अंकित हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि स्ट्रैंटो एगाथोक्लिया का पुत्र था। सम्भवत वह अल्पायु था। इसी से एगाथोक्लिया उसकी सरक्षिका के रूप में उसके नाम से राज्य कर रही थी और यही कारण है कि मुद्राओ के ऊपर दोनों के नाम मिलते है। इसके पश्चात् कुछ ऐसी भी मुद्रायें मिली है जिन पर एकमात्र स्ट्रैंटो का नाम मिलता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक स्ट्रैंटो वयस्क हो चुका था और उसने राज्य की बागडोर स्वय अपने हाथ में ले ली तथा स्वतन्त्ररूप से अपने नाम से मुद्रायें निर्मित कराई। उसने 'सोटर' की उपाधि धारण की। इस नरेश को स्ट्रैंटो प्रथम भी कहते हैं।

स्ट्रैंटो प्रथम के शासन-काल की प्रमुख घटना है यूथोडेमस-वश और यूक्रेटा डीज-

१ मीनेण्डर की कुछ मुद्राओं पर हाथी के शीश तथा खजूर की शाखा के चित्र हैं। फाउसेट का मत है कि हाथी का चित्र बौद्ध परम्परा में विशेष महत्व रखता है। इससे महात्मा बुद्ध का अपनी माता के गर्भ में आना माना जाता है। बौद्ध होने के कारण मीनेण्डर ने इस बौद्ध सांकेतिक चित्र को अपनाया था। इसी प्रकार रोज डेविड्स महोदय का विचार है कि खजूर की शाखा का भी बौद्ध धर्म में विशेष महत्व है।

वंश के बीच युद्ध की पुनरावृत्ति। यूक्रेटाइडीज की मृत्यु के पश्चात् लगभ १५९-८ ई० पू० हेलिओक्लीज सिंहासनासीन हुआ। इसी समय के लगभग शक-शाति के आक्रमण के परिणाम स्वरूप बैक्ट्रिया उसके वंश के हाथ से निकल चुका था। अतः हेलिओक्लीज ने पूर्व में अपना राज्य-विस्तार करना चाहा। एगाथाक्लिआ और स्ट्रैटो प्रथम की कुछ सम्मिलित मुद्राओं तथा स्वयं स्ट्रैटो प्रथम की कुछ स्वतन्त्र मुद्राओं पर हेलिओक्लीज का भी नाम अंकित है। इससे प्रकट होता है कि स्ट्रैटो प्रथम के शासन-काल में ही हेलिओक्लीज ने उस पर आक्रमण कर के उसे पराजित किया था। इस पराजय के पश्चात् परोपेनिसेडाय से लेकर झेलम के पश्चिम तक का सम्पूर्ण प्रदेश स्ट्रैटो प्रथम के हाथ से निकल गया। इस प्रदेश में हेलिओक्लीज की मुद्रायें मिली हैं। एगाथोक्लिया और स्ट्रैटो ने गान्धार प्रदेश में 'वृषभ' के चित्र से अंकित अपनी मुद्राओं का प्रचलन किया था। इन मुद्राओं को 'पुष्कलावती' (गान्धार) शैली के अन्तर्गत रखा गया है। इसी प्रकार निकाय प्रदेश (झेलम के समीपवर्ती) में इन दोनों की जो विशिष्ट प्रकार की मुद्रायें मिली हैं उन्हें 'विजय-शैली' की मुद्रायें कहते हैं। इन दोनों प्रकार की मुद्राओं को हेलिओक्लीज ने पुनः अपने नाम से चलाया। इससे प्रकट होता है कि पूर्व में झेलम तक उसका अधिकार हो चुका था। परिणामतः अब यूथीडेमस-वंश के हाथ में केवल झेलम से लेकर यमुना तक का प्रदेश रह गया था।

स्ट्रैटो प्रथम का शासन दीर्घकालीन था। मुद्राओं से विदित होता है कि कुछ काल तक उसने अपनी माता एगाथोक्लिआ के साथ राज्य किया, कुछ काल तक स्वतन्त्र रूप से और कुछ काल तक अपने पौत्र स्टैटो द्वितीय के साथ। कुछ मुद्राओं पर वह अल्पवयस्क के रूप में और कुछ पर वृद्ध के रूप में चित्रित है। इससे भी उसके दीर्घकालीन शासन का प्रमाण मिलता है।

कतिपय मुद्राओं के ऊपर स्ट्रैटो प्रथम और स्ट्रैटो द्वितीय दोनों के नाम मिलते है। अतः अनुमान किया जाता है कि लगभग ९० ई० पू० स्ट्रैटो प्रथम के पश्चात् स्ट्रैटो द्वितीय राज्याधिकारी बना। यह स्ट्रैटो प्रथम का पौत्र था। इसका शासन-काल यूथीडेमस-वंश के लिए और भी अधिक अवनति का काल था। स्ट्रैटो द्वितीय के हाथ से यमुना से लेकर रावी तक का प्रदेश भी निकल गया। इंडो-यूनानी आधिपत्य से इस प्रदेश को स्वतन्त्र कराने का श्रेय भारतीयों को है। मथुरा के चतुर्दिक प्रदेश को स्वतन्त्र कराने वाले मथुरा के मित्रवंशीय राजा थे। शेष भाग से यूनानियों का निष्कासन औदुम्बर, कुणिन्द और आर्जुनायन जातियों ने किया था। मथुरा से लेकर रावी तक के विस्तृत प्रदेश में ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में मित्र, औदुम्बर, कुणिन्द और आनार्जुयन जातियों की स्वतन्त्र मुद्रायें मिली है।

इसके पश्चात् इंडो-यूनानियों का राज्य एकमात्र रावी और झेलम के बीच के छोटे से प्रदेश में रह गया। इस प्रदेश में प्राप्त अनेक छोटे-छोटे इंडो-यूनानी नरेशों की मुद्रायें मिली है। इनमें डिआनिसिअस, जाइलस, एपालोफेनीज, निसिअस, एपालोडोटस द्वितीय। हिपोस्ट्रेटस आदि प्रमुख है। इनकी और डेमेट्रिअस की मुद्राओं में काफी समता है। अतः यह अनुमान किया जाता है कि ये उसी के वंश के प्रतिनिधि थे। बहुत सम्भव है कि इनमें से कुछ स्वतन्त्र शासक न रहे हों वरन् स्ट्रैटो अथवा उसके उत्तराधिकारियों की अधीनता में शासन कर रहे हों। यूथीडेमस-वंश में इनका स्थान अथवा सम्बन्ध स्थापित करना बड़ा कठिन है, क्योंकि कतिपय मुद्राओं के अतिरिक्त इनका कहीं पर भी उल्लेख नहीं हुआ है।

यूथीडेमस-वंश के अंतिम पतन का कारण शकों का उदय है। उनके राजा मावेज अथवा मोग ने शीघ्र ही यूथीडेमस-वंश से गान्धार और सिन्ध के प्रदेश छीन लिए। मावेज के पश्चात् एजेज प्रथम राजा हुआ। उसने यूथीडेमस-वश का मूलोच्छेदन कर दिया। इस वश के अन्तिम राजाओं—एपालोडोटस द्वितीय और हिपास्ट्रेटस—की मुद्राओं पर एजेज प्रथम का भी नाम है। इससे सिद्ध होता है कि एजेज ने इन राजाओं को पराजित करके इनकी मुद्राओ को स्वयं अपने नाम से पुनः प्रचलित कराया था। एजेज प्रथम का काल ३० ई० पू० के लगभग है। अतः इसी समय का यूथीडेमस-वंश के विलोप का काल समझना चाहिए।

यूक्रेटाइडीज-वंश—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, यूक्रेटाइडीज की मृत्यु के पश्चात् १५९-८ ई० पू० के लगभग हेलिओक्लीज राजा हुआ। इसी समय शकों ने उसके पैतृक राज्य बैक्ट्रिया पर आक्रमण करके उसे छीन लिया। इस प्रकार हेलिओक्लीज बैक्ट्रिया का अन्तिम यूनानी नरेश था। अत हेलिओक्लीज को क्षति-पूर्ति के लिए पूर्व में राज्य-विस्तार करना पडा। हम पीछे कह चुके है कि उसने पूर्व में झेलम तक के सम्पूर्ण प्रदेश को यूथीडेमस वंश से छीन लिया। यह प्रदेश किसी समय उसके पिता यूक्रेटाइडीज के अधीन था। परन्तु यूथीडेमस-वश के प्रतिनिधि मीनेण्डर ने इसे उसके पिता से छीन लिया था। अत. अब अवसर पाकर हेलिओक्लीज ने अपने पिता की पराजय का बदला लिया और इस प्रकार यूथीडेमिस-वश और यूक्रेटाइडीज-वश के पुराने वैर की पुनरावृत्ति की। हेलिओक्लीज की पुष्कलाबतीशैली और विजय-शैली की मुद्राओ का पीछे उल्लेख किया जा चुका है। ये उसकी गानधार प्रदेश की विजय और झेलम-प्रदेश की विजय की सूचना देती है। इन पर यूथीडेमस-वश की एगाथोक्लिया और स्ट्रैटो प्रथम के साथ हेलिओक्लीज का नाम है। इससे प्रकट होता है कि दोनों को पराजित करके हेलिओक्लीज ने उनकी मुद्राओं को अपने नाम से पुन चलाया था। बैक्ट्रिया के निकल जाने के पश्चात् हेलिओक्लीज एकमात्र भारतीय नरेश हो गया। भारतीय जनता की आवश्यकता को देखते हुए उसने अपनी मुद्रा-नीति में परिवर्तन कर दिया था। अभी तक यूनानी मुद्राये तौल में 'एक' आधार पर बनती थी। यह एटिक तौर सिकन्दर के समय से चल रही थी। परन्तु अब हेलिओक्लीज को यूनानियो के लिए नही बरन् भारतीयो के लिए मुद्राओं का निर्माण करना था। अत. उसने पूर्व प्रतिष्ठित एटिक तौल का परित्याग कर पारसीक तौल को अपनाया। यही तौल भारतर्व के उत्तर-पश्चिम मे प्रचलित थी। हेलिओक्लीज की मृत्यु लगभग १२५ ई० पू० हुई होगी।

हेलिओक्लीज के पश्चात् यूक्रेटाइडीज-वश के शासको का क्रम और काल दोनो सन्दिग्ध है। बिदिशा के गरुड-स्तम्भ-लेख मे महाराज अन्तलिकित नामक एक यूनानी राजा का उल्लेख है। इस लेख के अनुसार इस यूनानी नरेश ने एक तक्षशिला-निवासी हेलिओडोरस को भारतीय नरेश काशी पुत्र भागभद्र (अथन कौत्सीपुत्र भागभद्र) की राजसभा मे अपने राजदूत के रूप में भेजा था। यह घटना काशीपुत्र भागभद्र के शासन-काल के १४वें वर्ष में घटी थी। विद्वानों ने इस विदिशा-लेख के अन्तलिकित का समीकरण मुद्राओ के यूनानी नरेश एण्टियाल्किडस के साथ किया है। गार्डनर महोदय का कथन है कि मुद्रा में चित्रित ऐण्टियाल्किडस की रूप-रेखा बहुत कुछ हेलिओक्लीज से मिलती-जुलती है और दोनो की मुद्राये भी एक शैली की है—अर्थात् दोनो की मुद्राओं पर एक ओर राजा का चित्र है और दूसरी ओर हाथी का। इस समता के आधार पर टार्न महोदय का मत है कि ऐण्टियाल्किडस हेलिओक्लीज का उत्तरा-

धिकारी था। उसका समकालीन भारतीय नरेश काशीपुत्र भागभद्र शुंग-वंश का पाँचवाँ अथवा नवाँ राजा था।

उपर्युक्त स्तम्भ-लेख से प्रतीत होता है कि तक्षशिला ऐण्टियाल्किडस की राजधानी थी और विदिशा के भारतीय नरेश के साथ उसका मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध था। इस समय तक यूनानी भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आ चुके थे। विदिशा में हेलिओडोरस ने जो गरुणध्वज -स्तम्भ खड़ा किया है, वह उसके भागवत-धर्म की सूचना देता है। यही नहीं, इस स्तम्भ-लेख में वह स्वयं अपने को भागवत कहता है।

ऐण्टियाल्किडस एक शक्तिशाली नरेश था। उसका तीनों यूनानी प्रदेशों—पेरोपेनिसेडाइ, पश्चिमी गान्धार और पूर्वी गान्धार पर शासन था। इन तीनों के शासन-केन्द्र क्रमशः कपिशा, पुष्कलावती और तक्षशिला थे। उसने तीनों प्रादेशिक शैलियों की मुद्रायें चलाईं थीं।

मुद्राओं से लिसिअस नाम के एक यूनानी राजा का पता चला है। इसकी कुछ मुद्रायें स्वतन्त्ररूप से निर्मित की गई थीं और कुछ सम्मिलितरूप से। स्वतन्त्ररूप से निर्मित मुद्राओं पर या तो हेरक्लीज का चित्र है जो राजमुकुट पहन रहा है या स्वयं लिसिअस elephant-scalp पहने प्रदर्शित किया गया है। ये दोनों ही मुद्राचित्र डेमेट्रिअस के है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि लिसिअस उसी का वंशज था। इस मत की पुष्टि इस बात से भी होती है कि लिसिअस ने डेमेट्रिअस की ही उपाधि 'अजेय' धारण की।[1] लिसिअस की सम्मिलित मुद्राओं पर उसका तथा ऐण्टिआल्किडस दोनों का चित्र तथा नाम है। इस आधार पर टार्न महोदय का मत है कि कदाचित् शक आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा करने के लिए यूथीडेमिस और यूक्रेटाइडीज के वंशों के दोनों प्रतिनिधियों ने थोड़े समय के लिए अपने भेद-भावों को भुला दिया और परस्पर मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लिया। टार्न महोदय का कथन है कि इस हृदय-परिवर्तन को सूचित करने के लिए ही कुछ मुद्राओं में ऐण्टियाल्किडस यूथीडेमिस वंश की Kausia पहने है और लिसिअस यूक्रेटाइडीज-वंश का शिरस्त्राण पहने है। ऐण्टियाल्किडस की एक अन्य मुद्रा पर हस्ति-देवता का एक जलूस प्रदर्शित किया गया है। टार्न महोदय का अनुमान है कि यह जलूस उसी मैत्री-सन्धि के समय हुए उत्सव को प्रदर्शित करता है। कदाचित् दोनों नरेश सहकारियों के रूप में शासन करते थे।

यूथीडेमिड वंशावली में लिसिअस को कहाँ रखा जाय ? इसका उत्तर देना बड़ा कठिन है। परन्तु यदि टार्न महोदय के अनुमान को स्वीकार कर लिया जाय तो वह डेमेट्रिअस का पौत्र था। परन्तु निश्चित प्रमाणों के अभाव में यह मत सन्दिग्ध ही है।

ऐण्टियाल्किडस ही अन्तिम यूनानी राजा था जिसने पेरोपेनिसेडाइ, पश्चिमी गान्धार और पूर्वी गान्धार के सम्मिलित प्रदेशों पर शासन किया। उसके पश्चात् यह प्रादेशिक इकाई भंग हो गई और तीनों प्रदेश पृथक् हो गए तथा तीनों में पृथक्

१ इसके विरुद्ध रैप्सन महोदय का मत गई थी कि उन प्रदेशों में आने पर यूक्रे-
है कि मुद्राओं की चित्र-समता और टाइडीज के वंशजों ने भी उनका अनु-
उपाधि-समता से ही यह नहीं कहा जा करण किया। अतः सम्भव है कि लिसि-
था। डेमेट्रिअस की मुद्राएँ कुछ प्रदेशों अस यूक्रेटाइडीज का वंशज रहा हो।
में इतनी प्रचलित और लोकप्रिय हो

पृथक् राजाओं ने राज्य किया। इस राजनीतिक विघटन ने यूनानी शासन की अवनति को द्रुततर कर दिया।

मुद्राओं से प्रतीत होता है कि ऐण्टियाल्किडस के पश्चात् पाँच यूनानी राजाओं—डिओमेडीज, एपैण्डर फिलाक्जेनस, प्यूकोलाओज और आर्टेमिडोरस—ने पश्चिमी गान्धार में राज्य किया। इनकी सत्ता का केन्द्र पुष्कलावती था। इनके लघु शासन काल को देखते हुए यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इनमें से कुछ पश्चिमी गान्धार के भिन्न-भिन्न जिलों पर सामन्तों के रूप में एक ही समय में शासन कर रहे थे। चूँकि सब की मुद्रायें पुष्कलावती में ही निर्मित हुई थीं अतः यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि ये सब समकालीन स्वतन्त्र शासक थे। शीघ्र ही इस प्रदेश के यूनानी राज्य का अन्त कर दिया।

पूर्वी गान्धार में ऐण्टियाल्किडस के पश्चात् आर्केबिअस शासक हुआ। काबुल भाण्ड में उसकी ३० मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उसके पश्चात् यहाँ भी यूनानी शासन का अन्त हो गया।

कुछ मुद्राओं से ज्ञात होता है कि कपिशा में टेलिफस नामक एक राजा ने थोड़े समय तक राज्य किया। यह राजा कौन था, कहाँ से आया था, इन प्रश्नों का उत्तर देना बड़ा कठिन है। इसकी मुद्राओं पर न यूनानी चित्र हैं और न यूनानी लेख तथा विरुद। इससे प्रतीत होता है कि वह कदाचित् यूनानी न था वरन् कोई बहिर्गामी था जिसने अशान्तिपूर्ण परिस्थिति से लाभ उठा कर कपिशा में अपना राज्य स्थापित कर लिया था। परन्तु कुछ विद्वान् उसे यूनानी राजा मानते हैं।

परन्तु पेरोपेनिसेडाइ में यूनानियों का अन्त न हुआ। अमिण्टाज नामक एक यूनानी ने एलेग्जेण्ड्रिया में शक-राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया। वह सफल हुआ और उसने वहाँ अपना शासन स्थापित किया। एलेग्जेण्ड्रिया में अमिण्टाज की मुद्राएँ मिली हैं जिन पर कपिशा-शैली के अनुरूप सिंहासनासीन जिअस का चित्र है। टार्न महोदय का अनुमान है कि कदाचित् वह ऐण्टिआल्किडस का वंशज था। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि उसने पेरोपेनिसेडाइ में यूनानी राज्य को पुनः प्रतिष्ठित किया।

अमिण्टाज के पश्चात् उसका पुत्र (?) हरम्यूज लगभग ५० ई० पू० राजा हुआ ४८ ई० पूर्व तक उसने सम्पूर्ण पेरोपेनिसेडाइ को अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार उसने यूनानियों के बिलुप्त गौरव को अल्पकाल के लिए पुनः प्रतिष्ठित किया। यह अन्तिम यूनानी नरेश था। उसकी कुछ मुद्राओं पर कुषाण-नरेश कुजुल कैडफिसेज का भी नाम मिलता है। कालान्तर में कुजुल कैडफिसेज ने अपनी स्वतन्त्र मुद्राओं का भी निर्माण किया। इससे कुछ विद्वानों का निष्कर्ष था कि भारतवर्ष के अन्तिम यूनानी नरेश हरम्यूज को हरा कर यूनानी शासन का अन्त करने वाला व्यक्ति कुजुल कैडफिसेज ही था। परन्तु यह निष्कर्ष न्यायसंगत नहीं है। कुछ विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। वे कहते कि चीनी इतिहासकारों का कथन है कि कुजुल कैडफिसेज ने यूनानियों को नहीं वरन् पह्लवों को हरा कर राज्य स्थापित किया था। टार्न महोदय का कथन है कि वह पह्लवों ने ही यूनानियों का अन्तिम विनाश किया था। पहले उन्होंने कान्धार और सीस्तान पर अपना अधिकार जमाया और फिर स्पैलिरेसेज की अध्यक्षता में हरम्यूज से सम्पूर्ण पेरोपेनिसेडाइ छीन लिया। इस प्रकार ३० ई० पू० के लगभग भारतवर्ष में यूनानी शासन का अन्त हो गया।

कालान्तर में कुषाण-शक्ति का उदय हुआ। इस जाति के नरेश कुजुल कैड्फिसेज

ने पह्लवों को हराकर परोपेनिसेडाइ पर अपना अधिकार जमाया। इस प्रदेश में यूनानी शासन बहुत दिनों तक रहा था। अत: यहाँ यूनानियों की सख्या भी अधिक थी। अत: जनमत को अपने पक्ष में करने के लिए कुजुल कैड्फिसेज ने ऐसी मुद्राओं का प्रसार किया जिनमें उसके नाम के साथ विगत यूनानी नरेश हरम्यूज का भी नाम था। वास्तव में ये मुद्रायें 'प्रचार-मुद्राएँ' (Propaganda Coins) थी। इनके पीछे एक चाल थी। कुजुल कैड्फिसेज जनता को यह दिखाना चाहता था कि यूनानी हरम्यूज वास्तविक उत्तराधिकारी वही था। पहलवो तो वहिर्गामी आततायी थे जिन्होंने बलात् यूनानियों के ऊपर अपना शासन आरोपित किया था। इन आततायी पह्लवों को पराजित करके कुजुल कैड्फिसेज ने यूननियों का उद्धार कराया था। इस प्रकार के प्रचार के द्वारा वह यूनानियों की सहानुभूति चाहता था। अत. इन विद्वानों का निष्कर्ष यह है कि भारत में यूनानी शासकों के उत्तराधिकारी पह्लवी थे और पह्लवों के कुषाण। परन्तु इस विषय में निर्विवादरूप से कुछ भी कहा जा सकता।

भारतवर्ष पर यूनानियों का प्रभाव

भारतवर्ष पर यूनानियों के प्रभाव को निश्चित करने के लिए हम इस प्रश्न को तीन शीर्षकों में बाँटेंगे और देखेंगे कि प्रत्येक शीर्षक के अन्तर्गत भारतीयो और यूनानियों का सम्पर्क तथा सम्बन्ध एक-दूसरे को किस सीमा तक प्रभावित कर सका था।

(१) **सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व भारत-यूनान का सम्बन्ध**—सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व इन दोनों देशों में कोई सम्बन्ध -सम्पर्क था, इस बिषय पर बिद्वानों में मतभेद है। कुछ बिद्वानो का कथन है कि सिकन्दर के पूर्व भारतवर्ष और यूनान का प्रत्यक्षरूप से कोई सम्पर्क न था। भारतीय अधिकांशत बेबिलोन अथवा लाल सागर तक ही व्यापार के लिए जाते थे और वहाँ से उसकी सामग्री अन्य माध्यमों के द्वारा आगे के प्रदेशों में पहुँचाई जाती थी।

परन्तु डा० भाण्डारकर महोदय का मत है कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व ही भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम मे यूनानियो का एक उपनिवेश था और इसी के द्वारा दोनों देशों की जातियों में सम्पर्क स्थापित हुआ था।

पाणिनि की अष्टाध्यायी मे यूनानियों का उल्लेख है। इससे भी प्रकट होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व दोनों जातियाँ एक दूसरे के सम्पर्क मे आ चुकी थी। यूनान में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम पाइथागोरस ने किया था। राथ महोदय का मत है कि यह सिद्धान्त भारतवर्ष मे ऋग्वैदिक काल से ही प्रचलित था। उपनिषद् -काल में तो यह सिद्धान्त निश्चितरूप से भारतवर्ष मे प्रतिष्ठित हो चुका था। इस आधार पर कुछ विद्वान् यह मानते है कि पाइथोगोरस ने यह सिद्धान्त भारतीयों से ग्रहण किया था। अत. सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व ही दोनों जातियों का सम्पर्क स्थापित हो चुका था।

यही नही, कुछ विद्वान् पाइथागोरस के मांस-भक्षण-निषेध के सिद्धान्त पर भारतीय बौद्ध धर्म और रेखागणित के उसके साध्य (Pythagorus Theorem) पर भारतीय शुल्वसूत्र का प्रभाव देखते हैं। कुछ ने यूनानी दार्शनिक प्लेटो के अनेक सिद्धान्तों पर भारतीय सांख्य दर्शन की छाप देखी है और इन आधारों पर सिकन्दर

के पूर्व भारतीयों तथा यूनानियो का सम्पर्क सिद्ध करने की चेष्टा की है। परन्तु यह स्वीकार करना पडेगा कि उपर्युक्त मतो में कोई भी मत असन्दिग्ध नही है।

(२) **सिकन्दर के आक्रमण के समय**—इस समय भारतीय और यूनानी निश्चित-रूप से एक-दूसरे के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आए। सम्भव था कि यदि सिकन्दर पजाब के आगे बढता अथवा पंजाब-सिन्ध की विजय के पश्चात् वह अधिक समय तक जीवित रहता तो इस आक्रमण का प्रभाव कही अधिक पडता। परन्तु सयोगवश उसका अभि-यान भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्रदेश तक ही सीमित रहा। पुन. वह कुल मिलाकर केवल १९ मास ही भारतवर्ष में रहा। इस अल्पकाल मे भी वह तथा उसके सहयोगी यूनानी निरन्तर युद्धो मे लगे रहे। परिणामत प्रत्यक्ष सम्पर्क होने के पश्चात् भी दोनो जातियों का किसी बडे पैमाने पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान न हो सका। भारतवासी शीघ्र ही इस आक्रमणको भूल गए। अंग्रेजी कवि मेथ्यू आर्नाल्ड ने ठीक ही कहा है —

'The East bowed before the blast
In patient deep disdain
She let the legions thunder past
And plunged in thought again'

परन्तु फिर भी इतनी बडी ऐतिहासिक घटना पूर्णत. निष्प्रभाव न हो सकती थी। कुछ क्षेत्रो में सिकन्दर के आक्रमण ने अवश्य ही अपने प्रभाव दिखाए। इनका हम पीछे उल्लेख कर चुके है।

(३) **ई० पू० दूसरी शताब्दी का यूनानी आक्रमण**—इस आक्रमण के परिणामस्वरूप भारतवर्ष के एक बडे भाग पर यूनानियों का राज्य स्थापित हो गया था। इस बार यूनानी लगभग १५० वर्षो तक भारतवर्ष के शासक रहे। अत स्पष्ट है कि इस काल में उनका और भारतीयों का घनिष्ट सम्पर्क-सम्बन्ध स्थापित हो गया था जिसने दोनो जातियो के बीच महत्वपूर्ण सास्कृतिक आदान-प्रदान उत्पन्न किया। हम भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में इस आदान-प्रदान का अध्ययन करेंगे।

साहित्य—टार्न महोदय का मत है कि भारतीयों और यूनानियों ने एक-दूसरे की भाषा के बहुसख्यक शब्द ग्रहण कर लिए। भारतीयो ने यूनानियों से ही सम्भवत· कलम, पुस्तक, सुरग (खान), केन्द्र, कोण, कम्पन (खेमा) होरा (घण्टा) आदि शब्द ग्रहण किए। इसी प्रकार यूनानियो ने भारतीयो से मर्कट, वैदूय, शृंगवेर, पिप्पसि, कर्पास, शर्करा आदि शब्द लिए। इस विद्वान् के अनुसार भारतीयों ने सम्भवत. यूनानी भाषा भी सीख ली थी और सम्भवत मिलिन्दपन्हो और युगपुराण के लेखक यूनानी भाषा जानते थे। इसके निम्नलिखित तर्क दिये गए है—

(१) मिलिन्दपन्हो वार्तालाप (dialogue) की शैली मे है। प्लेटो की 'रिपब्लिक' भी इसी शैली में है। सम्भवत मिलिन्दपन्हो के लेखक ने यह शैली यूनानी साहित्य से ग्रहण की।

(२) युगपुराण मे यूनानी आक्रमणका वर्णन है। कदाचित् यूनानी आक्रमण का वर्णन किसी यूनानी पुस्तक मे किया गया होगा। उसी ग्रन्थ को पढ़ कर युगपुराण के रचयिता ने अपने ग्रन्थ में यूनानी आक्रमण का वर्णन किया था।

परन्तु ये दोनो मत नितान्त असगत है। वार्तालाप की शैली भारतवर्ष मे

ऋग्वेद-काल से प्रचलित थो। उसके प्रयोग के लिए भारतीयों को प्लेटो की 'रिपब्लिक' पढ़ने की आवश्यकता न थी। पुनः यह कथन कि युग-पुराण के यूनानी आक्रमण का वर्णन किसी यूनानी ग्रन्थ पर आधारित है, नितान्त कल्पनाजन्य है।

जैकोबी महोदय ने यह मत प्रस्तुत किया है कि भारतीयों ने 'दोहा' यूनानियों से सीखा। यह यूनानियों के Hexameter के आधार पर बना। तर्क यह है कि दोहा सर्वप्रथम अपभ्रंश भाषा में मिलता है। अपभ्रंश भाषा सर्वप्रथम आभीरों की भाषा थी। आभीर मीनेण्डर के राज्य में अबीरिया के निवासी थे। परन्तु कीथ महोदय ने इस मत का खण्डन किया और कहा है कि दोहा मीनेण्डर के आगमन के पूर्व ही भारतवर्ष में प्रचलित था।

वेबर महोदय का मत है कि संस्कृत नाटकों का उदय यूनानी नाटकों से हुआ। यह मत दोनों भाषाओं के निम्नलिखित साम्य पर निर्भर है—

(१) यूनानी नाटकों में Parasite होता है, उसी प्रकार संस्कृत नाटकों में विदूषक।

(२) यूनानी नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत रंगमच पर एक समय ५ पात्रों से अधिक नहीं आते। यही नियम संस्कृत नाट्यशास्त्र में है।

(३) यूनानी नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत रंगमच पर मृत्यु, अग्निकाण्ड आदि के दृश्य दिखाना निषिद्ध था। यही बात भारतीय रंगमंच के लिए भी थी।

(४) भारतीय रंगमच पर यवनिका का प्रयोग यूनान से आया।

परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि ऊपरी साम्य के साथ-साथ भारतीय और यूनानी नाटकों में विभिन्नता भी है—

(१) यूनानी नाटक प्रधानत गद्य में है, जबकि भारतीय नाटकों में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग किया गया है।

(२) यूनानी नाटक मूलत दुःखान्त होते थे, परन्तु भारतीय नाटक अन्तत. सुखान्त होते थे।

(३) यूनानी नाटकों में तीनों सन्धियों (Unities of Time, Place and Action) का प्रयोग मिलता है, परन्तु भारतीय नाटकों में इनका पालन नहीं हुआ है।

इन विरोधों के होते हुए हम भारतीय नाटक को यूनानी नाटक की अनुकृति (नकल) नहीं मान सकते।

प्लूटार्क का कथन है कि सूसा नगर में यूरीपाइडीज और साफोक्लीज नामक यूनानी नाटककारों के नाटक खेले जाते थे। इस पर कुछ विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि इस प्रकार के यूनानी नाटकों का प्रदर्शन भारत में भी होता था।

मार्शल महोदय ने पेशावर में एक भग्न पात्र पाया था। इस विद्वान् का मत है कि इस पर साफोक्लीज के एक नाटक का दृश्य है।

ब्लाख महोदय ने दक्षिण भारत के एक गुहा-द्वार पर किसी भवन के ध्वंसावशेष पाये। कुछ विद्वानों का मत है कि यह भवन एक नाट्यशाला था जहाँ सम्भवतः यूनानी नाटक खेले जाते थे।

परन्तु ये सारे मत सन्दिग्ध हैं। दो बातें ऐसी हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतवासी यूनानी भाषा न जानते थे। अतः उनके यूनानी नाटकों के देखने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(१) भारतवर्ष के यूनानी शासकों की मुद्राओं पर दो लिपियों का प्रयोग किया गया है, खरोष्ठी और यूनानी का। यदि भारतवासी यूनानी समझते होते तो फिर मुद्राओं पर एकमात्र यूनानी लिपि का ही प्रयोग होता। भारतीय लिपि खरोष्ठी के प्रयोग की आवश्यकता न पड़ती।

(२) अपने १५० वर्ष के शासन-काल में यूनानियों ने एक भी शिला-लेख ऐसा न खुदवाया जिस पर यूनानी भाषा में लेख हो। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनकी भारतीय प्रजा यूनानी न समझती थी।

दूसरी शताब्दी में सन्त क्रिस्तोम का कथन था कि भारत के निवासी होमर के काव्य गाते हैं और उन्होंने अपनी भाषा में उनका अनुवाद कर लिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय महाकाव्य रामायण और महाभारत के कथानक कुछ अंशों में होमर के महाकाव्यों इलियड और ओडेसी के कथानकों से मिलते-जुलते हैं। परन्तु इस ऊपरी समता को देख कर यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि भारतीय महाकाव्य होमर के महाकाव्यों के अनुवाद या अनुकृति हैं। मिस्र के सिकन्दरिया नगर में भारतीय और यूनानी दोनों रहते थे। वहीं यूनानियों ने भारतीयों से उनके महाकाव्यों के कथानक सुने होंगे और कुछ समता को देख कर उन्होंने यह अनुमान कर लिया होगा कि भारतीयो ने अपनी भाषा में उनके महाकाव्यों के अनुवाद कर लिए हैं।

ज्योतिष—इस क्षेत्र मे भारतीयों के ऊपर यूनानियों का प्रभाव निर्विवाद है। *गार्गी संहिता का कथन है कि यद्यपि यवन म्लेच्छ हैं तथापि ज्योतिष के प्रकाण्ड ज्ञाता होने के कारण वे ऋषियों की भांति पूज्य हैं।*[1] भारतीय ज्योतिष-शास्त्र में व्यवहृत अनेक शब्द यूनानी है, यथा केन्द्र, लिप्त, हीरा, इत्यादि। भारतवर्ष की मेष, वृषभ, आदि राशियाँ यूनानी नामों के रूपान्तर प्रतीत होती हैं। भारतवर्ष के ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तों में दो के नामों—रोमक सिद्धान्त और पौलिश सिद्धान्त—से ही प्रकट होता है कि वे यूनानियों से ग्रहण किए गए हैं।

चिकित्सा-शास्त्र—वोगेल आदि विद्वानो का मत है कि चिकित्सा-शास्त्र में भी भारतवर्ष यूनानियों का ऋणी है। अपने मत की पुष्टि में ये विद्वान यह कहते हैं कि चरक ने भ्रूण के आधार के विषय मे जो नियम रक्खे थे वे यूनानी चिकित्सा-शास्त्री हिपोक्रेटीज के नियमों से बहुत-कुछ मिलते हैं। परन्तु यह निष्कर्ष नितान्त सन्दिग्ध है। यह समता आकस्मिक भी हो सकती है।

कला—कला में यूनानी प्रभाव दृष्टिगत होता है। दुर्भाग्य से उस समय की वास्तुकला के उदाहरण आज अधिक संख्या मे उपलब्ध नहीं होते। तक्षशिला में प्राप्त एक मन्दिर तथा कुछ अन्य भवनों पर यूनानी वास्तुकला का प्रभाव माना जा सकता है। वास्तुकला की अपेक्षा स्थापत्य-कला के क्षेत्र में यूनानी प्रभाव अधिक स्पष्ट है। इस प्रभाव के अन्तर्गत भारतुवर्ष में जिस कला का उदय हुआ वह गान्धार-कला कहलाती है। कभी-कभी इसे इण्डो-यूनानी कला भी कहते है। इसमें विषय तो भारतीय

१ म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैववद् द्विजः।

हैं परन्तु शैली यूनानी है। इस कला का विशेष अध्ययन हम कनिष्क के अध्याय में करेंगे।

मुद्रा—मुद्रा-निर्माण में भी भारतवासियों ने यूनानियों से बहुत-कुछ सीखा। यूनानियों के सम्पर्क में आने के पूर्व भारतीय-मुद्रायें बेडौल और लेख-विहीन होती थीं। परन्तु यूनानी प्रभाव के अन्तर्गत वे सुडौल, कलात्मक और अभिलेख-युक्त होने लगीं। यूनानी शब्द द्रम्य भी भारतीय भाषा में ग्रहण कर लिया गया।

यूनानियों का धर्म-परिवर्तन और भारतीयकरण

परन्तु भारतीय संस्कृति के प्रबल प्रभाव ने शीघ्र ही विजेता यूनानियों को अपने भीतर निमज्जित कर लिया। अनेक यूनानी भारतीय धर्मों को अपना कर पूर्णत भारतीय बन गए। मीनेण्डर ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। इसके अतिरिक्त हम बेसनगर अभिलेख में हेलिओडोरस का नाम पाते हैं जो भागवत हो गया था। स्वात में प्राप्त एक कलश-लेख से प्रकट होता है कि थिओडेरस नामक एक अन्य यूनानी बौद्ध हो गया था।

२७

शक और पह्लव

साधन—ई० पू० प्रथम शताब्दी मे उत्तर-पश्चिमी भारत में यूनानी राज्य का अन्त हो गया और उसके स्थान पर शक नामक एक अन्य विदेशी जाति ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

अनेकानेक भारतीय ग्रन्थों में शकों का उल्लेख मिलता है। रामायण और महाभारत दोनों मे यवनों और शकों का उल्लेख मिलता है। कात्यायन और पतंजलि ने भी शक जाति का नाम लिया है। मनु भी शकों से परिचित हैं। आन्ध्रों के पतन के पश्चात् पुराणों का कथन है कि बर्बर जातियाँ पृथ्वी पर राज्य करेंगी और इन जातियों मे वे शक-मुरुण्ड का नाम लेते हैं। गार्गी संहिता में यवन-आक्रमण के पश्चात् शकों के आक्रमण और उनके मथुरा-प्रदेश पर आधिपत्य का वर्णन मिलता है। कालान्तर मे देवीचन्द्र गुप्तम्, हर्षचरित और काव्य-मीमासा नामक ग्रन्थ भी शकों का उल्लेख करते हैं।

ये सब सस्कृत ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त प्राकृत ग्रन्थों मे भी शकों का वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ, जैन प्राकृत ग्रन्थ कालकाचार्य-कथानक का कथन है कि शक-नरेश 'शाहि' कहलाते थे। जिनसेन ने अपने ग्रन्थ हरिवश म लिखा है कि शक अपने आधे शीश को ही मुडवाते थे। यह लेखक शक-शासक नववाहन अथवा नहपान का भी उल्लेख करता है।

बौद्ध साहित्य में भी यत्र-तत्र शकों का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, मिलिन्द-पन्हो में शक-जाति का उल्लेख है। समन्तपासादिका में मुद्राओं के साथ रुद्रदामन् का उल्लेख मिलता है। सम्भवत. यहाँ शक-नरेश रुद्रदामन का परिचय मिलता है।

भारतीय साहित्य के अतिरिक्त हेरोडोरस, स्ट्रैबो, जस्टिन, पेरिप्लस के लेखक, टालमी, इसिडौर तथा चीनी लेखकों की रचनायें भी शक-इतिहास पर प्रचुर प्रकाश डालती हैं।

शक-इतिहास के निर्माण मे पालसीक एव भारतीय अभिलेखों से बड़ी सहायता मिली है। ये अभिलेख संख्या म इतने अधिक हैं कि इनका यहाँ एक स्थान पर संग्रह करना समीचीन नही है।

मुद्राओं का महत्व भी कुछ कम नही है। पश्चिमी भारत में रुद्रदामन प्रथम के पश्चात् जितने भी शक-क्षत्रप हुए उनके सबके नाम तथा शासन-काल हम एकमात्र मुद्राओं से ही विदित होते हैं। तक्षशिला के शक-नरेशों के उत्तराधिकार-क्रम का

अनुमान भी एकमात्र मुद्राओ के आधार पर ही किया जाता है। यदि मुद्रायें न होती तो भूमक ऐसे महत्वपूर्ण शक-नरेशो का नाम तक अज्ञात रहता।

शकों का प्रस्थान––चीनी ग्रन्थों शी-की और सीन-हान-शू से प्रकट होता है कि मंगोलिया के समीप यू-ची नामक एक जाति रहती थी। इसी के पडोस में रहनेवाली एक अन्य जाति हूँग-नू ने लगभग १७६-७४ ई० पू० इस पर आक्रमण कर दिया और इसके राजा को मार डाला। परास्त होने पर यू-ची जाति नवीन प्रदेश की खोज में पश्चिम की ओर चल पड़ी। पश्चिमी प्रदेश मे जैग्जार्टीज के समीप रहने वाली शक नामक एक अन्य जाति पर इसने आक्रमण किया और उसके प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। चीनी लेखो में इस शक जाति के लिए सई (Sai) नाम का प्रयोग किया गया है। परास्त होने पर यह शक जाति भी नवीन प्रदेशो की खोज मे दक्षिण की ओर चली। इसकी कुछ शाखायें तो यत्र-तत्र बिखर गई और कुछ भारत-वर्ष के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश में प्रविष्ट हुई।

कि-पिन––चीनी लेखों से प्रकट होता है कि दक्षिण दिशा मे प्रस्थान करते हुए शक कि-पिन मे आये और उन्होने उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। कि-पिन के समीकरण के विषय में विद्वानों में बडा मतभेद रहा है। चीनी लेखो से एकमात्र इतना ही प्रकट होता है कि कि-पिन के उत्तर-पश्चिम मे ता-हिया (बैक्ट्रिया) था और दक्षिण-पश्चिम मे वु-इ-शान-ली (अराकोशिया)। स्टेन कोनोव और रायचौधरी का मत है कि इस भौगोलिक स्थिति से प्रकट होता है कि कि-पिन कापिश-प्रदेश था। परन्तु इस समीकरण को ग्रहण करने मे कुछ कठिनाई होती है। चीनी लेखकों का कथन है कि किपिन 'समतल और उष्ण' था। परन्तु ह्वेन-सांग का कथन है कि कापिश 'शीतप्रधान और झंझाप्रधान' था। इसके अतिरिक्त कापिश पर्वतीय होने के कारण समतल भी नही हो सकता। कर्लप्राथ और टार्न ने कि-पिन का समीकरण काबुल के साथ किया है। रैप्सन का कथन है कि कि-पिन काबुल नही हो सकता क्योंकि काबुल घाटी पर उस समय भी यूनानियो का आधित्य था।[1] यही नही, तत्कालीन चीनी लेखों में काबुल के लिए काओ-फू नाम मिलता है, कि-पिन नही। ऐसी अवस्था में कुछ विद्वानो के मतानुसार कि-पिन से काश्मीर और पजाब का समीपस्थ प्रदेश समझना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। परन्तु यह मत भी निर्विवाद नही है।

मार्ग––चीनी ग्रन्थ हान-शू से प्रकट होता है कि अपने मूल निवास-स्थान पर छोड कर कि-पिन जाते समय शक हीक-टू (H'ien-tu) से हो कर गए थे। विली ने हीन-टू को हिन्दू-कुश माना है। फाह्यान के वर्णन से प्रतीत होता है कि हीन-टू (Hangig-gorge) स्कर्दो के पश्चिम में सिन्धु नदी पर स्थित था।

परन्तु कुछ विद्वानो का मत है कि शक भारतवर्ष मे उत्तरी मार्ग से न आ कर दक्षिणी मार्ग से आये थे। उदाहरणार्थ टामस महोदय का कथन है कि शक न तो अफगानिस्तान से आये और न काश्मीर से, वरन् वे सिन्ध और सिन्ध नदी की घाटी से होकर आये थे।[2] इस दक्षिणी मार्ग का अनुसरण करने मे वे पूर्वी ईरान से होकर ही आये होगे।

निस्सन्देह दक्षिणी मार्ग के पक्ष मे कुछ साक्ष्य हैं––

(१) मथुरा लायन कैपिटल अभिलेख (Mathura Lion Capital-Inscription) मे 'सर्वस सकस्तनस पुयए' शब्द मिलते हैं। कनिघम और

१ C. H. I. P. 563 २ J. R. A. S. 1906 p. 216

ब्यूलर के मतानुसार इसका अर्थ है 'सम्पूर्ण शकस्थान के पुण्य के लिए'। इससे अनुमान होता है कि शक सर्वप्रथम शकस्थान में ही आये थे। शकस्थान ही भारतवर्ष में उनका आदि निवास-स्थान था और यहीं से वे अन्यत्र गए थे, परन्तु भारतवर्ष के अन्यान्य प्रदेशों में बस जाने के पश्चात् भी वे अपने आदि निवास-स्थान (शकस्थान) को भूले न थे।

(२) अनेक शक क्षत्रपों के काम के साथ 'दामन्' जुड़ा हुआ मिलता है, यथा जयदामन्, जीवदामन्, रुद्रदामन् आदि। स्टेन कोनोव का मत है कि यह 'दामन्' शब्द ईरानी 'दमन (स्थान, उत्पत्ति) से निकला है। अतः शक नामों में ईरानी प्रभाव परिलक्षित होता है। यदि शक ईरान से न हो कर काश्मीर से होकर आये होते तो फिर यह ईरानी प्रभाव कहा से आता?

(३) कान्हेरी अभिलेख के अनुसार महाक्षत्रप रुद्र की पुत्री कार्दमक वंश की थी। रैप्सन महोदय का मत है कि यह वश नाम ईरान की कार्द्दम नदी से पड़ा था। अतः इससे भी शकों का ईरान के साथ संबंध सिद्ध होता है।

(४) पेरिप्लस के अनुसार सीथिया (सिन्धु-डेल्टा) और मैम्बरस-राज्य की राधानी मिन्नगर थी। इस नगर का नामकरण शकस्थान के 'मिन' नगर से हुआ था। शकस्थान के इस नगर का उल्लेख इसीडोर ने किया है।[1]

इन साक्ष्यों के आधार पर यह अनुमान होता है कि शकों की एक शाखा पूर्वी ईरान से होते हुए दक्षिणी मार्ग से भारतवर्ष में प्रविष्ट हुई थी।

परन्तु यदि हम यह कहें कि समस्त शक दक्षिणी मार्ग से ही आये थे अथवा उन्होंने काठियावाड के उत्तर में भारतवर्ष के किसी भी प्रदेश पर आक्रमण न किया था जैसा कि फ्लीट महोदय का मत था, तो हामारा कथन असंगत होगा क्योंकि—

(१) चीनी लेखों के अनुसार शकों ने कि-पिन पर अधिकार किया था।

(२) मार्कण्डेय पुराण के अनुसार मध्यदेश में शकों की बस्ती थी।

(३) सिन्धु-प्रदेश में शक-मुद्रायें अधिक संख्या में नहीं मिलती।

ऐसी परिस्थिति में यही निष्कर्ष स्वाभाविक प्रतीत होता है कि शकों की एक शाखा उत्तरी मार्ग से आकर कि-पिन में बसी और दूसरी शाखा दक्षिणी मार्ग से आकर पूर्वी ईरान से गुजरती हुई शकस्थान में बसी। इस प्रकार शक-प्रस्थान दो मार्गों से हुआ। उत्तरी मार्ग बैक्ट्रिया से मर्व और एक्बटना होते हुए मेसोपोटामिया जाता था। दक्षिणी मार्ग बैक्ट्रिया से मर्व, हेरात और सीस्तान होते हुए भारतवर्ष को आता था। शकों ने इन्हीं दोनों प्रख्यात मार्गों का पृथक्-पृथक् अनुसरण किया था।

शकों की शाखायें—ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष में आकर बसने वाले शकों की दो शाखायें थी। प्रथम शाखा सई-वैंग (Sai-wang) कहलाती थी। Franke महोदय के मतानुसार वैंग का अर्थ 'राजा' है। अतः सई-वैंग का साधारण अर्थ होता है 'शकों का राजा'। इस प्रकार सई-वैंग से शकों की किसी विशेष शाखा का बोध नहीं होता। परन्तु स्टेन कोनोव का मत इससे विपरीत है। इस विद्वान् के मतानुसार वैंग का अर्थ 'मुरुण्ड' (स्वामी) है। सई-वैंग शकों की वही शाखा थी जिसके अधिपति 'मुरुण्ड' की उपाधि धारण करते थे। इसके विरुद्ध शकों की अन्य शाखायें अन्यान्य उपाधियाँ धारण करती थी। भारतीय साहित्य में भी मुरुण्ड जाति का वर्णन मिलता

1 J. R. A. S. 1915 p. 830.

है। स्टेन कोनोव इसे शक-मुरुण्ड जाति के नाम से पुकारते हैं। शकों की यही शाखा उत्तरी मार्ग से होते हुए कि-पिन में आई थी।

शकों की दूसरी शाखा दक्षिणी मार्ग से आई थी। भारतवर्ष में आने से पूर्व यह पूर्वी ईरान में रही थी। अतः इस पर ईरानी प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा था। सुविधा के लिए हम इस शाखा को ईरानी शक के नाम से पुकार सकते हैं।

कि-पिन में सई-वंग—चीनी लेखों से प्रकट होता है कि कि-पिन के ऊपर शक-मुरुण्ड (Sai-wang) शाखा ने अधिकार कर लिया था। चीनी ग्रन्थ सीन-हान-शू (T'sien han-shu) के अनुसार कि-पिन का शासक वू-ताओ-लाओ क्रूर प्रकृति का मनुष्य था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र शासक हुआ। इसके शासन-काल में चान के गवर्नर वेन-जुँग-कू के शासक के पुत्र यिन-मो-फू के साथ सन्धि कर ली। दोनों की सम्मिलित सेनाओं ने कि-पिन पर आक्रमण किया और उसके शासक को मार डाला। तत्पश्चात् यिन-मो-फू कि-पिन का शासक बना। यह घटना चीनी सम्राट् ह्वान-टी के शासन-काल (ई० पू० ७३-ई० पू० ४८) में घटी थी। इस प्रकार ई० पू० ७३ के लगभग कि-पिन में शक-मुरुण्ड -शासन का अन्त हो गया था।

टार्न महोदय उपर्युक्त चीनी उद्धरण का अन्य अर्थ लगाते है। उसके अनुसार कि-पिन का समीकरण काबुल के साथ और वू-ताओ-लाओका समीकरण स्पैलिरीस के साथ होना चाहिए। पिन-मो-फू को हरम्यूज समझना चाहिए। जुँग-कू का समीकरण यून-क्यू अथवा योणकि (यूनानी नगर) से होना चाहिए। इस प्रकार टार्न महोदय का निष्कर्ष है कि काबुल घाटी में शक-गर्वर के राज्य का अन्त हरम्यूज ने किया था।[1] परन्तु कुछ विद्वानो के मतानुसार उपर्युक्त समीकणो मे कल्पन ही अधिक है। पीछे कहा जा चुका है कि चीनी लेखों में काबुल घाटी के लिए काओ-फू नाम मिलता है, किपिन नही। अत. ये विद्वान् टार्न महोदय के मत को स्वीकार नहीं करते।

उत्तरी भारत में मुरुण्ड—अनेक साक्ष्यो से प्रकट होता है कि भारत के एक विस्तृत प्रदेश पर शक-मुरुण्ड शाखा ईसा की तीसरी शताब्दी तक राज्य करती रही। जैन सिंहासनद्वात्रिंशिका के अनुसार एक मुरुण्डराज कान्यकुब्ज में राज्य करता था। हेमचन्द्र के ग्रन्थ अभिधान चिन्मामणि से प्रकट होता है कि सम्पाक (Laghman) में मुरुण्ड रहते थे। अन्यान्य साक्ष्य पाटलिपुत्र के ऊपर भी मुरुण्ड-जाति के आधिपत्य की सूचना देते हैं। आवश्यक बृहद्वृत्ति के अनुसार पाटलिपुत्र के एक मुरुण्ड राजा ने पुरुष पुर (पेशावर) में अपना एक राजदूत भेजा था जो उस समय बौद्धो का एक प्रबल गढ़ था। इसी प्रकार पादलिप्त-प्रबन्ध का कथन है कि पादलिप्त ने पाटलिपुत्र के मुरुण्ड राजा की भयंकर शिरःपीडा की दवा की थी।

सिल्वन लेवी महोदय ने चीनी साहित्य का एक उद्धरण दिया है जिसके अनुसार वू-वंश (२२०-२७७ ई०) के चीनी सम्राट् के एक पदाधिकारी ने अपने स्वामी को यह सूचना दी थी कि भारतवर्ष में बौद्ध धर्म की प्रधानता है और वहाँ म्यू-लून (Meou-loun) राजा राज्य करता है।[2]

लेवी महोदय ने म्यूलन का समीकरण मुरुण्ड के साथ किया है।

१ Tarn, G. B. I. p. 340 f.

२ Journal of the Greater India Society, 1943, foot note 7.

अन्य विदेशी लेखक भी भारतवर्ष में मुरुण्ड-राज्य के साक्ष्य उपस्थित करते हैं। टालमी के अनुसार 'मुरुण्डाइ' गंगा नदी के पूर्वी तट पर और सरयू (Sarabos) की घाटी में स्थित थे। इस कथन की पुष्टि ओपिएन नामक अन्य लेखक से होती है। वह कहता है कि 'मरुण्डीन' (Maruandien) जाति गंगा के मैदान के निवासी थे।

इन सब उद्धरणों से प्रकट होता है कि शक-मुरुण्डों ने काफी समय तक भारतवर्ष के एक विशाल प्रदेश पर राज्य किया था। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में भी शक-मुरुण्डों का उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट होता है कि वे चौथी शताब्दी में भी भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में विद्यमान थे।

तक्षशिला के शक-शासक

मावेज—तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त वस्तुओं की सतह से मार्शल महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उस प्रदेश का सर्वप्रथम शक-शासक मावेज था। उसकी कुछ मुद्राओं के ऊपर पार्थिया की मुद्राओं का प्रभाव दृष्टिगत होता है। इससे अनुमान होता है कि वह भारतवर्ष में उत्तरी मार्ग से आने वाली शक-मुरुण्ड शाखा का वंशज न था वरन् दक्षिणी मार्ग से आने वाली ईरानी शक शाखा का वंशज था। ईरानी शक शाखा ही पार्थिया के सम्पर्क में आई थी। परन्तु इस मत के विरोध में स्टेन कोनोव का कथन है कि मावेज का नाम मध्य एशियाई प्रतीत होता है।[1] इस आभार पर वह उत्तरी मार्ग से आने वाली शक-मुरुण्ड शाखा का वंशज प्रतीत होता है। यदि ऐसा है तो वह कि-पिन के शक-मुरुण्डो से सम्बन्धित रहा होगा।

किसी समय लोहाइजेन (Lohuizen de Lecuw) नामक विदुषी ने यह मत प्रतिपादित किया था कि[2] एजेज प्रथम की भाति मावेज पार्थियन था, शक नही। परन्तु आज अधिकांश विद्वान दोनों को ही शक मानते हैं।

डा० अल्तेकर का मत—डा० अल्तेकर ने यह मत प्रतिपादित किया था कि मावेज प्रारम्भ में पार्थिया के अधीन एक सामन्त था। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने दो प्रमुख प्रमाण प्रस्तुत किये थे—

(१) मावेज की कुछ मुद्राओं पर एकमात्र 'राजा' की उपाधि मिलती है।

(२) मावेज की कुछ मुद्रायें पार्थिया की मुद्राओं से बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं।

यह सम्भव है कि पार्थिया नरेश मिथ्रडेटस द्वितीय के पश्चात् जब पार्थिया का केन्द्रीय शासन निर्बल पड गया तो उसके कुछ सामन्तों ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी हो।

मावेज की तिथि—मावेज की तिथि के विषय में बड़ा मतभेद है। ह्वाइटहेड महोदय का मत है कि मावेज की कुछ मुद्राएँ (Enthroned Zeus and Elephant type) से मिलती हैं। अतः उन्होंने मावेज को एण्टिआल्किडस के काल के समीप ही रखा है। परन्तु यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि मुद्राओं की समता के आधार पर निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। उदाहरणार्थ, मावेज की मुद्राएँ यूनानी शासक यूक्रेटाइडीज और डेमेट्रिअस की मुद्राओं से भी मिलती है। परन्तु

१ Corpus, XXVI ff.   २ S. P. I. H. 338 f.

फिर भी यह कोई नहीं कहता कि मावेज का काल इन यूनानी शासकों के काल के समीप था।

मावेज का काल-निर्धारण बहुत कुछ तक्षशिला ताम्र-पत्र पर निर्भर करता है इसमें निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं—

(१) महाराज मोग नामक एक शक्तिशाली शासक था।

(२) क्षत्रप लियाक कुसुलक और उसके अधीन उसका पुत्र महादानपति पतिक दोनों महाराज मोग के अधीन थे।

(३) वह ७८ में राज्य कर रहा था।

फ्लीट को छोड़ कर प्राय. समस्त विद्वानों ने महाराज मोग का समीकरण शक नरेश मावेज के साथ किया है।

एक अन्य अभिलेख—मानसेरा अभिलेख में भी लियाक का नाम मिलता है। डाक्टर राय चौधरी का मत है कि तक्षशिला ताम्रपत्र और मानसेरा अभिलेख के दोनों लियाक एक ही व्यक्ति के नाम हैं। मानसेरा अभिलेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कि-पिन के कुछ भाग पर मावेज का अधिकार रहा होगा। परन्तु चीनी लेखों में प्रकट होता कि कम से कम ३२ ई० पू० तक कि-पिन पर पिन-मो-फू का अधिकार था। इससे सिद्ध होता है कि ३२ ई० पू० के पश्चात् ही मावेज का उदय हुआ होगा।

अब रही तक्षशिला ताम्र-पत्र में उल्लिखित ७८ तिथि की बात। विद्वानों मे बड़ा मतमेद है कि यदि तिथि किस सम्वत की है। श्री आर० पी० चन्दा का मत है कि मावेज ने स्वयं अपना एक सम्वत् चलाया था और तक्षशिला ताम्र-पत्र की तिथि मावेज सम्वत में ही है।[१] परन्तु यदि मावेज सवत की स्थापना होती तो इस सम्वत् की अन्य तिथियाँ भी मिलती। परन्तु ऐसा नही है। एकमात्र एक तिथि के लिए एक स्वतन्त्र सम्वत् की कल्पना करना अस्वाभाविक है। Lohuizen-de Leeuw के मतानुसार तक्षशिला ताम्रपत्र की ७८ तिथि सिथियन-यूची-शक सम्वत् की है जिसकी स्थापना १३९ ई० पू० हुई थी।[२] इसी प्रकार रैप्सन इसे पार्थियन सम्वत् की तिथि मानते हैं सिकी स्थापना १५० ई० पू० हुई थी।[३] मार्शल और टार्न महोदय इसे १५५ ई० पू० में स्थापित शक सम्वत् की तिथि मानते हैं।[४]

परन्तु तक्षशिला ताम्रपत्र की तिथि को विक्रम सम्वत् (५८ ई० पू०) की तिथि मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि पुराने खरोष्ठी अभिलेखों की तिथियाँ अधिकाशतः विक्रम सम्वत् में ही हैं।[५]

यदि हम तक्षशिला ताम्रपत्र की तिथि को विक्रम सम्वत् की तिथि मानने तो यह निष्कर्ष निकलता है कि मावेज (७८-५८) = २० ई० में तक्षशिला का शासक था। टार्न महोदय कहते हैं कि यह सम्भव नही है क्योंकि १९ ई० में तक्षशिला मे गाण्डो-फार्नीज राज्य कर रहा था।[६] इसमें कोई सन्देह नही कि गाण्डोफार्नीज पश्चिमोत्तर

१ J. R. A. S. 1920 p. 319
२ S. P. I. H. Ch. II
३ C. H. I, 570
४ Taxila I p. 45, G. B I. p. 484-502
५ A. I. V. p. 127, Begram p. 105-9; J.R.A.S. 1907 p. 162-72
6 G. B I. 494

भारत के किसी प्रदेश में १९ ई० में राज्य कर रहा था। परन्तु यह मानना आवश्यक नहीं है कि वह १९ ई० में तक्षशिला पर भी शासन कर रहा हो। सम्भवतः तक्षशिला उसने कुछ समय बाद जीता था।

अभी तक किए गए हमारे विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि मावेज के शासन का काल प्रारम्भ ३० ई० पू० से पूर्व और उसका अन्त २० ई० के पूर्व नहीं हो सकता था। इस निष्कर्ष की कुछ पुष्टि एक अन्य अभिलेख से भी हो जाती है। यह है मथुरा लायन कैपिटल अभिलेख। इस अभिलेख में महाक्षत्रप पतिक, महाक्षत्रप राजुल और उसके पुत्र क्षत्रप सोडास का उल्लेख मिलता है। विद्वानों का मत है कि तक्षशिला ताम्रपत्र और मथुरा लायन कैपिटल अभिलेख के पतिक एक ही व्यक्ति हैं। पुनः मार्शल महोदय ने मथुरा लायन कैपिटल अभिलेख के सोडास का समीकरण आमोहिनी वोटिव टब्लट (Amohini Votive Tablet) में उल्लिखित सोडास के साथ किया है। इस टैब्लेट की तिथि ७२ है। इसे यदि विक्रम संवत् की तिथि माने तो सोडास का समय (७२-५८) = १४ ई० होगा। सोडास पतिक, लियाक, कुसुलक और मावेज का भी समकालीन हुआ। इस गणना से भी मावेज की तिथि प्रथम शताब्दी के प्रथम चरण में ही पड़ती है।

तक्षशिला ताम्रपत्र की तिथि ७८ है। उसमें लियाक कुशलक क्षत्रप है और उसका पुत्र पतिक उसके अधीन महादानपति है। परन्तु मथुरा लायन कैपिटल अभिलेख की तिथि ७२ है। उसमें पतिक को महाक्षत्रप कहा गया है। अतः यह कैसे सम्भव है कि पतिक पहले अर्थात् (७२—५८) = १४ ई० में महाक्षत्रप हो और बाद को (७८-५८) = २० ई० में अपने पिता के अधीन महादानपति हो जाय। इस विषमता को देखकर कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि ये दोनों तिथियाँ (७८ और ७२) एक सम्वत् (विक्रम सम्वत्) की तिथियाँ नहीं हो सकती।

परन्तु इस आपत्ति में कोई बल नहीं है, क्योंकि मथुरा लायन कैपिटल अभिलेख एक ही समय उत्कीर्ण नहीं हुआ था।[१] इसी से उसमें पूर्वापर्य नहीं है।

मैर अभिलेख में कनिघम महोदय ने 'मोअ' नाम पढ़ा है। यह मोअ मोग अथवा मावेज हो सकता है। इस अभिलेख की तिथि ५८ है। यदि इसे विक्रम संवत् की तिथि माने तो मावेज की सर्वप्रथम तिथि १ ई० पू० हुई। इस गणना से मावेज का शासन-काल १ ई० पू० से २० ई० तक होता है। परन्तु यहाँ यह याद रखना चाहिए कि ये निष्कर्ष पूर्णतः असन्दिग्ध नहीं हैं

मावेज का राज्य-विस्तार—तक्षशिला ताम्र-पत्र से प्रकट होता है कि तक्षशिला प्रदेश मावेज के अधिकार में था। इस ताम्र-पत्र में उसके क्षत्रप लिआक कुसुलक का उल्लेख है जो मावेज की अधीनता में चुक्श (तक्षशिला के समीप आधुनिक चच) पर राज्य करता था। तक्षशिला उस समय पश्चिमी पंजाब एवं गान्धार का केन्द्र था। अतः पश्चिमी पंजाब और गान्धार का पर्याप्त प्रदेश मावेज के अधीन रहा होगा। मानसेरा अभिलेख में भी मावेज के अधीन क्षत्रप लियाक कुसुलक का उल्लेख है। सम्भवतः कि-पिन (काश्मीर) का कुछ भाग भी मावेज के राज्य में सम्मिलित होगा। इस पर पहले शक-मुरुण्डों का अधिकार था और उनके पश्चात् वू-ताओ-लाओ, उसके पुत्र तथा यिन-मो-फू का। मावेज की कुछ मुद्राओं पर कापिश के नरेश टेलिफस की मुद्रा-शैली का प्रभाव है। इस आधार पर टार्न महोदय का मत है कि मावेज ने

१ Ep. Ind. IX, 133.

कापिस पर अधिकार कर लिया था। इसी प्रकार मावेज की कुछ मुद्रायें पुष्कलावती-शैली की है। अत. रैप्सन महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला कि पुष्कलावती भी मावेज के अधीन था। परन्तु एकमात्र मुद्रा-शैली के अनुकरण से किसी स्थान-विशेष पर किसी का अधिकार सिद्ध नहीं होता। कापिश और पुष्कलावती की मुद्रायें तक्षशिला में भी आती होंगी। मावेज ने उन्ही के अनुकरण पर अपनी कुछ मुद्रायें बनवाई होंगी। यदि कापिश और पुष्कलावती पर मावेज का अधिकार होता तो वहाँ उसकी मुद्रायें अवश्य मिलती, परन्तु ऐसा नहीं है।

मथुरा लायन कैपिटल पर स्टेन कोनोव ने मुकि पढा है और उसका समीकरण मोग के साथ किया है। इस आधार पर कुछ विद्वान् मथुरा पर भी मावेज का अधिकार मानते हैं। परन्तु कोनोव का पाठ सन्दिग्ध है। पुन, मथुरा में उस समय एक अन्य शक-वंश राज्य कर रहा था।

टार्न महोदय का कथन है कि मावेज ने मीनेण्डर की एथना एल्किस (Athena Alkis) शैली की मुद्राओं का अनुकरण नहीं किया। इससे प्रकट होता है कि मीनेण्डर के राज्य के सर्वप्रमुख भाग (स्यालकोट-प्रदेश) पर माज का अधिकार न था। परन्तु यह तर्क अनर्गल है। मिलिन्दपन्हो स्यालकोट को मीनेण्डर की राजधानी अवश्य बताता है, परन्तु न तो यह नगर मीनेण्डर के राज्य का प्रमुख केन्द्र था और न यहाँ उसकी कोई टकसाल ही थी। यही कारण है कि स्यालकोट-प्रदेश मे मीनेण्डर की मुद्रायें कम मिलती है। उसकी अधिकाश मुद्रायें काबुल घाटी में ही पाई जाती है।

इस प्रकार मावेज का राज्य कि-पिन (काश्मीर?), पश्चिमी पंजाब और गान्धार के कुछ भाग तक सीमित था।

मावेज एक शक्तिशाली शासक विदित होता है। तक्षपशला ताम्र-पत्र मे उसे 'महाराज' कहा गया है। अपने राज्य मे उसने क्षत्रप नियुक्त कर रक्खे थे जो उसकी अधीनता मे शासन-सचालन करते थे। तक्षशिला ताम्र-पत्र और मथुरा लायन कैपिटल अभिलेख से उसके क्षत्रप लियाक कुसुलक और पतिक का पता चलता है। फ्लीट का मत है कि तक्षशिला ताम्र-पत्र और मथुरा अभिलेख के पतिक दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। परन्तु माशल और स्टेन कोनोव उन्हे एक ही व्यक्ति मानते हैं क्योंकि (१) दोनो के नाम बिलकुल एक हैं (२) दोनों की पदवी (क्षत्रप अथवा महाक्षत्रप) एक है तथा (३) दोनो के धर्म (बौद्ध धर्म) एक हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि मावेज की कुछ मुद्राओं पर पोसीडन (समुद्र-देवी) का चित्र है। इस आधार पर उनका अनुमान है कि मावेज ने किसी सामुद्रिक युद्ध में विजय प्राप्त की होगी।[१] परन्तु अन्य विद्वान् मुद्रा-चित्र को शिव का चित्र मानते हैं।

डेडिअर महोदय का मत था कि मावेज एक नही वरन् दो हुए थे। एक मावेज ने बहुसख्यक मुद्रायें चलाई थी जो अनेक स्थलों मे पाई गई है। उदाहरणार्थ, एकमात्र सिरकप में ही इस मावेज की १०७ मुद्राये मिली हैं। दूसरे मावेज ने कोई भी मुद्रा नही चलाई थी। डेडियर महोदय के अनुसार तक्षशिला ताम्र-पत्र मे उल्लिखित मावेज यही दूसरा व्यक्ति था। परन्तु डेडियर के इस मत को प्राय: सभी विद्वानों ने अस्वीकृत कर दिया है।[२]

१ A. S. I. R. 1928-29, 65; २ J. R. A. S. 1952 p. 88-9. B. M. C 70 no. 15.

एजेज प्रथम—मावेज के पश्चात् तक्षशिला में एजेज का राज्य हुआ। यह एजेज किस जाति का था, इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। एजेज की मुद्रायें वोनोनीज से सम्बन्धित हैं। वोनोनीज का नाम और मुद्रा-शैली पार्थियन है। अत. कुछ विद्वान् वोनोनीज के साथ-साथ एजेज को भी पार्थियन मानते हैं। इन विद्वानों में स्टेन कोनोव प्रमुख हैं। परन्तु अन्य विद्वानों के मतानुसार एजेज के नाम में कोई भी पहलवी प्रभाव विद्यमान नहीं है। अतः वह शक-नरेश था। एजेज को शक मानने वाले विद्वानों में रैप्सन, गाडनर, टार्न, मार्शल, रायचौधरी आदि प्रमुख हैं।

अधिकाश विद्वानो का मत है कि एजेज एक नही, दो हुए थे। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने निम्नलिखित प्रमाण दिए हैं—

(१) एजेज की कुछ मुद्रायें ऊपरी सतह पर मिलती हैं, परन्तु कुछ उनसे अधिक नीची सतह पर। यदि एजेज एक होता तो सम्पूर्ण मुद्रायें साधारणतया एक साथ एक ही सतह पर मिलती। ऐसा प्रतीत होता है कि एक एजेज के कुछ समय पश्चात् दूसरा एजेज उसी प्रदेश का राजा हुआ। भिन्न-भिन्न कालो में होने के कारण दोनो एजेज की मुद्रायें भिन्न-भिन्न सतहों पर मिली है।

(२) एजेज द्वितीय की कुछ मुद्रायें गाण्डोफोर्नीज की मुद्राओ के साथ मिलती है। इससे प्रकट होता है कि गाण्डोफार्नीज एजेज द्वितीय के पश्चात् शासक हुआ। परन्तु मुद्राओ से प्रकट होता है कि एजेज प्रथम के पश्चात् एजिलिसेज शासक हुआ।

(३) अपवर्मन गाण्डोफार्नीज और एजेज दोनों की अधीनता मे गवनर था। यह तभी सम्भव है जब हम दो एजेज मानें।

कुछ मुद्राओं पर एजेज और स्पैलिरिसिस दोनों के नाम मिलते हैं। इस आधार पर स्मिथ, मार्शल आदि विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि प्रथम एजेज मावेज का उत्तराधिकारी नही वरन् स्पैलिरिसिस का उत्तराधिकारी था। ऐसी परिस्थिति में प्रश्न यह होता है कि मावेज को कहाँ रखा जाय। वह एजेज प्रथम के बाद नही रखा जा सकता, क्योंकि मुद्राओं से प्रकट होता है कि एजेज प्रथम के बाद एजलिसेज शासक हुआ था। मावेज एजलिसेज के बाद भी नही रखा जा सकता, क्योकि मुद्रा-साक्ष्य से ही प्रकट होता है कि एजलिसेज के बाद एजेज द्वितीय शासक हुआ था। मावेज को हम एजेज द्वितीय के बाद भी रख सकते। एजेज द्वितीय का शासन लगभग ४४ ई० समाप्त होता है। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, यह तिथि मावेज के लिए काफी दूर पड़ेगी।

ऐसी अवस्था मे मावेज को एजेज प्रथम के पूर्व ही रखना उपयुक्त प्रतीत होता है। अनुमानतः वोनोनीज और मावेज समकालीन थे। जिस समय मावेज पजाब मे राज्य कर रहा था उसी समय वोनोनीज सीस्तान मे। वोनोनीज का उत्तराधिकारी स्पैलिरिसिस हुआ और मावेज का एजेज प्रथम। किसी विशेष कारण से स्पैलिरिसिस और एजेज प्रथम ने अपनी सम्मिलित मुद्रायें चलाईं। सम्भव है कि दोनों सम्बन्धी हों अथवा एकमात्र मित्र।[1]

मार्शल महोदय का मत है कि मावेज की मृत्यु के पश्चात् राजनीतिक क्षेत्र में कोई विशेष शक्तिशाली राजा न रहा। अत. वोनोनीज ने उसका स्थान लिया और 'महाराज' के रूप मे अपनी सत्ता स्थापित की। उसने तक्षशिला पर अपना प्रभुत्व

१ P. H. A. I. p. 440-41.

स्थापित कर लिया और वहाँ स्पलेहोरोज और स्पैलेगैडेमीज को गवनर बनाया।

परन्तु वोनोनीज के उत्थान का सम्बन्ध मावेज की मृत्यु से न था। उससे स्वतन्त्र रूप से सीस्तान में अपनी सत्ता स्थापित की थी। उसका तक्षशिला से कोई सम्बन्ध न था।

एजेज के विषय में रैप्सन महोदय के विचार नितान्त अस्पष्ट हैं। एक स्थान पर वे स्पैलिरिसिस के सहयोगी एजेज को एजेज द्वितीय मानते हैं और उसे स्पैलिरिसिस का पुत्र बताते हैं।[१] परन्तु दूसरे स्थान पर ऐसा प्रतीत होता है कि वे उसी एजेज द्वितीय को एजलिसेज का पुत्र और उत्तराधिकारी मानते हैं।[२]

१३४ तिथि के कलवान अभिलेख और १३६ तिथि को तक्षशिला सिल्वर स्काल लेख में एक अज अथवा अय का उल्लेख मिलता है। परन्तु यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि अज अथवा अय एजेज ही था, क्योंकि अज अअथवा अय के साथ 'महाराज' आदि के समान कोई भी सम्मानसूचक अथवा पदसूचक शब्द नहीं मिलता। पुन., यदि यह एजेज था भी तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह एजेज प्रथम था अथवा एजेज द्वितीय।

इसके अतिरिक्त यह भी निश्चयपूवक नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त लेखो की तिथियाँ १३४ और १३६ किस संवत की हैं। मार्शल महोदय का मत है कि ये तिथियाँ विक्रम सवत की है। रैप्सन महोदय ने तो यहाँ तक कहा है कि ई०पू० ५८ का विक्रम संवत एजेज ने ही चलाया था। परन्तु कोई भी निष्कर्ष असन्दिग्ध नही है।

एजेज प्रथम ने यूनानी शासक हिपोस्ट्रेटस की पुरानी मुद्राओ पर अपना नाम अंकित करके पुन: प्रसारित किया था। इससे प्रकट होता है कि उसने यूनानियों के **पूर्वी पंजाब** पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। वाशल महोदय का मत है कि उसने **यमुना की घाटी** को भी अपने राज्य मे मिला लिया था।[३] एजेज ने मीनेण्डर की 'एथेना एल्किस शैली' की मुद्रायें चलाई। इस आधार पर टान महोदय ने यह अनुमान किया है कि एजेज प्रथम ने मीनेण्डर-राज्य के प्रधान क्षेत्र (**स्यालकोट प्रदेश**) पर अपना अधिकार कर लिया था। परन्तु यह निष्कर्ष अनुपयुक्त है, क्योंकि मीनेण्डर राज्य का प्रधान क्षेत्र काबुल-घाटी में था। अतः 'एथेना एल्किस शैली' की मुद्राओं के प्रचार से यही अनुमान किया जा सकता है कि एजेज प्रथम ने काबुल की घाटी पर अपना अधिकार कर लिया था। वस्तुत. एजेज प्रथम की मुद्रायें इस क्षेत्र मे पाई भी गई हैं। इससे उसके काबुल-घाटी पर आधिपत्य के अनुमान की पुष्टि होती है।

एजिलिसेज—एजेज प्रथम की कुछ मुद्रायें दो कोटियों मे विभक्त की जा सकती हैं :—

(१) प्रथम कोटि की मुद्राओं पर यूनानी में एजेज का नाम है और खरोष्ठी में एजिलिसेज का नाम है।

(२) द्वितीय कोटि की मुद्राओं पर यूनानी में एजिलिसेज नाम है और खरोष्ठी में एजेज का।

१ C. H. I. p. 573-4.
२ C. H. I. p. 572.
३ J. R. A. S. 1947 p. 22

इससे प्रकट होता है कि एक समय एजेज स्वामी था और एजिलिलेज उसके अधीन उसका सहयोगी। परन्तु कालान्तर में एजिलिसेज स्वामी बन गया और एजेज उसके अधीन उसका सहयोगी।

स्मिथ और भण्डारकर महोदय दोनों मुद्राओं के एजेज को एक व्यक्ति नहीं मानते। उनका कथन है कि एजेज दो हुए—एजेज प्रथम और एजेज द्वितीय। पहले एजेज प्रथम शासक था और एजिलिसेज उसका अधीन सहयोगी था। एजेज प्रथम की मृत्यु के पश्चात् एजिलिसेज स्वतन्त्र शासक बन गया और उसने एजेज द्वितीय को अपना अधीन सहयोगी बनाया।

परन्तु ह्वाइटहेड महोदय का मत है कि एजिलिसेज की मुद्रायें कला की दृष्टि से एजेज की मुद्राओं से अधिक सुन्दर हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि एजिलिसेज पहले स्वतन्त्र शासक हुआ और एजेज बाद को। ऐसी दशा में दो एजिलिसेज और एक एजेज की कल्पना की जा सकती है। परन्तु मार्शल का मत है कि खुदाई में सतहों के अध्ययन से स्पष्ट हो गया कि एजेज प्रथम पहले हुआ, फिर एजिलिसेज और फिर एजेज द्वितीय।[1]

हाफमैन और स्टेन कोनोव का मत है कि उपर्युक्त दो कोटियो की मुद्राओ से दो एजेज का कल्पना नही करना चाहिए। वास्तव मे एजेज और एजिलिसेज एक ही व्यक्ति थे। परन्तु इन विद्वानो के मत को अधिकाश विद्वान् स्वीकार नही करते।

एजिलिसेज ने 'सिंहासनासीन जिअस' शैली की मुद्राये निर्मित कराई थी। मार्शल महोदय का मत है कि यह कापिस-शैली थी। अतः उनका मत है कि कापिश प्रदेश निश्चित रूप से एजिलिसेज के अधीन था। वस्तुतः इसे उसका पूर्वगामी एजेज प्रथम ही जीत चुका था। एजिलिसेज की कुछ मुद्राये बलूचिस्तान में मिली हैं। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है। बलूचिस्तान' सके अधीन था। एजिलिसेज की कुछ अन्य मुद्राओं पर हेराक्लीज का चित्र मिलता है। इस प्रकार की मुद्रायें दक्षिणी अफगानिस्तान मे प्रचलित थी। अत कुछ विद्वान् दक्षिणी अफगानिस्तान को भी एजिलिसेज के अधीन मानते हैं। एजिलिसेज का शासन अल्पकालीन था, क्योंकि इसकी केवल ११ मुद्रायें मिली हैं।

एजेज द्वितीय—जैसा कि पीछे कहा गया है, एजिलिसेज के पश्चात् एजेज द्वितीय शासक बना। एजेज की १९२१ मुद्राये प्राप्त हुई हैं। इनमें दोनों एजेज की मुद्रायें सम्मिलित हैं।

मुद्राओ से प्रकट होता है कि अस्पवर्मन पहले एजेज द्वितीय का गवर्नर था, परंतु बाद को वह गाण्डोफार्नीज का गवर्नर बन गया था। अस्पवर्धन का पितामह विजय मित्र था जिसका उल्लेख बियकमित्र के रूप मे शिनकोट अभिले मे हुआ है। वह मीनेण्डर का सामन्त था।

कुछ मुद्रायें ऐसी मिली हैं जिन पर 'मानिगुलस छत्रपस जिहोणिअस' लिखा हुआ है। कुछ विद्वान् मनिगुल और जिहोणिक को एजेज के क्षत्रप मानते ते हैं जो उसकी अधीनता मे पुष्कलावती मे शासन करते थे। परन्तु रैप्सन महोदय का कथन है कि एजेज द्वितीय के पश्चात् चांदी की मुद्रायें असुन्दर होने लगी थीं। चूँकि जिहोणिक की मुद्रायें सुन्दर है अतः जिहोणिक को एजेज प्रथम का क्षत्रप समझना चाहिए।

१ J. R. S. 1914 p. 979 .

तक्षशिला के शकों का पतन—तक्षशिला की शक शाखा का पतन दो व्यक्तियों के उदय के कारण हुआ—

(१) फायोटीज और (२) गाण्डोफार्नीज। फिलास्ट्रेटस का कथन है कि ४३-४४ ई० में जब एपालोनियस तक्षशिला पहुँचा तो उसने वहाँ फायोटीज का राज्य पाया। इसके अतिरिक्त तख्त-ए-बाही अभिलेख से पता चलता है कि १०३ में गाण्डोफार्नीज पश्चिमोत्तर प्रदेश में राज्य कर रहा था। कदाचित् यह तिथि विक्रम संवत् की है। अतः गाण्डोफार्नीज की तिथि (१०३—५८)=४५ ईसवी हुई।

हर्जफेल्ड और टार्न महोदयों का मत है कि फ्रायोटीज किसी व्यक्ति का नाम नहीं है वरन 'अप्रतिहत' का ही विकृत रूप है। यह उपाधि गाण्डोफार्नीज की मुद्राओं पर पाई जाती है। अत. ये दोनों विद्वान् फायोटीज और गाण्डोफार्नीज दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं। परन्तु Lohuigen-de-Lecuw ने इस मत का खंडन किया है।[1] फायोटीज का समीकरण 'अप्रतिहत' के साथ नहीं किया जा सकता। वस्तुतः दोनों दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। नाम से प्रकट होता है कि फायोटीज पार्थियन शासक था।

ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम फायोटीज ने शकों से तक्षशला जीता। कालान्तर में दक्षिणी अफगानिस्तान में गाण्डोफार्नीज का उदय हुआ[2] और शीघ्र ही उसने तक्षशिला पर अधिकार स्थापित कर लिया।

इस प्रकार एजेज प्रथम, एजिलिसेज और एजेज द्वितीय का शासन-काल २० ई० से लेकर ४३ ई० तक रहा होगा। इन तीनों शासकों मे एजिलिसेज का शासन-काल बहुत छोटा था। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उसकी केवल ११ मुद्रायें ही मिली हैं।

क्षत्रप वंश

भारतवर्ष के शक-नरेश पर्याप्तरूप से शक्तिशाली थे। उन्होंने बैसिलिअस बेसिलिअन (Basileus Basileon) (महाराजस राजराजस) और महतस की उपाधियाँ धारण की थी। उनकी अधीनता में अनेक 'क्षत्रप' (गवर्नर) राज्य करते थे। उदाहरणार्थ मावेज के चुक्श (पश्चिमी पंजाब) मे लिआक और पतिक नामक दो क्षत्रप थे। इसी प्रकार शहदौर अभिलेख में उल्लिखित नमिजद अथवा दमिजद सम्भवत एजेज प्रथम अथवा एजिलिसेज का क्षत्रप था। अस्पवर्मन एजेज द्वितीय का क्षत्रप था। पीछे कहा जा चुका है कि मनिगुल और जिहोणिक सम्भवतः एजेज प्रथम अथवा द्वितीय के क्षत्रप थे।

शासन की यह क्षत्रप-प्रणाली पारसीक प्रणाली थी। फारस के बेहिस्तन अभिलेख में 'क्षथ्रपावन' का प्रयोग मिलता जिसका अर्थ होता है 'राज्य का संरक्षक'। स्पष्ट है कि इसी शब्द से 'क्षत्रप' शब्द निकला है जिसका प्रयोग शकों ने किया।

उत्तरी भारतवर्ष के निम्नलिखित क्षत्रप-वंश विशेष उल्लेखनीय थे—

(१) कापिश-वंश—कापिश-प्रदेश से आधुनिक काफिरिस्तान और घोरबन्द

१ S. P. I. H. p. 353

२ P. H. A. I. 453; J. R. A. S. 1913.

तथा पाँजिसिर की घाटियों के प्रदेश को समझना चाहिए। माणिमिआल अभिलेख से कापिश के क्षत्रप-वंश का पता चलता है। इसमें उल्लिखित क्षत्रप ग्रणव्हाक का पुत्र था।

(२) पुष्पपुर-वंश—काबुल संग्रहालय में एक अभिलेख संरक्षित है जिससे पता चलता है कि पुष्पपुर में तिरव्हर्ण नामक क्षत्रप राज्य करता था। इस अभिलेख की तिथि ८३ है। यदि यह विक्रम संवत की है तो तिरव्हर्ण का शासन-काल (८३-५८) = २५ ईसवी के आस-पास पड़ता है।

(३) अभिसारप्रस्थ-वंश—अभिसारप्रस्थ यूनानी लेखकों द्वारा वर्णित Abhisares है जो तक्षशिला के उत्तर में था। पंजाब में एक ताम्र-मुद्रा मिली है जिसमें अभिसारप्रस्थ के क्षत्रप शिवसेन का नाम मिलता है।

पंजाब के क्षत्रप

पंजाब में तीन क्षत्रप-वंशों का पता चलता है—

(१) कुसुलुक वंश—इस वंश के क्षत्रप लियाक कुसुलुक और पतिक का उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

(२) मनिगुल और जिहोणिक का वंश—पीछे बताया चुका है कि कुछ मुद्राओं पर इन दो क्षत्रपों के नाम मिलते हैं। सम्भवत. ये एजेज द्वितीय की अधीनता में पुष्कलावती में राज्य करते थे।

(३) इन्द्रवर्मन का वंश—इसका पुत्र अस्पवर्मन एजेज द्वितीय और गाण्डोफार्नीज दोनों का क्षत्रप रह चुका था।

मथुरा के क्षत्रप

मथुरा में आगमन—यह निश्चतरूप से नहीं कहा जा सकता कि मथुरा में शक कब और कैसे पहुँचे। स्टेन कोनो का मत है कि जिस समय (५९ ई० पू०) विक्रमादित्य ने मालवा में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया उस समय शकों को वहाँ से भागना पड़ा। तब वे मथुरा पहुँचे और उन्होंने वहाँ अपना नवीन राज्य स्थापित किया।[1] टार्न महोदय का भी विश्वास है कि मथुरा के शक मालवा से ही वहाँ पहुँचे थे।[2] अन्य विद्वान मार्शल महोदय को तक्षशिला में एक अभिलेख मिला है जिसके अनुसार एक जिहोणिक चुक्श का क्षत्रप था। इस अभिलेख की तिथि १९१ है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मुद्राओं का जिहोणिक और इस तक्षशिला-अभिलेख का जिहोणिक दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे क्योंकि—

(१) मुद्राओं का जिहोणिक पुष्कलावती का क्षत्रप था, परन्तु तक्षशिला अभिलेख का जिहोणिक चुक्श का।

(२) मुद्राओं का जिहोणिक क्षत्रप का पुत्र था, परन्तु तक्षशिला अभिलेख का जिहोणिक महाराज का।

(३) मुद्राओं का जिहोणिक एजेज द्वितीय का क्षत्रप विदित होता है, परन्तु तक्षशिला-अभिलेख के जिहोणिक की तिथि बहुत बाद की है। सम्भवतः यह कुषाणों का क्षत्रप था।

१ J. I. H. XII. 23. २ G. B. I., 325.

यह समझते हैं कि प्रारम्भ में मथुरा के क्षत्रप तक्षशिला के शक नरेशों की अधीनता में राज्य करते थे, परन्तु शीघ्र ही वे स्वतन्त्र हो गए थे। किन्तु कोई भी निष्कर्ष असन्दिग्ध नहीं है।

हगान और हगामश—सम्भवतः ये मथुरा के सर्वप्रथम क्षत्रप थे जिन्होंने कदाचित् सम्मिलित रूप से राज्य किया था। मथुरा में इनकी मुद्रायें मिली हैं;

राजुवुल—इनके पश्चात् कदाचित राजुवुल मथुरा का शासक हुआ। मथुरा सिंह-शीर्ष अभिलेख में सर्वप्रथम इसी शासक के साथ महत्क्षत्रप का प्रयोग किया गया है। इससे अनुमान होता है कि कदाचित् यह स्वतन्त्र शासक था। उसकी कुछ मुद्राओं पर 'राजराज' (King of kings, the Saviour) की उपाधि मिलती है। इससे भी उसकी स्वतन्त्र सत्ता का अनुमान होता है।

राजुवुल की मुद्रायें यूनानी नरेश स्ट्रैटो प्रथम और स्टैटो द्वितीय की मुद्राओं से बहुत अधिक मिलती-जुलती हैं। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि राजुवुल ने सर्वप्रथम यूनानियों के प्रदेश पूर्वी पंजाब पर ही अपना आधिपत्य स्थापित किया होगा। डा० डी० सी० सरकार का यही मत है। यदि इस मत को स्वीकार कर लिया जाय तो मानना पड़ेगा कि राजुलुल ने मथुरा के ऊपर कुछ समय बाद ही अधिकार किया होगा। राजुवुल की कुछ मुद्राओं पर मथुरा के पूर्वगामी हिन्दू-नरेशों की मुद्राओं का भी भारी प्रभाव दृष्टिगत होता है।

मुद्राओं के प्राप्ति-स्थानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजुवुल का राज्य पूर्वी पंजाब से लेकर मथुरा तक विस्तृत था।[1]

खरोस्ट—मथुरा लायन कैपिटल पर युवराज खरोस्ट का नाम मिलता है। स्टेन कोनोव इसे राजुवुल का श्वसुर मानते हैं और कहते हैं कि मावेज के पश्चात् 'राजराज' के पद का यही उत्तराधिकारी बना।[2] फ्लीट के मतानुसार वह राजुवुल की पुत्री का पुत्र था।[3] परन्तु कुछ विद्वान् उसे राजुलुल का पुत्र भी मानते हैं। कुछ दिन क्षत्रप रहने के पश्चात् सम्भवतः राजुवुल के जीवन-काल में ही उसकी मृत्यु हो गई थी, अतः उसके अभाव में राजुवुल का दूसरा पुत्र सोडास क्रमशः क्षत्रप और महाक्षत्रप बना। कुछ मुद्रायें मिली हैं जिन पर खरोष्ठी में 'क्षत्रप प्रखरोस्टस अर्टस पुत्रस' लिखा हुआ है। इससे प्रकट होता है कि खरोस्ट के अर्ट नामक एक पुत्र भी था। कदाचित् वह सोडास के शासन-काल में क्षत्रप रहा होगा।

सोडास—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, राजुवुल के पश्चात् सोडास मथुरा का शासक हुआ। मथुरा लायन कपिटल में उसे एकमात्र 'क्षत्रप' कहा गया है। परन्तु आमोहिनी वोटिव टैब्लेट में वह 'महाक्षत्रप' कहा गया है। इस टैब्लेट में ७२ तिथि दी हुई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजुवुल की मृत्यु के पश्चात् ७२ तिथि तक सोडास महाक्षत्रप हो गया होगा।

डा० मजूमदार का मत है कि यह ७२ तिथि शक सम्वत् की तिथि है। यदि हम इस मत को स्वीकार कर लें तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि (७२+७८) = १५० ई० के लगभग मथुरा पर सोडास का राज्य था। परन्तु यह सम्भव नहीं है। प्रसिद्ध लेखक टालमी लगभग इसी समय हुआ था। उसके वर्णन में लिखा है कि मथुरा के ऊपर

१ Cunningham, Coins of the Sakas, 26.
२ Corpus, 36.
३ J. R. A. S. 1913, 919.

सोडास का नहीं वरन् 'कॅस्पीराइ' का आधिपत्य था। टालमी ने इण्डो-सीथिया (शक-राज्य) और 'कॅस्पीराइ'--राज्य का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कॅस्पीराइ-राज्य' शक-राज्य न था। बोयर महोदय के अनुसार कॅस्पीराइ-राज्य कुषाण-राज्य था। पुन, टालमी के ही वर्णन से प्रकट होता है कि १५० ई० के लगभग शक-राज्य में एकमात्र पॅलेटीन (सिन्धु-डेल्टा), अबीरिया (पश्चिमी भारत में आभीर देश) और सिरॅट्रीन (काठियावाड) सम्मिलित थे। शक-राज्य की यही सीमा रुद्रदामन प्रथम के जूनागढ अभिलेख से भी विदि होती है। ऐसी दशा में स्पष्ट हो जाता है कि १५० ई० के लगभग मथुरा-नरेश पर शकों का अधिकार न था। अत उपर्युक्त आमोहिनी वोटिव टॅब्लेट की ७२ तिथि को शक-सम्वत की तिथि मानना ठीक नही है।

स्टेन कोनो का मत कि यह् ७२ तिथि विक्रम सम्वत् की है, अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।[1] इसके अनुसार सोडास का समय (७२-५८) = १४ ई० के लगभग आता है। मार्शल महोदय का भी कथन है कि आमोहिनी वोटिव टॅब्लेट की नक्काशी की शैली भी ईसा की प्रथम शताब्दी की ही प्रकट होती है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, तक्षशिला -नरेश मावेज और मथुरा के क्षत्रप सोडास का समय एक ही है।

सोडास की मुद्राएँ पूर्वी पजाब मे नही मिलती। इससे प्रकट होता है कि उसका राज्य उस प्रदेश में नही था। हॉ, मथुरा मे उसकी मुद्रायें भी मिली हैं और उसके अभिलेख भी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सोडास का राज्य मथुरा प्रदेश तक ही सीमित था।

पतन--मथुरा के क्षत्रप-वश का पतन सम्भवत कुषाणों के उत्थान के परिणाम-स्वरूप हुआ था। कनिष्क के शासन काल के तीसरे वर्ष के सारनाथ अभिलेख में महा-क्षत्रप खरपल्लान और क्षत्रप वनपष्र का उल्लेख है जो कनिष्क की अधीनता में राज्य कर रहे थे सम्भवत ये राजुवुल वश के शक थे।

उत्तरी भारत के क्षत्रपों की जाति--प्राय समस्त विद्वानों का यह मत है कि कभी-कभी यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि अमुक शासक पार्थियन जाति का है अथवा शक जाति का अथवा दोनो जातियो का सम्मिश्रण। ऐसी परिस्थिति में उत्तरी भारत के क्षत्रपो की जाति के विषय में भी मतभेद है।

इस विषय मे नामो के आधार पर भी निष्कर्ष नही मिलता। उदाहरणार्थ मावेज का नाम शक है, परन्तु पतिक का नाम पार्थियन। इस आधार पर टामस महोदय ने यह मत प्रतिपादित किया है कि उत्तरी भारत के क्षत्रप शक और पार्थियन जातियो के सम्मिश्रण थे।

हरिवश मे पहलवो (Parthians) को 'श्मश्रुधारी' कहा गया है। परन्तु राजुवुल और नहपान के वश के राजा मुद्राओ पर कभी भी श्मश्रु धारण किए हुए नहीं दिखाई देते। इस आधार पर डा० रायचौधरी का मत है कि ये राजा पहलव-वशीय न थे। इन्हे शक ही मानना चाहिए।

उत्तरी भारत के क्षत्रपो की शकवशीयता का एक अन्य प्रमाण भी मिलता है।

१ Ep. Ind. Vol. XIV, pp. 139-141.

मथुरा लायन कैपिटल मे 'सर्वम शकस्तनस पुयए' शब्द मिलते है। इनसे प्रकट होता है कि राजुवुल आदि नरेश शकजातीय थे।

पश्चिमी भारत के क्षहरात

क्षहरात-वंश—पश्चिमी भारत में जिस क्षत्रप-वश का उदय हुआ वह इतिहास मे क्षहरात-वंश के नाम से प्रख्यात है। इस वश की जाति के विषय में भी मतभेद है। रैप्सन इसे पह्लव मानते हैं, परन्तु स्टेन कोनो शक। इस वश के राजा नहपान का दामाद उषवदात (ऋषभदत्त) अपने को शक कहता है। अत सम्भव है कि स्वय नहपान भी शक हो। पेरिप्लस के लेखक ने नहपान (*Nambanus*) का उल्लेख किया है; उसने पह्लव नरेशों के युद्धो का भी उल्लेख किया है। परन्तु उसने कही पर भी नहपान को पह्लव नही कहा है। इससे तो यही प्रकट होता है कि वह शक था। डा० रायचौधरी ने क्षहरात का समीकरण शक जाति करताइ (Kartai) के साथ किया है जिसका टालमी उल्लेख करता है। अत क्षहरात-वश को शक मानना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। परन्तु उसके ऊपर पारसीक-पह्लवो का प्रभाव अवश्य पडा था। स्वयं नहपान नाम ही इस प्रभाव को प्रकट करता है। पारसीक भाषा में 'नह' का अर्थ है 'जन' और 'पान' का अर्थ है 'सरक्षित'।

दक्षिण में आगमन—पेरिप्लस पह्लवो के युद्धो और राज्य-विस्तार का उल्लेख करता है। इससे अनुमान होता है कि पह्लवो के आक्रमणो और विजयो के परिणामस्वरूप ही शक-क्षत्रपो को दक्षिण की ओर आना पडा था। दक्षिण मे आने के पश्चात् भी इन क्षत्रपो ने अपनी मुद्राओ पर उत्तर की खरोष्ठी लिपि का प्रयोग किया है। इससे भी उनका उत्तर से सम्बन्ध प्रकट होता है। क्षहरात-वश के शासक भूमक की मुद्राओं पर बाण, डिस्कस और वज्र, दिखाई देते है। यही वस्तुएँ स्पैलिरिसेज और एजेज प्रथम की सम्मिलित मुद्राओ पर भी मिलती है। इस तथ्य से भी क्षहरातों और उत्तरी शको के बीच सम्बन्ध का अनुमान किया जा सकता है।

फर्ग्युसन, रैप्सन और भाण्डारकर का मत था कि पश्चिमी भारत के क्षहरात कुषाणो के अधीन थे। इस मत की पुष्टि मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये है जिनका खण्डन किया जा सकता है—

नहपान के एक नासिक अभिलेख से प्रकट होता है कि कार्षापण और सुवर्ण का अनुपात १ ३५ था। रैप्सन का कथन है कि सुवण कुषाणो की मुद्रा थी। चूँकि नासिक अभिलेख के अनुसार यह क्षहरात-राज्य मे चलता था, अत क्षहरात कुषाणो के अधीन थे। परन्तु इस कथन में कोई बल नही है। सुवर्ण को एकमात्र कुषाणो की मुद्रा मानना उचित नही है क्योकि वह भारत मे वैदिक काल से ही प्रचलित थी। पुन:, यदि यह मान लिया जाय कि सुवर्ण कुषाणो की ही मुद्रा थी तो भो इससे क्षहरातो के ऊपर कुषाणो का आधिपत्य सिद्ध नही होता। शक-राजा अन्य राजाओ और अन्य कालो की मुद्राओ को भी अपने राज्य मे चलने देते थे। पेरिप्लस का कथन है कि उसके समय में (६० ई०-८० ई०) बेरीगाजा मे पूर्वगमी यूनानी नरेशों की मुद्रायें चल रही थी।

(२) नासिक-गुहा-लेख १२ के एक अश को उद्धृत करते हुए भण्डारकर महोदय कहते है कि उसमे 'कुषाण' का उल्लेख है। उनके मत मे 'कुषाण' नहपान की रजत

मुद्रा का नाम था जिसे उसने अपने स्वामी 'कुषाण' के नाम पर रखा था।[1] परन्तु यह अर्थ नितान्त सन्दिग्ध है। सेनार्ट के मतानुसार 'कुषाणमूल' किसी मुद्रा का नाम नही है वरन् उसका अर्थ है 'बहिर्जीवन के व्यय' (expenses of outside life)।

(३) **क्षहरात-नरेशों**—भूमक और नहपान—के अधिकांश अभिलेखों मे एक-मात्र क्षत्रप की उपाधि मिलती है। यह उनकी अधीनता की सूचना देती है। यह कथन भी पूर्णतया सत्य नही है, क्योंकि नहपान के एक अभिलेख में उसे 'महाक्षत्रप' भी कहा गया है।

(४) क्षहरात-नरेशों ने अपने अभिलेखों में शक-सम्वत् का प्रयोग किया जिसका प्रारम्भ कनिष्क ने ७८ ईसवी में किया था। कुषाणों के सम्वत् के प्रयोग से भी क्षहरातों की अधीनता प्रकट होती है। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि क्षहरात उत्तरी भारत से आये थे। अतः उनका उत्तरी भारत के सम्वत् का प्रयोग करना आश्चर्यजनक न था।

इसके साथ-साथ कुछ अन्य बात से भी यह प्रकट होता है कि क्षहरात स्वतन्त्र शासक थे—

(१) क्षहरात-नरेशों ने अपने नाम से मुद्रायें चलाई। उनका यह कार्य उनकी स्वतन्त्रता का द्योतक है।

(२) क्षहरातों के अनेकानेक अभिलेख मिले हैं। परन्तु किसी मे भी कुषाणो का नाम नही मिलता।

(३) क्षहरात-राज्य मे कुषाण-मुद्राओ का प्रचलन नहीं था।

जो भी हो, क्षहरातो और कुषाणो के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे निश्चित मत प्रस्तुत नही किया जा सकता।

भूमक—भूमक का कोई भी अभिलेख नही मिला है। उसका इतिहास एकमात्र उनकी मुद्राओं से ज्ञात होता है। मुद्रायें गुजरात, काठियावाड और मालव के प्रदेशों में पाई गई हैं। इससे प्रकट होता है कि इन प्रदेशों पर भूमक का अधिकार था। भूमक की मुद्राओं पर ब्राह्मी लिपि के अतिरिक्त खरोष्ठी लिपि भी प्रयुक्त हुई है। इससे डा० डी० सी० सरकार ने यह अनुमान किया है कि उपर्युक्त प्रदेशो के अतिरिक्त पश्चिमी राजपूताना और सिन्धु भी भूमक के राज्य मे थे।[2] भूमक और नहपान की मुद्राओ के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर रैप्सन महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भूमक नहपान से पहले हुआ था। इन दोनो मे क्या सम्बन्ध था, यह निश्चित-रूप से नही कहा जा सकता। परन्तु दोनो शासको की मुद्राओ पर अंकित अक्षरो के रूपों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनो के बीच मे अधिक काल व्यतीत न हुआ था। भूमक की मुद्राओ पर क्षत्रप की उपाधि मिलती है। इस आधार पर कुछ विद्वान् उसे कुषाणो का सामन्त मानते है। परन्तु यह मत सन्देहपूर्ण है। भूमक को प्रथम शताब्दी मे रखा जा सकता है।

नहपान—क्षहरात-वंश का यह सबसे बडा शासक था। जैन-साहित्य मे इसका उल्लेख नरवाहन अथवा नववाहन के रूप मे हुआ है। पेरीप्लस मे 'मैम्बेरस' का उल्लेख है। कुछ विद्वान् उसे 'नैम्बेरस' पढते हैं और उसका समीकरण नहपान से

१ Ind. Ant. XLVII 76 २ A I U, 179

करते है। कम से कम ८ गुहा-लेखो मे उसका नाम आया है। उसकी बहुसख्यक मुद्राये मिली हैं। इन सब साक्ष्यों से नहपान की जीवन-घटनाओं पर प्रचुर प्रकाश पड़ा है।

राज्य विस्तार—नहपान और उसके दामाद ऋषभदत्त (उषवदात) के अभिलेख महाराष्ट्र मे मिले हैं। ऋषभदत्त के अभिलेखो में पारद (सूरत), शूर्पारक (सोपारा), भृगुकच्छ (भडौच), दामन, दशपुर (पश्चिमी मालवा), प्रभास (काठियावाड) और पुष्कर (अजमेर) आदि स्थानो का उल्लेख है। नहपान की मुद्राये महाराष्ट्र, गुजरात, काठियावाड और अजमेर मे मिलती है। इन साक्ष्यो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नहपान के अधिकर मे महाराष्ट्र का कुछ भाग, मालवा, अपरान्त, गुजरात काठियावाड और अजमेर पर था। सम्भवत इसी समय सातवाहनो को महाराष्ट्र छोड कर आन्ध्र-प्रदेश मे जाना पडा।

राज्य-विस्तार करने मे उसे कौन-कौन से युद्ध करने पडे थे, इसका हमे पर्याप्त ज्ञान नही है। हमे उसके शासन काल की एक ही विजय का ज्ञान है। नासिक गुहा-लेख १० से प्रकट होता है कि अपने मित्र उत्तमभद्रो की मालव आक्रमणकारियों के विरुद्ध सहायता करने के लिए उषवदात गया था। इस युद्ध मे मालव पराजित हुए। वे भाग खडे हुए और उनमे से बहुसख्यक बन्दी बना लिए गए। ये मालव कौन थे, इस प्रश्न पर भी मतभेद है। कुछ विद्वान् उन्हे मालव बताते है, कुछ इन्हे दक्षिणी भारत के मलय पहाडो के निवासी बताते है।

नहपान के अभिलेखो मे एकमात्र इसी युद्ध और विजय का वर्णन है। फिर नहपान-राज्य का विस्तार कब हुआ और किसने किया ? सम्भव है कि राज्य-विस्तार के लिए नहपान ने अन्यान्य युद्ध भी किये हो, परन्तु अभिलेखो मे उनका वर्णन न किया गया हो। यह भी सम्भव है कि यह राज्य-विस्तार नहपान के पूर्वगामी क्षहरातो ने किया हो।

राजधानी—पेरिप्लस का उल्लेख है कि नहपान की राजधानी मिन्नगर थी। यह एरिआक (Ariake) मे थी। इन्द्रजी का मत है कि एरिआक से अपरान्तिका समझना चाहिए। मिन्नगर को कुछ विद्वान् मन्दसोर मानते है[1] और कुछ विद्वान् दोहद।[2] डा० जयसवाल का मत है कि नहपान की राजधानी भडौच थी।[3] इन मतो के विरुद्ध कुछ लोग एरिआक का समीकरण आर्यक (आर्यावर्त) से करते है। उनके मतानुसार नहपान की राजधानी दक्षिणी अथवा पश्चिमी भारत मे नही वरन् उत्तरी भारत मे थी।

उपाधियां—मुद्राओ पर नहपान के साथ 'राजन्' की उपाधि पाई जाती है। ४१,४२और ४५ तिथियो के नासिक अभिलेख नहपान को एकमात्र 'क्षत्रप' कहते है। परन्तु उसके मन्त्री अयम का ४६ तिथि का अभिलेख नहपान को 'महाक्षत्रप कहता है। इससे यह न समझना चाहिए कि ४५ तिथि तक नहपान किसी वाह्य सत्ता की अधीनता मे शासन करता था अथवा वह ४६ तिथि मे ही स्वतन्त्र शासक बना था। वास्तव मे छोटी उपाधियाँ सदैव अधीनतासूचक नही होती है। गुप्तकाल मे सामान्य-

१ Bhandarkar Ind Ant. p 788 1926 p. 143
२ Fleet J. R. A., S. 1912,
३ J. B O R. S 1930, 290.

तथा 'महाराजा' की उपाधि अधीनतासूचक समझी जाती थी, फिर भी मनकुवर पाषाण-प्रतिमा-अभिलेख मे सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के नाम के साथ उसका प्रयोग किया गया है। अत हमे यही समझना चाहिए कि नहपान के साथ भी 'राजन्' और 'क्षत्रप' उपाधियो का प्रयोग उसकी अधीनता की सूचना नही देता।

नहपान का काल—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, नासिक अभिलेखों मे नहपान की ४१, ४२ और ४५ तथा गुनार अभिलेख में ४६ तिथियाँ मिलती हैं। विद्वानो मे इस बात पर बडा मतभेद है कि ये तिथियां किस काल की हैं। इस विषय मे प्रमुखतया तीन मत है—

(१) ये तिथियाँ नहपान के शासन के वर्ष (Regnal years) है।

(२) ये तिथियाँ विक्रम सवत् की हैं।

(३) ये तिथियाँ शक सवत् की हैं।

प्रथम मत को पोषको ने जिनसेन के हरिवश को अपना प्रमुख आधार बनाया है। इसके अनुसार नरवाहन (नहपान) ने ४२ वर्ष तक राज्य किया था। परन्तु किसी भी अन्य साक्ष्य से नहपान के इतने दीर्घकालीन शासन की सूचना नही मिलती पुन, किसी भी शक नरेश ने अपनी तिथियाँ अपने शासन के वर्षों (Regnal years) मे नही दी हैं। अत विशेषतया मत-विभाजन विक्रम सवत् और शक सवत् के बीच मे ही है।

विक्रम संवत् के पोषकों मे विशेष उल्लेखनीय हैं कनिंघम, दुब्रिया और आर० डी० बनर्जी। इसके विरुद्ध शक सवत् का प्रतिपादन करने वाले विद्वानों में प्रमुख हैं वाएर, रैप्सन और भण्डारकर।

आर० डी० बनर्जी का कथन है कि चष्टन के वश के राजा रुद्र दामन् प्रथम के अभिलेख की तिथियाँ शक-सम्वत् मे है। अत नहपान की तिथियाँ उसी सवत् मे नहीं हो सकती। बनर्जी के मतानुसार रुद्रदामन् के अन्धौ अभिलेख से प्रकट होता है कि उसने (५२+७८)=१३० ई० तक नासिक को जीत लिया था। परन्तु यदि हम नहपान की अन्तिम तिथि ४६ को शक-सवत् की तिथि मानें तो हमें स्वीकार करना पडेगा कि (४६+७८)=१२४ ई० के पश्चात् गौतमीपुत्र शातकर्णि और वाशिष्ठी-पुत्र पुलमावी का नासिक पर अधिकार रहा। ऐसी अवस्था मे उस पर रुद्र-दामन का अधिकार कैसे रह सकता था ?

परन्तु बनर्जी महोदय के तर्क मे कई दोष है—

(१) अन्धौ अभिलेख से यह सिद्ध नही होता कि १३० ई० तक रुद्रदामन् की समस्त विजयें समाप्त हो चुकी थी। आन्धौ अभिलेख से तो उसकी एकमात्र कच्छ-विजय की ही सूचना मिलती है।

(२) रुद्रदामन् ने सातवाहनो को पराजित अवश्य किया, परन्तु इसका कोई प्रमाण नही है कि विजय के पश्चात् उसने सातवाहनो से नासिक का प्रदेश भी छीन लिया था। सम्भवत. उसने एकमात्र मालवा और कोकण के प्रदेश ही छीने थे। अत: यदि हम नहपान और रुद्रदामन् दोनो की तिथियों को शक-सवत् की तिथियाँ माने तो कोई हानि नही होती।

आर० डी० बनर्जी और दुब्रिया ने अपना अन्य तर्क देते हुए कहा है कि नहपान

की तिथियाँ शक-सम्वत् में नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसा मानने से नहपान के पतन (४६ शक सम्वत्) और रुद्रदामन के उत्कर्ष (५२ शक सम्वत्) के बीच एकमात्र ५ वर्ष ही रह जाते हैं और इस अल्पकाल में समस्त निम्नलिखित घटनायें नहीं रखी जा सकती—

(१) नहपान के शासन का अन्त।

(२) क्षहरातो क विनाश।

(३) चष्टन का क्षत्रप बनना, क्षत्रप के रूप मे शासन करना, महाक्षत्रप के रूप में शासन करना।

(४) जयदामन् का क्षत्रप बनना, क्षत्रप के रूप मे शासन करना, कदाचित् महाक्षत्रप बनना और कदाचित् महाक्षत्रप के रूप मे शासन करना।

(५) रुद्रदामन् का सिंहासनासीन होना और अपना शासन प्रारम्भ करना। परन्तु इस तर्क मे कई दोष है——

(१) यह अनुमान करने का कोई भी कारण नही है कि चष्टन-वंश का उदय क्षहरात-वंश के आमूल विनाश के पश्चात् हुआ। यह सम्भव है कि जिस समय क्षहरात वंश मालवा और सौराष्ट्र मे राज्य कर रहा था उसी समय चष्टन-वंश (अन्धौ अभिलेख के अनुसार) कच्छ में राज्य कर रहा था।

(२) कोई भी साक्ष्य ऐसा नही है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि जयदामन कभी भी महाक्षत्रप बना था। सम्भवत वह अपने पिता चष्टन के जीवन-काल में क्षत्रप के रूप में ही मर गया था। यही कारण है कि समस्त अभिलेखो मे उसके लिए एकमात्र क्षत्रप का ही प्रयोग मिलता है, महाक्षत्रप का नही। अन्धौ अभिलेखों मे जहाँ चष्टन और रुद्रदामन के साथ तो 'राजा' की उपाधि मिलती है, परन्तु जयदामन के साथ नहीं।

(३) चष्टन के राज्याभिषेक और रुद्रदामन के बीच अधिक समय नही बीता। था, क्योंकि अन्धौ अभिलेखो के अनुसार दोनो साथ-साथ शासन कर रहे थे।

ऐसी अवस्था मे ५-६ वर्षों में उपर्युक्त बची हुई घटनाओ का होना सम्भव नहीं है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण के अन्य शक-नरेशो की भांति क्षहरात-वंश ने भी शक-सम्वत् का ही प्रयोग किया था। भारतवर्ष मे सुवर्ण-मुद्रा सर्वप्रथम कुषाण-नरेशों ने प्रारम्भ की थी। नहपान के नासिक अभिलेख मे सुवर्ण-मुद्रा का उल्लेख है। अत नहपान प्रथम शताब्दी के पूर्व नही हो सकता था। अत उसने ७८ ई० के शक सम्वत् का ही प्रयोग किया होगा। इस प्रकार नहपान की प्रथम तिथि (४१+७८) = ११९ ई० और अन्तिम तिथि (४६+७८) = १२४ ई० निकलती है।

पतन——जोगलथम्बी मुद्रा-भाण्ड मे नहपान की बहुसंख्यक मुद्राएँ मिली हैं। इनमे दो-तिहाई मुद्रायें ऐसी है जिन पर गौतमीपुत्र शातकर्णी ने अपना नाम मुद्रित करवा कर पुन प्रसारित करवाया था। इससे प्रकट होता है कि गौतमीपुत्र ने नहपान को पराजित किया था। नासिक प्रशस्ति में गौतमीपुत्र के लिए 'खखरातवस-निरवसेसकरस' उपाधि मिलती है। इससे भी क्षहरात-वंश के राजा नहपान की पराजय की पुष्टि होती है। पहले अरकट (पूर्वीमालवा), अवन्ती (पश्चिमी मालवा), अनूप (माहिष्मती-प्रदेश), अपरान्त (उत्तरी कोकण) और सुराष्ट्र

(काठियावाड) नहपान के अधीन थे। परन्तु नासिक अभिलेख इन्हें गौतमीपुत्र शातकर्णि के अधीन बताता है। अत इनसे भी नहपान की पराजय का संकेत मिलता है।

मुद्रा-भाण्ड में नहपान के अतिरिक्त किसी भी अन्य क्षहरात-नरेश की मुद्रा नहीं मिलती। इससे सिद्ध होता है कि नहपान ही इस वश का अंतिम राजा था।

चष्टन-वंश

चष्टन-वंश—क्षहरात-वंश के समान दक्षिणी भारत में एक अन्य शक-वंश का उदय हुआ जो इतिहास में चष्टन-वंश के नाम से प्रख्यात है। इस वंश का राज्य प्रमुखतया उज्जैन और काठियावाड में था। इससे इसे 'उज्जैन और काठियावाड का शक-वंश' भी कहते हैं।

जाति—चष्टन-वश शक-वश था। इसके कुछ साक्ष्य हैं—

(१) चष्टन-वश का संस्थापक यसोमतिक था। यह नाम सिथियन शक है।

(२) चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीक चष्टन-वंशीय नरेश को बाण ने अपने हर्षचरित मे शक कहा है।

(३) चष्टन-वंश के सबसे बडे नरेश महाक्षत्रप रुद्रदामन की पुत्री अपने को कार्दमकवशीय कहती है। यह वश ईरान की कार्दम नदी से सम्बन्धित प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था मे यह अनुमान किया जाता है कि चष्टन-वश ईरानी शकों से सम्बन्धित थे।

य्समोतिक—अन्धौ अभिलेखो से प्रकट होता है कि य्समोतिक चष्टन का पिता 'य्समों' था।[1] सिथियनभाषा मे 'य्समो' का अर्थ 'भूमि' होता है। इसी आधार पर लेवी और कोनो ने यह मत प्रस्तुत किया था कि य्समोतिक और भूमक एक ही व्यक्ति थे। परन्तु एकमात्र नाम की समता के आधार पर दो व्यक्तियों का एक होना आवश्यक नही है। उदाहरणार्थ, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों पर्यायवाची नाम है। परन्तु फिर भी वे दो भिन्न-भिन्न गुप्त सम्राट् थे। य्सोमतिक के नाम के साथ 'राजा' आदि की कोई उपाधि नही मिलती। उसकी मुद्राएँ अथवा अभिलेख भी नही मिलते। इससे स्पष्ट होता कि वह सामान्य व्यक्ति था।

चष्टन—यह य्समोतिक का पुत्र था। इसी ने अपने पराक्रम से अपने वश को राजपद दिया। अत इसी को उज्जैन तथा काठियावाड के क्षत्रप-वंश का सस्थापक मानते हैं। परन्तु इसका कोई भी निश्चित प्रमाण नही है। डुब्रिया महोदय का कथन है कि चष्टन ने ७८ ई० का शक-सवत् चलाया था। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत को स्वीकार नही करते। डा० राय चौधरी का कथन है कि उज्जैन चष्टन की राजधानी थी। परन्तु पेरिप्लस के साक्ष्य के अनुसार ७८ ई० मे उज्जैन राजधानी न थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ७८ ई० चष्टन का काल न था।

क्या चष्टन-वंश कुषाणों के अधीन था?—कुछ विद्वानो के मतानुसार क्षहरात-वश की भांति चष्टन-वंश भी कुषाणों के अधीन था। इन मत के निम्नलिखित आधार हैं —

१ राज्ञः चष्टनस यामोतिकपुत्रस राज्ञ रुद्रदामस जयदामपुत्रस . . . ।+

(१) चष्टन-वंश ने विदेशी उपाधि 'क्षत्रप' का प्रयोग किया।

(२) इस वंश ने उत्तरी भारत की खरोष्ठी लिपि का प्रयोग किया।

(३) मथुरा में हुविष्क के देवकुल में 'षस्तन' नामक एक मूर्ति मिली है। इसका समीकरण चष्टन से किया गया है।

परन्तु ये तर्क निर्बल है। क्षत्रप-उपाधि एव खरोष्ठी लिपि का प्रयोग यह भी सिद्ध कर सकता है कि चष्टन-वंश का सम्बन्ध उत्तरी भारत के शकों से था। पुन 'षस्तन' का समीकरण सन्दिग्ध है। यदि यह समीकरण ठीक भी हो, तो भी यह नही कहा जा सकता है कि चष्टन कुषाणों के अधीन था। चष्टन-वंश के अभिलेखों में कुषाणो का उल्लेख नही है। इस वंश के नरेशों ने स्वतन्त्र रूप से अपनी मुद्राओं का निर्माण किया था। अत ये स्वतन्त्र शासक प्रतीत होते है।

राज्य-विस्तार—टालमी के कथनानुसार चष्टन (Tiastenes) का उज्जैन (Ozene) पर अधिकार था। उसको कुछ मुद्राओं पर प्राप्त 'उज्जैन चिन्ह' भी इस बात का प्रमाण है। उसकी कुछ अन्य मुद्राओं पर 'चैत्य चिन्ह' भी मिलता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उसने सातवाहनों के कुछ प्रदेश जीते थे। अन्धौ अभिलेखों से प्रकट होता है कि वह कच्छ तथा समीपवर्ती कुछ अन्य भूखण्डों का शासक था। उसकी मुद्रायें जूनागढ़ और गुजरात में प्राप्त हुई है। अत ये प्रदेश भी उसके अधीन थे। चष्टन के पुत्र जयदामन् की मुद्रायें पुष्कर (अजमेर) में प्राप्त हुई है। जयदामन् कभी भी महाक्षत्रप न बना था। वह अपने पिता के जीवन-काल में ही मर गया था। अत पुष्कर-प्रदेश चष्टन के शासन-काल में क्षत्रप-राज्य में सम्मिलित हो चुका था। इस राज्य में कुछ प्रदेश ऐसा था जिस पर नहपान शासन कर चुका था। अधिकाश विद्वानों का मत है कि चष्टन नहपान के पश्चात् हुआ था और उसने क्षहरातो के पतन के पश्चात् शक-शासन की पुन स्थापना की थी। प्रारम्भ में ब्यूलर महोदय का मत था कि नहपान और चष्टन दोनों समकालीन थे,[१] परन्तु कुछ समय पश्चात् उन्होने स्वयं अपना मत त्याग दिया।[२]

५२ तिथि (५२+७८=)१३० ई० के अन्धौ अभिलेख में निम्नलिखित वाक्य मिलता है—

'राज्ञ चष्टनस य्समोतिकपुत्रस राज्ञ रुद्रदामाज जयदमपुत्रस वर्षे द्विपचासे।

डाक्टर भण्डारकर और डाक्टर आर०सी०मजूमदार के मतानुसार इस उद्धरण का अर्थ है—य्समोतिक के पुत्र राजा चष्टन और जयदामन् के पुत्र राजा रुद्रदामन् के (शासन-काल में) ५२वें वर्ष में। ये विद्वान् कहते है कि इस उद्धरण को देखने से पता चलता है कि चष्टन और रुद्रदामन् ने साथ-साथ राज्य किया था। एलन और डुब्रिया महोदयों ने इस मत का खण्डन इस आधार पर किया है कि चष्टन और रुद्रदामन् के बीच में 'च' (और) नही है। अत उन दोनों का सम्मिलित शासन सिद्ध नही होता। डुब्रिया महोदय इस उद्धरण का अनुवाद निम्न प्रकार करते है—

*कुछ विद्वानों का मत है कि य्समोतिक की एक मुद्रा मिली है। परन्तु अन्य विद्वानों के मतानुसार यह मुद्रा चष्टन ने निर्मित करवाई थी और इस पर अपने पिता य्समोतिक का नाम उत्कीर्ण करवा दिया था। इस विषय पर देखिए—J R. A. S. 1881, 524, J R A. S. 1899, 370 Rapson's Cat. 71.

१ J R A. S. 1890.

२ A. S W. I. Vol. IV & V

य्समोतिक के प्रपौत्र, चष्टन के पौत्र, जयदामन् के पुत्र रुद्रदामन् के शासन में, ५२वें वर्ष में।

अतः डुब्रिया महोदय का मत है कि इस उद्धरण में एकमात्र रुद्रदामन् के शासन-काल का उल्लेख है। परन्तु अभिलेखों में न 'प्रपौत्र' का उल्लेख है और न 'पौत्र' का। ये शब्द डुब्रिया महोदय ने स्वयं जोड लिये है। एकमात्र 'च' शब्द जोडने वाले विद्वानो का विरोध करते हुए भी डुब्रिया महोदय ने स्वय एक नही दो-तीन शब्द कैसे जोड दिये; यह समझ में नही आता।

वस्तुतः डाक्टर भण्डारकर और डा० मजूमदार का ही अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। य्समोतिक के साथ 'राजा' शब्द का प्रयोग नही मिलता। इससे प्रकट होता है कि वह एक साधारण व्यक्ति था। उसके समय तक इस वश को राजपद न मिला था। परन्तु चष्टन और रुद्रदामन दोनो के साथ 'राजा' शब्द का प्रयोग मिलता है। इससे प्रकट होता है कि इन दोनो ने राज्य किया था। परन्तु इनके बीच मे जयदामन् के साथ 'राजा' की उपाधि का प्रयोग न होना एक विशेष महत्व रखता है। जयदामन् की मुद्राओ पर भी एकमात्र 'क्षत्रप' की ही उपाधि मिलती है, 'महाक्षत्रप' की नही। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जयदामन् ने कभी भी स्वतन्त्ररूप मे राज्य न किया था। शक-शासन-प्रणाली के अनुसार कुछ दिनो तक वह अपने पिता चष्टन की अधीनता मे क्षत्रप रहा होगा। परन्तु वह अपने पिता के जीवन-काल मे ही मर गया होगा। इसी से वह महाक्षत्रप न बन सका। उसकी मृत्यु के पश्चात् चष्टन ने उसके पुत्र रुद्रदामन् को अपना सहयोगी क्षत्रप बनाया। कालान्तर मे चष्टन की मृत्यु के पश्चात् रुद्रदामन महाक्षत्रप बना।

इसके अतिरिक्त डा० रायचौधरी का कथन है कि अनेक मुद्रा-लेखो मे ऐसे उदाहरण मिलते है जिनमे दो नामो के बीच 'च' (और) नही मिलता है। उदाहरणार्थ—खतपान हेगानस हगामशस, हेरामयस कलियपय।[1]

डा० आर० डी० बनर्जी भी चष्टन और रुद्रदामन् के सम्मिलित शासन को नही मानते। उनका कथन है कि कच्छ के अभिलेखक सुदूरवर्ती थे। वे शक-वशीयों की प्रथाओं और उसके पारस्परिक सम्बन्धो को न जानते थे। उन्हे भलीभाति यह ज्ञात न था कि चष्टन और रुद्रदामन् मे क्या सम्बन्ध था। इसी से उन्होने अभिलेखो मे उन दोनो के बीच 'पौत्र' शब्द का प्रयोग नही कया है। कच्छ के अभिलेखको की इस अज्ञानता का एक उदाहरण देते हुए बनर्जी महोदय ने कहा कि शक-वश 'महाक्षत्रप की उपाधि का प्रयोग करता था 'राजा' की उपाधि का नही। परन्तु कच्छ के अभिलेखक यह तथ्य न जानते थे। इसी से उन्होने चष्टन और रुद्रदामन् के साथ 'राजा' की उपाधि लगा दी है। पुन बनर्जी महोदय कहते है कि शक-इतिहास मे सम्मिलित शासन के उदाहरण नही है। अत चष्टन और रुद्रदामन् के सम्मिलित शासन की कल्पना करना उपयुक्त नही है। परन्तु बनर्जी महोदय की आपत्तियाँ निस्सार हैं—

(१) कच्छ-प्रदेश के ऊपर चष्टन और रुद्रदामन दोनों का अधिकार था। अत. वहाँ के निवासियो का अपने राजाओ की उपाधियाँ और सम्बन्धों से पूर्णतया अनभिज्ञ होना अस्वाभाविक है।

(२) शक 'राजा' शब्द से अपरिचित न थे। 'महाक्षत्रप' उपाधि के साथ-साथ

१ Whitead, Indo-Greek Coins, 87, 147.

उन्होंने 'राजा' की उपाधि का भी प्रयोग किया था। अभिलेखों के ऊपर नहपान के साथ 'क्षत्रप और 'महाक्षत्रप' की उपाधियाँ मिलती है, परन्तु उसकी कुछ मुद्राओं पर उसके नाम के साथ 'राजा' की उपाधि मिलती है। अत कच्छ के अभिलेखकों ने चष्टन और रुद्रदामन् के साथ 'राजा' की उपाधि का प्रयोग करके शक-प्रथा के अनुकूल ही कार्य किया था।

(३) प्रत्येक शक-राजा महाक्षत्रप होता था और अपनी सहायता के लिए बहुधा वह अपने पुत्र को अपने अधीन क्षत्रप बना लेता था। यह भी सम्मिलित शासन का एक रूप था। अत यह कथन कि शक-इतिहास मे सम्मिलित शासन के उदाहरण थे ही नही, असत्य है।

ऐसी अवस्था मे चष्टन और रुद्रदामन् का सम्मिलित शासन मानना ही अधिक न्याय-संगत प्रतीत होता है। चष्टन के जीवन-काल की एकमात्र एक ही तिथि मिलती है और वह है अन्धौ अभिलेखो की ५२ तिथि। अधिकाश विद्वान् इसे शक-संवत् की तिथि मानते है। अत. चष्टन ५२+७८=१३० ई० मे राज्य कर रहा था।

जयदामन—पीछे बताया जा चुका है कि अन्धौ अभिलेख में जयदामन् के साथ 'राजा' की उपाधि नही मिलती। उसकी मुद्राओ पर 'स्वामी' और 'क्षत्रप' की उपाधियाँ मिलती हैं, परन्तु 'महाक्षत्रप' की नही। इस आधार पर ब्यूलर और भण्डारकर महोदयों ने यह मत प्रतिपादित किया था कि कदाति जयदामन् के समय मे सातवाहनो की विजयों के परिणामस्वरूप शक-राज्य का पतन हो गया था। इसी कारण जयदामन् को लघु उपाधियाँ धारण करनी पड़ी थी। इन विद्वानो के अनुसार इस मत की पुष्टि रुद्रदामन् के जूनागढ अभिलेख से होती है जिसमे कहा गया है कि रुद्रदामन् ने स्वयं महाक्षत्रप की उपाधि अधिगत की थी।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि रुद्रदामन् के पूर्वगामी नरेश के समय मे महाक्षत्रप-पद का विलोप हो गया था और रुद्रदामन् ने अपने बल-पौरुष से उसे पुन प्राप्त किया था।

गौतमीपुत्र शातकर्णी की विजयो के परिणामस्वरूप शक-राज्य के कुछ प्रान्त भले ही निकल गये हो, परन्तु इससे जयदामन् की लघु उपाधि का कोई सम्बन्ध नही है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, जयदामन् की मृत्यु अपने पिता चष्टन के जीवन-काल मे ही हो गई थी। इसी से वह महाक्षत्रप अथवा स्वतन्त्र शासक न बन सका था। रही जूनागढ-अभिलेख की बात, तो वह रुद्रदामन् की प्रशस्ति है। 'स्वयमधिगत महाक्षत्रपनाम' का कोई विशेष अर्थ नही है। वह रुद्रदामन् के बल-पौरुष अथवा विजयो का ही द्योतक है।

कुछ ताम्र-मुद्रायें ऐसी मिली हैं जिन पर हाथी और उज्जयिनी-चिन्ह उत्कीर्ण हैं। ब्राह्मी लिपि मे सम्भवत 'यदम' अक्षर प्रतीत होते हैं। नाम अपूर्ण है। रैप्सन का अनुमान है कि कदाचित् पूरा नाम 'जयदामन्' था। यदि ऐसा है तो जयदामन् का उज्जैन के साथ विशेष सम्बन्ध सिद्ध होता है।

१३० ई० के अन्धौ अभिलेख मे चष्टन के साथ रुद्रदामन् शासन करते हुए दिखाया गया है। इससे प्रकट होता है कि उस तिथि तक जयदामन् मर गया था।

रुद्रदामन्—इतिहास मे यह महाक्षत्रप रुद्रदामन् प्रथम के नाम से प्रख्यात है। साहित्य में इसका नाम अनक बार आया है।[2] अन्धौ अभिलेख से प्रकट होता है कि

१ स्वयमधिगतः महाक्षत्रपनामः। २ Buddhistic Studies, p. 384.

उसने चष्टन के साथ शासन किया था। उस अभिलेख में चष्टन और रुद्रदामन् दोनों के साथ 'राजा' की उपाधि का प्रयोग समान रूप से हुआ है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उस समय भी रुद्रदामन् चष्टन की अधीनता में शासन न कर रहा था। कदाचित् दोनों के अधिकार समान थे। स्पार्टा में द्वैराज्य की प्रथा थी। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी उसका उल्लेख किया है। उसी द्वैराज्य-प्रणाली का ज्वलन्त उदाहरण हमें चष्टन और रुद्रदामन् के साथ मिलता है।

तिथि—अन्धौ अभिलेख की तिथि ५२ शक संवत् अर्थात् १३० ई० है। इस समय रुद्रदामन् चष्टन के साथ सिंहासनासीन था। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि रुद्रदामन् १४० ई० के बाद सिंहासनासीन हुआ क्योंकि १४० ई० के लगभग लिखे गये अपने भूगोल में टालमी उज्जैन के राजा चष्टन (Tiastenes) का ही उल्लेख करता है। परन्तु यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि टालमी ने भूगोल लिखा है, इतिहास नहीं। कदाचित् दोनों शासकों में से उसने वयोवृद्ध शासक चष्टन का ही नाम लिखना अधिक उचित समझा।

जूनागढ़ अभिलेख रुद्रदामन् की प्रशस्ति है। इसकी तिथि ७२ शक सम्वत् अर्थात् १५० ई० है। इससे प्रकट होता है कि रुद्रदामन् ने कम से कम १५० ई० तक अवश्य राज्य किया।

मुद्रायें—रुद्रदामन ने चाँदी की मुद्रायें निर्मित कराई थी। समस्त मुद्राओं में उसके लिए 'महाक्षत्रप' की उपाधि का प्रयोग किया गया है। इन मुद्राओं में उसके पिता जयदामन् का नाम भी मिलता है। कुछ मुद्राओं पर जयदामन् पुत्रस् लिखा है और कुछ पर जयदाम पुत्रस्। बाद वाली मुद्राओं पर रुद्रदामन् की आकृति वृद्धावस्था की-सी लगती है। इससे प्रकट होता है कि वह दीर्घकालीन शासन के पश्चात् मरा था।

राज्य-विस्तार—अन्धौ अभिलेख से प्रकट होता है कि चष्टन और रुद्रदामन् सम्मिलित रूप से कच्छ-प्रदेश पर राज्य कर रहे थे। जूनागढ़ अभिलेख से निम्नलिखित प्रदेश रुद्रदामन् के राज्य के अन्तर्गत सिद्ध होते हैं—

(१) पूर्व और अपर आकर तथा अवन्ती (पूर्वी और पश्चिमी मालवा)
(२) अनूपनिभृत (मान्धाता-प्रदेश)
(३) आनर्त (द्वारका का चतुर्दिक प्रदेश)
(४) सुराष्ट्र (जूनागढ़ का चतुर्दिक प्रदेश)
(५) स्वभ्र (साबरमती नदी का तटवर्ती प्रदेश)
(६) मरु (मारवाड़)
(७) कच्छ
(८) सिन्धु-सौवीर (सिन्धु नदी का डेल्टा)
(९) कुकुर (सिन्धु नदी और पारियात्र पर्वत के बीच का प्रदेश)
(१०) अपरान्त (उत्तरी कोंकण)
(११) निषाद (सरस्वती और पश्चिमी विन्ध्य का प्रदेश)
(१२) और कुछ अन्य प्रदेश

,, इन प्रदेशो मे सुराष्ट्र, कुकुर, अपरान्त, अनूप और अकरावन्ती के प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णी के अधीन थे। अत स्पष्ट है कि रुद्रदामन् ने उन्हे गौतमीपुत्र के किसी उत्तराधिकारी से जीता होगा।

जूनागढ अभिलेख का कथन है कि रुद्रदामन् ने दक्षिणापथ के राजा शातकर्णी को दो बार पराजित किया, परन्तु सम्बन्ध की निकटता के कारण उसका नाश नही किया। भण्डारकार का मत है कि यह शातकर्णी स्वय गौतमीपुत्र शातकर्णी था। परन्तु यह मत ग्राह्य नही है। गौतमीपुत्र ने स्वय क्षहरातो को पराजित किया था। इसका प्रमाण अभिलेख और मुद्राओ दोनो से मिलता है। परन्तु वह स्वय शकों द्वारा पराजित किया गया था अथवा उसके जीवन-काल मे किसी शत्रु ने उसके राज्य के कुछ प्रदेशो को छीन लिया था, इसका कोई प्रमाण नही है।

रैप्सन महोदय का मत है कि पराजित सातवाहन नरेश वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी था। अपने मत पोषण मे वे कहते है कि पुलमावी के समय मे सातवाहन राज्य सकुचित हो गया था। यही कारण है वाशिष्ठीपुत्र अपने शासन-काल के १९ वें वर्ष के अभिलेख मे एक मात्र 'दक्षिणापथेश्वर' कहा गया है। जूनागढ अभिलेख पराजित शक-नरेश को 'दक्षिणापथपति' कहता है। इसके अतिरिक्त रैप्सन महोदय ने अपने मत को प्रामाणिक बनाने के लिए कन्हेरी अभिलेख की सहायता ली है। इस अभिलेख का उल्लेख है कि 'वाशिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णी' ने महाक्षत्रप रुद्र की पुत्री के साथ विवाह किया था। रैप्सन महोदय का कथन है कि वाशिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णी सातवाहन-नरेश वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी था और महाक्षत्रप रुद्र महाक्षत्रप रुद्रदामन्। रैप्सन के मतानुसार इस दामाद-श्वसुर के निकट सम्बन्ध का ध्यान मे रख कर ही रुद्रदामन् ने पुरमावी का विनाश न किया था।

परन्तु रैप्सन महोदय के मत मे अनेक दोष है--

(१) किसी भी अभिलेख अथवा मुद्रा मे वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी को वाशिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णी नही कहा गया है।

(२) टालमी के कथनानुसार वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी चष्टन का समकालीन था। अत यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी ने चष्टन की प्रपौत्री से विवाह किया हो।

अत रैप्सन का मत स्वीकार नही किया जा सकता।

कुछ विद्वान् पराजित शातकर्णी को वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी का कोई उत्तराधिकारी मानते है। परन्तु उसे गौतमीपुत्र शातकर्णी का कोई उत्तराधिकारी मानना अधिक न्याय-सगत प्रतीत होता है।

गौतमीपुत्र शातकर्णी के पश्चात् ही सातवाहन-राज्य का क्षय हुआ था। अत पराजित नरेश गौतमीपुत्र का ही कोई उत्तराधिकारी रहा होगा। चष्टन की प्रपौत्री के साथ विवाह करने वाले सातवाहन-नरेश को वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी के पूर्व ही होना चाहिए। इस प्रकार पराजित सातवाहन-नरेश का काल गौतमीपुत्र शातकर्णी और वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी के कालो के बीच मे होगा। डा० रायचौधरी के मतानुसार कन्हेरी अभिलेख का वाशिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णी वाशिष्ठीपुत्र पुलमावी का कोई पूर्वगामी भाई रहा होगा।

पीछे कहा जा चुका है कि सिन्धु-सौवीर पर रुद्रदामन का अधिकार था। सुई

विहार अभिलेख से सिद्ध होता है कि दक्षिणी और मध्य सिन्धु-घाटी पर कनिष्क का अधिकार था। इससे अनुमान होता है कि रुद्रदामन् ने कनिष्क के किसी उत्तराधिकारी से यह प्रदेश जीता था।

इसके अतिरिक्त रुद्रदामन् को यौधेयो से भी युद्ध करना पडा था। वह जाति सम्भवत सतलज नदी के तट पर जोहियबार मे रहती थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्रदामन् ने अपने विशाल साम्राज्य को अनेक प्रदेशो मे विभक्त कर रखा था और प्रत्येक प्रदेश में अपने अमात्य नियुक्त कर रखे थे। जूनागढ अभिलेख का साक्ष्य है कि आनर्त-सुराष्ट्र के प्रदेश मे रुद्रदामन् ने सुविशाख को अपना अमात्य नियुक्त किया था। केन्द्रीय शासन मे सहायता देने के लिए भी रुद्रदामन् के पास मतिसचिव (Counsellors) और कर्मसचिव (Executive officers) थे।

टालमी के कथनानुसार रुद्रदामन् के पितामह चष्टन के राज्य की राजधानी उज्जैन थी। कदाचित् रुद्रदामन् की भी यही राजधानी थी।

चरित्र—रुद्रदामन् युद्ध-विद्या मे निपुण था।[1] वह वीर और कुशल शासक होने के साथ-साथ एक सुशिक्षित व्यक्ति भी था। वह अपने शब्द (व्याकरण), अर्थ (राजनीति), गन्धर्व (संगीत), और न्याय (तर्क शास्त्र) आदि के ज्ञान के लिए प्रसिद्ध था।[2] इनके अतिरिक्त वह गद्य-पद्य-काव्यो मे भी प्रवीण था।[3] वह विजेता अवश्य था, परन्तु निरर्थक हत्या करना उसे रुचिकर न था। उसने युद्ध के अतिरिक्त अन्यत्र नर-हत्या न करने की प्रतिज्ञा की थी। वह भलीभाति जानता था कि राज्य की समृद्धि और सुरक्षा के लिए राजकोष की सम्पन्नता आवश्यक है। इसी से उसका कोष कनक (सोना), रजत (चांदी), वज्र (हीरा), वैदूर्य-रत्न आदि से भरा रहता था।[4] परन्तु कोष को भरने के लिए उसने कभी भी प्रजा पर धर्म-विरुद्ध और अन्याय-पूर्ण कर, विष्टि (बेगार) और प्रणय (स्वेच्छा-दान) आदि न लादे थे।[5]

रुद्रदामन् के शासन-काल मे सुदर्शन झील का बॉध टूट गया था। उसने अपने अमात्य सुविशाख के निरीक्षण मे पुन उसकी मरम्मत करवा कर अपनी लोक-कल्याण-परता का परिचय दिया था। जूनागढ अभिलेख का कथन है कि इस मरम्मत मे जितना धन व्यय हुआ था उसे रुद्रदामन् ने अपने कोष से ही दिया था। इस कार्य के लिए उसने प्रजा पर अतिरिक्त कर न लगाया था।

रुद्रदामन प्रथम के उत्तराधिकारी

दामघसद प्रथम—रुद्रदामन् प्रथम के पश्चात् दामघसद प्रथम उसके राज्य का उत्तराधिकारी बना। यह नाम उसकी मुद्राओ पर मिलता है। परन्तु उसके वंश के कालान्तर के लेखो मे उसका नाम दामजद मिलता है। मुद्राओ से ही सिद्ध होता

१ परबल लाघव सौष्ठव क्रियेण।

२ शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारण-धारण-विज्ञान प्रयोगावाप्तविपुलकीर्तिना।

३ गद्यपद्यप्रमाणमानोन्मानस्वर गतिवर्णसारसत्वादिभिः।

४ कनकरजतवज्रवैदूर्यरत्नोपचयविष्यन्दमानकोशेन।

५ अपीडयित्वाकरविष्टिप्रणयक्रियाभिः पौरजानपदं जनं स्वस्मात् कोशात्महता धनौघेन त्रिगुणदृढतरं विस्तारयाम सेतुं विधाय।

है कि वह अपने पिता की अधीनता में क्षत्रप रहा था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् जब वह महाक्षत्रप बना तब वह प्रौढ़ हो गया था। अपनी महाक्षत्रप की मुद्राओं पर वह प्रौढावस्था में ही प्रदर्शित किया गया है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि उसका शासन अल्पकालीन था।

जीवदामन और रुद्रसिंह प्रथम—रैप्सन का मत है कि दामघसद प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र जीवदामन् और भाई रुद्रसिंह प्रथम में सिंहासन के लिए युद्ध हुआ। १७८-९ ई० में जीवदामन् महाक्षत्रप रहा। इसके पश्चात् दो वर्ष तक कोई भी महाक्षत्रप न हुआ। तत्पश्चात् १८१-८ ई० तक रुद्रसिंह प्रथम महाक्षत्रप रहा। परन्तु मुद्राओं से प्रकट होता है कि १८८ ई० में अचानक रुद्रसिंह प्रथम एक-मात्र क्षत्रप रह जाता है। क्षत्रप के रूप में उसकी मुद्रायें १८८ ई० से १९१ ई० तक पाई जाती हैं। १९१ ई० में भाग्य ने फिर उसका साथ दिया और वह महाक्षत्रप बन गया। महाक्षत्रप के रूप में उसने १९१ ई० से १९६ ई० तक राज्य किया।

रुद्रभूति आभीर और ईश्वरदत्त आभीर—इस प्रकार हम देखते हैं कि १७९ ई० से १८१ ई० तक कोई भी शक महाक्षत्रप न रहा। इस काल की रुद्रसिंह प्रथम की मुद्रायें मिलती हैं, परन्तु उनमें वह 'क्षत्रप' के रूप में उल्लिखित है। विद्वानों का मत है कि शक-वंश के इस पतन का कारण आभीर सेनापति रुद्रभूति का उदय था। १८१ ई० के गुण्ड अभिलेख में इस सेनापति द्वारा एक तालाब खुदवाने का उल्लेख है। इस अभिलेख में किसी भी महाक्षत्रप का नाम नहीं आता। एकमात्र रुद्रसिंह का उल्लेख है और वह भी क्षत्रप के रूप में। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में सत्ता रुद्रभूति आभीर के हाथ में चली गई थी और रुद्रसिंह प्रथम उसके अधीन क्षत्रप हो गया था। परन्तु शीघ्र ही रुद्रसिंह प्रथम ने अपने वंश का पुनरुद्धार किया और १८१ ई० में वह, पुन. महाक्षत्रप बन गया। वह १८८ ई० तक इस पद पर रहा। १८८ ई० से १९० ई० तक फिर कोई भी शक महाक्षत्रप न हुआ। भण्डारकर और अल्टेकर के मतानुसार ये वर्ष दूसरे आभीर नेता ईश्वरदत्त के उदय काल थे। वह दो वर्ष तक महात्रप रहा। इस काल में भी रुद्रसिंह प्रथम को आधीन क्षत्रप के रूप में कार्य करना पड़ा।

परन्तु १९१ में रुद्रसिंह प्रथम फिर महाक्षत्रप बन गया और १९६ तक स्वतन्त्र शासक के रूप में राज्य करता रहा। १९६ में कदाचित् रुद्रसिंह प्रथम की मृत्यु हो गई और जीवदामन् फिर महाक्षत्रप बन गया। उसने १९९ ई० तक राज्य किया। इस काल की मुद्राओं पर वह वृद्धावस्था में दिखाया गया है।

रुद्रसेन प्रथम—जीवदामन् की मृत्यु के पश्चात् रुद्रसिंह प्रथम का पुत्र रुद्रसेन, प्रथम शासक बना। २०० ई० से मुलवासर-अभिलेख में उसे 'राजा-महाक्षत्रप-स्वामी' कहा गया है। मुद्राओं से प्रकट होता है कि इसने २०० ई० से २२२ ई० तक राज्य किया।

सिंहदामन् और मालव युद्ध—मुद्राओं से प्रकट होता है कि रुद्रसेन प्रथम के पश्चात् उसका भाई सिंहदामन् शासक हुआ। इसका शासन केवल एक वर्ष ही रहा। २२६ ई० के नन्दसा यूप अभिलेख में मालव-नेता सोम का उल्लेख है। उसमें मालवों की स्वतन्त्रता और समृद्धि के उपलक्ष्य में सोम द्वारा किए गए यज्ञ का भी वर्णन है। इससे प्रकट होता है कि मालव शक-राज्य से पृथक् हो गए थे और उन्होंने अपनी स्व-तन्त्रता घोषित कर दी थी। मालवों को २२६ ई० में स्वतन्त्रता मिली थी। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उनका स्वतन्त्रता-संग्राम ३-४ वर्ष तक चलता रहा

होगा। इसी आधार पर डा० अल्टेकर का मत है कि २२३ ई० में कदाचित् मालवों से युद्ध करते हुए सिंहदामन् की मृत्यु हो गई थी।

दामसेन—सिंहसेन के पश्चात् दामसेन सिंहासनासीन हुआ। यह रुद्रसिंह का तीसरा पुत्र था। मुद्राओं से प्रकट होता है कि इसने २२३ ई० से २३६ ई० तक राज्य किया।

दामसेन के उत्तराधिकारी—दामसेन के पश्चात् क्रमशः यशोदामन्, विजयसेन, दामजद श्री विश्वसिंह और भर्तृदामन् ने २९५ ई० तक राज्य किया।

विन्ध्यशक्ति का उदय—डा० अल्टेकर का मत है कि २५५ ई० के लगभग वाकटक विन्ध्यशक्ति का उदय हुआ और उसने शकों से मालवा-राज्य छीन लिया। अपने मत के पोषण में डा० अल्टेकर का कथन है कि मालवा में शक-मुद्रायें २४० ई० तक ही मिलती हैं। परन्तु अल्टेकर महोदय के विरोध में यह कहा जा सकता है कि विन्ध्यशक्ति को सत्ता-प्राप्ति इस घटना के १५ वर्ष पश्चात् हुई। अतः फिर यह कैसे मान लिया जाय कि २४० ई० में विन्ध्यशक्ति ने मालवा जीत लिया था?

सेसैनियन आधिपत्य—२२४ ई० से लेकर ३४० ई० तक का काल शक-वंश के पतन का काल है। इस काल में कोई भी शक-महाक्षत्रप न हुआ। विद्वानों का मत है कि इस समय भारतवर्ष पर सेसैनियों का आक्रमण हुआ था और उन्होंने शक-स्थान तथा पश्चिमी भारत के कुछ प्रदेश तर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। यह अधिका सेसैनियन नरेश बहराम द्वितीय २९३ ई०) के शासन-काल से प्रारम्भ हुआ था और शापुर द्वितीय (३०९-७९) के शासन-काल के प्रारम्भिक चरण तक रहा था। परन्तु धीरे-धीरे भारत में सेसैनियनों की सत्ता निर्बल होती गई। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के प्रति श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित करने वाले उत्तर-पश्चिम-प्रदेश के जिन विदेशियों का वर्णन है उनमें सेसैनियन भी रहे होंगे।

रुद्रसिंह तृतीय—सेसैनियन आधिपत्य के पश्चात् शकवंश का पुनरुद्धार हुआ और वे पश्चिमी भारत में कुछ दिनों तक पुनः राज्य करते रहे। उनके अन्तिम नरेश रुद्रसिंह तृतीय को पराजित करके चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शक-राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

शक-कालीन भारत की सामाजिक अवस्था

शकों का भारतीयकरण—शक भारत में विदेशी विजेता के रूप में आये, परन्तु भारतवर्ष की ग्रहण-शक्ति ने उन्हें अपने समाज में आत्मसात् कर लिया। धीरे धीरे वे अपनी विदेशीयता का परित्याग कर पूर्णतः भारतीय बन गए। महाभारत शकद्वीप का वर्णन करते हुए कहता है कि वहाँ वर्णाश्रम-धर्म प्रतिष्ठित है और वहाँ के निवासी मिथ्याचार, लोभ और ईर्ष्या से मुक्त हैं।[1] महाकाव्य का यह वर्णन कदाचित् उस समय का है जब शकद्वीप के शकों का पर्याप्तिरूप से भारतीयकरण हो गया था और वे ब्राह्मण वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत आ गए थे। यही नहीं, टालमी ने शक-ब्राह्मणों (Brakhmanoi Magoi) का उल्लेख किया है। पुराणों और महाभारत का भी कथन है कि शकद्वीप के ब्राह्मण मग कहलाते थे।[2] प्रारम्भ में मग शकों के पुरोहित थे। परन्तु कालान्तर में वे भारतीय ब्राह्मणों की कोटि में परिगणित होने लगे

१ महा० ६.११ २ कूर्म पुराण XLVIII, 36, महा० VI.II

थे। इसी प्रकार मनु शकों को वृषल क्षत्रियो की कोटि मे रखते है।[1] महाभारत का भी कथन है कि शक जाति प्रारम्भ मे क्षत्रिय थी, परन्तु ब्राह्मण-सम्पर्क से पृथक् हो जाने के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हुई।[2] इस कथन मे भी ब्राह्मण व्यवस्थाकारों का शक जाति को अपनी वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत लाने की चेष्टा परिलक्षित होती है। पतंजलि के मतानुसार शक यद्यपि शूद्र थे, परन्तु वे अस्पृश्य न थे।[3] जिन पात्रों में वे भोजन करते थे वे द्विजातियो के लिए त्याज्य न समझे जाते थे। इस कथन मे भी शकों को वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ही रक्खा गया है।

शकों के नाम भी उत्तरोत्तर भारतीय हो गए थे। पश्चिमी भारत के क्षत्रपो जयदामन्, रुद्रदामन्, जीवदामन्, रुद्रसेन, सिंहदामन् आदि के नाम भारतीय है।

शको के भारतीयकरण का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि भारतीयो ने उनके साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना भी प्रारम्भ कर दिया था। जूनागढ अभिलेख से पता चलता है कि महाक्षत्रप रुद्रदामन् का सातवाहन-नरेश शातकर्णी के साथ निकट-सम्बन्ध था। कन्हेरी अभिलेख से यह सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः शातकर्णी रुद्रदामन् का दामाद था। नागार्जुनीकोंड अभिलेख से पता चलता है कि इक्ष्वाकु नरेश वीरपुरुषदत्त ने उज्जैन के शक-नरेश की कन्या रुद्रभट्टारियका के साथ विवाह किया था। डा० डी० सी० सरकार का अनुमान है यह रुद्रभट्टारिका सम्भवतः रुद्रसेन प्रथम (२००-१३ ई०) अथवा रुद्रसेन द्वितीय (२५४-७४ ई०) से सम्बन्धित थी।

शको ने भारतीय धर्मो को भी अंगीकार कर लिया था। मथुरा मे इस समय के कम से कम ८४ जैन-अभिलेख प्राप्त हुए है। महाक्षत्रप सोडास के समय के आमोहिनी अभिलेख का उल्लेख किया जा चुका है। इसमे आमोहिनी नामक जैन गृहस्थ नारी का उल्लेख है। दूसरे जैन अभिलेख मे अर्हत वर्धमान के प्रति श्रद्धा-प्रदर्शन है। चीनी लेखको का कथन है कि जब कनिष्क पूर्वी भारत की विजय के पश्चात् वापस आ रहा था तो उसने चौड़े और समतल प्रदेश (broad flat country) मे निर्ग्रन्थों (Nikien)—जैनो—के बहुसख्यक स्तूप देखे।[4] इन सब साक्ष्यो से प्रकट होता है कि तक्षशिला और मथुरा के शक-क्षत्रप जैन-धर्म के प्रति भी उदार थे।

अभिलेखो से प्रकट होता है कि उत्तर के शक क्षत्रप बौद्ध धर्म के भी पोषक थे। उनके शासन-काल मे मथुरा, तक्षशिला और मनिक्याल बौद्ध-धर्म के केन्द्र थे।

पश्चिमी भारत के शक बौद्ध और ब्राह्मण दोनो धर्मों मे समान रूप से रुचि रखते थे। नहपान के दामाद ऋषभदत्त ने दोनों धर्मावलम्बियों को अनुगृहीत किया था। कन्हेरी अभिलेख[5] में बौद्ध सघ के लिए करजिक ग्राम के दान का उल्लेख है। यही अभिलेख बार्णासा और प्रभास के ब्राह्मणो को दिए गए दान का भी वर्णन करता है। इसी प्रकार नासिक अभिलेख सख्या १२ मे बौद्ध सघ, ब्राह्मणो और देवताओ को दिए गए दान का उल्लेख है। नासिक अभिलेख सख्या १० के अनुसार ऋषभदत्त प्रभास, दशपुर गोवर्धन, शूर्पारक और पुष्कर आदि तीर्थों मे गया था। उसने तीर्थ-स्नान किए थे तथा ब्राह्मणो और भिक्षुओ को दान दिए थे।

१ मनु० १०, ४३-६४४
२ महा० अनु० ३३. २१-२३
३ पाणिनि २. ४. १० पर महाभाष्य
४ Ind. Ant. 1908, 382.
५ Luders no. 1099.

ब्राह्मण-धर्म में अनेक सम्प्रदाय प्रतिष्ठित थे। महाभारत का उल्लेख है कि शकद्वीप में शकर की पूजा होती थी।[1] रुद्रदामन्, रुद्रसेन और रुद्रसिंह के नाम कदाचित् शैव प्रतिष्ठा के उदाहरण है। प्रभुदामा की सील पर बैल का चित्र भी कदाचित् यही सिद्ध करता है। पतंजलि का साक्ष्य है कि उनके समय में शिव, स्कन्द और विशाख की मूर्तियों की पूजा होती थी।[2] कुछ विद्वानों का मत है कि शक मुद्राओं पर शिव और पार्वती के भी चित्र मिलते हैं।[3]

कुछ अभिलेखों में नागपूजा के भी उदाहरण मिलते हैं। एक अभिलेख मे सर्पराज दधिकर्ण का उल्लेख है।[4] एक अन्य अभिलेख मथुरा में एक नाग-मूर्ति पर पाया गया है।[5]

परन्तु अनेक विद्वानों का मत है कि शक भागवत धर्म के विरुद्ध थे। 'उत्तरी भारत के शक और कुषाण नरेश साधारणतया वासुदेव-धर्म के विरोधी थे और इसी भागवत धर्म-विरोधी मनोवृत्ति के कारण कदाचित् विदेशी राजाओं और वैष्णव राजा चन्द्र तथा गुप्त सम्राटों का विग्रह हुआ।'[6]

आर्थिक व्यवस्था—शक-शासन के अन्तर्गत भारतवर्ष की व्यापारिक और व्यावसायिक क्षेत्र मे बड़ी उन्नति हुई। विद्वानो के मतानुसार बैक्ट्रिआना के यूनानी राज्य की स्थापना के पश्चात् भारत में तीन व्यापारिक मार्गों की प्रतिष्ठा हुई—

(१) पाटलिपुत्र से कौशाम्बी और उज्जैन होते हुए बैरीगाजा जाने वाला मार्ग।

(२) पाटलिपुत्र से वैशाली और श्रावस्ती होते हुए नेपाल जाने वाला मार्ग।

(३) पाटलिपुत्र से मथुरा और सिन्धु घाटी से होते हुए बैक्ट्रिया जाने वाला मार्ग।

इनमें प्रथम और तृतीय मार्ग शक-राज्य से होकर जाते थे। रुद्रदामन् ने सिन्धु-सौवीर पर अधिकार करके पश्चिमोत्तर प्रदेशों से जाने वाले मार्गों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

फ्लीट के मतानुसार दक्षिणी भारत में दो प्रमुख व्यापारिक मार्ग थे—एक मार्ग मछलीपट्टम से प्रारम्भ होता था और दूसरा विनुकोंड से। कुछ दूर अलग-अलग चलने के पश्चात् दोनो एक स्थान पर मिल जाते थे और फिर एक मार्ग के रूप मे हैदराबाद, कल्यान, पैठान और दौलताबाद होते हुए बैरीगाजा पहुँचते थे।

देश के प्रमुख व्यापारिक मार्गों तथा बन्दरगाहों—बैरीगाजा (भडौच), बार्बेरिकम (सिन्धु के मुहाने पर), कल्यान और सोपारा आदि—पर अधिकार होने के कारण शक-राज्य में व्यापार-व्यवसाय की बड़ी उन्नति हुई।

देश के भीतरी भाग मे उज्जैन, पैठान, टगारा (टेर) आदि व्यापार की मंडियाँ थी। पेरिप्लस के कथनानुसार भारतवर्ष में विदेशों से चाँदी के बहुमूल्य बर्तन, शराब, अंगराग, बहुमूल्य वस्त्र और राजा के अन्तःपुर के लिए सुन्दरियाँ मँगाई जाती

१ महा० ६, २१. २८
२ महाभाष्य ५. ३. ९९
३ Bannerji, Development of Hindu Iconography I. 122.
४ Luders, Inscription, no. 85.
५ Luders, Inscription no. 52 a.
६ Early History of the Vaishnava Sect., 4.

थी। इनके बदले में यहाँ से मोती, हाथी-दाँत की वस्तुएँ, सूती वस्त्र, मसाले आदि विदेशो में भेजे जाते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि देश के व्यवसायी सघो में सगठित थे। नासिक अभिलेख १२ मे जुलाहो के एक संघ का उल्लेख है। यह सघ बैंक का भी कार्य करता था। ऋषभदत्त ने इस संघ के पास २००० कार्षापण जमा किये थे जिस पर संघ ने १% प्रति मास ब्याज देने का वचन दिया था। राज्य व्यापारियों और व्यवसायियों के ऊपर कर भी लगाता था। रुद्रदामन् के जूनागढ अभिलेख में शुल्क (Custom duty) का उल्लेख है।

व्यापारिक गमनागमन ने उपनिवेश-स्थापना में भी योग दिया था। सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) और यवभूमि (जावा) मे उपनिवेश-स्थापना का बीजारोपण इसी काल मे हुआ। इसी समय भारतवर्ष, मध्य एशिया और चीन का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ हुआ। पश्चिमोत्तर मार्गों से व्यापार के साथ-साथ सास्कृतिक आदान-प्रदान भी सम्भव हो सका।

संस्कृत और प्राकृत—सातवाहन वश के नरेशों ने अपने अभिलेखों तथा अपनी मुद्राओं पर प्राकृत भाषा का प्रयोग किया है। परन्तु पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपों ने सस्कृत को प्रोत्साहन दिया। रुद्रदामन् का जूनागढ अभिलेख विशुद्ध गद्यात्मक सस्कृत मे उत्कीर्ण है। रुद्रदामन् के उत्तराधिकारियो के भी अभिलेख अधिकांशत संस्कृत भाषा मे ही है।

संस्कृत नाटक—लेवी महोदय का कथन है कि यह धारणा असगत है कि भारतीय नाटक के ऊपर यूनानियों का प्रभाव है। वास्तव मे 'यवनिका' से उस पदार्थ का भी बोध हो सकता है जिससे पर्दा बनता था और जो सिन्धु नदी के पश्चिम मे यवन-राज्य मे प्राप्य था। लेवी महोदय का मत है कि सस्कृत नाटक का शक-काल मे उज्जयिनी मे विकास हुआ। इस विद्वान् के कथनानुसार सस्कृत नाटक मे 'शकार (श्यालक)' का चरित्र वास्तव मे विदेशी शक-नरेशों के प्रति भारतीयो की उपेक्षा का परिणाम है। इसी भावना से प्रेरित होकर भारतीय नाटककार शकार को उपहासात्मक रूप मे प्रदर्शित करते थे।

सगीत—काव्य और नाटक को प्रोत्साहन देने के साथ-साथ शकों ने सगीत को भी प्रोत्साहन दिया। रुद्रदामन प्रथम गान्धर्व विद्या मे प्रवीण था। मातग ने अपनी 'बृहद्देशी' मे 'शकमिश्रित' और 'शकाक्ष्य' नामक संगीत का उल्लेख किया है।

ज्योतिष—कदाचित् इसी समय शक-माध्यम के द्वारा यूनानी ज्योतिष का भारत मे विकास हुआ।

सास्कृतिक आदान-प्रदान—शकों के ऊपर यूनानियों और पारसीकों का बडा प्रभाव था। अत भारतवर्ष में वे दोनों की सस्कृतियो के सम्मिश्रण को लेकर आये। उत्तरी शको की मुद्राएँ भी यूनानी मुद्राओ का अनुकरण करती है। परन्तु इसके साथ साथ अनेक शक नरेशो के नाम पारसीक-पह्लवीय विदित होते हैं। उनके शासन की क्षत्रप-प्रणाली भी फारस मे ही आई थी। इन सास्कृतिक विचार-धाराओ को लेकर जब शक भारतीय सस्कृति के सम्पर्क में आए तो भारतवर्ष के ऊपर उनका प्रभाव पडना स्वाभाविक था। इस प्रभाव ने भारतवर्ष की रूढ़िवादिता को भारी धक्का पहुँचाया और वह नवीन परिस्थिति में नवीन रूप धारण करने के अनुकूल बन सका।

पह्लव (Parthians)

पह्लवो का इतिहास बडा विवाद-ग्रस्त है। न तो इनके राजाओं के विषय में असन्दिग्धरूप से अधिक कहा जा सकता है और न उनके काल-क्रम के विषय मे। इनका इतिहास शको के साथ इतना घुल-मिल गया है कि कभी-कभी यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि अमुक राजा शक है या पह्लव। फिर भी उपलब्ध मुद्राओं और अभिलेखों की सहायता से विद्वानो ने इनका इतिहास निर्मित करने की चेष्टा की है।

वोनोनीज—पह्लव राजवश का सर्वप्रथम राजा वोनोनीज प्रतीत होता है। इसने अराकोशिया और सीस्तान में अपनी शक्ति की स्थापना की। रैप्सन इसे पूर्वी ईरान का शासक मानते है। इस विद्वान् का कथन है कि वानोनीज का उदय मिथ्रिडेटस द्वितीय के पश्चात् हुआ। वोनोनीज ने 'महाराज रजरजस महतस' (महाराजाधिराज) की उपाधि धारण की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि वोनोनीज मावेज का समकालीन था। जिस समय वोनोनीज सीस्तान मे राज्य कर रहा था उसी समय मावेज पंजाब मे। इसकी कुछ मुद्रायें यूक्रेटाइडीज वश की मुद्राओ के अनुकरण पर है। उन पर इसके भाइयो स्पैलिरिसिस और स्पैलेहोरिज तथा भतीजे स्पेलेगदमिज के नाम मिलते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि इन लोगों ने वोनोनीज को राज्य-कार्य मे योग दिया था। सम्भवत. ये वोनोनीज के राज्य के विभिन्न प्रदेशो के गवर्नर थे।

स्पैलिरिसिस—वोनोनीज के पश्चात् स्पैलिरिसिस सिहासन पर बैठा। इसकी कुछ मुद्राओ पर सामने की ओर यूनानी लिपि मे इसका (स्पैलिरिसिस) और पीछे की ओर खरोष्ठी लिपि मे एजेज के नाम लिखे है। इससे कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि शक-राजा एजेज प्रथम पह्लव सम्राट् स्पैलिरिसिस की अधीनता में राज्य करता था। परन्तु यह भी सम्भव है कि दोनों सम्बन्धी हो अथवा एकमात्र मित्र और किसी विशेष कारण से दोनो ने सम्मिलित मुद्रायें चलाई हो।

गाण्डोफार्नीज—यह पह्लव-वश का सबसे प्रतापी राजा था। १०३ तिथि के तख्ते-बाही अभिलेख से प्रकट होता है कि यह पश्चिमोत्तर प्रदेश मे राज्य कर रहा था। उसमे इसे गुदुह्वर कहा गया है। सम्भवत यह तिथि विक्रम सवत् की है। अत: गाण्डोफार्नीज (१०३-५८)=४५ ई० मे राज्य कर रहा था। यह तिथि उसके शासन की २६वें वर्ष की थी। अत वह १९ ई० मे सिहासन पर बैठा होगा। कुछ विद्वानो का मत है कि प्रारम्भ में गाण्डोफार्नीज और गुद (गुदन) दोनो ओर्थेगेनीज के गवर्नर थे। परन्तु कालान्तर में गाण्डोफार्नीज अधिक शक्तिशाली हो गया और उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। अन्य विद्वान् गुद, गुदन, गुदफर, गुव्हर, गाण्डोफेरिस आदि नामो को गाण्डोफार्नीज के ही रूपान्तर मानते है। टार्न महोदय गाण्डोफार्नीज और फायोटीज को एक ही व्यक्ति मानते है। परन्तु यह असंगत प्रतीत होता है।

ईसाई धर्म का प्रसिद्ध प्रचारक टामस गाण्डोफार्नीज के शासन-काल मे भारत आया था। डा० स्मिथ का मत है कि उसने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। परन्तु इस मत का कोई प्रमाण नही है। हां, जनश्रुतियो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सन्त टामस गाण्डोफार्नीज के दरबार मे गया था।

गाण्डोफार्नीज के उत्तराधिकारी—लोहाइजन का मत है कि गाण्डोफार्नीज की मृत्यु के पश्चात् उसका भतीजा ऐब्डगेसस राजा बना।

ऐज्डगेसस के पश्चात् पकोरिस सिंहासन पर बैठा। मुद्राओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सीस्तान और पंजाब इसके अधीन थे। रैप्सन का मत है कि पकोरिस पश्चिमी पंजाब में और सेनेबेरीज सीस्तान में शासन करते थे। इनके पश्चात् पह्लव-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

पह्लव साम्राज्य के पतन के कारण—पह्लव साम्राज्य के पतन के निम्नलिखित कारण बताये जा सकते है—

(१) गाण्डोफार्नीज के पश्चात् पह्लव-वंश में कोई शक्तिशाली और योग्य शासक न हुआ।

(२) धीरे-धीरे सामन्तों की शक्ति बढ़ती गई। गाण्डोफार्नीज के समय में ही कुछ सामन्तों ने 'महाराज राजराज' जैसी बड़ी उपाधियाँ धारण की थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् वे पूर्ण निरंकुश हो गये और उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी।

(३) पेरीप्लस का कथन है कि पह्लवों में आपसी झगड़े हो रहे थे।[१] इनसे उनकी शक्ति को ह्रास हुआ होगा।

(४) फिलास्ट्रेटस का कथन है कि बर्बर जातियों का सामना करने के लिये गाण्डोफार्नीज ने बर्बर लोगों की सहायता ली थी। यहाँ बर्बर जातियों से कुषाणों का तात्पर्य है। कुषाणों ने पह्लव राज्य पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिए थे। १२२ तिथि के पंजतर अभिलेख से सिद्ध होता है कि उन्होंने काबुल घाटी पर अधिकार कर लिया था। १३६ तिथि के तक्षशिला अभिलेख से प्रकट होता है कि उन्होंने तक्षशिला को भी हस्तगत कर लिया था। कुषाण-नरेश कुजुल कैडफिसेज, विम कैडफिसेज और कनिष्क के आक्रमणों ने पह्लव राज्य का पूर्ण विनाश कर दिया।

राज्य-विस्तार—(१) गाण्डोफार्नीज की कुछ मुद्रायें ओर्थेगेनीज की मुद्राओं से मिलती-जुलती है। इस आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि गाण्डोफार्नीज का पूर्वी ईरान पर अधिकार था। (२) ओरेडस प्रथम और आर्टाबेनस तृतीय नामक पार्थिया-नरेशों की कुछ मुद्राओं पर गाण्डोफार्नीज का चिन्ह (Gondopharnes symbol) अंकित है। इस आधार पर रैप्सन और मार्शल का मत है कि **पार्थिया-साम्राज्य के सीस्तान तथा कुछ अन्य भाग** गाण्डोफार्नीज के साम्राज्य में थे। (३) चीनी लेखक फान-ये का कथन है कि काबुल-प्रदेश पार्थिया के अधीन था। इस आधार पर कुछ विद्वान् यह अनुमान करते है कि **काबुल घाटी** पह्लव-नरेश गाण्डोफार्नीज के अधिकार में थी। इन विद्वानों का यह भी मत है कि काबुल घाटी के अन्तिम यूनानी शासक हर्मियस ने कुषाण-नरेश कुजुल कैडफिसेज के साथ गाण्डोफार्नीज के विरुद्ध सन्धि की थी। इसी से कुछ मुद्राओं पर उन दोनों के नाम है। परन्तु इस सन्धि के होते हुए भी गाण्डोफार्नीज ने काबुल घाटी पर अधिकार कर लिया था। परन्तु इस विषय में निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। (४) गाण्डोफार्नीज की कुछ मुद्रायें शक-शैली की है। अतः सम्भव है कि गाण्डोफार्नीज ने शकों को पराजित

१ 'Before it (Barbaricum) there lies a small island and behind it is the metropolis of *Scythia, Minnagara; it is subject to Parthian*, princes who are contantly driving each other out.'

करके **पश्चिमी पंजाब** पर अधिकार कर लिया हो। (५) पेरीप्लस सैण्डनीज नामक एक राजा का उल्लेख करता है जिसके अधिकार में सुराष्ट्र और बेरीगाजा (भरुकच्छ) के प्रदेश थे। मार्शल महोदय सैण्डनीज को गाण्डोफार्नीज का गवर्नर सपेडनीज बताते हैं और इस आधार पर कच्छ और काठियावाड को गाण्डोफार्नीज के अधीन बताते हैं परन्तु यह मत असगत है, क्योंकि पेरीप्लस का सैण्डनीज सातवाहन-नरेश सुन्दर शातकर्णि था।

उपर्युक्त साक्ष्यो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पश्चिमी पजाब, पश्चिमोत्तर प्रदेश, काबुल घाटी, सीस्तान और पार्थिया का कुछ भाग गाण्डोफार्नीज के अधीन थे।

गाण्डोफार्नीज के गवर्नर—अपने विशाल राज्य के विभिन्न प्रदेशो में गाण्डोफार्नीज के अपने गवर्नर नियुक्त किये थे। इनमें से कुछ के नाम उपलब्ध होते हैं—

(१) **अस्पवर्मन्**—यह पहले एजेज द्वितीय का गवर्नर था परन्तु बाद को इसने गाण्डोफार्नीज की अधीनता स्वीकार कर ली। कुछ विद्वानो के अनुसार यह स्वात घाटी का गवर्नर था।

(२) **सपेडनीज और सतवस्त्र**—इनके नाम गाण्डोफार्नीज की मुद्राओ पर मिलते हैं। कुछ विद्वानो के मतानुसार ये तक्षशिला के गवर्नर थे।

(३) **ऐब्डगेसस**—यह गाण्डोफार्नीज का भतीजा था जो सम्भवत पूर्वी ईरान का गवर्नर था।

(४) **जिहानिसेस**—मार्शल इसे गाण्डोफार्नीज के अधीन चुक्ष-प्रदेश का गवर्नर बताते हैं। इसकी कुछ मुद्राये भी मिलती हैं जिन पर जिहुनिअ लिखा हुआ है। टार्न महोदय के अनुसार तक्षशिला अभिलेख (१९१) का जिहाणिक गाण्डोफार्नीज का गवर्नर था।

सपेडनीज और सतवस्त्र ने 'महाराज राजराज' की उपाधि धारण की थी। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गाण्डोफार्नीज के कुछ गवर्नर बडे शक्तिशाली थे और वे प्राय स्वतन्त्र शासको के रूप में राज्य करते थे।

२८

कुषाण

यू-ची—यू-ची जाति पश्चिमी चीन में **गोबी प्रदेश** में रहती थी। इसी के पड़ोस में एक अन्य जाति रहती थी जो इतिहास में हूँग-नू (हूण) के नाम से प्रसिद्ध है। हूँग-नू-नरेश लाओ-शंग (ई० पू० १७४-१६०) ने यू-ची जाति पर आक्रमण किया और उसके राजा को मार डाला। कहते हैं कि विजेता ने अपनी क्रूरता का परिचय देते हुए मृत यू-ची-नरेश के कपाल (Skull) का जल-पात्र बनवाया। इस पराजय के पश्चात् यू-ची जाति को अपना प्रदेश छोड़ना पड़ा। नये प्रदेश की खोज में इसकी एक शाखा **नान-शान** के पहाड़ी प्रदेश में आई और यहीं बस गई। यहाँ इसे **सिआओ-यू-ची** (छोटी यू-ची) कहा जाने लगा। यू-ची की दूसरी शाखा सर दरिया (Jaxartes) के प्रदेश में गई। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यहाँ शक जाति रहती थी। यू-ची ने शकों को परास्त करके सर-प्रदेश पर अपना अधिकार जमाया। यू-ची की यह शाखा **तायू-ची** कहलाई।

परन्तु यू-ची सर-प्रदेश में अधिक समय तक नहीं रह सके। १४०ई०पू० एक अन्य जाति वू-सुन के राजकुमार ने हूँग-नू की सहायता से यू-ची पर आक्रमण कर दिया और उसे परास्त कर दिया। यू-ची को सर प्रदेश से भाग कर ताहिया (Bactria) में शरण लेनी पड़ी। उसने यहाँ के निवासी शकों को पराजित करके ताहिया में अपना राज्य स्थापित कर लिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि शीघ्र ही यू-ची जाति पाँच शाखाओं में विभक्त हो गई और प्रत्येक शाखा के अधीन एक एक राज्य हो गया। इन राज्यों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) हिऊमी (Hieou mi)

(२) चाउआंग मी (Chouang mi),

(३) कोई चाउआंग (Kouei Chouang) अथवा कुषाण,

(४) ही-तुम (Hi-tum)

(५) ताउ-मी (Tou mi) अथवा काओ फू (Kao fou)।

यह विभाजन यू-ची द्वारा बैक्ट्रिया विजय के पश्चात् हुआ था। परन्तु ये राज्य बैक्ट्रिया में न थे। मार्क्वार्ट (Marquart) के मतानुसार इन राज्यों की स्थिति इस प्रकार थी—

(१) हिऊमी से वाखान का तात्पर्य है।

(२) चाउआंग-मी चितरात-प्रदेश था।

(३) कोइ-चाउआंग का समीकरण गन्धार से किया गया है।

(४) ही-तुन को परवान समझना चाहिये।

(५) ताउ-मी के विषय में मतभेद है। सम्भवतः यह काबुल के समीप कोई प्रदेश था।

कुजुल कैडफिसेस—यह उपर्युक्त तीसरे राज्य कोई-चाउआंग अथवा कुषाण का राजा था। चीनी इतिहास-ग्रन्थों में इसका नाम कीयू-सीयू-किओ (Kieou-tsi-cou-kio) मिलता है। कुषाण-वंश में दो कैडफिसेस हुए। अतः इसे कैड्फिसेस प्रथम भी कहा जाता है। यह बड़ा पराक्रमी नरेश सिद्ध हुआ। इसने अन्य चारों राज्यों को अपने राज्य में मिला लिया और 'राजा' की उपाधि धारण की। इस समय के पश्चात् हम शेष चार शाखाओं का नाम नहीं सुनते। यू-ची जाति के स्थान पर कुषाण जाति का ही उल्लेख होने लगा।

पार्थिया की पराजय—अपनी स्थिति दृढ़ करने के पश्चात् कुजुल कैड्फिसेस ने अपना राज्य-विस्तार करना आरम्भ किया। हाउ-हान-शू नामक चीनी इतिहास-ग्रन्थ के अनुसार इसने आ-सी (पार्थिया) पर आक्रमण किया और काओ-फू (काबुल), पू-ता (अराकोशिया) और कि-पिन (हिन्दूकुश के दक्षिण का भाग) पर अधिकार कर लिया। पहले कहा जा चुका है कि पह्लव-नरेश गाण्डोफार्नीज की मृत्यु के पश्चात् पार्थिया एक निर्बल राज्य हो गया था। इस निर्बलता से लाभ उठाकर कुजुल कैड्फिसेस के नेतृत्व में कुषाणों ने पह्लवों के अनेक प्रदेश छीन लिये थे।

काबुल घाटी—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, काबुल घाटी में हिन्द-यूनानी नरेश हर्मियस का राज्य था। कुछ ऐसी मुद्रायें प्राप्त हुई हैं जिनके अग्रभाग पर हर्मियस का नाम है और पृष्ठभाग पर कुजुल कैड्फिसेस का। इन मुद्राओं ने विद्वानों में विवाद खड़ा कर दिया है—

(१) टार्न महोदय का मत है कि ये मुद्रायें प्रचारार्थ (Propaganda coinage) बनवाई गई थीं। काबुल घाटी पर अधिकार करने के पश्चात् कुजुल कैड्फिसेस ने वहाँ की यूनानी जनता को प्रसन्न करने के लिये अपनी मुद्राओं पर यूनानी राजा हर्मियस का भी नाम अंकित करा दिया, यद्यपि हर्मियस पहले ही मर चुका था। परन्तु अधिकांश विद्वान् टार्न के इस मत का विरोध करते हैं। ये विद्वान् हर्मियस को कुजुल का पूर्वगामी नहीं वरन् समकालीन मानते हैं।

(२) कुछ विद्वान् इन सम्मिलित मुद्राओं को कुजुल और हर्मियस की प्रगाढ़ मित्रता की द्योतक मानते हैं। इनके मतानुसार कुजुल ने पह्लवों के विरुद्ध हर्मियस की सहायता की थी। इस प्रकार हर्मियस ने यू-ची की चार अन्य शाखाओं के विरुद्ध कुजुल की सहायता की थी। मित्र होने के साथ-साथ दोनों स्वतन्त्र थे।

(३) अन्य विद्वान् हर्मियस को स्वतन्त्र शासक और कुजुल को उसका अधीनस्थ गवर्नर मानते हैं। कुछ समय पश्चात् जब हर्मियस की मृत्यु हो गई तो कुजुल ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। यह भी सम्भव है कि हर्मियस के विरुद्ध विद्रोह करके तथा उसे पराजित करके कुजुल ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित की हो।

जो भी हो, अन्ततोगत्वा काबुल घाटी पर कुजुल कैड्फिसेस का अधिकार हो गया था, क्योंकि यहाँ ऐसी भी मुद्रायें मिलती हैं जिन पर एकमात्र कुजुल कैड्फिसेस का ही

नाम है। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि कुजुल ने काबुल घाटी हिन्द-यूनानियों से नहीं वरन् पह्लवों से छीनी थी।

गन्धार—निम्नलिखित साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गन्धार भी कुजुल कैड्फिसेस के अधीन था—

(१) सिरकप (तक्षशिला) में उसकी मुद्रायें पाई गई हैं।

(२) १३६ तिथि के तक्षशिला अभिलेख (Taxila Silver Scroll Inscription) में किसी 'महाराज राजाधिराज देवपुत्र' का उल्लेख है। कुछ विद्वान् इसका समीकरण कुजुल कैड्फिसेस से करते हैं।

कुजुल का राज्य-विस्तार—इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि कुजुल कैड्फिसेस ने एक विस्तृत राज्य की स्थापना की थी जिसके अन्तर्गत **बैक्ट्रिया, काबुल घाटी, पूर्वी ईरान** और गन्धार सम्मिलित थे। साराशतः यह राज्य आक्सस नदी से तक्षशिला तक फैला हुआ था।

उपाधि—इस विशाल राज्य की स्थापना के पश्चात् कुजुल कैड्फिसेस ने यू-ची जाति की परम्परागत छोटी उपाधि 'ही-हाउ' अथवा 'यबुग (सरदार) को छोड़कर 'महाराज राजाधिराज' की उपाधि धारण की। यह उपाधि उसकी मुद्राओं पर मिलती है।

बौद्धधर्मावलम्बी—मुद्राओं पर उसे 'सत्यधर्मस्थित' कहा गया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यहाँ 'धर्म' का तात्पर्य 'बौद्धधर्म' से है। ऐसी स्थिति मे कुजुल बौद्ध-धर्मावलम्बी प्रतीत होता है।

कुजुल की मुद्रायें—कुजुल कैड्फिसेस की केवल ताँबे की मुद्रायें मिली हैं। ये द्विलिपिक हैं अर्थात् इन पर यूनानी और खरोष्ठी दोनो लिपियों में लेख उत्कीर्ण हैं। कुछ मुद्राओं पर कुजुल का मुख रोमन नरेश आगस्टस के मुख की शैली पर बनाया गया है। कुजुल की ये मुद्रायें रोमन प्रभाव को सूचित करती हैं।

शासन-काल—चीनी ग्रन्थों का कथन है कि कुजुल कैड्फिसेस ८० वर्ष की आयु में मरा। उसके शासन-काल की तिथियो के विषय में हमारा ज्ञान अनिश्चित है। १२२ तिथि के पजतर अभिलेख मे किसी कुषाण नरेश को 'महाराज' कहा गया है। कुछ विद्वानो ने इस महाराज का समीकरण कुजुल कैड्फिसेस से किया है और १२२ तिथि को प्राचीन शक सम्वत् की तिथि माना है। इस प्रकार कुजुल कैड्फिसेस १५५–१२२=३३ ई० पू० राज्य करता था।

विम कैड्फिसेस—कुजुल कड्फिसेस की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र विम कैड्-फिसेस सिंहासन पर बैठा। चीनी साहित्य मे इसका उल्लेख येन-काओ-चेन के नाम से किया गया है। कुजुल कैड्फिसेस और विम कैड्फिसेस को क्रमशः कैड्फिसेस प्रथम और कैड्फिसेस द्वितीय भी कहा जाता है।

भारत पर अधिकार—विम कैड्फिसेस अपने पिता की भाति ही वीर और महत्वा-कांक्षी नरेश था। सर्वप्रथम उसी ने भारत में कुषाण-राज्य की स्थापना की। उसकी भारत-विजय के सम्बन्ध में निम्नलिखित साक्ष्य मिलते हैं—

(१) पंजाब मे उसकी मुद्रायें प्राप्त हुई है।

(२) उसकी मुद्रायें मथुरा में भी मिली हैं।

(३) चीनी ग्रन्थ 'हाउ हान शू' का उल्लेख है कि उसने 'तिएन-चू' (Tien-chu) अर्थात् भारत को जीता और वहाँ अपना गवर्नर नियुक्त किया। इस समय यूचियों की शक्ति बढ़ गई।

(४) लद्दाख में खलत्से नामक स्थान पर १८७ तिथि (३२ ई०) का एक लेख मिला है। इसमें इस नरेश का उल्लेख है।

(५) मथुरा के निकट माँट में 'राजाधिराज देवपुत्र कुषनपुत्र षहि वेम तक्षम' (विम कैड्फिसेस) की मूर्ति मिली है।

इन साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विम कैड्फिसेस ने गन्धार, लद्दाख, पंजाब और पश्चिमीउत्तर प्रदेश तक के प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था।

पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार—कुछ विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि विम कैड्फिसेस का राज्य पूर्वी उत्तरप्रदेश के वाराणसी प्रदेश तक था।[1] तर्क यह है कि विम कैड्फिसेस के उत्तराधिकारी कनिष्क के शासन-काल के दूसरे और तीसरे वर्ष के लेख क्रमशः कौशाम्बी (प्रयाग) और सारनाथ (वाराणसी) में पाये गये हैं। कनिष्क के शासन के प्रारम्भ-काल के लेख होने के कारण इन विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि सम्भवतः प्रयाग और वाराणसी के प्रदेश कनिष्क ने स्वयं नहीं जीते थे वरन् उसने अपने पूर्वगामी नरेश विम कैड्फिसेस से उत्तराधिकार के रूप में पाये थें। परन्तु इस बात के पक्ष में कोई अकाट्य प्रमाण नही है।

यही नही, बक्सर (बिहार) में विम की कुछ मुद्राओं की प्राप्ति के आधार पर कुछ विद्वान् यह मत प्रस्तुत करते है कि विम ने बिहार तक सम्पूर्ण उत्तरी भारत जीत लिया था। परन्तु एकमात्र कतिपय मुद्राओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उपयुक्त नही है।

जो भी हो, विम कैड्फिसेस ने एक विशाल राज्य की स्थापना की थी जो पार्थिया की सीमा से लेकर मथुरा तक अवश्य विस्तृत था। इसके अन्तर्गत अफगानिस्तान, अफगान तुर्किस्तान, बुखारा और रूसी तुर्किस्तान के कुछ भाग सम्मिलित थे।[2]

सोटर मेगस—कुछ मुद्राओं पर सोटर मेगस नामक एक कुषाण-शासक का नाम अंकित है। यह शासक कौन था? अन्य कुषाण-नरेशों केसाथ इसका क्या सम्बन्ध था? किन परिस्थितियों मे इसका उदय और अन्त हुआ? ये प्रश्न ऐसे हैं जिन पर अभी तक निश्चित मत नही दिया जा सकता। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने सोटर मेगस का समीकरण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के साथ किया है—

१ 'The Indian dominions of Kadphises II certainly extended to the Ganges, and probably at least as far as Varanasi' —Smith, JRAS, 1903, p. 31

2. 'His empire extended westward to the frontiers of Parthia and included the whole of the countries now known as Afghanistan, Afghan Turkistan Bukhara and parts of Russian Turkistan.
—Smith, JRAS, 1903, p. 31

(१) बैंकोफर आदि कुछ विद्वानों का मत है कि विम कैड्फिसेस और सोटर मेगस दोनों की मुद्राये काबुल घाटी से लेकर उत्तर प्रदेश तक पाई जाती है। दोनों की मुद्राये एक-सी है तथा उन पर अंकित दोनो की उपाधियाँ भी एक-जैसी हैं। अतः विम कैड्फिसेस और सोटर मेगस दोनो एक ही व्यक्ति थे। वास्तव मे 'सोटर मेगस' विम की उपाधि थी।

परन्तु इस मत के विरोध में कुछ ठोस तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

(१) यदि विम कैड्फिसेस और सोटर मेगस एक ही व्यक्ति के नाम थे तो विम की मुद्राओं पर 'सोटर मेगस' की उपाधि क्यो नही मिलती ?

(२) विम कैड्फिसेस ने स्वर्ण-मुद्राओ का निर्माण कराया था। क्या कारण है कि 'सोटर मेगस' की एकमात्र ताँबे की ही मुद्राएँ मिलती है ?

(३) स्टेन कोनो और लोहाइजन नामक विद्वानो के मतानुसार सोटर मेगस विम कैड्फिसेस का गवर्नर था। अपने मन की पुष्टि में वे 'हाउ-हान-शू' नामक ग्रन्थ का उल्लेख करते है जिसमे यह कहा गया है कि विम ने अपने अधीन भारतीय प्रदेशों पर शासन करने के लिये एक गवर्नर रखा था। यह गवर्नर सोटर मेगस ही था।

परन्तु इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि एक अधीन गवर्नर स्वतन्त्ररूप से अपनी मुद्राये कैसे चला सकता था। इन मुद्राओ पर उसके स्वामी का कोई उल्लेख नही है।

(४) कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार सोटर मेगस प्रारम्भ मे विम कैड्फिसेस का गवर्नर ही था। परन्तु बाद मे उसने अपने स्वामी के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। १३६ ई० के तक्षशिला अभिलेख मे उल्लिखित 'महरजस रजतिरजस देवपुत्रस कुषनस' का समीकरण इसी सोटर मेगस के साथ करना चाहिए। स्वतन्त्र शासक के रूप मे इसने अपनी ताँबे की मुद्राये भी चलाई।

यदि सोटर मेगस को विम का गवर्नर मान लिया जाय तो भी इस बात का कोई साक्ष्य नही है कि उसने विम के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी थी। उपर्युक्त तक्षशिला अभिलेख मे सोटर मेगस का नाम नही है। अतः 'महरजस रजतिरजस देवपुत्रस कुषनस' का समीकरण सोटर मेगस के साथ करना नितान्त काल्पनिक है।

इस प्रकार सोटर मेगस आज भी एक ऐतिहासिक पहेली है।

कनिष्क प्रथम—मार्शल महोदय का मत है कि विम कैड्फिसेस की मृत्यु के पश्चात् कुषाण-साम्राज्य मे कुछ अव्यवस्था उत्पन्न हो गई। इस काल मे ही एक अथवा अनेक गवर्नरो ने सोटर मेगस के नाम से भारत मे राज्य किया। विम कैड्फिसेस के लगभग २० वर्ष पश्चात् कनिष्क प्रथम का उदय हुआ।[1]

1. 'Vima's reign may have lasted into the opening years of the second century A. D after which I surmise that there was an interval of a couple of decades or so before Kanishka succeeded him. During this interval there seems to have been some disintegration of the Kushan power, but it is possible that one or more viceroys under the name of Soter Megas, continued to rule in India on behalf of a Kushan overlord'

Marshall. Taxila, p 69

यह निश्चितरूप से ज्ञात नही है कि कनिष्क और विम में क्या सम्बन्ध था। स्टेन कोनो का मत है कि विम यूचियों की बडी शाखा का था और कनिष्क उनकी छोटी शाखा का। परन्तु यह मत स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि चीनी ग्रन्थों मे कनिष्क को यूचियो की बड़ी शाखा का राजा बताया गया है। कुछ विद्वान् कनिष्क को विम का गवर्नर मानते है जिसने अपने स्वामी की मृत्यु के पश्चात् उसका राज्य सँभाला। इसके विरुद्ध कुछ अन्य विद्वान् कनिष्क को विम का वंशज बताते है। इस मत के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि मथुरा के देवकुल मे विम और कनिष्क दोनो की मूर्तियाँ मिली है। अतः संम्भव है कि वे दोनों एक ही वश के हो।

कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि—इसके विषय में विद्वानों में बडा मतभेद है। केनेडी और फ्लीट कनिष्क को ई० पू० प्रथम शताब्दी मे रखते है। केनेडी के तर्क इस प्रकार है–

(१) कनिष्क ने ५८ ई० पू० चौथी संगीति की और इसके उपलक्ष में उसी वर्ष एक सम्वत् चलाया।

(२) ई० पू० प्रथम शताब्दी मे उत्तर-पश्चिम के स्थलीय मार्गों से चीन और भारत में रेशम का व्यापार होता था। इस व्यापार से जो प्रचुर सुवर्ण प्राप्त हुआ उसी से कनिष्क ने सुवर्ण-मुद्राये निर्मित कराई।

(३) ह्वेन साग का कथन है कि महात्मा बुद्ध ने यह भविष्यवाणी की थी कि मेरे निर्वाण के ४०० वर्ष पश्चात् कनिष्क नामक एक राजा होगा। निर्वाण की तिथि ४८१ ई० पू० है। अत कनिष्क की तिथि ४८१-४००=८१ ई० पू० हुई।

परन्तु इन तर्कों में कोई बल नही है।

बौद्ध ग्रन्थों मे कनिष्क के बौद्ध होने और चौथी सगीति करने के उल्लेख मिलते है, परन्तु कही भी यह उल्लिखित नही है कि उसने इस अवसर पर किसी नवीन सवत् की स्थापना की हो। अश्वघोष ने चौथी बौद्ध संगीति मे प्रमुख भाग लिया था, किन्तु वह भी अपने किसी भी ग्रन्थ मे सवत्-स्थापना का उल्लेख नही करता।

(२) चीन और भारत के बीच होने वाला रेशम का व्यापार कनिष्क के बहुत पहले ही से प्रारम्भ हो चुका था। अर्थशास्त्र मे भी इस व्यापार का उल्लेख है। पेरिप्लस से प्रकट होता है कि भारतवर्ष मे प्रचुर मात्रा मे सुवर्ण ईसा की पहली शताब्दी मे आया था, ई० पू० पहली शताब्दी मे नही।

(३) ह्वेनसाग का कथन तिथि के विषय मे विश्वसनीय नही है।

फ्लीट महोदय ने भी कनिष्क की सिहासनारोहण की ५८ ई० पूर्व की तिथि के पक्ष मे कुछ तर्क दिए है। उनका मत था कि कुषाण वश मे कनिष्क पहले हुआ और दोनो कैडफिसेज उसके बाद। इस विधि से फ्लीट महोदय ने कनिष्क को पीछे ढकेल कर ई० पू० प्रथम शताब्दी मे रख दिया। परन्तु उनका मत भी असगत प्रतीत होता है।

हम जानते है कि कैडफिसेज प्रथम की मुद्राये ताँबे की है और कैडफिसेज द्वितीय तथा कनिष्क की मुद्राये सोने की है। कुषाण-राज्य मे समृद्धि-वृद्धि के साथ मुद्राओ का विकास ताँबे से सोने की ओर हुआ। अत यदि हम यह मान लें कि कनिष्क पहले हुआ और कैडफिसेस प्रथम बाद को तो यह स्वीकार करना पडेगा कि कुषाण-वश ने पहले सोने की मुद्राये चलाई। तत्पश्चात् उन्हे बन्द करके ताँबे की मुद्राये चलाई और उनके पश्चात् फिर सोने की। यह क्रम अस्वाभाविक है।

(२) रैप्सन महोदय का मत है कि अनेक स्थानों पर कनिष्क की मुद्रायें कैड्-फिसेस द्वितीय की मुद्राओं के साथ पाई गई हैं, कैड्फिसेस प्रथम की मुद्राओं के साथ नहीं। अतः कनिष्क किसी भी प्रकार कैड्फिसेस प्रथम का पूर्वगामी नहीं हो सकता।

(३) तक्षशिला में मार्शल महोदय की खुदाई में कनिष्क-काल की मुद्रायें और सामग्री दोनों कैड्फिसेज के कालों के पश्चात् की हैं। अत कनिष्क को दोनों कैड्फिसेज के बाद ही समझना चाहिए।

एलन महोदय का कथन है कि कनिष्क की स्वर्ण-मुद्रायें रोम-सम्राट् टाइटस (७९-८१ ई०) की मुद्राओं से मिलती-जुलती हैं। अतः कनिष्क ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में नहीं रखा जा सकता। उपर्युक्त प्रमाणों से यही प्रकट होता है कि ५८ ई० पू० कनिष्क का राज्यारोहण नहीं हो सकता था।

मार्शल, स्टेनकोनो और स्मिथ नामक विद्वानों ने १२५ ई० को कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि माना है। कनिष्क ने लगभग ४५ या २३ वर्ष तक राज्य किया। इसलिए उसका राज्य १७० ई० या १४८ ई० तक रहा था। हम यह भी जानते हैं कि सिन्धु-सौवीर कनिष्क के साम्राज्य में था। परन्तु सुई बिहार अभिलेख से प्रकट होता है कि १५० ई० मे सिन्धु-सौवीर मे महाक्षत्रप रुद्रदामन का अधिकार था। यह सम्भव नही हो सकता। यदि हम कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि १२५ ई० मानें तो कनिष्क की तिथियाँ १ से २३ तक, वासिष्क की २४ से २८ तक, हुविष्क की २८ से ६० तक और वासुदेव की ६१ से ९८ तक मिलती हैं। इस क्रम से प्रकट होता है कि ये तिथियाँ किसी सवत् की तिथियाँ हैं जिसकी स्थापना कनिष्क ने की थी। परन्तु ईसा की दूसरी शताब्दी मे किसी भी सवत् की स्थापना न हुई थी। इसलिए कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि १२५ ई० नहीं हो सकती।

डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि २४८ ई० माना था और इस मत का प्रतिपादन किया था कि इसी वर्ष उसने एक नवीन संवत् की स्थापना की थी जो इतिहास मे त्रैकूटक-कलचुरि-चेदि संवत के नाम से प्रख्यात हुआ। परन्तु मजूमदार का मत स्वीकार नही किया जा सकता।

(१) हम जानते है कि कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि के पश्चात् लगभग १००वें वर्ष मे वासुदेव मथुरा पर राज्य कर रहा था। अत यदि कनिष्क के सिंहा-सनारोहण की तिथि २४८ ई० है तो मथुरा में वासुदेव का राज्य २४८-१००= ३४८ ई० मे था। परन्तु हम जानते है कि ३४८ मे मथुरा के ऊपर कुषाणवंश का आधिपत्य न था। अतः २४८ ई० को कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि मानना असंगत हैं।

(२) तिब्बती साक्ष्यों से प्रकट होता है कि कनिष्क खोतान के विजयकीर्ति का समकालीन था। परन्तु विजयकीर्ति २४८ ई० के बहुत पूर्व हुआ था।

(३) चीनी त्रिपिटक से प्रकट होता है कि आन-शीह-काओ (१४८-१७० ई०) ने संघरक्ष के मार्ग-भूमि-सूत्र का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। संघरक्ष कनिष्क का समकालीन था। इससे प्रकट होता है कि कनिष्क १७० ई० के पूर्व हुआ होगा, पश्चात् नहीं।

आर० जी० भण्डारकर ने २७८ ई० को कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि माना था। किन्तु जो तर्क २४८ ई० के विपक्ष में हैं वही २७८ ई० के विपक्ष में भी।

अंतिम प्रमुख मत (७८ ई० का) टॉमस, रैप्सन तथा राखलदास बनर्जी आदि विद्वानों का है। परन्तु डुब्रिया महोदय ने इस मत को अस्वीकार करते हुए निम्नलिखित तर्क दिए हैं—

(१) कैडफिसेस प्रथम ने ५० ई० के लगभग राज्य किया। अतः यदि हम कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि ७८ ई० मान लें तो कैड्फिसेस प्रथम और द्वितीय के राज्य-कालों के लिए केवल २८ वर्ष रहते हैं।

परन्तु इस तर्क में कोई बल नही है। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि कैड्फिसेस प्रथम ५० ई० में ही राज्य कर रहा था। पुनः, २८ वर्ष का काल दो राजाओं के लिए बहुत कम नहीं है। हम यह भी जानते है कि कैड्फिसेस प्रथम ८० वर्ष की आयु में मरा था। अतः स्पष्ट है कि सिंहासन पर बैठने के समय कैड्फिसेस द्वितीय की आयु काफी बड़ी हो गई होगी और उसने अल्पकाल तक ही शासन किया होगा।

(२) मार्शल ने तक्षशिला मे चिर स्तूप अभिलेख का पता लगाया है। इसमे १३६ तिथि दी हुई है। सम्भवतः यह तिथि विक्रम सम्वत् की है। अतः इस अभिलेख का निर्माण ७८-७९ ई० मे हुआ था। डुब्रिया महोदय का मत है कि इस अभिलेख का निर्माण कैड्फिसेस द्वितीय के समय में हुआ था, कनिष्क के समय मे नही। अत कनिष्क की तिथि ७८ ई० नही हो सकती। परन्तु इस तर्क मे भी कोई बल नही है। चिर स्तूप अभिलेख मे कुषाण राजा के लिए देवपुत्र उपाधि का प्रयोग किया गया है। यह उपाधि कभी भी कैड्फिसेस राजाओं ने धारण नही की थी। इसका प्रयोग कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियो ने ही किया था। इसलिए उपर्युक्त अभिलेख कैड्फिसेस द्वितीय के समय का नही हो सकता।

इन समस्त बातो को देखते हुए यही मानना अधिक न्यायसगत प्रतीत होता है कि कनिष्क के सिंहासनारोहण की तिथि ७८ ई० थी।

इस मत के पक्ष मे निम्नलिखित मत प्रस्तुत किये जा सकते है—

(१) चीनी साहित्य मे इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि कनिष्क ७८ ई० के लगभग ही सिंहासन पर बैठा।

(२) कुषाण राजाओ की निम्नलिखित तिथियां उनके अभिलेखों से ज्ञात होती है—

कनिष्क — ११ से २३ तक।

वासिष्क— २४ से २८ तक।

हुविष्क — २८ से ६० तक।

वासुदेव प्रथम — ६४ से ९८ तक।

इन तिथियो का एक क्रम है और ये किसी सवत् की तिथियां है जिसे कनिष्क ने प्रारम्भ किया था। यह ७८ ई० का शक संवत् है जिसे कनिष्क ने प्रयक्त किया था। अत. वह ७८ ई० में ही सिंहासन पर बैठा होगा।

(३) मार्शल ने तक्षशिला में जो खुदाई की थी उससे सिद्ध हो गया था कि कनिष्क दोनो कैड्फिसेस के पश्चात् ही सिंहासन पर बैठा। दोनो कैड्फिसेस का शासन प्रथम शताब्दी मे ही समाप्त हो गया था। अतः कनिष्क को प्रथम शताब्दी में ही रखा जा सकता है, उसके पश्चात् नहीं।

तत्कालीन चार साम्राज्य—कनिष्क ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी जो चीनी तुर्किस्तान से लेकर पूर्व में कम से कम सारनाथ (उत्तर प्रदेश) तक विस्तृत था।

इस कुषाण साम्राज्य के साथ-साथ तत्कालीन ससार मे तीन अन्य साम्राज्य थे—पार्थिया-साम्राज्य, चीनी साम्राज्य और रोम साम्राज्य। प्रथम दो के साथ कनिष्क के सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण थे, परन्तु तीसरे के साथ मित्रतापूर्ण।

पार्थिया से युद्ध—पार्थिया साम्राज्य और कुषाण साम्राज्य की सीमायें एक-दूसरे से मिली हुई थी। पार्थिया का एरियाना-प्रदेश इस समय कुषाणों के अधिकार मे था। स्वाभाविक है कि पार्थिया अपने इस प्रदेश को पुन हस्तगत करने का अवसर खोज रहा होगा।

शत्रुता का दूसरा कारण व्यापारिक था। व्यापारिक दृष्टिकोण से बैक्ट्रिया की स्थिति बडी महत्वपूर्ण थी। यहाँ से भारत, मध्य एशिया, चीन आदि को व्यापारिक मार्ग जाते थे। बैक्ट्रिया के ऊपर कनिष्क का अधिकार था। यहाँ से जाने वाले व्यापारिक मार्गों पर भी उसका प्रभाव था। यह प्रभाव पार्थिया को खलता था। अपनी समृद्धि के लिये वह मध्य एशिया के व्यापारिक मार्गों को अपने प्रभाव मे लेना चाहता था।

इन दोनो कारणो से पार्थिया और कनिष्क का युद्ध हुआ। इसका साक्ष्य हमे चीनी साहित्य से मिलता है। चीनी साहित्य का कथन है कि नान-सी के राजा ने देवपुत्र कनिष्क पर आक्रमण कर दिया, परन्तु इस युद्ध मे उसे सफलता न मिली। कनिष्क ने उसे परास्त कर दिया। नान-सी का समीकरण पार्थिया से किया जाता है।

चीन से युद्ध—जिस समय भारत मे कनिष्क राज्य कर रहा था, उसी समय चीन में हान-वश का राज्य था। यह बडा शक्तिशाली और साम्राज्यवादी राजवश था। उसके सेनापति पान-चाओ ने खोतान, काशगर, कुचा, काराशहर आदि को जीत कर सम्पूर्ण चीनी तुर्किस्तान को चीनी अधिकार मे कर लिया था। अब उसके साम्राज्य की सीमा कनिष्क-साम्राज्य के कश्मीर-प्रान्त की सीमा को छूने लगी थी। चीनियों की इस साम्राज्यवादी नीति से भारत के कुषाण-साम्राज्य के लिये एक भारी खतरा उत्पन्न हो गया था। अत कनिष्क ने उसे रोकने का निश्चय किया।

चीनी तुर्किस्तान को लेकर चीन साम्राज्य और कुषाण साम्राज्य के बीच झगडा पहले से ही चल रहा था। चीनी ग्रन्थो का कथन है कि ७३ ई० मे पान-चाओ ने काशगर की घरेलू राजनीति मे हस्तक्षेप किया और उसके राजा को सिहासन से उतार कर अपने समर्थक को वहाँ का राजा बनाया। सिहासनच्युत राजा ने यू-ची राजा से सहायता माँगी। परन्तु उसे यह सहायता प्राप्त न हो सकी, क्योकि पान-चाओ ने यू-ची राजा को बहुमूल्य उपहार आदि देकर सन्तुष्ट कर दिया और उसे चीनी तुर्किस्तान की राजनीति मे हस्तक्षेप न करने दिया।

चीनी ग्रन्थों से ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ काल पश्चात् कनिष्क ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिये निश्चित कदम उठाये। उसने चीनी सम्राट् के समक्ष अपनी समानता स्थापित करने के लिये यह प्रस्ताव रक्खा कि चीनी राजकुमारी का विवाह उसके साथ कर दिया जाय। परन्तु चीनी सेनापति पानचाओ ने इस प्रस्ताव को अपने सम्राट् के लिये अपमानजनक समझा और कनिष्क के राजदूत को बन्दी बना लिया।

इस सूचना को पाते ही कनिष्क ने चीन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और उस पर आक्रमण के लिये ७०,००० अश्वारोहियों को भेजा। परन्तु शीत और पर्वतीय मार्ग की कठिनाइयों के कारण सेना का एक बडा भाग नष्ट हो गया। क्षत-विक्षत अवस्था में जब वह खोतान पहुँची तो उसे पान चाओ ने हरा दिया। इस पराजय के पश्चात् कनिष्क को प्रतिवर्ष चीन को कर देने का वचन देना पडा।

कनिष्क की इस पराजय के समर्थन मे एक जनश्रुति का भी उल्लेख किया जाता है जिसमे कनिष्क कहता है कि 'मैंने तीनो दिशाओं को अधीन कर लिया है। . . . केवल उत्तरी प्रदेश ही आत्म-समर्पण करने के लिये नही आया है।'[1]

परन्तु ह्वेन सांग के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि कुछ समय पश्चात् कनिष्क ने अपनी पराजय का बदला ले लिया। ह्वेनसाँग ने लिखा है कि कनिष्क का साम्राज्य सुँग-लिंग पर्वत के पूर्व मे भी विस्तृत था और पीली नदी के पश्चिम मे रहने वाली जातियाँ उससे भयभीत हो गई तथा उन्होंने अपने राजकुमारों को कनिष्क के दरबार मे बधक (hostages) के रूप मे भेज दिया।

सुँग-लिंग के पूर्व के प्रदेश का अर्थ है चीनी तुर्किस्तान जिसमे यारकन्द, खोतान और काशगर स्थित है। पीली नदी के पश्चिम की जातियों से चीनी लोगो का तात्पर्य है। इस प्रकार ह्वेनसाँग के वर्णन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कनिष्क ने चीनी साम्राज्य पर दूसरी बार आक्रमण किया था और चीनी तुर्किस्तान पर अधिकार कर लिया था। इस विजय के परिणाम-स्वरूप पश्चिम मे कनिष्क का साम्राज्य यारकन्द, खोतान और काशगर तक हो गया। पराजित चीनी सम्राट् अथवा उसके किसी सामन्त शासक ने कनिष्क की सभा मे अपने पुत्रों को बन्धक के रूप मे रक्खा था।

यह उल्लेखनीय है कि कनिष्क के दूसरे आक्रमण और उसकी विजय का वर्णन एकमात्र ह्वेनसाँग ने ही किया है। इससे अनेक विद्वान् इस वर्णन को विश्वसनीय नही मानते। उदाहरण के लिये, टामस महोदय का कथन है कि कनिष्क ने चीनी सम्राट् को पराजित नही किया था और न चीनी सम्राट् ने अपने पुत्रो को उसके पास बन्धक के रूप मे रक्खा था। पीली नदी के पश्चिम मे रहनेवाली जातियो का अर्थ तारिम प्रदेश के राजाओ से है। ये राजा चीनी सम्राट् की साम्राज्यवादी नीति से भयभीत थे। उन्हें अपनी स्वतन्त्रता के लिये खतरा था। अत. वे स्वयं कनिष्क के सरक्षण मे आ गये थे।

रोम साम्राज्य से सम्बन्ध—इस समय रोम साम्राज्य और पार्थिया साम्राज्य के बीच शत्रुता थी। पार्थिया कुषाण साम्राज्य का भी शत्रु था। अत स्वाभाविक ही था कि उभयनिष्ठ शत्रु के विरुद्ध रोम साम्राज्य और पार्थिया साम्राज्य के बीच मित्रता होती। कुषाण-काल मे भारत और रोम के बीच व्यापारिक एव कूटनीतिक सम्बन्ध बढे। दोनों ने एक-दूसरे की राजसभा मे अपने दूत भेजे।

कनिष्क का साम्राज्य-विस्तार

कनिष्क एक महान् विजेता और साम्राज्यवादी शासक था। उसने अपने शौर्य

1. 'I have subjugated three regions, all men have taken refuge with me, the region of the north alone has not come to make its submission'. —Legends of Kanishka's Death.

से न केवल अपने पूर्वगामी से प्राप्त राज्य की रक्षा की वरन् उसका विस्तार भी किया। यहाँ हम उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर उसके साम्राज्य की सीमायें निश्चित करने की चेष्टा करेंगे—

मध्य एशिया—ह्वेनसाँग के विवरण से प्रकट होता है कि मध्य एशिया में उसका साम्राज्य यारकन्द, खोतान और काशगर तक विस्तृत था

बैक्ट्रिया—बैक्ट्रिया कुलुज कैड्फिसेस के समय से ही कुषाण-साम्राज्य के अन्तर्गत था। अतः कनिष्क ने इसे उत्तराधिकार के रूप में विम कैड्फिसेस से प्राप्त किया था। इसका कोई प्रमाण नही कि बैक्ट्रिया कनिष्क के हाथ से निकल गया था। यही नहीं, बैक्ट्रिया पर कनिष्क के आधिपत्य के कुछ निश्चित प्रमाण भी मिले हैं। उदाहरणार्थ, खोतान में एक पाण्डुलिपि मिली है जिसमें 'चन्द्र कनिष्क' को बहलक का राजा कहा गया है। 'चन्द्र कनिष्क' का समीकरण कनिष्क से और बहलक का समीकरण बैक्ट्रिया से किया गया है।

अफगानिस्तान—वार्दक (काबुल) अभिलेख से ज्ञात होता है कि अफगानिस्तान के कम से कम कुछ भाग पर हुविष्क का अधिकार था। अनुमान है कि अफगानिस्तान की विजय स्वयं हुविष्क ने नही की होगी, यह प्रदेश कनिष्क के समय से ही कुषाण-साम्राज्य में चला आ रहा था।

उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त—इस प्रदेश पर भी कनिष्क का आधिपत्य था। इसी प्रदेश में स्थित नगर पुरुषपुर (पेशावर) कनिष्क के साम्राज्य की राजधानी थी।

गान्धार—ह्वेन-सांग के विवरण और चीनी ग्रन्थो से प्रकट होता है कि गन्धार कनिष्क के अधीन था। यह उस समय कला का प्रख्यात केन्द्र था। इसी के नाम पर तत्कालीन एक विशिष्ट कला-प्रणाली का नाम गान्धार कला पडा। इस कला की अनेक कृतियाँ भी गन्धार में पाई गई हैं।

कश्मीर—राजतरंगिणी से सिद्ध होता है कि कश्मीर भी कनिष्क के साम्राज्य में था। यहाँ उसने बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। यही चौथी बौद्ध संगीति हुई थी। कश्मीर में कनिष्क ने कनिष्कपुर नामक एक नगर की भी स्थापना की थी।

सिन्ध—सु इ विहार अभिलेख से प्रकट होता है कि सिन्ध कनिष्क के अधीन था।

पंजाब—जेदा अभिलेख और मनिक्याल अभिलेख से पंजाब पर भी कनिष्क का अधिकार प्रकट होता है। टालमी का कथन है कि पूर्वी पंजाब पर कुषाणो का शासन था। यह उल्लेख सम्भवतः कनिष्क पर लागू होता है।

उत्तर प्रदेश—अनेक साक्ष्यों से कनिष्क का अधिकार उत्तर प्रदेश के भिन्न-भिन्न भू-खण्डों पर सिद्ध होता है—

(i) **मुद्रायें**—उत्तर प्रदेश में आजमगढ़ और गोरखपुर तक कनिष्क की मुद्रायें मिली हैं।

(ii) **अभिलेख**—कनिष्क के अभिलेख कौशाम्बी, सारनाथ और श्रावस्ती मे मिले हैं।

(iii) **मूर्तियां**—कनिष्ककालीन मूर्तियाँ भी मथुरा, कौशाम्बी, सारनाथ और श्रावस्ती आदि स्थानों में मिली हैं।

(iv) **जनश्रुति**—तिब्बती ग्रन्थो से विदित होता है कि कनिष्क ने सोकेद (साकेत—अयोध्या) के राजा को पराजित किया था।

इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि उत्तर प्रदेश का अधिकांश भाग कनिष्क के अधीन था। परन्तु यह निश्चित रूप से नही का जा सकता कि उत्तर प्रदेश के किस भाग तक उसका अधिकार था। मुद्राएँ और मूर्तियाँ यात्रियों, व्यापारियों और कलाकारो द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच सकती हैं। अतः इनका साक्ष्य सन्देहपूर्ण हो सकता है। परन्तु कनिष्क का एक अभिलेख सारनाथ (वाराणसी) में मिला है। अतः इतना निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि उत्तर प्रदेश में उसका साम्राज्य सारनाथ तक अवश्य विस्तृत था।

बिहार—कुछ विद्वान् एकमात्र सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश को ही नही वरन् बिहार को भी कनिष्क के अधीन मानते हैं। अपने पक्ष में वे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(i) **मुद्रायें**—बिहार में कनिष्क की मुद्रायें मिली हैं।

(ii) **जनश्रुति**—धर्मपिटकसम्प्रदायनिदानसूत्र का कथन है कि देवपुत्र (कनिष्क) ने होआ-चू (पाटलिपुत्र) पर आक्रमण करके उसके राजा को पराजित किया था तथा उससे १ लाख स्वर्ण-मुद्रायें माँगी थी। राजा ने मुद्राओं के स्थान पर कनिष्क को महात्मा बुद्ध का भिक्षा-पात्र दे दिया था।

इसी प्रकार कल्पनामण्डिटीका के चीनी अनुवाद से प्रकट होता है कि कनिष्क ने तुँग-तिएन-चाउ (पूर्वी भारत) पर अधिकार कर लिया था। यहाँ पूर्वी भारत में सम्भवतः बिहार भी आता है।

परन्तु कतिपय मुद्राओ और जनश्रुतियो का साक्ष्य सन्देहपूर्ण भी कहा जा सकता है।

बंगाल—बगाल में कनिष्क की एक तथा उसके एक वशज वासुदेव प्रथम की कुछ मुद्राये मिली है। परन्तु एकमात्र कुछ मुद्राओं के आधार पर ही बगाल पर कनिष्क का आधिपत्य स्वीकार नही किया जा सकता।

उड़ीसा—कुछ विद्वान् दो आधारों पर उडीसा पर कनिष्क का अधिकार सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं—

(१) उडीसा में कुषाणों की कुछ मुद्राये मिली हैं।

(२) डा० राखलदास बनर्जी का मत है कि कुछ ग्रन्थों मे उडीसा पर किसी प्राचीन आक्रमण का उल्लेख मिलता है। सम्भव है कि यह आक्रमण कनिष्क ने किया हो।

परन्तु ये दोनों साक्ष्य निर्बल हैं। उडीसा में कुषाणो की कुछ मुद्राएँ व्यापारियों अथवा यात्रियों द्वारा भी जा सकती थी।

रही कुछ ग्रन्थों की बात तो वे बहुत बाद के है। उनका संकलन मुगल-काल में किया गया था। इतने बाद के ग्रन्थ कुषाण-काल के इतिहास के लिए निश्चित साक्ष्य नही माने जा सकते।

मध्य प्रदेश—कुछ साक्ष्यों के आधार पर कभी-कभी यह मत भी प्रतिपादित किया गया है कि मध्य प्रदेश भी कनिष्क के अधीन था—

(i) मध्य प्रदेश मे बिलासपुर तथा कुछ अन्य स्थानों पर कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियो की कुछ मुद्रायें मिली है।

(ii) मध्य प्रदेश में साँची नामक स्थान पर कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं जो मथुरा-शैली की हैं तथा जिन पर कुषाण राजाओ के नाम भी उत्कीर्ण हैं।

परन्तु ये साक्ष्य भी निर्णायक नही हो सकते। मुद्रायें और मूर्तियाँ दोनों ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर आती-जाती रहती है।

पश्चिमी भारत—कुछ विद्वानो का मत है कि महाराष्ट्र का क्षहरात-वंश तथा गुजरात-काठियावाड का चष्टन-वश कुषाणो की अधीनता मे ही राज्य करते थे। परन्तु इस मत को स्वीकार करने मे निम्नलिखित कठिनाइयाँ है—

(i) इन दोनों वशो के राजा अपनी मुद्राओं और लेखो मे कही पर भी कुषाणों का उल्लेख नही करते जिससे सिद्ध होता है कि ये दोनों वश स्वतन्त्र थे।

(ii) इन दोनो वंशों के राजाओं ने अपने नाम से मुद्रायें निर्मित कराई जो उनकी प्रभुसत्ता की सूचना देती है।

(iii) इन वशों के राज्य मे कुषाण-मुद्राओ का प्रसार न था।

(iv) कुषाण—अभिलेखो मे इन वशों का उल्लेख नही है।

(v) कोई अन्य देशी अथवा विदेशी साक्ष्य भी इन वशो को कुषाणो के अधीन नही बताता।

इस विवेचन के पश्चात् यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कनिष्क का राज्य मध्यएशिया से सारनाथ तक अवश्य विस्तृत था। इस विशाल साम्राज्य की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी।

क्षत्रप-प्रणाली

सारनाथ अभिलेख से कनिष्क के महाक्षत्रप खरपल्लान और क्षत्रप बनस्पर के नाम विदित होते है। ऐसा प्रतीत होता है कि शको की भाति कनिष्क ने भी अपने विशाल साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागो मे महाक्षत्रपो के शासन की व्यवस्था की थी। डा० स्मिथ का मत था कि महाराष्ट्र के क्षहरात वश का नरेश नहपान और उज्जैन का क्षत्रप चष्टन कनिष्क के गवर्नर थे। परन्तु यह मत असगत प्रतीत होता है।

कनिष्क का बौद्ध होना

कनिष्क की प्रसिद्धि विजेता की अपेक्षा बौद्ध प्रचारक के रूप मे अधिक है।[1] सयुक्तरत्नपिटक के अनुसार प्रारम्भ मे कनिष्क रक्त-पिपासु नर-पिशाच था। परन्तु बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात् उसमे आमूल परिवर्तन हो गया था। महाराज-कनिष्क-लेख मे मातृचेट कनिष्क को हिंसाप्रधान जीवन का परित्याग करने की सलाह देता है। अनेक बौद्ध-धर्म-ग्रन्थ कनिष्क के प्रारम्भिक जीवन के अत्याचारो और अनी-

१. "Kanishka's fame rests not so much on his conquests as on his patronage of the religion of Sakya Muni"—Political History of Ancient India, 5th edition, page 475.

तियों का उल्लेख करते हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पाटलिपुत्र के ऊपर आक्रमण करने के समय वह प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष के सम्पर्क मे आया और कुछ समय के पश्चात् बौद्ध हो गया तथा बौद्ध धर्म के प्रभाव के अन्तर्गत उसने शीघ्र ही साधुता ग्रहण कर ली थी।

कनिष्क की बहुसंख्यक मुद्राएँ मिली हैं। प्रथम कोटि की मुद्राओं मे यूनानी देवताओ सूर्य (हेलिओज) और चन्द्रमा (मयो) के चित्र अकित हैं। इसी कोटि की मुद्राओं पर ईरानी देवता अग्नि (अतशो) का चित्र है। अतिम कोटि की मुद्राओ पर महात्मा बुद्ध (बुडो) का चित्र है। कुछ विद्वान् इस मुद्रा-क्रम मे कनिष्क का धर्म-परिवर्तन देखते है। अन्य विद्वानो का मत है कि कनिष्क सभी धर्मों के प्रति उदार था। अत वह यूनानी, ईरानी और भारतीय देवी-देवताओं की साथ ही साथ उपासना करता था। कुछ विद्वानो का कथन है कि मुद्राएँ कनिष्क के साम्राज्य के भिन्न-भिन्न प्रदेशो में प्रतिष्ठित भिन्न-भिन्न धर्मों की सूचना देती है।

जो भी हो, इसमे सन्देह नही कि कनिष्क का व्यक्तिगत धर्म बौद्ध था—

(१) समस्त बौद्ध ग्रन्थ इस बात के प्रमाण है। उदाहरण के लिये, सूत्रालकार मे लिखा हुआ है कि किआ-नि-चा (कनिष्क) की अनुरक्ति एकमात्र बौद्ध धर्म में थी। धर्मपिटकनिदानसूत्र भी कनिष्क को बौद्ध कहता है।

(२) समस्त बौद्ध ग्रन्थ कनिष्क और बौद्ध विद्वान् अश्वघोष मे सम्बन्ध स्थापित करते है।

(३) राजतरगिणी का कथन है कि कनिष्क ने काश्मीर में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था और उसने अनेक बौद्ध विहार बनवाये थे।

(४) तारानाथ भी कनिष्क को बौद्ध एव बौद्ध प्रचारक बताता है।

(५) ह्वेनसांग का कथन है कि महात्मा बुद्ध ने यह भविष्यवाणी की थी कि मेरे निर्वाण के ४०० वर्ष पश्चात् कनिष्क राजा होगा और वह बौद्ध धर्म का प्रचार करेगा।

(६) कनिष्क ने अपने राज्य में अनेक स्थानो पर बहुसख्यक विहार बनवाये थे। पुरुषपुर में उसने ४०० फीट ऊँचा और १३ मजिल का एक टावर बनवाया था और उसी के निकट एक सघाराम भी। फाहियान व ह्वेनसांग ने इसे देखा था। अलबरूनी ने भी कनिष्क चैत्य के नाम से इसका उल्लेख किया है।

(७) पेशावर कास्केट अभिलेख से भी प्रकट होता है कि कनिष्क बौद्ध था।

(८) उसके बौद्ध होने का सबसे बडा प्रमाण है उसका चौथी बौद्ध सगीति करना।

चौथी बौद्ध संगीति—बौद्ध जनश्रुति के अनुसार बौद्ध धर्म-सम्प्रदायो के परस्पर-विरोधी सिद्धान्तो से व्यग्र होकर कनिष्क ने एक बौद्ध सगीति बुलाई। यह चौथी बौद्ध सगीति थी। इसमे ५०० भिक्षुओ ने भाग लिया था। मगोलिया के बौद्ध साक्ष्यो के अनुसार यह सगीति जालधर में हुई थी। तिब्बती लेखक तारानाथ का कथन है कि कुछ विद्वानो के अनुसार यह सगीति काश्मीर मे हुई थी, किन्तु कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार काश्मीर मे। परन्तु काश्मीर को ही संगीति-स्थान मानना अधिक न्याय-सगत लगता है। ह्वेनसांग जालधर गया था, परन्तु उसने उसे सगीति-स्थान नहीं बताया है। अपेक्षाकृत परमार्थ का स्पष्ट कथन है कि बौद्ध संगीति काश्मीर मे हुई

थी, यद्यपि इस सम्बन्ध में उसने कनिष्क का नाम नहीं लिया है। ताकासुकू महोदय भी समस्त साक्ष्यों की विवेचना के पश्चात् काश्मीर को ही चौथी बौद्ध संगीति का स्थान बताते है।[1] सिंहली महाकाव्य चौथी बौद्ध संगीति का उल्लेख नही करते। इस आधार पर कुछ विद्वान् इसकी ऐतिहामिकता मे विश्वास नहीं करते। किन्तु उनका मत असगत है। जब समस्त उत्तरी भारतवर्ष, चीन, मगोलिया और तिब्बत के बौद्ध साक्ष्य इसका सविस्तार वर्णन करते है तो फिर इसकी ऐतिहासिकता में विश्वास न करने का कोई कारण नहीं रह जाता है। यह संगीति वसुमित्र की अध्यक्षता में हुई थी। इसमें सम्मिलित होने के लिए अश्वघोष साकेत से विशेष रूप से आमंत्रित किया गया था। इस सगीति ने बौद्ध ग्रथो के ऊपर टीकायें लिखी जो विभाषा कहलाती हैं। ये टीकाये ताम्रपत्रों पर लिखी गई और एक विशेष रूप से निर्मित स्तूप में सरक्षित कर दी गई।

महायान का उदय—प्रारम्भ में बौद्ध महात्मा बुद्ध को एकमात्र महापुरुष समझते थे, ईश्वर का अवतार नहीं। उनकी मूर्ति-पूजा भी न होती थी। यही कारण है कि भरहुत, साँची आदि स्तूपो मे महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ नही मिलती। उनका अस्तित्व एकमात्र कुछ प्रतीकों से दिखाया गया है जैसे, धर्मचक्र, स्तूप, पादुका, बोधिवृक्ष आदि। निर्वाण प्राप्त करने का एकमात्र साधन व्यक्तिगत प्रधान (प्रयास) था, महात्मा बुद्ध के प्रति भक्ति नहीं। बौद्ध धर्म की आधार-शिला प्रज्ञा थी, करुणा नहीं।

परन्तु महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् धीरे-धीरे बौद्ध धर्म में परिवर्तन होने लगे। उनका जन्म-स्थान, लुम्बिनी, उनके ज्ञान प्राप्त करने का स्थान बोध गया, उनके धर्मचक्र-प्रवर्तन का स्थान सारनाथ तथा उनके निर्वाण प्राप्त करने का स्थान कुशीनगर बौद्ध ससार के तीर्थ बन गये। धीरे-धीरे लोग महात्मा बुद्ध के मानवी रूप को भूलने लगे और उनके दैवी रूप की कल्पना करने लगे। इस नवीन विचार-धारा के अनुसार महात्मा बुद्ध को अवतार माना गया। वे सृष्टिकर्ता, भक्तवत्सल और उद्धारक के रूप मे प्रतिष्ठित हुए। अब बौद्धो को एकमात्र अपने प्रयास पर निर्भर नही रहना था। उन्हे असीम भक्तिभाव के साथ महात्मा बुद्ध की शरण में आना था। महात्मा बुद्ध नितान्त करुणामय है। वे ही मनुष्य का उद्धार करेगे। इस प्रकार बौद्ध धर्म में भक्ति के तत्व आ गये और बौद्ध महात्मा बुद्ध की मूर्ति की पूजा करने लगे। बौद्ध धर्म का यही परिवर्तित रूप इतिहास मे 'महायान' के नाम से प्रख्यात हुआ। महायानियो ने पुरातन सम्प्रदाय को 'हीनयान' कहना प्रारम्भ किया। महायान का उदय ईसा की प्रथम शताब्दी मे हो गया था।

महायान के उदय के कारण—महायान के उदय के अनेक कारण बताये जा सकते हैं—

(१) **महात्मा बुद्ध के प्रति असीम श्रद्धा**—बौद्ध अनुयायी महात्मा बुद्ध के प्रति असीम श्रद्धा और आदर की भावना रखते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् यही आदर-भाव भक्तिभाव मे परिवर्तित हो गया। परिणामतः महात्मा बुद्ध की मूर्ति-पूजा भी होने लगी।

(२) **भागवत धर्म का प्रभाव**—विण्टरनिज, कर्न आदि विद्वानों का मत है कि भागवत-धर्म के भक्तिमार्ग ने बौद्ध धर्म को बडा प्रभावित किया। इसी प्रभाव के

१. J. R. A. S. 1905.

अन्तर्गत बौद्ध धर्म मे भक्ति के तत्व आ मिले। कालान्तर में महात्मा बुद्ध को बौद्ध धर्म में वही पद प्रदान किया गया जो भागवत धर्म में श्रीकृष्ण का है। भगवद्गीता की भाति बौद्धों ने भक्तिप्रधान 'सद्धर्मपुण्डरीकाक्ष' की रचना की और महात्मा बुद्ध को अपना करुणामय उद्धारक माना।

(३) **जैन धर्म का प्रभाव**—जैन धर्मावलम्बियों ने अपने तीर्थकरों की मूर्ति-पूजा पहले से ही प्रारम्भ कर दी थी। अत यह सम्भव है कि जैन धर्म ने भी बौद्ध धर्म मे भक्ति, अवतार और मूर्ति-पूजा के तत्वों को लाने मे सहायता दी हो।

(४) **विदेशों का प्रभाव**—डा० स्मिथ का मत है कि जब बौद्ध धर्म विदेशों में पहुँचा तो उस पर विदेशी धर्मों का प्रभाव पडना स्वाभाविक ही था। बौद्ध धर्म को विशेष रूप से मध्य एशिया और ईरान की धार्मिक आस्थाओ ने बडा प्रभावित किया। इसी प्रभाव के अन्तर्गत बौद्ध धर्म मे महायान का उदय हुआ।

(५) **विदेशी आगन्तुकों का प्रभाव**—भारत पर अनेक विदेशी जातियों के आक्रमण होते रहे। इनमे से अनेक जातियाँ भारत मे ही बस गई। बहुत से विदेशी आगन्तुको ने बौद्ध धर्म भी स्वीकार कर लिया। रालिन्सन महोदय का मत है कि इन विदेशी बौद्ध धर्मावलम्बियों ने धीरे-धीरे अपनी अनेकानेक मान्यताओ को भी बौद्ध धर्म मे प्रविष्ट करा दिया। परिणामस्वरूप विदेशी तत्वों से मिलकर बौद्ध धर्म का मूलरूप परिवर्तित हो गया। उदाहरणार्थ, हिन्द-यूनानियो ने भारत पर लगभग १५० वर्षों तक राज्य किया। उनकी विचार-धारा और भारतीय विचार-धारा के सम्मिश्रण से ही गान्धार-शैली का उदय हुआ और महात्मा बुद्ध की बहुसंख्यक मूर्नियों का निर्माण होने लगा। इसी प्रकार विदेशी जातियों के पूजा-पाठ, लोक-विश्वास आदि भी बौद्ध धर्म मे आत्मसात् हो गये।

(६) **ईसाई धर्म का प्रभाव**—अनेक विद्वानों का यह मत है कि बौद्ध धर्म ने भक्ति और करुणा के सिद्धान्तों को ईसाई धर्म से ग्रहण किया था। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत को स्वीकार नही करते।

महायान शब्द सर्वप्रथम कनिष्क के समय मे ही व्यवहृत हुआ था, यद्यपि इसका बीजरूप महात्मा बुद्ध की शिक्षाओ में ही अन्तर्निहित था।

इस नई विचारधारा ने महात्मा बुद्ध और अन्य बोधिसत्वों को देवरूप दे दिया। महात्मा बुद्ध के प्रति भक्ति और अनुराग अब मोक्ष के सर्वसुगम एवं सर्वश्रेष्ठ साधन बन गए। परिणामत. महायान भक्तिवादी, अवतारवादी और मूर्तिवादी बन गया। उसने प्राचीन हीनयान से अपनी सत्ता पृथक् करने के लिए अपने नवीन सूत्रों की रचना की। प्राचीन परम्परागत पाली का परित्याग कर महायानियो ने अपने धर्म-ग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा मे करना प्रारम्भ किया। इन सब परिवर्तनो से महायान हीनयान की अपेक्षा अधिक उदार और लोकप्रिय बन गया। हीनयान का आधार दार्शनिक था और न्यूनाधिक मात्रा मे अपरिवर्तनशील था। हीनयान के अनुयायी महायान को विधर्म (heresy) समझने लगे। कुछ लोग उसे बौद्ध धर्म का विकृत रूप कहने लगे।[1] परन्तु ये कथन अत्युक्तिपूर्ण हैं। यदि हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि दोनों शाखाओ में आमूल सैद्धान्तिक भेद नही है। भेद है केवल दृष्टिकोणों का। महायान अनु-यायी भी अपने धर्म का आधार महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं को मानते है। वे भी महात्मा

1. Mahayanism is the degenerated form of Buddhism.

बुद्ध के उपदेशों को चिरसत्य समझते हैं। अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं को 'इति' नही समझा। उन्होंने उन उपदेशों को बीज रूप में ग्रहण किया और कालान्तर में उन्हें अकुरित और पल्लवित किया। अपने अपरिवर्तनशील दृष्टिकोण के कारण हीनयान-अनुयायियों ने अपने धर्म को इत्यात्मक बना दिया, जबकि महायानियों के लिए उनका धर्म चिर-विकासात्मक रहा। नीरस, दार्शनिक हीनयान से हटकर उन्होंने बौद्ध धर्म के एक ऐसे रूप का सृजन किया जो लौकिक मनोवृतियों का सम्यक् रूप से रजन कर सके। यही कारण है कि उन्होंने अपने धर्म में बोधिसत्वो के कथानकों को स्थान दिया। कुछ विद्वानो ने महायान को बोधिसत्वों का धर्म कहा है।[1]

हीनयान और महायान का अन्तर

(१) हीनयान केवल महात्मा बुद्ध की शिक्षाओ पर अवलम्बित है, परन्तु महायान ने महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं के अतिरिक्त प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्व की शिक्षाओ का भी समावेश कर लिया है।

(२) हीनयान की इकाई व्यक्ति है। उसका लक्ष्य व्यक्तिविशेष को मुक्ति दिलाना है। परन्तु महायान अधिक विस्तृत और उदार है। उसकी इकाई समस्त विश्व है और उसका लक्ष्य समस्त विश्व की मुक्ति है।

(३) हीनयान प्रमुखतया दर्शन है और महायान प्रमुखतया धर्म है।

(४) हीनयान मे महात्मा बुद्ध एक महापुरुष है, परन्तु महायान मे वे सर्व-शक्तिमान् देव हैं। उदाहरण के लिए, महायान धर्म के सद्धर्मपुण्डरीक मे वे स्वयं कहते है "मै सम्पूर्ण सृष्टि का जन्मदाता हूँ, भिषक् हूँ और सारे प्राणियो का सरक्षक।"

(५) हीनयान के सिद्धान्त अधिक कठोर है। वह अष्टागमार्ग आदि के द्वारा मोक्ष को प्राप्य बताता है। परन्तु महायान अधिक सुगम है। अपने को लोकप्रिय बनाने के लिए उसने महात्मा बुद्ध के प्रति श्रद्धा-भक्ति-प्रदर्शन के द्वारा भी मोक्ष को प्राप्य बताया।

(६) हीनयानियो के अनुसार महात्मा बुद्ध ने अपने सभी अनुयायियो को एक ही प्रकार के उपदेश दिए थे। परन्तु महायानियो का मत है कि महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यो की योग्यता को दृष्टि मे रख कर दो प्रकार के उपदेश दिए थे—'प्रकट उपदेश' साधारण कोटि के शिष्यों के लिये था और 'गुह्य उपदेश' केवल अधिक उपयुक्त शिष्यो के लिये।

(७) हीनयान का लक्ष्य अर्हत्-पद की प्राप्ति था। अर्हत् उस व्यक्ति को कहते हैं जो अपनी इच्छाओ का दमन करके जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है और निर्वाण प्राप्त कर लेता है। परन्तु निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् वह अपने ज्ञान का प्रचार नही करता है। महायानियों के अनुसार हीनयानियो के अर्हत् का दृष्टिकोण नितान्त स्वार्थपूर्ण है। अतः महायान ने अर्हत् के स्थान पर बोधिसत्व को अपना आदर्श माना। बोधिसत्व वह व्यक्ति है जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है। परन्तु वह निर्वाण को केवल इसीलिए स्वीकार नही करता कि उसे अन्य मनुष्यो के निर्वाण के लिये भी प्रयत्न

1. Mahayanism is the Buddhism of the Bodhisattvas.

करना है। वह मोक्ष प्राप्त करके निष्क्रिय नहीं होना चाहता। परोपकार के लिये वह स्वार्थ को भी भूल जाता है और मोक्ष का अधिकारी होते हुए भी वह मोक्ष को स्वीकार नहीं करता।

(८) हीनयान ने प्रज्ञा (ज्ञान) को प्रमुख स्थान दिया है। इसके अनुसार व्यक्ति को अपने 'प्रधान' (प्रयत्न) से प्रज्ञा प्राप्त करना है। महायान प्रज्ञा की अपेक्षा करुणा को अधिक महत्व देता है। महात्मा बुद्ध की करुणा ही अन्ततोगत्वा मनुष्य का उद्धार करेगी। हमें उन्हीं की शरण में जाना है।

(९) कुछ विद्वानों का मत है कि हीनयान ने संन्यस्त जीवन को अधिक महत्व दिया है और महायान ने गृहस्थ जीवन को। यह महत्व की बात है कि अधिकांश महायानी आचार्य गृहस्थ थे।

विद्या-प्रेम—कनिष्क भारतीय इतिहास का एक महान् विद्याप्रेमी सम्राट् था। उसने अपनी राज-सभा में विद्यानुरागियों को आश्रय देकर भारतीय विद्याओं के विकास में भारी योग दिया। उसके समय का प्रसिद्ध विद्वान् अश्वघोष अपनी कृतियो के लिए संसार-प्रसिद्ध है।[१] ऐसी बौद्ध जनश्रुति है कि कनिष्क उसे पाटलिपुत्र से लाया था। यह कवि, दार्शनिक, उपदेशक व नाटककार था। इसका बनाया हुआ महाकाव्य बुद्धचरित संस्कृत साहित्य की एक अमूल्य निधि है। अनेक विद्वानों का मत है कि इस महाकाव्य ने महाकवि कालिदास की रचनाओ के ऊपर काफी प्रभाव डाला है। बुद्धचरित मे १७ सर्ग हैं जिनमें महात्मा बुद्ध का चरित्र और शिक्षाएँ वर्णित हैं। भारतवर्ष में प्राप्त बुद्धचरित के अन्तिम चार सर्ग चीनी प्रति में नहीं मिलते। अश्वघोष का दूसरा काव्य सौन्दरानन्द है। इसमें १८ सर्ग हैं। इसमें महात्मा बुद्ध के चचेरे भाई नन्द का बौद्ध धर्म में दीक्षित होना वर्णित है। सारिपुत्र-प्रकरण अश्वघोष का नाटक है। इसमे ९ अक हैं। यह नाटक सस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुकूल है।

इस समय का द्वितीय प्रसिद्ध विद्वान् नागार्जुन था। यह ब्राह्मण था और विदर्भ का रहने वाला था। कालान्तर में इसने बौद्ध धर्म अगीकार कर लिया था और महायान का प्रबल प्रचारक बन गया था। इसने अपने प्रज्ञापारमितासूत्र में सापेक्ष्यवाद (Theory of Relativity) का प्रतिपादन किया था। यह शून्यवाद का प्रचारक था। कुछ विद्वानो का मत है कि इसके शून्यवाद ने शकराचार्य के मायावाद को प्रभावित किया था।

वसुमित्र भी एक प्रसिद्ध विद्वान् और दार्शनिक था। इसी की अध्यक्षता मे कनिष्क के समय की चौथी बौद्ध सगीति हुई थी। इसने बौद्ध धर्म-ग्रन्थो के ऊपर विद्वत्तापूर्ण टीकायें लिखी थीं। इस युग के दूसरे विद्वान् पार्श्व और सघरक्ष थे। चरक कनिष्क का राजवैद्य था। इसका ग्रन्थ चरकसंहिता भारतीय आयुर्वेद की एक अमूल्य निधि है।

इस प्रकार यह काल संस्कृत-साहित्य के संवर्द्धन का काल था। काव्य, नाटक, दर्शन-शास्त्र और आयुर्वेद के उपर्युक्त ग्रन्थों ने संस्कृत-साहित्य की बडी उन्नति की।

१. 'Poet, musician, preacher, moralist, philosopher, playwright, tale-teller, he is an inventor in all these arts and excels in all. In his richness and variety, he recalls Milton, Goethe, Kant and Voltaire'.

—Sylvan Levi.

महान् निर्माता—कनिष्क को निर्माण-कार्यों में भी विशेष रुचि थी। उसने अपनी राजधानी पुरुषपुर में ४०० फीट ऊँचा और १३ मंजिलों का एक टावर बनवाया था। इसके ऊपर लोहे का एक बडा छत्र स्थापित किया गया था। ६वीं शताब्दी में आने वाले चीनी यात्री सांगयुन ने लिखा है कि उसके समय तक यह टावर तीन बार आग से नष्ट हो चुका था और तीनों बार धर्मात्मा राजाओ ने इसका पुनर्निर्माण करा दिया था। इसी के समीप एक सुन्दर बौद्ध विहार का निर्माण किया गया था। ९वीं अथवा १०वीं शताब्दी तक यह बौद्ध शिक्षा का एक केन्द्र था। मगध का राजकुमार वीरसेन इसी बौद्ध विहार में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा गया था। फाह्यान और ह्वेनसांग ने इस बौद्ध विहार का उल्लेख किया है। ११वी शताब्दी में अलबरूनी ने इसका कनिष्क चैत्य के नाम से उल्लेख किया था। इनके अतिरिक्त कनिष्क ने तक्षशिला में सिरकप नामक स्थान पर एक नगर की और पुरुषपुर में कनिष्कपुर नामक एक दूसरे नगर की स्थापना की थी। उसने पेशावर, तक्षशिला, मथुरा आदि नगरों को सुसज्जित कराया। इस समय ये नगर उसके साम्राज्य के प्रसिद्ध कला-केन्द्र थे।

गान्धार-कला—कनिष्क के समय के पूर्व हीनयान बौद्ध धर्म के अन्तर्गत महात्मा बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण न होता था। महात्मा बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण करना धर्म-विरुद्ध समझा जाता था। जब कभी महात्मा बुद्ध के अस्तित्व को प्रदर्शित करने की आवश्यकता होती थी तो उनके घोडे, छत्र, सिहासन अथवा चरणपादुकाओ से प्रदर्शित कर दिया जाता था। परन्तु कनिष्क के समय तक आते आते महायान धर्म का प्रादुर्भाव हुआ जिसके अंतर्गत महात्मा बुद्ध की मूर्तियो का होना प्रारम्भ हो गया। महायान ने कला को प्रोत्साहन दिया। कनिष्क के समय मे महात्मा बुद्ध की बहुसख्यक मूर्तियो का निर्माण होना प्रारम्भ हुआ। इस समय जो मूर्तियाँ बनी उनमे से अधिकाश मूर्तियो मे स्वदेशी और विदेशी प्रभावों का सम्मिश्रण है। इस प्रभाव के अन्तर्गत बनी हुई मूर्तियाँ अधिकांशतः गन्धार प्रदेश में पाई गई हैं। इसलिए उस प्रदेश की कला को गान्धार-कला का नाम दिया गया है। ये मूर्तियाँ स्लेटी पत्थर की है। बाद की मूर्तियाँ लाइम प्लास्टर, स्टुको और धातु की भी हैं। इन मूर्तियों का विषय बौद्ध अथवा भारतीय है, परन्तु उनके निर्माण में यूनानी शैली का प्रयोग किया गया है। इसलिए गान्धार-कला को इण्डोयूनानी बौद्ध कला भी कहते हैं। इस काल के कलाकारों ने मूर्तियो के द्वारा महात्मा बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओ को भी प्रदर्शित किया है। महात्मा बुद्ध के जन्म, सम्बोधि, धर्मचक्रप्रवर्तन और महापरिनिर्वाण-सम्बन्धी अनेक मूर्तियाँ बनाई गई। अपेक्षाकृत महायान सम्प्रदाय के अन्तर्गत विकसित बोधिसत्व-परम्परा की भी मूर्तियाँ बनाई गई। बहुत सी मूर्तियाँ महात्मा बुद्ध को अतिमानवीय रूप मे प्रदर्शित करती हैं। ये सबके सब भारतीय विषय हैं। महात्मा बुद्ध को जिन मुद्राओं में प्रदर्शित किया गया है, वे भी भारतीय है, जैसे ध्यान मुद्रा, अभय मुद्रा इत्यादि। यद्यपि ये विषय भारतीय अवश्य है तथापि इन्हे उत्कीर्ण करने की स्थापत्य-शैली यूनानी अथवा यूनानी-रोमन है। महात्मा बुद्ध का आकार-प्रकार यूनानी देवता अपालो का लगता है। उनके शरीर के ऊपर जो वस्त्र और अलंकरण है वे भी विदेशी है। इन मूर्तियो में पारदर्शक वस्त्रो का प्रयोग नही हुआ है। मूर्तियाँ मोटे वस्त्रों से ढकी है। मूर्तियाँ बहुधा मासल है। उनके होठ मोटे हैं तथा आँखे दूर तक खिची हुई है। महात्मा बुद्ध के भाल पर ऊर्णा है और उनके शीश पर उष्णीश (जूडा)। वे कभी-कभी सिहासन पर आसीन दिखाये गये हैं, कभी-कभी उनके पैरो मे चप्पलें भी दिखाई गई हैं। यह निश्चितरूप

से विदेशी प्रभाव का परिणाम है। मूर्तियों के मुख-मण्डल के चारों ओर जो प्रभा-मण्डल खीचा गया है वह बिल्कुल सादा है। उसमें किसी प्रकार का अलंकरण नही है।

सारांशत. गान्धार-कलाकारो ने शारीरिक सौन्दर्य और बौद्धिकता पर अधिक बल दिया है। उनकी कृतियों में आध्यात्मिकता और भावुकता का अभाव है।[1] इन कारणो से गान्धार-कला भारत मे लोकप्रिय न हो सकी।

बहुधा गान्धार कला के अन्तर्गत बनी हुई बुद्ध-मूर्तियों के शीश केशयुक्त अथवा अलंकृत दिखाए गए हैं। इनके निर्माता कलाकारों को बहुधा यह भी ध्यान न रहा कि सन्यास ग्रहण करने के समय महात्मा बुद्ध ने शीश मुडवा दिया था। इसी प्रकार के दोष बोधिसत्व की मूर्तियों में भी हैं। गान्धार कला के अन्तर्गत निर्मित बुद्ध-प्रतिमाओं में महात्मा बुद्ध के मुख पर कहीं पर भी आध्यात्मिकता अथवा विश्व-कल्याण की भावना प्रकट नही हुई। उनकी मुखमुद्रा या तो अत्यन्त कठोर बन गई है या स्त्री-सुलभ मृदुल। उनके शरीर के ऊपर भी बहुधा व्यर्थ का आडम्बर दिखाया गया है। परिणाम यह हुआ है कि गान्धार मूर्तिओं में न तो व्यक्तित्व की सत्यता है और न भावनाओं की अभिव्यक्ति। बहुधा वे मशीन की सी बनी मालूम होती हैं।[2]

गान्धार-कला के अन्तर्गत बने स्तूपों की प्रमुख विशेषता है उनकी ऊँचाई। स्तूपों को अधिक ऊँचा आकार देने के निमित्त कलाकारों ने अब उनका निर्माण कृत्रिम चबूतरों के ऊपर करना प्रारम्भ किया और अधिक ऊँचाई देने के लिए कलाकारों ने स्तूपों के ऊपर एक छत्र लगाना भी प्रारम्भ किया।

मथुरा कला—गान्धार प्रदेश की भांति मथुरा प्रदेश भी इस समय कला का प्रमुख केन्द्र था। मथुरा-कला पर गान्धार-कला का प्रभाव था अथवा नही, इस प्रश्न पर विद्वानो मे मतभेद है। अधिकाश पाश्चात्य विद्वान् अभी तक यह विश्वास करते थे कि मथुरा-कला का उदय गान्धार-कला के प्रभाव के अन्तर्गत हुआ था। परन्तु अब सूक्ष्म अध्ययन के परिणामस्वरूप अधिकाश विद्वान् यह स्वीकार करने लगे हैं कि मथुरा की प्राचीनतम कलाकृतियाँ गान्धार-कला के उदय-काल के पूर्व की हैं। वस्तुत. मथुरा-कला का उदय सांची, सारनाथ और भरहुत की स्वदेशी कला के सूत्र को लेकर हुआ था, यद्यपि उसके ऊपर कालान्तर मे गान्धार कला का भी थोडा बहुत प्रभाव पडा था। फोगेल महोदय भी इस मत से सहमत हैं। मथुरा कला के अन्तर्गत बनी हुई मूर्तियों की निम्नलिखित विशेषताये है—

(१) ये मूर्तियाँ लाल बलुए पत्थर की है।

१. 'To the Greek man's beauty and intellect were everything . . the vision of the Indian was bounded by the immortal rather than the mortal, by the Infinite rather than the Finite . . , while Greek thought was ethical, his was spiritual, when Greek was rational, his was emotional.
–Marshall

२. 'The reliefs representing scenes from the life of the Master, inspite of their minute details, have the appearance of mechanical reproductions, lacking all the spontaneity and emotional warmth that distinguish the reliefs of early Indian art of Bharhut, Sanchi, Bodhgaya or Amaravati.'
--Dr. S. K. Saraswati.

(२) गान्धार कला की भांति मथुरा कला के अन्तर्गत भी महात्मा बुद्ध के मुख के चारों ओर प्रभामण्डल है।

(३) महात्मा बुद्ध प्राय मुण्डित शीश है, उनके मुख पर मूछे भी नहीं हैं।

(४) प्रतिमाओं में विशालता, भौतिकवादिता और घनगात्रता है। इनमें आध्यात्मिकता नहीं है।

(५) मूर्तियाँ कभी-कभी सिंहासन में दिखाई गई हैं। महात्मा बुद्ध को मूर्तियाँ प्रायः खडी हुई हैं।

(६) मूर्तियाँ बहुधा एकासिक हैं अर्थात् उनका एक कंधा ढका है और दूसरा खुला।

(७) मथुरा की यक्ष-यक्षिणी आदि की प्रतिमाओं में कामुकता का प्रदर्शन अधिक किया गया है।

(८) मूर्तियों के वस्त्र प्राय शरीर से चिपटे हुए है। साधारणतया मूर्तियाँ दो वस्त्र धारण किए हैं—ऊर्ध्व वस्त्र और अधोवस्त्र।

व्यापारिक उन्नति—कनिष्क के साम्राज्य में पश्चिमोत्तर प्रदेश और मध्य एशिया के कुछ प्रदेश सम्मिलित थे। परिणाम यह हुआ था कि स्थानीय मार्गों के द्वारा भारतवर्ष, ईरान, मध्य एशिया और चीन आदि देशों का सम्पर्क-सम्बन्ध स्थापित हो गया। परिणामत. भारतवर्ष और विदेशो का सास्कृतिक आदान-प्रदान तो हुआ ही, इसके साथ ही साथ भारतीय व्यापार की भी भारी अभ्युन्नति हुई। उपर्युक्त देशो के अतिरिक्त भारतवर्ष और रोम साम्राज्य के बीच भी भारी व्यापार हुआ जिसके परिणामस्वरूप भारतवर्ष के वस्त्र, आभूषण और प्रसाधन के उपकरण बहुत बडी सख्या मे रोम साम्राज्य में पहुँचने लगे। इनके बदले मे रोम-साम्राज्य से लाखो रुपये का सोना प्रतिवर्ष भारत आने लगा। प्लिनी नामक लेखक ने रोम-निवासियो की यह कहकर कटु आलोचना की थी कि वे विलास-सामग्री खरीदने में भारतवर्ष को इतना अधिक सुवर्ण दे रहे हैं कि उनके देश को भारी आर्थिक क्षति सहनी पड रही है।

कनिष्क की मृत्यु—ऐसी जनश्रुति है कि कनिष्क के अनवरत युद्धों से क्षुब्ध होकर उसके सेनापतियो ने उसकी हत्या कर दी। कनिष्क ने २३ वर्ष अथवा ४५ वर्ष तक राज्य किया।

कनिष्क के उत्तराधिकारी—कनिष्क के पश्चात् कुषाण-वंश मे कोई भी ऐसा न हुआ जो उसके विशाल साम्राज्य को अक्षय रख सकता। अत कनिष्क की मृत्यु के पश्चात् ही कुषाण -साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ हो गई।

कनिष्क का उत्तराधिकारी वासिष्क था। उसका एक लेख मथुरा में और दूसरा साँची मे प्राप्त हुआ है। प्रथम लेख की तिथि २४ और द्वितीय की २८ है। दोनो ही तिथियाँ शक-सवत् की है। परन्तु उसकी मुद्रायें प्राप्त नहीं हुई है। राजतरगिणी मे एक जुष्क का उल्लेख है जिसने जुष्कपुर नामक एक नगर की स्थापना की थी। सम्भवतः यह जुष्क वाशिष्क ही था।

वासिष्क के पश्चात् हुविष्क सिहासन पर बैठा। यह अधिक शक्तिशाली राजा प्रतीत होता है। इसके अनेक सिक्के और अभिलेख प्राप्त हुए है। गया अभिलेख से प्रकट होता है कि इसका राज्य बिहार तक विस्तृत था। मथुरा में इसकी मुद्रायें मिली हैं। राजतरंगिणी के अनुसार इसने काश्मीर में हुविष्कपुर नामक नगर की स्थापना की

थी। वारदक-अभिलेख से काबुल-प्रदेश पर उसका आधिपत्य सिद्ध होता है परन्तु कोई भी साक्ष्य ऐसा कही मिला है जिससे सिन्ध के ऊपर उसका आधिपत्य सिद्ध हो सके। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः रुद्रदामन् ने सिन्धु प्रदेश कुषाण साम्राज्य से छीन लिया था। हुविष्क की तिथियाँ २६ से ६० तक मिली हैं। इससे प्रकट होता है कि कम से कम उसने १३८ ई० तक राज्य किया था। सम्भवतः वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसने मथुरा मे एक बौद्ध विहार का निर्माण कराया था। उसकी मुद्राओ पर ईरानी, यूनानी और भारतीय देवी-देवताओं के चित्र हैं। भारतीय देवताओ में स्कन्द, शिव, विशाख, गणेश और विष्णु विशेषतः उल्लेखनीय हैं। ये मुद्रायें उसकी धार्मिक सहिष्णुता की ओर सकेत करती है। अधिकाश मुद्रायें बडी ही सुडौल और कलात्मक हैं।

आरा अभिलेख में एक कनिष्क का उल्लेख है। इसकी तिथि ४१ है। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि यह कनिष्क कौन था। लूडर्स, फ्लीट और स्टेन कोनो आदि विद्वानों का मत था कि यह कनिष्क प्रथम से भिन्न था। अत इसे कनिष्क द्वितीय की संज्ञा दी गई है। सम्भव है कि इसने हुविष्क के साथ राज्य किया हो।

हुविष्क के पश्चात् वासुदेव प्रथम कुषाण-साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। इसकी तिथियाँ ६७ से ९८ तक मिलती हैं। इससे प्रकट होता है कि कम से कम इसने १७६ ई० तक राज्य किया। इसके सिक्के और लेख एकमात्र पजाब और उत्तरप्रदेश मे ही मिले है। इसमे प्रकट होता है कि उसके समय तक अफगानिस्तान, काश्मीर, सिन्ध व मालवा के प्रदेश कुषाण साम्राज्य से निकल चुके थे। इस प्रकार वह एकमात्र भारतीय राज्य का ही शासक रह गया था। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी उसका पूर्णत भारतीयकरण हो गया था। यह सत्य उसके नाम से ही प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त उसकी मुद्राओ पर शिव और नन्दी की आकृतियाँ खुदी हुई हैं। इससे प्रकट होता है कि वह शैव था।

वासुदेव की मृत्यु के पश्चात् कुषाण-वश की अवनति की गति तीव्रतर हो गई। एक-एक करके उसके अधीन प्रदेश स्वतन्त्र होने लगे। भारत के पश्चिम और पश्चिमोत्तर प्रदेशो मे शकों ने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किए। उत्तरी भारत में नाग-भारशिवों, यौधेयों तथा मालवों आदि वशों की शक्ति बढी। इनके विस्तार के परिणामस्वरूप क्षीण कुषाण-राज्य का पूर्णत विलोप हो गया।

कुषाण-वंश के पतन के कारण—कुषाण-वंश के पतन के अनेक कारण थे—

(१) **गुप्तों का उदय**—डा० राखलदास बनर्जी के मतानुसार गुप्तों के उदय के कारण कुषाणों का पतन हुआ। इस नवीन वश ने ही कुषाणों को मगध से निकाला था। परन्तु यह मत असगत है। गुप्तों का उदय लगभग २७५ ई० में हुआ जबकि कुषाणों के हाथ से प्राय. सम्पूर्ण उत्तरी भारत (पंजाब को छोड कर) १७६ ई० के आस-पास ही निकल चुका था। वासुदेव प्रथम (१४५-१७६ ई०) को ही कुषाणों का अन्तिम महत्वपूर्ण राजा कहा जा सकता है।

(२) **निर्बल उत्तराधिकारी**—वासिष्क और हुविष्क के पश्चात् कुषाण-वश मे कोई भी ऐसा शासक न हुआ जो कुषाण-राज्य को सँभाल सकता। हुविष्क के पश्चात् वासुदेव प्रथम राजा हुआ। उसके समय कुषाण-राज्य केवल पंजाब और उत्तर-प्रदेश

में सीमित था। उसका उत्तराधिकारी कनिष्क तृतीय (१८०-२१० ई०) था। उसके शासन-काल में उत्तर प्रदेश भी स्वतन्त्र हो गया और कुषाण-राज्य केवल पंजाब मे रहा। अन्तिम कुषाण शासक वासुदेव द्वितीय (२३० ई०) था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके समय में पंजाब भी कुषाण-वंश के हाथ से निकल गया।

(३) **चीन और पार्थिया**—कुषाण-साम्राज्य से चीन और पार्थिया की शत्रुता थी। इनसे युद्ध करने के कारण कुषाण-साम्राज्य की शक्ति का बडा व्यय हुआ होगा।

(४) **जुअन-जुअन जाति**—इस जाति ने कुषाण-साम्राज्य पर आक्रमण किए और उसे बडी क्षति पहुँचाई।

(५) **सेसेनिअन वंश**—ईरान में सेसेनिअन वंश का उदय हुआ। २३८ ई० के लगभग इस वंश के राजा आर्देशीर प्रथम ने वासुदेव द्वितीय से बैक्ट्रिया छीन लिया। २८४ ई० के लगभग एक अन्य सेसेनिअन नरेश वरहख द्वितीय ने अपने राज्य का विस्तार अफगानिस्तान, सीमाप्रान्त, सीस्तान और सिन्ध तक किया। परन्तु इस बात का निश्चित प्रमाण नही है कि सेसेनिअन वंश ने पंजाब मे भी कुषाणो को निकाला था।

(६) **स्वदेशीय जातियां**—मध्य देश और पंजाब से कुषाणो को निकालने का श्रेय कुछ भारतीय जातियों को दिया जाता है।

भारशिव-नाग—डा० जायसवाल ने यह मत प्रतिपादित किया था कि पंजाब और मध्य देश से कुषाणो को निकालने का कार्य भारशिव-नागो ने किया था। इनका एक प्रमुख राजा वीरसेन था। इसने कान्तिपुर, मथुरा और पद्मावती मे अपने वंश की स्थापना की और पंजाब से कुषाणो को भगाया जिससे वे सेसेनिअन नरेश शापुर प्रथम की शरण मे गये। कुषाणों के विरुद्ध अपनी विजय के उपलक्ष्य में भारशिव-नागो ने वाराणसी मे दस अश्वमेध यज्ञ किये।[1] इसी से वह स्थान आज भी दशाश्वमेध घाट (वाराणसी) के नाम से प्रख्यात है।

परन्तु डा० अल्टेकर ने डा० जायसवाल के इस ब्योरे का खण्डन किया है—

(i) यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वीरसेन ने कान्तिपुर, मथुरा और पद्मावती मे नाग-राज्य की स्थापना की।

(ii) वीरसेन का पंजाब से कोई सम्बन्ध नही था। वहाँ उसकी मुद्रायें नही मिलती।

(iii) बिना किसी सैनिक विजय के भी अश्वमेध यज्ञ किए जा सकते थे।

(iv) इस बात का कोई प्रमाण नही है कि कुषाणो ने भारशिव-नागो के विरुद्ध सेसेनिअन नरेश शापुर प्रथम से सहायता मॉंगी।

फिर भी यह निर्विवाद है कि भारशिव-नाग तत्कालीन भारत का एक महत्वपूर्ण

१ ......शिवलिंगोद्वहनशिवसुपरितुष्ट समुत्पादित-राजवंशानां पराक्रमाधिगतभागीरथ्याममलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथस्नातानां-भारशिवानाम्—चम्मक ताम्रपत्र

वंश था। अतः सम्भव है कि उसने भारतीयों के स्वतन्त्रता-संग्राम में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई हो। अभाग्य से इस विषय में कोई निश्चित ब्योरा नहीं मिलता।

यौधेय– यह जाति यमुना के पश्चिम मे रहती थी और अपनी वीरता के लिये प्रसिद्ध थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इसने कुषाणों को निकाल कर यमुना और सतलज के बीच के प्रदेश को स्वतन्त्र कराया। इस मत के पक्ष मे निम्नलिखित बाते कही जा सकती है—

(i) अन्तिम कुषाण-नरेशों—कनिष्क तृतीय और वासुदेव द्वितीय—को मुद्रायें सतलज और यमुना के बीच मे नही मिलती। परन्तु इसी प्रदेश मे यौधेयों की मुद्रायें मिलती है।

(ii) यौधेयों की मुद्रायें कुषाणो की मुद्राओं से मिलती-जुलती है।

(iii) इन मुद्राओं पर 'यौधेयगणस्य जय.' लिखा मिलता है। इन पर देवताओं के सेनापति कार्तिकेय की मूर्ति भी बनी है।

कुणिन्द—यह जाति सतलज और व्यास के बीच रहती थी। इसने यौधेयों की स्वतन्त्रता-सग्राम में सहायता की होगी। इसकी मुद्राये यौधेय-मुद्राओ से मिलती-जुलती है।

आर्जुनायन—यह जाति आधुनिक जयपुर-आगरा प्रदेश में रहती थी। अपने पडोस मे चलते हुए स्वतन्त्रता-सग्राम से यह पृथक् नही रह सकती थी।

कुछ यौधेय-मुद्राओ के ऊपर 'द्वि' और 'त्रि' शब्द मिलते हैं। इनसे डा० अल्टेकर ने अनुमान किया है कि यौधेयो ने कुषाणों के विरुद्ध एक संघ बनाया था जिसमे कुणिन्द और आर्जुनायन नामक पडोसी जातियो को सम्मिलित किया था।

मालव—यह जाति अजमेर-टोक-मेवाड प्रदेश मे रहती थी। नान्दसा यूप अभिलेख मे मालव श्रीसोम का उल्लेख है जिसने २२५ ई० के लगभग एक यज्ञ किया था। सम्भव है कि यह यज्ञ कुषाणो के विरुद्ध सफलता प्राप्त करने के उपलक्ष मे किया गया हो।

इनके अतिरिक्त बघेलखण्ड के मघ-वंश और कौशाम्बी, अयोध्या, पचाल और मथुरा के मित्र-वश ने भी कुषाणो को उत्तर भारत से भगाने मे योग दिया होगा।